THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

50

PĀṆINIKĀLĪNA BHĀRATAVARṢA

[A Study of the Cultural Material in Pāṇini's Aṣṭādhyāyī]

By

VĀSUDEVA ŚARAṆA AGRAWĀLA,

Professor, Banaras Hindu University.

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1969

अष्टपुष्पिका

१. पाणिनीयं महत् सुविहितम् ।

२. महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य ।

३. शोभना खलु पाणिनेः सूत्रस्य कृतिः ।

४. यच्छन्द आह तदस्माकं प्रमाणम् ।

५. सर्ववेद पारिषदं हीदं शास्त्रम् ।

६. पाणिनिशब्दो लोके प्रकाशते ।

७. आकुमारं यशः पाणिनेः ।

८. पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम् ।

१–भाष्य ४।३।६६ २–काशिका ४।२।७४ ३–भाष्य २।३।६६ ४–भाष्य २।१।१
५–भाष्य २।१।६८ ६–काशिका २।१।६ ७–भाष्य १।४।८९ ८–कात्यायन ८।४।६८

तस्मै पाणिनये नमः

भूमिका

"पाणिनिकालीन भारतवर्ष" पाणिनिकृत अष्टाध्यायी का सांस्कृतिक अध्ययन है। अष्टाध्यायी में लगभग चार सहस्र सूत्र हैं जिनका मुख्य उद्देश्य व्याकरण के नियमों का परिचय देना था। किन्तु इन सूत्रों में पाणिनिकालीन भाषा के अनेक ऐसे शब्द आ गये हैं जिनसे उस युग के सांस्कृतिक जीवन का प्रत्यक्ष चित्र प्राप्त होता है। पाणिनि ने अपने समय की संस्कृत भाषा की सूक्ष्म छानबीन की थी। इसके लिए उन्हें मनुष्य जीवन के प्रायः सम्पूर्ण व्यवहारों की जांच-पड़ताल करनी पड़ी। अतएव पाणिनि का शास्त्र तत्कालीन भारतीय जीवन और संस्कृति का कोष ही बन गया है। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, शिक्षा और विद्या सम्बन्धी जीवन, राजनैतिक जीवन, धार्मिक जीवन और दार्शनिक विमर्श—सबके विषय में राई-राई करके पाणिनि ने सामग्री का सुमेरु ही खड़ा कर दिया था। उस सामग्री का इस ग्रंथ में ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अध्ययन किया गया है। इसके द्वारा पाणिनि के कई सौ सूत्रों पर नया प्रकाश पड़ा है। संस्कृत भाषा के अष्टाध्यायी में आये हुए कितने ही भूले हुए शब्दों को यहाँ नए अर्थों के साथ समझने का प्रयत्न किया गया है। इन अर्थों में पाठकों को एक नये संसार का ही दर्शन मिलेगा, जो पाणिनिकालीन भाषा की सच्ची पृष्ठभूमि थी। वैदिक संहिताएँ, ब्राह्मण ग्रन्थ, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, प्रातिशाख्य, चरणव्यूह, महाभारत, पाली साहित्य, जातक, अर्धमागधी आगम साहित्य, इत्यादि अनेक स्रोतों से पाणिनीय सामग्री पर प्रकाश डाला गया है। भारतीय संस्कृति की पूरी जानकारी के लिए पाणिनीय सामग्री का अध्ययन आवश्यक है। पाणिनीय सूत्रों की सामग्री उसी तरह प्रामाणिक समझनी चाहिए जिस तरह शिलालेखों और मुद्राओं की साक्षी प्रामाणिक मानी जाती है।

इस देश में व्याकरण का अध्ययन परमकोटि को पहुँच गया था। इस क्षेत्र में गुरु-शिष्य पारम्पर्य से पूर्व समय में जितना कार्य हुआ था और अर्वाचीन विद्वानों ने उसमें जो कुछ जोड़ा है, उसके अध्ययन की बृहत् योजना कुछ इस प्रकार हो सकती है—

१—पाणिनि के सूत्रों का विस्तृत भाष्य—इसमें काशिका, न्यास, पदमञ्जरी आदि सब उपलब्ध वृत्तियों से और पतञ्जलि के महाभाष्य एवं उसके व्याख्यान स्वरूप भर्तृहरि, कैयट, नागेश आदि के ग्रन्थों से जो सामग्री उपलब्ध होती है उसके विवेचन द्वारा सूत्रों के अर्थों का निरूपण होना चाहिए।

२—अष्टाध्यायी का अन्तरंग अनुशीलन—इसमें उस स्थिति के अध्ययन की कल्पना की जाती है जिसके अनुसार शब्दों का संकलन करके पाणिनि ने स्वयं अपनी

प्रयोगशाला में यत्नपूर्वक एक-एक सूत्र की रचना की। अष्टाध्यायी का प्रकरण-विभाग किस दृष्टि से किया गया? प्रत्यय और अनुबन्ध किस हेतु से इन्हीं रूपों में निश्चित किए गए? भाषा में कितने प्रकार की वृत्तियाँ थीं जिनका संग्रह करके पाणिनि ने कृदन्त और तद्धित के महाप्रकरणों का निर्माण किया? महासंज्ञा और कृत्रिम संज्ञाओं के मूल में क्या हेतु था? गणपाठ की क्या स्थिति थी? पाणिनीय शब्दविद्या में और रूपसाधनिका में स्वरों का क्या स्थान था? किस प्रकार स्वरों के महत्व को आचार्य ने प्रक्रिया में अभिव्यक्त किया है? प्रकृति और प्रत्यय के सम्मिलन से एक दूसरे में क्या परिवर्तन होते हैं? इत्यादि अनेक प्रश्नों की ऊहापोह और मीमांसा हमें उस स्रोत तक ले जाती है जहाँ पाणिनि अपनी अध्ययनशाला में एकाग्र मन से अभिनव व्याकरण की रचना कर रहे थे जिसे उन्होंने 'आद्य आचिख्यासा' कहा है।

३—वैदिक व्याकरण—पाणिनीय सामग्री का वैदिक साहित्य के आधार पर अध्ययन, एवं जो सामग्री बची रह गई हो उसका समावेश करके समग्र वैदिक-व्याकरण की रचना करना।

४—उपलब्ध प्रातिशाख्य और शिक्षा-ग्रन्थों का सर्वाङ्गीण अध्ययन।

५—नव्य व्याकरण विमर्श—अर्थात् पाणिनीय सूत्रों पर कालान्तर में जो प्रक्रिया का विस्तार हुआ है, उसका तुलनात्मक अध्ययन।

६—व्याकरण दर्शन—पतञ्जलि से भर्तृहरि तक एवं उत्तर काल में भी व्याकरण के मूलतत्वों पर दार्शनिक विचार का काल क्रम से तुलनात्मक विवेचन।

७—संस्कृत के अन्य व्याकरणों के साथ पाणिनि व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन—चन्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, कातन्त्र, भोज, हेमचन्द्र आदि के व्याकरणों में पाणिनीय परम्परा लगभग दो सहस्र वर्षों तक किस प्रकार सुरक्षित और उपबृंहित हुई है, इसका विवेचन।

८—भारत-योरोपीय भाषा विज्ञान की पृष्ठभूमि में पाणिनीय व्याकरण का तुलनात्मक अध्ययन।

९—पाणिनीय व्याकरण एवं शास्त्रकर्ताओं का इतिहास और उसके साथ आनुषङ्गिक रूप से अन्य व्याकरणों का इतिहास।

१०—पाणिनीय सूत्रों की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक सामग्री का अध्ययन।

अन्तिम दो अध्ययन पाणिनीय शास्त्र के बहिरङ्ग अध्ययन कहे जा सकते हैं। उनमें से एक की पूर्ति का यत्न इस ग्रंथ में किया गया है।

प्रथम बार सन् १९२९ में अपने गुरु श्री राधाकुमुद मुकर्जी की प्रेरणा से इस विषय के अध्ययन की ओर मेरी प्रवृत्ति हुई थी। १९४१ और १९४५ में लखनऊ विश्वविद्यालय में यह शोध निबन्ध के रूप में दो भागों में प्रस्तुत किया गया था। मुझे खेद रहा कि परिस्थिति वशात् अंग्रेजी में ग्रन्थ पहले प्रकाशित हुआ। मेरी

अभिलाषा थी कि इसे हिन्दी में भी योग्य रूप में प्रकाशित कर सकूँ। अब इससे सन्तोष है कि ग्रन्थ की सामग्री हिन्दी संस्करण में अंग्रेजी की अपेक्षा कहीं अधिक विशद बन सकी है और चरण, गोत्र, जनपद आदि कई संस्थाओं पर नया प्रकाश डाला जा सका है।

इस ग्रंथ में आठ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय आवश्यकतानुसार परिच्छेदों में विभक्त किया गया है। ग्रन्थ के अन्त में लगभग तीन सहस्र विशिष्ट शब्दों की अकारादि क्रम से सूची दी गई है।

'पाणिनि और उनका शास्त्र' नामक प्रथम अध्याय में पाणिनि के जीवन से सम्बन्धित सामग्री पर विचार किया गया है। इसमें चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के जन्मस्थान शलातुर में जो जानकारी प्राप्त की थी उसका पतञ्जलि की सामग्री के साथ तुलनात्मक अध्ययन है। इस अध्ययन से पाणिनि का जो चित्र प्राप्त होता है वह एक ऐसे अत्यन्त मेधावी और प्रतिभा सम्पन्न आचार्य का चित्र है जिसने शब्दशास्त्र के प्रति अपने कर्त्तव्य को पहचाना था और उसकी पूर्ति के लिए समुचित प्रयत्न किया था। इस अध्याय में पाणिनि और कात्यायन के सच्चे सम्बन्ध की ओर भी ध्यान दिलाया गया है। कात्यायन ने वार्तिकों की रचना में लगभग पाणिनि के सूत्रों जैसा ही व्यापक प्रयत्न किया। यह प्रयत्न दोष दर्शन के लिए न था, किन्तु भगवान् पाणिनि के शब्दशास्त्र को और भी ऊँचे धरातल पर ले जाकर पूर्ण करने और सजाने के लिए था।

दूसरे अध्याय में पाणिनिकालीन भूगोल का विवेचन किया गया है। यह सामग्री भारतीय इतिहास के लिए मूल्यवान् है। मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर असम के सूरमस जनपद तक फैले हुए अनेक जनपदों का परिचय पुराणों के प्राचीन भुवन-कोशों की भाँति यहाँ मिलता है। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में कोई भी प्राचीन ग्रन्थ ऐसा नहीं है जिसमें भूगोल की सामग्री इतनी अधिक सुरक्षित हो जितनी अष्टाध्यायी में है। इस अध्याय के साथ ही परिशिष्ट में दिये हुए भौगोलिक गणों की स्थान नामसूचियाँ भी देखने योग्य हैं। यूनानी भौगोलिकों ने उत्तर-पश्चिमी भारत के प्रमुख नगरों की संख्या पाँच सौ लिखी है। यह बात कम आश्चर्यजनक नहीं है कि उन पाँच सौ ग्राम-नगरों के वास्तविक नाम पाणिनि के व्याकरण में सुरक्षित मिल गये हैं। इन गणों का संशोधित पाठ काशिका, चन्द्र, जैनेन्द्र, शाकटायन, कातन्त्र, वर्धमान, भोज और हेमचन्द्र के गणपाठों के आधार पर पहली ही बार तैयार करके यहाँ दिया गया है। पाणिनि के अवशिष्ट गणों के लिए भी इसी प्रकार के तुलनात्मक संशोधित संस्करण की आवश्यकता बनी है।

तीसरे अध्याय में सामाजिक जीवन की सामग्री पर विचार किया गया है जिसमें अन्नपान, वेश-भूषा, वासगृह, नगर-मापन, रथशकट, भारवाही पशु, नौसंतरण,

क्रीड़ाएँ और मनुष्य नाम सम्बन्धी परिच्छेदों में अनेक प्रकार की सामग्री का सन्निवेश है। निम्नलिखित शब्दों की जो व्याख्या यहाँ की गई है वह नूतन सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की परिचायक है—

महाब्रह्म, महाकुलीन, गोत्रावयव, कुरुगार्हपत (१११), साप्तपदीन (११३), आष्ट्र कालश-कौम्भ अपूप, दाधिक, महाव्रीहि, यवागू, मन्थ (१२२), कुल्माष (१२२), सक्तुसिन्धु, पानसिंधु (१२५), नियुक्तभोजन, (१२७), शाराव-माल्लक-कार्पर ओदन, मैरेय (१२८), कापिशायन (१३०), शारदिक (१३२), महाहैलहिल (१३३), पण्यकम्बल (१३५), राङ्कव (१३६), निषद्या, एकशालिक (१३९), पारिखेयी भूमि, प्राकारीय देश (१४१), प्राकारीय इष्टका (१४२), देवपथ (१४३), नगरद्वार (१४३) उत्तरपथ (१४४), गोष्ठीन, आशितङ्गवीन, शयनासन, पर्पिक (१४६), दार्तेय, दृतिहरि (१४७), गोणी (१४८), शालाबिल (१४९), काच, कद्रथ (१५१), पाण्डुकम्बली रथ (१५२), द्वैप वैयाघ्र रथ, परिस्कन्द (१५३), प्राध्वकृत्य (१५४), एकधुरीण, आश्वीन (१५५), भस्त्रा, उत्संग (१५७), पिटक (१५८), समज्या सामाजिक, सामवायिक, सान्निवेशिक (१५९), सामूहिक, प्राचाक्रीडा (१६१), निष्पत्रा (१६३), श्वागणिक (१६४), अक्षपरि, शलाकापरि (१६५), कृतयति, कलयति (१६६), अयानयीन (१६७), परिणाय (१६८), सम्मद (१६९), दार्दुरिक, अकालकव्याकरण (१७०), अर्धमासतम (१७२), व्युष्ट (१७७), संवत्सरतम, महापराह्ण (१७८), अनुकम्पार्थ नाम (१८२), नक्षत्र नाम (१८३), यक्षनामों के अनुसार मनुष्य नाम (१९०)।

चौथे अध्याय में आर्थिक दशा का विवेचन है। इसमें वृक्ष-वनस्पति, पशु-पक्षी, शिल्प, वेतन–भृति, वाणिज्य-व्यवसाय, नाप-तोल, मुद्राएँ, ऋणादान, इन विषयों की सामग्री पर विचार किया गया है। इनमें पाणिनिकालीन सिक्कों की जानकारी भारतवर्ष की प्राचीन आहत मुद्राओं पर नया प्रकाश डालती है। पुरातत्त्व के क्षेत्र में जो सबसे पुराने सिक्के मिले हैं उनमें से अनेकों के नामों की पहचान पहली ही बार अष्टाध्यायी की सामग्री से हो सकी है। सूत्र और उनकी टीकाओं में विंशतिक, त्रिंशत्क, अर्धभाग, शाण, शतमान आदि सिक्के और उनकी खरीज के वाचक लगभग चालीस नामों का उल्लेख है। भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की धमनी उत्तरपथ नामक महामार्ग का उल्लेख भी पाणिनि ने किया है जिसकी सविशेष व्याख्या यहाँ की गई है। गोधन के स्वामित्व की सूचना के लिए गौओं के कानों पर अङ्कित किये जाने वाले लक्षणों का विवेचन भी तुलनात्मक सामग्री के आधार पर किया गया है। इस देश में कृषि सम्बन्धी शब्दावली की जो परम्परा ऋग्वेद से चली आती है उसमें अरबी, फारसी के शब्दों की मिलावट लगभग नहीं के बराबर हुई है। इस विषय में खेतों के नामकरण, बुवाई, जुताई, लवनी, मणनी आदि के सम्बन्ध की पाणिनीय

सामग्री अति रोचक है और कृषि शब्दावली के अध्ययन की महत्त्वपूर्ण कड़ी है। जौ की खेती से लिए गए दस शब्द (पृ० २०१) बताते हैं कि किसानों के जीवन की भाषा कितनी समृद्ध थी। कृषि जीवन को सम्भालने के लिए अनेक प्रकार के छोटे-मोटे ऋण लिए-दिए जाते थे। उन पर भी अष्टाध्यायी से अच्छा प्रकाश पड़ता है। गाय और बैलों के आधार पर बने हुए शब्दों की आर्य भाषाओं में सदा से भरमार रही है। अष्टाध्यायी में भी उन शब्दों का चोखा गुच्छा मिला है, जिन पर विचार करते हुए मालूम होता है मानों हम प्राचीन गाँवों के ठेठ देहाती जीवन में पहुँच कर गोधन से निकट का परिचय पा रहे हों।

शिक्षा और साहित्य नामक पाँचवें अध्याय में चरण नामक प्राचीन वैदिक शिक्षा संस्थाओं पर पहली ही बार पाणिनि से पर्याप्त प्रकाश मिला है। उनके नाम, उदय-प्रतिष्ठा, सदस्यता, छात्रों के प्रवेश, ब्रह्मचर्य, जीवन, अध्ययन, अध्यापन, गुरु शिष्यों के प्रकार, ग्रंथ रचना आदि विषयों की अति रोचक सामग्री प्राप्त हुई है। ग्रन्थों और शिक्षा संस्थाओं के नामकरण के विषय में सबसे महत्त्वपूर्ण एक नियम था जिसे अष्टाध्यायी में तद्विषयता का नियम कहा है, अर्थात् आचार्य के नाम से संस्था, शिष्य और साहित्य के नामकरण की सर्वसम्मत प्रथा जिसने यहाँ के समग्र साहित्य को प्रभावित किया। इसी नियम के कारण समस्त पुराण साहित्य जो मूल चार सहस्र श्लोकों से सौ गुना बढ़कर चार लाख श्लोकों के बराबर हो गया है, आज तक वेदव्यास की रचना माना जाता है (पृ० २९०)। चरण और तद्विषयता, इन दो संस्थाओं का स्पष्ट परिचय प्राचीन भारतीय शिक्षा और साहित्य के निर्माण को समझने की कुञ्जी है। चरण या विद्यालय भी संघों के आदर्श पर अपने संगठन का विधान करते थे। शिक्षा के क्षेत्र में और भी कितनी ही संस्थाओं पर पाणिनि से प्रकाश प्राप्त होता है, जैसे आचार्य-प्रवक्ता-व्याख्याता-श्रोत्रिय-उपाध्याय कोटि के अध्यापक, माणव-अन्तेवासी-चरक संज्ञक छात्र, चरणों की परिषदें, विवाद-व्याख्यान-शास्त्रार्थ आदि विषयानुसंधान के विविध प्रकार, ज्ञानसाधन का 'भूयोविद्य' आदर्श (पृ० २९४), तदधीते तद्वेद या पढ़ने-पढ़ाने वाले विद्वानों के माध्यम से प्रत्येक शास्त्र या ग्रन्थ का प्रसार एवं दीर्घकाल के लिए परम्परा का निर्माण आदि। पाणिनि के युग तक जितने प्रकार का साहित्य बन चुका था, उसका वर्गीकरण—दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत, व्याख्यान, और अनेक ग्रंथों का नामोल्लेख पाणिनि की निजी विशेषता है। स्वाभाविक है कि इस क्षेत्र के जीवन से आचार्य का सबसे अधिक अन्तरङ्ग परिचय हो। व्याकरण शास्त्र के इतिहास पर भी अष्टाध्यायी से प्रकाश पड़ता है। उसकी सामग्री का पृथक् विचार किया गया है। फिर उन पूर्वाचार्य—संज्ञाओं का उल्लेख किया गया है जो प्राक् पाणिनीय व्याकरणों में मान्य थीं।

छठे अध्याय में धर्म के अन्तर्गत यज्ञीय कर्मकाण्ड एवं देवपूजा सम्बन्धी सामग्री

की व्याख्या की गई है। स्पष्ट है कि उस सक्रान्तिकाल में प्राचीन यज्ञविधि और नए प्रकार की भक्तिप्रधान पूजा का जनता में एक साथ प्रचार था। सप्तदश अक्षरों-वाले होमात्मक प्रजापति का रूप मन्त्रकरण द्वारा सम्पन्न किया जाता था। उस मन्त्रपाठ के सम्बन्ध में पाणिनीय सूत्रों की सामग्री की व्याख्या यहाँ की गई है (पृ० ३६२–६६)। अष्टाध्यायी से ज्ञात होता है कि लोक में शब्दों के सस्वर उच्चारण की तब तक प्रथा थी, अतएव पाणिनि ने उसके विवेचन को पर्याप्त स्थान दिया था। किन्तु यह भी विदित होता है कि यज्ञों में स्वरों का नियम शिथिल हो रहा था और लोग एकश्रुति पाठ के पक्षपाती बन रहे थे। कात्यायन श्रौतसूत्र के कर्ता ने भी पाणिनि के समान इस नई प्रवृत्ति पर ध्यान दिया था। दार्शनिक क्षेत्र में वह बहुत उथल-पुथल का युग था। पाणिनि ने अति संक्षेप से विभिन्न दृष्टिकोणों का उल्लेख किया है। जिसे बौद्ध साहित्य में 'दिट्ठि' कहा गया उसे पाणिनि ने 'मति' कहा है। 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' सूत्र की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर इस ग्रन्थ में कुछ विस्तार से विचार किया गया है।

राजतन्त्र और शासन संज्ञक सातवें अध्याय में एकराज जनपद और संघों के सम्बन्ध में सामग्री का विवेचन है। श्री काशीप्रसाद जायसवाल जी ने अपने 'हिन्दू राजतन्त्र' नामक ग्रन्थ में सर्वप्रथम इस सामग्री के महत्त्व पर ध्यान दिलाया था। उस पर और अधिक उपबृंहण और व्याख्या द्वारा यहाँ प्रकाश डाला गया है। पाणिनि के युग में संघों का बाहुल्य था। लोक में संघ आदर्श का सर्वोपरि प्रचार था; यहाँ तक कि गोत्र, चरण, श्रेणि, निगम आदि सामूहिक संस्थाओं के संगठन और कार्यविधि की प्रेरणा संघ आदर्श से ही प्राप्त की जाती थी जैसी आजकल है। पाणिनि में पचास से अधिक संघों के नाम हैं। उनकी पहचान का प्रयत्न किया गया है। संघों का क्षेत्र वाहीक या पञ्चनद प्रदेश से लगा कर पर्शु या ईरान तक फैला हुआ था। इन संघों के जो अनेक प्रकार थे उनके राजनैतिक संविधानों पर भी आचार्य ने ध्यान दिया था। उनका वर्गीकरण करके गण, आयुधजीवी संघ, पर्वताश्रयी संघ, श्रेणि, पूग, व्रात, ग्रामणीय आदि विविधि भाँति के संघों का उल्लेख उस काल के राजनैतिक जीवन का जैसा ज्वलन्त चित्र उपस्थित करता है वैसा अन्य किसी स्रोत से प्राप्त नहीं होता।

ऐतिहासिक दृष्टि से पाणिनि की सबसे महत्त्वपूर्ण सामग्री जनपद संस्था पर नया प्रकाश है। भारतीय संस्कृति की विकासधारा में जनपदों का महत्व अभी तक ठीक प्रकार समझा नहीं जा सका है। यूनान देश के इतिहास में जो महत्त्व पुरराज्यों का था वही भारतीय इतिहास में जनपदों का था। सच तो यह है कि भारत में जनपद राज्यों का प्रयोग देशकाल में उससे भी कहीं अधिक व्यापक और गम्भीर परिणाम वाला हुआ। एकराज और संघ दो प्रकार के जनपदों में भारतीय संस्कृति की मूल

प्रतिष्ठा और राष्ट्रीय एकरूपता का विकास जनपदों में हुआ। हमारे जीवन के जो विविध स्तर हैं उनमें जीवन की दृढ़ शैली जनपद युग में ही व्यवस्थित की गई। धर्म के क्षेत्र में एक ओर वैदिक तत्त्वज्ञान और यज्ञपरक कर्मकाण्ड एवं दूसरी ओर लोकधर्म के यक्ष, नाग, स्कन्द, गण, भूत, पिशाच, वृक्ष, नदी, पर्वत आदि देवताओं की पूजामान्यता, इन दो धाराओं का समन्वय और पारस्परिक सन्तुलन जनपद युग में ही हुआ। एक ओर वैदिक भाषा तथा दूसरी ओर जनसमूह की अनेक बोलियों, इन दोनों का समन्वय होकर पाणिनीय संस्कृत भाषा का नया सर्वमान्य विकास भी जनपद युग में ही हुआ जिससे उस समय के व्यावहारिक जीवन की पूर्ति हुई और कालान्तर में जिसकी दृढ़ छाया के रूप में ही प्राकृत भाषाएँ और लोक भाषाएं ऊपर उभर आईं। धर्म और भाषा के स्तरों की भाँति आर्थिक क्षेत्र में भी जनपद युग में जीवन का जो व्यापक ढाँचा तैयार हुआ वही कृषि और शिल्पप्रधान ठाठ अभी तक फैला हुआ है। जनपदों का जीवन नई-नई शिल्प वृत्तियों से भर रहा था। यास्क और पाणिनि दोनों ने उन्हें 'जानपदी' शब्द से व्यवहृत किया है। जनपदों में शिल्प का जीवन कितना बहुमुखी था यह जातकों से जाना जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में चरण नामक अनेक विद्या संस्थाओं का ताना-बाना ही जनपदों में पूर दिया गया था। एक-एक आचार्य के अन्तेवासियों ने गाँव-गाँव में शिष्य-प्रशिष्यों के रूप में फैलकर शिक्षा और ज्ञान की धारा बहा दी थी—ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते। फलस्वरूप उस युग में साहित्य का अभूतपूर्व विस्तार हुआ। ब्राह्मण ग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, श्रौतसूत्र, धर्मसूत्र, गृह्यसूत्र, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, प्रातिशाख्य, महाभारत, रामायण, दर्शन आदि महान् साहित्य जनपद युग की ही देन हैं। उस समय साहित्य के क्षेत्र में अद्भुत भास्वर प्रकाश फैल गया था। यूनान के पुरराज्यों में भी ज्ञान का कुछ ऐसा ही विस्फोट हुआ था। इसी युग में प्रज्ञा, मेधा, श्रद्धा, तप, अध्ययन, दीक्षा, सत्य, धर्म, आचार आदि के आदर्श लोक के धरातल पर अवतरित हुए, जैसा अश्वपति कैकेय के एक वाक्य से सुविदित है (न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः। नानाहिताग्निर्ना विद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥)।

तभी जनपदों की भौगोलिक सीमाएँ निश्चित हुईं। उनके शासनकर्ता 'जनपदिन्' क्षत्रियों के संगठन सुव्यवस्थित हुए। परिवारों के या 'गोत्र' प्रधान संगठित जीवन का क्रम सूत्रबद्ध हुआ। स्त्री-पुरुषों के नामों में जनपदीय नामों की छाप पड़ गई। जातियों के संगठन उभर आये। सामूहिक जीवन की अपनी-अपनी इकाइयों को प्रश्रय मिला। गोत्र, चरण, संघ, शिल्पियों की श्रेणियाँ, ये सब अपने-अपने विकास की धारा पर आगे बढ़ीं और जातियों के रूप में इस प्रकार दृढ़ता से संगठित हो गईं कि वे संगठन अधिकांश में आज भी प्रवर्तमान हैं। एककृताः, श्रेणिकृताः, पूगकृताः, क्षत्रियकृताः, ब्राह्मणकृताः आदि पाणिनि के प्रयोग सामाजिक जीवन के

बिखरे हुए सूत्रों के एकीकरण की सूचना देते हैं। दूसरी ओर वे यह भी सूचित करते हैं कि प्रत्येक समूह जाति के रूप में संगठित होकर देश की राष्ट्रजननी पद्धति के साथ संयुक्त हो रहा था। इसका ऐसा ढंग बना कि प्रत्येक का अपना स्वरूप बना रहा और संघ आदर्श के अनुसार निजी जातीय संगठन भी चलता रहा, तथा दूसरी ओर प्राणवन्त प्रभावों के आदान-प्रदान के लिए समाज की बड़ी इकाई के साथ भी जीवन के सूत्र मिलकर एक हो गए। सामाजिक क्षेत्र में यह चमत्कारपूर्ण प्रयोग जनपद युग में ही सम्पन्न हुआ था।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष के जनपद राष्ट्र मानवीय जीवन की सक्रिय प्रयोगशालाएँ थीं। संघों से उन्हें संगठन की प्रेरणा मिली। जनता के सांस्कृतिक और सामाजिक जीवन का दृढ़ संस्थान जनपद युग (१०००–५०० ई० पू०) में सदा के लिए स्थिरता को प्राप्त हुआ। कालान्तर में उसका संस्कार तो होता रहा, आमूलचूल परिवर्तन या विघटन कभी नहीं हुआ। यूनानी पुरराज्यों का जो प्रभाव और महत्त्व उस देश के इतिहास में हुआ था, वह भारतीय जनपदों के प्रभाव की तुलना में नितान्त परिमित प्रतीत होता है। यह सौभाग्य की बात है कि गोत्र और चरणों की भाँति जनपद संस्था के विषय में एवं ऊपर लिखी हुई जीवन-प्रवृत्तियों के विषय में भी अष्टाध्यायी से ऐसी सच्ची और बारीक जानकारी प्राप्त हो सकी है जिसका विस्तृत विवेचन यहाँ किया गया है (पृ० ४१२–४४३)।

आठवें अध्याय में पाणिनि के समय पर विचार किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन के फलस्वरूप जो सामग्री और तर्क-कोटियाँ ऊपर उभर आईं उनके आधार पर इस प्रश्न का विवेचन करना आवश्यक था। सामग्री की एकसूत्रात्मक पद्धति से ज्ञात होता है कि पाणिनि की तिथि के विषय में भारतीय अनुश्रुति प्रामाणिक है जिसके अनुसार पाणिनि किसी नन्दराज के समसामयिक माने जाते हैं। वह समय पाँचवीं शती ई० पूर्व के मध्यभाग के लगभग था।

लोक ही व्याकरण का सबसे महान् आवपन या थैला है जो शब्दों के अपरिमित भण्डार से भरा रहता है। उस लोक के प्रति पाणिनि की बड़ी हुई निष्ठा और श्रद्धा थी। लोक प्रमाण (जिसे संज्ञाप्रमाण कहा गया है) के आधार पर ही आचार्य ने अपने महान् शास्त्र की रचना की। लोक के विषय में पाणिनि की गाढ़ी श्रद्धा ही अष्टाध्यायी की बहुमुखी सांस्कृतिक सामग्री का हेतु है। इस दृष्टि को लेकर आचार्य के नेत्रों में अभूतपूर्व तेज भर गया था। गुप्त-प्रकट जो शब्द सामग्री जहाँ थी वह सब उन्हें ऐसे प्रतिभासित हो गई जैसे पुराकाल के अन्य किसी आचार्य को न हुई थी। शब्दों की खोज में लोक का तिल-तिल परिचय जिसे व्याख्याताओं ने सूक्ष्मेक्षिका कहा है, पाणिनीय कार्यशैली की विशेषता थी जिससे ऐसे सर्वाङ्गपूर्ण शास्त्र का जन्म हुआ। वैयाकरण के लिए महाभारत में लिखा है—

सर्वार्थानां व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते । प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः ॥
(उद्योग ४३।३६)

सब अर्थों का व्याकरण, विवेचन, निर्वचन, प्रकृति और प्रत्यय का पृथक् स्पष्टीकरण, इसका प्रयत्न करना ही वैयाकरण का कार्य है । 'सर्वार्थ' शब्द की व्यञ्जना दूर तक है; इसमें जो जितनी सामग्री भर सके वही उसकी सफलता है । पाणिनि ने लोक की भाषा में प्रचलित अनेक अर्थों के 'व्याकरण' का जो समन्तात् प्रयत्न किया, वह अष्टाध्यायी के सूत्रों में शाश्वतकाल के लिए निहित है । भगवान् पाणिनि द्वारा उपज्ञात यह महत् और सुविहित शास्त्र पर्वतघटित कैलाश मन्दिर के समान विश्व का आश्चर्य है । पाणिनि के सूत्रों की शोभना कृति और अर्थ गौरव उसी स्वयम्भू शिवधाम के समान अनन्त कृति है । शताब्दियों के विस्तृत अन्तराल ने उसकी महिमा का संवर्धन ही किया है । जब तक व्योम में चन्द्र और सूर्य प्रकाशित हैं तब तक पाणिनि का यह शब्दशास्त्र लोक में प्रवर्धमान रहेगा ।

न्यूनतम समय में मुद्रण कार्य सम्पन्न करने के लिए नागरी मुद्रण काशी के प्रबन्धक श्री महताब राय जी का मैं आभार मानता हूँ । श्री राजबली जी पाण्डेय, मन्त्री नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने कागज की व्यवस्था कराने में जो सहायता की उसके लिए मैं उनका उपकृत हूँ । श्री रामशंकर भट्टाचार्य, श्री रेवाप्रसाद, श्री जगन्नाथ पाठक और श्री अजय मित्र ने पाण्डुलिपि और शब्दानुक्रमणी तैयार करने में जो परिश्रम किया उसके लिए उन्हें धन्यवाद है ।

काशी विश्वविद्यालय
मार्गशीर्ष शुक्ल २, सं० २०१२

वासुदेवशरण

विषय सूची

अध्याय ४ : आर्थिक दशा १९५–२७०

अध्याय ६ : धर्मदर्शन ३४५–३८३

अध्याय ७ : राज्यतन्त्र और शासन ३८४–४६२

अध्याय १

पाणिनि और उनका शास्त्र

येनाक्षर-समाम्नायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्तं तस्मै पाणिनये नमः ॥
येन धौता गिरः पुंसां विमलैः शब्दवारिभिः ।
तमश्चाज्ञानजं भिन्नं तस्मै पाणिनये नमः ॥

व्याकरण

भारतवर्ष मे व्याकरण को उत्तरा विद्या एवं छहो वेदांगो मे प्रधान माना गया है (व्याकरणं नामेयं उत्तरा विद्या, भाष्य १।२।३२; प्रधान च षट्सु अगेषु व्याकरणम्) । भाषा के वर्गीकरण और प्रकृति प्रत्यय का विश्लेषण मे जैसी उन्नति इस देश मे हुई वैसी अन्यत्र नही । संस्कृत के वैयाकरणो ने सर्वप्रथम मूल शब्द के रूपो को अलग किया, धातु और प्रत्यय के भेद को पहिचाना, प्रत्ययो के अर्थों का निश्चय किया और शब्दविद्या का इतना निश्चित और पूर्ण शास्त्र तैयार किया जिसकी उपमा किसी अन्य देश मे नही मिलती । भारतीयो के शब्दविद्या-विषयक ज्ञान से पश्चिमी विद्वानो ने अपने भाषाशास्त्र मे भी लाभ उठाया है ।

पाणिनि का व्याकरणशास्त्र भारतीय शब्दविद्या का सबसे प्राचीन ग्रथ है, जो इस समय उपलब्ध होता है । आचार्य पाणिनि ने महान् अष्टाध्यायी शास्त्र की रचना की, जो अपनी विशालता, क्रमबद्धता एवं विराट् कल्पना के कारण भारतीय मस्तिष्क की उसी प्रकार की सविशेष कृति है जिस प्रकार पर्वत मे उत्कीर्ण वेरूल क्षेत्र का विशाल कैलास मदिर । पाणिनि ने संस्कृत भाषा को अमरता प्रदान की । व्याकरण की जो रीति उन्होने अपनाई उसके द्वारा संस्कृत भाषा के सब अंग प्रकाश से आलोकित हो गए । पाणिनि की सहायता से उनमे अपना मार्ग ढूंढ निकालने में किसी को कठिनाई का अनुभव नही होता । संसार की कितनी ही प्राचीन भाषाएँ नियमित व्याकरण के अभाव मे दुरूह बन गईं; किन्तु संस्कृत भाषा के गद्य और पद्य दोनो एक समान पाणिनि-शास्त्र से नियमित होने के कारण सब काल मे सुबोध बने रहे हैं । संस्कृत भाषा का जहाँ तक विस्तार है वही तक पाणिनीय शास्त्र का प्रमाण है । पाणिनि का प्रभाव सदा के लिये संस्कृत भाषा पर अक्षुण्ण है; आज भी उसकी मान्यता है । पाणिनि के कारण ही मानो यह भाषा कालग्रस्त नही हो सकी ।

पाणिनि का यश और अष्टाध्यायी का महत्त्व

पश्चिमी जगत् के विद्वान् जब पाणिनि से परिचित हुए तो उनपर उस शास्त्र के महत्त्व की छाप पडी। वेवर ने अपने संस्कृत भाषा के इतिहास मे अष्टाध्यायी को इस कारण सभी देशो के व्याकरण-ग्रथो मे सर्वश्रेष्ठ माना कि उसमे बहुत बारीकी से धातुओ और शब्द-रूपो की छानबीन की गई है। गोल्डस्टूकर के मत मे पाणिनि-शास्त्र सस्कृत भाषा का स्वाभाविक विकास हमारे सामने उपस्थित करता है। इस शास्त्र के चारो ओर अति प्राचीनकाल से अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना होती रही है। भारतीय शास्त्रीय परम्परा की भूमि मे पाणिनि की जडें सबसे अधिक गहराई तक फैली हैं। पाणिनि के सूत्र अत्यन्त सक्षिप्त हैं। उन्हे छोटा बनाने मे जिन विविध उपायो से काम लिया गया वे उनकी मौलिक सूझ प्रकट करते हैं। किन्तु यह संक्षिप्त शैली सर्वथा स्पष्ट है, कही भी दुरूह नही होने पाई है। जबसे सूत्रो का पठन-पाठन आरम्भ हुआ तब से आज तक उनके शब्दो के अर्थ स्पष्ट रहे हैं।

अष्टाध्यायी की रचना से पहले शब्दविद्या का दीर्घकालीन विकास हो चुका था; किन्तु अष्टाध्यायी जैसे वृहत् और सर्वांगपरिपूर्ण शास्त्र के सामने पुराने ग्रथ लुप्त हो गए। लोक मे उसी का सर्वोपरि प्रमाण माना जाने लगा। पूर्ववर्ती आचार्यों मे केवल यास्क का निरुक्त बचा है और वह भी केवल इस कारण कि उसका ध्येय वैदिक अर्थों को विवृत करना था। यास्क और पाणिनि के समय मे जो 'चरण' सज्ञक वैदिक शिक्षा-सस्थाएँ थी उनकी परिषदो मे अनेक प्रकार से शब्द और ध्वनि के नियमो का ऊहापोह किया गया था। चरण-परिषदो के अतिरिक्त भी कितने ही आचार्यों ने शब्दविद्या के विषय में ग्रंथ रचे थे; उनमे से कुछ का प्रमाण स्वयं पाणिनि ने दिया है। उस विस्तृत सामग्री की पृष्ठभूमि लेकर पाणिनि ने अपना शास्त्र बनाया।

पाणिनि ने अपने समय की बोलचाल की शिष्ट भाषा की जाँच-पड़ताल करके अपनी सामग्री का संकलन किया। एक प्रकार से अधिकाश सामग्री उन्होंने स्वयं अपने लिये प्राप्त की। पाणिनि के सामने सस्कृत वाङ्मय और लोकजीवन का वृहत् भंडार फैला हुआ था, वह नित्यप्रति प्रयोग मे आनेवाले शब्दो से भरा हुआ था। इस भडार का जो शब्द अर्थ और रचना की दृष्टि से कुछ भी निजी विशेषता लिए हुए था उसका उल्लेख सूत्रो मे या गणपाठ मे आ गया है। तत्कालीन जीवन का कोई भी अंग ऐसा नही बचा जिसके शब्द अष्टाध्यायी मे न आए हो। भूगोल, शिक्षा, साहित्य, सामाजिक जीवन, कृषि, वाणिज्य व्यवसाय, सिक्के, नापतोल, सेना, शासन, राजा, मंत्रिपरिषद्, यज्ञ-याग, पूजा, देवी-देवता, साधु-सन्यासी, रंगरेज, बढई, लुहार, जुलाहा, महाजन, किसान, जुआरी, बहेलिया आदि से सम्बन्धित जहाँ तक जीवन का विस्तार है वहाँ तक शब्दो को समेटने के लिये पाणिनि का जाल पूरा हुआ था।

विशेषकः भौगोलिक जनपदो और स्थानो, वैदिक शाखाओ और चरणो तथा गोत्रो और वंशों के नामो से सम्बन्धित बहुत अधिक सामग्री अष्टाध्यायी में संगृहीत हो गई है। इन नामों से बननेवाले जो शब्द भाषा मे रात-दिन काम मे आते थे उनकी रूप-सिद्धि और अर्थो का निश्चय पाणिनि का लक्ष्य था। इन शब्दो और अन्य सूत्रों पर विचार करने से स्पष्ट ज्ञात होता है कि संस्कृत उस समय बोलचाल की भाषा थी। दूर से पुकारने (दूराद्धूते च, ८।२।८४), अभिवादन का उत्तर देने (प्रत्यभिवादेऽशूद्रे, ८।२।८३), प्रश्नोत्तर (पृष्टप्रतिवचने, ८।२।९३), अथवा डाट-फटकार (भर्त्सने ८।२।९५) आदि के लिये जिस प्रकार वाक्यो और शब्दो मे स्वरो का प्रयोग होता था उनके नियम सूत्रो मे दिए गए हैं, जो उनकी व्यावहारिक उपयोगिता बताते हैं।

पाणिनीय शैली की बड़ी विशेषता इस बात मे है कि उन्होंने धातुओ से शब्द-निर्वचन की पद्धति को स्वीकार किया। इसके लिये उन्होंने लोक में प्रचलित धातुओ का बडा संग्रह धातुपाठ में किया। आज भी इस देश की आर्य-भाषाओ और बोलियों के तुलनात्मक अध्ययन के लिये पाणिनि द्वारा संगृहीत धातुपाठ धातुओ और अर्थो की दृष्टि से अति मूल्यवान् हैं। दूसरी ओर पाणिनि ने, जिस प्रकार धातुओं से संज्ञा शब्द सिद्ध होते हैं उस प्रक्रिया की, सामान्य और विशेष रीति से पूरी छानबीन करके कृदन्त प्रत्ययो की लम्बी सूची दी है, और जिन अर्थों मे वे प्रत्यय शब्दो मे जुडते हैं उनका ज्ञान भी कराया है। यह सीधी शैली शब्द-ज्ञान के लिये नितान्त सरल और सुबोध हुई। पाणिनि से पहले आचार्य शाकटायन ने भी यह मत स्वीकार किया था कि शब्द धातुओ से बनते हैं; किन्तु वैयाकरण शाकटायन ने अपने इस मत को एक आग्रह का रूप दे डाला था, और व्युत्पन्न एवं अव्युत्पन्न सभी प्रकार के शब्दो को धातु-प्रत्ययों मे सिद्ध करने का क्लिष्ट प्रयत्न किया था। शाकटायन के मत की झलक और उसके उदाहरण यास्क ने निरुक्त मे दिये हैं। सभी शब्दो को धातु मानने की शाकटायन-प्रदर्शित पगडंडी पर चलते हुए ही उणादि सूत्रों की रचना की जा सकती थी। उनके ठीक कर्ता का पता नही; हो सकता है शाकटायन के व्याकरण के ही वे अवशेष हो जिनमे पीछे भी कुछ जोड़-तोड़ होता रहा। दूसरी ओर पाणिनि को मत विशेष का आग्रह न था। वे दो विरोधी मतो में बीच का रास्ता स्वीकार करना अच्छा समझते थे। जहाँ दो मतो का झगडा हो, वहाँ पाणिनि मध्यम पथ या समन्वय को पसन्द करते है। उन्होंने देखा कि भाषा में कुछ शब्द तो ऐसे हैं जिनकी सिद्धि धातुओ मे प्रत्यय लगाकर सामान्य या विशेष नियम के अन्तर्गत आती है। किन्तु लोक मे शब्दो का भंडार बहुत बडा है, उसमे कितने शब्द ऐसे भी हैं जिनमे धातु-प्रत्यय की दाल नही गलती। हठात् प्रत्यय की थेकली लगाकर उन्हे सिद्ध करना न केवल क्लिष्ट कल्पना है, बल्कि कभी-कभी व्याकरण-शास्त्र की भी हँसी कराना है। ऐसे शब्द लोक

मे स्वयं उत्पन्न होते हैं, अर्थों के साथ उनका सम्बन्ध जुड जाता है, एव वे लोगो के कंठ मे रहकर व्यवहार मे आते हैं। उनके लिये लोक ही प्रमाण है। ऐसे शब्दो को पाणिनि ने संज्ञाप्रमाण (१।२।५३) कहा है। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनमे व्याकरण के नियमो की बाँस-बल्ली नहीं लगती, वे जैसे हैं लोक के कठ मैं ढल गए हैं। ऐसे शब्दो को यथोपदिष्ट मानकर उनकी भी प्रामाणिकता उन्होने स्वीकार की है। (पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् , ६।३।१०९)। उणादि प्रत्ययो को पाणिनि ने अपने शास्त्र मे प्रमाण तो मान लिया, किन्तु व्यौरेवार उनके पचडे मे पड़ने की आवश्यकता नही समझी। 'उणादयो बहुलम्' (३।३।१) सूत्र लिखकर उन्होने उणादि शैली से शब्द सिद्ध करने की प्रक्रिया पर अपनी स्वीकृति की मोहर तो लगा दी, किन्तु 'बहुलम्' कहकर लबी छूट भी दे दी कि जो आचार्य जितनी चाहे उतनी चौकडी भरे। और भी जहाँ-जहाँ मतो का द्वन्द्व था, आचार्य पाणिनि ने समन्वय का दृष्टिकोण स्वीकार किया, जैसा हम आगे देखेंगे।

शब्द का अर्थ व्यक्ति है या जाति, यह एक पुराना विवाद था। महाभाष्य मे इसका लम्बा शास्त्रार्थ दिया हुआ है। आचार्य वाजप्यायन का मत था कि 'गौ' शब्द का अर्थ गौ-जाति-मात्र है (आकृत्यभिधानाद्वैक विभक्तौ वाजप्यायनः, १।२।६४।३५)। आचार्य व्याडि का मत था कि 'गौ' शब्द व्यक्ति-रूप केवल एक गौ का वाचक है (द्रव्याभिधानं व्याडि', १।२।६४।४५)। पाणिनि ने देखा कि दोनो ही मतो मे सत्य का अंश है, अतएव अपने दो सूत्रो मे उन्होने दोनो को मान्यता दी। 'जात्याख्याया एकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम्' (१।२।५८) सूत्र मे यह माना कि जातिमात्र शब्द का अर्थ है, एव 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' (१।२।६४) सूत्र मे शब्द का अर्थ द्रव्य या एक व्यक्ति लिया गया। पतञ्जलि ने महाभाष्य के आरम्भ के पस्पशाह्निक मे इस सम्बन्ध मे पाणिनि की स्थिति को सक्षेप मे स्पष्ट कर दिया है।

पाणिनि का महान् शास्त्र अष्टाध्यायी इस दृष्टि से भी हमारे लिये महत्त्वपूर्ण है कि यास्क के निरुक्त की तरह उसपर एक ही आचार्य के कर्तृत्व की छाप है। वह इस प्रकार का ग्रथ नही है जिसका सकलन चरण साहित्य के ढग पर गुरु-शिष्य-परम्परा मे पल्लवित होनेवाले शास्त्रीय ज्ञान को इकट्ठा करके किया गया हो। शब्द-सामग्री का सग्रह करने के बाद पूर्वाभिमुख आसन पर बैठकर महान् यत्न से एक ही बार मे आचार्य पाणिनि ने अपने शास्त्र की रचना की। सूत्रो की अन्त-साक्षी इसी पक्ष मे है। रचना के बाद भी पाणिनि के ग्रथ मे बहुत ही कम फेरफार हुआ है। बर्नेल ने लिखा है कि ढाई सहस्र वर्षों की दीर्घ परम्परा के बाद अष्टाध्यायी का पाठ जितना शुद्ध और प्रामाणिक हमें मिलता है, उतना किसी अन्य संस्कृत ग्रंथ का नही (ऐन्द्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३१)।

अष्टाध्यायी के सूत्रो मे भूगोल, इतिहास, सामाजिक स्थिति एवं संस्कृति सम्बन्धी

जो सामग्री पाई जाती है, उसकी प्रामाणिकता उतनी ही बढ़ी-चढ़ी है जितनी प्राचीन शिलालेखों या सिक्कों की मानी जाती है।

अष्टाध्यायी की प्राचीनता को आजकल के सभी विद्वान् स्वीकार करते हैं; इस प्राचीनता से भी इस ग्रंथ की सामग्री का मूल्य बहुत बढ़ जाता है।

हमारे प्रस्तुत अध्ययन का उद्देश्य अष्टाध्यायी की सांस्कृतिक सामग्री पर प्रकाश डालना है। एक प्रकार से यह पाणिनि-शास्त्र की बहिरंग परीक्षा ही है, जो इस शास्त्र की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का परिचय देकर सूत्रों में प्रतिपादित शब्दों को नया मूल्य प्रदान करेगी और उनमें नई रुचि का संचार करेगी। इस अध्ययन से पाणिनि-शास्त्र की गंभीरता का भी कुछ अनुमान हो सकेगा। प्रायः व्याकरण-शास्त्र को रूखा विषय समझा जाता है, किंतु इस अध्ययन से यह विदित होगा कि पाणिनि-शास्त्र कोरी दाँत-किटाकिट नहीं है। उनकी अष्टाध्यायी में संस्कृति की जो अमूल्य सामग्री है, उससे प्राचीन लोक-जीवन का जीता जागता परिचय मिलता है। इसकी सहायता से यदि हम आचार्य पाणिनि के ग्रंथ के समीप एक बार नए उत्साह से अपने मन को ला सकें तो यह परिश्रम सफल होगा।

संस्कृत भाषा का जो पुराना इतिहास था उसके एक गाढ़े समय में पाणिनि का प्रादुर्भाव हुआ। यास्क के समय में ही वैदिक भाषा का युग लगभग समाप्त हो चुका था। नए-नए ग्रन्थ, अध्ययन के विषय, एवं शब्द सब ओर जन्म ले रहे थे। गद्य और पद्य की एक नवीन भाषा-शैली प्रभावशालिनी शक्ति के रूप में सामने आ रही थी। उस भाषा के विस्तार का क्षेत्र उत्तर में कम्बोज—प्रकण्व (पामीर फरगना) से लेकर पश्चिम में कच्छ-काठियावाँड, दक्षिण में अश्मक (गोदावरी-तट का प्रदेश) और पूर्व में कलिंग एवं सूरमस (असम की सूरमा नदी का पहाड़ी प्रदेश) तक फैला हुआ था, जैसा कि अष्टाध्यायी के भौगोलिक उल्लेखों से विदित होता है। संभव है इस विशाल प्रदेश में स्थानीय बोलियाँ भी रही हों, किन्तु एकछत्र साम्राज्य का पट्टबंध संस्कृत के ही माथे था। संस्कृत भाषा एव साहित्य की इस प्रकार तपती हुई चारखूँट जागीरी के एकत्र तेज से पाणिनि के महान् शास्त्र का जन्म हुआ। पाणिनि से पूर्व शब्दविद्या के दूसरे आचार्यों ने इस विस्तृत भाषा को नियमबद्ध करने के प्रयत्न किए थे, किंतु वे एकांगी थे; संभवतः एक दूसरे से टकराते भी थे और शब्दों के रूप और नियम भी उनमें पूरी तरह घिरकर न आ सके थे। किंतु पाणिनि का शास्त्र विस्तार और गांभीर्य की दृष्टि से इन सबमें सिरमौर हुआ। वह उस स्थिर सरोवर के समान है, जिसमें निर्मल जल भरा हो और जिसमें उतरने के लिए पक्के घाट बँधे हों। पाणिनि ने अपने एकाग्र मन, सारग्राहिणी बुद्धि, समन्वयात्मक दृष्टिकोण, दृढ़ परिश्रम, सूत्र रचने की कुशलता एव विपुल सामग्री की सहायता से जिस अनोखे व्याकरण शास्त्र की रचना की उसने सचमुच ही तत्कालीन

सस्कृत भाषा की समस्या का एक बडा समाधान प्रस्तुत किया। तभी तो लोक में एक स्वर से पाणिनि-शास्त्र का स्वागत करते हुए यह किलकारी उठी—

पाणिनीयं महत्सुविहितम्। (भा० ३।२।३)

'पाणिनि का शास्त्र महान् और सुविरचित है।'

काशिका के अनुसार सारे लोक मे पाणिनि का नाम छा गया (पाणिनि शब्दो लोके प्रकाशते, २।१।६); सर्वत्र 'इति पाणिनि' की धूम हो गई। पाणिनि की इस सफलता का स्रोत लोक की दृष्टि मे ईश्वरीय शक्ति के अतिरिक्त और क्या हो सकता था ? इसी कारण यह अनुश्रुति प्रचलित हुई कि शब्द के आदि आचार्य भगवान् शिव की कृपा से पाणिनि को नया व्याकरण-शास्त्र प्राप्त हुआ।

पाणिनि की अष्टाध्यायी मे लगभग चार सहस्र सूत्र हैं; अथवा ठीक गिनती के अनुसार ३९९५ हैं, जिनमे 'अ इ उ ण्' ऋ लृ क्' आदि अक्षर-समाम्नाय के चौदह प्रत्याहार सूत्र भी सम्मिलित हैं। पाणिनि ने सुत्रो की शैली मे अत्यत ही सक्षिप्त अक्षरो द्वारा अपने ग्रथ की रचना की। सूत्र-शैली पाणिनि से पूर्व ही आरभ हो चुकी थी। ब्राह्मण-ग्रथो के वृहत्काय पोथो की प्रतिक्रिया-रूप सूत्रो की सुन्दर हृदयग्राही शैली का जन्म हुआ था। ससार की साहित्यिक शैलियो में भारतवर्ष की सूत्र-शैली की अन्यत्र उपमा नही है। यो तो श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रो एव प्रातिशाख्य आदि वैदिक परिषदो के ग्रथो मे सफलतापूर्वक सूत्रशैली का प्रयोग हो चुका था, किंतु उसी को अच्छी तरह से मांजकर इस शैली की पूर्ण शक्ति और सभावना के साथ उसे काम मे लाने का श्रेय पाणिनि को ही है। सूत्रशैली को मांजने की कल्पना पाणिनि के मन मे थी। प्रयत्नपूर्वक मांजे और निखारे हुए सूत्र को उन्होने 'प्रतिष्णात' कहा है (सूत्र प्रतिष्णातम्, ८।३।९०)। अतएव 'सूत्रकार' सज्ञा पाणिनि के लिये प्रचलित हुई। महाभाष्य में पतजलि ने एक प्राचीन उदाहरण देते हुए सूत्रकार पद पाणिनि के लिये ही प्रयुक्त किया है (पाणिने सूत्रकारस्य, २।२।११)।

पाणिनि से पूर्व भी व्याकरणशास्त्र की रचना हुई, परतु उस समय लक्ष्य और लक्षण अर्थात् शब्द और उनकी सिद्धि के नियम, इन दोनो को मिलाकर व्याकरण समझा जाता था। पतजलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द की अलग-अलग साधनिका मे न जाकर, अथवा उसके शुद्धरूप का पृथक्-पृथक् उपदेश न करके, पाणिनि ने सामान्य और विशेष नियमो को स्थिर करते हुए सूत्र बनाए (न हि पाणिनिना शब्दा. प्रोक्ताः, किन्तर्हि, सूत्रम् , पस्पशाह्निक वा० १३)। व्याकरणशास्त्र को सूत्रो मे ढालने के लिये 'व्याकरण सूत्रयति' यह प्रयोग ही चल पडा (३।१।२६)। उसके बाद कात्यायन ने अपने वार्तिक भी सूत्र-शैली में ही लिखे, एव व्याकरण लिखने के लिये सूत्रो की परिपाटी लगभग दो सहस्र वर्ष बाद तक भी चलती रही; परंतु 'सूत्रकार' संज्ञा पाणिनि को ही प्राप्त हुई।

सूत्रकार और शब्दकार, ये दोनों संज्ञाएँ पाणिनि के ही एक सूत्र 'न शब्द श्लोक कलह गाथा वैर चाटु सूत्र मन्त्र पदेषु' (३।२।२३) मे साहित्यिक शैलियों का परिगणन करते हुए आई हैं। वैयाकरणो के लिये 'शब्दकार' और 'शाब्दिक' संज्ञाओं का भी प्राचीन काल मे प्रयोग होता था। व्याकरण को पाणिनि ने 'शब्दसंज्ञा' भी कहा है। (स्वं रूपं शब्दस्याशब्द संज्ञा, १।१।६८; अभिनिसस्तनः शब्दसंज्ञायाम्, ८।३।८६)। सूत्र ४।५।३४ मे 'शब्दं करोति शाब्दिक' पद भी पाणिनि ने सिद्ध किया है। पाणिनि के समय में वैयाकरण शब्द चल चुका था, जैसा कि 'वैयाकरणाख्यायां (६।३।७) प्रयोग से ज्ञात होता है; लेकिन अधिकतर व्याकरण उस समय शब्दशास्त्र ही कहलाता था। पीछे चलकर इसका प्रयोग कम और व्याकरण शब्द का अधिक हो गया।

पाणिनि के विषय में कात्यायन का दृष्टि-कोण

कात्यायन पाणिनि के सबसे योग्य, प्रतिभाशाली और वैज्ञानिक पारखी एवं एक प्रकार से व्याख्याता हुए हैं। उनका व्याकरण विषयक निजी ज्ञान उच्च कोटि का था। पाणिनि के सूत्रो पर वार्तिक रचकर उन्होने सूत्रो की पृष्ठभूमि का परिचय दिया एवं इस संबंध मे होनेवाले अनेक विचार-विमर्शों की तुलनात्मक ढंग से समीक्षा की। उन्होंने सूत्रो पर नए विचारो की उद्भावना की, कालान्तर मे जहाँ नए प्रयोग उत्पन्न हो गए थे वहाँ पाणिनि-सूत्रो के साथ उन्हे मिलाने का सुझाव दिया और व्याकरण संबधी सिद्धातो के जो मत-मतातर थे उनपर शास्त्रार्थ चलाया, जो कही कही ५९ वार्तिकों तक लंबा खिच गया है (सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ, सूत्र १।२।६४)। कहीं उन्होने पाणिनि के सूत्रो मे पढे हुए शब्दो का मडन किया है, कही दूसरो से उठाई हुई शंकाओ का उत्तर दिया है, कही दूसरो की शकाओ की निस्सरता दिखाकर नई दृष्टि से पाणिनि के सूत्रो मे शंकास्थलो का संकेत किया है, कही अपनी पराई सभी शकाओं का निराकरण करके सूत्र की शुद्धता का मंडन किया है, एव जहाँ उन्हे जँचा वहाँ सूत्र अथवा उसके एक भाग की आवश्यकता भी दिखाई है। उनके वार्तिको की संख्या लगभग ४२६३ है, जो अपरिमित पाणिनि-विषयक श्रम का परिचय देते हैं। इस प्रकार की बहुमुखी समीक्षा से पाणिनि का शास्त्र एकदम तप गया।

व्याकरणशास्त्र के इतिहास में वह घड़ी बडे दुर्भाग्य की थी जब यह ऊलजलूल कहानी गढी गई कि पाणिनि और कात्यायन मे लागडाँट थी और पाणिनि के यश से कुढकर उन्हे नीचा दिखाने के लिए कात्यायन ने वार्तिको का घटाटोप खडा किया। पीछे यह बात इतनी घर कर गई कि शबरस्वामी जैसे महाविद्वान् की लेखनी से लिखा गया—'सद्वादित्वाच्च पाणिनेर्वचन प्रमाण, असद्वादित्वान्न कात्यायनस्य' (मीमासा भाष्य, १०।८।१), अर्थात् ठीक कहनेवाले पाणिनि का वचन प्रमाण, बे-ठीक कहने वाले कात्यायन का नही। आज भी शेखचिल्ली की इस कहानी को कहते-सुनते यह

अनुभव नही किया जाता कि इसके द्वारा एक महान् वैयाकरण के प्रति अन्याय करते हुए हम अपने ही शास्त्र के पैरो मे आप कुल्हाडी मार रहे हैं। कहाँ कात्यायन का पाणिनि-विषयक गहरा परिश्रम एव सूक्ष्म विचार, और कहाँ उसके प्रति यह उदासीनता ! सच बात तो यह है कि कात्यायन ने वार्तिक-सूत्रो की रचना करके पाणिनीय शास्त्र को जीवनदान दिया। कात्यायन और पतंजलि का पाणिनि-विषयक दृष्टिकोण बहुत कुछ एक जैसा है। किन्ही-किन्ही सूत्रो मे तो पतजलि त्रुटियो की उद्भावना करने मे कात्यायन से आगे निकल गए हैं। शकाओ की उद्भावना, उनपर यथार्थ विचार और उनका समाधान—यही व्याकरणशास्त्र के विचार की प्राचीनतम परिपाटी थी। इसी का अनुसरण कात्यायन और पतञ्जलि ने किया एव इसी शैली से दो सहस्र वर्षों तक सस्कृत के विद्वान् विचार करते रहे हैं।

कात्यायन के वार्तिक पतजलि के महाभाष्य की कुंजी हैं। किसी सूत्र के वार्तिको को अलग छाँटकर उनपर विचार करें तो पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष की एक स्पष्ट लड़ी सरल शब्दो मे गुँथी हुई मिल जाती है। पतंजलि के भाष्य में दो प्रकार की शैलियाँ पाई जाती हैं। जहा तक वार्तिको का सम्बन्ध है, उन्होंने एक-एक शब्द अलग करके उसका अर्थ समझाया है। इस सरल शैली का नाम चूर्णिका है। इसके अतिरिक्त जहाँ व्याकरण के सिद्धान्तो का ऊहापोह-विषयक विचार चलता है, वहाँ की शैली दूसरे प्रकार की हो जाती है—भारी-भरकम, ओजस्वी और सिंहमुखी। जिस प्रकार हाथी सारे शरीर को घुमाकर पीछे देखता है उस प्रकार की नागावलोकन दृष्टि मे वह विषय से आमने-सामने जूझती है। पहली चूर्णक है, दूसरी तडक। भाष्य की इन दो शैलियो के बीच मे अन्तर्यामी धागे की तरह विषय को पिरोनेवाले कात्यायन के वार्तिक हैं। भाष्य मुख्यत कात्यायन के वार्तिको पर आश्रित है।

इस प्रकार वार्तिको का सर्वातिशायी महत्व प्राचीन आचार्यों की दृष्टि मे था। वार्तिको की रचना करने के बाद स्वयं कात्यायन पाणिनि के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् हो उठे और उन्होने अपना अन्तिम वार्तिक इस प्रकार भक्ति भरे शब्दो मे समाप्त किया—'भगवत. पाणिनेः सिद्धम्।'

पतंजलि का दृष्टिकोण

पतंजलि का महाभाष्य पाणिनि-शास्त्र के इतिहास मे सबसे बड़ी घटना हुई। अनेक जलधाराओ के वर्षण से जैसे बहिया आ जाय और उस जलौघ को एकत्र करके किसी नदी मे प्रवाहित कर दिया जाय, उसी प्रकार व्याकरण के विशाल क्षेत्र पर जो विचार-मेघ बरसे थे उन सब जलो का संग्रह करके पतञ्जलि ने महाभाष्य द्वारा उन्हें सदा के लिये व्याकरणशास्त्र के अध्ययन अध्यापन की महानदी मे मिला दिया। पाणिनि और कात्यायन के शास्त्रो का सुचिंतित अध्ययन करते हुए पतजलि के अपने

पांडित्य और विलक्षण व्यक्तित्व की भी अमिट छाप महाभाष्य मे लगी हुई है। जिस क्षेत्र को उन्होंने अपना बनाया था, जिसके वे एक प्रकार से चक्रवर्ती थे, उसी क्षेत्र मे पाणिनि की महिमा और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए उन्होंने भी कात्यायन की भांति पाणिनि के लिये 'भगवान्' पद का प्रयोग किया। उन्होंने कात्यायन को भी एक बार इस विरद से अलंकृत किया (भाष्य ३।२।३), और उन्ही की भाँति महाभाष्य के अन्त मे पाणिनि को अपनी श्रद्धाजलि अर्पित की—

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्। (भा० ८।४।६८)

पतजलि ने पाणिनि को मांगलिक आचार्य (अर्थात् जिन्होंने अपने ग्रन्थ का आरंभ मागलिक शब्द और भावना से किया, जिससे उनकी परंपरा देश और काल मे चिरजीवी हो, १।१।१, १।३।१) लिखा है। कहा है कि आदि मे मगल, मध्य मे मंगल और अंत मे मंगल करनेवाले शास्त्र लोकमंगल के साथ विस्तार को प्राप्त होते हैं। निस्सदेह 'वृद्धि' शब्द से प्रारभ होनेवाला पाणिनि का ग्रंथ, जिसे पतजलि ने महान् शास्त्रौघ अर्थात् शास्त्र का विस्तृत महार्णव (भा० १।३।१) कहा है, लोक ने अपूर्व सफलता को प्राप्त हुआ और उसके द्वारा राष्ट्र की भाषा, विचारशैली एवं सस्कृति का महान् कल्याण हुआ।

पतंजलि के समय में पाणिनि व्याकरण का अध्ययन आरंभिक कक्षाओ तक फैल गया था। उन्होंने लिखा है—

आकुमारं यशः पाणिनेः (भा० १।४।८९) एषास्य यशसो मर्यादा।

काशिका के अनुसार पाणिनि का व्याकरण जब लोक मे फैला तो चारो ओर उसका प्रमाण मानते हुए 'इतिपाणिनि' 'तत्पाणिनि' ध्वनि सुनाई पड़ने लगी (का० २।१।६)।

पतंजलि ने स्पष्ट ही पाणिनि को 'प्रमाणभूत आचार्य' की सम्मानित उपाधि दी है। (भा० १।१।३९)। किस प्रकार अपने गंभीर उत्तरादायित्व का अनुभव करते हुए पाणिनि शास्त्र-रचना मे प्रवृत्त हुए, इसका चित्र खीचते हुए उन्होने लिखा है—

प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।

अर्थात् प्रमाणकोटि में पहुँचे हुए आचार्य ने कुशा से हाथ पवित्र करके पूर्वाभिमुख बैठकर मस्तिष्क के बड़े प्रयत्न से सूत्रो की रचना की। उसमे एक अक्षर के भी निष्प्रयोजन होने की गुञ्जाइश नही, सारे सूत्र की तो बात ही क्या (भा० १।१।१, वा० ७)।

इस प्रकार की रगड करके जो निखरा हुआ शास्त्र रचा गया उसके प्रति विद्वानो

मे पूज्य बुद्धि होना स्वाभाविक था। इससे ही उस रोचक परिभाषा का जन्म हुआ जिसमे कहा गया है कि सूत्र मे आधी मात्रा कम हो जाने से वैयाकरण को इतनी प्रसन्नता होती है जितनी पुत्र-जन्म से—अर्धमात्रा लाघवेन पुत्रोत्सव मन्यन्ते वैयाकरणा (परिभाषेन्दुशेखर, परिभाषा १२२)। लाघव पर इतना ध्यान देते हुए भी पहिले के वैयाकरण सूत्रो को प्रसन्न और सरल रखते थे। पाणिनि के सूत्रो की प्रसन्न भाषा कही कही बहुत हृदयग्राहिणी हो गई है। जैसे सोममर्हति य. (४।४।१३७; मनु के 'सोमं पातुमर्हति', ११।८ से तुलना कीजिए); धान्याना भवने क्षेत्रे खञ् (५।२। १); क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्य (५।२।९२); साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् (५।२।९१, दो स्वरो के छोटे से 'साक्षी' शब्द की सिद्धि के लिये आठ स्वरो वाला बडा सूत्र आचार्य ने बनाया है)। किन्ही किन्हीं सूत्रो मे पाणिनि के शब्दो का प्रवाह असाधारण रूप से बह निकला है। जैसे 'इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा' (५।२।९३)। केवल 'इन्द्रिय' इतना सूत्र रखकर भी 'इन्द्रिय' शब्द की सिद्धि हो सकती थी, परतु पाणिनि से पूर्व के ब्राह्मण ग्रथो और निरुक्तादि ग्रंथो मे 'इन्द्र' और 'इन्द्रिय' के पारस्परिक अर्थों के सबध को लेकर बहुत कुछ ऊहापोह हो चुका था, उसमे से पांच उदाहरण उन्होने सूत्र मे रख लिए और शेष के लिए 'इति वा' कहकर गुन्जाइश कर दी। इस सूत्र मे इद्र का अर्थ आत्मा है। आत्मा का इद्रियों के साथ जो महत्त्वपूर्ण सबध है, उपनिषद् और सूत्रकाल के दार्शनिक क्षेत्रो मे उसकी चर्चा थी। उसके प्रति मान्य बुद्धि रखकर पाणिनि ने शब्दो के बढने की परवाह न करते हुए भिन्न-भिन्न मतो को अपने व्याकरण में भी स्थान देना उपयुक्त समझा। यह सूचित करता है कि आचार्य का हृदय सार-वस्तु को लेने मे कितना उदार था और उनकी शैली कितनी हृदयग्राहिणी थी। पतजलि ने आचार्य की इस सरल प्रवृत्ति से प्रभावित होकर उन्हे 'सुहृद्भूत' कहा है। (तदाचार्य सुहृद्भूत्वा अन्वाचष्टे, भा० १।२।३२) पाणिनि की सूत्रशैली को क्लिष्ट कहना उसके प्रति अपने हृदय के सरस भावो को कुठित कर लेना है।

पाणिनि के लिये पतजलि ने 'अनल्पमति आचार्य' (१।४।५१) विशेषण का प्रयोग किया है। पाणिनि के मस्तिष्क की विशालता इससे प्रकट है कि वे शब्दों की लगभग अपरिमित सामग्री को सचित, व्यवस्थित और सूत्र सनिविष्ट कर सके। उनकी तर्कबुद्धि और निश्चित शैली का विद्वानो ने लोहा माना है; शताब्दियो तक पीढी दर-पीढी विद्वानो को उसने प्रभावित किया है।

पतजलि ने एक स्थान पर पाणिनि को 'वृत्तज्ञ आचार्य' (भा० १।३।३।९, वा० १५) कहा है। अर्थात् शब्दो का अर्थों के साथ जो संबध है, अर्थों को प्रकट करने के लिये जो प्रत्यय शब्दो मे जुडते हैं, तथा शब्दो के रूपो मे जो परिवर्तन होते हैं या उनके अनुसार प्रत्ययो मे गुण-वृद्धि करानेवाले जैसे जैसे अनुबध रखे

जाते हैं—इन तीनो बातो को पाणिनि पूरी तरह जानते थे। शब्द अपने सीधे-सादे रूप मे जो अर्थ रखता है उससे अधिक किसी विशेष अर्थ को जब हम उससे प्रकट करना चाहते हैं, तब उसमें प्रत्यय जोड़ते हैं। प्रत्यय शब्द के साथ मिलकर नया अर्थ देने लगता है। उदाहरण के लिये 'वर्ष' का अपना अर्थ है 'साल'। 'साल भर मे होनेवाला'—इस विशेष अर्थ के लिये नया शब्द बनाया जाता है 'वार्षिक'। 'वर्ष' शब्द मे 'इक्' प्रत्यय जुड़कर 'वर्ष मे होनेवाला', इस नये अर्थ को प्रकट करने का सामर्थ्य उत्पन्न करता है। सब भाषाओ का लगभग यही नियम है। प्रत्यय द्वारा विशेष अर्थ को प्रकट करने की जो शब्द की क्षमता है उसे व्याकरण मे 'वृत्ति' कहा गया है (परार्थाभिधानं वृत्तिः)। प्रत्येक भाषा में मनुष्यों के व्यवहारो के अनुसार हजारों तरह के अर्थ शब्दों से प्रगट होते हैं। संस्कृत मे भी ऐसा ही था, और आज हिंदी में भी यही नियम है। जैसे, 'चवन्नी' का सीधा अर्थ चार आने मूल्य का एक विशेष सिक्का है। लेकिन जब हम 'चवन्नी परितावली' कहते हैं तब चवन्नी शब्द मे विशेष अर्थ भर जाता है। 'चवन्नी मूल्य मे मिलनेवाली' यह विशेष अर्थ मूल चवन्नी शब्द मे जोड़ते हैं। व्याकरण-शास्त्र चाहता है कि इस विशेष अर्थ के लिये एक प्रत्यय लगाना चाहिए, फिर चाहे वह प्रत्यय शब्द मे दिखाई पड़े या भाषा के मुहावरे के साथ उसका लोप हो गया हो। 'कश्मीरी दुशाला' प्रयोग मे 'कश्मीरी' शब्द का 'ई' प्रत्यय कश्मीर मे काढ़ा जानेवाला, कश्मीर से आनेवाला, इन कई अर्थों को प्रकट करता है। कश्मीर के निवासी (कश्मीरी), कश्मीर मे होनेवाला (कश्मीरी चावल), कश्मीर मे बोली जानेवाली (कश्मीरी बोली) आदि और भी इस प्रकार के कई अर्थ 'ई' प्रत्यय से प्रकट होते हैं। यह लोक-जीवन और भाषा का सत्य है। व्याकरण का विद्यार्थी अपनी ओर से न प्रत्यय बनाता है और न अर्थ, वह तो उनका अलग-अलग विश्लेषण करके उन्हे समझने का प्रयत्न करता है, और जो लोक मे चालू शब्द हैं उनके अनुसार प्रत्ययो को अलग करके देखता है।

पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये भी यही काम किया। उन्होने शब्द और अर्थ के सम्बन्धो और रूपो को परखा, छाना और अलग किया। लोक मे जितनी भी प्रकार की शब्दों के द्वारा अर्थविशेष प्रकट करने की वृत्तियाँ थी उनकी सूची बनाकर अष्टाध्यायी मे उन्हें स्थान दिया। इसके लिये प्रायः मनुष्य-जीवन के सम्पूर्ण व्यवहारो की जाँच-पड़ताल उन्हे करनी पड़ी होगी। व्याकरण के क्षेत्र में यही पाणिनि ने बड़ा साका किया। न उनसे पहिले और न उनसे पीछे, भाषा में इस प्रकार शब्दो और अर्थों के पारस्परिक सम्बन्धो की छानबीन की गई थी। उनकी पैनी आंख से जीवन का कोई भी क्षेत्र बचा न रहा। अष्टाध्यायी के चौथे और पाँचवें अध्यायो मे तद्धित का जो महाप्रकरण है वह अर्थविशेषो को कहनेवाली वृत्तियो का अखूट भंडार है। उदाहरण के लिये, पढना-पढाना, ग्रंथ लिखना, कंठ करना, दोहराना, पाठ सुनाने

में एक दो-चार भूलें करना, ग्रंथ घोखते समय कडे चबूतरे पर सोना, चुप रहना, गुरुकुल-विशेष का विद्यार्थी होने के कारण हेकडी मारना या दूसरो पर अधिकार जताना, विद्यालय मे भरती होना, समान आचार्य से पढना, छोटे छात्रो का दंडा लेकर चलना, बडे छात्रो का एक साथ मिलकर पारायण करना, वसंत, ग्रीष्म, वर्षा आदि छः ऋतुओ के अनुसार पठन-पाठन की व्यवस्था करना, जिस ऋतु मे जो विषय पढा जाय उसके अनुसार उसका नाम पडना, 'चरण' नामक जो वैदिक शाखाओ के विद्यालय थे उनका सदस्य होना, उनमे रचे गए ग्रथो का नाम रखना, श्लोक-गाथा-सूत्र-मन्त्र-पद आदि भिन्न-भिन्न साहित्यिक शैलियो के अनुयायी साहित्य-सेवियो के नाम रखना, मूल ग्रथ और उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि के रचनेवाले ग्रथकर्ताओ अथवा उनके पढनेवाले छात्रो का नाम रखना, छुट्टियाँ मनाना, विद्यालय के नियमो का उल्लघन करना, अवधि से पहिले सस्था से हट जाना, विशेष ग्रथ या विषयो के अध्ययन के लिये एक पाख, महीना, छः मास, वर्ष, दो वर्ष या दस-बीस वर्ष के लिये ब्रह्मचर्य का व्रत लेकर विद्यालय मे भरती होना, विषय पढकर दूसरे विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ करना, उसके सिद्धांतो की व्याख्या करना, दूसरे का मत काटकर अपना मत स्थापित करना—इस प्रकार केवल पठन-पाठन के क्षेत्र में ही भिन्न-भिन्न अर्थ थे, जिनपर पाणिनि का ध्यान गया (तत्सबधित सूत्रो का विवेचन यथास्थान किया जायगा)। उन्होने लोक-जीवन मे भरी हुई इस सामग्री का उमँगकर स्वागत किया। फलस्वरूप आज अष्टाध्यायी के पृष्ठो मे जीवन की ऐसी सरसता है जैसी सस्कृत भाषा के किसी अन्य ग्रथ मे नही पाई जाती। यहाँ पदे-पदे शब्द पुराकालीन सस्थाओ का रूप भरे बैठे हैं। पाणिनि-शास्त्र निस्सदेह तत्कालीन भारतीय जीवन और सस्कृति का विश्वकोष ही बन गया है। भूगोल, सामाजिक जीवन, आर्थिक जीवन, विद्या सबधी जीवन, राजनैतिक जीवन, धार्मिक और दार्शनिक जीवन—सबके विषय मे राई-राई करके पाणिनि ने सामग्री की महा-हिमवंत-शृखला ही खडी कर दी है। उसी का नाम अष्टाध्यायी है।

व्यास नदी के उत्तरी किनारे पर बाँगर मे जो कुएँ थे वे पक्के होते थे। उनके नामों में स्वर का उच्चारण एक विशेष ढग का था। उसके बाएँ किनारे के खादर के कछार मे पानी की बढिया के कारण पक्के कुएँ न बन सकते थे, इसलिये हरसाल कच्चे कुएँ खोदे जाते थे और इन कच्चे कुओ के नाम भी टिकाऊ न होते थे। यह विशेषता उन नामो के स्वर या बोली मे अक्षरो पर गौरव देकर प्रकट की जाती थी। यह बारीक भेद भी आचार्य की दृष्टि से बचा न रहा और 'उदक्च विपाशः' (४।२।७४) सूत्र में उन्होने इसे प्रकट किया। उनकी इस महीन छानबीन से प्रभावित होकर प्राचीन आचार्यों ने कहा—

महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य। (का० ४।२।७४)

'सूत्रकार की निगाह बहुत ही पैनी थी।'

चीनी यात्री य्यूआन् चुआङ् ने उनके जन्मस्थान शलातुर मे जाकर उनका जो जीवनवृत्त संगृहीत किया उसमे कहा है कि यद्यपि पाणिनि आरभ से ही मनुष्य और जीवन की वस्तुओ के सबंध मे विस्तृत जानकारी रखते थे। पाणिनि ने स्वसचित सामग्री के आधार पर गोत्र, चरण, शाखा, जनपद, नगर, ग्राम आदि की बहुत अच्छी सूचियाँ अपने गणपाठ मे दी है। गणपाठ की सूझ उनकी अपनी थी। व्हिटनी और बर्नेल, पाणिनि-शास्त्र के इन दोनो विद्वानो ने स्वीकार किया है कि पाणिनि से पूर्व गणपाठ की प्रथा न थी। पतंजलि ने स्पष्ट कहा है कि आचार्य ने पहिले गणपाठ बनाया, पीछे सूत्रपाठ, (स. पूर्व. पाठोऽस्य पुनः पाठः; भा० १।१।३४)।

शास्त्रकार का नाम

अष्टाध्यायी के रचयिता का नाम पाणिनि है। कात्यायन और पतंजलि ने यही नाम प्रयुक्त किया है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवर काड के अनुसार पाणिनि वत्स भृगुओ के अंतर्गत एक अवातर गोत्र का नाम था जिसके पाँच प्रवर थे—भार्गव, च्यावन, आप्नवान, और्व और जामदग्न्य। पाणिनि ने स्वय भी अष्टाध्यायी के एक सूत्र मे (६।४।१६५) 'पणिन् के अपत्य' अर्थ मे 'पाणिन' शब्द सिद्ध किया है। कैय्यट के मत से 'पाणिन' के युवा अपत्य की संज्ञा 'पाणिनि' होगी (प्रदीप १।१।७३ वा० ६, पणिनोऽपत्यमिति अण् पाणिनः, पाणिनस्यापत्य युवेति इञ् पाणिनिः)।

त्रिकांडशेष और केशव कोषो के अनुसार आहिक, शालकि, दाक्षीपुत्र और शालातुरीय नाम भी पाणिनि के लिये परपरा से चले आते थे। आहिक और शालंकि नामो के समर्थन या व्याख्या मे विशेष प्रमाण इस समय उपलब्ध नही है। महाभाष्य मे शालकी के युवा छात्रो का उल्लेख है, जो शालक कहलाते थे। किंतु इतने मे पाणिनि के साथ उनका संबध ज्ञात नही होता।

वेबर की सम्मति मे शालकियो का संबध वाहीक देश से था (सस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २१८)। वाहीक उदीच्य के क्षेत्र मे गिना जाता था और पाणिनि भी उदीच्य देश के ही थे। य्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि को निश्चित रूप से गंधार देश का कहा है। पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर गधार मे ही थी, जिसके कारण पाणिनि शालातुरीय कहलाए।

पंतजलि ने एक कारिका मे पाणिनि को दाक्षीपुत्र कहा है (दाक्षीपुत्रस्य पाणिने., भा० १।१।२०, वा० ५)। दक्षो का सबंध निश्चित रूप से पश्चिमोत्तर भारत या उदीच्य देश से था। काशिका मे प्राप्त उदाहरणो से ज्ञात होता है कि

दक्ष लोगो का अपना एक सघ-राज्य था जिसकी अपनी वस्ती और अपने ही अंक और लक्षण (राज्य-चिह्न) भी थे, जैसा कि उस समय के सघो की प्रथा थी (दाक्षः सघ , दाक्षः अंक , दाक्षं लक्षण, दाक्षो घोषः, ४।३।११७)।[1] अन्यत्र दाक्षिकूल और दाक्षिकपूं इन दो गाँवो के नाम काशिका में आए हैं (६।२।१२१)। दाक्षिकर्षूं अवश्य ही प्राचीन नाम था, क्योंकि पतजलि ने दाक्षिकर्षूं नामक गाँव का उल्लेख किया है, जहाँ का रहनेवाला दाक्षिकर्षुक कहलाता था (भा० ४।२।१०४ वा० ७)। कर्षूं श्रौतसूत्रो मे गढैया के अर्थ मे आया है। पाणिनि के एक सूत्र मे उशीनर देश के गाँवो (कथा) के नाम हैं (सञ्ज्ञाया कंथोशीनरेषु २।४।२०)। 'दाक्षिकथा' इसी सूत्र का प्रत्युदाहरण है। इससे ज्ञात हुआ कि यह स्थान उशीनर देश से वाहर था। उशीनर की सीमा मे होता तो यह स्थान 'दाक्षिकथ' कहलाता। स्वयं पाणिनि उशीनर को वाहीक देश का एक अश कहते हैं (४।२।११७-११८)। दक्षो का संवंध प्राच्य देश से भी न था, ऐसा काशिका ने लिखा है (प्राच्यभरतेष्विति किं, दाक्षा., ४।२।११३)। पूर्व से पश्चिम की ओर चलते हुए देशो का क्रम इस प्रकार था— प्राच्य, भरत (कुरुक्षेत्र का प्रदेश, जिसे प्राच्य भरत भी कहते थे), उशीनर, मद्र, उदीच्य। (गोपथ-ब्राह्मण मे मद्रो के वाद उदीच्यो का उल्लेख है, गोपथ १।२।१०)। उशीनर और मद्र इन दोनो की सयुक्त सज्ञा वाहीक थी। निष्कर्ष यह कि दाक्षि लोग प्राच्य देश से, भरत जनपद से और उशीनर से वाहर और भी पश्चिम की ओर वसे थे। पजाव मे शेरकोट का इलाका प्राचीन उशीनर था। चनाव और जेहलम से उत्तर-पश्चिम गधार कहलाता था। वही कही दाक्षियो का स्थान होना चाहिए।

शलातुर

शलातुर से जिसके पुरखो का निकास हो वह शालातुरीय कहलाता था। ये दोनो शब्द पाणिनि के सूत्र में आए हैं (४।३।९४)। अतएव इस स्थान की प्राचीनता निश्चित है। गणरत्न महोदधि के लेखक वर्धमान और भामह पाणिनि को शालातुरीय लिखते हैं। वलभी के एक शिलालेख मे पाणिनि-शास्त्र को शालातुरीय तंत्र कहा गया है। (शीलादित्य सप्तम का लेख, फ्लीट, गुप्त शिलालेख, पृष्ठ १७५)।

चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् सप्तम शताब्दी के आरभ मे मध्य-एशिया के स्थल-मार्ग से भारत आते हुए शलातुर मे ठहरा था। उसने लिखा है कि उद्भाड से लगभग वीस लि (लगभग ४ मील) पर शलातुर स्थान था। यह वही जगह है जहाँ ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ, जिन्होने शब्द विद्या की रचना की थी (वील, सियुकि

---

१. इसके अतिरिक्त और भी दाक्षिग्रामः (६।२।८४, दाक्ष्यादयो वसन्ति यस्मिन्ग्रामे सः), दाक्षिकटः, दाक्षिपल्वलः, दाक्षिह्रदः, दाक्षि बदरी, दाक्षिपिंगलः, दाक्षिपिशंगः, दाक्षिशालः, दाक्षिरक्ष., दाक्षिशिल्पी, दाक्ष्यश्वत्थ. दाक्षिशाल्मलिः, दाक्षिपुत्रा, दाक्षिकूटः (६।२।८५)।

२।११४)। शलातुर की पहचान लहुर नामक गाँव[1] के साथ की गई है, जहाँ बहुत से पुराने टीले हैं। उनमें खुदाई भी हुई है और वहाँ से कुछ पुरानी मूर्तियां भी मिली हैं। (कनिंघम, पुरातत्त्व रिपोर्ट, २।९५; प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ६६।६७)।

पाणिनि के जीवनवृत्त से संबंधित अनुश्रुति

सोमदेव के कथा सरित्सागर (ग्यारहवीं शती) और क्षेमेंद्र की बृहत्कथा-मंजरी (ग्यारहवीं शती) में जो गुणाढ्य की बृहत्कथा पर आश्रित है, पाणिनि के संबंध में इतिवृत्त कहानी के रूप मिलता है। इसके अनुसार पाणिनि आचार्य वर्ष के मंदबुद्धि शिष्य थे। शिष्यकोपन से दु:खित होकर पाणिनि तप करने हिमालय पर चले गए और वहाँ शिव को प्रसन्न करके नया व्याकरण प्राप्त किया (प्राप्तं व्याकरणं नवम्)। कात्यायन छात्रावस्था में और उसके बाद भी पाणिनि के प्रतिद्वंद्वी थे। पाणिनि के व्याकरण ने प्राचीन ऐंद्र व्याकरण की जगह ले ली। नंदवंश के सम्राट् से पाणिनि की मित्रता हो गई और सम्राट् ने उनके शास्त्र को सम्मानित किया।

मंजुश्री-मूलकल्प

अभी हाल में मिले बौद्ध संस्कृत साहित्य के इस संग्रह-ग्रंथ (लगभग आठवीं शती) में नंद और पाणिनि के विषय में लिखा है—

'पुष्पपुर में शूरसेन के अनंतर नंद राजा होगा। वहाँ मगध की राजधानी में अनेक विचारशील (तार्किक) विद्वान् राजा की सभा में होंगे। राजा उनका धन से सम्मान करेगा। बौद्ध ब्राह्मण वररुचि उसका मंत्री होगा। राजा का परम मित्र पाणिनि नामक एक ब्राह्मण होगा।'

राजशेखर ने काव्यमीमांसा (नवीं शती) में इस अनुश्रुति की अनुपरंपरा में ही यह उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र में शास्त्रकार-परीक्षा हुआ करती थी।[2] उस परीक्षा में वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिंगल और व्याडि ने उत्तीर्ण होकर यश प्राप्त किया।

---

१. काबुल और सिंधु के संगम पर ओहिंद (प्राचीन उद्भांडपुर) है, वहाँ से ठीक ४ मील उत्तर-पश्चिम की ओर लहुर गाँव है। मरदान से ओहिंद जाने वाली बसें लहुर होकर जाती हैं। इस समय नार्थ वेस्टर्न रेलवे जहाँ अटक के पुल से सिंधु पार जाती है वहाँ जहाँगीरा स्टेशन पर उतरने से १२ मील चलकर लहुर पहुँच सकते हैं। य्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि शलातुर के लोग, जो पाणिनि शास्त्र के अध्येता हैं, उनके उदात्त गुणों की प्रशंसा करते हैं और एक मूर्ति जो उनकी स्मृति में बनाई गई थी, अभी तक विद्यमान है (सियुकि, २।११६)। शलातुर के पास सिंधु नदी के दाहिने किनारे पर नाव लगती थी। सिंधु के पूर्वी किनारे पर शकर-दर्रा (शक्दार) नामक गाँव है, वहाँ से प्राप्त एक खरोष्ठी लेख में नावों के इस घाट को शलातुर के नाम पर शल-नो क्रम (शलानौक्रम) कहा गया है।

२. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा। अत्रोपवर्षवर्षाविह पाणिनिपिंगलाविह व्याडिः। वररुचिपतंजली इह परीक्षिताः ख्यातिमुपजग्मुः॥

ये सब आचार्य शास्त्रो के प्रणेता हुए हैं। राजशेखर ने सभवत: इन नामो का परिगणन तिथिक्रम के अनुसार किया है। उपवर्ष मीमासा और वेदात सूत्रो के भाष्यकार थे (शाकर भाष्य ३।३।५३, जेकोवी, अमीरीकी प्राच्य-परिषद पत्रिका, १९१२, पृष्ठ ९५)। शकराचार्य ने शब्द के विषय मे भगवान् उपवर्ष के मत का प्रमाण दिया है (शारीरक भाष्य ३।३।५३, १।३।२०)। उपवर्ष के भ्राता आचार्य वर्ष पाणिनि के गुरु कहे गए हैं। पाणिनि प्रसिद्ध शास्त्रकार हैं ही, उन्होने अपना नया व्याकरण पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के सामने प्रस्तुत किया होगा। छन्दोविचिति (सूत्र ४।३।७३, गण पाठ) के कर्ता पिंगल को षड्गुरु-शिष्य ने वेदार्थ-दीपिका टीका में पाणिनि का अनुज कहा है। व्याडि भी पाणिनि के समकालीन दक्ष गोत्र में ही उत्पन्न उनके सबधी कहे जाते है। व्याडि ने सूत्र-शैली मे व्याकरणशास्त्र पर अपना संग्रह नामक ग्रथ रचा था, जो पतजलि के सामने था। पतजलि ने इस ग्रथ की शैली और मार्मिक विवेचन की प्रशसा की है (शोभना खलु दाक्षायणस्य संग्रहस्य कृतिः, भा० २।३।६६)। संग्रह-सूत्रो का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी पतंजलि के समय 'सांग्रह सूत्रिक' कहलाते थे (भा० ४।२।६०)। उक्त सूची मे कात्यायन और पतंजलि पुष्यमित्र शुग के समय में (दूसरी शताब्दी ई० पू०) हुए। इस प्रकार लगभग तीन शताब्दियो का शास्त्रकार परीक्षा सबधी इतिहास राजशेखर में पाया जाता है।

चीनि यात्री श्यूआन् चुआङ् का वर्णन

पाणिनि के जीवन के सबंध मे सामग्री थोडी है, फिर भी चीनी यात्री श्यूआन् चुआङ् (६२९, ६४५ ई०) ने शलातुर मे स्वयं जाकर जो सूचनाएँ एकत्रित की उन्हे विश्वसनीय माना जा सकता है, विशेषत जहाँ सोमदेव, राजशेखर मंजुश्री-मूलकल्प और चीनी वर्णन एकमत हो। श्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के व्यक्तित्व पर जो प्रकाश डाला है उसका समर्थन पतजलि के महाभाष्य से भी होता है। शब्दविद्या के निर्माता पाणिनि का जन्म शलातुर मे हुआ, यह बताते हुए श्यूआन् चुआङ् लिखता है—

अति प्राचीन समय में साहित्य का बहुत विस्तार था। कालक्रम से संसार का ह्रास हुआ और एक प्रकार से सब शून्य हो गया। तब देवों ने ज्ञान की रक्षा के लिये पृथ्वी पर अवतार लिया। इस प्रकार प्राचीन व्याकरण और साहित्य का जन्म हुआ। इसके बाद भाषा (व्याकरण) का विस्तार होने लगा और पहली सीमाओं से बहुत बढ़ गया। ब्रह्मदेव और देवेन्द्र शक्र ने आवश्यकता के अनुसार शब्दों के रूप स्थिर किए (नियम बनाए)। ऋषियो ने अपने-अपने मत के अनुसार अलग-अलग व्याकरण लिखे। मनुष्य इनका अध्ययन करते रहे, किन्तु जो मन्दबुद्धि थे वे इनसे काम चलाने में असमर्थ थे। फिर मनुष्यों की आयु भी घटकर केवल सौ वर्ष रह गई थी।

ऐसे समय में ऋषि पाणिनि का जन्म हुआ। जन्म से ही सब विषयों में उनकी जानकारी बढ़ी-चढ़ी थी। समय की मन्दता और अव्यवस्था को देखकर पाणिनि ने साहित्य और बोलचाल की भाषा के अनिश्चित और अशुद्ध प्रयोगों एवं नियमों में सुधार करना चाहा। उनकी इच्छा थी कि नियम निश्चित करें और अशुद्ध प्रयोगों को ठीक करें। उन्होंने शुद्ध सामग्री के संग्रह के लिये यात्रा की। उस समय ईश्वरदेव से उनकी भेंट हुई जिनसे उन्होंने अपनी योजना बनाई। ईश्वरदेव ने कहा—यह अद्भुत है, मैं इसमे तुम्हारी सहायता करूँगा। ऋषि पाणिनि उनसे उपदेश प्राप्त करके एकांत स्थान में चले गए। वहाँ उन्होंने निरन्तर परिश्रम किया और अपने मन की सारी शक्ति लगाई। इस प्रकार अनेक शब्दों का संग्रह करके उन्होंने व्याकरण का एक ग्रंथ बनाया जो एक सहस्र श्लोक परिमाण का था। आरम्भ से लेकर उस समय तक अक्षरों और शब्दों के विषय मे जितना ज्ञान था उसमें से कुछ भी न छोड़ते हुए सम्पूर्ण सामग्री उस ग्रन्थ में सन्निविष्ट कर दी गई। समाप्त करने के बाद उन्होंने इस ग्रन्थ को राजा के पास भेजा जिसने उसका बहुत सम्मान किया और आज्ञा दी कि राज्य भर में इसका प्रचार किया जाय और शिक्षा दी जाय। और यह भी कहा कि जो आदि से अन्त तक इसे कण्ठ करेगा उसे एक सहस्र सुवर्णमुद्रा का पुरस्कार मिलेगा। तब से इस ग्रन्थ को आचार्यों ने स्वीकार किया और अविकल रूप में सबके हित के लिये इसे वे पीढ़ी-दर-पीढ़ी सुरक्षित रखते रहे। यही कारण है कि इस नगर के विद्वान् ब्राह्मण व्याकरण-शास्त्र के अच्छे ज्ञाता हैं और उनकी प्रतिभा बहुत अच्छी है (सियुकि, पृष्ठ ११४–११५)।

हम देखेंगे कि किस प्रकार वैदिक साहित्य के विस्तार, व्याकरण के मूल आरभ, ऐंद्र व्याकरण की उत्पत्ति, भिन्न-भिन्न व्याकरणो के कारण उत्पन्न हुई अव्यवस्था, उस संकट-काल मे पाणिनि के नए व्याकरण का प्रादुर्भाव, तथा पाणिनि की योग्यता एव ग्रथ-निर्माण-विधि के विषय मे य्यूआन् चुआङ् ने आठ सौ वर्षों का अंतर होने पर भी लगभग उन्ही बातो का उल्लेख किया है जिनका सकेत पतजलि के महाभाष्य में पाया जाता है जो इस प्रकार है—

(१) प्राचीन शास्त्रो की उत्पत्ति—य्यूआन् चुआङ् के इस वर्णन मे कुछ कल्पना का अंश मिला है। भारतीय परपरा मे प्रायः शास्त्रो की उत्पत्ति मे दैवी प्रेरणा स्वीकार की गई है। पतजलि ने भी लिखा है कि बृहस्पति ने दिव्य वर्ष-सहस्र काल तक अपने शिष्य इद्र के लिए एक एक शब्द का शुद्ध रूप बताते हुए शब्द पारायण का व्याख्यान किया (बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्य वर्षसहस्र प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच, भा० पस्पशाह्निक)

(२) साहित्य का विस्तार—इस विषय मे श्यूआन् चुआङ् का कथन पतजलि के इस वर्णन से मिलता है—'सप्तद्वीपा वसुमती त्रयोलोकाश्चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या वहुधा विभिन्ना एकशतमध्वर्यु शाखा. सहस्रवर्त्मा सामवेद एकविंशतिधा वाह् वृच्य नवधाथर्वणो वेदो वाकोवाक्यमितिहास पुराणं वैद्यकमित्येतावान् शब्दस्य प्रयोगविषयः (भाष्य, पस्पशाह्निक)। पृथ्वी के सात द्वीपो और तीन लोको मे शब्द का विस्तार है, चार वेद, उनके छ अङ्ग और उपनिषद्, भिन्न-भिन्न शाखाएँ, १०० यजुर्वेद की शाखाएँ, १००० सामवेद की शाखाएँ, २१ शाखाओवाला ऋग्वेद, ९ शाखाओ वाला अथर्ववेद, वाकोवाक्य, (प्रश्नोत्तरी संवाद), इतिहास, पुराण, वैद्यक—इतना वडा शब्द का प्रयोग-क्षेत्र है। साहित्य-विस्तार का यह चित्र पाणिनि से पहले ही अस्तित्व मे आ चुका था। उस समय सस्कृत साहित्य का जितना अधिक विस्तार हो चुका था उसका परिचय अष्टाध्यायी से भी प्राप्त होता है, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

(३) ऐंद्र व्याकरण—श्यूआन् चुआङ् ने लिखा है कि ब्रह्मदेव और देवेंद्र शक्र ने व्याकरण सवधी नियम स्थिर किए थे। यह पाणिनिशास्त्र से पूर्व की वात है। सस्कृत साहित्य मे भी ऐंद्र व्याकरण की अनुश्रुति पाई जाती है। तैत्तिरीय सहिता के अनुसार देवताओ ने इद्र से प्रार्थना की 'वाच व्याकुरु' (वाक् का व्याकरण करो)। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, पतजलि ने भी वृहस्पति और इद्र के गुरु-शिष्य रूप मे एक-एक पद का उच्चारण करते हुए शब्दो के पारायण की अनुश्रुति का उल्लेख किया है।

सामवेद के ऋक्तंत्र नामक प्रातिशाख्य ग्रथ में लिखा है कि ब्रह्मा ने वृहस्पति को, वृहस्पति ने इंद्र को, इन्द्र ने भारद्वाज को व्याकरण की शिक्षा दी, और भारद्वाज से वह व्याकरण अन्य ऋषियो को प्राप्त हुआ।[1]

इस परंपरा में प्रजापति रूप मे ब्रह्मा सर्व विद्याओ के आदिस्रोत हैं। इन्द्र दैवी प्रतीक है। वृहस्पति का व्याकरण मानवीय स्तर पर भारद्वाज ऋषि के द्वारा प्रचारित हुआ। पाणिनि ने आचार्य भारद्वाज के मत का उल्लेख किया है (७।२।६३)। पतजलि ने कई स्थलो पर भारद्वाजीय (भारद्वाज व्याकरण से संबधित) वार्तिको का उल्लेख किया है (भा० ३।१।३८; ३।१।८९)।

ऋक्प्रातिशाख्य मे भी, जो पाणिनि से पूर्व काल का माना जाता है, भारद्वाज के मत का उल्लेख है, जिसका सवध ऐन्द्र व्याकरण से ही ज्ञात होता है। कथासरित्सागर और वृहत्कथामजरी के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण के स्थान मे पाणिनि व्याकरण की

---

१. इदमक्षर छन्दसां वर्णशः समनुक्रान्तम्। यथाचार्या ऊचुर्ब्रह्मा वृहस्पतये प्रोवाच, वृहस्पतिरिन्द्रायेंद्रो भारद्वाजाय, भारद्वाज ऋषिभ्यः, ऋषयो ब्राह्मणेभ्यस्तं खल्विममक्षरसमाम्नायमित्याचक्षते।

(ऋक्तंत्र १।४, डा० सूर्यकांत का सस्करण)

जड़ जमी। ऐन्द्र व्याकरण की अनेक पारिभाषिक संज्ञाएँ पाणिनि व्याकरण में और कात्यायन, पतंजलि आदि के ग्रंथों में अपना ली गईं, जैसा कि ऐन्द्र व्याकरण के इतिहास में बर्नेल ने सिद्ध किया है।

(४) पाणिनि के पूर्व के अन्य आचार्य—श्यूआन् चुआङ् ने ठीक ही लिखा है कि पाणिनि से पहिले भिन्न-भिन्न मत रखनेवाले ऋषियों ने व्याकरण बनाए। उपलब्ध प्रातिशाख्य, निरुक्त और अष्टाध्यायी में लगभग ६५ आचार्यों के नाम आए हैं।[1] इनके द्वारा उस समय व्याकरण, शिक्षा और निरुक्त—इन शास्त्रों का अत्यधिक विस्तार हुआ। पाणिनि के आविर्भाव पर विचार करते हुए यह पृष्ठभूमि ध्यान में रखनी चाहिए। पाणिनि का व्याकरण इन सब प्रयत्नों के ऊपर सिरमौर हुआ।

(५) शब्दविद्या की तत्कालीन अवस्था—इस विषय में श्यूआन् चुआङ् ने जो लिखा है उसकी पुष्टि भाष्य से होती है। पूर्व समय में ऐसा था कि उपनयन संस्कार के बाद विद्यार्थी पहिले व्याकरण पढ़ते थे और फिर उन्हें वैदिक शब्दों का बोध कराया जाता था। पीछे ऐसा न रहा, झट विद्यार्थी वेद तक जाने लगे और इस प्रकार की धारणा चल गई कि सीधे वेद से वैदिक शब्द और लोक में बोल-चाल (लौकिक) के शब्द आ ही जाते हैं, इसलिये व्याकरण का पचड़ा व्यर्थ है (अनर्थकं व्याकरणम्)। इस प्रकार की डाँवाडोल मति के लोगों के लिये आचार्य ने इस व्याकरणशास्त्र का उपदेश

---

१. [संकेत—ऋ० = ऋक् प्रातिशाख्य। य० = यजुः प्रातिशाख्य। तै० = तैत्तिरीय प्रातिशाख्य। च० = चतुरध्यायिका नामक अथर्व प्रातिशाख्य। नि० = निरुक्त। पा० = पाणिनि।]

आग्निवेश्य (तै०), आग्निवेश्यायन (तै०), आग्रायण (नि०), आत्रेय (तै०), आन्यतरेय (ऋ० च०), आपिशलि (पा०), आह्वरकाः (तै०), उख्य (तै०), उत्तमोत्तरीयाः (तै०), उदीच्याः (पा०), औदुम्बरायण (नि०), औद्व्रजि (ऋक्तंत्र साम प्रातिशाख्य), औपमन्यव (नि०), औपशिवि (य०), और्णनाभ (नि०), काण्डमायन (तै०), काण्व (य०), कात्थक्य (नि०), काश्यप (य०, पा०), कौण्डिन्य (तै०), कौत्स (नि०), कौहली पुत्र (तै०), क्रौष्टुकि (नि०), गार्ग्य (ऋ०, य०, नि०, पा०), गालव (नि०, पा०), गौतम (तै०), चर्मशिरस् (नि०), चाक्रवर्मण (पा०), जातूकर्ण्य (य०), तैटीकि (नि०), तैत्तिरीयकाः (तै०), दाल्भ्य (य०), नैगि (ऋक्तंत्र), पंचालाः (ऋ०), पौष्करसादि (पा०, तै०), प्राच्याः (ऋ०, पा०), प्लाक्षि (तै०), प्लाक्षायण (तै०), बाभ्रव्य (क्रमकृत, ऋ०), भारद्वाज (तै० पा०), माण्डूकेय (ऋ०) माक्षकीय (तै०), मीमांसकाः (तै०), यास्क (ऋ०), वाडभीकार (तै०) वात्स (तै०), वात्स्य (च०), वार्ष्यायणि (नि०), वाल्मीकि (तै०) वेदमित्र (ऋ०), व्याडि (ऋ०), शतबलाक्ष मौद्गल्य (नि०), शाकटायन (ऋ०, य०, च०, नि०, पा०), शाकपूणि (नि०), शाकलाः (ऋ०), शाकल्य (ऋ०, य०, पा०), शाकल्य पितृ (स्थविर) (ऋ०), शांखायन (तै०), शैत्यायन (तै०), शौनक (ऋ०, य०, पा०), सांकृत्य (तै०), सेनक (पा०), स्थौलष्ठीवि (नि०), स्फोटायन (पा०), हारीत (तै०),

(मैक्समूलर कृत संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १४२)

किया (विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इद शास्त्रमन्वाचष्टे, पस्पशाह्निक)। मनुष्यो का आयुष्य (अवकाश और शक्ति) कम होने के विषय मे श्यूआन् चुआङ् ने पतजलि के शब्दो का मानो अनुवाद ही किया है—'किं पुनरद्यत्वे य सर्वथा चिर जीवति स वर्षशतं जीवति'। 'आज का क्या कहना, जो बहुत जीता है, सौ वर्ष जीता है।' यह बात कि पाणिनि का उद्देश्य व्याकरण के नियमो को निश्चित करना और अशुद्ध प्रयोगो को हटाना था, कात्यायन से समर्थित होती है। उन्होंने अष्टाध्यायी को साध्वनुशासन-शास्त्र (वह शास्त्र जिसमे साधु शब्दो का उपदेश किया गया हो, भा० १।१।४४ वा० १४) कहा है।

(६) आचार्य की शैली—श्यूआन् चुआङ के अनुसार पाणिनि ने सामग्री के सचय के लिये विस्तृत यात्रा की और अनेक स्थानो मे पूछताछ करके शब्दो का संग्रह किया। भाषा-विषयक यात्रा और पूछताछ की अमिट छाप अष्टाध्यायी मे सकलित विस्तृत शब्द-समूह पर स्पष्ट पाई जाती है। बोलियो, जन-विश्वासो और स्थानीय प्रथाओ से भी शब्दो का चुनाव किया गया है। भारत के पूर्वी भाग में उद्दालक-पुष्पभजिका, वीरण-पुष्प-प्रचायिका, शालभजिका आदि जो उद्यान-क्रीडाएँ उस समय प्रचलित थी, उनके नामकरण की प्रथा पर कई सूत्रो मे प्रकाश डाला गया है (नित्य क्रीडा जीविकयो. २।२।१७, सज्ञयाम्, ३।३।१०९; प्राचा क्रीडायाम्, ६।२।७४)। लोग जिस प्रकार से अपने बच्चो के नाम रखते थे और उन नामो को छोटा करके दुलार से पुकारते थे, उसकी भी पाणिनि ने छानबीन की। यहाँ तक कि कुछ यक्षो के नामो का भी उल्लेख किया है, जिनमे लोगो का विश्वास था और जिनकी कृपा से पुत्र-जन्म की मान्यता होने के कारण बच्चो का नाम उनके नाम के अनुसार रखते थे। इस प्रकार के यक्षो मे विशाल भी एक यक्ष था (५।३।८४)। पीलु वृक्ष के पक्के फलो के लिये 'पीलुकुण' शब्द पाणिनि को ठेठ पंजाब की बोलियो से मिला होगा, जहाँ पीलु और शमी के घने जगल थे और आज भी पक्के पीलुफलो को 'पिलकना' कहते हैं। इसी प्रकार नापतोल, सिक्के, धान्य, भोजन आदि के सबध मे भी अनेक प्रकार की शब्द-सामग्री इस ग्रथ मे पाई जाती है। साल्व जनपद मे जो लप्सी या राबडी बनती थी उसके नामकरण का भी सूत्र मे उल्लेख है (साल्विका यवागू, ४।२।१३६)। व्यास नदी के दाहिने और बाएँ किनारो के कुओ के नामो की विशेषताओ का उल्लेख ऊपर हो चुका है। इस प्रकार की महती सूक्ष्मेक्षिका से सूत्रकार ने शास्त्र का निर्माण किया।

विषय के साथ इस प्रकार का साक्षात् सबध करना या उसे गुनना तक्षशिला विश्वविद्यालय की विशेष पद्धति थी। शलातुर मे जन्म पाकर पाणिनि भी अपने क्षेत्र के इस प्रसिद्ध शिक्षास्थान में शिक्षा के लिये गए हो और वहाँ के वातावरण मे पले हो, यही संभव है। महावग्ग मे लिखा है (८।१।६) कि पाटलिपुत्र के राजवैद्य

जीवक तक्षशिला में आयुर्वेद का विशेष अध्ययन करने के लिये गए और अध्ययन समाप्त करके जब उन्होने आचार्य से लौटने की अनुमति मांगी, तो आचार्य ने उन्हें परखना चाहा और कहा तक्षशिला के चारो ओर ढूंढ कर कोई वनस्पति लाओ जो औषधि के काम न आती हो। जीवक ने एक मास तक ढूंढने पर निवेदन किया महाराज, मैंने बहुत यत्न किया किंतु ऐसा कोई तृण नही मिल सका जो किसी न किसी रोग की औषध मे काम न आता हो। यह उत्तर सुनकर आचार्य ने समझा कि अब शिष्य की पढ़ाई पक्की हुई और उसे जाने की अनुमति दे दी।

जातको से यह भी पता चलता है कि अध्ययन समाप्त कर लेने पर तक्षशिला के छात्र अनेक बातो की जानकारी के लिये देशभ्रमण (चारिका) पर निकलते थे और उस यात्रा मे अनेक प्रकार के कौशल की बातों (शिल्प) और रीति रिवाजो (समय और रहन सहन के रंग-ढंग (देश-चरित्र) का अध्ययन करते थे।[1] शब्द विद्या संबंधी छानबीन के विशेष उद्देश्य को लेकर पाणिनि की यात्रा भी इसी प्रकार की रही होगी। यह आश्चर्य है कि पाणिनि के १२०० वर्ष बाद तक उनके विषय की यह जानकारी य्यूआन् चुआङ् को सच्ची अनुश्रुति के रूप मे प्राप्त हो सकी।

(७) पाणिनि और महेश्वर—'पाणिनि के पास अपने कार्य की एक सुनिश्चित योजना थी जिसे ईश्वरदेव ने बहुत पसंद किया।' य्यूआन् चुआङ् के इस वर्णन से इतना अवश्य ज्ञात होता है कि अष्टाध्यायी के निर्माण मे पाणिनि के मौलिक चिंतन और अध्यवसाय को ही श्रेय मिलना चाहिए। 'ईश्वरदेव' की कथा, पाणिनि के कार्य में ईश्वर की सहायता अर्थात् देव-प्रसाद प्राप्त होने की सूचक है।

(८) पाणिनि कृत यत्न—'ऋषि पाणिनि उपदेश प्राप्त करके एकांत मे चले गए और वहाँ निरंतर यत्न किया और अपने मन और बुद्धि की सारी शक्ति उस कार्य मे लगाई।'—य्यूआन् चुआङ् का यह सत्य कथन पतंजलि के शब्दो का प्रायः अनुवाद ही है (प्रमाणभूत आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म।—भा० १।१।१, वा० ७)। कहाँ एक ओर पाणिनि का सूत्र-रचना मे यह महान् यत्न और कहाँ वह गपोड़ा जिसमे पाणिनि को मदबुद्धि बताया गया! पाणिनि ने अपना उत्साह, विशाल बुद्धि और दृढ संकल्प शब्दविद्या का अनुसंधान करने और उसे व्यवस्थित करने मे लगाया। पतंजलि के अनुसार वे अनल्पमति आचार्य थे। उन्हें अत्यत मेधावी होने के कारण कवि भी कहा गया है।

(९) अष्टाध्यायी का ग्रंथ-परिमाण—य्यूआन् चुआङ् ने बत्तीस अक्षरो वाले श्लोक की गिनती की नाप से अष्टाध्यायी को एक सहस्र श्लोको के बराबर लिखा है।

१—तक्कसिलं गन्त्वा उग्गहित सिप्पा ततो निक्खमित्वा सब्ब समय सिप्पञ्च देस चारित्तञ्च जानिस्सामा ति अनुपुब्बेन चारिकं चरंता (जातक, भा० ५ पृ० २४७ ।

अष्टाध्यायी में ३९८१ सूत्र और १४ प्रत्याहार सूत्र हैं, इनकी गणना करने से अष्टाध्यायी आज भी एक सहस्र-श्लोकात्मक है।

(१०) सर्ववेद पारिषद शास्त्र—'आरंभ से लेकर अपने समय तक शब्दो और अक्षरो के बारे मे जितना कुछ ज्ञात था उस सबको ही बिना कुछ छोड़े हुए पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे स्थान दिया।' यह मूल्यवान् सूचना अष्टाध्यायी का मनन करने से सत्य ज्ञात होती है। पतजलि ने भी पाणिनि ग्रथ को 'महत्शास्त्रौघ' बताया है (भा० १ । १ । १, वा० ७)। प्रातिशाख्य ग्रथो का सबध एक-एक वैदिक शाखा से था। अतएव उनमे शब्द सबधी जो थोडी-बहुत सामग्री है वह भी उसी शाखा तक परिमित है। जैसे ऋक्-प्रातिशाख्य ऋग्वेद की शाकल शाखा की वैदिक परिषद् मे जो ऊहापोह या विचार हुए थे उनका परिचय देता है। वैदिक शाखाओ के अध्ययन के लिये स्थापित आचार्य कुल 'चरण' कहलाते थे। प्रत्येक चरण मे अपनी परिषद् होती थी। उस परिषद् मे शिक्षा, व्याकरण, छद, निरुक्त आदि शब्द सबधी विषयो का विचार किया जाता था। अष्टाध्यायी की स्थिति इससे कुछ और विकसित अवस्था को सूचित करती है। इस ग्रथ का क्षेत्र किसी विशेष वैदिक परिषद् तक सीमित न था। सभी चरण-परिषदो की जो उपादेय सामग्री थी उसे पाणिनि ने अपने शास्त्र मे ग्रहण किया। पतजलि ने अष्टाध्यायी की इस स्थिति का निरूपण करते हुए बड़े पते की बात कही है—सर्ववेद पारिषद हीद शास्त्रम् (भा० २। १। ८५), अर्थात् पाणिनि का अष्टाध्यायी शास्त्र सभी वेद-परिषदो से सबंध रखता था। इसीलिये पाणिनि के सूत्रो मे साहित्यिक शैली की विभिन्नता भी पाई जाती है। बहुलम् अन्यतरस्याम् , उभयथा, वा, एकेषाम्—ये सब शब्द सूत्रो मे नियम का विकल्प बताने के लिये प्रयुक्त किए गए हैं। शब्दो की इस अनेकरूपता को उलझन कहकर पाणिनि की शैली पर एक आपत्ति उठाई गई तो पतजलि ने समाधान किया कि अष्टाध्यायी का सबंध सब परिषदो से था, इसलिये यहाँ एक-सा रास्ता नियत करना सभव नही (तत्र नैक पन्था. शक्य आस्थातुम्, २ । १ । ५८) बर्नेल के मत से अष्टाध्यायी अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याकरणो से अतिशायिनी थी, तभी उसे इतना प्रतिष्ठित पद प्राप्त हुआ (ऐंद्र व्याकरण पर विचार, पृष्ठ ३८)। पाणिनि ने पूर्वाचार्यो से कितनी सामग्री ग्रहण की, यह प्रश्न अत्यंत रोचक होता, किंतु इसके समाधान का साधन अब उपलब्ध नही, क्योकि पाणिनि से पूर्व-कालीन आपिशलि, भारद्वाज, गार्ग्य, शाकटायन आदि के व्याकरण-ग्रंथो मे से एक भी सुरक्षित नही रहा। ऋक्तत्र नामक साम-प्रातिशाख्य मे सुट् और दीर्घ प्रकरण के अतर्गत २७ सूत्र (१९५ से २१८ तक) पाणिनि के सूत्रो से बहुत ही मिलते हैं। उनसे यह आभास मिलता है कि अन्य व्याकरणो मे सूत्रो का रूप किस प्रकार अष्टाध्यायी से कुछ कुछ भिन्न रहा होगा—

ऋक् तंत्र		पाणिनि
१. मस्करो वेणुः	(४।७।२६)।	मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः (६।१।१५०)।
२. प्रस्कण्व ऋषिः	(४।६।८)।	प्रस्कण्व हरिश्चन्द्रावृषी (६।१।१५३)।
३. गोष्पदमुदक माने अगोष्पदमनाचरिते	(४।६।९)। (४।६।१०)।	गोष्पद सेवितासेवित प्रमाणेषु (६।१।१४५)।
४ अपरस्पर सातत्ये	(४।६।७)।	अपरस्पराः क्रिया सातत्ये (६।१।१४४)।
५. अप रथे	(४।६।१)।	अपस्करो रथाङ्गम् (६।१।१४९)।
६. पार पर्वते	(४।५।१०)।	पारस्कर प्रभृतीनि च संज्ञायाम् (६।१।१४५)।
७. आस्पद आस्थायाम्	(४।६।५)।	आस्पद प्रतिष्ठायाम् (६।१।१४७)।
८. कुस्तुंबुरु जातिः	(४।६।५)।	कुस्तुम्बुरूणि जातिः (६।१।१४३)।
९. आश्चर्यमनित्ये	(४।७।१)।	आश्चर्यमनित्ये (६।१।१४७)।
१०. कास्तीराजस्तुन्दे नगरे	(४।७।४)।	कास्तीराजस्तुन्दे नगरे (६।१।१५५)।
११. नदी रथस्या १२. तस्करः स्तेनः	(४।७।५)। (४।७।७)।	रथस्या नदी एवं तद्बृहतोः करपत्योश्चोर-देवतयोः सुट् तलोपश्च, ये दो गणसूत्र पारस्कर प्रभृतीनि के अंतर्गत पढ़े गए हैं (६।१।१५७)।
१३. किरतावध्यात्मम्	(४।६।२)।	अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने (६।१।१४२)।

इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि पूर्ववर्ती आचार्यों की अधिकांश सामग्री पाणिनि ने अपने महान् शास्त्र-समुद्र में भर ली थी। तुलनात्मक दृष्टि से ज्ञात होता है कि पाणिनि ने अपने सूत्रों को अर्थ, भाषा और विस्तार तीनों दृष्टियों से माँजा एवं पल्लवित किया।

ऋक्तंत्र का 'किरतावध्यात्मम्' (४।६।२) सूत्र इस विषय का नौसिखिया या आरम्भिक प्रयत्न जान पड़ता है। 'अध्यात्मम्' पद सजीव वस्तु के लिये आया है और अर्थ की दृष्टि से उलझा हुआ है। सूत्र का तात्पर्य यह था कि कोई सजीव प्राणी जब अपने पंजों से खुरचे तब 'अपस्किरते' (अप+स्+कृ धातु) रूप सिद्ध होता है। ऋक्-तंत्र के सूत्र से प्रयोग तो बन जाता है, परन्तु अर्थ को साफ-साफ कहने की दृष्टि से सूत्र असमर्थ है। वस्तुतः बात इतनी थी कि जब कोई पशु या तो मस्ती में आकर दा चुग्गा ढूंढने के लिये, या रहने अथवा बैठने के स्थान के लिये धरती को खरोंचता है तब 'अपस्किरते' रूप बनता है, जैसे 'अपस्किरते वृषभो हृष्टः' (बैल मस्ती में खरोंच रहा है)। इसके लिये पाणिनि ने अपना सूत्र अर्थ और प्रयोग की दृष्टि से निश्चित और स्पष्ट कर दिया है। खरोचने के लिये 'आलेखन' पद 'अपस्किरते' का अर्थ बताता है। 'चतुष्पाद्' और 'शकुनि' पदों से यह निश्चित होता है कि अपस्किरते का प्रयोग केवल पशु-पक्षियों के लिये होता था। ये दोनों बातें 'किरता-वध्यात्मम्' में अनुक्त और अस्फुट हैं।

पाणिनि ने किस शैली से और किन नियमों के अनुसार अपने शास्त्र में पूर्व सामग्री का संकलन किया और क्या अब भी उसकी पहिचान की जा सकती है,

यह प्रश्न श्री आई० एस० पवते महोदय ने 'अष्टाध्यायी की रचना' (स्ट्रक्चर आव् दि अष्टाध्यायी) नामक ग्रन्थ मे उठाकर उसका समाधान भी दिखाया है। किंतु रोचक होते हुए भी यह स्वतन्त्र अनुसन्धान का विषय है । ह्विटनी ने लिखा था कि क्या और कितना पाणिनि का अपना है और कितना पूर्वाचार्यों का, इसके स्पष्टीकरण मे, यदि वह कभी सम्भव हो सका, तो बहुत समय की अपेक्षा होगी ।

(११) पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा—'पाणिनि ने अपना ग्रन्थ समाप्त करने के बाद उसे सम्राट् के पास भेजा जिसने उसको बहुत सम्मान दिया ।' ह्यूआन् चुआङ् की यह उक्ति मजुश्रीमूलकल्प, राजशेखर, सोमदेव और तारानाथ के द्वारा दी हुई अनुश्रुति के अनुकूल है । पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा के लिये पाणिनि सम्भवत स्वय अपना नया व्याकरण लेकर उपस्थित हुए और यही नन्दराज से उनकी मित्रता हुई होगी । नन्द और मौर्य-युग मे पाटलिपुत्र देश का विद्याकेन्द्र भी था । सिंहली महावश की 'अत्थपकासनी' टीका में चाणक्य का आरम्भिक जीवन बताते हुए लिखा है कि वे भी शास्त्र परीक्षा के ही उद्देश्य से पाटलिपुत्र गए (वाद परियेसन्तो पुप्फपुर गन्त्वा) ।[१]

पाटलिपुत्र की यह सस्था मौर्यकाल मे भी जीवित थी, ऐसा यवन राजदूत मेगस्थने एव अन्य यवन इतिहास-लेखको के वर्णन मे ज्ञात होता है । 'संवत्सर के आरम्भ मे सम्राट् एक महती विद्वत्सभा करके सब विद्वानो और दार्शनिको को बुलाते हैं । जिस विद्वान् ने किसी नए विषय पर शास्त्र-रचना की हो या कृषि और पशुओ के सुधार के लिये कोई नया उपाय ढूंढ निकाला हो, या जनता के हित की वृद्धि के लिये कोई नई खोज की हो, वह विद्वान् अपनी उस कृति या खोज को सबके सामने रखता है । देश के सम्राट् इस सभा के सरक्षक बनते हैं' (स्त्राबो १५।१, मैक् क्रिंडिल 'मेगस्थने', उद्धरण ३३; दियोदोर का उल्लेख) ।

इस सभा का कार्य लगभग वही ज्ञात होता है, जिसे राजशेखर ने पाटलिपुत्र की शास्त्रकार-परीक्षा कहा है । देश की इसी सुप्रसिद्ध सभा मे पाणिनि और चाणक्य उपस्थित हुए थे । पाटलिपुत्र की इस राजसभा से ही सम्बन्धित दो उदाहरण पतजलि के भाष्य मे सुरक्षित रह गए हैं । पाणिनि ने भी 'सभा राजामनुष्यपूर्वा' (२।४।२३) इस सूत्र मे 'राजसभा' का उल्लेख किया है और इसी का उदाहरण देने के लिये पतजलि ने मौर्यकालीन 'चद्रगुप्त-सभा' एव शुगकालीन 'पुष्यमित्र-सभा' का उल्लेख किया है (भा० १।१।६८ वा० ७) । यह मानना युक्तिसंगत होगा कि चन्द्रगुप्त से पहिले इसी प्रकार की राजसभा नंदराज के समय में भी पाटलिपुत्र मे थी । इन सभाओ का विशेष कार्य विद्या का समारोह और विद्वानो का एकत्र संमिलन और सम्मान करना था । नन्दो से भी पूर्व मिथिला मे जनक के यहाँ इस प्रकार की सभा

---

१. इस सूचना के लिये मैं अपने अध्यापक श्री चरणदासजी चैटर्जी का ऋणी हूँ ।—ले० ।

थी, जिसमे कुरुपंचाल के विद्वान् एक समय आमन्त्रित किए गए थे। उसी प्राचीन परम्परा मे यह उपयोगी संस्था कार्य करती रही, जिसका प्रभाव यूनानी राजदूत और यात्रियो के मन पर भी पड़ा। राजसभाओ की यह परम्परा बाद तक जारी रही, जैसा कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और राजा भोज की अत्यन्त प्रसिद्ध सभाओ के वर्णन और कार्यों से ज्ञात होता है।

विद्वानों का सम्मान

यह स्वाभाविक है कि जो विद्वान् अपनी विद्या और खोज के कारण इन सभाओ मे यशस्वी होते थे वे सार्वजनिक रीति से सम्मानित किए जाते थे। दियोदोर ने लिखा है कि विद्वान् अपनी सेवाओ के लिये बहुमूल्य पुरस्कार और प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। मेगस्थने का उल्लेख और भी निश्चित है—'जो इन सभाओ मे किसी ठोस सत्य का प्रतिपादन करता है उसे पुरस्कृत करने के लिये सब प्रकार के करों से मुक्त कर दिया जाता है।'

इसी सम्बन्ध में पतंजलि के एक शब्द की ओर ध्यान दिलाना आवश्यक है। १।१।७३ सूत्र के भाष्य में उदाहरण आया है—'सभा सन्नयने भवः साभासन्नयन.'। पाणिनि के अनुसार सन्नयन का अर्थ है सम्मानन या सम्मान करना (सम्माननोत्सज-नाचार्य करणज्ञानभृति विगणनव्ययेषु निय, १।३।३६)। सभा मे शास्त्र के सफल प्रतिपादन को 'सन्नयन' कहा जाता था और वही उस शास्त्र एवं शास्त्र का प्रतिपादन करनेवाले विद्वान् का सम्मानन भी था। इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि 'साभासन्नयन' शब्द पाणिनिकालीन था, जो राजसभा मे प्राप्त सफलता से उत्पन्न सम्मानित पुरस्कार के लिये प्रयुक्त होता था।

इस सम्मान के आर्थिक स्वरूप का कुछ उल्लेख य्यूआन्-चुआङ् ने किया है। अष्टाध्यायी शास्त्र मे सांगोपाग व्युत्पन्न होनेवाले विद्वानो को एक सहस्र सुवर्णमुद्रा दिए जाने की आज्ञा राजा की ओर से हुई थी। पाणिनि ने इस प्रकार के आचार-नियत द्रव्य के लिये 'धर्म्य' शब्द का प्रयोग किया है और जो इस प्रकार के आचार-नियत (धर्म्य) देय को स्वीकार करते थे वे 'हारी' (सम्मान या पुरस्कार द्रव्य ले जानेवाले) कहलाते थे (सप्तमी हारिणौ धर्म्येऽहरणे, ६।२।६५)।[१] इस सूत्र के मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरणो मे भाष्यकार ने एक स्थान पर 'वैयाकरण हस्ती' शब्द का उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि वैयाकरणो को इस प्रकार के रिवाज या आचार से नियत देय के द्रव्य रूप मे हाथी मिलता था। भाषा मे साभासन्नयन शब्द की चरितार्थता 'वैयाकरण-हस्ती' जैसे प्रयोगो के लिये थी। व्याकरण के पांडित्य के

---

१. हारीति देय यः स्वीकरोति सोऽभिधीयते। धर्म्यमित्याचारनियत देयमुच्यते। धर्मो ह्यनुवृत्त आचारः, तस्मादनपेतं तेन वा प्राप्यमिति (काशिका)।

लिये हाथी के पुरस्कार की कल्पना प्राच्य देश में ही सम्भव थी, जहा कौटिल्य के अनुसार सबसे अच्छे हाथी पाए जाते थे। कौटिल्य ने स्वय भी विद्यावंतो के लिये एक सहस्र कार्षापण पूजा-वेतन का उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र ५।३)।

ऊपर लिखे विवेचन से स्पष्ट है कि पाणिनि के जीवनचरित्र के विषय मे उपलब्ध परम्परा बहुत कुछ सत्य पर आश्रित थी और यद्यपि यह सामग्री अति सक्षिप्त है, फिर भी उससे आचार्य के जीवन की मोटी रूपरेखा का परिज्ञान मिल जाता है।

कवि पाणिनि

भाष्य की एक कारिका मे सूत्रकार के लिये 'कवि' विशेषण आया है (तदकीर्तितमाचरित कविना, १।४।५०)। कैयट और नागेश ने कवि का अर्थ मेधावी किया है और वही ठीक जान पडता है। पाणिनि को 'जाम्बवती विजय' नामक काव्य का रचयिता मानना प्रमाणित नही है, क्योकि न तो उस नाम का कोई काव्य ही उपलब्ध है और न पाणिनि के नाम से सूक्ति-सग्रहो मे उद्धृत श्लोक ही उनके जान पडते हैं, अन्यत्र वे दूसरे के नाम से मिलते हैं। श्लोको की शैली बहुत बाद की है। यह देखकर श्री भडारकर ने पाणिनि के कवि होने की बातका खंडन किया। श्री क्षितीशचद्र चट्टोपाध्याय ने इस प्रश्न के विस्तार मे जाकर अत मे यही मान्य निष्कर्ष निकाला है कि पाणिनि के कवि होने की बात कल्पनामात्र है। जाबवती विजय या पाताल विजय काव्य आठवी-नवी शती के किसी कवि की रचना रही होगी।

शास्त्र का नाम

अष्टाध्यायी के तीन नाम महाभाष्य में मिलते हैं—

(१) अष्टक (अष्टौ अध्याया परिमाणमस्य सूत्रस्य, ५।१।५८), (२) पाणिनीय (पाणिनिना प्रोक्तम्, ४।३।१०१), (३) वृत्तिसूत्र (न ब्रूमो वृत्तिसूत्रवचनप्रामाण्यादिति। किं तर्हि ? वार्तिकवचनप्रामाण्यादिति, भा० २।१।१, वा० २३)। कई सूत्रो के उदाहरणो में काशिका में पाणिनि-व्याकरण को 'अकालक व्याकरण' कहा गया है—पाणिन्युपज्ञमकालक व्याकरणम् (२।४।२१: ४। ३।११५, ६।२।१४)।

इससे ज्ञात होता है कि पाणिनि ने जिस नए व्याकरण की रचना की उसमे काल-सबधी विवेचन को जान-बूझकर स्थान नही दिया गया। पतजलि ने इस बात का कुछ संकेत दिया है कि किस प्रकार काल-संबधी परिभाषाओ के विषय मे वैयाकरणो मे मतभेद था। परोक्ष भूत क्या है ? कोई कहते हैं सौ वर्ष पहिले का काल परोक्ष है, दूसरे कहते हैं कि जो परदे की ओट मे या आँख से ओझल है वह परोक्ष है; कोई कहते हैं, दो दिन या तीन दिन पहिले जो हुआ हो वह परोक्ष[1]

[1] कथ जातीयकं पुनः परोक्ष नाम। के चित्तावदाहुर्वर्षशतवृत्त परोक्षमिति, अपर आहु कटान्तरित परोक्षमिति, अपर आहुर्द्व्यहवृत्त त्र्यहवृत्त चेति (भा० ३।२।११५)

है। इसी प्रकार भूत, भविष्य, वर्तमान के ठीक ठीक काल-विभागो के बारे मे भी वैयाकरणो का अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग था। महाभाष्य मे बड़े रोचक ढंग से दो मतो का उल्लेख किया गया है, जिनमे एक आचार्य कहते थे 'नास्ति वर्तमान: काल:', दूसरे कहते थे 'अस्ति वर्तमान: काल:' (वर्तमाने लट्, ३।२।१२३, वा० ५)।

अन्य वैयाकरण काल-सम्बन्धी परिभाषाएँ स्थिर करने मे रुचि रखते थे। अद्यतन काल या आज का समय कितना है, इस विषय मे एक का मत था कि ठीक समय पर उठने से लेकर ठीक समय पर सोने तक 'आज' समझा जाय। दूसरे कहते थे—अर्धरात्रि से अर्धरात्रि तक अद्यतन काल होता है। पाणिनि ने मध्यम पथ का अनुयायी होने के कारण दूर की कौड़ी लाने वाले इस प्रकार के मतवादो को व्याकरण का बोझ समझकर छोड़ दिया और इस विषय मे अपने स्पष्ट मत का उल्लेख भी किया—

कालोपसर्जने च तुल्यम्। (१।२।५७)

अर्थात् काल, उपसर्जन (मुख्य और गौण का भेद) और इसी तरह की अन्य बातो की व्याकरण मे शिक्षा देना व्यर्थ है, क्योंकि इस प्रकार के ज्ञान का स्रोत लोक है, लोगो के व्यवहार से उन्हें जानना चाहिए। सूत्रोपदिष्ट इस अभिमत के कारण पाणिनि-व्याकरण के लिए 'अकालक' विशेषण प्रयुक्त हुआ।

मूलपाठ

गुरु-शिष्य परम्परा से अष्टाध्यायी के मूल पाठ को लोगों ने कण्ठस्थ रखा है। जैसा य्वान् चुआङ् ने भी लिखा है—'मूल को कण्ठस्थ करने की वह परम्परा पाणिनि के समय से आरम्भ होकर बराबर चली आती रही।' आज भी वेदपाठी श्रोत्रिय लोग छ वेदागो में अष्टाध्यायी कण्ठस्थ करते हैं। स्वर-सिद्धांत-चन्द्रिका के अनुसार अष्टाध्यायी की सूत्र-संख्या ३९९५ है, जिसमे १४ प्रत्याहार सूत्र हैं।[1]

काशिकावृत्ति में लगभग बीस सूत्र अधिक हो गए हैं—कही तो योग-विभाग के द्वारा पाणिनि के एक सूत्र के दो टुकड़े करके और कही कुछ वार्तिको को सूत्र मान लेने से। कई सूत्रो में वार्तिक के पद लेकर थोड़ा परिवर्तन पीछे हुआ है, किन्तु ऐसे सब स्थल भाष्य और अन्य टीकाओ की सहायता से सहज ही पहिचाने जा सकते हैं।[2]

पतंजलि से पहिले ही सूत्रो के पाठ पर ध्यान दिया जाने लगा था, जैसा कि

---

१. चतुःसहस्री सूत्राणां पंचसूत्रविवर्जिता।
अष्टाध्यायी पाणिनीया सूत्रैर्माहेश्वरैः सह॥ (स्व० सि० च०, श्लोक १५)

२. अष्टाध्यायी के मूल पाठ की समस्या पर महाभाष्य के अपूर्व विद्वान् और संपादक श्री कीलहार्न ने अपने लेखों में पूरी छानबीन की है (इण्डियन ऐण्टीक्वेरी भाग १६, पृष्ठ १८४)।

उनके 'इह केचिद् आक्वेरिति सूत्र पठन्ति, केचित्प्राक्क्वेरिति' (भा० ३।२।१३४), इस वाक्य से ज्ञात होता है। सूत्रो मे पाठभेद के अन्य उदाहरण भी पाए जाते हैं।[1]

अष्टाध्यायी के मूलपाठ की तीन विशेषताएँ कही जाती है—

(१) उन स्वरो का अनुनासिक पाठ, जिनकी इत् सञ्ज्ञा करके लोप करना इष्ट था (उपदेशेऽजनुनासिक इत् , १।३।२)।

(२) सूत्रो के जिन शब्दो का अधिकार बाद वाले सूत्रो मे ले जाना इष्ट था, उनपर स्वरित चिह्न ।

(३) संहितापाठ, अर्थात् पहिले सूत्र के अन्तिम अक्षर और उसके बाद के अक्षर को मिलाकर सन्धि करके सूत्रो का पाठ (वृद्धिरादैजदेङ्गुण इको गुणवृद्धी.)।

कुछ ऐसा मानते हैं कि अन्य वैदिक ग्रथो की भाँति अष्टाध्यायी का पाठ सस्वर था। इसे त्रैस्वर्य पाठ कहा जाता है। किन्तु इस समय उपलब्ध सूत्र-पाठ मे ऊपर लिखी विशेषताएं नही पाई जाती। इत् संज्ञा को बतानेवाले अनुनासिक और अधिकार को बतलानेवाले स्वरित सकेत इतने आवश्यक हैं कि उनके विषय में आरम्भ से ही स्पष्टीकरण कर लिया गया था, और वही बँधी हुई परम्परा आज तक चली आती है। इसे पाणिनि-शास्त्र के पढाते समय यो कहा जाता है—प्रतिज्ञानुनासिक्या: पाणिनीया', प्रतिज्ञास्वरिता: पाणिनीया. ।

वस्तुस्थिति यह ज्ञात होती है कि सूत्रो का पाठ जैसा अब है वैसा ही था। पाणिनि ने उपदेश के समय अर्थात् शिष्यो को सूत्रो का शिक्षण करते हुए यह बताया था कि इत् संज्ञावाला अनुनासिक स्वर कौन सा है और अधिकारवाला स्वरित कहाँ तक है। यही उपदेश गुरु-शिष्य-परम्परा से आज तक चला आ रहा है और एक बार उसका परिचय हो जाने पर अधिकार और इत्-संज्ञा का पहिचानना प्राय. सरल हो जाता है। सूत्रो मे अन्य वैदिक ग्रन्थो की भाँति उदात्त और अनुदात्त स्वरो के रहने का प्रमाण भी नही मिलता। कैयट का मत है कि आरम्भ से ही मूल सूत्र-पाठ मे एकश्रुति थी, अर्थात् स्वर नही लगे थे। संहिता-पाठ अर्थात् एक पाद मे आए हुए सब सूत्रो को एक साथ मिलाकर पारायण करने की बात सम्भव जान पड़ती है। पतंजलि से पूर्व यह स्थिति अवश्य थी, ऐसा 'प्राग् रीश्वरान्निपाता.' (१।४।५६) सूत्र के श्लोक-वार्तिक[2] के भाष्य से ज्ञात होता है। आज भी छहो वेदागो मे अष्टाध्यायी

---

१ काशिका ३।३।७८ (अन्तर्घन अन्तर्घण); ६।१।११७ (यजुष्युरः और यजुष्युरो); ६।१।१५६ केचिदिम सूत्रं नाधीयते, पारस्कर प्रभृतिष्वेव कारस्करो वृक्ष इति पठन्ति); ६।२।११४ (चूर्णादीन्यप्राण्युपग्रहादिति सूत्रस्य पाठान्तरम्)। पदमजरी, ४।३।११९ और ४।४।८८। सिद्धान्त कौमुदी, ५।२।६४, ५।२।६८।

२. रीश्वराद वीश्वरान्माभूव, अर्थात पाणिनि ने १।४।५६ सूत्र में रीश्वर इसलिये पढ़ा कि अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्र तक ही निपात का अधिकार चले, उससे आगे ३।४।१२ और ३।४।१३

का पारायण करनेवाले वैदिक लोग संहितापाठ मानकर ही प्रत्येक पाद के सूत्रों का पारायण करते हैं।

गणपाठ

गणपाठ अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण और आवश्यक अंग है। गणपाठ की सामग्री पाणिनि की मौलिक देन है। बर्नेल के अनुसार ऐन्द्र व्याकरण में गणों की शैली न थी। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि पाणिनि ने अपनी सामग्री को सुव्यवस्थित करते हुए पहले गणपाठ और पीछे सूत्र बनाए—

एवं तर्हि आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति मः पूर्वः पाठः, अयं पुनः पाठ।

(भा० १। १।३४)

य्वान् चुआङ् ने भी यही कहा है कि आचार्य ने पहिले अनेक शब्दों का संग्रह किया और उन्हें ग्रंथ रूप में सजाया।

गणपाठ का उद्देश्य है कि अनेक शब्दों को जो परस्पर भिन्न होते हुए भी किसी एक बात में मिलते हैं, व्याकरण के एक नियम के अंतर्गत लाया जाय। इस शैली के द्वारा शब्दों की बिखरी हुई सामग्री एक सरल व्यवस्था और नियम में बँध जाती है। एक-एक शब्द को अलग अलग मानकर उसके लिये नियम बनाने की प्रतिपदोक्त शैली बहुत लंबी और दुरूह पड़ती है। अतएव गणपाठ बहुसंख्यक शब्दों को व्याकरण के संक्षिप्त नियमों के अंतर्गत लाकर परिचय कराने का रोचक एवं मौलिक ढंग है। यदि पाणिनि ने गणपाठ की युक्ति न अपनाई होती तो ग्राम, जनपद, संघ, गोत्र, चरण आदि से संबंधित भौगोलिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक सामग्री का जैसा उपयोग अष्टाध्यायी में उसके संक्षिप्त रूप की रक्षा करते हुए भी हो सका है, कदापि न हो पाता। व्याकरण-नियमों की रचना में सहायक गणपाठ की शैली पाणिनि के हाथों में सांस्कृतिक सामग्री का भंडार बन गई। कुछ गण तो ऐसे थे जिनका पाणिनि के द्वारा ही पूरा पाठ एक बार दे दिया गया था। गोत्र और स्थान-नामों की गणसूचियाँ इसी प्रकार की हैं। दूसरे गण आकृतिगण कहलाते हैं जिनमें जान-बूझकर भाषा में उत्पन्न होनेवाले नए-नए शब्दों की भरती के लिये द्वार खुला रखा गया। जैसे अर्धर्चादि (२।४।३१), गौरादि (४।१।४१), तारकादि (५।२।३६)। कृतादिगण पर लिखते हुए पतंजलि ने भी पठितगण और आकृतिगण, इन दो भेदों को स्वीकार किया है। आचार्य पाणिनि की प्रवृत्ति यह थी कि एक ही नियम के माननेवाले जो शब्द इस समय ज्ञात हैं वे तो गण में पढ दिए गए हैं, किन्तु इसके बाद भी इनसे मिलते-जुलते जो शब्द मिलें वे भी गण-निर्दिष्ट कार्य के भागी हों।

सूत्रों के 'वीश्वर' शब्द तक नहीं। इन दो सूत्रों के संहितापाठ में ही 'वीश्वर' पद बन सकता है (णमुल् कमुलौ + ईश्वरे तो सुन् कसुनौ)।

इस विशेषता के कारण नए शब्द पाणिनिशास्त्र के अनुशासन मे आते रहे और अष्टाध्यायी एक जीता-जागता शास्त्र बना रहा।

गणपाठ के संशोधित सस्करण की अत्यंत आवश्यकता है। काशिका वृत्ति में प्रत्येक गण के शब्दो की सूची मिलती है। उससे पूर्वकालीन चंद्र-व्याकरण की वृत्ति मे भी लगभग इन्ही गणो का पाठ और शब्दसूची है। तुलनात्मक दृष्टि से यह ज्ञात होता है कि काशिकाकार के सामने गणो की एक पूर्व से प्राप्त परपरा थी। पतंजलि ने महाभाष्य मे गणपाठ के सशोधन का अच्छा प्रयत्न किया था और उनसे भी पूर्व के कात्यायन के वार्तिको में इस विषय का विवाद पाया जाता है कि शब्द-विशेष को पाणिनि के द्वारा गणपाठ मे पढा हुआ माना जाय या नही। उदाहरण के लिये शिवादि गण मे 'तक्षन्' शब्द का पाठ है या नही, इस संबंध मे कात्यायन के तीन वार्तिको मे विचार किया गया है (भा० ४।१।१५३) पंतजलि ने खंडिकादि गण मे 'उलूक' और 'क्षुद्रक-मालव' शब्दो के पाठ पर यह विचार किया है। इसी प्रकार 'नृनमन' शब्द का क्षुभ्नादि गण मे (८।४।३९), 'शाकल्य' का लोहितादि मे (४।१।१८), 'गर्ग भार्गविका' का गोपवनादि मे (२।४।६७), और 'अथर्वन्' एव 'आथर्वण' शब्दो का वसन्तादि गण मे (भा० ४।३।१३१)। भाष्यकार ने इस विषय की कितनी गहरी छानबीन की थी, यह बात उनके यह लिखने से ज्ञात होती है कि 'अथर्वन्', 'आथर्वण' शब्दो का अष्टाध्यायी मे चार बार पाठ किया गया है—

इदमाथर्वणार्थमाथर्वणिकार्थं च चतुर्ग्रहणं क्रियते।

(भा० ४।३।३१)

इससे विदित होता है कि पाणिनि-परपरा मे गणो का महत्व सूत्रो के तुल्य ही है। टीकाकारो की धारणा यही रही है कि गणपाठ का मूल भी प्रामाणिक है। डा० रामकृष्ण गोपाल भडारकर का मत था कि गणपाठ के अधिकाश शब्द पाणिनि के समय के ही हैं, जिनमे बहुतो की चर्चा पतजलि ने की है (इडियन एंटीक्वेरी, १।२१)।[1]

---

१. उदाहरण के लिये काशिकाकार ने यस्कादिगण (२।४।६३) पर विचार करते हुए दिखाया है कि इस गण के छत्तीस शब्दों में से सोलह पाणिनि के दूसरे गणों में पढ़े गए हैं, जैसे यस्क, लभ्य, दुह्य, अयःस्थूण और तृणकर्ण ये पाँच शिवादिगण (४।१।११२) में; पुष्करसत् बाह्वादिगण (४।१।९६) में; खरप, नडादिगण (४।१९।९) में; मलदन पुनः शिवादिगण (४।१।११२) में; भंडिल, भडिल, भडित अश्वादिगण (५।१।११०) में। कहीं कहीं सूत्रों में अतःसाक्षी भी शब्द-विशेष के गण में पढे जाने का समर्थन करती है। जैसे 'प्रवाहणस्य ढे' (७।३।२८) सूत्र बताता है कि प्रवाहण शब्द शुभ्रादिगण (४।१।१२३) में अवश्य पढा गया था। सर्वादिगण के शब्दों की पुष्टि पाणिनि के चार सूत्रों से होती है, यथा पूर्वादि (७।१।१६), द्व्यादि (५।३।२), डतरादि (७।१।२५), और त्यदादि (७।२।१०२)। लोहितादि कतन्त गण (४।१।१८) के बीस शब्द

पाणिनि ने जो लम्बी गोत्र-सूचियाँ दी हैं, इतिहास की दृष्टि से उनका महत्व है। बौधायन श्रौतसूत्र के महाप्रवरकाण्ड की गोत्रसूची से अधिकांश पाणिनीय गोत्र-नामों का समर्थन होता है। इनके अतिरिक्त जैमिनीय ब्राह्मण में आए हुए नामों एवं शतपथ की वंश सूचियों में बहुत से पाणिनीय गोत्र-नाम मिल जाते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रकार ने इन सूचियों का संकलन वास्तविक अनुश्रुति और जीवन के आधार पर किया था।

भौगोलिक नाम तो सर्वथा पाणिनि की ही देन हैं। अकेले 'सुवास्त्वादि' आदि (८।२।८०) सूत्र में पढ़े हुए १७ गण लगभग सवा दो सौ स्थान-नामों का परिचय देते हैं। पाणिनि द्वारा संकलित सामग्री का इस सूत्र में अत्यन्त मौलिक, अद्भुत और समृद्ध उदाहरण पाया जाता है। पाणिनीय भौगोलिक नामों का समर्थन किसी अंश में महाभारत एवं यूनानी इतिहास लेखकों में आई हुई भौगोलिक सामग्री से होता है। दामन्यादि (५।३।११६) गण में पठित सावित्री-पुत्रकों का नाम केवल महाभारत के कर्ण-पर्व (५।४९) में मिलता है।

क्रौड्यादि गण (४।१।८०) से संबंधित एक वार्तिक में रौढ्यादि गण का उल्लेख किया गया है। पतंजलि के अनुसार क्रौड्यादि, रौढ्यादि एक ही गण के नाम हैं (के पुन रौढ्यादयः, ये क्रौड्यादय, भा० ४।१।७९)। ज्ञात होता है कि किसी दूसरे व्याकरण में क्रौड्यादि को रौढ्यादि के रूप में पढ़ा गया था। महाभाष्य के टीकाकार भर्तृहरि ने लिखा है कि सर्वादिगण के शब्दों का क्रम आपिशलि के व्याकरण में इससे भिन्न था। गणपाठ का सब प्रकार से विशेष महत्व होते हुए भी उसके शब्दों की प्रामाणिकता सूत्रगत शब्दों और नामों की अपेक्षा दूसरी कोटि में मानी जायगी।

काशिका में पाणिनि-परम्परा की रक्षा

पाणिनि सूत्रों पर इस समय काशिका ही एकमात्र प्राचीन वृत्ति उपलब्ध है। काशिका पर जिनेन्द्रबुद्धिकृत न्यास और हरदत्त कृत पदमंजरी बाद की टीकाएँ हैं, जिनमें सूत्रों के अर्थ को पल्लवित किया गया है। हरदत्त के अनुसार काशी में निर्मित (काशिषु भवा) होने के कारण इसका नाम काशिका पड़ा। काशिका अत्यन्त प्रामाणिक वृत्ति है, इसमें परम्परा से प्राप्त पाणिनि-सामग्री की खूब रक्षा की गई है।

काशिकाकार ने आरम्भ में ही लिखा है कि वृत्ति, भाष्य, धातुपाठ और नामपारा-

---

गर्गादि गण (५।१।१०५) में पढ़े हैं और वहीं से जाने जाते हैं। बिदादिगण (४।१।१०४) में भी गोपवनादि (२।४।६७) और हरितादि (४।१।१००) गणों के शब्दों का अंतर्भाव है। गर्गादि और बिदादि दोनों ही गणों का पाठ प्रामाणिक है।

यण (नामिक) आदि मे जो व्याकरण की सामग्री फैली हुई थी उसके सार का सग्रह काशिका मे किया गया है। काशिकाकार ने न केवल सूत्रो के गूढ अर्थों पर प्रकाश डाला, अपितु गण-पाठ को भी शुद्र किया और प्राचीन श्लोकात्मक इष्टियो का संग्रह किया[१]। काशिका के बिना पाणिनि-सूत्रो के अर्थ, उदाहरण और प्रत्युदाहरणो का जानना असम्भव हो जाता। पाणिनिशास्त्र की परम्परा मे काशिका अत्यन्त भरा-पूरा भण्डार है, जिसमें पुष्कल प्राचीन सामग्री सुरक्षित रह गई है। सच तो यह है कि काशिका पाणिनि के दुग्धामृत की प्राप्ति के हेतु कामधेनु है। काशिका मे पाणिनि के विराट् भवन की महिमा अक्षुण्ण दिखाई पडती है। सूत्रकार ने जिस प्रकार अपने शास्त्र का ठाठ बाँधा था, उसे जिन प्रकरणो मे बाँटकर प्रत्यय और प्रकृति संबधी विविध कार्यों को सजाया था, उनके प्रासाद का वह सूत्र-मापन काशिका की कृपा से ज्यो का त्यो हमारे पास तक पहुँचा है। पाणिनिशास्त्र का अपना स्वरूप कितना आकर्षक और सुबोध था यह काशिका वृत्ति से जाना जाता है।

काशिका से पूर्व भी सूत्रो पर अनेक वृत्तियाँ बनी होगी। भर्तृहरि ने महाभाष्य पर रचित अपनी त्रिपादी टीका मे वृत्तिकार कुणि का उल्लेख किया है, एव कैयट ने कहा है कि पतंजलि ने कुणि के ग्रथ को प्रमाण माना था (भाष्यकारस्तु कुणिदर्शनमशिश्रियत्)। इससे ज्ञात होता है कि वृत्तिकार कुणि पतंजलि से भी पहले हुए थे। पतजलि ने भाष्य मे 'माथुरी वृत्ति' नामक ग्रथ का भी उल्लेख किया है। पुरुषोत्तमदेव की भाषावृत्ति से ज्ञात होता है कि माथुरीवृत्ति अष्टाध्यायी की टीका थी। इस प्रकार पाणिनि-सूत्रो पर कुणिवृत्ति, माथुरीवृत्ति, महाभाष्य, भर्तृहरिकृत त्रिपादी, भागवृत्ति, काशिका, न्यास और पदमजरी इन टीकाओ की परपरा रही है। जो सामग्री उपलब्ध है उसका तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि के सूत्र, अर्थ, उदाहरण, और प्रत्युदाहरणो की सामग्री किस प्रकार एक टीका से दूसरी टीका मे सुरक्षित होती रही। महाभाष्य मे जो उदाहरण-सबधी सामग्री है वह अधिकांस काशिका मे सुरक्षित है। क्रतूक्थादि सूत्रान्ताट्ठक् (४।२।६०) सूत्र पर भाष्य मे दिए हुए अनेक प्राचीन ग्रथो के नाम काशिका मे और पल्लवित होकर आए हैं। आवश्यकतानुसार काशिकाकार ने नए उदाहरणो का भी स्वागत किया; जैसे प्राच्य भरत (२। ४। ६६) की व्याख्या करते हुए पतजलि ने अपने से पूर्वकालीन औद्दालकि और औद्दालकायन नाम दिए हैं, किंतु काशिकार ने उसके स्थान पर अपने समकालीन आर्जुनि और आर्जुनायन उदाहरण रखे। आर्जुनायन का उल्लेख समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति मे आया है।

१—इष्ट्युपसख्यानवतीशुद्धगणा विवृतगूढ सूत्रार्था।
व्युत्पन्नरूप सिद्धिर्वृत्तिरियं काशिका नाम ॥

यह भी उल्लेखनीय है कि काशिका के कुछ उदाहरणो मे पतंजलि, कात्यायन और सभवत. पाणिनि से भी पूर्वकालीन सामग्री का आभास मिलता है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण 'हीने' (१।४।८६) सूत्र पर 'अनुशाकटायनं वैयाकरणा ' और 'उपोऽधिके च' सूत्र पर 'उपशाकटायन वैयाकरणाः' हैं। पाणिनि से भी पहले जब शाकटायन-व्याकरण का बोल बाला था, उस समय और सब वैयाकरण शाकटायन से घटे हुए माने जाते थे। उसी स्थिति का इस उदाहरण मे सकेत है। ये उदाहरण शाकटायन-व्याकरण से छूटककर पाणिनि-व्याकरण के पढ़नेवालो मे घुलमिल गए। पीछे कुछ चेत होनेपर पाणिनीयो ने 'अनुपाणिनि वैयाकरणा.', 'उपपाणिनि वैयाकरणाः' उदाहरण बनाए। इसी प्रकार का दूसरा उदाहरण अधिरीश्वरे (१।४।९७) सूत्रपर 'ब्रह्मदत्ते पंचाला.' था, जब पंचाल देश की काम्पिल्य राजधानी मे ब्रह्मदत्त नामक राजा राज्य करते थे, और उनका नाम लेकर कहानियाँ शुरू की जाती थी, जैसा स्वप्नवासवदत्ता नाटक के पाँचवें अक में बच्चे को कहानी सुनाते समय उसके प्रारम्भिक बोल मे आया है।

मूर्द्धाभिषिक्त उदाहरण

पतजलि ने लिखा है कि सूत्रो के साथ कुछ ऐसे उदाहरण थे जो एक प्रकार से उनके अनिवार्य अंग थे। ऐसे उदाहरण मूर्द्धाभिषिक्त कहलाते थे (भा० १।१।५७)। कैयट के अनुसार सभी वृत्तिकार इस प्रकार के उदाहरणो को स्वीकार करते थे (सर्ववृत्त्युदाहृतत्वात्)। सम्भवतः दूसरे व्याकरणो मे भी उन उदाहरणो को प्रमाण मानकर सूत्ररचना की जाती थी। कभी कभी वे उदाहरण इतने महत्त्वपूर्ण होते थे कि उनपर सूत्रो और वार्तिको की रचना और विचार किया जाता था। 'उपमानानि सामान्य वचनै ' (२।१।५५) सूत्र पर पतंजलि पूछते है 'किं पुनरिहोदाहरणम्। शस्त्री श्यामा।' और इसी 'शस्त्री श्यामा' को आधार मानकर कात्यायन ने सूत्र पर दो वार्तिक रचे थे। ज्ञात होता है कि उदाहरणो को ध्यान मे रखकर वैयाकरण विचार मे प्रवृत्त होते थे। वस्तुत लक्ष्य-लक्षण का ही नाम व्याकरण था, अर्थात् शब्दो के विद्यमान होने पर उनके नियम या सूत्र (लक्षण) बनाए जाते थे। व्याकरण का मूल आरम्भ तो शब्द, लक्ष्य या उदाहरणो से ही हुआ होगा।

सूत्रों के शिक्षक पाणिनि

पतजलि ने अष्टाध्यायी को 'वृत्तिसूत्र' (भा० २।१।१) कहा है, जिससे ज्ञात होता है कि सूत्रो पर बहुत पूर्व मे ही वृत्ति की रचना हो चुकी थी। सस्कृत के सभी विद्वानो की भाँति पाणिनि भी शिष्यो को पढाते रहे होगे। उनके पढाने से जो व्याख्या बनी वही सूत्रो की पहिली वृत्ति हुई। पतजलि ने स्वय लिखा है कि कौत्स पाणिनि के शिष्य थे—उपसेदिवान् कौत्स· पाणिनिम् (भा० ३।२।१०८)।

काशिकाकार ने इतना और कहा है कि कौत्स पाणिनि के अन्तेवासी रूप में उनसे अध्ययन भी करते थे—

अनूषिवान् कौत्स· पाणिनिम् उपशुश्रुवान् कौत्सः पाणिनिम् (का० ३।२।१०८)

पतजलि ने निश्चित रूप से लिखा है कि पाणिनि ने अपने शिष्यों को सूत्रों का अर्थ पढाया था। 'आकडारादेका सज्ञा' (१।४।१) सूत्र पर विचार करते हुए भाष्य मे कहा गया है कि 'प्राक्कडारादेका सज्ञा' भी इसका पाठ था। दोनो पाठ पाणिनि के ही बनाए हुए थे—

उभयथा ह्याचार्येण शिष्या सूत्र प्रतिपादिताः।

कात्यायन ने भी इस सूत्र पर अपने वार्तिको मे दोनो पाठो को स्वीकार किया है, (भा० १।४।१, वा० १ तथा ९), जिसका आधार पाणिनि की अपनी व्याख्या ही हो सकती है। काशिकाकार ने किसी अन्य टीका (अपरा वृत्ति) के आधार पर 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद् वशादिभ्यः' (५।१।५०) सूत्र के दो अर्थ दिए है और उस प्रसग मे कहा है कि दोनो अर्थ स्वय पाणिनि ने शिष्यो को पढाए थे (सूत्रार्थ-द्वयमपि चैतदाचार्येण शिष्या· प्रतिपादिता)। इसी प्रकार 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' (५।१।९४) सूत्र पर उसी टीका का प्रमाण देते हुए काशिकाकार ने दो अर्थ करते हुए लिखा है—

उभयं प्रमाणमुभयथा सूत्रप्रणयनात्।

अर्थात् दोनो ही अर्थ मान्य हैं, क्योकि दोनो को दृष्टि मे रखकर ही सूत्र रचा गया। तत्प्रकृतवचने मयट् (५।४।२१) की टीका मे भी काशिका ने ठीक यही बात कही है। इन उदाहरणो से यही ज्ञात होता है कि पाणिनि ने स्वय सूत्रो की व्याख्या की थी जो पाणिनीय शास्त्र के अध्येता गुरु-शिष्यो की परम्परा से बराबर चली आई। तदधीते तद्वेद (४।२।५९) के अनुसार पाणिनि-व्याकरण के पढनेवाले और जाननेवाले आचार्य इस देश मे बराबर चले आते रहे हैं और आज भी हैं। कोई समय ऐसा नही हुआ जब यह परम्परा टूटी हो। इसके आधार पर अनुनासिक स्वर (उपदेशेऽजनुनासिक इत् , १।३।२) और अधिकारवाची स्वरित (स्वरितेनाधिकार , १।३।११) के विषय मे पाणिनीयो की मौखिक प्रतिज्ञा ही आज तक प्रमाण मानी जाती है। वार्तिककार, पतजलि और कैयट सभी पाणिनिशास्त्र की मौखिक परम्परा के समर्थक हैं। भाष्य मे सूत्र १।४।४ पर श्लोक-वार्तिक का एक अश इस प्रकार है—

तदनल्पमतेर्वचन स्मरत

अर्थात् मेधावी आचार्य पाणिनि के उस वचन का स्मरण करो। कैयट ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि 'स्मरत' पद पाणिनीय शास्त्र के अविच्छिन्न रहने की सूचना देता है (आगमस्याविच्छेदम्)। प्रदीप की भूमिका मे उन्होने अपने ग्रथ को पाणिनि-आगम के अनुकूल रचा हुआ कहा है (यथागमं विधास्येऽहम्)।

सूत्रों की आरम्भिक वृत्ति का रूप

कात्यायन और पतंजलि दोनो ही सूत्रार्थ के लिये व्याख्यान की आवश्यकता का अनुभव करते हैं। पतंजलि के अनुसार सूत्रो पर आरम्भिक व्याख्याओ का स्वरूप इस प्रकार था—

(१) चर्चा–सूत्र के एक-एक पद को अलग करना। जैसे वृद्धि + आत् + ऐच् = वृद्धिरादैच्।

(२) वाक्याध्याहार—सूत्र के अर्थो को पूरा करने के लिये पिछले सूत्र या सूत्रो से शब्दो की अनुवृत्ति।

(३) उदाहरण।

(४) प्रत्युदाहरण।

सूत्रकार के समय से लेकर वृत्तियो का ढाँचा इसी प्रकार का रहा होगा। काशिकावृत्ति का ठाट भी यही है और लगभग आज भी सूत्रो को समझाने का यही ढङ्ग चालू है। आरम्भ से ही हरएक सूत्र के साथ उसके उदाहरण अवश्य पढाए जाते थे। अनुशाकटायनं वैयाकरणाः (१।४।८६), शाकटायनपुत्र (६।२।१३३), नंदपुत्र (६।२।१३३), नन्दोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१), अविप्रह्मदत्ते पञ्चालाः (१।४।९७), शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत् (१।४।८४), अनडुद् यज्ञमन्वसिचत् (१।४।८४), अगस्त्यमन्वसिचन् प्रजाः (१।४।८४), इत्यादि उदाहरण व्याख्याओ के आरम्भिक स्तर को सूचित करते हैं।

पाणिनीय परम्परा की रक्षा मे प्रत्येक उपलब्ध टीका का अपना मूल्य है। वह व्याकरण की लम्बी शृङ्खला मे एक कड़ी है। इस दृष्टि से वार्तिक, महाभाष्य, काशिका, त्रिपादी, न्यास, पदमंजरी आदि टीकाओ ने व्याकरण की प्राचीन सामग्री की रक्षा मे महत्त्वपूर्ण योग दिया है। कात्यायन के वार्तिक बताते हैं कि उनसे पहिले भी अन्य आचार्यो ने सूत्रो के शब्दो और अर्थो पर बारीकी से छानबीन की थी। कात्यायन और पतजलि के बीच मे भी कितने ही विद्वान् वैयाकरण हुए जिन्होने श्लोक वार्तिको मे अथवा वार्तिक-सूत्रो मे पाणिनि और कात्यायन दोनो के ही ग्रंथो पर विचार किया। भारद्वाजीय, सौनाग, क्रोष्ट्रीय और कुणरवाडव, इन वार्तिककारो का उल्लेख पतजलि ने किया है। कही विना नाम के ही 'एके', 'केचित्' 'अपरे', इन सकेतो से अन्य आचार्यो के मत दिए गए हैं। सूत्रो पर विचार करते हुए कात्यायन और पतजलि अपने इन पूर्ववर्ती आचार्यो के ऋणी थे और पाणिनि की ही भाँति उन्होने भी अपने ग्रन्थो मे अपने से पूर्वकालीन लेखको की सामग्री की रक्षा की।

इस प्रकार यह पाणिनीय शास्त्र उत्तरोत्तर पुष्पित, फलित और प्रतिमंडित होता हुआ लोक मे भरा हुआ है। भारतवर्ष की यह ब्रह्मराशि है। जो इसे यथावत् जानता है वह शब्दविद्या मे पारगामी बन जाता है।

अध्याय २

पाणिनिकालीन भूगोल

परिच्छेद—१ विषय प्रवेश

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री प्राचीन भारतीय इतिहास के लिये अत्यत उपयोगी है। पाणिनि ने जिस शब्द-सामग्री का सचय किया उसमे देश, पर्वत, समुद्र, वन, नदी, प्रदेश, जनपद, नगर, ग्राम—इनसे सबधित अनेक नाम और शब्द थे। इस विस्तृत सामग्री का सग्रह सूत्रकार की मौलिक सूझ थी। मध्य एशिया से लेकर कलिंग तक एवं सौवीर (आज काल का सिंध) से लेकर पूर्व मे असम (आसाम) प्रात के सूरमस (वर्तमान सूरमा नदी) प्रदेश तक विस्तृत भौगोलिक क्षेत्रो के स्थान-नाम अष्टाध्यायी मे पाए जाते हैं। इस प्रकार की सामग्री का सकलन निश्चित उद्देश्य और व्यवस्था के आधार पर किया गया है। जहाँ एक ओर उससे पाणिनि के व्यापाक ज्ञान और परिश्रम की सूचना मिलती है वहाँ दूसरी ओर यह भी प्रकट होता है कि जिस भाषा का व्याकरण पाणिनि लिख रहे थे उसके प्रचार का क्षेत्र कितना विस्तृत था। इससे सिद्ध होता है कि जीवन के व्यवहार मे देश के चारो कोनो का आपस मे घना सबध था। सिंधु नद के समीप शलातुर ग्राम मे जन्म लेनेवाले सूत्रकार को सूरमस, कलिंग, अश्मक, कच्छ, सौवीर—पूर्व से पश्चिम तक बिखरे हुए इन प्रदेशो के विषय मे अच्छी जानकारी थी। कहा का शासन एकराज अथवा संघ पद्धति पर था, कहाँ के नागरिक स्त्री-पुरुषो का देश के अनुसार क्या नाम पडता था, इस प्रकार की सूचना आवागमन का घनिष्ठ संबंध हुए बिना सभव नही। भारतवर्ष के दूर स्थित भाग व्यापार, राज्य और विद्या संबध के द्वारा महाजनपद युग मे (दशमी शती विक्रम पूर्व से पाँचवी शती विक्रम पूर्व तक) एक दूसरे के साथ घनिष्ठ सबंध में बँध चुके थे। इसका सुप्रमाणित परिचय महाभारत एवं बौद्ध जातक कथाओ से मिलता है। अष्टाध्यायी भी यही सिद्ध करती है। पाणिनि-सूत्रो का अध्ययन इस समय प्राय. सारे देश में किया जाता है। भौगोलिक नाम भी उसी के साथ आते हैं। पाणिनीय छात्रो के लिये किसी समय यह सामग्री मूल्यवान् थी जब वे उन नामो का परिचय जानते थे। पुन. उन अर्थों पर ध्यान देने की आवश्यकता है जिससे अष्टाध्यायी की सामग्री द्वारा भारत के भौगोलिक परिचय का फल हमे प्राप्त हो सके।

विचार करना चाहिए कि स्थान-नामो के व्याकरण में गृहीत होने का क्या कारण है? इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है—

व्याकरण का संबंध भाषा से है और भाषा का संबंध स्थान-नामो से। प्रत्येक भाषा मे शब्दो के मुख्यत. दो भाग होते हैं, नाम और आख्यात। आख्यात का संबध धातुओ से है जिनका संग्रह पाणिनि ने धातुपाठ की १९४४ धातुओ के रूप मे किया है। नाम अर्थात् संज्ञाएँ तीन प्रकार की होती है—(१) वस्तुओ के नाम, (२) मनुष्य-नाम, (३) स्थाननाम। मनुष्य-नाम और स्थान-नाम भी भाषा के अभिन्न अंग ही हैं। मनुष्य जो भाषा बोलते हैं उसी भाषा के शब्दो से अपने बच्चो के नाम रखते हैं और देश के भिन्न भिन्न स्थानो का नामकरण करते हैं। स्थान-नामो का अध्ययन भाषाशास्त्र का अभिन्न अंग है। स्थान-नामो की उत्पत्ति मे अनेक राजनैतिक, सामाजिक और वैयक्तिक कारण होते हैं। उदाहरण के लिये पंचाल क्षत्रिय जिस भूप्रदेश मे पहिले पहिल बसे उस प्रदेश का नाम पंचाल पड गया। पंचाल जन का पद अर्थात् निवास-स्थान होने के कारण वह प्रदेश पंचाल जनपद कहलाया। पचाल जन के कारण भूमि का भी पचाल नाम हुआ। इस प्रकार जन और भूमि को सूचित करनेवाला शब्द मनुष्यो की भाषा का अंग बन गया। व्याकरणशास्त्र को बस इसमे रुचि है कि 'पंचाल जन का निवास स्थान', इन नए अर्थ को किस प्रत्यय की शक्ति से स्थानवाची पंचाल शब्द प्रकट करता है। आजकल की भाषा मे बिहारी, बंगाली, मद्रासी, गुजराती, सिंधी, मरहठा आदि शब्द भौगोलिक कारणो से बने हैं। 'बिहार का रहनेवाला', इस विशेष अर्थ को बिहारी शब्द का 'ई' प्रत्यय प्रकट करता है। इस छोटे से ई प्रत्यय का उस व्यक्ति के जीवन के लिये विशेष महत्त्व है, क्योकि इससे उसकी भूमि, भाषा, रहन-सहन, अथवा एक शब्द मे कहे तो उसकी नागरिकता पर प्रकाश पडता है। व्याकरण की दृष्टि से भाषागत शब्दो का अर्थ सुलझाने के लिये इस प्रकार के स्थान-नाम संबंधी प्रत्ययो का अध्ययन आवश्यक हो जाता है। पाणिनि ने अपने समय की भाषा के लिये यह काम बडी बारीकी के साथ किया। उनसे पूर्व और उनके पश्चात् मनुष्य-नाम और स्थान-नामो के पारस्परिक सबध का इतना ब्योरेवार अध्ययन नही हुआ। इस दृष्टि से पाणिनीय सामग्री भारतीय इतिहास के लिये अतीव उपयोगी है।

अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री का वर्गीकरण कुछ निश्चित नियमो के अनुसार किया गया था, जो इस प्रकार है—

१—स्थान-नामो के अन्त मे जुडनेवाले शब्द, जैसे पुर, नगर, ग्राम आदि।

२—नगर और ग्रामो के अनेक नाम, जो निम्नलिखित चार कारणो से बनते हैं और जिनका निर्देश ४।२।६७ से ४।२।७० तक के सूत्रो मे किया गया है—

(अ) 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि' (४।२।६७), अर्थात् अमुक वस्तु जिस स्थान मे होती है उस वस्तु के नाम से उस स्थान का नाम पड़ जाता है, जैसे 'उदुम्बराः

सन्ति अस्मिन्देशे औदुम्बरा.', अर्थात् उदुंबर के वृक्ष जहाँ हों वह स्थान औदुंबर कहलाया ।

[आ] 'तेन निर्वृत्तम्' (४।२।६८), अर्थात् उसने यह स्थान बसाया। बसानेवाले के नाम से शहर या गाँव का नाम रखना एक स्वाभाविक और पुरानी प्रथा है। कुशाव की बसाई हुई नगरी कौशावी कहलाई ।

[इ] 'तस्य निवास.' (४।२।६९), अर्थात् रहनेवालो से स्थान का नाम; शिवि जाति के क्षत्रिय जहाँ रहे वह प्रदेश शैव हुआ ।

[ई] 'अदूरभवश्च' (४।२।७०), अर्थात् जो स्थान किसी दूसरे स्थान के निकट बसा हुआ होता है, वह भी उसके नाम से पुकारा जाता है; जैसे वरणा वृक्ष के समीप जो ग्राम बसा हो उसका नाम भी वरणा होगा। अथवा विदिशा नदी के समीप बसा हुआ नगर वैदिश हुआ। आम, पीपल, बरगद आदि वृक्षो के समीप बसे हुए हजारो स्थान नाम इसी नियम के अनुसार बने हैं ।

ये चारो अर्थ चातुरर्थिक कहलाते हैं और अगले २१ सूत्रो मे (४।२।७१ से ९१ तक) इन अर्थों की अनुवृत्ति जाती है। तदनुसार बहुत से स्थान-नामोंके उदाहरण अष्टाध्यायी मे आ गए हैं। अकेले ४।२।८० सूत्र के १७ गणो मे दो सौ अट्ठाइस स्थानो के नाम हैं।

३—स्थान-नामो के आधार पर दो प्रकार के ऐसे शब्द बनते हैं जो मनुष्य-नामो के आगे जुडते हैं। जो व्यक्ति जहाँ रहता है, अथवा उसके पुरखा जहाँ रहते थे, उस स्थान के नाम से उस व्यक्ति के नाम की अल्ल या ख्यात पड़ जाती है। जैसे जयपुर से जिसके पुरखो का निकास हो, अथवा जो स्वय जयपुर का रहनेवाला हो उसे हिंदी मे जयपुरिया कहा जाता है, जो विशेषण के रूप मे नाम के आगे जुड जाता है। संस्कृत मे भी यही प्रथा थी। अपने रहने के स्थान को निवास (४।३।८९) और पुरखो के निकास को अभिजन (४।३।९०) कहते थे। उदाहरण के लिये जो मथुरा का रहनेवाला था, अथवा जिसके पुरखा वहाँ रहे थे, वे दोनो माथुर कहलाए। स्थान-नामो से उत्पन्न अनेक विशेषण उस समय भाषा मे प्रचलित थे, जिनकी रूप-सिद्धि के लिये आचार्यों ने नियमो की व्यवस्था की ।

४—स्थानवाची संज्ञाओ और वस्तुओ के नामो मे और भी अनेक प्रकार के संबध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ जो वस्तु जहाँ से लाई जाती है, उस स्थान से उस वस्तु का नाम पड जाता है, जैसे इस समय जापान से आनेवाला माल जापानी कहा जाता है। इसी प्रकार पाणिनि के समय में भी नाम पडते थे। काबुल से साठ मील उत्तर-पूर्व में स्थित कपिशा नगरी से आनेवाली दाख 'कापिशायिनी द्राक्षा' और वहाँ का मद्य 'कापिशायनं मधु' कहा जाता था जिनका नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।२।९९) और कौटिलीय अर्थशास्त्र मे आया है। रंकु जनपद में उत्पन्न और

वहाँ से लाए जानेवाले प्रसिद्ध बैल 'राकव' या 'रांकवायन' (४।२।१००) कहलाते थे। इस प्रकार के अनेक संबंध जो चातुरर्थिक से भिन्न थे, उन्हें पाणिनि ने 'शेषे' (४।२।९२), इस अधिकार-सूत्र के अंतर्गत एकत्र कर दिया है। यह शैषिक अधिकार ५३ सूत्रों मे ४।२।१४५ तक चला गया है और इसमे बहुत अधिक भौगोलिक सामग्री आई है।

५—एक प्रकार के भौगोलिक नाम उन प्रदेशो के होते हैं जो किसी जन या कबीले के अधिकार-क्षेत्र में हो और जन के नाम से उनका नाम पड़े। इस प्रकार के भूभाग को 'विषय' कहा जाता था (विषयो देशे ४।२।५२)। काशिका के अनुसार ग्राम समुदाय की संज्ञा 'विषय' थी। उदाहरण के लिये आप्रीत या आफ़्रीदी नामक कबाइली लोग जिस इलाके मे रहते थे उस ग्राम-समुदाय या क्षेत्र को आप्रीतक कहा जाता था। राजन्यादि गण (४।२।५३), भौरिकि आदि गण, और ऐषुकारि आदि (४।२।५४) गणों मे लगभग पचास से ऊपर इस प्रकार के शब्दो का संग्रह पाणिनि ने किया है जिनमे से थोड़े ही नाम अब तक पहिचाने जा सके हैं।

पाणिनि ने एकराज जनपद (४।१।१६८-१७६) और संघो के (५।३।११४-११७) नामो का भी विवेचन किया है। एक राजा के अधीन जनपद प्रायः पूर्वी भारत मे कुरुक्षेत्र से लेकर कलिंग और अश्मक तक फैले हुए थे। इनमे कुरु, कोसल मगध, कलिंग, प्रत्यग्रथ (पंचाल), अश्मक (गोदावरी के किनारे, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी) मुख्य थे। संघ या गण राज्य विशेष कर वाहीक या पंजाब मे फैले हुए थे। पाणिनि ने एकराज और संघ इन दोनो प्रकार के भूगोलवाची नामो मे जुड़नेवाले प्रत्ययो को 'तद्राज' संज्ञा दी थी (ते तद्राजाः, ४।१।१७४; ञ्यादयस्तद्राजा, ५।३।११९)

कुछ वन, पर्वत और नदियो के नामो मे स्वर को दीर्घ किया जाता था। इनकी गिनती ६।३।११७–१२० सूत्रों मे की गई है। वनो के कुछ नामो मे नकार को णकार होता था। उनका परिगणन ८।४।४-५ सूत्रो मे किया गया है। कात्यायन और पतंजलि ने इस सामग्री मे और वृद्धि की; विशेषतः महाभाष्य में भूगोल संबंधी जानकारी को बहुत आगे बढाया गया है। राजन्यादि गण के वसाति, देवयात, बैल्व-वन, अंबरीषपुत्र और आत्मकामेय इन पाँच नामो का उल्लेख महाभाष्य (४।२।५२) मे ही किया गया है। पाणिनि की इस बहुमूल्य सामग्री का विशेष परिचय यहाँ दिया जा रहा है। पश्चिमोत्तर भारत मे फैले हुए आयुधजीवी संघो के संबंध मे जो पाणिनीय भौगोलिक जानकारी अष्टाध्यायी मे है उसका विशेष परिचय सातवे अध्याय के परिच्छेद ७-८ मे दिया जायगा।

सन्ति अस्मिन्देशे औदुम्बरा.', अर्थात् उदुबर के वृक्ष जहां हो वह स्थान औदुंबर कहलाया ।

[आ] 'तेन निर्वृत्तम्' (४।२।६८), अर्थात् उसने यह स्थान बसाया। बसानेवाले के नाम से शहर या गाँव का नाम रखना एक स्वाभाविक और पुरानी प्रथा है। कुशाब की बसाई हुई नगरी कौशाबी कहलाई।

[इ] 'तस्य निवास' (४।२।६९), अर्थात् रहनेवालो से स्थान का नाम; शिवि जाति के क्षत्रिय जहां रहे वह प्रदेश शैव हुआ।

[ई] 'अदूरभवश्च' (४।२।७०), अर्थात् जो स्थान किसी दूसरे स्थान के निकट बसा हुआ होता है, वह भी उसके नाम से पुकारा जाता है; जैसे वरणा वृक्ष के समीप जो ग्राम बसा हो उसका नाम भी वरणा होगा। अथवा विदिशा नदी के समीप बसा हुआ नगर वैदिश हुआ। आम, पीपल, बरगद आदि वृक्षो के समीप बसे हुए हजारो स्थान नाम इसी नियम के अनुसार बने हैं।

ये चारो अर्थ चातुरर्थिक कहलाते हैं और अगले २१ सूत्रो मे (४।२।७१ से ९१ तक) इन अर्थों की अनुवृत्ति जाती है। तदनुसार बहुत से स्थान-नामोके उदाहरण अष्टाध्यायी मे आ गए हैं। अकेले ४।२।८० सूत्र के १७ गणो मे दो सौ अट्ठाइस स्थानो के नाम हैं।

३—स्थान-नामो के आधार पर दो प्रकार के ऐसे शब्द बनते हैं जो मनुष्य-नामो के आगे जुड़ते है। जो व्यक्ति जहां रहता है, अथवा उसके पुरखा जहाँ रहते थे, उस स्थान के नाम से उस व्यक्ति के नाम की अल्ल या ख्यात पड़ जाती है। जैसे जयपुर से जिसके पुरखो का निकास हो, अथवा जो स्वय जयपुर का रहनेवाला हो उसे हिंदी मे जयपुरिया कहा जाता है, जो विशेषण के रूप मे नाम के आगे जुड जाता है। संस्कृत मे भी यही प्रथा थी। अपने रहने के स्थान को निवास (४।३।८९) और पुरखो के निकास को अभिजन (४।३।९०) कहते थे। उदाहरण के लिये जो मथुरा का रहनेवाला था, अथवा जिसके पुरखा वहाँ रहे थे, वे दोनो माथुर कहलाए। स्थान-नामो से उत्पन्न अनेक विशेषण उस समय भाषा मे प्रचलित थे, जिनकी रूप-सिद्धि के लिये आचार्यों ने नियमो की व्यवस्था की।

४—स्थानवाची सज्ञाओ और वस्तुओ के नामो मे और भी अनेक प्रकार के संबंध हो सकते हैं। उदाहरणार्थ जो वस्तु जहाँ से लाई जाती है, उस स्थान से उस वस्तु का नाम पड़ जाता है, जैसे इस समय जापान से आनेवाला माल जापानी कहा जाता है। इसी प्रकार पाणिनि के समय में भी नाम पड़ते थे। काबुल से साठ मील उत्तर-पूर्व में स्थित कपिशा नगरी से आनेवाली दाख 'कापिशायिनी द्राक्षा' और वहाँ का मद्य 'कापिशायनं मधु' कहा जाता था जिनका नाम पाणिनीय अष्टाध्यायी (४।२।९९) और कौटिलीय अर्थशास्त्र मे आया है। रंकु जनपद मे उत्पन्न और

वहाँ से लाए जानेवाले प्रसिद्ध बैल 'राजव' या राजवायन' (४।२।१००) कहलाते थे। इस प्रकार के अनेक संबंध जो चातुरर्थिक से भिन्न थे, उन्हें पाणिनि ने 'शेषे' (४।२।९२), इस अधिकार-सूत्र के अंतर्गत एकत्र कर दिया है। यह शैषिक अधिकार ५३ सूत्रों में ४।२।१४५ तक चला गया है और इसमे बहुत अधिक भौगोलिक सामग्री आई है।

५—एक प्रकार के भौगोलिक नाम उन प्रदेशो के होते हैं जो किसी जन या कबीले के अधिकार-क्षेत्र मे हों और जन के नाम से उनका नाम पड़े। इस प्रकार के भूभाग को 'विषय' कहा जाता था (विषयो देशे ४।२।५२)। काशिका के अनुसार ग्राम-समुदाय की संज्ञा 'विषय' थी। उदाहरण के लिये आप्रीत या आफ्रीदी नामक कबाइली लोग जिस इलाके मे रहते थे उस ग्राम-समुदाय या क्षेत्र को आप्रीतक कहा जाता था। राजन्यादि गण (४।२।५३), भौरिकि आदि गण, और ऐषुकारि आदि (४।२।५४) गणो मे लगभग पचास से ऊपर इस प्रकार के शब्दो का संग्रह पाणिनि ने किया है जिनमें से थोड़े ही नाम अब तक पहिचाने जा सके हैं।

पाणिनि ने एकराज जनपद (४।१।१६८-१७६) और सघो के (५।३।११४-११७) नामों का भी विवेचन किया है। एक राजा के अधीन जनपद प्राय. पूर्वी भारत में कुरुक्षेत्र से लेकर कलिंग और अश्मक तक फैले हुए थे। इनमे कुरु, कोसल मगध, कलिंग, प्रत्यग्रथ (पचाल), अश्मक (गोदावरी के किनारे, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान थी) मुख्य थे। संघ या गण राज्य विशेष कर वाहीक या पंजाब में फैले हुए थे। पाणिनि ने एकराज और सघ इन दोनो प्रकार के भूगोलवाची नामो मे जुड़नेवाले प्रत्ययो को 'तद्राज' संज्ञा दी थी (ते तद्राजाः, ४।१।१७४; ञ्यादयस्तद्राजा., ५।३।११९)

कुछ वन, पर्वत और नदियों के नामो मे स्वर को दीर्घ किया जाता था। इनकी गिनती ६।३।११७–१२० सूत्रो मे की गई है। वनो के कुछ नामो मे नकार को णकार होता था। उनका परिगणन ८।४।४-५ सूत्रो मे किया गया है। कात्यायन और पतंजलि ने इस सामग्री मे और वृद्धि की; विशेषत. महाभाष्य में भूगोल संबंधी जानकारी को बहुत आगे बढाया गया है। राजन्यादि गण के वसाति, देवयात, बैल्व-वन, अंबरीषपुत्र और आत्मकामेय इन पाँच नामो का उल्लेख महाभाष्य (४।२।५२) मे ही किया गया है। पाणिनि की इस बहुमूल्य सामग्री का विशेष परिचय यहाँ दिया जा रहा है। पश्चिमोत्तर भारत मे फैले हुए आयुधजीवी सघो के संबंध मे जो पाणिनीय भौगोलिक जानकारी अष्टाध्यायी मे है उसका विशेष परिचय सातवें अध्याय के परिच्छेद ७-८ मे दिया जायगा।

अध्याय २, परिच्छेद २—देश

भौगोलिक सीमा विस्तार

सूत्रो मे पठित निश्चित स्थान-नामो की सहायता से पाणिनि-कालीन भौगोलिक दिग्विस्तार का परिचय मिलता है। उत्तर-पश्चिम मे कापिशी (४।२।९९) का उल्लेख है, यह नगरी प्राचीन काल मे अति प्रसिद्ध राजधानी थी। काबुल से लगभग ५० मील उत्तर इसके प्राचीन अवशेष मिले हैं। यहाँ से प्राप्त एक शिलालेख मे इसे कपिशा कहा गया है। आजकल इसका नाम बेग्राम है। कापिशी से भी और उत्तर मे कबोज (४।१।१७५) जनपद था जहाँ इस समय मध्य एशिया का पामीर पठार है। कबोज के पूर्व में तारिम नदी के समीप 'कूचा' प्रदेश था, जो सभवत. वही है जिसे पाणिनि ने कूच-वार' (४।३।९४) कहा है।

तक्षशिला के दक्षिण-पूर्व में मद्र जनपद (४।२।१३१) था जिसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। मद्र के दक्षिण में उशीनर (४।२।११८) और शिवि जनपद थे। वर्तमान पजाब का उत्तर-पूर्वी भाग जो चबा से कॉंगडा तक फैला हुआ है, प्राचीन त्रिगर्त देश था। सतलुज, व्यास और रावी इन तीन नदियो की घाटियो के कारण इसका नाम त्रिगर्त (५।३।११६) पड़ा। दक्षिण-पूर्वी पजाब में थानेश्वर-कैथल-करनाल-पानीपत का भूभाग भरत जनपद था। इसी का दूसरा नाम प्राच्य भरत (४।२।११३) भी था, क्योकि यही से देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो खडो की सीमाएँ बँट जाती थी। दिल्ली-मेरठ का प्रदेश कुरु जनपद (४।१।१७२) कहलाता था। उसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। अष्टाध्यायी में उसका रूप हास्तिनपुर (४।२।१०१) है। गगा और रामगगा के बीच मे प्रत्यग्रथ नामक जनपद (४।१।१७१) था, जिसे पञ्चाल भी कहते थे। मध्यदेश मे कोसल (४।१।१७१) और काशि (४।२।११६) जनपदो का नामोल्लेख किया गया है। इससे पूर्व मे मगध (४।१।१७०) जनपद था। पूर्वी समुद्र तट पर कलिग देश था जहाँ इस समय महानदी बहती है। सूत्र ४।१।१७० में पाणिनि ने सूरमस जनपद का नामोल्लेख किया है। इसकी पहचान असम प्रांत की सुरमा नदी की घाटी और गिरि-प्रदेश से की जा सकती है। इस प्रकार पच्छिम मे कम्बोज (पामीर) से लेकर पूरब मे कामरूप असम के छोर तक के फैले हुए जनपदो का ताँता अष्टाध्यायी में पाया जाता है। पश्चिम में समुद्र-तटवर्ती कच्छ जनपद (४।२।१३३) और दक्षिण में गोदावरी-तटवर्ती अश्मक जनपद (४।१।१७३) का नामोल्लेख भी है। अश्मक की राजधानी प्रतिष्ठान थी जो गोदावरी के बाएँ किनारे, बम्बई और हैदराबाद की सीमा पर वर्तमान पैठण है। कलिंग और अश्मक एक ही अक्षाश रेखा पर थे।

उत्तर के पहाड़ों में हिमालय का नाम हिमवत् (४।४।११२) आया है।

पाणिनि को भारतीय समुद्रों का भी परिचय था। किनारे के पास के द्वीपों को पाणिनि ने अनुसमुद्र द्वीप (द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ४।३।१०) कहा है। जो वस्तुएँ इन द्वीपों में होती थीं उनके लिये द्वैप्य विशेषण था। बीच समुद्र में स्थित द्वीपों में उत्पन्न वस्तुएँ द्वैप कहलाती थीं। नयनाशों के बीच के देशों के लिये पाणिनि ने अन्तरयन (८।४।२५) शब्द का प्रयोग किया है। कर्क की नयनाश रेखा कच्छ-भुज से आनर्त अवन्ती जनपदों को पार करती हुई तूरमन तक चली गई है। इसके दक्षिण में भारतवर्ष का भूभाग 'अन्तरयन' कहलाता था।

उदीच्य और प्राच्य

पाणिनि ने देश के उदीच्य और प्राच्य इन दो भागों का उल्लेख किया है। इन दोनों के बीच में भरत जनपद था जहाँ इस समय कुरुक्षेत्र है। सूत्र २।४।६६ (बह्वचइञः प्राच्यभरतेषु) के प्राच्य-भरत पद पर पतंजलि ने लिखा है कि वस्तुतः प्राच्य देश भरत जनपद के पूरब में प्रारम्भ होता था (अन्यत्र प्राग्ग्रहणे भरतग्रहणं न भवति)। पाणिनि ने 'शरावती' नदी का नामोल्लेख (शरादीनां च ६।३।१२०) किया है। नागेश ने एक प्राचीन श्लोक[1] का प्रमाण देते हुए लिखा है कि शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशों के बीच की सीमा थी। अमरकोष से ज्ञात होता है कि गुप्त-काल में भी शरावती प्राच्य और उदीच्य के बीच की विभाजक रेखा मानी जाती थी। शरावती के दक्षिण पूर्व का देश प्राच्य और पश्चिमोत्तर का उदीच्य कहलाता था।[2] शरावती नदी की निश्चित पहचान नहीं हुई। सम्भवतः अम्बाला जिले में बहनेवाली घग्घर नदी शरावती कही जाती थी और वही प्राची और उदीची की सीमाओं को अलग करती थी।

पाणिनि की दृष्टि में प्राच्य और उदीच्य दोनों प्रदेशों में बोली जानेवाली भाषा शिष्टसम्मत थी। उसके शब्द व्याकरण का विषय थे। शब्दों के शुद्ध रूप जानने के लिये जिस लोक का प्रमाण दिया जाता था, वह यही था। गन्धार और वाहीक दोनों मिलकर उदीच्य कहलाते थे। सिन्धु से शतद्रु तक का प्रदेश वाहीक था जिसके अन्तर्गत मद्र, उशीनर और त्रिगर्त ये तीन मुख्य भाग थे। तक्षशिला से काबुल तक का प्रदेश गन्धार कहलाता था। पाणिनि की समकालीन संस्कृत भाषा का क्षेत्र

---

१. प्रागुदचौ विभजते हंसः क्षीरोदके यथा। विदुषां शब्दसिद्ध्यर्थं सा नः पातु शरावती॥
अर्थात्—व्याकरण शास्त्र में शब्दों के रूपों का भेद बताने के लिये प्राच्य और उदीच्य का विचार शरावती नदी से किया जाता था।

२. लोकोऽयं भारतं वर्षं शरावत्यास्तु योऽवधेः।
देशः प्राग्दक्षिणः प्राच्यः उदीच्यः पश्चिमोत्तरः॥

(अमरकोष २।१।६-७)

गंधार से प्राच्य तक फैला हुआ था। पाणिनि लगभग पाँचवी शताब्दी विक्रम पूर्व मे हुए। उनके बाद लगभग दो शती पीछे यवनो का और फिर शको का आगमन इस देश मे हुआ। शक-यवनो के कारण बाल्हीक और गन्धार के प्रदेश भारतवर्ष की राजनैतिक सीमा से कुछ काल के लिये अलग जा पड़े थे और उनके साथ के सास्कृतिक सम्बन्ध भी ढीले पडने लगे थे। अतएव पतजलि ने महाभाष्य मे शक यवनो के प्रदेश को आर्यावर्त की सीमा से बाहर कहा और भाषा-भेद के कारण उन्हे शिष्ट सस्कृत के क्षेत्र से अलग समझा। पतजलि की दृष्टि में आर्यावर्त के शिष्ट विद्वानो की भाषा प्रतिमानित सस्कृत थी और तत्कालीन सकुचित आर्यावर्त हिमालय के दक्षिण, पारियात्र पर्वत के उत्तर, आदर्श के पूर्व और कालक वन के पश्चिम अवस्थित था। आदर्श प्राय. अदर्शन या सरस्वती के बालू में खो जाने (विनशन) का प्रदेश समझा जाता है। किंतु काशिका मे उसे एक जनपद का नाम कहा गया है (४।२।१२४) और नागेश ने उसे कुरुक्षेत्र की एक पहाडी कहा है। कालक वन पाली साहित्य के अनुसार साकेत का एक भाग था। इस प्रकार हम देखते हैं कि राजनैतिक कारणो से पतंजलि के समय मे आर्यावर्त की सीमाएँ काफी सिकुड़ गई थीं। पतजलि ने शक-यवन, किष्किध-गब्दिक और शौर्य-कौच को आर्यावर्त की सीमा के बाहर कहा है। एक किष्किधा गोरखपुर जिले मे था, जिसे पाली साहित्य मे खुखुन्दो[1] कहा है। चंबा रियासत के गद्दी प्रदेश का प्राचीन नाम गब्दिक था और वह पतंजलि के समय मे आर्यावर्त से बाहर समझा जाता था। किंतु पाणिनि के समय मे गंधार से मगध तक भाषा का अखड क्षेत्र फैला हुआ था। उस समय उसी के प्राच्य और उदीच्य दो स्वाभाविक भाग माने जाते थे।

अध्याय २, परिच्छेद ३—पर्वत, वन और नदियाँ

पर्वत

अष्टाध्यायी मे पहाडी प्रदेशो से सबधित कुछ विशेष शब्द आए हैं; जैसे, हिमानी (४।१।४९, बर्फ का भारी ढेर, ग्लेशियर); हिमश्रथ (६।४।२९, बरफ का पिघलना या हिमगल); उपत्यका (५।२।३४, पर्वत के ऊपर की ऊँची भूमि, या पठार)। हिमवत् का नाम ४।४।११२ सूत्र मे है (विशेषण हैमवती)।

हिमालय के भूगोल से ही सबधित दो महत्त्वपूर्ण नाम अंतर्गिरि और उपगिरि थे। आचार्य सेनक के मत मे इनका रूप अतर्गिरम्, उपगिरम् (५।४।११२) भी चालू था। हिमालय की पश्चिम से पूर्व की ओर फैली हुई तीन शृङ्खलाएँ हैं। मैदानो की तरफ से सबसे पहले तराई की भूमि आती है। इस मैदान को नैपाल मे तराई,

---

१. अवध तिरहुत रेलवे के नोनखार स्टेशन से डेढ मील पर गोरखपुर जिले में खुखुंदो नामक स्थान है।

नैनीताल जिले मे भाभर (वहाँ उत्पन्न होनेवाली घास के नाम से) और देहरादून मे दून (संस्कृत द्रोणी) कहते हैं। इनकी ऊँचाई लगभग १००० फुट से २००० फुट तक है। हरद्वार से देहरादून की चढ़ाई और छोटे टीले इसी के अंग है। हिमालय की इन उपत्यका या बहिःशृङ्खला का नाम उपगिरि था। देहरादून से केवल सात मील पर स्थित राजपुर से एकदम चढ़ाई आरंभ हो जाती है और सात मील के भीतर हम मंसूरी की ६५०० फुट की ऊँचाई पर पहुँच जाते है। हिमालय की इस बीच की शृङ्खला मे मंसूरी, नैनीताल, शिमला, धर्मशाला, श्रीनगर आदि स्थानो की चोटियाँ है। इसे पाली साहित्य मे चुल्ल हिमवत (अंग्रेजी मे 'लेसर हिमालय') कहा गया है। इसका प्राचीन नाम बहिर्गिरि था। इससे ऊपर उठकर हिमालय की तीसरी शृङ्खला है जिसमे अठारह-बीस हजार से लेकर तीस हजार फुट तक की आकाश को छूनेवाली चोटियाँ है। कांचनजंघा, गौरीशंकर, धवलगिरि, नन्दादेवी, नंगापर्वत आदि हिमालय के उत्तुंग गिरिशृङ्ग इस शृङ्खला मे है। इसे पाली साहित्य के भूगोल में महाहिमवंत (अंग्रेजी में ग्रेट सेंट्रल हिमालय) कहा गया है। इसी का प्राचीन संस्कृत नाम अंतर्गिरि था। महाभारत से ज्ञात होता है कि हिमालय की इन तीन शृङ्खलाओ के ये भौगोलिक भेद हमारे पूर्वजो के दृष्टिपथ में आ चुके थे और उन्होने इनका नामकरण भी कर लिया था। अर्जुन की दिग्विजय-यात्रा का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसने अंतर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि को जीता था (सभा पर्व २७।३)। पाणिनि ने बीच की शृङ्खला बहिर्गिरि का नाम न देकर केवल अंतर्गिरि और उपगिरि का ही नाम दिया है। ज्ञात होता है कि तराई की उपत्यका के लिये उपगिरि नाम था, और शेष हिमालय जिसमें उसकी नीची और ऊँची दोनों चोटियाँ सम्मिलित थीं, अंतर्गिरि (हिमालय का भीतरी प्रदेश) कहलाता था। इस प्रकार अंतर्गिरि का ही अवान्तरभेद बहिर्गिरि समझा जाता था। अथवा यह भी संभव है कि आचार्य सेनक और पाणिनि दोनो के मत से बहिर्गिरि के नाम का लोक मे एक ही रूप था, अतएव व्याकरण मे उसके अलग उल्लेख की आवश्यकता नहीं समझी गई।

अष्टाध्यायी में अन्य पर्वतों के नाम

(१) त्रिककुत् (त्रिककुत् पर्वते ५।४।१४७—तीन चोटियोवाले इस पहाड़ का नाम अथर्ववेद मे आता है जहाँ एक प्रकार का सुरमा (त्रैककुद अंजन) उत्पन्न होता था। यह भी हिमालय की किसी चोटी का ही नाम था। कीथ ने इसकी पहिचान त्रिकोट से की है (वैदिक इंडेक्स १।३२९) जो उत्तरी पंजाब और कश्मीर के बीच की कोई चोटी थी। किंतु अधिक संभावना है कि यह नाम सुलेमान पर्वत का था जो अंजन या सुरमे का उत्पत्ति-स्थान था और आज तक है। सुलेमान के समानांतर शीनगर की पर्वत शृङ्खला है जो झोब (वैदिक यव्यावती) नदी के पूर्व है, एवं दोनो

के पीछे टोवा और काकड की शृङ्खलाएं हैं। पर्वतों की यह तिहरी दीवार ठीक ही त्रिककुद् कहलाती थी (जयचद्र विद्यालकार, भारतभूमि पृ० १२९)। यहाँ से त्रैककुद अजन प्राप्त होता था। महाभारत के अनुसार वाहीक (पंजाव) की गोरी स्त्रियाँ मनसिल के समान चमकीले अपागयुक्त नेत्रो मे त्रिककुद् का अजन डालती थी (कर्ण पर्व ४४।१८)। आज भी सुलेमानी सुरमा एक ओर पंजाव मे और दूसरी ओर सिंध मे दूर-दूर तक जाता है। सिंध के लोगो मे यही सौवीर अर्थात् उत्तरी सिंध की ओर से आने के कारण सौवीराजन भी कहलाता था।

(२) विदूर (विदूराञ्ञ्य, ४।३।८४)—यह वैदूर्य मणि का उत्पत्ति स्थान था। मार्कंडेय पुराण की व्याख्या मे पारजिटर ने वैदूर्य की पहिचान सातपुडा से की है। पतजलि के मत में वैदूर्य मणि की खानें वालवाय पर्वत मे थी। वहाँ से लाकर विदूर के वेगडी (संस्कृत वैकटिक, रत्नतराश) उसे घाट पहलो पर काटते और वीधते थे, इससे उसका नाम वैदूर्य पडा। सभव है कि दक्षिण का वीदर विदूर हो।

(३) 'वनगिर्यो सज्ञाया कोटर किंशुलकादीनाम्' (६।३।११७) सूत्र के किंशुलकादि गण मे छः पहाडो के नाम दिए गए हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) किंशुलकागिरि (२) शाल्वकागिरि (३) अजनागिरि (४) भंजनागिरि (५) लोहितागिरि और (६) कुक्कुटागिरि।

ये नाम अत्यंत अपरिचित हैं, पर जान पडता है कि यह पुरानी भौगोलिक सामग्री किसी समय एक क्रम से सूचीवद्ध की गई थी। पाणिनि ने उसे उसी क्रम से अपना लिया। भारत के उत्तर-पश्चिमी छोर पर अफगानिस्तान से वलूचिस्तान तक उत्तर-दक्खिन दौडती हुई पहाडो की जो ऊँची दीवार है उसी की वडी चोटियो के ये नाम जान पड़ते हैं।

सिंध-वलोचिस्तान की सीमा पर उत्तर-दक्षिण गया हुआ हाला पहाड भाषा शास्त्र की दृष्टि से शाल्वका गिरि ज्ञात होता है (शाल्वका—हाल्लआ—हाला है। उसके पच्छिम में वलोचिस्तान की मकरान पर्वत-शृङ्खला सभवत: किंशुलकागिरि थी, जिसका नाम अभी तक हिंगुलाज देश और हिंगुला नदी के नामो के रूप में वचा रह गया है। हिंगुला किंशुल का प्राकृत रूप है। इस देश का प्राचीन नाम पारद था। यूनानियो ने इसे पारदीनी (Pardene) लिखा है; जो व्याकरण-साहित्य के पार्दायन और पार्दायनी से संवधित है। कापिश्याः ष्फक् (४।१।९९) सूत्र पर पतंजलि ने इसका उल्लेख किया है। पारद के अर्थ मे हिंगुल शब्द का प्रयोग मध्यकाल में पाया जाता है। सभवत. लाल हिंगुल का उत्पत्ति स्थान होने के कारण यह स्थान किंशुलक कहलाया। किंशुल और किंशुलक एक ही शब्द ज्ञात होते हैं। हिंगुला अभी तक लाल देवी मानी जाती है। वस्तुत. हिंगुलाज मे शको की नना देवी का प्रसिद्ध

मंदिर था, जिसकी मान्यता ('जियारत') मुसलमान भी 'नानी' के नाम से करते हैं।

इससे आगे दूसरी बड़ी शृङ्खला सुलेमान पर्वत की है। टोबा काकड़ और शीनगर के साथ उसकी तीन वाहियों का नाम, जैसा ऊपर कहा गया है, त्रिककुत् पर्वत था जहाँ का प्रसिद्ध अंजन वैदिक काल से ही सारे पंजाब में जाता था। यही पाणिनि की इस सूची का अजनागिरि है।

इनके ऊपर अफगानिस्तान के नक्शे में ऊँचे पहाड़ों की दो गाँठें हैं—एक मध्य अफगानिस्तान में काबुल के दक्षिण पश्चिम कोहेबाबा का पहाड़ और दूसरा उत्तर-पूरब के रुख उससे आगे बढ़ा हुआ हिंदुकुश का पहाड़। इनमें से हिंदुकुश का पुराना नाम लोहितागिरि ज्ञात होता है। अर्जुन की दिग्विजय के मार्ग में काश्मीर के बाद लोहित को जीतने का उल्लेख है (सभा पर्व २७।१७)। लोहित का ही दूसरा नाम रोहितगिरि था जिसका उल्लेख काशिका (४।३।९१) ने रोहितगिरि की पर्वताश्रयी आयुधजीवी जातियों के संबंध में किया है। वहाँ के निवासी रोहितगिरीय कहलाते थे। महाभारत में भी लोहित के दस मडलों का वर्णन आया है, जो कपिश-गंधार प्रदेश के लड़ाकू कबीले ही ज्ञात होते हैं ('व्यजयल्लोहिता चैव मडलैर्दशभि' सह, सभा पर्व २७।१७)। इस प्रकार लोहितागिरि की पहिचान रोह या अफगानिस्तान के हिंदुकुश से ही सभव ज्ञात होती है। लोहितागिरि या रोहित-गिरि के कारण ही अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम 'रोह' चरितार्थ हो जाता है। इसी से अफगानों के लिये रुहेला नाम प्रचलित हुआ। रुहेलखड शब्द में अब तक वह बचा है।

सुलेमान और हिंदूकुश के बीच में बड़ा पहाड़ अफगानिस्तान का केंद्रीय जल विभाजक कोहेबाबा है। यहीं से अफगानिस्तान के पूरब, पच्छिम, उत्तर और दक्खिन की जलधाराएँ बिखर कर चारों दिशाओं में बह जाती हैं। सभवत. यही प्राचीन भजनागिरि था।

कुक्कुटागिरि भी यदि इसी प्रदेश की कोई पर्वत-शृङ्खला हो, जैसा कि संभव प्रतीत होता है, तो उसकी पहिचान कोहेबाबा या भजनागिरि के पच्छिम की ओर बढ़ी हुई अपेक्षाकृत नीची उन वाहियों से की जा सकती है जो हेरात और हरिरूद (सरयू) नदी के उत्तर समानातर चली गई हैं। प्राचीन ईरानी उनकी निचाई के कारण उन्हें उपरिशएन (संस्कृत उपरिश्येन, श्येन या बाज के बैठने का अड्डा) कहते थे। उसी का अपभ्रंश नाम यूनानियों ने परोपमिसस लिखा है। यह बाह्लि या बल्ख के दक्षिण की पर्वतमाला थी। इस उपरिश्येन का ही भारतीय नाम कुक्कुटा-गिरि जान पड़ता है, जो पाणिनि की इस सूची की अतिम कड़ी है।

'आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते' (४।३।९१) सूत्र में पाणिनि ने विशेष रूप से

पहाडी इलाके में रहनेवाले आयुधजीवी या लडाकू कबीलों का उल्लेख किया है। ये लोग पर्वतीय भी कहलाते थे (४।२।१४३)। महाभारत से ज्ञात होता है कि ये लोग गंधार के रहनेवाले थे जो दुर्योधन की ओर से लडने आए थे।[१] मार्कंडेय पुराण (५७।५६) मे नगरहार (आधुनिक जलालाबाद) के निवासी जनो को पर्वताश्रयी कहा गया है।[२] इस नाम से गधार-कपिशा की लडाकू जातियाँ अभिप्रेत थी। भारतीय भुवन कोपो में दो जगह के लोग पर्वताश्रयी नाम से प्रसिद्ध थे, एक त्रिगर्त या कुल्लू कागडा के और दूसरे गन्धार या अफगानिस्तान मे हिन्दुकुश के पहाडी छत्तो मे भरे हुए। पाणिनि को इन दोनो का पता था। इसी कारण से दोनो प्रदेशो के पर्वताश्रयी लोगो का अष्टाध्यायी मे उल्लेख आ गया है। पर्वतप्रदेश का अनुवाद आधुनिक कोहिस्तान है, जो सिन्धु-सुवास्तु-गौरी (आधुनिक सिधु स्वात-पजकोरा) एवं अलीशग-घोरवद की उपरली घाटियो का नाम है। यहाँ पर लडाकू जातियो के ठट्ठ भरे हैं। प्राचीन काल मे भी यही स्थिति थी। सम्भवतः प्राचीन समय मे यह इलाका सिन्धु से हिन्दुकुश तक फैला हुआ था। हिन्दुकुश का पुराना नाम जैसा हम देख चुके हैं रोहितगिरि या लोहितागिरि था और यहाँ के आयुधजीवी या लड़ाकू वाशिन्दे रोहितगिरीय कहे जाते थे। मोटे तौर पर इस प्रदेश के आज दो हिस्से हैं, अर्थात् कोहिस्तान-काफिरिस्तान और स्वात—वे ही प्राचीन समय मे थे। कुनड नदी (उसी का नाम काश्कर या चित्राल नदी है) इन दोनो के बीच की सीमा है। कुनड के पच्छिम मे पजशीर नदी और हिन्दूकुश पर्वत तक फैला हुआ पच्छिमी भाग (इस समय का काफिरिस्तान-कोहिस्तान) पाणिनि के समय मे कापिशी (४।२।९९) का प्रदेश कहलाता था। चीनी यात्री य्यूआन् चुआड् ने कापिशी के विस्तृत राज्य का घेरा छ सौ मील लिखा है। सिन्धु के पच्छिम मे अपर गन्धार की राजधानी पुष्कलावती (आधुनिक चारसद्दा) स्वात और काबुल (सुवास्तु—कुभा) के सगम पर थी। इसमे भी खास स्वात नदी की घाटी बौद्ध साहित्य मे उड्डियान नाम से प्रसिद्ध थी जिसका सस्कृत नाम पतजलि के महाभाष्य

---

१. तथा प्रतीच्याः पार्वतीयाश्च सर्वे। (उद्योग० ३०।२४)
गांधारराजः शकुनिः पार्वतीयः। (उद्योग० ३०।२७)

इन पहाडी कबीलों का नेता गधार देश का राजा शकुनि था। और भी देखिए, द्रोण पर्व १२१।१३,४२।

यूनानी लेखक अरियन के अनुसार 'पर्वताश्रयी' सैनिक दारा तृतीय की सेना में सम्मिलित होकर सिकदर से लडे थे।

२. अतो देशान् प्रवक्ष्यामि पर्वताश्रयिणश्च ये। नीहाराः हसमार्गाश्च कुरवो गुर्गणाः खशाः॥
कुन्तप्रावरणाश्चैव ऊर्णा दार्वाः सकृद्गृहाः। त्रिगर्ताः गालवाश्चैव किरातास्तामसैः सह॥

मार्कण्डेय ५७।५६-५७

इसमें त्रिगर्त, डुग्गर, हुजा (हस मार्ग), जलालाबाद (नीहार) के अर्थात् काँगडा से अफगानिस्तान के पहाडी लोगों को पर्वताश्रयी कहा गया है।

मे औदयिनी (कापिश्याः ष्फक्, ४।२।९९ सूत्र पर भाष्य वार्तिक बाल्हि-उर्दिपर्दि-भ्यश्च) मिलता है। यही पर वे कंबल बनते थे जिन्हे पाणिनि ने पाण्डु कम्बल (४।२।११) कहा है और जो सैनिक उपयोग के लिये मध्यदेश मे लाए जाते थे। बल्ख-कोहिस्तान-काफिरिस्तान स्वात, इनका प्राचीन भौगोलिक सूत्र बाल्हि-कापिशी-उर्दि-गंधार था जिनसे बाल्हायनी, कापिशायनी और औदर्यनी, ये तीन विशेषण बनते थे। अफगानिस्तान की इस भौगोलिक स्थिति मे काफिरिस्तान-कोहिस्तान-स्वात का इलाका प्राचीन नामो के अनुसार कपिश-गंधार था। इसी का इकट्ठा नाम पर्वत प्रदेश ज्ञात होता है जो आयुधजीवी या लड़ाकू कबीलो से भरा हुआ था। आज भी बाजौर, स्वात और बुनेर का प्रदेश (सिन्धु, स्वात और कुनड नदी की दूनें) याग़िस्तान कहलाती हैं जिसका अर्थ है अराजक देश (जयचद विद्यालकार, भारत भूमि और उसके निवासी, पृष्ठ २२६)। यह पाणिनि के व्रात (५।३।११३) मे मिलता है। इस प्रकार काफिरिस्तान-कोहिस्तान के पहाडी प्रदेश मे जिस तरह के आयुधजीवी थे वे पाणिनि के शब्दो मे राजनीतिक दृष्टि से व्रात सज्ञक थे (५।३।११३) वे लोग उत्सेध-जीवी (लूट-मार करनेवाले) थे। यहाँ की पर्वतीय जातियाँ आयुध-जीवी होते हुए भी उस प्रकार के उन्नत संघ शासन मे सगठित नही हुई थी जैसे कि त्रिगर्त देश (कॉगड़ा-जालंधर प्रदेश) की पर्वताश्रयी और आयुधजीवी जातियाँ (दामन्यादि त्रिगर्तषष्ठाच्छ., ५।३।११६) हो गई थीं।

वन

पुरगावण, मिश्रकावण, सिध्रकावण, शारिकावण, कोटरावण, अग्रेवण, इन छ वनो के नाम सूत्र ८।४।४ मे पढे गए हैं। इनमे से पहले पाँच वनो के नाम पाणिनि ने ६।३।११७ सूत्र के कोटरादिगण मे दोहराए हैं। स्पष्ट ज्ञात होता है कि सूत्र ८।४।४ पूर्वाचार्य-व्याकरण से पाणिनि ने अविकल ग्रहण कर लिया था, किन्तु सूत्र ६।३।१७ में कोटरादिगण की कल्पना उनकी निजी है। गणरत्नमहोदधि (पृष्ठ ७६) के अनुसार पुरगा पाटलिपुत्र नगर की एक यक्षिणी थी। इससे अनुमान होता है कि पुरगावण पाटलिपुत्र के समीप था जो उस यक्षिणी के नाम से प्रसिद्ध हुआ होगा। मिश्रकावण नैमिषारण्य के पास वर्तमान मिसरिख ज्ञात होता है जो अब नीमखार मिसरिख (सीतापुर से १३ मील दक्षिण) कहलाता है। विधुर पडित जातक के अनुसार स्वर्ग मे नदनवन के समान पृथ्वी पर मिस्सक या मिश्रकावन प्रसिद्ध था (मिस्सक नन्दनं वनम्, जातक ६।२७८)। सिध्रकावण सिध्रका नाम की लकड़ियो का वन था। सामविधान ब्राह्मण मे सैध्रिकमयी समिधाओ को घी मे डुबाकर सहस्र आहुतियो से हवन करने का उल्लेख है।[1] अग्रेवण सम्भवत. प्राचीन अग्र जनपद

---

१. सैध्रिकमयीनां समिधां घृताक्तानां सहस्र जुहुयात (सामविधान ३।६।९)। सैध्रकं सार-वृक्षविशेषः (सायण)।

(जिसकी राजधानी अग्रोदक, आधुनिक अगरोहा, थी) मे स्थित वन का नाम था। कोटरावण लखीमपुर जिले का कोई जगल ज्ञात होता है जहाँ कोटरा नामक रियासत है। यहाँ अधिकतर साखू और शीशम के वृक्ष हैं। सारिकावण अर्वाचीन सारन (बिहार) का पुराना नाम जान पडता है।

अगले सूत्र (८।४।५) मे पाणिनि ने सात ऐसे नाम गिनाए हैं जो विशेष वनो की सज्ञाएँ थे और साधारण शब्दो के रूप मे भी भाषा मे प्रयुक्त होते थे, यथा—शरवण, इक्षुवण, प्लक्षवण, आम्रवण, कार्ष्यवण, खदिरवण और पीयूक्षावण। व्याकरण की दृष्टि से बात इतनी ही थी कि इन नामो मे वन के नकार को णकार होता था, जिसके कारण पाणिनि को इनका लेखा-जोखा करना पडा। शरवण नाम का एक सनिवेश श्रावस्ती नगरी से सटा हुआ था, जहाँ आजीवक आचार्य गोशाल मखलि पुत्त का जन्म हुआ था (उवासग दसाओ)।[1] मखलि या मस्करी का नाम पाणिनि को ज्ञात ही था (६।१।१५४)।

इक्षुवण फर्रुखाबाद जिले मे बहनेवाली इक्षुमती नदी (जिसे आजकल 'ईखन' कहते हैं) के तट पर होना चाहिए।[2] इक्षुमती गगा मे मिलती है।

आम्रवण राजगृह के समीप एक वन का नाम था। कहा जाता है कि इसे जीवक ने बुद्ध को दान मे दिया था। पाली साहित्य मे हजार-हजार वृक्षो वाले आम के वनो का उल्लेख है। ऐसे घने और अँधेरिया बागो को सहस्सव वन कहते थे। प्राचीन कपिल्लपुर (आधुनिक कम्पिल, जिला फर्रुखाबाद) मे इस तरह का एक सहस्संब वन था। इससे भी बडे आम के बागो के लिये हिंदी मे 'लखपेडा' शब्द अभी तक प्रसिद्ध है। अवश्य ही ऐसे बड़े बागो के नाम लोक मे प्रसिद्ध हो जाते थे।

खदिरवण साधारणतया कोई भी कत्थे का जगल हुआ। जैसे 'खदिरवनिय रुक्ख कोट्ठ सकुनो', अर्थात् खदिरवन मे पेड के खखोडल का पछी (पाली साहित्य)। जातको मे हिमवत प्रदेश मे खदिरवन का उल्लेख है (खदिरवने हिमवत पदेसे, जातक २।१६२, १६३)। आज भी तराई के पहाडी इलाके मे कत्थे के भारी जगल हैं। सज्ञावाची खदिरवण मे आरण्यक मुनियो के प्रधान आचार्य रेवत का जन्मस्थान था, जिसके कारण वे रेवत खदिरवनीय कहलाते थे (अंगुत्तर निकाय, १।१४।१)।[3]

पाणिनि ने ओषधियो तथा वनस्पतियो के जंगल (८।४।६) और पशुओ के चराई के जंगलो (आशितंगवीन अरण्य, ५।४।७) का भी उल्लेख किया है।

---

१ और भी देखिए श्री विमलाचरण लाहा कृत, 'श्रावस्ती इन इंडियन लिट्रेचर', पृ० १०, ११।

२. यूनानी लेखकों ने इसे आक्सीमगी (Oxymagis) कहा है।

३ बाद के बौद्ध धर्म में खदिरवन की एक देवी खदिरवनी तारा कहलाती है (साधनमाला)। ज्ञात होता है खदिरवन नाम मध्यकाल तक प्रसिद्ध रहा।

नदी

अष्टाध्यायी में निम्नलिखित नदियो के नाम सूत्रो में आए हैं—

सुवास्तु (४।२।७७), सिंधु (४।३।९३), विपाश् (४।२।७४), उद्ध्य (३।१।११५), सिध्य (३।१।११५), देविका (७।३।१), सरयू (६।४।१७४), अजिरवती (६।३।११९), शरावती (६।३।१२०), चर्मण्वती (८।२।१२)। इनकी पहचान इस प्रकार है।

सुवास्तु—सुवास्तु वैदिक काल की नदी थी, यह आजकल की स्वात है। इसकी पच्छिमी शाखा गौरी नदी (पंजकोरा) है। इन दोनो के बीच मे उड्डियान था जो गंधार देश का एक भाग माना जाता था। यही स्वात की घाटी में प्राचीन काल से आज तक एक विशेष प्रकार के कंबल बुने जाते आए हैं। पाणिनि ने पांडु कंबल (४।२।११) नाम से उनका उल्लेख किया है। सुवास्तु और गौरी की दूनो में एक वीर जाति के लोग बसते थे जिन्हे यूनानियो ने अस्सकेनोई (Assakenoi) और पाणिनि ने आश्वकायन (४।१।९९, नडादिगण) कहा है। इनकी राजधानी मस्सग थी जो व्याकरण साहित्य की मशकावती है। स्वात का ही निचला भाग मशकावती नदी कहलाता था जिसके तट पर मशकावती नगरी थी। भाष्य ४।२।७१ में मशकावती नदी का उल्लेख है। सुवास्तु नदी के दक्षिण का प्रदेश जहाँ वह कुभा मे मिलती है, किसी समय पुष्कल जनपद कहलाता था। इसकी राजधानी पुष्कलावती थी जिसे यूनानी भूगोल-लेखको ने पिउकेलाउती कहा है। मशकावती की भाँति पुष्कलावती भी व्याकरण मे नदी का नाम प्रसिद्ध था। काशिका मे तीन सूत्रो के उदाहरणो मे (४।२।८५; ६।१।२१९; ६।३।११९) पुष्कलावती का नाम प्राचीन नदी-सूची मे आया है। स्वात नदी के ही निचले टुकड़े का नाम पुष्कलावती होना चाहिए। यूनानी लेखको के अनुसार इस प्रदेश मे अस्तेनेनोई नामक लडाकू कबीला रहता था। पाणिनि के एक सूत्र मे उसी का नाम हस्तिनानयन (६।४।१७४) मिलता है। वस्तुतः सुवास्तु-गौरी-कुभा-सिंधु के बीच का प्रदेश पाणिनि की जन्मभूमि शलातुर का पिछवाडा था। अपने घर के आँगन की तिल-तिल भूमि से उनका परिचित होना स्वाभाविक था।

सिंधु—प्राचीन सिंधु नद आजकल की सिंध है। सिंधु के नाम से उसके पूर्वी किनारे की तरफ पंजाब मे फैला हुआ प्राचीन सिंधु-जनपद (सिंधु-सागर दुआब) था, जिसका पाणिनि ने अपने सूत्र मे उल्लेख किया है (सिंधुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ४।३।९३)। इस समय जो सिंध प्रांत है उसका पुराना नाम सौवीर था। उसका भी उल्लेख पाणिनि ने सौवीर के गोत्रो का परिचय देते हुए (४।१।१४८) किया है। सिंधु नदी कैलास के पश्चिमी तटान से निकलकर काश्मीर को दो भागो मे बाँटती हुई गिलगिट-चिलास (प्राचीन दरद् देश) मे घुसकर दक्षिणवाहिनी होती हुई दरद् के

चरणों से पहिली बार मैदान में उतरती है। इस भौगोलिक सचाई को जान कर प्राचीन भारतवासी सिंधु को 'दारदी सिंधुः' कहते थे। 'प्रभवति' (४।३।८३) सूत्र पर काशिका मे 'दारदी सिंधुः' उदाहरण आया है। दरद् मे नीचे उतर कर सिंधु पूर्वी और पच्छिमी गंधार की सीमा बनाती थी। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला थी (४।३।९७)। यहाँ सिंधु के पच्छिम मे उर्दि (उड्डियान) और पूरब मे उरशा जनपद (वर्तमान हजारा) था। यही पर पच्छिम से आनेवाली कुभा (काबुल) नदी मिलती है। कुभा और सिंधु के कोण मे पाणिनि का जन्मस्थान शलातुर था।

इस प्रदेश से पाणिनि का अति सूक्ष्म परिचय था। शलातुर ओहिंद से केवल चार मील है। ओहिंद मध्यकाल का उद्भाण्डपुर था, जहाँ सिंधु नदी को पार करने के लिये नौक्रम या घाट लगता था। यही पर उत्तरपथ (५।१।७७) नाम का राजमार्ग उत्तरी भारत और बाल्हीक-कपिशा को मिलाता हुआ सिंधु नदी पार करता था। पूर्वी गंधार की राजधानी तक्षशिला उद्भाण्ड से लगभग साठ मील पूरब थी और लगभग इतनी ही दूर पश्चिम मे पश्चिमी गंधार की राजधानी पुष्कलावती (चारसद्दा) थी। सिंधु के उस पार के इलाके का पुराना नाम सभापर्व में 'पारे सिंधु' (सभापर्व ५१।११) दिया है जो 'पारेमध्ये षष्ठ्या वा' (२।१।१८) सूत्र से सिद्ध होता है (पारे सिंधोः पारेसिंधु)। यह प्रदेश अच्छे घोडो के लिये सदा से प्रसिद्ध रहा है। पाणिनि ने सिंधु-पार की चंचल घोडियो के लिये 'पारेवडवा' नाम दिया (६।२।४२) है। सिंधु के पूरबी ओर के घोड़े जो सिंधु जनपद (सिंधु-सागर दुआब) के लंबे मैदानो में विचरते थे, सैंधव नाम से भारतीय साहित्य मे विख्यात रहे हैं। सिंधु नद के पच्छिम और काबुल नदी के दक्षिण मे प्राचीन आप्रीत (वर्तमान अफ्रीदी) रहते थे जिनका पाणिनि ने राजन्यादि गण (४।२।५३) मे उल्लेख किया है। इनके प्रदेश का नाम आजकल अफ्रीदी-तीरा है। आप्रीतो के साथी मधुमत (वर्तमान मोहमंद) अप्रीदी इलाके के उत्तर काबुल नदी के उस पार स्वात और कुनड़ (चितराल) नदियो के दुआबे मे बसे थे। यह आजकल का बाजौर—दीर प्रदेश है। पाणिनि ने मधुमंतो का सिन्ध्वादि (४।३।९३), कच्छादि (४।२।१३३) गणों में उल्लेख किया है (मधुमंतो के लिये और भी द्रष्टव्य भीष्म पर्व ९।५३) पतंजलि ने द्वीरावतीक देश और त्रीरावतीक देश (१।४।१ वा० १९), इन दो भौगोलिक नामो के जोड़े का उल्लेख किया है। गौरी (पंजकोरा) और वास्कर (कुनड) इन दो नदियो के बीच का दीर प्राचीन द्वीरावतीक जान पड़ता है जो मधुमंतो (मोहमंदो) का प्रदेश था। इसी प्रकार कुभा (काबुल), वरा (बारा नदी जिसपर पेशावर है) और सिंधु, इन तीनो नदियो के बीच का तीरा प्राचीन त्रीरावतीक था जहाँ आप्रीत या अप्रीदी रहते थे। वरा नदी का उल्लेख भीष्म पर्व की नदी सूची मे आया है (वरा वीरकरा चैव, नीलकंठी संस्करण ९।२६)।

सिंधु की पश्चिमी सहायक नदी कुर्रम के किनारे निचले हिस्से में बन्नू की दून है। इसका वैदिक नाम क्रुमु था। इसका ऊपरी पहाड़ी प्रदेश आज भी कुर्रम कहलाता है और निचला मैदानी भाग बन्नू। पाणिनि ने इसी को वर्णु नद के नाम से प्रसिद्ध वर्णु देश कहा है (वर्णौ वुक्, ४।२।१०३, काशिका, वर्णुनाम नदस्तत्समीपो देशो वर्णुः)। सुवास्त्वादि (४।२।७७) गण के अनुसार वर्णु के पास का प्रदेश 'वार्णव' कहलाता था। इसी की सीध में सिंधु के पूरब की ओर केकय जनपद (७।३।२) था जिसमें सैंधव (सेंधा नमक) का पहाड़ था, जो आधुनिक जेहलम, गुजरात और शाहपुर जिलों का केंद्रीय भाग है। अपने अंतिम भाग में सिंधु नदी सौवीर देश (४।१।१४८) में प्रवेश करती है और फिर समुद्र में मिल जाती है। यह प्रदेश सिंधुकूल और सिन्धुवक्त्र कहलाता था। इस प्रकार सिन्धु नदी से संबंधित भूगोल का अष्टाध्यायी और उसके प्राचीन टीका ग्रंथों में विस्तृत उल्लेख आ गया है।

पंजाब की नदियाँ—पंजाब की नदियों में विपाश् (व्यास) सूत्र में ही उल्लेख है। उसके किनारे के कुओं से पाणिनि का परिचय था। व्यास के दाहिने किनारे या बाँगर के कुएँ पक्के होते हैं और बाएँ किनारे या खादर के कुएँ हर साल पानी भर जाने के बाद फसल के समय कच्चे खोद लिए जाते हैं। उनका यह भेद कुओं के नामों में प्रकट होता था। काशिका के अनुसार दत्त का बनवाया कुआँ दात्त और गुप्त का गौप्त कहलाता था। जो टिकाऊ नाम थे उनके आदि स्वर का उच्चारण उदात्त होता था। पर व्यास के दक्खिनी किनारे के कच्चे कुओं के नामों में यह उदात्त उच्चारण अन्तिम स्वर पर पड़ता था।

पंजाब का नाम पाणिनि के समय में वाहीक था जिसकी व्याख्या महाभारत के अनुसार 'सिन्धु और उसकी सहायक पाँच नदियों के बीच का प्रदेश' थी।[1] इनमें से चन्द्रभागा (आधुनिक चिनाब) का नाम बह्वादि गण में (४।१४५) अन्तर्गण सूत्र के रूप में आया है। पाणिनि के अनुसार भिद्य और उद्ध्य दो नदों के नाम थे (भिद्योद्ध्यौ नदे ३।१।११५)। साहित्य में अन्यत्र इनका उल्लेख नहीं मिलता, केवल कालिदास ने रघुवंश में राम-लक्ष्मण के जोड़े की उपमा देने के लिये इनका उल्लेख किया है।[2] बढ़िया से अपने किनारों को तोड़-फोड़ डालनेवाली ये दो बरसाती नदियाँ थीं जिन्हें आचार्य ने प्रसन्नतावश नद कहा है। काशिका के 'उद्ध्येरावति' उदाहरण से स्पष्ट है कि उद्ध्य इरावती (वर्तमान रावी) की सहायक नदी थी। 'विशिष्टलिंगो नदी देशोऽग्रामाः' (२।४।७) सूत्र के अन्य उदाहरण गंगाशोणम् और

---

१. पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तराश्रिताः।
वाहीका नाम ते देशाः ··· ········ ·· ॥ (कर्ण पर्व ४४।७)

२. वीचिलोलभुजयोस्तयोर्गतं शैशवाच्चपलमप्यशोभत।
तोयदागम इवोद्ध्यभिद्ययोर्नामधेयसदृशं विचेष्टितम् ॥ (रघुवंश ११।८)

प्रत्युदाहरण गंगायमुने मे प्रधान और सहायक नदियो के नामों को मिलाकर बननेवाले समास बताए गए हैं। जो नदी जिसमे मिलती है उन दोनो के आधार पर भाषा में नदी नामो के जोड़े बनते हैं। उद्धय का वर्तमान नाम 'उझ' है। यह जम्मू इलाके के जसरोटा जिले मे होती हुई कुछ दूर पंजाब में बहकर गुरदासपुर जिले मे रावी के दाहिने किनारे पर मिल गई है। उझ के लगभग १५ मील पश्चिम जम्मू प्रदेश से ही वई नाम की दूसरी नदी गुरदासपुर जिले मे ही रावी मे मिली है, यही प्राचीन भिद्य ज्ञात होती है। इस प्रकार भिद्येरावति, उद्ध्येरावति शब्दो का भाषा में प्रयोग हुआ होगा।

देविका—इस नदी का उल्लेख ७।३।१ सूत्र मे हुआ है। भाष्य मे देविका के किनारे उगनेवाले चावल 'दाविकाकूला: शालयः' कहे गए हैं। देविका मद्रदेश मे बहनेवाली एक प्रसिद्ध नदी थी (विष्णुधर्मोत्तर पुराण, खंड १, १६७।१५)।[1] वामन पुराण अध्याय ८४ के अनुसार यह रावी को सहायक नदी थी, इससे इसकी निश्चित पहचान देग नदी के साथ होती है जो जम्मू की पहाड़ियो से निकलकर स्यालकोट, शेखूपुरा जिलो में होती हुई रावी मे मिल जाती है। देग नदी हर बरसाती बढ़िया मे अपने किनारो पर रौसली (रजस्वला या बरसाती) मिट्टी की एक उपजाऊ तह छोडती है। आज भी उसके किनारे कई प्रकार के बढ़िया सुगन्धित बासमती चावल होते हैं जो देविका के पास में ही स्थित मंडी मुरीदके और कामोकी से बाहर भेजे जाते हैं। आज तक पंजाब मे स्यालकोटी चावल प्रसिद्ध हैं जो प्राचीन मद्र के दाविका-कूल शालि ही हैं।

अजिरवती—गंगा के कांठे की नदियो में अजिरवती का नाम अष्टाध्यायी मे आया है (६।३।११९)। यही अचिरवती (वर्तमान राप्ती) नदी थी, जिसके किनारे प्राचीन श्रावस्ती स्थित थी।

सरयू—इसका नाम अष्टाध्यायी मे आता है, जिससे 'सारव (सरय्वां भवं, ६।४।१७४) विशेषण बनता था। सरयू नाम की प्रसिद्ध नदी तो कोसल जनपद मे है किन्तु पच्छिमी अफगानिस्तान की हरिरूद नदी भी, जिसके किनारे हेरात बसा है, प्राचीन ईरानी भाषा मे हरयू कहलाती थी जो संस्कृत सरयू का रूप है। ईरानी सम्राट् दारा के लेखो मे यहाँ के निवासी को 'हरइव' कहा गया है जो संस्कृत 'सारव' का रूप है।

चर्मण्वती—विन्ध्याचल की नदियो मे चर्मण्वती (चम्बल) का नाम सूत्र मे आया है (८।२।१२)

शरावती—कुरुक्षेत्र की घग्घर नदी के साथ इसकी पहचान ऊपर कही गई है। यह प्राच्य और उदीच्य देशो के बीच की सीमा थी।

---

१. उमादेवीतिमद्रेषुदेविका या सरिद्वरा।

रुमण्वत्—सूत्र ८।२।१२ मे रुमण्वत् शब्द का उल्लेख है। काशिका के अनुसार लवण के स्थान मे रुमण् आदेश होने से यह शब्द बना है (लवण शब्दस्य रुमणभावो निपात्यते)। इसका सम्बन्ध रुमा (लूणी नदी) नदी से जान पडता है जो सांभर झील से निकलती है।

रथस्या—पारस्कर प्रभृति गण मे 'रथस्या' नाम की नदी का उल्लेख है (६।१। १५७)। भाष्य में इसका रूप रथस्पा है। जैमिनीय ब्राह्मण मे रथस्या है (डा० कला, जैमिनीय ब्राह्मण, अवतरण २०४)। ऋक्तंत्र प्रातिशाख्य (४।७।५) मे भी रथस्या आया है। महाभारत के आदि पर्व मे सरस्वती और गंडकी के बीच की सात पावन नदियो में इसका नाम रथस्या है।[1] रथस्वा पचाल देश की रामगगा नदी (अपर नाम रथवाहिनी) थी जो ऊपरले भाग मे अब भी रुहुत कहलाती है।[2] यूनानी लेखको के अनुसार गंगा से ११९ मील पूर्व मे 'रहदफ' (Rhodopha) था जो रथस्पा का ही विगडा हुआ रूप है। मध्यकालीन कोशो मे पचाल (बरेली जिले) का पुराना नाम प्रत्यग्रथ दिया है। यही रामगंगा नदी बहती है। रथस्या और प्रत्यग्रथ का अर्थ एक सा है—'जहाँ पहुँचकर रथ ठहर जायें या पीछे मुड जायें'। पंचाल जनपद के लिये यह संज्ञा बढते हुए आर्यों के अभियान के समय दी हुई जान पडती है, जब उनका रथ पंचाल भूमि मे आकर रुका। पाणिनि ने भी ४।१।१७३ सूत्र मे प्रत्यग्रथ जनपद का उल्लेख किया है।

नद्यां मतुप् (४।२।८५) सूत्र पर स्थान-नाम से रखे हुए नदी-नामो के उदाहरणों मे काशिका ने निम्नलिखित छः नाम दिए हैं—(१) उदुंबरावती (२) मशकावती (३) वीरणावती, (४) पुष्करावती, (५) इक्षुमती, (६) द्रुमती। ये सब प्राचीन नदियो के नाम थे। इनमे से उदुंबरावती, मशकावती, इक्षुमती, द्रुमती का उल्लेख भाष्य मे भी हुआ है (भा० ४।२।७१; काशिका ६।१।२१९ एवं ६।३।११९)।

उदुंबरावती—व्यास और रावी के बीच मे त्रिगर्त (कांगड़ा) को जहाँ से रास्ता गया है वहाँ गुरुदासपुर, पठानकोट और नूरपुर इलाके मे औदुंबरो के सिक्के मिले हैं। राजन्यादि गण (४।२।५२) मे उदुम्बर देश के क्षत्रियो को औदुम्बरक कहा गया है। महाभारत सभापर्व मे भी औदुम्बरो का उल्लेख है। औदुम्बरो के देश की ही किसी नदी का नाम उदुम्बरावती होना चाहिए।

मशकावती—जैसा ऊपर कहा गया है, मशकावती नाम मस्सग या मस्सक से संबंधित है तो गंधार मे आश्वकायनो (यूनानी अस्सकेनोइ) की राजधानी थी। यूनानियो के अनुसार मस्सग का किला पहाड़ी था जिसके नीचे नदी बहती थी।

---

१. गंगा, यमुना, सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती, गंडकी (आदिपर्व १७२।२०)। पूना संस्करण में यह श्लोक क्षेपक है, किंतु पाठ रथस्या ही है (पूना, आदि०, पृ० ६६६)।

२. द्रष्ट० इंपीरियल गजेटियर, उत्तर प्रदेश, भा० १ पृ० १६६।

अश्वक लोग स्वात नदी के काँठे मे रहते थे। उन्होने चारो ओर से दुरासद मशकावती (मस्सक) के दुर्ग मे युद्ध का साज सजाकर अभियान करते हुए सिकंदर का मार्ग छेक दिया था। वे जन्मजात लड़ाके थे। उनका जन-जन बच्चा कट गया, पर उन्होंने अंत तक युद्ध से मुह न मोडा और न विदेशी के सामने घुटने ही टेके। प्राचीन अश्वकों की कुछ मुद्राएँ तक्षशिला के पास मिली हैं। मशकावती, पुष्कलावती और वरणावती—ये तीनो राजधानियाँ पश्चिमी गंधार प्रदेश के त्रिकोण मे ही थी।

पुष्करावती—पुष्करावती या पुष्कलावती, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है सुवास्तु और कुभा के संगम पर स्थित पच्छिमी गंधार की राजधानी थी जिसके प्राचीन अवशेष आधुनिक चारसद्दा और प्राङ् मे पाए गए हैं। इस दृष्टि से सम्भव है, गौरी-सुवास्तु संगम तक की सम्मिलित धारा पुष्कलावती कही जाती हो। पाणिनि का 'नद्या मतुप्' (४।२।८५) सूत्र मे कहना है कि देश या स्थान के नाम से ये नदियो के नाम पड़े थे (तन्नाम्नो देशस्य विशेषण नदी, काशिका)। यूनानी लेखको के अनुसार सिकन्दर के समय पुष्कलावती मे अस्तनेनोइ लोगो का अधिकार था। ये ही पाणिनि के हास्तिनायन हैं जिनका सूत्र (६।४।१७४) और गणपाठ दोनो मे उल्लेख किया गया है (नडादिगण, ४।१।९९)।

वीरणावती—वीरणावती नदी ही प्राचीन वरणावती ज्ञात होती है। संभवतः अथर्ववेद (४।१।७) की वरणावती भी यही हो। स्वय पाणिनि ने वरणा वृक्षो के पास स्थित वरणा नाम की एक प्रसिद्ध नगरी का 'वरणादिभ्यश्च' (४।२।८२) सूत्र मे उल्लेख किया है (वरणानामदूरभवं नगर वरणा., काशिका)। यूनानी लेखको ने जिस किले का नाम अओरनोस (Aornos) दिया है वह प्राचीन वरणा ही ज्ञात होता है। इस प्रसिद्ध पहाडी दुर्ग मे आश्वकायनो के और सिकन्दर के बीच कसकर लड़ाई हुई थी। आश्वकायनो की शान्ति-काल की राजधानी मशकावती थी, किन्तु संकटकाल के लिये सुदृढ पहाड़ी दुर्ग वरणा (Aornos) था। उसकी ठीक पहचान श्री आरल स्टाइन ने ऊण (पश्तो ऊणरा) से की है जो इसी प्रदेश मे पर्वतवेष्टित स्थान है। इसी के पास वरणावती नदी होनी चाहिए।

इक्षुमती—इसकी पहचान गंगा की सहायक नदी फर्रुखाबाद जिले की ईखन (रामायण अयोध्याकाण्ड अ० ६८, इक्षुमती) से की जाती है।

द्रुमती—इसकी पहचान निश्चित नही। संभव है यह काश्मीर की द्रास नदी है।

४।२।८५ सूत्र के प्रत्युदाहरण मे भागीरथी और भैमरथी भी नदियो के नाम हैं। भैमरथी दक्षिण की भीमरथी या भीमा नदी है। सूत्र ६।३।११९ पर भी अमरावती आदि छः नदियो के नाम हैं।[1]

---

१. चक्रवाकवती, अमरावती, अजिरवती, खदिरवती, पुलिनवती, हंसकारंडववती (काशिका)।

धन्व

पाणिनीय धन्व शब्द का अर्थ मरुभूमि या रेगिस्तान है (धन्व शब्दो मरुदेश वचन: काशिका, ५।२।२१)। पतंजलि ने 'धन्वयोपधाद् वुञ्' (४।२।१२१) सूत्र के प्रसंग में 'पारेधन्व' और 'आष्टक धन्व' इन दो रेगिस्तानों का नाम दिया है। काशिका में 'ऐरावत धन्व' का नाम और है। पारेधन्व का सीधा अर्थ है धन्वन: पारम् पारेधन्व (पारेमध्ये षष्ठ्या वा, २।१।१८), अर्थात् मरुभूमि के उस पार का देश। राजस्थान की मरुभूमि या मारवाड का प्राचीन नाम धन्व ज्ञात होता है। इस धन्व प्रदेश के पार पश्चिम में आज तक सिंध प्रांत का पूर्वी भाग 'पारकर' कहलाता है। राजस्थान की मरुस्थली या धन्वस्थली में स्थली शब्द पाणिनि के अनुसार प्राकृतिक मैदान का वाचक है। (४।१।४२, स्थली भवति अकृत्रिमा चेत्)। थर पारकर, राजस्थान का थर, और पंजाब में सिंध-सागर दुआब का रेगिस्तानी थल, इन तीनों में एक ही थल[1] या स्थली शब्द है। मरुस्थली के उस पार प्राचीन सौवीर (आधुनिक सिंध) से आनेवाले व्यापारी सामान को 'पारे धन्वक' कहते रहे होंगे। आष्टक धन्व उत्तर-पश्चिमी पंजाब में अटक जिले का पुराना नाम ज्ञात होता है जिसे आज तक धन्नी कहते हैं। धन्नी-पोठोवार भौगोलिक नामों का प्रसिद्ध जोडा है जिसमें रावलपिंडी और अटक जिले शामिल हैं। रावलपिंडी पहाडी और अटक रेगिस्तानी प्रदेश हैं। ये दोनों ही पूर्वी गंधार के अंग थे। जैसे अटक का पुराना नाम आष्टक धन्व था वैसे ही रावलपिंडी प्रदेश की प्राचीन संज्ञा पृथ्‌जनपद थी (भाष्य ४।१।१२०) जिसकी स्मृति पोठवार नाम में है। पतंजलि ने अन्यत्र यहाँ की स्त्रियों को 'पार्थवृन्दारिका' और 'पृद्‌वृन्दारिका' कहा है (६।३।३४)। महाभारत में 'वृन्दाटक' समस्त पद के रूप में एक भौगोलिक नामों का जोडा नकुल की पश्चिमी दिग्विजय के प्रसंग में आया है। (सभापर्व २९।१०)। इनमें सिंध के दक्षिण-पूर्व अटक और उत्तर-पश्चिम में बुनेर का इलाका था। बुनेर का ही पुराना नाम वृन्द ज्ञात होता है। इस प्रकार वृन्द और अटक दोनों ही प्राचीन गंधार जनपद के अंग थे। वृन्द पश्चिमी गंधार में था और अटक पूर्वी गंधार में।

काशिका में आष्टक धन्व और पारेधन्व के अतिरिक्त तीसरा ऐरावत धन्व है। यह भारतवर्ष की सीमा के उस पार मध्य एशिया का गोबी रेगिस्तान जान पडता है। महाभारत में लिखा है कि पांडवों ने महागिरि हिमवंत को पार करके वालुकार्णव—बालू के समुद्र—के दर्शन किए (महाप्रस्थानिक पर्व २।१,२) और उसी के

---

१. वर्णुपथ जातक से ज्ञात होता है कि वर्णुपथ एक रास्ते का नाम था जो बहुत बारीक जलते हुए बालू के रेगिस्तान को पार करता था। पंजाब के थल के उस पार वर्णु या बन्नू के देश को जानेवाला मार्ग वर्णु पथ था।

पास महापर्वत मेरु को देखा। मेरु निश्चयपूर्वक पामीर का पठार है जहाँ से पूर्व में सीता (यारकद) और पश्चिम मे वक्षु (आमू दरिया) निकलती थी। मेरु के ही उत्तर मे उत्तर कुरु था।[1] भीष्म पर्व के अनुसार यही ऐरावत वर्ष था (भीष्म० ६।७)। अतएव ऐरावत वर्ष के वालुकार्णव या वडे रेगिस्तान और ऐरावत धन्व दोनो का स्थान मध्यएशिया का वडा रेगिस्तानी प्रदेश ही ज्ञात होता है।

अध्याय २, परिच्छेद ४–जनपद

सूत्रकाल में जनपद भारतीय भूगोल का सबसे महत्वपूर्ण शब्द था। वस्तुतः भारतीय इतिहास मे युग-विभाग की दृष्टि से सूत्रकाल का ठीक नामकरण महाजनपद युग है। इस समय सारा देश जनपदो मे वँटा हुआ था। उनकी विस्तृत सूचियाँ भुवनकोश के नाम से लिपिवद्ध कर ली गई थी, जो महाभारत आदि[2] प्राचीन ग्रथो मे सुरक्षित हैं। पाणिनीय भूगोल का प्रधान अंग जनपद विभाग है। सांस्कृतिक, राजनैतिक, भौगोलिक और भाषा की दृष्टि से प्रत्येक जनपद स्वाभाविक इकाई होता था। यूनानी पुरराज्यो के समान ही और लगभग उसी काल मे इस देश मे जनपद राज्यों का ताता सारे देश मे फैला हुआ था। इसका विस्तृत विचार आगे किया जायगा। काशिकाकार ने गाँवो के समुदाय को जनपद कहा है—'ग्रामसमुदायो जनपद:' (४।२।१)। यहाँ ग्राम शब्द मे नगर का भी अतर्भाव समझना चाहिए। वस्तुत: जनपद मे नगर और गांव दोनो शामिल थे। जनपदो की राजनीतिक सीमाएँ वदलती रहती थी, किंतु उनके सास्कृतिक जीवन का प्रवाह न टूटता था। भाषाओं की इकाई के रूप मे कितने ही पुराने जनपद अभी तक वचे रह गए हैं, जैसे पैशाची भाषा का क्षेत्र दरद् जनपद, व्रजबोली का शूरसेन जनपद, अवधी या कोसली भाषा का कोशल जनपद, मगधी का मगध जनपद।

जनपदो का जो विस्तार फैला हुआ था उसमे एक जनपद को दूसरे जनपद से अलग करनेवाली नदी-पर्वत आदि की प्राकृतिक सीमाएँ थी, एवं दो वडे जनपदो के वीच मे छोटे छोटे जनपद भी सीमाएँ वनाते थे। काशिकाकार ने लिखा है कि एक जनपद की सीमा दूसरा जनपद ही हो सकता हैं, गाँव नही (जनपदतदवध्योश्च, ४।१।१२४ तदवधिरपि जनपद एव गृह्यते न ग्राम:)। जैसे वडे जनपदो के नामो में

---

१. मेरोः पार्श्वे तथोत्तरे। उत्तराः कुरवो राजन् पुण्याः सिद्धनिषेविताः॥

(भीष्म पर्व ७।२)

२. जनपद सूचियाँ—महाभारत, भीष्म पर्व, अध्याय ९; मार्कण्डेय पुराण, अध्याय ५७; वायुपुराण, अध्याय ४५; ब्रह्माण्ड पुराण अ० ४९; मत्स्य पुराण अ० ११४; वामन पुराण अ० १३; ब्रह्मपुराण, अ० २७। भीष्म पर्व की जनपद-सूची में लगभग २५० जनपदों के नाम हैं। एक बार प्रारंभ हुई यह परंपरा बाद तक चलती रही।

प्रत्यय लगाकर विशेषणवाचक शब्द बनते थे, वैसे ही उनकी सीमा के छोटे जनपदो से भी। दो पड़ोसी जनपदो के नामो के जोड़े भाषा मे एक साथ प्रसिद्ध हो जाते थे। प्राचीन साहित्य में उनके उदाहरण प्रायः मिलते हैं, जैसे सिंधु-सौवीर, मद्र-केकय, गंधार-केकय, कपिश-कंबोज, शिबि-उशीनर, मद्र-गंधार, पत्ति-सौलेय शाल्व-मत्स्य, कुरु-पचाल, काशि-कोसल, अंग-मगध, अवन्त्यश्मक, चेदिवत्स, मत्स्य-शूरसेन, वृजि-मल्ल, दार्व-अभिसार आदि। पाणिनि मे कार्तकौजपादि गण (६।२।३७) के 'अवन्त्य-श्मक' आदि शब्दो मे भाषा के इस नियम के उदाहरण पाए जाते हैं। दो पड़ोसियो के नाम साथ बोलने की आकांक्षा प्रत्येक भाषा में रहती है।

जो जनपद विस्तार मे बड़े थे उनके कई हिस्सो के अलग-अलग नाम भी पड़ते थे। ऐसे कई जनपदो के नाम व्याकरण साहित्य के उदाहरणो मे बच गए हैं, जैसे पूर्वमद्र, अपरमद्र (४।२।१०८), पूर्व पचाल, अपर पंचाल (६।२।१०९)। इस प्रकार दिशावाची शब्द जोड़कर जनपद के विभागों का नामकरण करने के लिये पाणिनि ने विशेष नियम बताया है (दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु, ६।२।१०३)। मद्र जनपद बहुत बड़ा था। रावी से झेलम तक उसका विस्तार था। बीच की चनाब नदी उसे दो हिस्सो मे बाँटती थी। स्वभावत. झेलम और चनाब के बीच का पच्छिमी भाग अपरमद्र (आजकल का गुजरात जिला) और चनाब एवं रावी के बीच का भाग पूर्वमद्र (आधुनिक स्यालकोट और गुजरावाला जिले) कहलाता था। मद्र जनपद की राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी। वस्तुतः मद्र ही ठेठ पंजाब था। यही के राजा शल्य और अंग देश के राजा कर्ण की तू-तू मैं-मैं का सजीव वर्णन महाभारत के कर्णपर्व में आया है जिसमे ठेठ पंजाब के रहन-सहन का चित्रण है। पूर्वी मद्र का निवासी पौर्वमद्र और पच्छिमी मद्र का आपरमद्र कहलाता था। ये नाम लोक मे बिना कारण प्रयुक्त नही हो सकते। स्यालकोट और गुजरात की बोली, आचार, वेश और लोगो के रहन-सहन और स्वास्थ्य मे जो भेद और विशेषताएँ आज भी हैं उनको सूचित करने के लिये पौर्व-मद्र, आपरमद्र नामो की आवश्यकता पड़ी होगी।

इसी तरह पचाल जनपद के तीन हिस्से थे—(१) पूर्व पचाल (२) अपर पंचाल और (३) दक्षिण पचाल (७।३।१३)। महाभारत के अनुसार दक्षिण और उत्तर पचाल के बीच गंगा नदी सीमा थी। एटा-फर्रुखाबाद के जिले दक्षिण पचाल थे। ज्ञात होता है कि उत्तर पंचाल के भी पूर्व और अपर दो भाग थे, दोनो को रामगंगा नदी बाँटती थी। ये ही भाग व्याकरण के पूर्व-पंचाल अपर पचाल हैं। इसी प्रकार समस्त जनपद अथवा उसके आधे भाग के वाचक नाम भाषा मे चालू हो जाते थे जिनके लिये विशेष सूत्र मे विधान किया गया है (सुसर्वार्धाज्जनपदस्य, ७।३।१२); जैसे सर्वपंचाल, अर्धपंचाल।

संस्कृत भाषा का यह नियम है कि जनपदवाची नाम सदा बहुवचन में आते है, जैसे पचालाः, कुरवः, मत्स्या., अगा', वगा', मगधाः, काशय., अवतय', गधाराः, आदि। जनपद या जातीय भूमियो के इतिहास मे तीन अवस्थाएँ देखी जाती है। सबसे पहिले घुमतू कबीलो का युग था, वे जन कहलाते थे। फिरदर अवस्था मे जन का सबध भूमि से निश्चित नही हुआ था। एक जनपद के सदस्य आपस मे रक्त सबध से बँधे थे। घुमंतू या उठाऊ-चूल्हा जन समय पाकर स्थान-विशेष पर बस गया। उसका वह पद या ठिकाना जनपद कहलाया। जन के जो क्षत्रिय थे, उन्ही मे जनपद की मिलकियत या ठकुराई कायम हुई और इस लिये जनपद का नाम भी वही हुआ जो जन के क्षत्रियो का था। जैसे कुरवः क्षत्रियाः और कुरव. जनपदः। यही कारण है कि संस्कृत मे जनपदो के नाम बहुवचनात ही मिलते हैं। कुरवः = (१) कुरु क्षत्रिय लोग, (२) कुरुओ का प्रदेश या भूमियाँ (कुरूणा निवासः)। स्पष्ट है कि यहाँ एक ही कुरव. शब्द के दो अलग-अलग अर्थ हैं। व्याकरण की माँग है कि 'कुरुओ का निवास', इस विशेष अर्थ को प्रकट करने के लिये मूल कुरु शब्द मे एक प्रत्यय लगना चाहिए। पाणिनि का मत है कि प्रत्यय तो अवश्य लगता है किंतु उसका लोप हो जाता है। 'जनपदे लुप्' (४।२।८१) सूत्र का यही प्रयोजन है। वस्तुत पाणिनि को यह सूत्र बनाने की आवश्यकता न थी। क्षत्रिय-नाम और जनपद नाम, इन दोनो की एकता लोक से सिद्ध थी। कुरु क्षत्रिय यहाँ बसे हुए हैं, अतएव यह प्रदेश कुरु कहलाता है, इस तरह का अन्वर्थ ज्ञान जनपदवाची 'कुरव.' शब्द का व्यवहार करनेवालो के मन मे नही आता था, बल्कि वे उस नाम को स्वयसिद्ध समझकर उसका व्यवहार करते थे। सिद्धात रूप से इस स्थिति को पाणिनि ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि यौगिक अर्थ की प्रतीति न होने के कारण 'कुरवः', 'पचाला', इन शब्दो मे निवासवाची प्रत्यय लगाकर फिर उसका लोप करने के झझट मे न पड़ना चाहिए। लुब् [अशिष्यः] योगाप्रख्यानात् (१।२।५४) इस महत्त्वपूर्ण सूत्र का यही प्रयोजन है।

इस प्रकार जन और जनपद विकास की दो अवस्थाएँ हुईं। जब देश का नाम 'कुरव' हुआ, तब उस जनपद मे कुरुक्षत्रियो के अलावा और भी लोगो का आकर बस जाना स्वाभाविक था। अलग-अलग पेशे के और अलग-अलग वर्ण और जातियो के लोग वहाँ आकर बस गए और इस प्रकार सम्मिलित जनपदीय जीवन का विकास हुआ। जातको मे पेशेवर लोगो के द्वारा जनपदीय आर्थिक जीवन को समृद्ध करने का अच्छा चित्र मिलता है। पाणिनि ने भी जनपदो में बढती हुई इस हुनरमदी या पेशो का 'जानपदी वृत्ति' के नाम से उल्लेख किया है (४।१।४२)। जनपदीय जीवन मे इतर लोगो के भर जाने पर भी राजनैतिक जीवन प्राचीन जन के उत्तराधिकारी क्षत्रियो के हाथ मे ही रहा। औरो से इनकी पृथक्ता सूचित करने के लिये

ये क्षत्रिय लोग 'जनपदिन्' कहलाए, अर्थात् प्राचीन 'जन' के स्थान में 'जनपदिन्' नई संज्ञा व्यवहार में आई (जनपदिनः = जनपदस्वामिनः क्षत्रियाः, ४।३।१०० सूत्र पर काशिका)। जहाँ तक भौगोलिक नामों का प्रश्न है, जन और जनपद की पूर्ववर्ती स्थिति में जन से जनपद का नाम पड़ा था (जैसे कुरुओं से 'कुरवः' जनपद)। किन्तु जनपद और जनपदिन् नामों की उत्तरकालीन स्थिति में जनपद के नाम से जनपद-स्वामी क्षत्रियों का नाम पड़ा समझा गया, जैसे 'कुरवः' जनपद जिनका निवासस्थान था वे क्षत्रिय 'कुरुजनपदिन' कहलाए। देश और वहाँ के क्षत्रिय दोनों के नाम भी बहुवचन में समान होते थे, इस लौकिक सचाई का पाणिनि ने शब्दों की उपमा के साथ स्पष्ट उल्लेख किया है—

जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने (४।३।१००)।

जनपद राजनैतिक दृष्टि से दो प्रकार के हो गए थे—एक संघ और दूसरे एक-राज। संघ शासनवाले जनपदों में क्षत्रियगणों का राज्य था। वे क्षत्रिय और जनपद एक नाम से पुकारे जाते थे, जैसा कि हम देख चुके हैं। इधर एकराज जनपदों में, जहाँ एक व्यक्ति राजा होता था, स्थिति यह थी कि जनपद के राजा का नाम और जनपद के प्रत्येक नागरिक क्षत्रिय के पुत्र का नाम एक-सा होता था।[1] जैसे पचाल क्षत्रिय का लड़का पांचाल और पचाल जनपद का राजा भी पांचाल कहलाता था। प्राचीन साहित्य में माद्री, पांचाली, गांधारी आदि जो नाम मिलते हैं वे जनपद-स्वामी क्षत्रियों की लड़कियों के थे। ज्ञात होता है कि व्यवहार में इन नामों का बहुत अधिक महत्त्व रहा होगा और लोग अपने नामों के आगे जनपदवाची विशेषण नियमपूर्वक लगाते रहे होंगे, तभी पाणिनि ने विस्तार से इस प्रकार के नामों की व्युत्पत्ति पर विशेष ध्यान दिया है (४।१।१६८-१७३)।

एक जनपद में बसनेवाले सब लोग आपस में 'सजनपद' कहलाते थे (समानः जनपदः सजनपदः, ६।३।८५)। समान संबंध की यह भावना एक जनपद में रहने-वाले ऊँच नीच सभी लोगों में आजतक चली आई है। जैसे, सब ब्रजवासी इतर जनों की अपेक्षा सजनपद संबंध के कारण आपस में अधिक सांनिध्य का अनुभव करते हैं। यही बात मद्र, मगध, सुराष्ट्र आदि जनपदों के विषय में भी चरितार्थ होती है।

महाजनपद-युग के सोलह जनपदों के नाम बौद्ध साहित्य में प्रायः आते हैं। उनमें से ये नौ नाम पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में दिए हैं—मगध, काशि, कोसल, वृजि, कुरु, अश्मक, अवंति, गंधार और कंबोज। इस सूची में कंबोज से मगध तक

---

१. जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) जनपद का नाम और क्षत्रिय का नाम एक हो तो उस क्षत्रिय से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। इसपर कात्यायन का वार्तिक है—क्षत्रियसमानशब्दाज्जनपदात्तस्य राजन्यपत्यवत्, अर्थात् जनपद और क्षत्रिय का एक सा नाम हो तो राजा के लिये भी वही प्रत्यय होना चाहिए जो अपत्य के लिये होता है।

और दक्षिण मे अश्मक-अवंति तक का प्रदेश आ जाता है। राजनैतिक दृष्टि से पाणिनि के समय मे निम्नलिखित जनपद एकराज शासन के अधीन थे—मगध, कलिंग, सूरमस (असम प्रांत), कोसल, कुरु, प्रत्यग्रथ (पंचाल), अश्मक, साल्वेय, गाधारि, साल्व, कंबोज, अवंति, कुति। देश में यह राजनैतिक स्थिति किस समय थी ?—इस प्रश्न का घनिष्ठ संबंध पाणिनि के काल-निर्धारण से है और वही उसपर विचार किया जायगा।

अष्टाध्यायी मे जिन जनपदो के नाम आए हैं उनका ब्यौरा इस प्रकार है—

कंबोज (४।१।१७५)—पाणिनि के समय मे यह एकराज जनपद था। यहां का राजा और क्षत्रियकुमार दोनो कंबोज कहलाते थे (अपत्यवाची और राजावाची प्रत्ययो का 'कम्बोजाल्लुक्' सूत्र से लोप होता है)। कच्छादि (४।२।१३३), सिन्ध्वादि (४।३।९३) गणो मे सिंधु, वर्णु, गंधार, मधुमत्, कंबोज, कश्मीर, साल्व और कुलुन, इन आठ जनपदो के नाम सामान्य हैं जो पाणिनिकृत प्रतीत होते हैं। कंबोज की ठीक पहिचान भारत के उत्तर पच्छिमी भूगोल के लिये महत्त्वपूर्ण है। गधार, कपिश, वाल्हीक और कंबोज—इन चार महाजनपदो का एक चौगड्डा था। मध्य एशिया और अफगानिस्तान के नक्शे मे इनकी भौगोलिक स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जैसा कि हम देखेंगे, हिंदुकुश के उत्तर-पूर्व मे कंबोज, उत्तर-पच्छिम मे वाल्हीक, दक्षिण-पूर्व मे गंधार और दक्षिण-पश्चिम में कपिश था। आधुनिक 'पामीर' और 'बदख्शाँ' का सम्मिलित प्राचीन नाम कंबोज जनपद था और उसी से सटा हुआ 'दरवाज़' का इलाका था जिसकी पहचान डा० मोतीचद्र ने द्वारका से की है। इसे पेतवत्थु (परमत्थदीपनी टीका, पाली टेक्स्ट सोसाइटी भाग ३, पृ० ११३) के आधार पर डा० राइस डेविडस ने कंबोज की राजधानी मान लिया था, जो सप्रमाण नही है। कंबोज के दक्षिण मे पूर्व-पश्चिम फैली हुई हिंदुकुश की ऊँची पर्वत-शृंखला कंबोज को भारतवर्ष से अलग करती थी। बदख्शाँ का प्राचीन नाम मोतीचंद्र जी की पहचान के अनुसार द्व्यक्ष था। पाणिनि ने द्व्यक्षायण और त्र्यक्षायण देशवाची नाम साथ-साथ पढे हैं (ऐषुकारिगण ४।२।५४)। महाभारत में द्व्यक्ष, त्र्यक्ष और ललाटाक्ष[1] तीन जनपदो के नाम आते हैं। इनमें द्व्याक्षायण की पहचान बदख्शाँ से और ललाटाक्ष की लद्दाख (कश्मीर का उत्तर पूर्वी भाग) से की गई है। प्रोफेसर लासें ने कंबोज की पहिचान काशगर के दक्षिणी प्रदेश से ठीक ही की थी[2] किंतु उस पर अधिक ध्यान नही दिया गया।

---

१. सभापर्व, ५१।१७

२. कम्बोज की ठीक पहिचान के लिये मैं श्री जयचन्द्र विद्यालंकार और श्री डा० मोतीचन्द्र का आभारी हूँ (जयचन्द्र, भारतभूमि और उसके निवासी, पृ० २९७, ३०१; मोतीचन्द्र, उपायन पर्व, पृष्ट ४१)। कुछ विद्वान् कश्मीर के रजौरी और हजारा प्रदेश के साथ कम्बोज की पहिचान

कम्बोज के पश्चिम, वक्षु के दक्षिण और हिन्दूकुश के उत्तर-पश्चिम का प्रदेश वाल्हीक महाजनपद था। हिन्दूकुश के दक्षिण-पूर्व मे काबुल और सिंध नदी के कोने मे, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पश्चिमी गंधार का जनपद था। बाल्हीक और गन्धार के बीच मे गंधार से मिला हुआ उसके पश्चिम में कपिश जनपद था। पामीर के ठीक दक्षिण हुंजा और गिलगित का प्रदेश प्राचीन दरद् जनपद था।

यास्क ने लिखा है कि गत्यर्थक शवति धातु कंबोज देश मे ही बोली जाती है (शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाष्यते)। कम्बोज या वक्षु के उद्गम-प्रदेश की गल्चा नामक बोलियो मे यह विशेषता अभी तक पाई जाती है, जैसा श्री ग्रियर्सन ने स्पष्ट उल्लेख किया है (भारतीय भाषाओ का पर्यवेक्षण, भाग १०, पृ० ४६८,४७३, ४७४, ४७६, ५००; जयचद्र, भारत भूमि और उसके निवासी, पृ० २९७–३०३)।

प्रकण्व—पाणिनीय सूत्र ६।१।१५३ में प्रस्कण्व एक ऋषि का नाम है। इसी का प्रत्युदाहरण प्रकण्व है जो एक देश का नाम था (प्रकण्वो देश·, काशिका)। यूनानी इतिहास लेखक हीरोदोतस ने 'परिकनिओई' (Parikanioi) नामक जाति का उल्लेख किया है जिसकी पहिचान स्टेनकोनो ने फरगना के लोगो से की है (खरोष्ठी शिलालेख, भूमिका, पृष्ठ १८)। ज्ञात होता है कि प्रकण्व ही 'परिक-निओई' या फरगना का प्राचीन नाम था। इस प्रकार प्रकण्व देश भी मध्य एशिया के भूगोल का अंग था।[1]

गंधार—पाणिनि ने इस जनपद का अधिक पुराना नाम गाधारि एक सूत्र मे (४।१।६९) दिया है। वहाँ के राजा और उनके पुत्र दोनो गाधार कहलाते थे। बाद का नाम गंधार गणपाठ मे मिलता है। यूनानी नाम 'गदराइ' और 'गंदराइति' गाधारि के निकट हैं। ज्ञात होता है कि गाधारि मूल में जन की संज्ञा थी जिससे जनपद का नाम 'गांधारि' हुआ। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, गंधार महाजनपद कुनड़ या कादकर नदी से तक्षशिला तक फैला हुआ था। पश्चिमी गन्धार की राज-धानी पुष्कलावती (यूनानी पिउकलाउती) थी जहाँ स्वात और काबुल नदी के

किया करते हैं, जो भ्रांत है। इस प्रदेश का प्राचीन नाम अभिसार जनपद था। प्राचीन जनपदीय भूगोल की दृष्टि से सिंध और झेलम के बीच में उरशा, (हजारा), झेलम और चनाब के बीच में अभिसार (पुंछ राजौरी), एवं चनाब और रावी (जम्मू) के बीच में दार्व जनपद था। इसी कारण दार्वाभिसार नाम चरितार्थ होता है। इस प्रदेश में कम्बोज के लिये किसी भी प्रकार गुंजायश नहीं है। यदि कम्बोज यहाँ मान लें तो पड़ोसी जनपदों के अर्थ में 'कपिशकंबोज' समास नहीं बन सकता था।

१. अन्तगडदसाओ में विदेशी दासियों की एक सूची है—बर्बरी, यवनी, पल्हवी, इषिणी (ऋषिक या यूची), सिंहली, आरबी (अरब), पक्कणी, बहली (बाल्हीक देश की), मुरुण्डी, पारसीकी (मोतीचन्द्र, भारतीय वेशभूषा, पृ० १४१)। इनमें पक्कणी स्त्री प्रकण्व या फरगने की थी।

संगम पर वर्तमान चारसद्दा है। मार्कण्डेय पुराण में 'पुष्कला:' जनपद का नाम आया है (५७।३९), जिसका स्थान पुष्कलावती होना चाहिए। सुवास्तु और गौरी नदियो के बीच मे उड्डियान (प्राचीन उर्दि देश) था, जो गंधार का ही एक भाग था। यहाँ के बने हुए कवल पाडुकबल कहलाते थे जो पाणिनि के अनुसार (४।२।११) रथ मढने के काम मे आते थे।

सिंधु—सिंधु नद के पूर्व में सिंध सागर दुआब का पुराना नाम सिंधु था। सिंधु मे उत्पन्न मनुष्य सिन्धुक कहलाता था। (सिन्ध्वपकाराभ्या कन्, ४।३।३२)। सिन्धु मे जिसके पूर्वज रहते थे अर्थात् जिसका निकास सिन्धु जनपद से था, उसकी संज्ञा सैंधव होती थी (सिंधुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ४।३।९२)। पाणिनि ने कुछ सिन्ध्वत नामो का सकेत किया है (७।३।१९), जिसके उदाहरण में काशिका मे सक्तु-सिंधु और पानसिन्धु, इन दो भागो का उल्लेख है। ये दोनो नाम भोजन की स्थानीय आदतो को लेकर लोक मे चालू हुए थे। जहाँ के लोग सत्तू खाने के अभ्यासी थे वह भाग सक्तु सिंधु और जहाँ के लोग पान के शौकीन थे वह पानसिन्धु कहलाने लगा (सक्तुप्रधानाः सिंधव. सक्तुसिन्धव; पानप्रधाना: सिन्धव: पानसिन्धव:)। मालूम होता है ये नाम उत्तरी और दक्षिणी सिन्धु जनपद के लिये प्रयुक्त होते थे। उत्तरी सिन्धु दुआब मे जिला डेरा इस्माईल खाँ की तरफ आज भी सत्तू वहाँ का जातीय भोजन है। स्त्रियाँ सत्तू की सौगात भेजती हैं और यात्रा मे यात्री सत्तू साथ बाधकर चलते हैं। दूसरी ओर महाभारत मे सिन्धु के राजा जयद्रथ को क्षीरान्नभोजी कहा गया है (द्रोण पर्व ७६।१८)। जयद्रथ सौवीर (आधुनिक सिन्ध का उत्तरी भाग) और उसके ऊपर दक्षिण सिन्धु जनपद का राजा था। क्षीर-भोजन दक्षिण सिन्धु की विशेषता समझा जाता था। 'पान देशे' सूत्र अष्टाध्यायी (८।४।९) और चन्द्र व्याकरण (६।४।१०९) दोनो मे है। इसका उदाहरण देते हुए चान्द्रवृत्ति मे कहा है कि उशीनर के लोगो मे दूध पीने का आम रिवाज था। चनाव के पश्चिम में सिन्धु जनपद और पूरब मे उशीनर जनपद (झग मघियाना) था। वर्तमान मिंटगुमरी से लैया देराजत तक का कुल प्रदेश गायो के लिये प्रसिद्ध था। मिंटगुमरी की साहिवाल गाएँ आज भी प्रसिद्ध हैं। क्षीरपान यहाँ के भोजन की विशेषता है और पहले भी थी। चरक से भी इसका समर्थन होता है, जहाँ सैन्धव लोगो को दूध पीने का शौकीन कहा गया है (चिकित्सा स्थान, ३०।३१७)। पानसिन्धु प्रदेश का व्यक्ति जब कहीं जाता, वह सैन्धव कहलाता था और सक्तुसिन्धु का साक्तुसैन्धव।

'सिन्ध्वकराभ्या कन्' (४।३।३२) सूत्र के अनुसार देशवाची 'अपकर' शब्द से वहाँ का निवासी अपकरक कहलाता था। अपकर, बहुत संभव है, मियाँवाली जिले का भखर हो। सिंधु जनपद में यह दक्खिनी रास्ते का नाका था जहाँ सिन्धु नदी पार करके प्राचीन गोमती (आधुनिक गोमल) के किनारे गोमल दर्रे से गजनी को

रास्ता जाता था। व्यापारिक और सामरिक दृष्टि से भखर या भक्खर महत्त्वपूर्ण घाटा था।[1]

भारतीय साहित्य में सिन्धु-सौवीर, यह दो जनपद-नामों का जोड़ा प्रसिद्ध हो गया था। भौगोलिक दृष्टि से इन दोनों की सीमाएँ एक दूसरे से सटी हुई थीं, जैसा कि सौवीर की पहिचान से ज्ञात होगा।

सौवीर (४।१।१४८)—वर्तमान काल के सिन्धु प्रान्त या सिन्ध नद के निचले कोठे का पुराना नाम सौवीर जनपद था। इसकी राजधानी रोरुव (संस्कृत रोरुक)[2] वर्तमान रोड़ी है। यहाँ पुराने शहर के भग्नावशेष हैं। रोड़ी के उस पार सिन्धु के दाहिने किनारे का प्रसिद्ध स्थान सक्खर है जिसका पुराना नाम 'शार्कर' था जो पाणिनि के 'शर्करायाः वा' (४।२।८३) सूत्र में आया है। शर्करा से चातुर्थिक प्रत्यय लगाकर छः शब्दरूप बनते थे—(१) शर्करा, (२) शार्कर, (३) शर्करिक, (४) शार्करक, (५) शार्करिक और (६) शर्करीय। पाणिनि ने सौवीर देश के गोत्रों का सामान्य रूप से उल्लेख किया है। वहीं के फाटाहृति और मिमत गोत्रों का विशेष नामोल्लेख भी एक सूत्र में किया गया है (४।१।१५०) फाटाहृति गोत्र में उत्पन्न व्यक्ति फाटाहृत या फाटाहृतायनि और मिमत में उत्पन्न मैमत या मैमतायनि कहलाता था। मैमतायनि आचार्य का उल्लेख चरक-संहिता के आरम्भ में आयुर्वेद में रुचि रखनेवाले ऋषियों की नामावली में आया है (सूत्रस्थान, १।१३) भकशाप, यमुद, भागवित्ति और तार्णबिन्दव—इन सौवीर गोत्रों का भी काशिका ने पाणिनि-सूत्रों का उदाहरण देते हुए उल्लेख किया है (४।१।१४८-१४९)। इस समय सिन्धी नामों के अन्त में आनी प्रत्यय (जैसे बस्वानी, कृपलानी) देखा जाता है उसका मूल अष्टाध्यायी में 'आयनि' के रूप में है। भागवित्तियों की पहिचान बुगतियों से की जा सकती है जो सिन्ध के उत्तरी प्रान्त में आबाद हैं।

अन्यत्र पाणिनि ने सौवीर जनपदों के नगरों के नाम बनाने का भी उल्लेख किया है (स्त्रीषु सौवीर साल्वप्राक्षु, ४।२।७६)। इसका उदाहरण काशिका में दत्तामित्र की बनाई हुई 'दात्तामित्री' (दत्तामित्रेण निर्वृत्ता) नगरी है। यह उदाहरण पाणिनि से बाद का है। भारत के यूनानी राजा दिमित्रियस का संस्कृत नाम दत्तामित्र कहा जाता है।[3] उसने एक ओर सिन्धु तक का देश जीत लिया था

---

१. महमूद गजनवी गजनी से सीधे गोमल लाँघकर डेराइस्माइल खाँ के जरा नीचे भक्खर पर सिंध पार करता और इसी रास्ते भारत में आया करता था।

२. दंतपुरं कलिंगानां अस्सकानांच पोतनम्।
माहिस्सती अवंतीनां सोवीरानां च रोरुवम्॥

३. इसी का नाम प्राकृत में दिमित्र या दिमित था। दात्तामित्री नगरी के निवासी दानदाता का उल्लेख नासिक गुफा के लेखों में 'दातामितीयक' नाम से हुआ है।
(ल्यूडर्स कृत ब्राह्मी लेख सूची, स० ११४४)

और दूसरी ओर पुष्यमित्र शुग से भी उसका युद्ध हुआ था। महाभारत आदि-पर्व का यवनाधिप दत्तमित्र यही है जिसने तीन वर्ष मे गधर्व (वर्तमान गधार) देश जीतकर फिर सौवीर देश जीत लिया था (आदिपर्व १४१।२१-२३)। महाभारत मे यह प्रकरण लगभग शुगकाल के वाद जोडा गया होगा। पूना के संशोधित संस्करण के अनुसार यह श्लोक क्षेपक ठहरा है।

धूमादि गण मे सौवीर जनपद के कूल या समुद्री तट का उल्लेख है (कूलात्सौवीरेषु ४।१।१२७) यह कोटरी से लेकर समुद्र-तट तक फैले हुए सिन्ध के मुहाने या नदीमुख का पुराना नाम था। श्युआन् चुआङ् (सातवी शती) ने सौवीर जनपद के चार भाग कहे हैं—उपरला, विचला, निचला और कच्छ। उपरले भाग में पाणिनि के समय में शौद्रायण, मसूरवर्ण और मुचुकर्णि जनपद थे। उपरले सौवीर की राजधानी रोरुक (वर्तमान अलोर = अरवी अल् + रोर अर्थात् रोर नगर) थी। जव अलोर उजडा तव उसी के नाम से पास मे रोडी आवाद हुई। आज भी अलोर की जड़ में अभिजन नामक छोटा गाँव आवाद है जो वताता है कि रोडी से पहिले अलोर मे पूर्वजो की वस्ती थी (यत्र पूर्वैरुषितं सोऽभिजन., काशिका ४।३।९०)। विचला सौवीर ब्राह्मण जनपद था और निचला भाग सौवीरकूल था। चौथा भाग कच्छ स्वतंत्र जनपद था (४।२।१३३)

ब्राह्मणक—अष्टाध्यायी मे ब्राह्मणक एक देश का नाम है (ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्, ५।२।७१)। पतजलि के अनुसार यह एक जनपद था (ब्राह्मणको नाम जनपद., ४।२।१०४, वा० ३०) इसकी पहचान यूनानी लेखको के ब्राखमनोई (Brachmanoi, अरियन ६।१६, वर्तमान ब्राह्मणावाद, सिन्ध प्रान्त के मध्य में मीरपुर खास से लगभग २५ मील उत्तर) से ही की जा सकती है। यहाँ प्राचीन काल के विस्तृत ध्वंसावशेष हैं। राजशेखर ने काव्यमीमासा में पश्चिमी जनपदो की सूची मे इसे ब्राह्मणवह[१] कहा है। यूनानी लेखक प्लूटार्क के अनुसार यहाँ के निवासी दार्शनिक विद्वान् थे और अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये मर मिटने को तैयार रहते थे। उन्होने आयुधजीवी सघो की तरह डटकर सिकन्दर से भिडन्त की और अपने पडोसी राज्यों को भी स्वतन्त्रता की रक्षा मे युद्ध के लिये उभाडा (जायसवाल, हिन्दू राज्यतन्त्र)।

इसी जनपद से मिला हुआ दूसरा जनपद शूद्रो का था। पाणिनि ने ऐषुकारिगण (४।२।५४) मे शौद्रायणो का उल्लेख किया है। इस सूची मे उन देशो की गिनती है जिनका नाम वहाँ के निवासी जनो के अनुसार पड़ता था। पतंजलि ने अब्राह्मणक देश और अवृषलकदेश—इन दो भौगोलिक नामो के जोड़े का उल्लेख किया है

१. अरब भूगोलकार अबूरिहाँ ने इसका हिंदू नाम बमनह्वा दिया है जो ब्राह्मणवह का ठीक देशी रूप है।

(११४।१०-१९) यह स्पष्ट है कि अब्राह्मणक शौद्रायण जनपद की ओर अवृषलक ब्राह्मणक जनपद की सज्ञा होनी चाहिए। ब्राह्मणक जनपद की तरह शौद्रायण लोग (यूनानी रूप 'सोडराई') भी सिकन्दर से लडे थे। दिओदोरस ने लिखा है कि सोदराई सिन्ध नद के पूर्वी तट के प्रदेश मे और मस्सनई पच्छिमी तट पर थे। मस्सनई का शुद्ध रूप तोलेमी ने मुसरनई (Musarnai) दिया है जो पाणिनि का मसुरकर्ण या मसूरकर्ण (४।१।११२, २।४।६९) है। मिठनकोट से नीचे सिन्ध नदी के पच्छिम मुजफ्फ गढ़ जिला प्राचीन मसूरकर्ण का इलाका था।

यूनानी लेखको के अनुसार सिकन्दर ने शौद्रायण और मसूरकर्ण जातियो से सन्धि करने के बाद सिधु देश के मौसिकनस् नामक जनपद मे प्रवेश किया जो भारतवर्ष भर मे सबसे समृद्ध कहा जाता था। इसकी पहिचान पाणिनि के मुचुकर्ण से की गई है (कुमुदादिगण ४।२।८०) जहाँ के निवासी मौचुकर्णिक कहलाते थे। इनका स्थान उपरले सौवीर में शौद्रायणो के दक्षिण मे था। कनिंघम के अनुसार इनकी राजधानी अलोर अर्थात् प्राचीन रोरुक नगर थी।

पारस्कर (६।१।१४७)—अष्टाध्यायी मे पारस्कर पर्वत का नाम है (४।५।१०)। किंतु पतंजलि ने पारस्कर को एक देश का नाम कहा है (पारस्करो देश., ६।१।१५७) यह सिंध का पूर्वी जिला थर-पारकर जान पडता है। थर रेगिस्तानवाची थल का सिंधी रूप है। कच्छ के इरिण या रन्न प्रदेश के उत्तर का समस्त भूभाग पारकर देश था।

कच्छ (४।२।१३३)—सिंध के ठीक दक्षिण मे कच्छ जनपद है। पाणिनि ने कच्छी मनुष्यो को काच्छक कहा है और वहाँ के लोगो की कुछ विशेषताओ का भी सूत्र मे सकेत किया है (मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ४।२।१३४)। काशिका मे इसके तीन उदाहरण हैं—(१) काच्छकं हसितम् (कच्छवालो के हँसने का ढंग), (२) काच्छकं जल्पितम् (कच्छवालो के बोलने का ढग); (३) काच्छिका चूडा (कच्छवालो के सिर की चुटिया का ढग)।

कच्छी बोली मे वाक्य के अतिम भाग को कुछ तरल या प्रवाहित करके बोलते हैं। कच्छ देश मे लोहाने क्षत्रिय प्रसिद्ध हैं। पाणिनि ने नडादिगण मे नाडायन चारायण की भाँति लोह से लौहायन अपत्य अर्थ मे सिद्ध किया है। ज्ञात होता है कि ये लौहायन लोहाने ही हैं। इसी गणपाठ मे सौवीर के मिमत गोत्र और उनके अपत्य मैमतायन का भी उल्लेख है। लोहाने लोग अभी तक अपने सिर के बालो का अगला आधा भाग मुँडा हुआ रखते हैं, यही काच्छिका चूड़ा की विशेषता हो सकती है। काशिका ने इसी सूत्र के प्रत्युदाहरण मे कच्छी बैलो (काच्छः गौ.) का भी उल्लेख किया है। इस नस्ल के पतले सीगो वाले नाटे चचल बैल अभी तक प्रसिद्ध हैं।

एक दूसरे सूत्र में पाणिनि ने कच्छात देशवाची नामो का उल्लेख किया है

(कच्छाग्निवक्त्रगर्तोत्तरपदात् ४।२।१२६)। इसके उदाहरण में काशिका ने पुराने भौगोलिक नामो का एक जोड़ा दारुकच्छ और पिप्पलीकच्छ दिया है। दारुकच्छ काठियावाड (दारु = काष्ठ) के समुद्र-तट का प्रदेश और पिप्पलीकच्छ रेवा कांठे का सूरत से वडोदा तक का किनारा था जिसमे पीपला रियासत है, और ठीक समुद्र-तट पर भृगुकच्छ (वर्तमान भडोच) है। खभात की खाडी के मस्तक पर सावरमती (श्वभ्रमती) की धारा समुद्र में मिली है, उसकी दाहिनी ओर का समुद्रतट दारुकच्छ और बाईं ओर का पिप्पलीकच्छ कहलाता था।

सूत्र ४।२।१२६ पर अग्नि उत्तरपद वाले दो नाम कांडाग्नि और विभुजाग्नि काशिका मे आए हैं। विभुजाग्नि कच्छ प्रदेश का भुज ज्ञात होता है और काडाग्नि कंडाला वंदरगाह के उत्तर-पूरब मे तपता हुआ रेगिस्तान। ये दो नाम क्रमश कच्छ के छोटे रन्न और वडे रन्न (इरिण) ही हो सकते हैं।

केकय (७।३।२)—केकय जनपद वर्तमान झेलम, शाहपुर और गुजरात प्रदेश का पुराना नाम था, जिसमें इस समय खिउडा की नमक की पहाडी है। केकय जनपद राजाधीन था। वहाँ के निवासी (क्षत्रिय गोत्रापत्य) कैकेय कहलाते थे। भर्गादि गण में भी केकय का पाठ है।

मद्र (४।२।१३१)—मद्र जनपद प्राचीन वाहीक का उत्तरी भाग था। इसकी राजधानी शाकल (वर्तमान स्यालकोट) थी जो आपगा (वर्तमान अयक) नदी पर स्थित है। यह छोटी नदी जम्मू की पहाड़ियो से निकलकर स्यालकोट के पास से होती हुई वर्षा ऋतु मे चनाव से मिलती है। (कनिंघम, प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ २१२)। पतंजलि ने वाहीक ग्रामो में शाकल का नाम लिया है (४।२।१०४, वा० ३ पर भाष्य, शाकलं नाम वाहीक ग्रामः; काशिका ४।२।११७)। पाणिनि ने वाहीक को स्थान-नाम माना है, पर उसकी व्युत्पत्ति नही दी। कात्यायन ने बहिर् शब्द से ईकक् प्रत्यय जोडकर वाहीक की सिद्धि की है। महाभारत द्रोण-पर्व मे वहि और हीक नाम के पिशाचो (यक्षो) को यहाँ का स्थानीय देवता मानकर इस नाम की जो व्युत्पत्ति सुझाई गई है वह कभी लोक मे प्रसिद्ध रही होगी। पाणिनि के समय में मद्र जनपद के दो भाग थे—पूर्वमद्र और अपरमद्र (दिशोऽमद्राणाम् , ७।३।१३, ४।२।१०८)। मानचित्र देखने से पूर्वमद्र रावी से चनाव तक और पच्छिमी मद्र चनाव से झेलम तक का प्रदेश होना चाहिए। शाकल या स्यालकोट पूर्वी मद्र मे ही पड़ता है।

उशीनर (४।२।११७-११८)—पाणिनि के अनुसार उशीनर वाहीक का जनपद था (विभाषोशीनरेषु—उशीनरेषु ये वाहीक ग्रामा ; काशिका)। काशिका मे उशीनर के सुदर्शन और आह्वजाल नामक शहरो के नाम दिए हैं। पाणिनि ने उशीनर जनपद मे उन स्थानो का उल्लेख किया है जिनके अन्त मे कथा शब्द आता था, जैसे सौशमिकंथ

और आह्वरकंथ। कंथा एक भाषा का शब्द था, जिसका अर्थ था नगर। महाभारत में शिवि को उशीनर का राजा कहा गया है (राजानमौशीनर शिविम्, वन० १९४।२; द्रोण २८।१) शिवि की राजधानी शिविपुर थी जिसकी पहिचान वर्तमान शोरकोट (झंग जिले की एक तहसील) से की जाती है। वहाँ विस्तृत प्राचीन अवशेष हैं। ऐसा ज्ञान होता है कि रावी और चनाव के बीच का निचला भूभाग जो मद्र के दक्षिण मे था उशीनर प्रदेश कहलाता था। वह भी दो भागो में बटा था, आजकल के झङ्ग मघियाना वाला उत्तरी हिस्सा उशीनर जनपद था और दक्षिण मे शोरकोट के चारो ओर के इलाके का नाम शिवि जनपद होना चाहिए। 'शिवीना विषयो देश शैव.' यही था (४।२।५२)। राजनैतिक दृष्टि से कभी उशीनर तगड़े होते और कभी शिवि। दोनो का निकट का सम्बन्ध रहता था। आईन-अकबरी मे इस सारे इलाके को शोर कहा गया है जो शिविपुर के अधिक निकट है।

'पान देशे' (८।४।९) के उदाहरण में उशीनर जनपद के भोजन मे दूध-दही का विशेष प्रयोग कहा गया है। उशीनर जनपद गायो से भरा-पूरा देश था। उशीनर की अद्भुत गो-समृद्धि का परिचय द्रोणपर्व के इस वर्णन से मिलता है—'मेह की जितनी धाराएँ हैं, आकाश मे जितने तारे हैं, गंगा में जितने बालू के कण हैं, मेरु पर जितने ढोके हैं, समुद्र में जितने रत्न और जीव हैं, औशीनर शिवि ने यज्ञ में उतनी गायों का दान किया।'[1]

पाणिनि ने शिबि का नामोल्लेख नही किया। ज्ञात होता है पीछे उशीनर के बदले शिबि जनपद का नाम प्रसिद्ध हो गया। भाष्य में शिवि, गांधारि और वसाति के समान ही एक जनपद की संज्ञा है (४।२।५२ गाधार्यादिभ्यो वा, वा० २)।

अंबष्ठ—पाणिनि ने ८।२।९७ सूत्र मे अवष्ठ और आंबष्ठ इन दो नामो की अलग-अलग सिद्धि की है। पतंजलि के अनुसार अवष्ठ एक नाम था जो ४।१।१७१ सूत्र में अभिप्रेत है। (भाष्य ४।१।१७०)। यह जनपद राजाधीन था और इसके निवासी आम्बष्ठ्य कहलाते थे। महाभारत के अनुसार अंबष्ठ कौरवों की ओर से लड़े थे। उनकी गिनती औदीच्यो मे की गई है। अम्बष्ठो की पहिचान यूनानी लेखको के 'संवस्तइ' (Sambastai) या 'अवस्तनोइ' से की जाती है। ये अत्यन्त वीर थे और चनाव नदी के निचले भाग मे बसे हुए थे।

त्रिगर्त—पाणिनि ने त्रिगर्त देश के आयुधजीवी संघो का उल्लेख किया है। रावी, व्यास और सतलज, इन तीन नदी-दूनो के बीच का प्रदेश त्रिगर्त कहलाता था।

---

१. यावत्यो वर्षतो धारा यावत्यो दिवि तारकाः।
यावत्यः सिकता गाङ्ग्यो यावन्मेरोर्महोपलाः॥
उदन्वति च यावन्ति रत्नानि प्राणिनोऽपि च।
तावतीरददद् गावो शिबिरौशीनरोऽध्वरे॥ (द्रोण० ५७।६-७)

इसी का पुराना नाम जालधरायण भी था जिसका राजन्यादिगण (४।२।५३) में उल्लेख हुआ है। अब भी त्रिगर्त कांगडा का प्रदेश जालधर कहलाता है। रावी और व्यास के सँकरे नाके में होकर त्रिगर्त का रास्ता था और आज भी है। गुरुदासपुर-पठानकोट यही है, जहाँ से औदुम्बर गणराज्य के सिक्के मिले हैं। इस प्रदेश का चालू नाम कांगडा हो गया है। यहाँ सदा से छोटी-छोटी रियासतें रही हैं। महाभारत मे त्रिगर्त के ससप्तक योद्धा दुर्योधन की ओर से अपनी जान पर खेलकर लड़े थे। पाणिनि ने त्रिगर्त के छ संघ राज्यो का उल्लेख किया है जो सब आयुधजीवी थे (५।३।११६)। काशिका मे इनके नाम ये हैं—'कौंडोपरथ, दांडकि, क्रौष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त और जानकि।

अर्जुन की उत्तर-पश्चिमी दिग्विजय के सिलसिले में महाभारतकार ने भी त्रिगर्त और कुलूत (मूल पाठ उलूक) पहाडियो मे बसे हुए गणो और रजवाड़ो का उल्लेख किया है (सभापर्व २७।५-१६)। कुलूत (कुल्लू) की राजधानी नगर थी। सम्भव है कत्र्यादिगण (४।२।९) में पढा हुआ नगर यही हो। कुलूत के उत्तर मे चद्रभागा की दून का प्रदेश प्राचीन चम्पा (आधुनिक चबा) है। गणपाठ मे चंपा का नाम मिलता है। (४।२।८२) किन्तु उसकी प्राचीनता सदिग्ध है। कुलूत के दक्षिण मडी और सुकेत की रियासतें हैं। यवादिगण (८।२।६) मे मण्डमती नामक देशवाची शव्द आया है। सम्भव है उसका सम्बन्ध मण्डी से हो। सुकेत प्राचीन सुकुट्ट ज्ञात होता है जिसका उल्लेख सभापर्व मे कुलिन्दो के साथ किया गया है।

सतलज के दक्षिण टोस नदी तक का प्रदेश प्राचीन समय मे कुलिन्द कहलाता था। पाणिनि ने दो गणो मे कुलून का उल्लेख किया है (सिध्वादि ४।३।९३; कच्छादि ४।२।१३३)। कुलिन्द, कुलुन और कुणिद एक ही नाम के रूपान्तर हैं, जिन्हे तोलेमी ने कुलिंद्रीन (Kulindrine) कहा है।

कलकूट (४।१।१७३)—सभापर्व के अनुसार कालकूट (पाणिनीय कलकूट) कुलिन्द प्रदेश मे था (२६।३।४)। जब अर्जुन, भीम और कृष्ण जरासंध को जीतने के लिये गुप्त रूप से निकले तो यद्यपि उन्हे कुरु जनपद से पूरब जाना था, तथापि वे पहले पच्छिम कुरुजागल (वर्तमान रोहतक हिसार) की ओर गए। वहाँ से उत्तर की ओर कुरुक्षेत्र में पद्मसर[1] की तरफ मुड़े, और आगे कालकूट जनपद पार करके तराई के साथ सटे हुए मार्ग से सरयू और गण्डक नदियाँ पार करते हुए मिथिला मे जा पहुँचे; फिर वहाँ से नीचे गंगा पार कर एकदम गोरथगिरि और राजगृह पर जा धमके (सभा० २०।२४-३०)। इस मार्ग मे कालकूट ठीक टोस (तमसा) और

---

१. कुरुक्षेत्र से ११२ मील और कौलग्राम से २ मील पच्छिम में अभी तक पद्मसर नामक सरोवर प्रसिद्ध तीर्थ है।

यमुना के प्रदेश (देहरादून, कालसी) मे पडता है। यह यमुना की उपरली धारा का यामुन प्रदेश था। अथर्ववेद मे हिमालय पर उत्पन्न होनेवाले यामुन अंजन का उल्लेख है (अथर्व ४।९।१०)। अजन के कारण यामुन पर्वत का नाम कालकूट या काला पहाड होना स्वाभाविक था।

भारद्वाज (कृकणपर्णाद्भारद्वाजे ४।२।१४५)—काशिका ने निश्चित रूप से इस सूत्र में भारद्वाज को देशवाची माना है, गोत्रवाची नही। पाणिनि ने भारद्वाजो की शाखा आत्रेय कही है (अश्वादिगण, आत्रेय भारद्वाजे, ४।१।११०)। मार्कण्डेय पुराण की जनपद-सूची में भी आत्रेय और भारद्वाज साथ-साथ पढे गए हैं (अध्याय ५७)। पारजीटर ने भारद्वाज देश की पहचान गढवाल प्रदेश से की है (मार्कण्डेय पुराण का अंग्रेजी अनुवाद, पृष्ठ ३२०)।

रंकु (४।२।१००)—पाणिनि के अनुसार रंकु देश का मनुष्य राकवक और वहाँ की अन्य वस्तुएँ राकव या राकवायण कही जाती थी। काशिका ने रकु जनपद के रांकव कंबल और राकवायण बैल का उल्लेख किया है। रकु जनपद की पहचान निश्चित नही। संभवत. यह अलकनंदा और पिंडर के पूर्व का प्रदेश था जहाँ मल्ला-जुहार और मल्लादानपुर की भाषा रका कहलाती है, (ग्रियर्सन, भारतीय भाषा पर्यवेक्षण, खंड ३, भाग १, पृष्ठ ४७९; मोतीचंद्र, भारतीय वेषभूषा, भारतीय विद्या, भाग १, पुष्ठ ४६)।

कुरु जनपद (४।१।१७२)—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कुरुराष्ट्र, कुरुक्षेत्र और कुरुजागल—ये तीन इलाके एक दूसरे से सटे हुए थे। थानेश्वर-हस्तिनापुर-हिसार अथवा सरस्वती-यमुना-गंगा के बीच का प्रदेश इन तीन भौगोलिक भागो मे बँटा हुआ था। गंगा-यमुना के बीच में लगभग मेरठ कमिश्नरी का इलाका असली कुरुराष्ट्र था। इसकी राजधानी हस्तिनापुर थी। पाणिनि ने इसे हास्तिनपुर कहा है (६।१।१०१), जैसा कि महाभारत मे भी मिलता है—('नगरात् हास्तिन-पुरात्' पूना संस्करण, पर्वसंग्रह पर्व श्लोक १४९)। पाणिनि ने विशेष रूप से 'कुरु गार्हपतम्' रूप की सिद्धि की है (६।२।४२)। इस विशेष शब्द का अर्थ कुरु जनपद का वह धार्मिक और नैतिक दृष्टिकोण था जिसके अनुसार गृहस्थ-जीवन मे रहते हुए लोग सदाचार और धर्म का पूरा पालन करते थे। इस दार्शनिक दृष्टिकोण का परिचय कुरुधम्म जातक (जा० ३।२७६) के शीलधर्म मे और गीता के कर्म-प्रधान नीति-धर्म मे प्राप्त होता है, जो दोनो कुरु जनपद के साथ संबंधित हैं। जातक मे इसे ही कुरुवत्त धम्म कहा गया है।

साल्व (४।१।१७३)—पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे साल्व (४।२।१३५), साल्वेय (४।१।१६९) और साल्वावयव (४।१।१७३)—इन तीनो को अलग-अलग जनपद कहा है, जो राजाधीन थे। इनमें साल्व मूल राज्य था। साल्वेय साल्वो की कोई

शाखा थी। साल्वेय का ही दूसरा नाम साल्वपुत्र था। साल्वावयव इधर-उधर छिटके हुए उन छोटे-मोटे रजवाडो का समूह था जिनकी स्थापना साल्वो में से ही कुछ लोगो ने छिटपुट रूप से कर ली थी। ये राज्य पजाब के मध्य भाग और उत्तर-पूर्व मे बिखरे हुए थे और भौगोलिक दृष्टि से एक दूसरे के साथ सटे हुए न थे।

साल्व जनपद कहाँ था, इसकी ठीक पहचान प्राचीन भारतीय भूगोल का अनिश्चित पर महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। गोपथ ब्राह्मण (१।२।९) मे साल्व और मत्स्य—इन दो जनपदो का जुडवां उल्लेख है जिससे इन्हे पड़ोसी मानना होगा। महाभारत मे भी साल्व, माद्रेय और जागल—इनका एक साथ नाम लिया गया है (भीष्मपर्व १०।३) जिससे इतना सकेत अवश्य मिलता है कि साल्वो की स्थिति उत्तरी राजस्थान और दक्षिणी पजाब मे कही थी। ऊपर के पाँच नामो मे मत्स्य का ठिकाना एकदम पक्का है। उसकी राजधानी विराट थी जो जयपुर मे वर्तमान बैराट स्थान है। जागल से तात्पर्य कुरुजागल से था जिसके अन्तर्गत दक्षिण पूर्वी पजाब मे हासी-हिसार-सिरसा का बडा इलाका था। मत्स्य और जागल इन दो जनपदो की भूमि को यदि छोड दें तो साल्व की पहचान के लिये अलवर से उत्तरी बीकानेर तक का फैला हुआ प्रदेश बचा रहता है। वस्तुत यही प्रदेश प्राचीन साल्व ज्ञात होता है। इसी का वह भाग जो साल्वेय या साल्वपुत्र कहलाता था, अलवर के आसपास होना चाहिए। संभवत. अलवर मे उस नाम का कुछ अश सुरक्षित रह गया है। महाभारत से भी ज्ञात होता है कि साल्वेयक और मत्स्य दोनो पडोसी थे, जिनकी सेनाओ ने त्रिगर्त के राजा सुशर्मा से एक साथ मिलकर लोहा लिया था (विराटपर्व, २९।२)। उद्योग-पर्व मे पांडवो द्वारा जिनके पास दूत भेजना निश्चित किया गया वे साल्वपुत्र (उद्योगपर्व, ४।२४) और साल्वेयक एक ही हैं।

साल्व कोई अत्यन्त प्राचीन जाति थी। उसका प्राचीनतम इतिहास अंधकारमय है। महाभारत में साल्वो के राजा शाल्व की राजधानी सौभनगरी के वर्णन मे स्थापत्य और वास्तु का अद्भुत उल्लेख मिलता है। सौभनगर का सबध माया से समझा जाता है। कुछ ऐसा आभास होता है कि इनका मूल सम्बन्ध ईरान के असुरो से था। वहाँ से दक्षिणी बलूचिस्तान और सिन्ध के मार्ग से ये लोग इस देश में आए। वहाँ इनके नाम पर सिन्ध बलूचिस्तान की सीमा पर स्थित पर्वत का नाम साल्वका गिरि हुआ होगा। उसी का वर्तमान रूप हाला पर्वत है। सिन्ध प्रदेश मे सिन्धु नद के तटवर्ती मार्ग से उत्तर की ओर बढते हुए राजस्थान में सरस्वती के किनारे-किनारे आगे बढकर अन्त मे उत्तरी बीकानेर मे साल्व लोग बस गए। वहाँ से उनके अभियान पूर्व मे यमुना तक और पंजाब मे पठानकोट-काँगड़ा तक होते रहे। यमुना के अभियान की अनुश्रुति एक प्राचीन गाथा मे बची रह गई है—

योगन्धरिरेव नो राजा इति साल्वीरवादिपुः।
विवृत्तचक्रा आसीनास्तीरेण यमुने तव ॥[1]

'यमुना के किनारे बैठी साल्वी स्त्रियां चर्खा चलाती हुई कहती थी कि हमारा राजा योगधरि है।'

योगधरि साल्वावयवो मे से एक राज्य था। जिन दूसरे साल्वावयवो का उल्लेख है वे पजाब मे त्रिगर्त तक अपनी टुकड़ियो से भूमि के खड चांपते हुए बस गए थे। मूल साल्व जनपद से दूर हो जाने पर भी राजनैतिक दृष्टि से वे अपने आपको साल्वो का ही एक अश मानते थे। इसी-जैसी व्यवस्था के लिये लोक मे साल्वावयव नाम पाणिनि काल मे प्रचलित हो गया था।

साल्वावयव—काशिका मे उद्धृत एक प्राचीन श्लोक के अनुसार साल्वावयव राजतन्त्र के अतर्गत छः रजवाडे थे—(१) उदुम्बर, (२) तिलखल, (३) मद्रकार, (४) युगन्धर, (५) भूलिंग, (६) शरदण्ड। पतंजलि के महाभाष्य (४।१।१७०) मे साल्वावयवो के तीन नाम इस सूची से पृथक् मिलते हैं—अजमीढ, अजक्रन्द, बोध। इन नामो की पहचान क्रमशः इस प्रकार है—

उदुम्बर—उदुम्बरो का उल्लेख पाणिनि के राजन्यादि गण (४।३।५३) मे आया है। उदुम्बरो के पुराने सिक्के कांगडा (प्राचीन त्रिगर्त) देश मे व्यास और रावी नदियो के बीच मे पाए गए है। कागडा के मुहारे पर पठानकोट नगर मे भी उदुम्बर मुद्राएं बहुतायत से मिली हैं (ऐलन, प्राचीन भारत की मुद्राएँ, प्रस्तावना, पृ० ८७)। इस पुरातत्त्वगत प्रमाण से उदुम्बरो का प्रदेश निश्चित हो जाता है। व्यास के उत्तर और रावी के दक्षिण की सँकरी घाटी मे होकर त्रिगर्त के प्रवेशद्वार (वर्तमान गुरदासपुर) मे उदुम्बरो का राज्य था। पतजलि ने उदुम्बरावती नदी का उल्लेख किया है (४।२।७१) वह इसी प्रदेश की कोई छोटी नदी होनी चाहिए जिसके तट पर उदुम्बरो की राजधानी रही होगी।

तिलखल—उदुम्बर भूभाग के मानचित्र पर दृष्टि डालने से व्यास नदी के दक्षिण के प्रदेश (जिला होशियारपुर) मे, जहाँ आज भी तिलो की खेती का प्रधान क्षेत्र है, तिलखल राज्य का स्थान ज्ञात होता है। व्याकरण का तिलखल और महाभारत का तिलभार[2] दोनो एक ही प्रतीत होते हैं। तिलखल का अर्थ हुआ तिलो से भरे हुए खलिहानो का देश और तिलभार का अर्थ भी उससे मिलता है, अर्थात् जहाँ तिलो के बोझ खलिहान से घर लाए जाँय।

---

१. प्रशिलुस्की (Przyluski), 'पजाब की एक प्राचीन जाति—साल्व', जूर्नल आशियातीक, १९२९, पृ० ३११-३५४ (पृ० ३१४)।

२. महाभारत, साधारण संस्करण, भीष्मपर्व १०।५१; पूना संस्करण में तिलकाः और तिलभाराः, ये दोनों पाठ हैं।

मद्रकार—मद्रकार मे 'कार' शब्द प्राचीन ईरानी भाषा का है जिसका अर्थ 'सेना' था (प्रशिलुस्की का मत)। मद्रकार का अर्थ हुआ मद्रो के सैनिको द्वारा प्रतिष्ठापित राज्य। इसकी पृष्ठभूमि यो समझनी चाहिए। मद्र राजकुमारी सावित्री और साल्व राजकुमार सत्यवान् के विवाह द्वारा मद्रो और साल्वो का घनिष्ठ सबंध संपन्न हुआ था (वनपर्व २७९।१४) ज्ञात होता है इस विवाह के फलस्वरूप तीन छोटे-छोटे राज्य आस्तित्व मे आए—(१) सावित्रीपुत्रका., (२) मद्रकारा , (३) शाल्वसेनय.। सावित्रीपुत्रको का उल्लेख महाभारत (वनपर्व २८३।१२, कर्णपर्व ४।४७) और अष्टाध्यायी (दामन्यादि सूत्र, गणपाठ ५।३।११६) दोनो में आया है। सावित्री और सत्यवान् के पुत्र-पौत्रो के जो कुटुव फैले उनका यह नाम पडा। 'पुत्र' शब्द यहाँ 'ख्यात' या 'कबीले' का वाचक है, जैसा पजाव के अरोड़े खत्रियो मे केहर-पोत्रे, चननपोत्रे आदि जाति नामो मे अभी तक देखा जाता है; अथवा प्राचीन शाक्यपुत्र आदि नामो मे था। मद्रकार मद्रो की सेना का छोटा राज्य था। वैसे ही शाल्वसेनय. (साल्वो की सेना, भीष्मपर्व १०।५९) साल्वो के सैनिको का वसाया हुआ राज्य होना चाहिए। विवाह के समय सावित्री और सत्यवान् राज्य से निर्वासित थे। विवाह हो जाने पर मद्र और साल्व दोनो ने अपनी सैनिक टुकड़ियाँ उनकी सहायतार्थ अर्पित की। यही मद्रकार और शाल्वसेनि नामक दो छोटे साल्वावयवो का मूलारंभ विदित होता है।

अष्टाध्यायी में मद्र और भद्र दोनो पर्यायवाची शब्द हैं (२।३।७३; ५।४।६७)। मद्रकार का ही दूसरा नाम भद्रकार ज्ञात होता है। सभव है घग्घर के तट पर बीकानेर के उत्तर-पूर्वी कोने मे स्थित भद्र नामक स्थान मद्रकारो की प्राचीन राजधानी रही हो।

युगंधर—यमुना के तट पर चर्खा कातती हुई साल्वी स्त्रियो के कथनानुसार उनका राजा यौगधरि था। इससे सूचित होता है कि युगंधर कही यमुना का तटवर्ती था। यह राज्य सभवत. अबाला जिले मे सरस्वती से यमुना तक फैला हुआ था। देहरादून जिले मे कालसी के पास जगत ग्राम मे प्राप्त लेख से ज्ञात होता है कि वह इलाका युग शैल देश (युग नाम का पहाडी प्रदेश) कहलाता था (युगेश्वरस्याश्वमेधे युगशैलमहीपते । इष्टका वार्षगण्यस्य नृपतेश्शीलवर्मण ॥)।

भूलिंग—तोलेमी ने लिखा है कि आरावली के उत्तर-पश्चिम मे बोलिगाई (Bolingae) जाति रहती थी। इनकी पहचान भूलिंगो से हो सकती है।

शरदंड—वाल्मीकि रामायण (अयोध्याकाड ६८।१६) मे लिखा है कि अयोध्या से केकय के मार्ग पर जाते हुए कही शरदडा नदी पार करनी पडती थी। उसी शरदडा के तट पर सन्निविष्ट होने के कारण साल्वो के एक अवयव का नाम शारदण्ड पडा होगा। शरदण्डा नदी की निश्चित पहचान नही हुई। सभव है यह

शरावती का ही दूसरा नाम हो, क्योकि दोनो नामो मे शर पूर्वपद आता है, जो सूचित करता है कि इनके किनारे सरपत का घना जगल था। शरावती नदी प्राच्य और उदीच्य देशो के बीच की सीमा मानी गई थी। इस आधार पर अनुमान होता है कि शरावती वह कुरुक्षेत्र की नदी थी जिसे दृषद्वती भी कहा गया है। आजकल इसका नाम चिताग है।

पतजलि ने साल्वो के अवयव-राज्यो का उल्लेख करते हुए अजमीढ, अजक्रद और बोध का नाम लिया है। पहले दो नामो का 'अज' पूर्वपद अज नामक असुर का संकेत करता है। असुर अजक एक स्थानीय देवता था। साल्व लोग अपने अपने राजा साल्व को भी उसी का अवतार मानते थे (आदिपर्व ६१।१७, सामान्य सस्करण)।

बोधो का इलाका भीष्मपर्व के अनुसार (१०।३७-३८) कुलिग, साल्व और माद्रेयो के सान्निध्य में था। पतजलि ने एक जगह उदुबर और बोध का साथ-साथ उल्लेख करते हुए उनके पारस्परिक संबध का सकेत किया है (२।४।५८)।

पाणिनि के अनुसार साल्व जनपद की तीन विशेषताएँ थी—एक तो यहाँ के पैदल सैनिक प्रसिद्ध थे जो साल्व पदाति कहलाते थे (अपदातौ साल्वात् , ४।१।१३५)। दूसरे, साल्व जनपद के बैल ऐसे नामी थे कि उनके लिये भाषा मे एक विशेष शब्द (साल्वक गौ) ही चल गया था। तीसरे, इस जनपद मे लप्सी खाने का रिवाज था जो साल्विका यवागू कहलाती थी। जयपुर-बीकानेर के लोगो मे आज भी लप्सी प्रिय भोजन है जो रावडी कहलाती है।

प्रत्यग्रथ (४।१।१७३)—महाभारत मे यह नाम नही मिलता और पाणिनि मे पचाल नाम नही है। मध्यकालीन कोशो के अनुसार पंचाल का ही दूसरा नाम प्रत्यग्रथ था, जिसकी राजधानी अहिच्छत्रा थी (वैजयती, पृष्ठ २१४; हेमचन्द्र, अभिधान चितामणि ४।२६, प्रत्यग्रथास्त्वहिछत्रा. साल्वास्तु कारकुक्षीयाः)। प्रत्यग्रथ जनपद मे बहने वाली नदी रथस्था (वर्तमान रामगगा) थी (६।१।१५७) जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

अजाद (४।१।१७१)—इस जनपद का नाम केवल अष्टाध्यायी मे मिलता है। नाम से ज्ञात होता है कि यह प्रदेश बकरियो के लिये प्रसिद्ध रहा होगा। इटावा का प्रदेश आज तक जमनापारी बकरियो की नसल के लिये प्रसिद्ध है। सभव है यही अजाद हो।

कोसल (४।१।१७१)—यह राजाधीन जनपद बुद्धकालीन षोडश महाजनपदो मे गिना जाता था। पाणिनि ने उससे सबधित सरयू और इक्ष्वाकु का भी उल्लेख किया है (६।४।१७४)।

काशि (४।१।११६)—पाणिनि ने स्थान-नामो मे काशि का उल्लेख किया है।

जनपद का नाम काशि था; वाराणसी उसकी राजधानी थी। अष्टाध्यायी से यह नही ज्ञात होता कि कोसल की भाँति काशि भी स्वतन्त्र जनपद था। मगध और कोसल में से किसी एक के साथ काशि जनपद बिंबसार और अजातशत्रु के समय मे मिला हुआ था। पाणिनि के समय उसका स्वतन्त्र राजाधीन अस्तित्व नही ज्ञात होता।

(वृजि ४।२।१३१)—बिहार प्रांत मे गगा के उत्तर का प्रदेश वृजि कहलाता था, जहाँ विदेह लिच्छवियो का राज्य था।

मगध (४।१।१७०)—गगा के दक्षिण का प्रदेश मगध जनपद था जहाँ राजतन्त्र शासन था।

कलिंग (४।१।१७०)—कलिग पाणिनि के समय मे जनपद राज्य था, किंतु सोलह महाजनपदो की सूची मे उसकी गिनती नही है।

सूरमस (४।१।१७०)—यह नाम केवल अष्टाध्यायी मे आया है। ज्ञात होता है कि असम प्रात मे प्रसिद्ध सूरमा नदी की दून और पर्वत-उपत्यका का प्राचीन नाम सूरमस था।

अवति (४।१।१७६)—यह मध्यभारत का प्रसिद्ध जनपद था जिसकी राजधानी उज्जयिनी थी (गणपाठ ४।२।८२, ४।२।१२७)।

कुति (४।१।१७६)—भाष्य के अनुसार सूत्र ४।१।१७१ के इकारात एकराज जनपदो मे कुति और अवति की भी गणना थी। महाभारत के अनुसार कुति अवति जनपद का पडोसी था। उस राज्य मे से अश्व नदी बहती थी जो सभवत चबल की शाखा कुमारी नदी थी (वनपर्व ३०८।७, बृहत्संहिता १०।१५)। सहदेव ने अपनी दक्षिण की दिग्विजय मे कुति देश को जीता था। यमुना और चबल के काँठे मे प्राचीन कुति राष्ट्र (वर्तमान ग्वालियर राज्य) था जो अब भी कोतवार कहलाता है। पाणिनि ने कुति-सुराष्ट्र, चिंति-सुराष्ट्र और अवति-अश्मक—इन पाँच जनपदो के नाम लोकप्रसिद्ध भौगोलिक जोडो के रूप मे लिखे है जो मध्यभारत और पच्छिमी भारत मे थे (कार्तकौजपादिगण ६।२।३७)। ये पाँचो जनपद विस्तार की दृष्टि से काफी बडे थे। अभी तक चबल से टोस तक का प्रदेश बुन्देलखड की भौगोलिक इकाई के रूप मे प्रसिद्ध रहा है। चबल के पश्चिम मे किसी समय मही काँठे से आगे तक सुराष्ट्र की सीमा लगती थी।

उन जनपदीय नामो के जोड़े जो भौगोलिक दृष्टि से पास-पास न हो, किसी विशेष कारण के बिना भाषा मे नही बनते। कुति और सुराष्ट्र जनपद एक दूसरे से दूर होते हुए भी क्यो एक साथ बोले जाने लगे? विचार करने पर कुंति-सुराष्ट्र और चिंति-सुराष्ट्र—इस गठबधन का कारण राजनैतिक ज्ञात होता है। कुति या कोतवार जनपद का अधिपति महाभारत युग मे दंतवक्र था और सुराष्ट्र में कृष्णप्रमुख यादवो का राज्य था। कृष्ण-दतवक्र युद्ध के बाद कुति जनपद भी सुराष्ट्र के राजतन्त्र के

साथ बँध गया। तभी कृष्ण के अनुगत नारायण गोपाल इस प्रदेश मे आ बसे जिससे आज भी यह इलाका ग्वालियर (गोपाल गिरि) कहलाता है। इसी घटना के बाद लोकभाषा मे जनपद-नामो का कुंति सुराष्ट्र जोड़ा प्रसिद्ध हुआ। इसी प्रकार चिति या चेदि के शिशुपाल की भी कृष्ण से भिटंत हुई थी और उसके अनंतर ही चिति-सुराष्ट्र संज्ञा चालू हुई होगी। पाणिनि के समय तक भाषा मे कुंति-सुराष्ट्र और चिति-सुराष्ट्र ये दो प्राचीन भौगोलिक सूत्र लोकभाषा के अंग बन चुके थे।

अश्मक (४।१।१७३)—अश्मक जनपद की राजधानी अन्य ग्रंथो के अनुसार प्रतिष्ठान (गोदावरी के किनारे आधुनिक पैठण) थी। इससे गोदावरी के दक्षिण सह्याद्रि पर्वत-शृंखला तक अश्मक जनपद का विस्तार ज्ञात होता है।

भौरिकि—पाणिनि ने सूत्र ४।२।५४ मे भौरिकि लोगो के देश भौरिकिभक्त का नामोल्लेख किया है।[1] वैजयंती कोश (पृष्ठ ३७) के अनुसार बंगाल का समतट (दक्षिणी बंगाल) प्रदेश भौरिक कहलाता था। समुद्रगुप्त के प्रयाग के स्तंभलेख मे भी समतट नाम आया है। यदि भौरिकि की समतट के साथ पहचान ठीक हो तो मानना पड़ेगा कि ईसा से पाँच सौ वर्ष पूर्व ही गंगा-सागर के पास का यह इलाका भौगोलिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत आ चुका था।

इस प्रकार उत्तर मे कंबोज, दक्षिण मे अश्मक, पश्चिम मे सौवीर और पूर्व मे सूरमस—इन चार खूँटो के बीच का भूप्रदेश पाणिनि की भौगोलिक परिधि के अंतर्गत था। इतना स्पष्ट है कि पाणिनि का परिचय प्राच्य की अपेक्षा उदीच्य के भूगोल मे अधिक घनिष्ठ था।

सूत्रो के अतिरिक्त कुछ और भी जनपदो के नाम गणपाठ मे आए हैं। जैसे—

बर्बर (तक्षशिलादिगण, ४।३।९३)—सिंधु सागर संगम के समीप, जहाँ बर्बरिक नामक समुद्रपत्तन था।

कश्मीर (कच्छादि गण ४।२।१३३; सिंध्वादिगण ४।३।९३)।

उरश (सिन्ध्वादिगण ४।३।९३; अर्वाचीन हजारा)—सिंधु और कृष्णगंगा-झेलम के बीच का प्रदेश जो पश्चिमी गंधार और अभिसार (वर्तमान पुंछ रजौरी) के मध्य मे है।

दरद् (सिंध्वादिगण ४।३।९३)— उत्तर-पच्छिमी कश्मीर का गिलगित हुंजा प्रदेश।

गव्दिका (सिन्ध्वादिगण ४।३।९३)—पतंजलि ने गव्दिका को तत्कालीन आर्यावर्त के बाहर रक्खा है। धौलाधार से ऊपर चंबा राज्य मे गद्दियो का गद्देरन प्रदेश प्राचीन गव्दिका ज्ञात होता है।

---

१. भौरिकाः प्राग्देशावस्थिते नीवृद् समतटाह्वये।

(नानार्थार्णव संक्षेप भा० २, श्लो० १११६)

किष्किन्धा (सिध्यादिगण ४।३।६३)—यह गोरखपुर के पास का प्राचीन खुखुन्दो था। पतजलि ने 'किष्किन्ध गन्दिकम्' दोनो को आर्यावर्त से वाहर रक्खा है।

पटच्चर (पलद्यादि गण ४।२।११०)—यह सभवत. सरस्वती के दक्षिण का प्रदेश (वर्तमान पाटोदी) था जहाँ लुटेरे आभीरगणो की वस्ती थी।

यकृल्लोम (पलद्यादिगण ४।२।११०)—शूरसेन जनपद के दक्षिण जालौन, उरई, कौंच और कालपी का प्रदेश। विराटपर्व मे लिखा है कि पाडव लोग दशार्ण के उत्तर, पचाल के दक्षिण (यमुनातटस्थ इटावा के नीचे)[1] यकृल्लोम और शूरसेन के वीच मे होते हुए मत्स्य जनपद के विराटनगर को गए[2]।

सर्वसेन (शंडिकादिगण ४।३।९२)—६।२।३३ और ८।१।५ सूत्रों पर काशिका के उदाहरणो से ज्ञात होता है कि सर्वसेन एक सूखा प्रदेश था (परि परि सर्वसेनेभ्यो वृष्टो देव.)।

अध्याय २, परिच्छेद ५—नगर और ग्राम

जनपद की भौगोलिक इकाई के अंतर्गत मनुष्यो के रहने के स्थान नगर और ग्राम कहलाते थे। इनसे भी छोटे स्थानो को घोष (६।२।८५) और खेडो को खेट (२।२।१२६) कहा जाता था।

पाणिनि ने कही तो ग्राम और नगर में भेद माना है—जैसे प्रचा ग्रामनगराणाम् (७।३।१४) सूत्र मे, और कही ग्राम शब्द से नगर का भी ग्रहण किया है—जैसे वाहीक ग्राम (४।२।११७), उदीच्यग्राम (४।२।१०९) सूत्रों मे। पतंजलि ने कहा है कि कितनी जनसख्या होने से ग्राम और कितनी जनसख्या से नगर कहलाते हैं, इस विषय मे लोक का प्रमाण मानना चाहिए। वैयाकरण के लिये इसमे हुज्जत करना ठीक नही (ननु च भो य एव ग्रामस्तन्नगरम्। कथं ज्ञायते ? लोकत:। तत्राऽतिनिर्बन्धो न लाभ, ७।३।१४)। वस्तुत स्थिति यह थी कि पूर्वी भारत में गाँव बहुत छोटे और नगर वडे जन-सन्निवेश होते थे, उनका जनसख्या कृत भेद सच्चा था, इसी से पाणिनि ने भी पूर्व देश मे ग्राम और नगर को पृथक् माना। किंतु वाहीक या पंजाव मे ग्राम बहुत समृद्ध जनकेन्द्र थे। यूनानी भूगोल-लेखको ने लिखा है कि उत्तर-पश्चिम प्रदेश और पंजाव मे ५०० ऐसे "ग्राम" थे जिनकी आवादी पाँच से दस सहस्र के लगभग थी। स्वयं पाणिनि की गणसूची से इस वडी ग्राम-संख्या का समर्थन होता है। अतएव वाहीक देश में ग्राम और नगर का भेद बोलचाल मे न रह गया था, वहाँ दस-दस सहस्र के नगर भी "ग्राम" ही कहलाते थे। यही वस्तु-

---

१. कालिंदीमभितो ययुः। (विराट ५।१)

२. उत्तरेण दशार्णास्ते पंचालान्दक्षिणेन च।
अन्तरेण यकृल्लोमाञ्शूरसेनांश्च पांडवाः॥ (विराट ५।४)

स्थिति वाहीक ग्राम और उदीच्य ग्राम शब्दो से प्रकट होती है जहाँ ग्राम शब्द नगर और गाँव दोनो का बोध कराता है।

अवश्य ही पाणिनि ने इस प्रदेश की भौगोलिक छानवीन बड़े विस्तार से की थी। इधर-उधर से कुछ मनचाहा वटोर लेने की आकस्मिक शैली से पाणिनीय सामग्री का जन्म नही माना जा सकता। उसके पीछे भौगोलिक सामग्री का पुष्कल व्यौरेवार संग्रह अवश्य रहा होगा। यही स्वाभाविक पद्धति पाणिनीय सामग्री की ठीक-ठीक व्याख्या करती है। इन स्थानो (गाँवो और नगरो) मे रहनेवालो के व्याह-विरादरी, जात-पाँत और व्यापारिक लेनदेन के संबंध दूर-दूर तक फैले हुए थे। वे लोग जीवन के विविध क्षेत्रों मे एक दूसरे के साथ खूव गुँथ गए थे। स्थान-नामो के आधार पर बने हुए उनके नामो की आवश्यकता भाषा मे नित्य पड़ती थी। स्थान-नामो से वने हुए चातुरर्थिक शब्द नित्यप्रति की भाषा के आवश्यक अग वने हुए थे। पाणिनि ने उसी शब्द-सामग्री का व्यवस्थित सूचीवद्ध सकलन किया था, अन्यथा तद्धित का वह चातुरर्थिक महाप्रकरण वन ही न पाता। उस समय के स्थान-नाम वर्तमान लोकभाषा से बिल्कुल तो मिट न गए होगे, वे परिवर्तित रूपो मे आज-कल के स्थान-नामो मे वचे पड़े होने चाहिएँ। इसी आधार पर पाणिनीय सामग्री की पहचान आगे वढाई जा सकती है। आचार्य के लिये छोटा या वड़ा कोई भी जनपद व्याकरण की दृष्टि से छोड़ने योग्य न था। यही वात जनपदो मे वसी हुई जाति और उपजातियो के विषय में भी ठीक थी। वे जातियाँ और उनके अल्ल आज भी लोक मे और भाषा में हिले-मिले पाए जायँगे। जातियो, उनके नामो और उनके निकास (अभिजन) और निवास की अनुश्रुति टिकाऊ हुआ करती है।

स्थान-नामों के अंत में आनेवाले शब्द या उत्तरपद

भारतीय स्थान-नामो के अंत मे जो शब्द आते हैं उनका भी अच्छा परिचय अष्टाध्यायी से प्राप्त होता है—

(१) नगर (४।२।१४२)—प्राचीन स्थान-नामो के अंत मे जुड़ने वाला यह महत्त्वपूर्ण उत्तर पद था जो मध्यकाल और वर्तमान समय मे भी प्रयुक्त होता रहा है। पाणिनि के अनुसार प्राच्य और उदीच्य दोनो भागो मे नगर का प्रयोग होता था अमहन्नवं नगरेऽनुदीचा (६।२।८९) सूत्र मे महानगर और नवनगर इन दो प्राच्य भारतीय नगरो का नाम मिलता है। कास्तीर और अजस्तुद नाम के नगरो का भी सूत्र मे उल्लेख है (६।१।१५१)।

(२) पुर (४।२।१२२)—नगर की भाँति यह भी वहुव्यापी उत्तरपद था। पाणिनि ने सूत्र ६।२।१०१ मे हास्तिनपुर, फलकपुर और मार्देयपुर, तथा सूत्र ६।२।१०० मे अरिष्टपुर और गौड़पुर का उल्लेख किया है। हास्तिनपुर कुरु जनपद की

प्रसिद्ध राजधानी था। फलकपुर सभवतः फिल्लौर (जि० जालधर) और मार्देयपुर मंडावर (जि० विजनौर) था। अरिष्टपुर शिवि जनपद में शिवि क्षत्रियो की राजधानी थी (अरिट्ठसाह्व नगर, चरियापिटक १।८।१; शिवि जातक ६।४०१।१२)। गौडपुर गौड देश या वगाल मे था जहाँ के महानगर और नवनगर का पाणिनि ने उल्लेख किया है।

(३) ग्राम (४।२।१४२)।

(४) खेट (६।२।१२६)—हिंदी आदि भाषाओ का 'खेडा' इसी से निकला है। मध्यदेश से लेकर पश्चिम मे गुजरात तक यह उत्तरपद प्रयुक्त होता है। पाणिनि के अनुसार कुत्सित नगर खेट कहे जाते थे।

(५) घोष (६।२।८४)—अहीर ग्वालो का छोटा गाँव घोष कहलाता था।

(६–९) कूल, सूद, स्थल, कर्ष (कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम्, ६।२।१२९)—काशिका के अनुसार ये चार उत्तरपद स्थानवाची नामो मे आते थे। कपिस्थल (करनाल जिले में कैथल) अभी तक अपने पुराने नाम से प्रसिद्ध हैं। काबुल (कुभाकूल) और गोमल (गोमतीकूल) नामो में कूल उत्तरपद ज्ञात होता है। स्थान-नामवाची शब्दो के अन्त में सूद का उल्लेख कल्हण ने किया है जहाँ दामोदर के बसाए स्थान को दामोदर सूद कहा गया है (राजतरंगिणी १।१६७; और भी, सूदे दामोदरीये, १।१५७)।

(१०–११) तीर और रूप्य (४।२।१०६)—काशिका में काकतीर, पल्वलतीर और वृकरूप्य, शिवरूप्य नाम मिलते हैं। पाणिनि ने स्वय कास्तीर एक नगर का नाम दिया है (६।१।१५५), जो पतंजलि के अनुसार वाहीक ग्राम था (४।२।१०४, वा० ३)। पतंजलि ने कखतीर, वायसतीर, चणाररूप्य और माणिरूप्य नाम दिए हैं (४।२।१०४ वा० २)।

(१२) कच्छ (४।२।१२६)—कच्छान्त नामो का व्यवहार समुद्रतट के रेवा-काँठे से सिंध के नदीमुख तक प्रचलित था। काशिका में दारुकच्छ और पिप्पलीकच्छ उदाहरण मिलते हैं। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, दारुकच्छ काठियावाड और पिप्पलीकच्छ महीरेवा का काँठा था। ये खभात की खाडी के क्रमश दाएँ-बाएँ के प्रदेश थे।

(१३) अग्नि (४।२।१२६)—जैसा कि नाम से प्रकट है, जलता हुआ ऊसर (सस्कृत इरिण) प्रदेश अग्नि कहलाता था। काशिका मे विभुजाग्नि और काण्डाग्नि, ये दो नाम मिलते हैं। विभुजाग्नि कच्छभुज के उत्तर-पश्चिम के बडे रन का और काण्डाग्नि उसके उत्तर-पूर्व के छोटे रन (जहाँ कांडला है) का नाम था।

(१४) वक्त्र (४।२।१२६)—वक्त्रान्त नाम के दो उदाहरण काशिका में दिए हैं—सिंधुवक्त्र और इन्द्रवक्त्र। भारतवर्ष के मानचित्र पर ये दोनो प्रदेश स्पष्ट

दिखाई पड़ते हैं। सिंध प्रांत का प्रदेश सिंधुवक्त्र और बलोचिस्तान का प्रदेश इन्द्रवक्त्र कहलाता था। सिंधुवक्त्र प्रदेश में खेती सिंध नदी पर निर्भर थी और इन्द्रवक्त्र में वर्षा पर। पहला प्रदेश नदीमातृक था और दूसरा देवमातृक। सभापर्व में इन दोनों प्रदेशों का स्पष्ट वर्णन एक साथ आया है—

> इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः।
> समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः॥
> ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह।
> विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च॥ (५१।११-१२)

अर्थात् समुद्र की कोख में स्थित उस प्रदेश के लोग जहाँ नदीमुख से खेती होती थी, विविध भेंटें लेकर युधिष्ठिर के यहाँ उपस्थित हुए। यह सिंध का वर्णन है। उन्हीं के साथ सिंधुपार के लोग भी आए, जहाँ इन्द्रकृष्ट अर्थात् मेह से खेती होती थी। सिंधुपार के लोगों में वैराम, पारद, आभीर और कितव थे। पूना संस्करण में आभीर के स्थान पर 'वंग' पाठ है जो मकरान के समीप की लग जाति ज्ञात होती है।[1] वैरामों को यूनानी लेखकों ने रबक कहा है।[2] पारद (यूनानी पारदीनी) हिंगुल प्रदेश के लोग थे और कितव मकरान की केज जाति थी। इस प्रकार इन्द्रवक्त्र प्रदेश की पहचान बलोचिस्तान के सूखे पथरीले रेगिस्तानी भागों से निश्चित होती है जो आज भी अपनी कृषि के लिये वृष्टि के आसरे रहते हैं।

(१५) गर्त (४।२।१२६)—गर्त उत्तरपद वाले नाम का उदाहरण त्रिगर्त प्रसिद्ध है। काशिका में इस सूत्र पर चक्रगर्त और बहुगर्त, इन भौगोलिक नामों का जोड़ा उदाहरण रूप में दिया है। ये दोनों पुराने नाम जान पड़ते हैं। बहुगर्त संभवतः साबरमती (प्राचीन स्वभ्रमती) के काँठे का नाम था, जिसके नाम का श्वभ्र शब्द गड्ढे का पर्यायवाची है। चक्रगर्त संभवतः प्रभासक्षेत्र में स्थित चक्रतीर्थ की संज्ञा थी। गर्तांत नामों में 'गर्तोत्तर पदाच्छ' (४।२।१३७) सूत्र पर काशिका में वृकगर्त और शृगालगर्त एवं भाष्य में श्वाविद्गर्त नाम भी आए हैं।

(१६) पलद (४।२।१४२)—दाक्षिपलद और माहिकिपलद इसके उदाहरण हैं (काशिका)। अथर्ववेद के अनुसार पलद का अर्थ फूंस या पयार होता था

---

१. य्यूआन् चुआङ् ने इसका नाम 'लङ् किअलो' लिखा है, जिसकी पहचान कनिंघम ने आधुनिक लाकोरिया या लकूर नामक स्थान से की है। ज्ञात होता है कि आभीराः और वगाश्च, इन दोनों की जगह प्राचीन पाठ लांगराः था। (कनिंघम, प्राचीन भूगोल, पृष्ठ, ३५५-५६)

२. अर्रियन, रंबकीआ (Rambakia) कनिंघम (प्राचीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ ३५४) ने इसकी पहचान रामबाग से की है।

(अथर्व ९।३।५,७१, पलदान्वसाना)। इससे ज्ञात होता है कि सरपत के झुण्डों के लिये पलद शब्द लोक मे प्रचलित था और जो गाँव उनके पास बसाए जाते थे उनके नाम मे पलद उत्तरपद का प्रयोग होता था।

(१७) ह्रद (४।२।१४२)—पानी की नीची दह के पास बसे हुए गावो के नामो मे ह्रद जुडता था जैसे दाक्षिह्रद।

(१८) वह (४।२।१२२)—वहान्त नामो का पाणिनीय उदाहरण 'पीलुवह' है (इको वहेऽपीलो', ६।३।१२१)। फल्गुनीवह, ऋषीवह, पिङ्वह, मुनिवह, दारुवह—ये अन्य नाम काशिका मे है। फल्गुनीवह आधुनिक फगवाडे (पजाव) का नाम प्रतीत होता है।

(१९) प्रस्थ (४।२।१२२; ४।२।११०)—प्रस्थान्त नाम कुरुक्षेत्र और कुरुजनपद के प्रदेश की भौगोलिक विशेषता थे। वहाँ प्रस्थ की जगह पत स्थान नामो के अन्त मे पाया जाता है, जैसे पानीपत, बाघपत, सोनीपत, मारीपत, तिलपत। ज्ञात होता है कि प्रस्थान्त नाम मूल में हिमालय के प्रदेश मे थे, जहाँ से आर्यों की किसी शाखा के साथ ये इस प्रदेश मे लाए गए। पाणिनि के सूत्रो मे कर्कीप्रस्थ और मालाप्रस्थ नाम आए हैं (६।८।८७, ६।२।८८)। कर्क्यादि गण मे मघीप्रस्थ, मकरीप्रस्थ, कर्कन्धुप्रस्थ, शमीप्रस्थ, करीरप्रस्थ, कटुकप्रस्थ, कुवलप्रस्थ, वदरप्रस्थ और मलादिगण मे शालाप्रस्थ, शोणाप्रस्थ (सोनपत), द्राक्षाप्रस्थ, क्षौम-प्रस्थ, काचीप्रस्थ, एकप्रस्थ, कामप्रस्थ नाम और हैं।

(२०) अर्म (६।२।९०-९१)—विदित होता है किसी समय अर्मान्त नामों का विशेष प्रचार था। बौधायन श्रौतसूत्र के अनुसार ऊजड गाँव को अर्म कहते थे (शून्य-ग्राम, विनष्ट ग्राम, बौ० श्रौ० ९।१,९।३)। सरस्वती के उत्तर मे स्थूलार्म नामक एक ह्रद का वर्णन है जहा के जंगल मे सौ गायो का वंश बढते-बढते एक सहस्र हो गया था (ताड्य १५।१०।१८)। पाणिनि ने सूत्र मे इतने अर्मान्त नामो का उल्लेख किया है—भूतार्म, अधिकार्म, सजीवार्म, मद्रार्म, अश्मार्म, कजलार्म। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे भी अर्म शब्द आया है (३।४।१।९)। ऋग्वेद में अर्मक (१।१३३।३) और यजुर्वेद (३०।११) मे अर्म खडहर या ऊजड स्थानो के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इस प्राचीन शब्द का प्रयोग कालातर मे भाषा से लुप्त हो गया। हो सकता है यह मूल शब्द म्लेच्छ भाषा का हो। म्लेच्छ (सेमेटिक) परिवार की अर्माइक भाषा मे 'अरम' ऊबड-खाबड पथरीले पहाडी प्रदेश को कहते हैं। अर्माइक उन लोगो की भाषा थी जो 'अरम' या पर्वतीय प्रदेशो के निवासी थे।

(२१) कंथा—मूल मे यह शक भाषा का शब्द था जिसमे कंथ का अर्थ नगर

होता है।[1] शकों का मूल निवास-स्थान शाकद्वीप या मध्य एशिया में था, जहाँ उनकी शाखा तुषारों और ऋषिकों के साथ अर्जुन का घोर युद्ध हुआ था (सभापर्व २७, भीष्म० ११)। ये मूल शक कुमुद पर्वत (हिरोदोतनके कोमेदई) के आसपास के निवासी थे। पुराणों के अनुसार कुमुद पर्वत मध्यएशिया में सीता नदी (वर्तमान यारकन्द) के समीप था। मध्य एशिया में रहते हुए भी शकों का भारतवासियों से प्रथम परिचय हो चुका था। ईसवी पूर्व दूसरी शताब्दी में शक लोग वाल्हीक से शकस्थान (ईरान का पूर्वीभाग) में आकर आबाद हुए और शकस्थान से चलकर ई० पू० प्रथम शती में तक्षशिला, मथुरा और उज्जयिनी में उन्होंने अपने राज्य स्थापित किए। कात्यायन ने शकन्धु और कर्कन्धु शब्दों का उल्लेख किया है (शकन्ध्वादिगण ६।१।९३, वा० ४)। निश्चय ही कात्यायनकालीन शक शकस्थान में आकर बसनेवाले शकों से पूर्वकालीन होने चाहिएँ। जब शक लोग मध्यएशिया के शाकद्वीप में ही बसते थे, तभी ई० पू० चौथी या तीसरी शताब्दी में शकन्धु और कर्कन्धु[2] ये दोनों नाम प्रचलित हो चुके थे। 'शकदेश का कुआँ' और 'कर्कदेश का कुआँ'—ये दो विशेष शब्द हमारी भाषा में दो विशेष प्रकार के कुओं के लिये व्यवहृत हुए। एक प्रकार का कुआँ बावड़ी है जिसमें सीढ़ी के द्वारा पानी तक पहुँचते हैं। यह शकन्धु था जिसका प्रचार पच्छिमी भारत में विशेष हुआ। दूसरी तरह के कुएँ रहटवाले थे, जिन्हें आज तक ईरानी ढग के कुएँ (पर्शियन वैल) कहा जाता है। ये कर्कन्धु थे। कर्क पच्छिमी ईरान में शूषा के पास एक प्रदेश था जिसे अब कर्किआ कहते हैं। शकन्धु और कर्कन्धु, ये दो शब्द कात्यायन के वार्तिक में रहकर साक्षी देते हैं कि पाणिनि-कात्यायन के परिचित शक ई० पू० पहली शती में यहाँ आनेवाले शकों के पूर्ववर्ती थे। शकों के मूल प्रदेश मध्यएशिया में कंथात नामों का एक ताँता था जो अभी तक रह गया है, जैसे समरकन्द, ताशकन्द, चिमकन्द, पंजकान्द, यारकन्द, पायकन्द आदि। वक्षु (आमू) और सीर नदी के बीच का प्रदेश सुग्द कहलाता था। सुग्दी भाषा में शक भाषा के कन्थ शब्द का रूप कन्द हो जाता है।

पाणिनि का परिचय कन्था शब्द से किस प्रकार हुआ होगा यह ध्यान देने योग्य है। अष्टाध्यायी के निम्नलिखित छह सूत्रों में नगरवाची कंथा शब्द का उल्लेख है—

(१) उशीनर देश में कथांत स्थान-नाम नपुंसकलिंग होता है, जैसे सौशमि कथम् आह्वरकथम् (संज्ञाया कन्थोशीनरेषु, २।४।२०)।

---

१. स्टेनकोनो, खरोष्ठी लेख; पृष्ठ ४३, लंदन की राजकीय एशियाटिक सोसायटी की पत्रिका, १९३४, पृष्ठ ५१६; तथा शक स्टडीज़ (ओस्लो, १९२९) पृ० ४२, १४९; कथ=नगर।

२. कर्क प्राचीन ईरान की एक जाति थी। शकों के साथ उसका उल्लेख ईरानी सम्राट् दारा (दारयवहु, सं० धारयद्वसु) के बहिस्तून (भगस्थान) के शिलालेख में आया है।

(२) कुछ अर्थों (शैषिक) मे कथा शब्द मे इक् प्रत्यय जुडता है, जैसे काथिक (कन्थाया ठक् ४।२।१०२)।

(३) वर्णुदेश मे कथा शब्द में अक् प्रत्यय लगता है, जैसे काथक (वर्णौ वुक् ४।२।१०३)।

(४) कथातवाची स्थान-नामो मे शैषिक अर्थ मे छ प्रत्यय लगता है, यदि उस नाम का पहला अक्षर दीर्घ हो, जैसे दाक्षिकथीय (कन्था-पलद-नगर-ग्राम-ह्रदोत्तर-पदात् ४।२।१४२)।

(५) कथातवाची स्थान-नामो मे आदि अक्षर उदात्त होता है, जैसे आह्वरकथ, चप्यकथम् (कन्था च ६।२।१२४)।

(६) कन्थात स्थान-नाम के पूर्वपद मे चिहण हो तो चिहण का पहला स्वर उदात्त होता है, जैसे चिहणकन्थम् (आदिश्चिहणादीनाम् ६।२।१२५) चिहणादिगण में अन्य शब्द मडरकन्थ, वैतुलकन्थ, पटत्कथ, वैडालिकर्णकन्थ, कुक्कुटकन्थ और चित्कणकन्थ हैं।

इनमे से कुछ नाम सस्कृत भाषा मे बाहर से आये हुए शब्दो से बने ज्ञात होते हैं।

ऊपर के नियमो से सूचित होता है कि पाणिनि को निश्चित रूप से उशीनर (आधुनिक झङ्ग मघियाना) और वर्णु (आधुनिक बन्नू और वजीरिस्तान का इलाका, गोमल-तोची आदि नदियो की दूनो का भाग) प्रदेशों मे कन्थान्त स्थान-नाम मिले। इस प्रदेश में कन्थान्त नामो की संगति के लिये मानना चाहिए कि पाणिनि से भी पूर्व किसी समय शक जाति का प्रसार और सम्पर्क गजनी-कन्धार की अधित्यका से उतरकर तोची-गोमल नदियो के मार्ग से रावी और चनाव के कांठे (उशीनर जनपद) तक पहुँचा था।

नगरों के नाम

पाणिनि ने नगरो को दो भागो मे बांटा है—उदीच्य ग्राम (४।२।१०९) और प्राच्य ग्राम (७।३।१४)। उदीच्यग्रामो के अन्तर्गत दो छोटे भेद थे—एक वाहीक ग्राम (४।२।११७) और दूसरे वाहीक के बाहर पच्छिम-उत्तर के अन्य नगर। वाहीक ग्रामो के अन्तर्गत फिर एक छोटा समुदाय उशीनर जनपद के नगरो का था (४।२।११८)।

पाणिनि के समय मे वाहीक और उत्तरापथ की समृद्धि बहुसख्यक नगरों और ग्रामो के रूप मे प्रकट थी। यमुना से वक्षु नदी तक के प्रदेश मे तत्कालीन नगरो और ग्रामो में लहलहाते जीवन के अनेक प्रमाण पाए जाते हैं। पाणिनि के दो-तीन शताब्दी बाद तक के यूनानी लेखको के वर्णनो से इसकी पुष्टि होती है। स्त्राबो के

कथनानुसार झेलम और व्यास के नौ बड़े राज्यो मे जिनमे मालव और क्षुद्रक भी थे, पाँच सौ बड़े नगर थे। मेगस्थनीज का कहना है कि भारतवर्ष के नगरो की सख्या इतनी अधिक है कि उसका ठीक अनुमान करना कठिन है। ग्लौचुकायनक नामक जाति के प्रदेश मे, जहाँ इस समय भिम्भर-पुछ-राजौरी का इलाका (प्राचीन अभिसार) है, सैंतीस नगर थे जिनमें से अनेक की जनसख्या दस सहस्र से ऊपर थी और पाँच सहस्र से कम जनसंख्या किसी मे न थी।

अष्टाध्यायी की सामग्री को देखते हुए यूनानी लेखको का यह वर्णन सत्य के निकट जान पड़ता है। पाणिनि ने अपने देशव्यापी परिभ्रमण से स्थान-नामो की जो सामग्री एकत्र की थी उसे लगभग बारह सूत्रो के गणपाठो मे सुरक्षित कर दिया है। भारतीय भूगोल की आज भी यह अमोल निधि है। अकेले ४।२।७५ और ४।२।८० सूत्रो के गणो में लगभग तीन सौ स्थान-नाम आए हैं। इनके अतिरिक्त स्थान-नामो वाले अन्य गण ये हैं—सुवास्तु (४।२।७७), वरण (४।२।८२), मधु (४।२।८६), उत्कर (४।२।९०), नड (४।२।९१), कत्रि (४।२।९५), नदी (४।२।९७), काशि (४।२।११६), धूम (४।२।१२७), कर्की (६।२।८७), चिहण (६।२।१२५)। इस सूची में लगभग पाँच सौ स्थान-नाम हो जाते हैं। यह संख्या स्त्राबो से मिलती है। इस सूची के अधिकांश नाम अब पहचाने नही जाते। आशा है भारतीय पुरातत्त्व और प्राचीन भूगोल के अध्ययन-क्षेत्र का विस्तार होने पर भविष्य मे इनका पता लग सकेगा।

इन्ही के सदृश गोत्रवाची नामो की सूचियो मे अनेक जातिवाचक भौगोलिक नाम भी अष्टाध्यायी मे सुरक्षित रह गए हैं।

सूत्रों में परिगणित स्थान-नाम

जो नाम सूत्रो मे पढे हैं, उनकी प्रामाणिकता सर्वोपरि है। ऐसे नामो का उल्लेख आवश्यक है।

कापिशी (४।२।९९)—यह कापिशायन प्रांत की राजधानी थी। काबुल से उत्तर-पूर्व हिंदुकुश के दक्षिण आधुनिक बेग्राम प्राचीन कापिशी है जो घोरबंद और पंजशीर नदियो के संगम पर स्थित थी। बाल्हीक से बामियाँ होकर कपिश प्रात (कोहिस्तान-काफिरिस्तान) में घुसने वाले मार्ग पर कापिशी नगरी व्यापार और संस्कृति का केन्द्र थी। बेग्राम में मिले हुए एक शिलालेख मे कपिशा नाम आया है (एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग २२, १९३३, पृष्ठ ११, स्टेनकोनो, बेग्राम से प्राप्त खरोष्ठी मूर्तिलेख)। यह हरी दाख की उत्पत्ति का स्थान था। यहाँ बनी हुई कापिशायन मधु नामक विशेष प्रकार की सुरा भारतवर्ष मे आती थी, जिसका उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थ शास्त्र मे किया है। प्लिनी के अनुसार छठी शताब्दी ई० पूर्व

मे हखामनि वश के ईरानी सम्राट् कुरुष् (५५८—३० ई० पू०) ने कापिशी का विध्वस किया था। कालातर मे वह पुन. समृद्ध हुई और अत मे हूणो द्वारा विध्वस्त हुई। कापिशी नगरी के सिक्को पर हाथी का चिह्न पाया गया है जो इन्द्र का ऐरावत ज्ञात होता है, क्योकि यहा के उत्तरकालीन कुछ सिक्को पर यूनानी देवता 'ज़ियस' (भारतीय इन्द्र) की मूर्ति मिली है।

सौवास्तव (४।२।७७)—यह सुवास्तु या स्वात नदी की घाटी का प्रधान नगर था।

वरणा (४।२।८२)—वरण वृक्ष के समीप बसी होने के कारण इस बस्ती का नाम वरणा पडा था। वरणा उस दुर्ग का नाम था जो आश्वकायनो के राज्य मे सिंधु और स्वात नदियो के मध्य मे सबसे सुदृढ रक्षा-स्थान था। यूनानी लेखको ने इसका नाम 'एओरनस' दिया है जहाँ अस्सकेनोई (= आश्वकायन) और सिकदर का युद्ध हुआ था।[1] यूनानी भूगोल-लेखको ने इस प्रदेश मे तीन लडाकू जातियो के नाम दिए हैं जिनके सस्कृत नाम और स्थान पाणिनीय भूगोल से इस प्रकार जाने जाते हैं।

(१) अस्पेसिओई; स्थान अलीशंग या कुनड नदी की दून। संस्कृत नाम आश्वायन (अश्वादिगण ४।२।११०)।

(२) अस्सकेनोई या अस्सकोई; स्थान स्वात नदी की दून। सस्कृत नाम आश्वकायन या अश्वक (नडादिगण ४।१।९९)।

(३) अस्तकेनोई, स्थान स्वात और कुभा के सगम पर पुष्कलावती के समीप। सस्कृत नाम हास्तिनायन (६।४।१७४)।

इस प्रकार कपिश से गधार की ओर बढते हुए सिकन्दर के मार्ग मे आश्वायन, हास्तिनायन और आश्वकायन, इन तीन आयुधजीवी सघो ने प्रतिरोध की अर्गला देकर उससे भयकर युद्ध किया था। इनमे भी सबसे कठिन प्रतिरोध वरणादुर्ग के वीर अश्वको ने ही किया था जिनके पुरुष क्या, स्त्रिया भी युद्ध मे लड़ी थी।

वार्णव (४।२।७७, ४।२।१०३)—वर्णुनद के समीप स्थित नगर की संज्ञा वार्णव थी। इसकी पहचान आधुनिक बन्नू से होती है।

शलातुर (४।३।९४)—पाणिनि का जन्मस्थान, जो सिंधु-कुभा संगम के कोने मे ओहिंद से चार मील पश्चिम मे था। यह स्थान इस समय लहुर कहलाता है।

तूदी (४।३।९४)—पहचान अनिश्चित।

वर्मती (४।३।९४)—इसकी ठीक पहचान ज्ञात नही। हो सकता है यह बीमरान का, जहाँ से खरोष्ठी लेख प्राप्त हुए हैं पुराना नाम हो, अथवा यह बामियाँ

१. मर आरेल स्टाइन, आर्क्यालॉजिकल सर्वे मेमॉयर, स० ४२, पृ० ८९-९०।

हो जो वाल्हीक और कपिशा के बीच मे बहुत बडा केन्द्र था। यहाँ से आनेवाले घोडों को वार्मतेय कहा गया है (वर्ण रत्नाकर, पृ० ३५)।

कूचवार (४।३।६४)—यह चीनी तुर्किस्तान मे उत्तरी तरिम उपत्यका का नाम था, जिसका अर्वाचीन नाम कूचा है। चीनी भाषा मे आजकल इसे कूची कहते है। कूचा से प्राप्त अभिलेखो में कूचा के राजाओं को कूचीश्वर, कुचि महाराज, कौचेय, कौचिय वरेन्द्र कहा गया है। कूचा बहुत प्राचीन राज्य था। चीन से पश्चिम जानेवाले रेगम-पथो पर कूचा प्रसिद्ध केन्द्र था। चीनी यात्री तुरफान से कूचा होकर काशगर आते थे और वहाँ से कंबोज (पामीर) और वाल्हीक (बल्ख) होते हुए भारतवर्ष में प्रवेश करते थे। कूचा या मध्यएशिया से कौजप या कोजव नामक ऊनी वस्त्र (कालीन या नम्दे) आया करते थे।

तक्षशिला (४।३।९३)—यह पूर्वी गन्धार की प्रसिद्ध राजधानी थी और सिंधु और विपाशा के बीच के सब नगरो मे बडी और समृद्ध थी। पाटलिपुत्र, मथुरा और शाकल को पुष्कलावती, कापिशी और वाल्हीक से मिलानेवाले उत्तरपथ नामक राजमार्ग पर तक्षशिला मुख्य व्यापारिक नगरी थी। पाणिनिकाल मे हूणो के समय तक तक्षशिला का प्राधान्य बना रहा।

शर्करा (४।२।८३)—यह सिंधु नद के किनारे प्रसिद्ध सक्खर नामक स्थान है। मार्कण्डेय पुराण मे जो 'शार्करा.' जनपद का नाम आया है वह यही था (५८।३५)।

संकल (४।२।७५)—यह आधुनिक सागलावाला टीबा (जिला झग) है। यहाँ कठ क्षत्रियो का केन्द्र था।

कास्तीर और अजस्तुन्द (कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ६।१।१५५)—कास्तीर को पतंजलि ने वाहीक ग्राम कहा है।

चिहणकथ (६।२।१२५)—यह उशीनर देश मे कंथांत नाम का नगर था।

अरिष्टपुर (६।२।१००)—बौद्ध साहित्य के अनुसार यह शिवि जनपद का अरिष्टपुर नाम का नगर था।

गौडपुर (६।२।२००)—यह पुण्ड्र बंगाल का प्राचीन गौड स्थान था। काशिका मे इसी सूत्र पर दिए हुए गौडभृत्यपुर उदाहरण से यही संकेत मिलता है कि गौडपुर और गौडभृत्युपुर दोनो प्राच्य देश के नगर थे।

कपिस्थल (८।२।९१)—करनाल जिले मे वर्तमान कैथल।

कत्रि (४।२।९५)—संभव है यह वह स्थान हो जिसे कालांतर मे अलमोडे का कत्यूर (कत्रिपुर) कहते थे।

हास्तिनपुर (४।२।१०१), वर्तमान हस्तिनापुर (जिला मेरठ)।

फलकपुर (४।२।१०१)—संभवतः वर्तमान फिल्लौर (जिला जालधर)।

मार्देयपुर (४।२।१०१)—संभवतः मंडावर (जिला बिजनौर) जो अत्यन्त प्राचीन स्थान है।

पलदी (४।२।११०)—अज्ञात।

रोणी (४।२।७८)—सभवत. रोड़ी (जिला हिसार) जो शैरीषक (आधुनिक सिरसा) के पास है। अथवा, संभव है यह बीकानेर से ७० मील दूर रीणी नामक प्राचीन स्थान हो। (इस सूचना के लिये मैं श्री अगरचद नाहटा का आभारी हूँ।)

ऐषुकारिभक्त (४।२।५४)—उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार कुरु जनपद में इसुकार या इषुकार नामक समृद्ध सुन्दर और स्फीत नगर था (१४।१)। जिस प्रकार हाँसी का पुराना नाम आसिका था (भंडारकर लेख-सूची, संख्या ३२९) उसी प्रकार हिसार का प्राचीन नाम ऐषुकारि ज्ञात होता है, यद्यपि कुछ लोग उसका सबंध अरबी हिसार (किला) से लगाते हैं।

नड्वल (४।२।८८)—यह मारवाड़ का नाडौल नगर (पृथ्वीराज-विजय, १०।५०) प्रतीत होता है।

सांकाश्य (४।२।८०)—फर्रुखाबाद जिले मे इक्षुमती (वर्तमान ईखन) नदी के किनारे वर्तमान सकिसा, जहाँ अशोककालीन स्तम्भ के चिह्न मिले हैं। संकाशादि गण (४।२।८०) मे कापिल्य भी है जो फर्रुखाबाद जिले की कायमगंज तहसील मे वर्तमान कपिल है।

आसंदीवत् (८।२।१२, ४।२।८६)—यह जनमेजय पारीक्षित की राजधानी का नाम था, इसी मे उन्होने अश्वमेध यज्ञ किया था (वैदिक इंडेक्स १।७२)। काशिका के अनुसार यह अहिस्थल था, जो कुरुक्षेत्र के पास था (कुरुक्षेत्रे परेणाहि-स्थले, कात्या० श्रौ०, २४।२२६)।

शिखावल (४।२।८६)—काशिका के अनुसार यह एक नगर था (शिखावलं नाम नगरम्) जो सभवतः यह सोन नदी पर स्थित सिहावल नगर (रीवा रियासत) हो। 'दन्तशिखात् संज्ञायाम्' (५।२।११३) सूत्र मे पाणिनि ने शिखावल को संज्ञा कहा है।

महानगर और नवनगर (६।२।८९)—ये दोनो प्राच्य भारत के स्थान-नाम थे (अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम्)। महानगर महास्थान (जिला बोगरा) का दूसरा नाम जान पड़ता है जो बंगाल मे मौर्य-काल से भी पुराना नगर था। उसी के साथ का नवनगर नवद्वीप का दूसरा नाम विदित होता है। महानगर उत्तरी बंगाल और नव-नगर पश्चिमी बंगाल का प्रधान केंद्र था। महानगर पुरानी राजधानी थी। यह पुण्ड्र देश का प्रधान नगर था, इसी लिये इसे महास्थान या महानगर कहा गया। इसी के पच्छिम में गंगा के किनारे एक अन्य स्थान की आवश्यकता पड़ी जो पुण्ड्र देश के

यातायात मे सहायक हो सके। वह स्थान गौडपुर था जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (६।२।२००) । पुण्ड्र या पौंड्रों के देश से गुड के चालान का केंद्र होने के कारण वह गौडपुर कहलाया होगा। कुछ काल बाद पश्चिमी बगाल में भी व्यापार और आबादी के लिये क्षेत्र खुल गया और वहाँ एक नए केन्द्र की स्थापना हुई होगी जो उत्तरी बंगाल के मुकाबिले मे नवनगर कहा गया।

तौषायण (पक्षादिगण ४।२।८०)—हिसार जिले की फतेहाबाद तहसील में स्थित वर्तमान टोहाणा यह स्थान हो सकता है, जहाँ पर पुराने खडहर हैं।

सौभूत (संकलादि गण, ४।२।७५)—जिसकी पहचान यूनानी भूगोल-लेखकों के सोफाइटीज से की जाती है। यह स्थान कुत्तों की खूँखार नस्ल के लिये प्रसिद्ध था, इससे इसका केकय देश में खिउडा के पास होना सूचित होता है जहाँ इस प्रकार के महाकाय और महादंष्ट्र कुत्ते होते थे (वाल्मीकि रा० ७०।२०)। पाणिनि के समय मे भी कुत्तों की यह नस्ल पाई जाती थी। वाल्मीकि ने उसे केकयराज के अंतःपुर मे संवर्धित कहा है। सभवतः इसी कारण कुत्ते के लिये कौलेयक शब्द लोक मे प्रचलित हुआ, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (कौलेयकः श्वा, ४।२।९६)।

सरालक (तक्षशिलादिगण ४।३।९३)—वर्तमान सहराला, जिला लुधियाना। सहरालिए वैश्य यहाँ से अपना निकास मानते हैं (सरालकोऽभिजनो यस्य सः सारालक)।

चक्रवाल (सख्यादिगण ४।२।८०)—वर्तमान चकवाल, जिला झेलम।

मड्डु और खंडु (सुवास्त्वादिगण ४।२।७७)—सिल्वा लेवी ने इनकी पहचान अटक के समीप स्थित उड और खुड नामक स्थानो से की है (जूर्नाल आज़ियातिक, १९१५, पृ० ७३; उत्तरप्रदेश इतिहास परिषद् पत्रिका, दिसंबर १९४२, पृ० ३७)।

शर्यणावत (मध्वादिगण ४।२।८६)—यह नाम ऋग्वेद १।८४।१४ मे भी आता है। इसकी पहचान थानेश्वर के रामह्रद से की जाती है।

अध्याय ३

सामाजिक जीवन

भाषा और लोक मे सदा घनिष्ठ सबंध रहता है। लोक-जीवन के विविध अंगों से संबंधित शब्द भाषा में उत्पन्न और प्रयुक्त होते हैं। शब्द भूतकालीन संस्थाओं के प्रतीक बन कर उनके स्मारक की भाँति भाषा में रह जाते हैं। शब्दो का आयुष्य भी भिन्न-भिन्न होता है, अनेक शब्द जन्म लेते और कुछ काल तक लोक के कठ मे रह कर विलीन हो जाते हैं। ऐसे शब्द पुरातत्त्व के अवशेषो की भाति प्राचीन अर्थों का स्मरण कराते हुए अतीतकालीन जीवन पर प्रकाश डालते हैं। कितने ही दूसरे शब्द एक बार जन्म लेकर कालातर मे भी प्रचलित रहते हैं। पाणिनि ने अपने समकालीन लोक-जीवन का शब्दो के रूप मे सूक्ष्म अध्ययन किया था और अपने शब्द शास्त्र में उन्हे स्थान दिया। इस विविध सामग्री को सुविधा के लिये इस निबंध मे निम्न भागो मे बाँटा गया है—

१—सामाजिक जीवन।
२—आर्थिक दशा।
३—शिक्षा और साहित्य।
४—धर्म और दर्शन।
५—राजनीतिक सामग्री।

सामाजिक जीवन शीर्षक के अंतर्गत अष्टाध्यायी की सामग्री के आधार पर निम्नलिखित बातो का विचार किया गया है—

१—वर्ण और जातियाँ।
२—आश्रम।
३—विवाह।
४—स्त्रियाँ।
५—सामाजिक इकाइयाँ।
६—अन्न-पान।
७—स्वास्थ्य और रोग।
८—वेश-भूषा।
९—वास-गृह।
१०—नगर-मापन।
११—शयनासन।
१२—रथ-शकट।
१३—भारवाही पशु।
१४—नौ-सतरण।
१५—क्रीडाएँ।
१६—गीतवादित्र।
१७—काल-विभाग।
१८—मनुष्य-नाम।

अध्याय ३, परिच्छेद १—वर्ण और जातियाँ

पाणिनिकालीन समाज की मूल भित्ति वर्ण और आश्रम की व्यवस्था थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारो वर्णों का उल्लेख अष्टाध्यायी मे हुआ है।

वैदिक भाषा का वर्ण शब्द अब भी व्यवहार मे आता था, यद्यपि 'जाति' यह नया शब्द भी प्रचलित हो चुका था (३।१।६३)। पाणिनि-व्याकरण के अनुसार गोत्रो और चरणो की भी पृथक् जातियाँ होने लगी थी। भाष्यकार ने जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्रो और चरणो को भी गिना है। (गोत्रञ्च चरणै. सह ४।१।६३)। कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने (२।१।६३) सूत्र मे जाति के विषय मे पूछ-ताछ करने के लिये नियम बताया गया है। यहाँ जाति शब्द से गोत्र और चरण दोनो अभिप्रेत हैं। कतरकठ. (इन दोनो मे कौन कठ है ?), कतमकठ (इनमे कौन कठ है ?) ये दोनो प्रश्न चरण-सम्बन्धी पूछताछ विषयक होने पर भी जाति-परिप्रश्न के उदाहरण हैं।

वस्तुत. पाणिनि के काल में गोत्र और चरणो के भेदो के अनुसार अनेको जातियाँ विकसित हो रही थी। गोत्रो के प्रकरण मे जो लगभग एक सहस्र नाम हैं, उनका सामाजिक स्वरूप अलग-अलग जातियो के रूप मे सगठित हो गया था। विशेषत पंजाब, सिंध और सीमाप्रात की जाति-उपजातियो के नामो का अध्ययन करने से यह सचाई स्पष्ट हो जाती है। पाणिनि ने जिन्हे गोत्र कहा है बहुत करके हम उन्हें छोटी-छोटी जातियो या उपजातियो के अन्तर्गत अल्लो से रूप में पाते हैं। पाणिनि के गोत्र और गोत्रावयव तत्कालीन समाज की सचाई थी। आज भी पीढी-दर-पीढी इनमे से बहुत से नाम चले आते हैं। यह स्वाभाविक है कि उन नामो का हमारे समाज मे नितान्त लोप न हुआ हो। अरोडे, खत्री, सहरालिए, अग्रवाले आदि अनेक जातियो के अन्तर्गत जो बहुत-सी अल्लें या उपजातियाँ हैं, उनके नामो मे पाणिनीय नामो की पहिचान मिलती है। जैसे, अरोडे खत्रियो मे कँवर, हस, चोपे, खेते ये अल्लो या जाति-उपविभागो के नाम हैं जो क्रमश. पाणिनि के कुमार (नडादिगण, ४।१।९९); हसक ('नडादिगण ४।१।९९), चुप (अश्वादिगण मे चौपायन ४।१।११०), क्षैतयत (तिकादिगण ४।१।५४), गोत्र-नामो से सम्बन्धित हैं।

प्राय. प्रत्येक जाति या उपजाति में अपने मूल-निकास की एक अनुश्रुति पाई जाती है। इन मूल स्थान-नामों का यदि सग्रह किया जाय तो यह भी सभव है कि हम अष्टाध्यायी मे दिये हुए उन-उन नामवाले गोत्रो के मूल स्थानो की भी पहचान कर सकेंगे। पाणिनि के ४।२।८० सूत्र में इस प्रकार के स्थान-नामो की सग्रह सूचियाँ संगृहीत है। उदाहरण के लिये, पक्षादिगण मे 'हंसक' स्थान का नाम है जहाँ से नडादिगण के हसक गोत्र का निकास हुआ होगा। पाणिनि के समय मे योनि-सबध और विद्या-सबध इन दो प्रकार के सबधो के आधार पर समाज का अधिकाश सगठन था। योनि-सबध गोत्रो के रूप मे और विद्या-सबध चरणो के रूप में अपना-अपना जातीय संगठन बना रहे थे। इसी कारण जाति की परिभाषा मे गोत्र और चरण इन दोनो को समिलित किया गया (गोत्रञ्च चरणानि च, भाष्य ४।१।६३, किसी अन्य

वार्तिककार के अनुसार)। रक्त-सवध और विद्या-संवधो के कारण छोटे-छोटे गिरोहों की अलग-अलग जातियाँ वन रही थी। कुछ ऐसा लगता है कि जहाँ वेटे पोतो से फूलते-फलते पृथक्-पृथक् सौ घर किसी एक ख्यात, गुट्ट, या अल्ल के अतर्गत वढ़ जाते थे, वही उन कुटुवो के सदस्य समाज मे अपने पृथक् अस्तित्व का भान और स्मृति एक छोटी उपजाति या गोत्रावयव के रूप मे कर लेते थे। पाणिनि ने सावित्री-पुत्रो का उल्लेख किया है (दामन्यादि ५।३।११६)। महाभारत मे कहा है कि सावित्री-पुत्रो के सौ घराने थे (वनपर्व, २९७।५८, कर्णपर्व ५।४९)।[1] इसी प्रकार मद्रों में से सौ घराने अलग फूट कर मालवपुत्र नाम की अल्ल से पृथक् विख्यात हुए (महा. वन २९७।६०)। मालव-पुत्र ही वर्तमान 'मलोत्रे' हो सकते हैं। उपजातियाँ या अल्लें कुछ तो कौटुम्बिक नामो से, कुछ पैतृक नामो अर्थात् खानदान के वुजुर्गों के नामो से, कुछ व्यापारिक नामो से, कुछ शहरो के नामो से, कुछ पेशो के नामो से और कुछ पदो के अनुसार वनती गई। हमारी दृष्टि मे जाति-पाँति संवधी पाणिनीय सामग्री की पहिचान लगभग स्वतत्र खोज का विषय है क्योकि इसका अधिकाश भाग उत्तर-पश्चिमी प्रदेश और वाहीक की स्थानीय समाज-व्यवस्था से सवध रखता है।

ब्राह्मण—कात्यायन ने चार वर्णों के भाव या कर्म को चातुर्वर्ण्य कहा है (गुण-वचन ब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च, ५।१।१२४, सूत्र पर वार्तिक)। आनुपूर्वी क्रम से चारो वर्णो के लिये 'ब्राह्मणक्षत्रियविट् शूद्रा' यह समस्त पद प्रयुक्त होता था (वर्णा-नामानुपूर्वेण पूर्वनिपात, २।२।३४ वा०)। पाणिनि ने 'ब्रह्मन्' और 'ब्राह्मण' दोनो शब्दो को पर्याय रूप मे प्रयुक्त किया है। ब्रह्मन् के लिये हितकारी इस अर्थ मे ब्रह्मण्य पद वनता था (ब्रह्मणे हितम्, ५।१।७)। पतजलि ने इसका अर्थ 'ब्राह्मणेभ्य हितम्' किया है। उनका कहना है कि ब्रह्मन् और ब्राह्मण पर्यायवाची हैं (समानार्थावेतौ ब्रह्मन् शब्दो ब्राह्मण शब्दश्च), किंतु यत् प्रत्यय ब्रह्मन् शब्द से ही होता है, ब्राह्मण से नही। ज्ञात होता है कि पाणिनि-काल मे ब्रह्मन् शब्द ब्रह्मणोचित अध्यात्मिक गुण-सम्पत्ति के लिये प्रयुक्त होता था और ब्राह्मण जन्म पर आश्रित जाति के लिये। ब्राह्मण के भाव (आदर्श) और कर्म (आचार) के लिये ब्राह्मण्य पद सिद्ध किया गया है (गुण वचन ब्राह्मणादिभ्य कर्मणि च, ५।१।१२४)। नाम मात्र के आचार हीन ब्राह्मण 'ब्रह्मवन्धु' कहलाते थे। ऐतरेय ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, श्रौतसूत्र एव गृह्यसूत्रो मे 'ब्रह्मवन्धु' शब्द पाया जाता है। सूत्र ६।३।४४ की काशिका वृत्ति मे उदाहृत 'ब्रह्मवन्धुतर' और 'ब्रह्मवन्धुतम' प्रयोग वताते हैं कि 'ब्रह्मवन्धु' पद के पीछे कुत्सा परक व्यगद्य की कई कोटियाँ थी। पाणिनि के समय मे केवल जाति का

---

१. त्वयि पुत्रशत चैव सत्यवान् जनयिष्यति।
ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः॥
ख्यातास्त्वन्नामधेयाश्च भविष्यन्तीह शाश्वताः। (वन पर्व २९७।५८-५९)

अभिमान करने वाले कर्म-विहीन ब्राह्मणो के लिये ब्रह्मबन्धु की तरह 'ब्राह्मणजातीय' यह नया विशेषण भी प्रचलित हो गया था। जात्यन्ताच्छ बन्धुनि (५।४।९) सूत्र मे 'बन्धुनि' पद ब्रह्मबन्धु वाले प्राचीन अर्थ का द्योतक है। जिस बाहरी दिखावे से जाति की पहिचान हो वह बन्धु हुआ (येन ब्राह्मणत्वादिजातिर्व्यज्यते तद् बन्धु द्रव्यम्)। नाम मात्र के ब्राह्मण क्षत्रिय और वैश्य के लिये ब्राह्मण जातीय, क्षत्रिय जातीय, वैश्य जातीय पद व्यवहार मे आते थे। कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् (५।४।१०५) सूत्र के अनुसार स्वधर्म मे प्रतीत ब्राह्मण महाब्रह्म या महाब्रह्मा और आचार हीन ब्राह्मण कुब्रह्म या कुब्रह्मा कहलाता था। महाब्रह्मा समाज मे अत्यत प्रतिष्ठा-सूचक पद माना जाता था। मातग जातक (४।३७७) मे महाब्रह्मा के सम्मानित पद का उल्लेख आया है। कुडककुच्छिजातक मे बोधिसत्व के लिये महाब्रह्मा संबोधन है (३।२५४)। महानारद कस्सप जातक (६।२४२) मे कहा है कि बोधिसत्व नारद अपने समय के महाब्रह्मा माने जाते थे। तात्पर्य यह है कि धर्म और शील परायण ब्राह्मण समाज का सर्वोच्च पद महाब्रह्मा था जिनके लिये व्यक्ति विशेष योग्यपात्र समझे जाते थे। संभवतः महाब्रह्मा का पर्याय देवब्रह्मा भी था। नारद को जातक मे महाब्रह्मा और काशिका में देवब्रह्मा कहा गया है।

जनपदों के अनुसार ब्राह्मणों के नाम—ब्रह्मणो जानपदाख्यायां (५।४।१०४) सूत्र से ज्ञात होता है कि भिन्न-भिन्न देशो मे बस जाने के कारण ब्राह्मणो के अलग-अलग नामो की प्रथा चल पडी थी। कम्बोज जनपद से लेकर कलिङ्ग-अश्मक-कच्छ-सौवीर जनपदो तक फैले हुए विस्तृत प्रदेश में ब्राह्मण फैल चुके थे। स्वभावतः पृथक् पृथक् भूखडों के अनुसार उनके अलग नाम भी पडे होंगे। काशिका मे सुराष्ट्र ब्रह्म (=सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा) और अवन्ति ब्रह्म (=अवन्तिषु ब्रह्मा) ये दो उदाहरण हैं। अवन्तिब्रह्म मालव ब्राह्मणो के पूर्ववर्ती थे, क्योंकि उज्जयिनी के साथ मालव शब्द का संबध गुप्तकाल के लगभग आरभ हुआ। इसी प्रकार गुजराती और कच्छी ब्राह्मणो के पूर्ववर्ती सुराष्ट्र के ब्राह्मण रहे होगे। जनपदो के अनुसार नाम पडने के कारण ब्राह्मणो के पचगौड़ और पचद्राविड दो मुख्य भेद कालातर मे प्रसिद्ध हुए। मूल तथ्य यह है कि जनपदो के अनुसार ब्राह्मणो के नामो की प्रवृत्ति पाणिनि काल मे ही विकसित होने लगी थी।

क्षत्रिय—पाणिनि ने इस स्थिति को स्वीकार किया है कि अनेक जनपदो के नाम वही थे जो उनमें बसनेवाले क्षत्रियो के (जनपद शब्दात् क्षत्रियादञ्, ४।१।१६८)। जैसा कि हम ऊपर दिखा चुके हैं पंचाल क्षत्रियजन के बसने के कारण ही आरंभ में जनपद का भी पंचाल नाम पड़ा था। पीछे जनपद नाम की प्रधानता हुई और जनपद के नाम से वहाँ के प्रशासक क्षत्रियो के नाम जिन्हें अष्टाध्यायी में जनपदिन् कहा गया है लोक प्रसिद्ध हुए। पहली स्थिति के कुछ अवशेष आज तक बच

गए हैं, जैसे यौधेयो (वर्तमान जोहिये) का प्रदेश जोहिया वार (वहावलपुर रियासत), मालवो का (वर्तमान मलवई लोगो का) मालवा (फिरोजपुर लुधियाना जिलो का भाग), दरद् क्षत्रियो का दरदिस्तान। यों तो तत्कालीन संघों और जनपदों मे क्षत्रियो के अतिरिक्त और वर्णों के लोग भी थे, उदाहरणार्थ मालव जनपद के क्षत्रिय मालव, तथा ब्राह्मण एवं क्षत्रियेतर मालव्य कहलाते थे। 'मालवा.' इस वहुवचनात रूप मे सव का अतर्भाव समझा जाता था। राजन्य शब्द के दो अर्थ पाणिनि मे हैं, एक तो क्षत्रियवाची पुराना अर्थ (५।३।११४) और दूसरा अभिषिक्त वंश क्षत्रियो के लिये। केवल वे क्षत्रिय-कुल राजन्य कहे जाते थे जो संघरूप मे शासन मे भाग लेने के अधिकारी थे। राजन्य वहुवचनद्वंद्वेऽन्धकवृष्णिषु (६।२।३४) सूत्र मे राजन्य का यही दूसरा अर्थ है। राजन्यक का हिंदी रूप राणा है।

वैश्य—पाणिनि ने वैश्य के लिये 'अर्य' पद का उल्लेख किया है (अर्यः स्वामि वैश्ययो', ३।१।१०३)। गृहस्थ के लिये गृहपति शब्द है। मौर्य-शुग युग मे गृहपति समृद्ध वैश्य व्यापारियो के लिये प्रयुक्त होने लगा था, जो बौद्ध-प्रभाव को स्वीकार कर रहे थे। उन्ही से 'गहोई' वैश्य प्रसिद्ध हुए। गह अर्थ अष्टाध्यायी मे अविदित है।

शूद्र—पाणिनि ने दो प्रकार के शूद्रो का उल्लेख किया है—एक अनिरवसित जो हिंदू-समाज के अग थे, और दूसरे निरवसित (शूद्राणामनिरवसितानाम्, २।४।१०)।

इस सूत्र पर पतञ्जलि का विशद भाष्य शूद्रों की शुङ्ग-कालीन स्थिति का परिचायक है। 'अनिरवसित शूद्र वे हैं जो आर्यावर्त की भौगोलिक सीमा के भीतर रहते हैं।' इसके विपरीत पतञ्जलि ने आर्यावर्त की सीमा के बाहर के शूद्रो मे कुछ विदेशियो का उल्लेख किया है, जैसे शक और यवन। पतञ्जलि के समय की ऐतिहासिक स्थिति मे शक लोग ईरान और अफगानिस्तान की सीमा पर शकस्थान में जमे थे और यवन अर्थात् यूनानी लोग बाल्हीक और गंधार मे प्रतिष्ठित थे। इसी सूत्र पर पतञ्जलि का दूसरा उदाहरण 'किष्किन्धगब्दिक' है। पाणिनि के सिन्ध्वादिगण (४।३।९३) मे किष्किन्धा और गब्दिका दोनो का पाठ है। किष्किन्धा गोरखपुर जिले का खुखुन्दो और गब्दिका चवा का गद्दी प्रदेश था। ये दोनो उस समय आर्यावर्त की सीमा से बाहर माने जाते थे। मौर्य साम्राज्य की कमर टूटने पर विदेशियो के धक्के से आर्यावर्त की सीमाएँ यहाँ तक सिकुड़ गई कि घर के दुआरे पर स्थित किष्किधा गब्दिका भी बाहर गिने जाने लगे। पतञ्जलि के अनुसार मृतप, चाडाल आदि निम्न शूद्र जातियां प्राय. ग्राम, घोष, नगर आदि आर्य वस्तियो में घर बनाकर रहती थी। पर जहाँ गांव और शहर बहुत बड़े थे वहाँ उनके भीतर भी वे अपने मुहल्लो में रहने लगे थे। ये समाज मे सबसे नीची कोटि के शूद्र थे। इनसे ऊपर वढई, लोहार, बुनकर, धोबी, तक्षा, अयस्कार, तन्तुवाय, रजक आदि जातियो

की गणना भी शूद्रों में थी। वे यज्ञ संबंधी कुछ कार्यों में सम्मिलित हो सकते थे, पर उनके साथ खाने के बर्तनों की छुआछूत बरती जाती थी। इनसे भी ऊँची कोटि के शूद्र वे थे जो आर्यों के घर का नेवता होने पर उन्हीं बर्तनों में खा-पी सकते थे जिनमें कि घर के लोग खाते-पीते थे। वस्तुतः आर्य और शूद्र की समस्या आर्य एवं मुडा निषाद-शबर आदि जातियों को एक सामाजिक तन्त्र के अंतर्गत लाने की समस्या थी। दूसरी ओर शक-यवन सदृश विदेशी शूद्रों को भी भारतीय समाज में स्थान देने की समस्या थी। पतंजलि के ऊपर लिखे हुए उदाहरणों में समस्या के दोनों पहलू सामने आते हैं। एक तीसरे प्रकार के वे लोग थे जो लूट मारकर जीविका चलाने वाले लगभग जंगली हालत में आर्यावर्त की सीमाओं पर प्राचीन काल से बसे थे। ऐसे उत्सेधजीवी लोग पाणिनि के समय में व्रात कहलाते थे (५।२।२१)। ये विशेष करके भारत के उत्तर-पश्चिम कबाइली इलाकों में थे। ये लोग हिन्दू समाज की ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य व्यवस्था से बाहर ही माने जाते थे। ज्ञात होता है कि अथर्ववेद और श्रौत-सूत्रों में व्रात्यों का जो वर्णन है वह इन्हीं से चरितार्थ होता है (लाट्यायन श्रौ० सू० ८।६; कात्यायन श्रौ० सू० २२।१२६-१४९; द्राह्यायण श्रौ० सू०)। चातुर्वर्ण्य संगठन के अनुसार व्रात्यों की स्थिति व्रात्यस्तोम करने तक शूद्रवत् मानी जाती थी। व्रात्यों के संबंध में विचार आगे किया जायगा (अ० ७, परि० ७)।

आर्य और दास—आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः (६।२।५८) सूत्र में आर्य-ब्राह्मण और आर्यकुमार शब्द आए हैं। आर्य ब्राह्मण पद मन्त्रिपरिषद् के प्रधान मंत्री के लिये एवं आर्यकुमार पद युवराज के लिये प्रयुक्त होता था। 'ब्राह्मणमिश्रो राजा' पद में राजा और उसके प्रधान सहायक का जो ब्राह्मण मंत्री होता था उल्लेख है (मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ, ६।२।१५४)। वही आर्य-ब्राह्मण कहलाता था।

सूत्र ४।१।३० में आर्यकृत, आर्यकृती शब्दों का उपदेश है जो वैदिक शब्द भी थे एवं एक विशेष अर्थ में लोक में भी प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र के दास-कल्प प्रकरण (३।१३, पृष्ठ १८२) में कौटिल्य ने स्वतन्त्र नागरिक के लिये आर्य और उसके विपरीत अर्थ में दास का प्रयोग किया है, जैसे दासमनुरूपेण निष्क्रयेण आर्यमकुर्वतो द्वादशपण दण्डः, अर्थात् छुटकारे का रुपया लेकर भी जो दास को आर्य न करे उस पर १२ पण जुर्माना किया जाय। इस वाक्य में आर्य शब्द के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग हुआ है जो आर्यकृत में भी है। पाणिनि का आर्यकृती शब्द उस स्त्री का वाचक रहा होगा जिसने निष्क्रय द्वारा आर्यभाव प्राप्त किया हो, अर्थात् जिसे दासपने से छुटकारा मिल गया हो। पाणिनि में एक दूसरा शब्द आता है 'दासीभार' (६।२।४२), काशिका ने इसका अर्थ किया है 'दास्या भारः' अर्थात् वह भार जो स्वामी को दासी के कारण सहना पड़े। इसकी व्याख्या कौटिल्य के इस आदेश से

प्राप्त है कि गर्भवती दासी को उसके प्रसूति काल के लिये अर्थ व्यवस्था किये विना जो वेंचे या गिरवी रखे उसे दण्ड दिया जाय (दासी वा सगर्भामप्रतिविहितगर्भभर्मण्या विक्रयाधानं नयत. पूर्व साहसदण्ड , अर्थशास्त्र ३।१३,) । इस प्रकार दासी के लिये अनिवार्य रूप से करने योग्य आर्थिक प्रवन्ध 'दासीभार' पद से अभिप्रेत था ।

मिश्रवर्ण—पाणिनि के समय मे अनुलोम प्रतिलोम शब्द प्रचलित हो चुके थे (५।४।७५) । मिश्रित वर्णों मे अम्वष्ठ (विकल्प आवष्ठ) (८।३।९७) का नाम आया है । स्मृतियो के अनुसार ब्राह्मण पिता और वैश्य माता की सन्तान अम्वष्ठ कहलाती थी । अम्वष्ठ वाहीक में एक गण का नाम भी था ।

कात्यायन मे 'महाशूद्र, नामक जाति-विशेष का उल्लेख किया है (४।१।४) । काशिका के अनुसार यह आभीर जाति की संज्ञा थी । आभीर महाशूद्र क्यो कहलाए ? इनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि इस प्रकार ज्ञात होती है । शक-यवनो की तरह ही जो पतजलि के समय मे शूद्रो मे गिने गए, विदेश से आनेवाली आभीर जाति भी उसी प्रकार शूद्रो मे परिगणित हुई । किन्तु सामाजिक व्यवहार और छुआछूत की दृष्टि से उनका पद ऊँचा समझा गया, अतः वे महाशूद्र (ऊँचे शूद्र) कहलाए । पतंजलि ने शूद्राभीरम् उदाहरण मे (त्यदादीनि सर्वैर्नित्यम् , १।२।७२, वा० ६) इस पद मे शूद्र पद से सामान्य शूद्र और आभीर पद से विशेष प्रकार के शूद्रो का ग्रहण किया गया है । उत्तरी सिंध के पूर्वी भाग मे शूद्र और उसके पास ही आभीरो का वड़ा राज्य था जिसके कारण शूद्राभीर यह नामो का जोडा प्रचलित हुआ होगा ।

आश्रम—चारो आश्रमो के लिये कात्यायन ने 'चातुराश्रम्य' पद दिया है । सूत्र मे उनके ये नाम हैं—ब्रह्मचारी (५।२।१३४), गृहपति (४।४।९०), भिक्षु (३।२।१६८) और परिव्राजक (६।१।१५४) । पाणिनि के समय मे आश्रम प्रणाली उन्नत दशा मे थी, विशेषत. ब्रह्मचर्य-शिक्षा-प्रणाली जिसका कुछ विस्तार से वर्णन हुआ है ।

ब्रह्मचारी—ब्रह्मचारी के लिये 'वर्णी' यह नई संज्ञा प्रयोग मे आने लगी थी (वर्णाद् ब्रह्मचारिणि, ५।२।१३४) जो संहिता और ब्राह्मण साहित्य मे अविदित थी । काशिका के अनुसार नीन उच्च वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे (ब्राह्मणादयस्त्रयो वर्णा वर्णिन उच्यन्ते) ।

एक ही चरण या वैदिक शिक्षण-सस्था मे अनेक ब्रह्मचारी अध्ययन करते थे और इस नाते से वे आपस में सब्रह्मचारी कहलाते थे (चरणे ब्रह्मचारिणि, ६।३।८६) । उदाहरण के लिये, कठ चरण मे पढनेवाले सव छात्र कठ सब्रह्मचारी कहे जाते थे । आज जिस प्रकार एक विश्व-विद्यालय के विद्यार्थी उपाधि के साथ शिक्षासंस्था का नाम लेकर समान सम्वन्ध प्रकट करते हैं, कुछ उसी प्रकार की यह प्रथा थी । एक ही गुरु के शिष्य होने के कारण जो विद्या-सम्वन्ध वनता था उसका जीवन मे

वास्तविक उपयोग और महत्त्व था। आचार्य ब्रह्मचारी को आत्म-समीप लाकर उसका उपनयन करते थे जिसके फलस्वरूप एक ओर आचार्य और दूसरी ओर ब्रह्मचारी को संयुक्त करनेवाले एक प्रकार के नये सम्बन्ध का जन्म होता था, जिसे पाणिनि ने आचार्यकरण[1] कहा है (१।३।३६)। इसके लिये 'उपनयते' यह विशेष क्रियापद प्रयुक्त होता था। उप पूर्वक नी धातु का इस विशेष अर्थ मे प्रयोग अथर्ववेद के समय से ही आरम्भ हो गया था (आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणम्, अथर्व ११।५।३)।

छात्र दो प्रकार के थे, माणव और अन्तेवासी (गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे ६।२।६९)। माणवो को पाणिनि ने 'दण्ड-माणव' भी कहा है। ४।३।११३०)। छोटी अवस्था के सीखतर ब्रह्मचारी माणव होते थे। मातंग जातक मे दण्डमाणवो को बाल कहा गया है (४।३७९, ३८७)। ब्रह्मचारी पलाश का दण्ड या आषाढ (५।१।११०) और अजिन रखते थे।

ब्रह्मचर्य की अवधि—तदस्य ब्रह्मचर्यम् (५।१।९४) सूत्र मे ब्रह्मचारियो के नामकरण की विधि बताई गई है। जितने दिन के लिये छात्र ब्रह्मचर्य व्रत की दीक्षा लेते थे उस अवधि के अनुसार उनका नाम पडता था। सूत्र के उदाहरणो से ज्ञात होता है कि पन्द्रह दिन (आर्धमासिक. ब्रह्मचारी), एक महीना (मासिक), या एक वर्ष (सांवत्सरिक) ब्रह्मचर्य का समय हो सकता था। वस्तुत परिमित अवधि के लिये चरणो मे प्रविष्ट होकर अध्ययन करने वाले ब्रह्मचारियो की ये सज्ञाए थी। आधुनिक विश्वविद्यालयो के अल्पकालिक व्याख्यान प्रबन्ध या शार्टटर्म कोर्स के ढंग पर वैदिक चरणो मे भी अध्ययन की सुविधाएँ मिलने लगी थी, तभी मासिक और आर्धमासिक ब्रह्मचारी जैसे प्रयोग अस्तित्व मे आए होगे। सब प्रकार के छोटे-बडे अध्ययन और ग्रथ-पारायणो मे भाग लेने की विद्यार्थियो को छूट थी। किसी यज्ञ विशेष की विधि जानने की इच्छा से, या विशेष साम-गान कण्ठ करने के लिये, या कुछ ऋचाओ का पारायण सीखने के लिये एक पखवाडे या एक महीने जैसे थोडे समय के लिये भी छात्र अध्ययन का नियम लेकर आर्धमासिक या मासिक ब्रह्मचारी बन सकते थे। अडतालीस वर्ष तक ब्रह्मचर्य का व्रत लेनेवाले छात्र 'अष्टाचत्वारिंशक' या 'अष्टाचत्वारिंशी' कहलाते थे (कात्यायन)। गृह्य सूत्रो से ज्ञात होता है कि गुरुकुलवास की यह अधिकतम अवधि थी। अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य व्रत 'आदित्य-व्रत' कहलाता था जिसके धारण करनेवाले ब्रह्मचारियो की सज्ञा आदित्यव्रतिक थी।

---

१. 'आचार्यकरण' की व्याख्या काशिका में इस प्रकार है—

'आचार्यकरणमाचार्यक्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सम्पद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानं आचार्यीकुर्वन् माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः।'

गोभिलगृह्यसूत्र के अनुसार 'आदित्य साम' पर्यन्त अध्ययन का व्रत 'आदित्य व्रत' था। (३।१२८-३०)।

ब्रह्मचारियो के नाम-करण के प्रसङ्ग मे कात्यायन ने कहा है कि व्रत के नाम से या अध्ययन के विषय के अनुसार विद्यार्थी का नाम पडता था; जैसे महानाम्नी ऋचाओ के अध्ययन का व्रत लेनेवाला ब्रह्मचारी 'महानाम्निक' कहलाता था। महानाम्नी सामवेद की नौ ऋचाओ की सज्ञा थी जिन्हे शाक्वरी छन्द मे होने के कारण शाक्वरी भी कहा जाता था। गोभिल गृह्य सूत्र मे रौरुकि ब्राह्मण के आधार पर लिखा है कि किसी समय माताएँ दूध पीते बच्चो के लोरी गान मे कहा करती थी – हे पुत्र! तुम शक्वरी छन्दोमूलक महानाम्नी व्रत के पारगामी[1] बनो। गोभिल गृह्यसूत्र के अनुसार महानाम्नी पर्यन्त सामवेद की समाप्ति के लिये १२, ९, ६ या ३ वर्ष की अवधि के विकल्प से चार प्रकार महानाम्निक व्रत होता था। इसी सूत्र पर काशिका मे गौदानिक ब्रह्मचर्यव्रत का भी उल्लेख है। १६ वर्ष की अवस्था मे गोदान-विधि के साथ समाप्त होनेवाले ब्रह्मचर्य काल के लिये यह विशेषण प्रयुक्त होता था (मनु, २।६५; गोभिल गृ० सू० ३।१।२८)।

पूर्व नियत उद्देश्य और परिमित काल के लिये शिक्षा की सुविधा का उल्लेख उपनिषदो मे भी आता है, जहाँ जिज्ञासु कुछ समय के लिये आचार्य के पास ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण करते हैं। विशेष उच्च शिक्षण के लिये और बढी हुई ज्ञानपिपासा की तृप्ति के लिये इस प्रकार की व्यवस्था अत्यन्त उपयोगी थी।

स्नातक—अध्ययन समाप्त करने पर ब्रह्मचारी आचार्य की अनुमति से स्नातक बनता था। स्नात वेद समाप्तौ गणसूत्र (५।४।२९) के अनुसार वेदाध्ययन की समाप्ति पर स्नातक बनने का उचित काल समझा जाता था। विद्या विशेष मे अतिशय प्रवीण स्नातक 'निष्णात' कहे जाते थे। पीछे चल कर यह शब्द कौशल के लिये प्रयुक्त होने लगा (निनदीभ्या स्नाते कौशले, ८।३।८९)। 'स्रग्वी' पद भी (५।२।१२१) सम्भवत स्नातक के लिये ही प्रयुक्त होता था (मनु ३।३)। स्रक् ब्रह्मचर्य-व्रत-समाप्ति का विशेष चिह्न थी। अकाल मे व्रत छोडकर गृहस्थ बन जानेवाले छात्रो को व्यङ्ग्य से 'खट्वारूढ' कहा जाता था। (खट्वा क्षेपे २।१।२६)। ब्रह्मचारी के लिये खाट का प्रयोग निषिद्ध होने के कारण 'खट्वारूढ' पद निंदार्थक माना गया था।

गृहपति—विवाह करके गृहस्थ आश्रम मे प्रविष्ट होनेवाले व्यक्ति के लिये प्राचीन सज्ञा 'गृहपति' थी। विवाह के समय प्रज्ज्वलित हुई अग्नि 'गार्हपत्य' कहलाती थी, क्योकि गृहपति उससे सयुक्त रहता था (गृहपतिना सयुक्ते ञ्य, ४।४।९०)।

---

१. यथाहि रौरुकि ब्राह्मण भवति—कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शक्वरीणां पुत्रका व्रत पारयिष्णवो भवतेति। (गोभिल गृह्यसूत्र ३।२।७-९)

अग्नि-साक्षिक विवाह से आरम्भ होनेवाले गृहस्थ जीवन में गृहपति लोग जिस अग्नि को गृह्यज्ञो के द्वारा निरन्तर प्रज्वलित रखते थे उस अग्नि के लिये ही 'गृहपतिना संयुक्त' यह विशेषण चरितार्थ होता है। विवाह के समय का अग्निहोम एक यज्ञ था। उस यज्ञ में पति के साथ विधिपूर्वक सयुक्त होने के कारण विवाहिता स्त्री की सज्ञा 'पत्नी' होती थी (पत्युर्नो यज्ञसयोगे, ४।१।३३)। पति-पत्नी दोनो मिलकर वैवाहिक अग्नि की परिचर्या करते थे (मनु ३।६७)। गृह्य अग्नि मे आहुत होनेवाले अनेक स्थालीपाक उस समय किये जाते थे। पाणिनि ने वास्तोष्पति के अतिरिक्त 'गृहमेध' देवता का भी उल्लेख किया है (४।२।३२)।

पुत्र-पौत्रो से सुखी सपन्न पति-पत्नी सुप्रज (५।४।१२२), बहुप्रज (५।४।१२३) और पुत्रपौत्रीण (पुत्र पौत्र मनुभवति, ५।२।१०) कहलाते थे।

घर या कुटुम्ब का बडा-बूढा वृद्ध (१।२।६५) या वश्य (४।१।१६३) कहलाता था। उसके जीवन-काल मे दूसरे लोग चाहे वे किसी भी आयु के हो 'युवा' (४।१।१६३) कहलाते थे। कुटुम्ब के वृद्ध और युवा सदस्यो मे नामो मे भिन्न भिन्न प्रत्ययो का प्रयोग होता था। गर्ग कुल के वृद्ध या वश्य की सज्ञा 'गार्ग्य' और उसी कुटुम्ब के युवा सदस्यों की 'गार्ग्यायण' होती थी। गार्ग्य और गार्ग्यायण के भेद का सामाजिक मूल्य था। प्रत्येक कुल को अपनी बिरादरी जाति या समाज की पंचायत मे वास्तविक सत्ता प्राप्त थी। कुल का बडा-बूढा उसका प्रतिनिधित्व करता था। गार्ग्य के जीवन काल मे उस कुल की पगडी गार्ग्य के सिर ही बांधी जाती थी और वही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधि माना जाता था। उसकी मृत्यु के उपरात उसका सगा बडा बेटा जो कल तक गार्ग्यायण था कुल के प्रतिनिधित्व की दृष्टि से गार्ग्य बन जाता था। इस परिवर्तन को उस बिरादरी के समस्त कुटुम्बो के प्रतिनिधि एकत्र होकर गार्ग्यायण के सिर पगड़ी बांध कर स्वीकार करते थे और उस दिन से उस कुटुम्ब के लिये वह गार्ग्य कहलाने लगता था। पगड़ी बांध कर पट्टाभिषेक करने की यह प्रथा आज तक प्रचलित है। पाणिनि ने 'वृद्ध' और 'युवा' प्रत्ययो से बननेवाले नामो पर जो इतना ध्यान दिया है, उसका सामाजिक पहलू था और जीवन मे उसका वास्तविक उपयोग और महत्व था। पिता के उपरात पुत्र उसके स्थान पर अपने कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करने का अधिकारी होता था। किंतु यदि कोई बडा-बूढा दादा, ताऊ या चाचा उस कुटुम्ब मे जीवित हो तो अपने पिता की दृष्टि से जिस गार्ग्यायण ने गार्ग्य पद प्राप्त कर लिया था वह बडे बूढे ताऊ-चाचा की दृष्टि से गार्ग्यायण ही कहलाता रहता था (वा अन्य-स्मिन्स्थविरतरे सपिंडे जीवति ४।१।१६५)। बिरादरी की पंचायतो मे प्राय. बड़ा-बूढा ताऊ चाचा ही उस कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता रहता था। बड़े भाई के जीवित रहते हुए सब छोटे भाई 'युवा' कहलाते थे। बड़ा भाई गार्ग्य और छोटे गार्ग्यायण संज्ञा के अधिकारी थे (भ्रातरि तु ज्यायसि, ४।१।१६४)।

अष्टाध्यायी मे प्रयुक्त ऋत्विक्, वाणिज, कृषीवल, शिल्पी, कर्मकर आदि शब्दो से तत्कालीन जीविकोपार्जन के साधनो का सकेत मिलता है। सपन्न गृहस्थो की स्थिति नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक (शतसहस्रान्ताच्च निष्कात्, ५।२।११९) इन विशेषणो से ज्ञात होती है। महाभारत में भी सौ निष्क और हजार निष्क धन की इन दो कोटियो का लोक मे प्रयुक्त मुहावरे के रूप मे उल्लेख हुआ है (शतेन निष्कगणित सहस्रेण च सम्मितम्, अनुशासन १३।४३)।

अध्याय ३, परिच्छेद २–विवाह

स्वकरण—पाणिनि ने विवाह के लिये उपयमन (१।२।१६) शब्द का प्रयोग किया है जिसकी व्याख्या 'स्वकरण' शब्द से सूत्र मे की गई है (उपाद्यम. स्वकरणे १।३।५६)। पति के द्वारा पत्नी का पाणिग्रहण किये जाने पर विवाह-सस्कार सपन्न समझा जाता था। इसके लिये पाणिनि ने 'हस्तेकृत्य' 'पाणौकृत्य' इन दो शब्दो का उल्लेख किया है, जो विवाह के पर्यायवाची थे (नित्यं हस्ते पाणावुपयमने, १।४।७७)। पाणि ग्रहण के द्वारा ही पति-पत्नी को 'अपनी' बनाता था जिससे 'स्वकरण' पद का विवाह के अर्थ मे प्रयोग हुआ। मनु के अनुसार केवल सवर्णा स्त्रियो के साथ विवाह पाणिग्रहण द्वारा होता था (पाणिग्रहण सस्कार: सवर्णासूपदिश्यते ३।४३)। विवाह के सपन्न होने मे वर के द्वारा वधू के पाणि-ग्रहण का महत्व 'पाणि-गृहीती' शब्द से प्रकट होता है जो कात्यायन के अनुसार विधिवत् परिणीता पत्नी की संज्ञा थी (पाणि गृहीत्यादीना विशेषे ४।१।५२, वा० २०) इसके विपरीत 'पाणि गृहीता' शब्द विधि-बाह्य परिणीता स्त्री के लिये प्रयुक्त होता था (यस्या: हि यथा कथञ्चित् पाणिर्गृह्यते)।

विवाह के फल-स्वरूप पति का पत्नी पर स्वामित्व हिंदू-धर्मशास्त्र का सुविदित नियम था। रोमदेश के पुराने कानून में कौमार, यौवन और वार्धक्य किसी भी अवस्था ने स्त्री का स्वतन्त्र व्यक्तित्व नही माना जाता था और पिता, पति या पुत्र की संरक्षकता अनिवार्यत: अपेक्षित थी। मेन के अनुसार पुत्री के ऊपर पिता की सरक्षकता का यह कृत्रिम अभिवर्धन था[1]। वैसी ही स्थिति मनु के मानवधर्मशास्त्र में कही गई है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा: न स्त्री स्वातन्त्र्य मर्हति॥ (१३)

कानूनी व्यक्तित्व की दृष्टि से विवाहित स्त्री का पति से पृथक् कोई निजी तन्त्र प्राचीन धर्म शास्त्र मे मान्य नही था, किन्तु दोनो का अभिन्न या एकीकृत तन्त्र समझा जाता था (यो भर्ता सा स्मृताङ्गना, मनु)। विवाह के समय पिता कन्या

१ थ्योरी आफ परपेचुअल गार्जिअनशिप ओवर डाटर्स वाई पेन आरटिफिशिअल प्रोलौंगेशन आफ पैट्रिया पोटेस्टा इन रोमन ला (मेनकृत ऐन्शेण्ट ला)।

के संबन्ध मे अपना स्वामित्व भावी पति को कन्यादान के द्वारा हस्तान्तरित करता है और पति उस दान को त्रिवाचा स्वीकार करता हुआ उस स्त्री का स्वकरण करता है, अर्थात् जो वस्तु अपनी नही थी उसे अपनी वनाता था (अस्वं स्वं करोति, भाष्य १।३।५६)। मनु के अनुसार कन्यादान का फल पति का स्वामित्व है (प्रदानं स्वाम्य कारणम् ५।१५२) अर्थात् कन्या के ऊपर पिता का स्वाम्य (संरक्षकत्व) समाप्त होकर पति में संक्रान्त हो जाता था। पति के द्वारा इस स्व-करण की मर्यादा का सूक्ष्म विचार मीमासा-शास्त्र मे किया गया है जहाँ सर्वस्वदक्षिण (जिसमे सब कुछ दक्षिणा में देना आवश्यक हो) विश्वजित् नामक यज्ञ मे पत्नी के ऊपर पति का अधिकार एक जीवित प्रश्न बनकर सामने आता था।

जिस कन्या से पुरुष विवाह करता था वह 'कुमारी' होती थी (कौमारपूर्ववचने, ४।२।१३)। पतञ्जलि ने कुमारी को 'अपूर्वपति' कहा है।[1] अनन्यपूर्विका कुमारी कन्या विवाहोपरात कौमारी भार्या और उसका पति कौमार पति इन प्रशस्त विशेषणो से अभिहित होते थे। विवाहित पति-पत्नी एक साथ यज्ञ आदिक गृह-कर्म में प्रवृत्त होते थे। पति के साथ यज्ञ-संयुक्त होने के अधिकार से ही स्त्री को पत्नी सज्ञा प्राप्त थी (पत्युर्नो यज्ञ-सयोगे ४।१।३३)। विधिवाह्य विवाहिता स्त्री को पति के साथ यज्ञ क्रिया में भाग लेने का अधिकार नही मिल सकता था।

स्वाभाविक रीति से पत्नी अपने पति की पद-प्रतिष्ठा की भी अधिकारिणी वनती थी। पुयोगादाख्यायाम् (४।१।४८) सूत्र के अनुसार पति के पदानुकूल पत्नी का नाम भी व्यवहार में आता था, जैसे महामात्र (एक उच्च राजकीय अधिकारी) की स्त्री महामात्री और गणक (अर्थ-विभाग का उच्च अधिकारी) की स्त्री 'गणकी' कही जाती थी। इसी प्रसंग में पाणिनि ने आचार्य की स्त्री के लिये 'आचार्यानी' संज्ञा का उल्लेख किया है। स्वयं अध्यापन कार्य करनेवाली स्त्री आचार्या होती थी (४।१।४९)।

विवाह-सवंध अपने गोत्र से वाहर करने की प्रथा थी जैसी अब भी है। विवाह-संवंध के लिये अष्टाध्यायी मे 'मैथुनिका' शब्द का प्रयोग किया गया है (४।३।१२५)। जो दो गोत्र आपस मे एक दूसरे के साथ विवाह-संवंध मे वँधते थे, स्वभावतः उनके नामो का जोड़ा एक साथ वोला जाता था। इस प्रकार के द्वद्व समास वनाने का नियम पाणिनि ने दिया है (द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयो. ४।१।१२५)। इसके उदाहरण मे पतञ्जलि ने प्रसगवश पाँच नामो का उल्लेख कर दिया है—१ अत्रि-भरद्वाजिका, २ वसिष्ठ-कश्यपिका, ३ भृग्वङ्गिरसिका, ४ कुत्सकुशिकिका, ५ गर्गभार्गविका। अत्रि-भरद्वाज, वसिष्ठ-कश्यप आदि गोत्रो का पारस्परिक विवाह-संवध यही इस प्रकार के नामो के प्रयोग मे हेतु था।

---

१. तुलना कीजिए, याज्ञवल्क्य स्मृति 'अनन्य पूर्विका' (१।५२)।

अध्याय ३, परिच्छेद ३ स्त्री

कुमारी—स्त्री के जीवन के अनेक क्षेत्रों का अष्टाध्यायी से परिचय मिलता है। कुमारी, पत्नी, माता, छात्रा, आचार्या आदि दशाओ मे उसके जीवन की कुछ झाँकी तत्कालीन भाषा के शब्दो मे आ गई है। आयु के प्रथम भाग में (वयसि प्रथमे ४।१।२०) वह कुमारी, किशोरी और कन्या कहलाती थी। कुछ स्त्रियाँ आजीवन अविवाहित रह जाती थी। वे बड़ी आयु होने पर भी कुमारी ही कहलाती थीं (कुमार्यां वयसि ६।२।९५) जैसे वृद्धकुमारी, जरत्कुमारी। कन्यावस्था मे ही अवैध सबध से जो पुत्र उत्पन्न होता था वह 'कानीन' कहलाता था (कन्यायाः कनीन च ४।१।११६)। मनु ने बारह प्रकार के पुत्रो मे कानीन भी कहा है (मनु ९।१७२)। पतजलि ने आपत्ति उठाई है कि यदि कन्या है तो पुत्र कैसा, और पुत्र हो गया है तो कन्या कैसी? कन्या और पुत्र ये दोनो आपस मे विरुद्ध हैं। उन्होने यह कह कर उसका समाधान किया है कि विवाह सबध मे बँध जाने के बाद पुरुष के साथ शरीर-सबध होने पर स्त्री का कन्या कहलाना बद हो जाता है, किंतु विवाह संबध से पहिले पुरुष के साथ जो शरीर-सबध कर लेती है उसके लिये भी लोक मे कन्या शब्द चालू रहता ही है। जिसको लोग कन्या कहते या मानते रहे वही कन्या है (भाष्य ४।१।११६)।

विवाह योग्य अवस्था प्राप्त होने पर कन्या 'वर्या' कहलाती थी। ज्ञात होता है कि वर्या वह कन्या थी जो बिना रोक-टोक वरी जा सके। सूत्रकार ने अनिरोध अर्थ मे यह शब्द सिद्ध किया है। काशिका मे इसके दो उदाहरण हैं—'शतेन वर्या', 'सहस्रेण वर्या'। टीकाकारो ने ऐसा अर्थ किया है कि जो सौ पुरुषो से अथवा सहस्र पुरुषो से वरण के लिये उपलब्ध हो वह 'वर्या' है। पर ज्ञात होता है कि शत और सहस्र शब्द कार्षापण वाची हैं। सौ या हजार चाँदी के कार्षापण पिता को कन्या-शुल्क देने पर जिस कन्या को बिना रोक-टोक कोई भी वर सके उसके लिये 'वर्या' शब्द था। इसके विरुद्ध जिस कन्या के लिये इस प्रकार बेरोक-टोक मगनी का अवसर न हो और जिसके लिये माता-पिता सबंध नियत करें, उसकी संज्ञा वृत्या थी। वर्या शब्द नित्य स्त्रीलिंग था। पुल्लिंग अर्थों मे इसी का उदाहरण 'वार्या ऋत्विजः' काशिका ने दिया है, जिसका अर्थ होगा वे पुरोहित जिन्हे नियत शुल्क (दक्षिणा) देने पर कर्म के लिये चुना जा सके। जो कन्या स्वयं अपना पति चुनती थी उसके लिये 'पतिवरा' शब्द था (३।२।४६)।

पत्नी—वधू जनी और उसकी या वर की भी सखियाँ जन्या कहलाती थी (जनी वहति जन्या, जामातुर्वयस्या सा हि विहारादिषु जामातृसमीप प्रापयति। जनी वधूरुच्यते, काशिका, ४।४।८२)। नव-विवाहिता वधू के लिये लोक और वेद दोनो

भाषाओ मे सुमङ्गली शब्द चलता था (संज्ञा छंदसोः, ४।१।३०)। विवाहिता स्त्री के लिये जाया (३।२।५२), पत्नी (४।१।३३) और जानि शब्द प्रयुक्त होते थे। युवती स्त्री और वृद्धा स्त्री का पति क्रमशः युवजानि और वृद्धजानि (५।४।१३४) कहलाता था। पतिवत्नी, जिनका पति जीवित हो (जीवत्पति, ४।१।३२), इस विशेष पद से ध्वनित होता है कि पति के जीवन काल मे पत्नी गृहस्वामिनी होती थी। 'सपत्नी' शब्द बहुविवाह की प्रथा का सूचक है।

ऐसी बडी वहिन का पति जिसका विवाह छोटी वहिन के बाद हो 'दिधिषू पति' कहलाता (६।२।१९) था।

पाणिनि ने एक सूत्र मे उन वशीकरण मंत्रो का भी उल्लेख किया है जिनका जप करके पुरुष स्त्री के हृदय को अपने वश मे कर लेता था। ये मत्र वैदिक थे जो अथर्व वेद मे संगृहीत हैं। स्त्री-हृदय को बांधने वाले ये मंत्र पाणिनि-काल मे हृद्य कहलाते थे (वधने षर्षौ, ४।४।९६; परहृदयं येन वध्यते वशीक्रियते स वशीकरण मन्त्रो हृद्य इत्युच्यते)।

अच्छे शील वाली माता का पुत्र भद्रमातुर (४।१।११५) और रूपवती माता का कल्याणिनेय (४।१।१२६) कहलाता था। पिता का गोत्र ज्ञात होने पर माता के गोत्र के अनुसार पुत्र का नाम पडता था, किंतु इस प्रकार के नाम से कुछ निंदा या हेठी (कुत्सन) सूचित होती थी (गोत्रस्त्रिया. कुत्सने ण च, ४।१।१४७; पितुरसविज्ञाने मात्राव्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा, काशिका)। उदाहरण के लिये गर्ग गोत्र मे उत्पन्न गार्गी के पुत्र का नाम 'गार्गिक' हो सकता था, किंतु वह गौरवास्पद न था।

गोत्र जनपद और वैदिक चरणो के नाम से स्त्रियो के नामकरण की प्रथा का अष्टाध्यायी मे पर्याप्त उल्लेख हुआ है। इससे स्त्रियो की सामाजिक प्रतिष्ठा और गौरवात्मक स्थिति का सकेत मिलता है। एक जनपद में उत्पन्न राजकुमारियाँ या स्त्रियाँ विवाह के बाद जब दूसरे जनपद मे जाती थी तब पतिगृह में वे अपने जनपदीय नाम से भी पुकारी जाती थी। राजस्थान के राजघरानो मे प्रायः अभी तक यह प्रथा विद्यमान है, जैसे हाडौती या ढूँढारी रानी। महाभारत-काल मे प्रायः सब प्रसिद्ध स्त्रियो के नाम माद्री, कुन्ती, गाधारी आदि इसी प्रकार के हैं। पाणिनि ने निम्न-लिखित नामो का सूत्र मे उल्लेख किया है—अवंति जनपद के क्षत्रिय की कन्या अवंती, कुन्ति जनपद या कोतवार देश की राजकुमारी कुन्ती, कुरु राष्ट्र की राजकुमारी कुरू, भर्ग जनपद की राजकुमारी भार्गी (४।१।१७६-१७८) आदि। पाञ्चली, वैदेही, आंगी, वांगी, मागधी, ये नाम प्राच्य देश के जनपदो की स्त्रियो के थे (४।१।१७८)। पाणिनि ने यौधेय नामक गणराज्य की स्त्री के लिये "यौधेयी" शब्द का उल्लेख किया है। भारतवर्ष के पूर्वी भागो में स्त्रियो के नाम मे 'आयन' प्रत्यय का बहुधा प्रयोग

होता था (प्राचा ष्फ तद्धितः, ४।१।१७), जैसे गर्ग गोत्र की स्त्री पूर्व में 'गार्ग्यायणी' और अन्यत्र 'गार्गी' कहलाती थी।

शिक्षा के क्षेत्र मे भी स्त्रियो का सम्मानित स्थान था, यहाँ तक कि चरण संज्ञक वैदिक शिक्षा केन्द्रो में भी वे प्रविष्ट होकर अध्ययन करती थी। सूत्र ४।१।६३ (जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्) मे जातिवाची स्त्री नामो में गोत्र और चरण वाची नामो का ग्रहण सब आचार्यों ने माना है। काशिका मे कठी और बह्वृची ये उदाहरण दिये गए हैं। कृष्ण यजुर्वेद की प्रसिद्ध शाखा का एक चरण कठ था। उसके संस्थापक आचार्य कठ सुप्रसिद्ध आचार्य वैशम्पायन के अतेवासी थे। कठ के चरण में विद्याध्ययन करने वाली स्त्रियाँ कठी कहलाईं। इसी प्रकार बह्वृच नामक ऋग्वेद के चरण मे अध्ययन करने वाली ब्रह्मचारिणी कन्याएँ बह्वृची संज्ञा की अधिकारिणी थी। इससे ज्ञात होता है कि चरणो मे जो मान मर्यादा छात्रो को होती थी वही छात्राओ के लिये भी थी। अन्य उदाहरण सूचित करते हैं कि मीमासा और व्याकरण शास्त्र जैसे जटिल विषयो का अध्ययन भी स्त्रियाँ करती थी। पाणिनि-व्याकरण का अध्ययन करने वाली स्त्री 'पाणिनीया', आपिशलि आचार्य के व्याकरण को पढने वाली 'आपिशला' (आपिशलमधीते ब्राह्मणी आपिशला, भाष्य २।१।१४, वा, १), एवं काशकृत्स्नि आचार्य की मीमासा का अध्ययन करने वाली स्त्री, 'काशकृत्स्ना' कहलाती थी (काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमासा काशकृत्स्नी, तामधीते काशकृत्स्ना, भाष्य ४।१।१४, वा० ५; ४।१।९३, वा० ९; ४।३।१५५, वा० ५)। शिक्षा मे प्रवीण माणविका के साथ विवाह करने वाला पति उसके कारण अपने आपको गौरवान्वित मान कर उसके नाम से अपना नामकरण करता था, जैसे औपगवी माणविका भार्या अस्य औपगवी भार्यः, ग्लुचुकायनी माणविका भार्या अस्य ग्लुचुकायनीभार्य (भाष्य ४।१।९३, वा० ९)। स्त्री चरणो के संस्थापक, साग सरहस्य वेद का अध्ययन कराने वाले, उपनयन कराने के अधिकारी महान् आचार्य शिक्षा के क्षेत्र मे सर्वोच्च पद के अधिकारी थे। उन्ही की कोटि पर पहुँच कर अध्यापन कार्य करने वाली विशिष्ट स्त्रियाँ आचार्या जैसे सम्मानित पद की अधिकारिणी होती थी (४।१।४९ सूत्र में पठित आचार्यानी का प्रत्युदाहरण)। पुरुषो के समान ही साग सरहस्य वेद का अध्यापन कराने और माणविकाओ का उपनयन कराने का जिसे अधिकार हो वही आचार्या हो सकती थी। शिक्षा की ऐसी उन्नत दशा मे छात्राओ के लिये अलग आवास स्थानो का प्रबन्ध भी किया जाना आवश्यक था। पाणिनि ने विशेष रूप से छात्रिशालाओं का उल्लेख किया है (छात्र्यादय. शालायाम्, ६।२।८६)। आचार्याओ के निरीक्षण मे जो शिक्षा-सस्थाएँ चलती थी उन्ही के अन्तर्गत ये छात्रिशालाएँ रहती होगी।

ज्ञानोपार्जन की यह प्रवृत्ति कभी-कभी यहाँ तक बढ़ती कि स्त्रियाँ आयुपर्यन्त

अविवाहित रहकर नैष्ठिक भिक्षुणियो का जीवन व्यतीत करती थी। उनके लिये सूत्र मे 'कुमारश्रमणा' पद आया है (कुमार श्रमणादिभि; २।१।७०; कुमारी श्रमणा कुमारश्रमणा)। यास्क ने परिव्राजक नामक आचार्यों का उल्लेख किया है जो सम्भवत सन्यास धर्म के अनुयायी थे। गणपाठ का 'कुमारप्रव्रजिता' शब्द उस सम्प्रदाय की नैष्ठिक व्रतचारिणी स्त्रियो के लिये प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।

श्रमण शब्द प्राय: ब्राह्मणेतर संन्यासियो के लिये प्रयुक्त होता था। अशोक के लेखो मे 'ब्राह्मण-श्रमण' यह पद बहुधा आता है। वहाँ श्रमण शब्द अवश्य ही बौद्ध भिक्षुओ के लिये है। कौमार अवस्था मे सन्यास लेकर भिक्षुणी बनने की व्यवस्था बुद्ध ने स्त्रियो के लिये की थी। बुद्ध के समय मे भिक्षुणी सघ नियमित सस्था बन गई थी। कुमारी श्रमणा या कुमार श्रमणा पद का प्रयोग भाषा मे भिक्षुणीसघ की स्थापना के बाद ही चलने की अधिक सम्भावना थी।

पाणिनि ने प्राच्य देश की क्रीडाओ का उल्लेख किया है (६।२।७४), जिसके उदाहरण टीकाओ में ये मिलते हैं—शालभञ्जिका, उद्दालकपुष्पभजिका, अशोक-पुष्पप्रचायिका, वीरणपुष्पप्रचायिका आदि। ये स्त्रियो की उद्यान क्रीड़ाएँ थी। जातको मे इन्हें 'उय्यान-कीडा' कहा गया है।

अष्टाध्यायी में स्त्रियो के प्रसाधन और अलकरण की सामग्री का भी उल्लेख पाया जाता है, जैसे माथे पर पहनने की 'ललाटिका', कानो की 'कर्णिका' (४।३।६५) और गले का 'ग्रैवेयक' (४।१।९६)। केश-सस्कार को 'केशवेश' और विशेष प्रकार के केशविन्यास को कवरी कहा गया है।

अध्याय ३, परिच्छेद ४—सामाजिक संस्थाएँ

इस शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित सस्थाओ पर विचार किया गया है—(१) जनपद, (२) वर्ण, (३) जाति, (४) गोत्र, (५) सपिण्ड, (६) सनाभि, (७) ज्ञाति, (८) सयुक्त, (९) कुल, (१०) वंश, (११) गृहपति।

जनपद—पाणिनि ने अनेक जनपदो का उल्लेख किया है। भौगोलिक दृष्टि से उनके नाम और पहचान ऊपर दी जा चुकी है। किन्तु जनपद भौगोलिक इकाई मात्र न थी। उसका सामाजिक, सास्कृतिक और राजनैतिक स्वरूप अधिक महत्त्वपूर्ण था। लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से लेकर पाणिनि के समय तक का काल जनपदो के विकास और अभ्युदय का युग था। इसीलिये भारतीय इतिहास मे यह महाजनपद युग कहा जाता है। पाणिनि ने अपने समय मे जिन संस्थाओ का दर्शन किया, उनमे जनपद, चरण और गोत्र इन तीनो का बहुत महत्व था। सामाजिक जीवन मे गोत्र, शिक्षा के क्षेत्र मे चरण और राजनीतिक जीवन मे जनपद, इन तीन संस्थाओ की बहुमुखी प्रवृत्तियाँ थी, और व्यक्ति के जीवन का इनसे घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतएव

इन तीनो संस्थाओ के विषय मे अष्टाध्यायी मे पर्याप्त सामग्री आ गई है। वैदिक संहिताओ मे और शाखा ग्रन्थो मे जनपद शब्द नही मिलता। शतपथ ब्राह्मण और ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अध्यायो मे केवल एक-एक बार यह शब्द आता है; किन्तु गृह्यसूत्र, पाणिनि एव महाभारत मे जनपद सस्था का पूर्ण विकास हो गया था।

वैदिक युग मे जन की सत्ता प्रधान थी। एक ही पूर्वज की वंश परंपरा मे उत्पन्न कुलो का समुदाय जन कहलाता था। शनैः शनैः जन का अनियत वास समाप्त होने लगा और जन एक-एक स्थान में बद्धमूल हो गए। ऐसे प्रदेश या स्थान जनपद कहलाए। मूल जन के अन्तर्गत जो क्षत्रियकुल सम्मिलित थे, जनपद मे भी राजसत्ता प्रायः उन्ही के हाथ मे रही। राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे। जनपदो के राजनैतिक स्वरूप और महत्त्व का पूर्ण परिचय आगे दिया जायगा। यहाँ केवल इतना पर्याप्त है कि जनपदो मे भी अनेक प्रकार के सामाजिक संबध प्रचलित थे। एक जनपद के निवासी प्रायः एक ही भाषा या बोली बोलते थे। उनमें पारम्परिक भ्रातृभाव का संबंध एवं समान देवताओ की मान्यता थी। एक जनपद के लोग परस्पर सजनपद (६।३।८५ = समान जनपद के निवासी) कहे जाते थे। प्रत्येक व्यक्ति का एक अभिधान उसके जनपद के अनुसार ही पड़ता था, जैसे अंग जनपद का निवासी आगक कहलाता था। इस विषय मे पाणिनि ने ब्यौरेवार नियम दिए हैं। प्राय स्त्रियो के लिये भी ये विशेषण प्रयुक्त होते थे। जैसे आगी, वागी, माद्री, यौधेयी आदि स्त्रियाँ जब विवाहित होकर पतिकुल मे पहुँचती, तो वहाँ उनकी जनपदीय अभिधा बनी रहती थी। कुन्ती, माद्री, गान्धारी, कौशल्या और कैकेयी, ये सुप्रसिद्ध स्त्री नाम जनपद सम्बन्ध से ही थे।

प्रत्येक जनपद मे जो उसके क्षत्रिय शासक थे, वे पाणिनि-काल मे 'जनपदिन्' कहलाते थे (४।३।१००, जनपदिनः = जनपद स्वामिन. क्षत्रियाः)। इन राजसत्ता के अधिकारी लोगो को अभिषिक्तवश्य भी कहते थे, क्योकि केवल इन्ही कुलो में उत्पन्न किसी व्यक्ति को 'राजा' पद पर अभिषिक्त होने का अधिकार प्राप्त था। विशेषत. गण या सघ राज्य प्रणाली मे अभिषिक्तवंश्य कुलो का महत्व अधिक था। संघ की मंगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिये जल लेने के वे ही अधिकारी थे। प्रत्येक गण मे ऐसे कुलो की संख्या नियत होती थी। अन्धकवृष्णि संघ के अन्तर्गत इस प्रकार के जो अभिषिक्तवंश्य क्षत्रिय थे, उन्हे ही राजन्य कहते थे (६।२।३४, काशिका-राजन्यग्रहणमिहाभिषिक्त वंश्यानां क्षत्रियाणा ग्रहणार्थम्)। किन्तु जनपदो की जनसंख्या मे मूल क्षत्रियजन के अतिरिक्त और वर्णों के लोग भी सम्मिलित हो गए थे।

पाणिनिसूत्र ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् (५।४।१०४) से विदित होता है कि भिन्न-भिन्न जनपदो मे बस जाने के कारण ब्राह्मणो की विशेष संज्ञाएँ प्रचलित हो

गई थी। काशिकाकार ने इसके दो उदाहरण दिये हैं—सुराष्ट्र ब्रह्म· अवन्तिब्रह्म. अर्थात् सुराष्ट्र और अवन्ति जनपद मे रहनेवाले ब्राह्मणविशेष। ये संज्ञाएँ कुछ उस प्रकार की हैं, जैसे कालान्तर मे सारस्वत और कान्यकुब्ज आदि भौगोलिक भेद ब्राह्मणो मे चल गए थे। अवन्तिब्रह्म का तो सीधा अर्थ मालवीय ब्राह्मण ही है, किन्तु जिस युग का यह मूर्धाभिषिक्त उदाहरण है, उस काल मे अवन्ति जनपद का मालव नाम प्रसिद्ध न हुआ था। चौथी शती के लगभग गुप्तकाल मे अवन्ति-प्रदेश मालव कहलाने लगा और तब से 'अवन्तिब्रह्मः' के स्थान मे मालवीय यह नया नाम प्रचलित हो गया।

वर्ण और जाति—अष्टाध्यायी मे वर्ण, जाति और बन्धु ये तीन, शब्द आए हैं। वर्ण प्राचीन शब्द था। उसके स्थान पर जाति शब्द चलने लगा था, जो इस अर्थ मे अपेक्षाकृत नवीन था। कात्यायन श्रौतसूत्र मे जाति का अर्थ केवल परिवार है। एक वर्ण मे उत्पन्न हुए व्यक्ति परस्पर सवर्ण होते थे (६।३।८५, समान वर्ण)। जाति का एक-एक व्यक्ति बंधु कहलाता था जात्यंताच्छ बंधुनि (५।४।९) सूत्र का अभिप्राय यह है कि जाति वाची शब्द से छ प्रत्यय लगाकर उस जाति के एक व्यक्ति का बोध किया जाता है, जैसे ब्राह्मणजातीय, क्षत्रियजातीय, वैश्यजातीय.। काशिका मे स्पष्ट लिखा है कि ब्राह्मणत्वादि जाति तो अव्यक्त है। वह जिन व्यक्तियो द्वारा पहिचानी जाती है, वे बधु कहलाते हैं। बंधु शब्द मे यह संकेत है कि एक जाति के सब सदस्य एक पूर्वपुरुष के उत्पन्न होने के कारण एक दूसरे से बँधे हैं। इस कारण सब जाति भाई आपस मे समान बधु या सबधु कहे जाते थे (६।३।८५)।

सगोत्र—गोत्र अष्टाध्यायी का महत्त्वपूर्ण शब्द है। पाणिनि के अनुसार अपत्यं पौत्र प्रभृति गोत्रम् (४।१।१६२) यह गोत्र की परिभाषा थी। इसका अर्थ या पौत्र प्रभृति यद पत्य तद्गोत्रसज्ञ भवति, अर्थात् एक पुरखा के पोते, पडपोते आदि जितनी सन्तान होगी वह गोत्र कही जायगी। गोत्र-प्रवर्तक मूल पुरुष को वृद्ध, स्थविर या वंश्य भी कहते थे। उदाहरण के लिये यदि मूल पुरुष का नाम गर्ग होता, तो उसका पुत्र गार्गि, पौत्र गार्ग्य और प्रपौत्र गार्ग्यायण कहलाता था।

१. मूलपुरुष या गोत्रकृत्–गर्ग

२. पुत्र या अनंतरापत्य—गार्गि (गर्ग + इ)

३. गोत्रापत्य या पौत्र—गार्ग्य (गर्ग + य)

४. युवा या प्रपौत्र—गार्ग्यायण (गर्ग + आयन)

किसी परिवार मे कौन गार्ग्य है और कौन गार्ग्यायण है, इसका समाज मे वास्तविक महत्त्व था। गोत्र नाम के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति का अपना व्यक्तिगत नाम भी होता था। इसीलिये महाभारत, जातक आदि प्राचीन ग्रन्थो मे व्यक्ति का परिचय पूछते समय नाम और गोत्र दोनो के विषय मे प्रश्न किया जाता था।

वास्तविक बात यह थी कि गोत्रो की परंपरा प्राचीन ऋषियों से चली आती थी। मान्यता है कि मूल पुरुष ब्रह्मा के चार पुत्र हुए—भृगु, अगिरा, मरीचि और अत्रि। वे चारो गोत्रकर्ता थे। फिर भृगु के कुल मे जमदग्नि, अगिरा के गौतम और भरद्वाज, मरीचि के कश्यप, वसिष्ठ और अगस्त्य, एव अत्रि के विश्वामित्र हुए। इस प्रकार जमदग्नि, गौतम, भरद्वाज, कश्यप, वसिष्ठ, अगस्त्य और विश्वामित्र ये सात ऋषि आगे चलकर गोत्रकर्ता या वश चलाने वाले हुए। अत्रि का विश्वामित्र के अलावा भी वश चला। इन्ही मूल आठ ऋषियो को गोत्रकृत् माना गया। फिर इनमे से हरेक के वश मे भी ऐसे प्रसिद्ध व्यक्ति हुए, जिनकी विशेष कीर्ति के कारण उनके नाम से भी वश का नाम प्रसिद्ध हो गया। उनकी गणना अपने मूल गोत्र के अंतर्गत पर स्वतत्र गोत्र-कर्ता के रूप मे की जाने लगी। होते-होते एक मूल गोत्र के अंतर्गत आगे चलकर और भी बहुत से कीर्तिमान् गोत्र-कर्ता उत्पन्न होते गए। उनकी गणना गोत्र-गण के नाम से कर ली गई। इस प्रकार मूल आठ गोत्र और प्रत्येक के अंतर्गत उत्पन्न होने वाले गोत्र-गणो की सूचियाँ प्राचीन समय मे सगृहीत की गईं। ऐसी सबसे बृहत् सूची बौधायन श्रौतसूत्र के अंत मे पाई जाती है, जिसका नाम महाप्रवरकाड है। इस सूची मे लगभग एक सहस्र नाम हैं। आपस्तंब, कात्यायन और आश्वलायन के श्रौत सूत्रो में भी गोत्रो की सूचियाँ हैं, जिनमे बौधायन की अपेक्षा नामो की सख्या कम है।

गोत्र के प्रश्न पर तथ्यात्मक दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञात होता है कि पुराने ऋषियो ने अथवा पाणिनि ने जो गोत्रो के नामो का संग्रह किया, वह समाज की वास्तविक अवस्था का सूचक था। उन्हें जो प्रसिद्ध गोत्रो के नाम मिले, उनका सग्रह कर लिया गया, और विदित होता है, ये नाम भी ब्राह्मण गोत्र ही थे। इसके अतिरिक्त समाज मे तो प्रत्येक परिवार का अपने पूर्व पुरुष की अपेक्षा स्वतन्त्र वंश-नाम हो सकता है। एवं क्षत्रिय, वैश्य और इतर जातियो मे भी सैंकडो, गोत्रो के नाम प्रचलित रहे होंगे, जैसे आज भी हैं। इस तथ्य को पुराने लोगो ने भी पहचाना था इसीलिए कहा गया—गोत्राणा तु सहस्राणि प्रयुतान्यर्बुदानि च, अर्थात् समाज मे जितने कुल हैं उन सबके नामो का सग्रह किया जाय तो परिवारो के नामो की सख्या सहस्रों, लाखो क्या, अरबो तक हो सकती है। पर व्याकरण मे अथवा धर्म-शास्त्र मे उन सबका सग्रह न तो सम्भव ही है और न अभिमत ही। यहाँ तो कुछ ही प्रसिद्ध गोत्रो के नामो का सग्रह हो सकता है जो वस्तुत यशस्वी हो जाते या महत्व रखते हैं। कहने के लिये प्रत्येक व्यक्ति अपना-अपना वंश चलाता है, पर सच्चे वशकर्ता या गोत्रकृत् कुछ वे ही होते हैं जिनके नाम से कुल प्रसिद्धि पाता है। बस इसी स्वाभाविक स्थिति को व्याकरण शास्त्र भी मानता है। ऋषियो के नाम से जो पुराने गोत्र चले आते थे, पाणिनि ने शब्द रूप और प्रत्ययो की दृष्टि से उसका वर्गीकरण करके

उन्हे लगभग २० गणो में सूची बद्ध कर दिया। ये सूचियाँ अधिकाश मे पुरानी सामग्री पर आश्रित थी और कालान्तर में उनमे फेरफार भी कम ही हो सका।

पर ऋषि गोत्रो के अतिरिक्त और भी अनेको परिवारो के नाम समाज मे थे। वे भी भाषा का अंग होने के कारण बोल-चाल में काम आते थे। उन अल्ल, बाँक या ख्यातो के लिये पाणिनि ने एक नया शब्द गढ़ा 'गोत्रावयव' (४।१।७९), जिसे काशिका ने कुलाख्या कहा है (गोत्रावयवा गोत्राभिमता कुलाख्या: पुणिकभुणिक-मुखर प्रभृतय.)। ऐसे छोटे कुलो की कोई गिनती पाणिनि ने नही दी, केवल एक सूत्र मे (क्रौड्यादिभ्यश्च, ४।१।८०) उन नामो की थोड़ी सी वानगी दे दी।

किसी परिवार मे कौन सा व्यक्ति गार्ग्य और कौन सा गार्ग्यायण था, इसका समाज मे वास्तविक महत्त्व था। समाज के प्राचीन सङ्गठन में प्रत्येक गृहपति अपने घर का प्रतिनिधि माना जाता था। वही उस परिवार की ओर से जाति-बिरादरी की पंचायत मे प्रतिनिधि बनकर बैठता था। ऐसा व्यक्ति उस परिवार मे मूर्धा-भिषिक्त होता था अर्थात् उस परिवार मे सबसे वृद्ध स्थविर या ज्येष्ठ होने के कारण उसी के सिर पगड़ी बाँधी जाती थी। पगड़ी बाँधने की यह प्रथा आज भी प्रत्येक हिंदू परिवार मे प्रचलित है और प्रत्येक पुत्र अपने पिता का उत्तराधिकार मूर्धा-भिषिक्त या पग्गड़बन्द होकर ही प्राप्त करता है। यदि किसी व्यक्ति के पाँच पुत्र हो तो उसका ज्येष्ठ पुत्र ही उसके स्थान मे मूर्धाभिषिक्त बनकर उसकी गोत्र पदवी प्राप्त करता है। शेष चारों पुत्र बड़े भाई के रहते मूर्धाभिषिक्त नही होते। संयुक्त परिवार की यह प्रथा बड़े नपे-तुले ढग से चलती थी। ज्येष्ठ भाई यदि गार्ग्य पदवी धारण करता तो उसके जीवनकाल मे सब छोटे भाई गार्ग्या-यण कहे जाते (भ्रातरि च ज्यायसि, ४।१।१६४)। ज्येष्ठ भाई वृद्ध या स्थविर या गोत्र कहलाता था, और उसकी अपेक्षा से छोटे भाई या उसके स्वयं पुत्र पौत्रादिक युवा कहलाते थे। गार्ग्य के रहते हुए वे सब गार्ग्यायण सज्ञा धारण करते थे, अथवा गार्ग्यसंज्ञक जेठे भाई का कोई बडा-बूढा चचा आदि यदि परिवार मे जीवित होता तो उसके जीते जी गार्ग्य भी युवा समझा जाता और उस गार्ग्य को भी विकल्प से गार्ग्यायण कह देते थे। ज्ञात होता है कि बुड्ढे चचा के रहते हुए वही उस परिवार का प्रतिनिधित्व करता था। अतएव यद्यपि अपने पिता की दृष्टि से भतीजा मूर्धाभि-षिक्त होकर गार्ग्य बन जाता था, किन्तु चचा की दृष्टि से उसमे गार्ग्यायण जैसा व्यवहार होता था। इस प्रकार की स्थिति अपने ही संयुक्त परिवार के सपिण्ड बड़े बूढे के साथ बरती जाती थी। समाज के इसी महत्त्वपूर्ण नियम का परिचायक पाणिनि का यह सूत्र है.—वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति (४।१।१६५), अर्थात् सात पीढी तक का कोई बडा बूढा जीता हो तो उसके जीते जी अपने परिवार का गार्ग्य भी गार्ग्यायण कहला सकता है। सामाजिक पृष्ठभूमि मे इस

परिस्थिति को यो समझना चाहिए। गार्ग्य उपाधिधारी चचा और गार्ग्य एवं गार्ग्यायण उपाधिधारी भतीजा, इन दोनो मे से एक ही व्यक्ति एक समय मे कुल का प्रतिनिधि हो सकता था। यदि जातीय पंचायत मे चचा सम्मिलित होता तो भतीजा गार्ग्यायण होने के नाते घर मे रहता। यदि किसी कारण से चचा के लिये सभा मे जाना सम्भव न होता तो गार्ग्य होने के नाते भतीजा उसके स्थान मे सम्मिलित हो सकता था।

इन उपाधियो का राजनीतिक महत्व भी था। उदाहरण के लिये संघ शासन प्रणाली में प्रत्येक परिवार एक इकाई मानी जाती थी। प्रत्येक परिवार का केवल एक ही प्रतिनिधि मङ्गल पुष्करिणी के जल से मूर्धाभिषिक्त होता था और वही संघ सभा मे बैठता था। इस पद पर उसकी उपाधि राजा होती थी। उदाहरण के लिये, लिच्छवि सघ मे ७७०७ कुल और उनके ७७०७ प्रतिनिधि 'राजा' या मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय संघ सभा के सदस्य थे। ऐसे ही मूर्धाभिषिक्त राजा या राजन्यो का अन्धक-वृष्णि सघ में उल्लेख पाणिनि ने किया है (६।२।३४)। एक-राज शासन-प्रणाली मे भी परिवार के प्रतिनिधित्व के अवसर आते रहते थे और उस समय गार्ग्य और गार्ग्यायण का भेद वास्तविक महत्त्व का हो जाता था। जैसे कभी-कभी राजा लोग विशेष अवसरो पर श्रेणी और निगम के सदस्यो को आमन्त्रित करते थे। ये दोनो आर्थिक संस्थाएँ थी। बुनकर, तेली, माली आदि शिल्पियो के जातीय और आर्थिक संगठन श्रेणि कहलाते थे। ऐसी अट्ठारह श्रेणियो की सूची प्रसिद्ध हो गई थी। धनी व्यापारियो की आर्थिक सभाएँ निगम कहलाती थी। श्रेणि सभा और निगम सभा मे परिवार की इकाई ही प्रतिनिधित्व का आधार थी और प्रति परिवार का जेठा या बूढ़ा ही उनमे सम्मिलित होता था। इस दृष्टि से पाणिनि ने जो गोत्र प्रत्ययो का इतना बड़ा ठाट खडा किया है एवं वृद्ध और युवा, इन दोनो के भेद की ऐसी बारीक छानबीन की है, उससे हमे उस वास्तविक स्थिति की झांकी मिलती है जो उनके समय मे जीवन की सचाई थी।

इसी प्रकरण मे आचार्य ने एक अन्य स्थिति की ओर भी इशारा किया है। मान लीजिए कोई गार्ग्य इतना वृद्ध हो जाय कि वह कामकाज से छुट्टी ले ले, अथवा जानबूझकर अपने ज्येष्ठ पुत्र को स्वस्थान मे प्रतिष्ठित कर दे, तो उस वृद्ध गार्ग्य की युवा गार्ग्यायण जैसी स्थिति हो जाती थी। इसी के लिये वृद्धस्य च पूजायाम् (४।१।१६६) सूत्र में विधान किया गया है। जैसे तत्रभवान् गार्ग्यायण., आप महानुभाव तो अब गार्ग्यायण हैं। इसकी ध्वनि यह हुई कि काम काज इनके पुत्र देखते हैं। अथवा इससे उलटी स्थिति भी सम्भव थी। कोई नवयुवक गार्ग्यायण अपने गार्ग्य पिता के जीवनकाल में ही अधिकार दबोच ले और गार्ग्य जैसा दावा करने लगे तो स्वभावत. उसे लोग अच्छा न समझते थे और ऐसे गार्ग्यायण के

लिये कहा जाता था, गार्ग्यो जाल्मः, निगोड़ा कैसा उतावला है कि गार्ग्य बन बैठा (यूनश्च कुत्सायाम्, ४।१।१६७)।

सपिण्ड—यह सूत्र युग का विशिष्ट शब्द था जो संहिता, ब्राह्मण, आरण्यकों में नहीं मिलता। धर्मशास्त्रों के अनुसार पिता की सातवीं पीढ़ी और माता की पांचवीं पीढ़ी तक के संबंधी सपिण्ड कहलाते हैं (मनु, ५।६०)। वाऽन्यस्मिन सपिण्डे स्थविरतरे जीवति (४।१।१६) सूत्र में पाणिनि ने सपिण्ड का उल्लेख किया है।

सनाभि—समाननाभि के स्थान में सनाभि आदेश होता है (६।३।८५)। नाभि का यहाँ अर्थ गर्भ की नाल है। ऋग्वेद, १।१३९।९ में ऋषि परुच्छेप का कथन है कि हमारी नाभियाँ मनु, अत्रि और कण्व आदि पूर्वजों के साथ मिली हुई हैं (अस्माकं तेषु नाभयः)। सनाभि के अन्तर्गत पहली और पिछली सभी पीढ़ियों के रक्तसंबंधी आ जाते हैं। पर मनु, ५।८४ पर कुल्लूक ने सनाभ्य का अर्थ सपिण्ड किया है।

ज्ञाति—माता, पिता के द्वारा अपने सभी संबंधित बांधव ज्ञाति कहे गए हैं (६।२।१३३, काशिका, ज्ञातयो मातृ पितृ संबंधिनो बांधवाः)। पाणिनि ने ज्ञाति को स्व का पर्याय कहा है (स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्, १।१।३५)। संभवत. यहाँ केवल पितृकुल के संबंधियों का ही ग्रहण है।

संयुक्त—संयुक्त ससुराल के संबंधियों को कहते थे (६।२।१३३, काशिका, संयुक्ताः स्त्री संबंधिनः श्यालादयः)। पाणिनि ने श्वशुर—श्वश्रू (१।२।७१), श्वसुर्य (=श्वसुर पुत्र) को संयुक्त कहा है (४।१।१३७)।

कुल—परिवार की संज्ञा कुल थी (४।१।१३९, ४।२।९६)। कुल की प्रतिष्ठा पर प्राचीन भारतीय बहुत ध्यान देते थे। प्रतिष्ठित और यशस्वी कुल महाकुल कहलाते थे। समाज में उनका स्थान बहुत ऊँचा माना जाता था। कुल में उत्पन्न व्यक्ति कुलीन (४।१।१३९) और महाकुल में उत्पन्न महाकुलीन, माहाकुलीन अथवा माहाकुल कहलाता था (४।१।१४१)। काशिका के अनुसार श्रोत्रिय कुल में उत्पन्न व्यक्ति की संज्ञा श्रोत्रियकुलीन थी। मनु ने बताया है कि किस प्रकार विवाह, वेदाभ्यास, यज्ञ—इन तीन उपायों से कुलों की प्रतिष्ठा बढ़कर महाकुल जैसी हो जाती थी (मनु ३।६३, ६६, १८४-१८६)[1]। यों तो समाज में चारों ओर कुल ही कुल थे, किंतु उत्कृष्ट कुलों की गणना में स्थान पा लेना कुल संख्या प्राप्त करने का आदर्श था। महाभारत में भी इस प्रकार के महाकुलों की प्रशंसा की गई है, जिससे यह अनुमान किया जा सकता है कि महाकुल में उत्पन्न व्यक्ति के लिये भाषा में

१. मन्त्रतस्तु समृद्धानि कुलान्यल्पधनान्यपि।
कुलसंख्यां च गच्छन्ति कर्षन्ति च महद् यशः (मनु ३।६६)।

पाणिनि निर्दिष्ट कई शब्दों की आकांक्षा थी। धृतराष्ट्र ने विदुर से पूछा—'महाकुलों को देवता भी चाहते हैं। हे विदुर, महाकुल कौन से होते हैं?' विदुर ने उत्तर दिया—'तप, दम, ब्रह्मज्ञान, यज्ञ, पुण्यविवाह, सदा अन्न दान और सम्यक् आचार ये सात गुण जिनमें हों, वे महाकुल कहलाते हैं[1]।'

दूसरी ओर जो परिवार वेदाध्ययन में प्रमाद करते अथवा किसी भी रूप में सदाचार का परित्याग करते वे अकुल या हीनकुल माने जाते थे। ऐसे कुलों में उत्पन्न व्यक्ति के लिये पाणिनि ने दुष्कुलीन या दौष्कुलेय शब्दों के प्रयोग का उल्लेख किया है (४।२।१४२)।

वंश—वंश दो प्रकार का होता था—विद्या और योनि संबंध से (विद्यायोनि संबंधेभ्यो वुञ् ४।३।७७; ऋतो विद्यायोनि संबंधेभ्यः ६।३।२३)। विद्यावंश गुरु शिष्य परम्परा के रूप में चलता था, जो योनि-संबंध के समान ही वास्तविक माना जाता था। योनि संबंध मातृवंश और पितृवंश से दो प्रकार का होता था (अपर आह—द्वावेव वंशौ मातृवंश. पितृवंशश्च, भाष्य ४।१।१४७, वा ७)।

शिष्य लोग अपने-अपने चरण में गुरुशिष्य-परम्परा अथवा विद्यावंश का पारायण वेदाध्ययन की समाप्ति के समय किया करते थे। उपनिषद् में इस प्रकार के कई विद्यावंश सुरक्षित हैं। योनि संबंध से प्रवृत्त होनेवाले पितृवंश की व्यतीत पीढ़ियों की संख्या यत्नपूर्वक रक्खी जाती थी, जैसा कि संख्या वंश्येन (२।१।१९) सूत्र से ज्ञात होता है। ऐसी प्रथा थी कि वंश के मूल संस्थापक पुरुष के नाम के साथ पीढ़ियों की संख्या जोड़कर उस वंश के दीर्घकालीन अस्तित्व का संकेत दिया जाता था। उदाहरण के लिये २।४।८४ सूत्र पर पतञ्जलि ने एकविंशति भारद्वाजम् और त्रिपञ्चाशद् गौतमम् का उल्लेख किया है। पहले का संकेत भारद्वाज के कुल की २१ पीढ़ियों से है। दूसरे का संकेत है कि मूल पुरुष गौतम से उदाहरण की रचना के समय तक ५३ पीढ़ियाँ बीत चुकी थीं। यदि एक पीढ़ी का आयुष्य भोग २५ वर्ष माना जाय तो उदाहरण से १३०० वर्ष पूर्व गौतम वंश प्रवर्तित हुआ होगा। इस काल गणना का कुछ समर्थन बृहदारण्यक उपनिषद् की वंश सूचियों से भी होता है, जिसमें गुरुशिष्य परम्परा की ५७ पीढ़ियों की गिनती है। ब्राह्मण युग के अन्त में जब इस प्रकार की सूचियों का संकलन किया गया, उस समय के लगभग ही 'त्रिपञ्चाशद् गौतमम्' जैसा शब्द प्रयोग अस्तित्व में आया होगा। गौतम वंश के संबंध में यह उल्लेखनीय है कि उपनिषद्

---

१. महाकुलानां स्पृहयन्ति देवा धर्मार्थवृद्धाश्च बहुश्रुताश्च।
पृच्छामि त्वां विदुर प्रश्नमेतं भवन्ति वै कानि महाकुलानि॥
तपो दमो ब्रह्म वित्त्वं वितानाः पुण्या विवाहाः सततान्नदानम्।
येष्वेवैते सप्तगुणा भवन्ति सम्यग् वृत्तस्तानि महाकुलानि॥

(उद्योगपर्व ३६।२२-२१)

काल मे अरुण, उसके पुत्र उद्दालक आरुणि और उसके पुत्र श्वेतकेतु आरुणेय जैसे प्रसिद्ध आचार्यों के रूप मे इस वंश की पर्याप्त ख्याति थी।

गृहपति—समाज की सबसे महत्त्वपूर्ण इकाई गृह थी। गृह का स्वामी गृहपति उस गृह की अपेक्षा से सर्वाधिकार सम्पन्न माना जाता था। सामान्यत: गृहपति का स्थान पिता का था। उसके बाद उत्तराधिकारी ज्येष्ठ पुत्र गृहपति की पदवी धारण करता था। प्रत्येक जनपद में फैले हुए कुलो के इस ताने-बाने को गार्हपत संस्था कहते थे। पाणिनि ने कुरु जनपद के गृहपतियो की संस्था को 'कुरु गार्हपत' कहा है (६।२।४२)। कात्यायन ने वृजि जनपद अर्थात् उत्तरी विहार के कुलों के लिये वृजिगार्हपत शब्द का प्रयोग किया है। इन्हो दो जनपदो के लिये शब्दो की क्यो आवश्यकता पड़ी, इसकी पृष्ठभूमि कुछ इस प्रकार थी। कुरु जनपद के गार्हपत धर्म की विशेषताओ का वर्णन कुरुधम्म जातक मे (जातक भाग ३, संख्या २७६) आया है। इस जातक मे राजा से लेकर रंक तक लोक जीवन के ११ प्रतिनिधि व्यक्ति चुने गए हैं। प्रत्येक अपने-अपने केन्द्र मे रहता हुआ कठिन और सूक्ष्म शीलधर्म पालने का आदर्श सामने रखता है। उन सब का दृष्टिकोण वही है जो गीता मे बताया गया है, अर्थात् वाह्य रूप मे शील या गुणो का पालन अधिक महत्त्व का नही, मन का भाव शुद्ध होना चाहिए। यदि भाव बिगडा है, तो वाहरी शील दिखावा मात्र है।[1]

कुरुधर्म के विषय मे तीन वातें इस जातक से विशेष ज्ञात होती है—(१) कुरुजनपद का गृहपति धर्म ऊँच, नीच, राजा, रक आदि सारे समस्त जनपद का धर्म था। केवल राजा ऋषि या भिक्षुओ के लिये यह मार्ग न था। (२) कुरुधर्म गृहस्थ जीवन का आदर्श था। घर मे रहते हुए शील धर्म का पालन यही छोटे बड़े हर एक मानव की विशेष रीति थी। शील का पालन सबके लिये सम्भव है और प्रत्येक व्यक्ति का निजी कर्तव्य शील-पालन का ही सच्चा रूप है। (३) कुरुधर्म का सम्बन्ध स्वर्ग, नरक या मोक्ष से नही, प्रत्युत सीधे-सादे नीति प्रधान जीवन मार्ग से था। ईमानदारी से भरा हुआ जीवन ही उसकी विशेषता थी। इस कुरु धर्म या गृहपतियो के आदर्श के लिये ही लोक मे 'कुरुगार्हपत' यह सार्थक शब्द प्रचलित हुआ होगा। जातक में स्पष्ट कहा है कि बुद्ध के जन्म से भी बहुत पहले के प्राचीन कुरु

---

१. ये ११ व्यक्ति और उनके धर्म इस प्रकार हैं:—(१) राजा (अहिंसा), (२) राजमाता (समत्व), ३ राजमहिषी (ब्रह्मचर्य); (४) उपराजा (स्वामिभक्ति); (५) पुरोहित (अलोभ); (६) रज्जुग्राहक (परदुःखनिवृत्ति); (७) सारथि (पशुओं पर दयाभाव); (८) श्रेष्ठी (पर द्रव्य के विषय में सूक्ष्म नैतिक सचाई); (९) द्रोणमापक महामात्य (प्रजाओं के प्रति सहानुभूति); (१०) द्वारपाल (निष्ठुर वाणी का परित्याग); (११) गणिका (अपने अङ्गीकृत कर्तव्य से आनृण्यभाव)

गृहपतियो ने स्त्री सहित घर मे रहते हुए अल्पमात्र भी अनुचित कर्मों मे अरुचि प्रकट की। यह भी कहा गया है कि कलिंग देश का राजधानी दन्तपुर मे ब्राह्मणों का एक दल कुरुधर्म जानने की इच्छा से कुरुजनपद में आया और वहाँ के पण्डितों से उस धर्म को जाना और फिर उसे स्वर्णपट्ट पर उत्कीर्ण कराया और अपने राजा को दिया। ज्ञात होता है कि कर्मयोग-प्रधान कुरुधर्म का आदर्श ही कुरुदेश में कहे जानेवाले गीता शास्त्र के रूप मे अवतरित हुआ। मज्झिम-निकाय की पपञ्च सूदिनी टीका मे भी कुरुओ के इस शील प्रधान कुरुवत्त धर्म का उल्लेख है (मज्झिमनिकाय टीका १।१२५)। पतित्थान सूक्त की अट्ठ कथा में कहा गया है कि कुरुदेश में समाधिसम्बधी चर्चा का बहुत प्रचार था। दास, कर्मकर (नौकर चाकर) तक भी स्मृति प्रस्थान अर्थात् शीलवती प्रज्ञा के विषय मे चर्चा किया करते थे। पनघट पर एकत्र हुई एव सूत कातती हुई स्त्रियाँ स्मृति-प्रस्थान की भावना करती थीं।

वृजि जनपद या लिच्छविसंघ का जीवन कुछ दूसरा आदर्श लिए हुए था। उनमे जातीय स्वाभिमान, समत्वभाव, वैयक्तिक गरिमा, स्वातन्त्र्य आदि की भावनाओ की प्रधानता थी, ऐसा बौद्ध साहित्य से विदित होता है। विवाह शुद्धि के सबंध में भी उनके कठोर नियम थे।

इस प्रकार वहाँ की गृहपतिपद्धति के आदर्श की समुदित संज्ञा वृजिगार्हपत नाम से प्रसिद्ध हुई जिसका कात्यायन ने उल्लेख किया है (कुरुवृज्योर्गार्हपते, वा०, ६।२।४२)।

पारिवारिक सबध—सुविदित होते हुए भी पारिवारिक शब्दो की सूची सूत्रो से यहाँ दी जाती है—

माता, पिता, (१।२।७०; पितामह; पितृव्य (४।२।३६); भ्राता, सोदर्य (४।४।१०९); ज्यायान् भ्राता (४।१।१६४); स्वसा (१।२।६८); पुत्र पौत्र (५।१।१०), पितृष्वसा (८।३।८४); उसका पुत्र पैतृष्वसेय (४।१।१३२); मातृष्वसा (८।३।८४); उसका पुत्र मातृष्वसेय (४।१।१३४), स्वस्रीय (४।१।१४३); भ्रातृव्य (४।१।१४४); मातामह (३।२।३६); मातुल (४।२।३६), मातुलानी (४।१।४९)। माता पिता दोनो के लिये एक शेप वृत्ति द्वारा माता का लोप करके 'पितरौ' शब्द का प्रयोग होता था। पतजलि ने 'अभ्यर्हितम्' (२।२।३४ वा ४) वार्तिक का दृष्टान्त देते हुए 'माता पितरौ' में माता को पिता से अधिक पूजनीय माना है, जो मनु (२।१४५, सहस्रंतु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यिते) के अनुकूल है। पाणिनि का भी समवतः यही मत था, जैसा कि उन्होने सूत्र ४।२।३६ मे मातामह शब्द को पितामह शब्द से पहले रखकर व्यक्त किया है। पितरौ, भ्रातरौ, पुत्रौ, श्वशुरौ आदि एक शेष शब्दो मे पुरुषवाची शब्द ही शेष रहता है, जो पितृकेन्द्रित समाज में पिता की प्रधानता के कारण स्वाभाविक है। पुमान् स्त्रिया (१।२।६७) सूत्र से भी यही सकेत मिलता

है। पिता और माता आदि मे कौन प्रधान और कौन उपसर्जन या गौण है, इसका विचार आचार्य ने जान-बूझकर अपने शास्त्र मे नही किया और कहा है कि इस विषय में लोक को ही प्रमाण मानना उचित है (तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्, कालोपसर्जने च तुल्यम्, १।२।५६-५७)।

बेटे-पोते, नाती-पन्ती आदि मे फूलते-फलते परिवार के लिये लोक मे पुत्रपौत्रीण यह सुन्दर प्रयोग चलता था (पुत्र पौत्र मनुभवति ५।२।१०) बहुप्रज शब्द (५।४।१२३) भी ऐसा ही था।

मित्र—परिवार के अतिरिक्त मित्र और सुहृद्वर्ग मे भी मानव अपने मन की प्रसन्नता का अनुभव करता है। जातकों में माता-पिता, मित्र-सुहृद्, ज्ञाति वर्ग का प्राय. साथ उल्लेख आता है (जातक ५ पृष्ठ १३२)। पाणिनि ने सखि (५।१।१२६, मित्र (५।४।१५०), सुहृद् (५।४।१५०) और उनके सौहार्द भाव के लिये सख्य (५।१।१२६, सख्युर्भाव. कर्म वा) और संगत (३।१।१५०) का उल्लेख किया है। आयु पर्यन्त निभने वाली गाढी मैत्री 'अजर्यं संगत' कहलाती थी।

साप्तपदीनं सख्यं (५।२।२२) का साप्तपदीन शब्द प्राचीन काल से चला आता था। अथर्ववेद मे अथर्वा वरुण को अपना सप्तपदसखा कहता है, और वरुण भी उसके लिये यही भाव प्रकट करता है (५।११।९, १०)। महाभारत मे भी साप्तपद सख्य का उल्लेख है (वनपर्व २६०।३५; २९७।२३)। गृह्यसूत्रो मे विवाह संस्कार के अन्तर्गत सप्तपदी का विधान है। उसीसे साप्तपदीन या साप्तपद सख्य का आदर्श स्थिर हुआ। ऋग्वेद में सप्तपदी के लिये अग्नि द्वारा इष् और ऊर्ज के दोहन का उल्लेख है (ऋ० ८।७२।१६, अधुक्षत् पिप्युषीमिषमूर्जं सप्तपदी मरिः। सूर्यस्य सप्त रश्मिभि.मैत्री) सप्तपदीन मित्रता राम सुग्रीव मैत्री की भांति अग्निसाक्षिक हुआ करती थी (किष्किन्धा, ८।४)।

भृत्य—भृत्य के लिये पाणिनीय भाषा मे किंकर शब्द का प्रयोग होने लगा था, जो संहिता और ब्राह्मण की भाषा मे अज्ञात था। गणपाठ मे कई प्रकार के भृत्यो का उल्लेख है—(१) परिचारक, (२) परिषेचक (स्नान कराने वाला), (३) उत्सादक (शारीरिक मंडन मे सहायक), (४) उद्वर्तक (गन्ध चूर्ण या उबटन मलने वाला), (५) प्रलेपिका, (६) विलेपिका (अगुरु कुंकुम चन्दनादि लगाने वाली परिचारिका), (७) अनुलेपिका (७) अनुचारक, (९) मणिपाली (४।४।४८) (१०) द्वारपाली, (११) दण्डग्राह, (१२) चामरग्राह (४।१।१४६)। ये भृत्य प्राय. राजभवन और धनिक नागरिको के यहाँ रहते थे, जैसा कि अर्थशास्त्र और कामसूत्र मे कहा गया है। सूत्रो में दौवारिक। (४।३।४) वैवधिक (४।४।१७, बहंगी या कावर ढोने वाले), उदकहार या उदहार (६।३।६०, कहार) का भी उल्लेख है।

अतिथि—अभ्यागत के लिये अतिथि, उसकी सेवा शुश्रूषा को आतिथ्य (५।४।२६) और आवभगत करने वाले गृहपति को आतिथेय (४।४।१०४) कहा है। अतिथि के आने पर उसकी परिचर्या विधि गृह्यसूत्रों में विस्तार से कही गई थी। पाद्य और अर्घ्य का पाणिनि ने भी उल्लेख किया है (५।४।२५)। अतिथि के लिये वैदिकभाषा के 'गोघ्न' शब्द का भी सूत्र में उल्लेख है (४।४।७३)

अध्याय ३, परिच्छेद ५—अन्नपान

अन्नपान के संबध मे अष्टाध्यायी मे महत्वपूर्ण सामग्री है। भारतीय अन्न पान का इतिहास लिखा जाय तो पाणिनीय सामग्री उपयोगी होगी। भक्त शब्द के दो अर्थ थे, एक अन्न और दूसरा भात या उबला हुआ चावल। भक्ताख्यास्तदर्थेषु (६।२।७१) सूत्र में पहला अर्थ है जो प्राचीन काल से चला आता था। रोजीना पर काम करने वाले श्रमिको को मजदूरी में भोजन दिया जाता था उन्हे भाक्त या भाक्तिक कहते थे (४।४।६८)। अर्थशास्त्र के अनुसार शिल्पियो को भक्त अर्थात् भोजन और वेतन या नगद मजूरी दी जाती थी, पर खेतिहर मजदूरो को केवल भोजन या भक्त पर रखने की चाल थी (अर्थ शास्त्र २।२४)। पतञ्जलि ने लिखा है 'कृषि धातु का अर्थ खेत में हल चलाना मात्र नही है, वलिक मजूरो को भक्त या भोजन, बीज और बैल आदि का प्रबन्ध करना भी कृषिधातु के अन्तर्गत आता है। जब हम कहते हैं कि अमुक व्यक्ति खेती करता है, तब उसका तात्पर्य है कि वह इन सब का प्रबन्ध करता है' (यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधान करोति स कृष्यर्थः ३।१।२६ वा० ३)। भक्ताणण. (४।४।१००) सूत्र मे भक्त का अर्थ भात या चावल है, जैसा काशिका ने लिखा है—भाक्त शालि, भाक्त' तण्डुलः (भात के लिये बढिया धान या चावल)।

अन्न और भोजन के प्रकरण मे भोज्य, भक्ष्य, मिश्रीकरण, व्यञ्जन, उपसिक्त, संस्कृत आदि कुछ पारिभाषिक शब्दो का प्रयोग हुआ है, जिनका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

(अ) भोज्य—भोज्यं भक्ष्ये (७।३।६९) सूत्र मे भोज्य को भक्ष्य अर्थ मे सिद्ध किया गया है। कात्यायन ने इस पर शंका की कि भोज्य मे ठोस और तरल दोनो प्रकार के खाद्य पदार्थ आते हैं, लेकिन भक्ष्य दांत से चबाए जानेवाले भोजन के लिये ही है। भोज्य का अर्थ भक्ष्य की अपेक्षा विस्तृत है। अतएव भोज्यं भक्ष्ये सूत्र ठीक नही बना। भक्ष्य का अर्थ भोज्य की अपेक्षा कम है। इसलिये कात्यायन ने सुझाव दिया कि 'भोज्यम् अभ्यवहार्ये' ऐसा सूत्र कर दिया जाय। पतंजलि कात्यायन से सहमत नही। उन्होंने पाणिनि सूत्र को सङ्गत मानकर कहा है कि अब्भक्ष और वायुभक्ष इन पुराने उदाहरणो से जाना जाता है कि जो पदार्थ दाँत से नही चबाए जाते, उनके लिये भी भक्षण क्रिया भाषा मे प्रयुक्त थी। इसलिये भोज्य भक्ष्य पर्याय हैं और सूत्र ठीक

है। पीछे के टीकाकारो ने भक्ष्य के इस अर्थ को माना। खरविशद (ठोस) और द्रव दोनो भक्ष्य हैं, (काशिका, इह भक्षणमभ्यवहारमात्रम्)। श्री गोल्डस्टूकर ने पतंजलि की युक्ति को चिन्त्य कहा, 'अवश्य ही पाणिनि के समय मे भक्ष्य और भोज्य पर्यायवाची थे, पर कात्यायन के समय ऐसा न रह गया था, इसलिये सूत्र मे सुधार की आवश्यकता है। विचार से ज्ञात होता है कि गोल्ड स्टूकर का यह कथन युक्त नही है। स्वयं सूत्रकार ने अष्टाध्यायी मे भक्ष्य शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया है। एक तो दाँत से कूचकर खाए जानेवाले ठोस भोजन के लिये, जैसे 'भक्ष्येण मिश्रीकरणम्' (२।१।३५) और संस्कृतं भक्षा (४।२।१६) सूत्रो में। 'गुडेन संसृष्टाः गुडसंसृष्टाः, गुडसंसृष्टाः धानाः गुडधानाः' इस उदाहरण के गुड शब्द को भाष्य मे मिश्रीकरण द्रव्य और धान को भक्ष्य माना है। काशिका मे लिखा है कड़े भोजन को ही भक्ष्य कहते हैं (खर विशदमभ्यवहार्यं भक्ष्यमित्युच्यते)। इन सूत्रो में भक्ष्य का अर्थ सीमित है, पर 'भोज्य भक्ष्ये' में वह ठोस और द्रव दोनो का वाची है। गोल्डस्टूकर का यह कहना भी ठीक नही है कि कात्यायन कालीन शिष्ट भाषा मे भक्ष्य केवल ठोस भोजन के लिये प्रयुक्त था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में पाणिनि के समान ही भक्ष्य शब्द के दोनो अर्थ हैं। 'सूदो भक्ष्यकारो वा भक्ष्यभोजन याचेत' (अर्थ ५।१) में भक्ष्य और भोजन में भेद किया गया है। किंतु 'भक्ष्येषु स्मरति' (अर्थ० ५।५, 'राजा भोजन के समय अपने मन्त्री का स्मरण करता है') वाक्य मे भक्ष्य का अर्थ ठोस और द्रव भोजन मात्र है[१]।

(आ) मिश्रीकरण—'भोज्यं भक्ष्ये' सूत्र को छोड़कर और सब सूत्रो में भक्ष्य का अर्थ ठोस खाद्य पदार्थ है। पललसूपशाकं मिश्रे (६।२।१२८) पलल (मास) सूप (दाल) और शाक इन्हें भक्ष्य माना गया है। इन ठोस पदार्थों मे गुड घी, आदि द्रव्य यथारुचि मिलाते हैं, पर दोनो द्रव्य समान महत्त्व रखते हैं और उनका मिलाना ऐच्छिक होता है। इसे मिश्रीकरण कहते थे। गुड़ और धान दोनो को एक साथ पागकर बनाई हुई गुडधानी नामक भोजन सामग्री मे गुड और धान दोनों का महत्त्व होता है। सूत्र ६।२।१५४ (मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ) पर काशिका मे गुड, घी और तिल को मिश्र या मिश्रण योग्य माना है।

संसृष्ट—४।४।२२-२५ संसृष्टे आदि सूत्रो मे भोजन मे किसी दूसरी वस्तु को संसृष्ट करने अर्थात् अप्रधान और ऐच्छिक रूप से मिलाने का प्रकरण है। जैसे किसी

---

१. पाणिनि—भोज्य = खरविशद और द्रव। भक्ष्य = ७।३।६९ सूत्र में ठोस और द्रव दोनों तथा और सब जगह केवल ठोस भोजन।

कात्यायन—भोज्य = खरविशद और द्रव। भक्ष्य = केवल द्रव भोजन।

पतंजलि—भक्ष्य = खरविशद और द्रव दोनों प्रकार का भोजन।

कौटिल्य—भक्ष्य = खरविशद और द्रव दोनों प्रकार का भोजन।

वस्तु मे दही डाल दें तो वह दाधिक कहलाएगी। ऐसे ही मिर्च, अदरक, पीपल आदि का मसाला जिस आचार मे मिला दिया जाय तो वह मारिचिक, शाङ्गवेरिक, पैप्पलिक कहा जायगा। मिश्रीकरण प्रक्रिया मे दोनो पदार्थ समान महत्त्व रखते हैं, पर ससृष्ट मे जो पदार्थ मिलाया जाय वह गौण रहता है। दही लगाकर पूरी-पराठा खाने मे दही गौण और पराठा प्रधान है। स्वय पाणिनि ने संसृष्ट प्रक्रिया के तीन उदाहरण दिए हैं, जैसे उन्होने चून (चूर्णादिनिः ४।४।२३), नमक (लवणाल्लुक् ४।४।२४) और मूंग (मुद्गादण ४।४।२५)। चूर्ण का अर्थ चून है। भुने हुए गेहूँ के आटे को पश्चिमी बोली मे कसार और बनारसी बोली मे भी चून कहते हैं। चून भरे हुए गूझे के लिए चूर्णिनः अपूपाः शब्द प्रचलित था (चूर्णै. ससृष्टा)।

भीतर भरे हुए चून या कसार की अपेक्षा अपूप की प्रधानता है। ऐसे ही चूर्णिनो धाना, कसार के साथ पागे हुए धान, नमकीन दाल, नमकीन साग, नमकीन लपसी में नमक गौण और दूसरे पदार्थ मुख्य होते हैं। नमक का मिश्रीकरण नही केवल ससर्ग किया जाता है। कात्यायन ने कुछ अधिक बारीकी मे जाकर लिखा कि नमक रस है, पदार्थ नही, उसका ससर्ग नही किया जा सकता। किंतु पाणिनि की दृष्टि से अन्य द्रव्यो की भाँति लवण भी एक पण्यद्रव्य है (जैसे लवण बेचने वाला लावणिक कहलाता है (४।४।५२)। लावणिक का अर्थ नमकीन बनिया नहीं, अपितु नमक-रूपी पण्य का व्यापारी। अतः मिरच, पीपल, अदरक की भाँति नमक का भी ससर्ग होता है। ४।४।२५ सूत्र मे पठित मूंग भी अपेक्षाकृत गौण समझ कर मिलाई जाती है। जैसे मूँग का भात (मौद्ग ओदनः) प्रयोग मे भात मुख्य और मूंग इच्छानुसार मिलाने की वस्तु है। मूँग की लपसी मे भी यवागू मुख्य है। इच्छानुसार यदि उसमें मूँग की दाल मिलाकर खाई जाय तो वह मौद्गी यवागू कहलाएगी।

व्यञ्जन और उपसिक्त—मिश्रीकरण द्रव्य की मिलावट खानेवाले की इच्छा पर है। धान मे गुड़ का मिलाना ऐच्छिक होते हुए भी दोनो का महत्त्व समान माना जाता है। ऐसे ही संसर्ग वाले पदार्थों का मिलाना भी ऐच्छिक है, किन्तु संसृष्ट पदार्थ की उसमे प्रधानता नही होती। पर व्यञ्जन या उपसेचन (व्यञ्जनैरुपसिक्ते ४।४।२६) की मिलावट उस-उस भोज्य पदार्थ के लिए आवश्यक समझी जाती है। अन्नेन व्यञ्जनम् (२।१।३४) सूत्र पर पतञ्जलि ने दधि को व्यञ्जन या उपसेचक द्रव्य कहा है, जैसे दध्ना उपसिक्त ओदन. दध्योदनः। काशिका में क्षीरोदनः उदाहरण भी है। क्षीर बनाने के लिए ओदन मे दूध का मिलाना या दही का नमकीन भात बनाने के लिए दही का मिलाना आवश्यक है। सूत्र २।४।१२ मे व्यञ्जनवाची पदार्थों में द्वन्द्व समास का विधान है। काशिका के अनुसार दधि घृत दोनो व्यञ्जन हैं।

संस्कृत—संस्कृत भक्षाः (४।२।१६) में संस्कृत का अर्थ है उत्कर्ष का आधान

(सत: उत्कर्षाधानं संस्कार:, काशिका)। इसका लक्ष्य पाकविधि या बनाने की प्रक्रिया की ओर विशेष है; जिससे पदार्थों मे विशेष स्वाद की उत्पत्ति हो। संस्कार के बाद फिर उस पदार्थ को तुरन्त उसी दशा मे खाया जा सकता है (संस्कृत हि नाम तद् भवति यत् तत् एवापकृष्याभ्यवह्रियते, भाष्य ४।३।२५ वार्तिक-१) जैसा दार्षदा· सक्तव: अर्थात् चक्की में संस्कृत या पीसे हुए सत्तू। भोजन के इस प्रकार संस्कृत होने का दूसरा उदाहरण शूलोखाद्यत् (५।२।१७) सूत्र में है। सलाख पर भूना हुआ शूल्य मांस (सीख कबाब—शूले संस्कृतम्) और तवे पर भुना हुआ उख्य मास (तवे पर भुना कबाब), दोनो मे संस्कृत का अर्थ बनाने की विशेष विधि ही है, जिसके बाद वह पदार्थ वैसा ही खाया जा सकता है।

संस्कृत भक्षा. सूत्र पर काशिका मे तीन उदाहरण हैं (१) भ्राष्ट्रा अपूपा:, (२) कालशा अपूपा. (३) कौम्भा अपूपा.। इनसे अपूप बनाने की विशेष प्रक्रिया ही अभिप्रेत है। भाष्ट्र अपूप पूर्वी जिलो मे अभी तक बनाए जाते हैं। कड़े गूँदे हुए आटे की बड़ी लोई बनाकर भाड पर ले जाते हैं और खोचे में रखकर भाड़ के भीतर सेक लेते हैं। इन्हे खोरिया कहा जाता है। कुम्भ और कलश मे अपूप विधि इस प्रकार है—चने की पिसी हुई दाल मे मसाला आदि डालकर बड़े गोझे के भीतर पूरन की भाँति भर लेते हैं। फिर कलसे मे थोडा पानी डालते हैं और सरकण्डे के टुकड़े तोड़कर उसके भीतर इस प्रकार रखते हैं कि पानी से कुछ ऊपर उठे रहे। घडे के भीतर उन सरकण्डो पर गोझे रख दिए जाते हैं। फिर घड़े को कंडो की आँच पर रख देते है और तब पानी की भाप से गोझे सिक जाते हैं। इस प्रकार के अपूप जो कुम्भ या कलश मे संस्कृत किए जाँय कालश और कौम्भ कहे जाएँगे। बड़े घड़े को कुम्भ और छोटे को कलश कहते हैं। अर्थशास्त्र के अनुसार पाँच मन की तोल कुम्भ है। इतना अन्न जिस बडे पात्र मे भरा जा सके वह भी कुम्भ कहलाता था।

पाणिनि ने दही, मट्ठे और दूध का भी इस प्रकरण में उल्लेख किया है। दही मे बनाया हुआ खाद्य पदार्थ दाधिक (दध्नष्ठक् ४।२।१८) मट्ठे मे बनाया हुआ औदश्वित, या औदश्वित्क (उदश्वितोऽन्यतरस्याम् , ४।२।१९) और दूध मे बनाई हुई दूधिया लपसी क्षैरेयी यवागू (क्षीराड्ढञ् ४।२।२०)। काशिका मे लिखा है कि इस अर्थ में दही आधारभूत है, जैसे दही की कढी मे दही आधारभूत द्रव्य है। पाणिनि ने भोजन की प्रक्रियाओ का बारीकी से विचार करते हुए संस्कृतम् (४।४।३) यह सूत्र 'संस्कृतं भक्षा'' से अलग बनाया है। दध्ना संस्कृतम् , दधनि संस्कृतम् , दोनो अर्थों मे एक ही शब्द रूप दाधिकम् बनेगा, किन्तु अर्थ मे और बनाने की प्रक्रिया में भेद है। जहाँ दही के मिलाने से स्वाद कुछ अच्छा हो जाय (दधिकृतमेवोत्कर्षाधानम्) वहाँ दध्ना संस्कृतम् ठीक है। पर जहाँ दही में ही मुख्य रूप से कोई चीज

बनाई जाय जैसे सिखरन, पनीर आदि, उसके लिए दधनि संस्कृतम् कहना ठीक होगा।

दाधिक—भोजन मे किस पदार्थ का मिलाना ऐच्छिक है, किसका अनिवार्य; कौन प्रधान है और कौन गौण है, इत्यादि बातें भोजन के प्रकार पर निर्भर हैं। एक दही को कई तरह से मिलाते और खाते हैं। सब मे दाधिक प्रयोग एक सा है पर अर्थ भिन्न होगे—

(१) दाधिकं = दध्ना संसृष्टं (४।४।२२)—दधि अप्रधान और ऐच्छिक, जैसे दही के साथ रोटी या पूरी पराठा।

(२) दाधिकं = दध्ना उपसिक्तं (४।४।२६)—दही व्यजन, उपसेचन या स्वाद बढाने वाले पदार्थ की तरह अवश्यमेव मिलाया जाय, जैसे दही की पकौड़ी।

(३) दाधिकं = दध्ना संस्कृतं (४।४।३)—दही उत्कर्षाधान या उस भोजन मे नफासत के लिये मिलाया जाय, जैसे दही के बालूशाही, दही के आलू।

(४) दाधिक= दधनि सस्कृतं (४।२।१७)—दही को आधार मानकर उसमे बनाई वस्तु जैसे दही की कढी। कढी दही का संस्कारक द्रव्य नही, आधारभूत द्रव्य है। नमकीन कढी के लिये नमक और मीठी के लिये गुड संस्कारक द्रव्य कहा जायगा।

विभिन्न प्रकार के अन्न या भोजन

अष्टाध्यायी में यह सामग्री इस प्रकार है—

(१) धान्य, (२) कृतान्नवर्ग, (३) मधुरपदार्थ, (४) गव्य, (५) फल-शाक।

(२) धान्य—धान्यो में कई प्रकार के चावलो का उल्लेख आया है, जैसे शालि, महाव्रीहि, हायन, यवक, षष्टिका, और नीवार।

शालि (५।२।२) शालि का तात्पर्य जडहन से है, जो कि अगहनी फसल मे होते हैं। इसके विरुद्ध व्रीहि बरसाती चावल हैं जो सावन भादो की फसल मे होते हैं। शालि के खेत शालेय और व्रीहि के व्रैहेय कहलाते थे।

महाव्रीहि—सूत्र ६।२।३८ में पाणिनि ने चावल की इस श्रेष्ठ जाति का उल्लेख किया है। चरक ने भी बढ़िया चावलो की सूची मे इसे गिनाया है (चरक संहिता, निदान स्थान ४।६)। सुश्रुत ने उसकी जगह महाशालि का उल्लेख किया है (सूत्र स्थान ४६।७)। हो सकता है महाशालि भी महाव्रीहि से मिलती-जुलती कोई धान की जाति हो। चीनी यात्री य्वूआन् चुआङ् के चरित-लेखक हुई-ली ने लिखा है कि

जब चीनी यात्री नालन्दा विश्वविद्यालय मे ठहरा था तो उसे महाशालि चावल खाने के लिये दिया गया। स्वयं चीनी यात्री को यह बढिया सोधा चावल भूला नहीं। उसने लिखा है—'यहाँ मगध मे एक अद्भुत जाति का चावल होता है, जिसके दाने बड़े, सुगंधित और खाने मे अति स्वादिष्ट होते हैं। यह बहुत चमकता है। इसे धनिकों का चावल कहते हैं' (सियुकि, बील २।८२) संभवतः यही सुगधिका या महाशालि चावल था (जुलिएँ)।

हायन (३।१।४८)—चरक के अनुसार यह नौ प्रकार के व्रीहियो मे था[1]। काठकसंहिता और शतपथ ब्राह्मण में एक तरह के लाल धान को 'हायन' कहा है (वैदिक इण्डेक्स २।५०२)।

यवक (५।२।३)—पाणिनि और चरक दोनो मे इस चावल का उल्लेख है। सूत्र ५।४।३ के अन्तर्गत गण पाठ मे भी यवक आया है (यव व्रीहिषु ५।४।३)। इसी गण मे जीर्णक शालि का भी नाम है। (जीर्णशालिषु), जिसे चरक मे जूर्ण कहा गया है (सूत्र स्थान १७।१८)।

षष्टिका (५।१।९०)—साठ रात या दो महीने मे इसकी फसल तैयार होने मे यह नाम पडा (षष्टिका· षष्टिरात्रेण पच्यन्ते) लोक में इसे साठी कहते हैं। 'साठी पाके साठ दिना, दैव बरीसे रात दिना' उक्ति प्रसिद्ध है। चरक के अनुसार यह गुणकारी धान माना जाता था (सूत्रस्थान १७।१३)।

नीवार (३।३।४८ नौ वृ धान्ये)—जंगल मे स्वय उपजने वाला घटिया किस्म का धान्य था। लोक मे इसे ही 'पसही (प्रसातिका) या तिन्नी का चावल कहते हैं।

पाणिनि ने मद्रदेश की देविका नदी का उल्लेख किया है (७।३।१), उसके प्रसंग में इष्टरूप की सिद्धि करते हुए पतंजलि ने 'दाविकाकूल शालि' अर्थात् देविका के किनारे की रौसली मिट्टी मे उत्पन्न होने वाले चावल का उल्लेख किया है। अभी तक यह चावल पंजाब में प्रसिद्ध है, जैसा कि ऊपर कहा गया है (पृ० ५३)।

दालें—दालो में मुद्ग (४।४।२५), माष (५।१।७; ५।२।४) कुलत्थ (४।४।४) का उल्लेख है। पाणिनि के अनुसार कुलत्थ एक संस्कारक द्रव्य था। चरक ने उसे शमीधान्य कहा है (सूत्रस्थान २७।२६)।

दूसरे धान्य—यह (५।२।३); यवानी (४।१।४९); अणु (५।२।४, चैना नामक छोटा धान्य जो कि पजाब और सिंधुसागर दोआब के लोगो का आम भोजन है); गवेधुका[2] (४।३।१३६, गड़हेरुआ नामक निकृष्ट धान्य जिसे कसेई या कौड़िल्ला भी कहते हैं)।

---

१. हायनक—यवक—चीनकोद्दालक—नैषधेत्कट—मुकुन्दक—महाव्रीहि—प्रमोदक—सुगन्धिकानां नवानाम् (निदानस्थान ४।६; और भी सूत्रस्थान २७।१२)।

२. कात्यायन के वार्तिक के अनुसार गवेधुका का पाठ बिल्वादिगण में प्रामाणिक था (भाष्य—बिल्वादिषु गवेधुकाग्रहण मयट् प्रतिषेधार्थम्—४।३।१३६, वा० १)।

कृतान्न—

(१) ओदन (४।४।६७), जिसे भक्त (=भात, ४।४।१००) भी कहा गया है। यह लोगो का प्रिय भोजन था। जल में उबाल कर बनाए हुए शुद्ध चावल को उदकौदन या उदौदन कहते थे (६।३।७)। मास के साथ बनाया हुआ पुलाव मासौदन कहलाता था (४।४।६७)। चरक मे घृत, तैल, फल, मास, तिल के साथ ओदन बनाने का उल्लेख आया है। उसके आधार पर ओदन का वैसा नाम पड़ता था। श्रेष्ठ चावलो का पसाया हुआ भात या ओदन इस देश में संभ्रान्त घरानों का बढ़िया भोजन माना जाता था। पतंजलि के एक उल्लेख से ज्ञात होता है कि लोग अपने मित्रो की दावत ओदन से करते थे (देवदत्तस्य समाश शरात्रैरोदनेन च यज्ञदत्त. प्रतिविधत्ते, भाष्य १।१।७२)।[१] भाष्यमे कई बार 'विन्ध्यो वर्धितकम्' वाक्य आया है (१।४।२४ इत्यादि)। खानेवाले के सामने पत्तल पर लगे हुए भात के ढेर को वर्धितक कहते थे। हंसी मे उसकी ऊंचाई की तुलना विन्ध्याचल से की गई है (और भी वर्धितक का वर्णन—एकश्च तडुल: क्षुत्प्रतिघाते असमर्थ:, तत्समुदायश्च वर्धितक समर्थम्—१।२।४५, वा० ११)।

यवागू (४।२।१३६)—ओदन की तरह जौ की लपसी भी जनता का प्रिय भोजन थी। सूत्रो के उदाहरणो मे कितनी ही बार यवागू का उल्लेख आता है जातको की कहानियो से 'यागु' (=यवागू) लोगो का आम भोजन ज्ञात होता है। भाष्य के अनुसार यवागू द्रव भोजन था, उसके खाने मे दाँतो से चबाने की आवश्यकता न पडती थी (७।३।६९)। साल्व जनपद में यवागू लोगो का विशेष प्रिय भोजन था। पाणिनि ने उसे साल्विका यवागू कहा है (गोयवाग्वोश्च, ४।२।१३६)। साल्व जनपद की पहचान देश के उस बड़े भूभाग से की गई है जो अलवर से बीकानेर तक फैला हुआ था (पूर्व, पृ० ७१)। आज भी वहाँ लपसी खाने का रिवाज है जिसे 'राबड़ी' कहते हैं[२]। वहाँ दो प्रकार की यवागू बनती है। एक पतली जिसे लपसी कहते हैं और जो पी जाती है। धनी लोगो के घरो मे यह मीठी बनाई जाती है। दुसरी कुछ गाढी राबड़ी कहलाती है। नमकीन राबड़ी साधारण लोगो का भोजन है। चरक मे यवागू के २८ योग कहे हैं (सूत्र स्थान अ० २)।

---

२. और भी ब्राह्मणों के लिये ओदन का भोजन—आश्चर्यमिदं वृषमोदनस्य च नाम पाको ब्राह्मणानां च प्रादुर्भाव इति (भाष्य २।३।६५)।

१. अपभ्रंस के संदेशरासक काव्य में इसे 'रब्बडिया' कहा गया है—'जइ बहुल दुद्ध संमोलिया य उछलइ तंदुला खीरी। ता कणकुक्कससहिआ रब्बडिया मा दडवडउ ॥ (प्रथमप्रक्रम पद्य १६), अर्थात् यदि दूध चावल की खीर भोजन के लिये सुलभ है, तो क्या राबड़ी अपनी जगह पर खुदबुद न करे ? ध्वनि यह है कि अन्य श्रेष्ठ काव्यों के होते हुए भी मेरी इस निकृष्ट रचना के लिये स्थान है।

सुश्रुत मे मंड, पेया, विलेपी तीन प्रकार की यवागू कही गई है (सुश्रुत सूत्र, अ० ४६)। सबसे पतली यवागू मंड, उससे कम पतली पेया और गाढी विलेपी कहलाती थी। पहली दूसरी को सत्तू की तरह पीते और तीसरी को उँगलियो से चाट कर खाते थे। सूत्रो मे दोनो भाँति की यवागू का उल्लेख है। पतली लपसी को 'उष्णिका यवागू' (५।२।७१) और गाढी रावडी को 'नखंपचा यवागू' कहा गया है (३।२।३४)। काशिका ने लिखा है कि उष्णिका यवागू मे अन्न का भाग अपेक्षाकृत कम होता था (अल्पान्ना यवागू उष्णिके त्युच्यते)। उष्णिका-पेया-लपसी यह एक प्रकार था और नखम्पचा-विलेपी-रावडी यह दूसरा प्रकार था। जिसे गरम-गरम चाटने से उँगलियाँ जल जायँ, वह नखंपचा हुई।

यावक—जौ को ओखल मूसल मे कूटकर भूसी अलग करके पहले पानी मे उबालते थे, फिर दूध छावकर मिलाकर यावक बनाया जाता था।[1] चरक के अनुसार यावक उसेया हुआ या स्विन्न भोज्य पदार्थ होता था (स्विन्नभक्ष्य, सूत्र-स्थान २७।२५९)। यावक राँधने के लिये जितने जौ लिये जाँय, तैयार यावक तौल मे उससे दुगुना उतरना चाहिए (अर्थशास्त्र, २।१५)।

पिष्टक—(४।३।१४७)। सत्तू पानी मे घोलकर नमक डालकर आग पर पकाते हैं। कडा हो जाने पर उतार कर खाते हैं। यह आज भी पीठा कहलाता है (पिष्टक—पिट्ठअ—पिट्ठा—पीठा)। सुश्रुत ने पिष्टक को कृतान्नवर्ग मे माना है।

संयावः—(३।३।२३) कुल्लूक (संयावो घृतक्षीर गुड गोधूम चूर्ण सिद्ध., मनु, ५।७) के अनुसार घी, दूध, गुड और गेहूँ के आटे से बने हुए भोजन को संयाव कहते थे। यह ठीक आजकल का हलुआ हुआ। सुश्रुत ने भी इसे मधुर भोजन कहा है।

अपूप—(५।१।४) आटे मे घी मिलाकर या घी फेंटकर मन्दी मन्दी आँच मे उतारे हुए मालपुए को ऋग्वेद मे अपूप कहा गया है।[2] यह अपने देश का सबसे प्राचीन मिष्ठान्न था। महाउम्मग जातक के अनुसार चावल से तीन प्रकार के खाद्यान्न 'यागु पूप भत्त' (लपसी, पूआ, भात) बनाए जाते थे। चावल के अपूप एक प्रकार से आजकल के अंदरसे हुए। अपूप कई प्रकार से बनते थे। काशिका ने सस्कृतं भक्षाः (४।२।१६) सूत्र के उदाहर मे भ्राष्ट्र अपूप कौम्भ अपूप और कालश अपूप का उल्लेख किया है। इनकी व्याख्या ऊपर हो चुकी है। पाणिनि ने चूर्णी अपूप या कसार भर कर बनाए हुए गोझो का उल्लेख किया है जो व्याह-बरात या तीज-तेवहार

---

१. इदं तु न सिध्यति, औलूखलो यावक इति। न च यावक उलूखलादेव अपकृष्य अभ्यवहियते, अवश्यं रन्धनादीनि प्रतीक्ष्याणि (४।३।२५)।

२. य स्तेऽद्य कृणवद् भद्रशोचेऽपूपं देव घृतवन्तमग्ने। (ऋ० १०।४५।९)।

पर प्राय. बनते थे। मेवा मिले हुए गेहूं के चूर्ण के अतिरिक्त मूंग और मसूर आदि का चूर्ण या कसार भी बनाया जाता था, जैसा कि सूत्र ६।२।१३४ के उदाहरण मे उल्लेख है चूर्णादीन्य प्राणि षष्ठ्या:, ६।२।१३४)।

अपूपादिगण मे अभ्यूष का भी पाठ है। जो गेहूँ की बालो को अग्नि मे भूनकर, कूट कर, गुड मिला कर हावुस बनाते हैं। कामसूत्र मे अभ्यूषखादिका एक क्रीडा का नाम है, (कामसूत्र, ४।१।१)। सक्तु (६।३।५९)—पानी मे घोलकर बनाए हुए सत्तू को उदकसक्तु या उदसक्तु कहा जाता था। भाष्य मे दधिसक्तु या दही के सत्तूओ का भी उल्लेख है (सू० १।१।५७)।

मन्थ—भुने हुए धान या भुजिया का सत्तू मन्थ कहा जाता था (कात्यायन श्रौत, ५।८।१२ मन्थ क्षीर सयुतो धानः सक्तुः)। इसे दूध मे मिलाकर या केवल पानी में घोलकर खाते थे। पानी के सत्तू को उदमन्थ या उदकमन्थ कहा जाता था (मन्थौदन-सक्तु आदि ६।३।६०)। चरक के अनुसार उदमन्थ शरद् ऋतु के लिये अनुकूल भोजन नही है (सूत्रस्थान ६।३५)। ज्ञात होता है कि प्रायः मन्थ शब्द दूधिया सत्तू के लिये ही प्रयुक्त होने लगा था। अथर्ववेद की पारिक्षिती गाथाओ में आया है 'राजा परीक्षित् के राज्य मे पत्नी पति से पूछती है, "आप के लिये क्या लाऊँ, दही, दूधिया-सत्तू (मन्थ) या जौ से चुआया हुआ रस[1] ?' सुश्रुत ने मन्थ का एक तीसरा प्रकार दिया है। सत्तू को थोडे घी मे सान कर ठडा जल मिलाकर मथानी से मथकर मन्थ बनता है। मन्थ बनाने मे जल का प्रमाण इतना लेना चाहिए कि मन्थ न अति पतला बने न अति गाढा।[2] चरक ने मन्थ को तर्पण या सतर्पण कहा है और उसके बनाने के कई योग लिखे हैं। सब प्रकार के मन्थ में जौ या लाजा का सत्तू प्रधान द्रव्य होता है। मट्ठे में घोल कर भी सत्तू खाया जाता था जो मद्रदेश का प्रिय भोजन था। (अपूपान्सक्तुपिण्डीश्च खादन्तो मथितान्विता., कर्ण पर्व ३०।२४)

कुल्माष—(५।२।८३) पाणिनि ने उस तिथि का नाम पौर्णमासी कहा है जिस दिन वर्ष में एकबार कुल्माष नामक अन्न नियमतः खाने की प्रथा थी (तदस्मिन्नन्नं प्रायेसंज्ञायाम्, कुल्माषादञ्, ५।२।८२-८३)। पाली साहित्य से ज्ञात होता है कि उस युग के पाँच प्रकार के चालू भोजनों में कुल्माष भी था (ओदन, कुम्मास, सत्तु, मच्छ, मस, विनय ४।१७६)। कुल्माष क्या था, इस प्रश्न पर प्राचीन साहित्य से कुछ

---

१. कतरत्त आ हराणि दधि मन्थां परिश्रुतम्। जाया पतिंवि—पृच्छति राष्ट्रे राज्ञ, परिक्षितः॥ मन्थ के लिये और भी देखिए शतपथ ब्रा० २।५।२।६। (अथर्व, कुन्ताप सूक्त, २०।१२७।९)।

२. सक्तवः सर्पिषाऽभ्यक्ताः शीतवारि परिप्लुताः। नात्यच्छा नाति सान्द्रा वा मन्थ इत्यभिधीयते॥ (सुश्रुत, सूत्र, स्थान, ४६।५२)

प्रकाश पडता है। निरुक्त में कुल्माष को निकृष्ट भोजन कहा है (कुल्माषान् चिदादर इत्यवकुत्सिते, १।४)।[1]

छान्दोग्य उपनिषत् मे कथा है कि कुरुक्षेत्र में किसी इभ्य ग्राम (धनिक लोगों की बस्ती) मे टिड्डी से कृषि नष्ट हो जाने पर वहाँ के लोग कुल्माष खाकर गुजारा कर रहे थे (छा० १।१०।२)। कुम्मास पिण्डजातक (स० ४१५) मे कहा गया है कि कुल्माष दरिद्र लोगों का भोजन था, जिसमे थोडा जल, गुड या नमक और चिकनाई डालकर बनाते थे[2]। चरक के अनुसार कुल्माष एक स्विन्न भक्ष था, जो गरिष्ठ समझा जाता था[3] (सूत्रस्थान २७।२५९)। ज्ञात होता है कि गेहूं, जुधरी या बाजरा आदि मोटे अन्न को इतने पानी मे उबाल कर कि पानी उसी में भिद जाय और उसमें तेल या घी की चिकनाई और गुड या राव मिलाकर पिण्डा लड्डु बनाकर कुल्माष बनाया जाता था, इस प्रकार का अन्न वर्ष मे जिस पूर्णिमा को नियम से खाया जाता होगा, उस तिथि का नाम कौल्माषी पौर्णमासी लोक में प्रसिद्ध हुआ। चैत्री पौर्णमासी की यह संज्ञा ज्ञात होती है, जिस दिन घुघरी खाने का रिवाज है। यावक कुल्माष से कुछ भिन्न था। पतंजलि ने लिखा है कि यावक बनाने के लिये अन्न को पहले ऊखल मे कूटते या छरते थे और तब उसे पानी मे उबालते थे[4]। ५।२।८२ सूत्र पर कात्यायन ने वटकिनी पौर्णमासी का नाम भी दिया है। उस दिन वटक या बड़े नियमत: खाए जाते थे। यह कार्त्तिक की पूर्णिमा ज्ञात होती है, जब कि बड़े बनाने और खाने की प्रथा है। जिस दिन जो अन्न प्राय. करके खाया जाय उस अन्न से उस दिन का नाम पड़ जाना स्वाभाविक है। लोक में खिचड़ी, तिलवा, आदि पर्वों का नामकरण इसी नियम के अनुसार हुआ है।

---

१. अमरकोश के अनुसार कुल्माष का अर्थ यवक और अन्य कोषों में काञ्जीक दिया है। श्री लक्ष्मणस्वरूप ने कुल्माष का अर्थ खट्टी लपसी किया है। वैदिक इण्डेक्स में भी यही अर्थ माना है।

२. लुकूखाय अलोनिकाय च कुम्मास पिण्डिय; वह मजदूर इतना दरिद्र था कि बिना चिकनाई या गुड इत्यादिक के ही उसे कुल्माष का पिण्ड खाना पडता था। टीकाकार ने अलोनिका का अर्थ बिना फाणित या खीरे को और लुकूखा का अर्थ बिना चिकनाई की किया है।

३. चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने सूत्र स्थान २७।२६० पर लिखा है 'यव पिष्ट मुष्णोदक सिक्तमीषत् स्विन्नमपूपीकृतं कुल्माषमाहुः'। काशिका वृत्ति और चान्द्रवृत्ति ने भी कुल्माष का पाठ गुडादिगण में माना है (४।४।१०३) कौल्माषिक मुद्ग उदाहरण दिया है, अर्थात् कुल्माष रांधने लायक मूंग।

४. इद तु न सिध्यति औलूखलो यावक इति। संस्कृतं हि नाम तद् भवति यत् तत एवाप-कृष्याभ्यवह्रियते। न च यावक उलूखलादेवापकृष्याभ्यवह्रियते। अवश्यं रन्धनादीनि प्रतीक्ष्याणि, ४।२।२५ वा० १)।

पलल—(६।२।१२८)। यह तिल और गुडादि कूटकर बनाया हुआ मिष्ठान्न था, जिसे आजकल तिलकुट कहते हैं। (गुडेन मिश्र पलल गुडपललम्, ६।२।१८, तिलपललम्, काशिका ६।२।१३५) ।

चूर्ण (४।४।२३)—आटा और घी कढाई में भूनकर और शर्करा मिलाकर चूर्ण बनाया जाता था। पछाँही बोली मे उसे कसार किन्तु बनारस की ओर चूर्ण या चून कहते हैं। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रकार चूर्ण या कसार भरकर जो गुझियाँ या गूझें बनाए जाते थे, उन्हे 'चूर्णी अपूप' कहते थे (चूर्णिनः अपूपा.)। व्याह मे कन्या के साथ ऐसे गूझे देने की प्रथा अति प्राचीन काल से चली आती है।

मिष्टान्न—पाणिनि ने निम्नलिखित मिष्टवर्गों का उल्लेख किया है।

मधु—इसका एक नाम क्षौद्र था (४।३।११८)। छोटी मक्खी का बनाया हुआ मधु क्षौद्र और बडी डँगारा मक्खी का भ्रामर कहलाता था।

अष्टाध्यायी मे गन्ने के वड़े खेतो का उल्लेख है, जिन्हे इक्षुवण कहते थे (८।४।५)। गुडे साधु' (४।४।१०३ गुडादिभ्यष्ठञ्) प्रयोग उस जाति के गन्ने के लिये किया जाता था, जिसका गुड बढिया बने। किसानो की बोली मे इससे मिलते जुलते प्रयोग आज भी चलते हैं। उत्तर भारत के किसान सरौती ईख को गुड़ के लिये अच्छा मानते हैं, और बोते समय ऐसे ही गन्नो के बीज का चुनाव करते हैं, जिनसे अच्छा गुड बैठे। सूत्र ७।२।१८ मे फाण्ट के प्रत्युदाहरणस्वरूप फाणित का उल्लेख है। गाढे औटाए हुए इक्षु रस मे दाना उठने के बाद जो राव बनती है उसी का संस्कृत नाम फाणित था।

रस को औंटाकर या तो गुड बनाते थे या फाणित अर्थात् राव। फाणित से शर्करा बनती थी। गुड, फाणित और शर्करा (५।२।१०४ इन तीनो का निर्माण गावो के आर्थिक जीवन का महत्वपूर्ण अंग था। यह उद्योग अत्यन्त प्राचीन काल में ही इस देश मे संगठित हो गया था। शर्करा शब्द का एक अर्थ पत्थर की रोड़ी या ढोके भी था, जिसके सान्निध्य मे आबाद होने के कारण उत्तरी सिंध का एक नगर 'शार्कर' कहलाता था। वही वर्तमान सक्खर है (४।२।८३; ५।२।१८५)।

४. गव्य पदार्थ—दूध से बने हुए खाद्य पदार्थों को गव्य या पयस्य कहा गया है (४।३।१६०)। दूध दही मट्ठा—इनका सूत्रो में उल्लेख है (४।२।१८; दधिपयसी, २।४।१४, गणपाठ)। सूत्र ७।२।१८ में जिस फाण्ट का उल्लेख है वह भी गव्य पदार्थ ही था। शतपथ ब्राह्मण (३।१।८) में उसी दिन के दूध से तत्काल निकाले हुए मक्खन को फाण्ट कहा है। पहले दिन के दूध की दही जमाकर, अगले दिन प्रात काल उसे मथकर जो मक्खन निकाला जाता था, उसके लिये हैयङ्गवीन ('हैयङ्गवीन संज्ञायाम्, ५।२।२३) यह नया शब्द प्रयोग मे चल पड़ा था जो कि प्राचीन वैदिक साहित्य में नही था।

जनपदो मे विशेष पेय—'पानं देशे' सूत्र (८।४।९) व्याकरण की दृष्टि से णत्व का विधान करता है, पर इस सूत्र की पृष्ठभूमि कुछ रोचक है। जिस जनपद के लोग जिस तरह के पेय पदार्थ के शौकीन थे, उससे उस जनपद का नाम भी पड जाता था। काशिका मे इसके चार उदाहरण हैं—क्षीरं पानं येषा ते क्षीरपाणा उशीनरा ; सुरापाणाः प्राच्याः; सौवीरपाणा वाल्हीका.; कषायपाणा गन्धाराः। 'क्षीरपाणा उशीनरा ' उदाहरण से ज्ञात होता है कि पजाव मे शिवि–उशीनर जनपद के लोग दूध पीने के शौकीन थे। चरक के अनुसार प्राच्य जनपद में मत्स्य भोजन, सिंधु जनपद मे क्षीर भोजन, एवं बाह्लीक (वल्ख), शूलिक (काशगर) और चीन के लोगो मे माध्वीक या अंगूरी शराव पीने का आम रिवाज था (चिकित्सा स्थान ३०।३१७)। शिवि-उशीनर चनाव के निचले कांठे का पुराना नाम था, जहाँ आज झंग-मघियाना, पाकपत्तन और मुलतान का इलाका है। यहाँ की दुधार साहीवाल गाएँ उत्तरी भारत में विख्यात हैं। चनाव से लेकर सिंधु नद तक का प्रदेश दुग्धपान के लिये प्राचीन काल में प्रसिद्ध था, और आज भी है। काशिका मे ७।३।१९ सूत्र के उदाहरण में (हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च) सक्तुसिन्धु और पानसिन्धु इन दो भागो का उल्लेख किया है। उनकी संगति इस प्रकार है। सिंधु जनपद (वर्तमान सिंधु-सागर दोआव) के उत्तरी भाग मे सत्तू प्रधान भोजन था, इसलिये सक्तुसिंधु वही प्रदेश होना चाहिए। उसके दक्षिण की ओर चनाव और झेलम के बीच मे लैया का क्षेत्र पानसिन्धु होना चाहिए। सौवीरपाणः बाह्लीका , इस उदाहरण मे बाह्लीक का तात्पर्य वाहीक या मद्रदेश लेना चाहिए, जैसा कि प्रायः महाभारत में इस शब्द के प्रयोग मे देखा जाता है। सौवीर या काजी मद्रदेश की स्त्रियो का अत्यन्त प्रिय पान था (कर्णपर्व, २७।८७-८८, पुत्र दद्या पति दद्या न तु दद्या सुवीरकम्)।

मथित—मट्ठा भी वाहीक देश मे रहने वालो को प्रिय कहा गया है (कर्ण पर्व ३०।२४)। भाष्य मे मथित की दूकान रखनेवालो को माथितिक कहा है (मथितं पण्यमस्य माथितिकः, ७।३।५०, वा २)।

५. शाक और फल—भोजन के अन्य खाद्य पदार्थों मे पाणिनि ने शाक, भाजी, और सूप का उल्लेख किया है। भाजी को श्राणा (४।१।४२) कहते थे। फलों मे केवल आम्र (८।४।५) और जम्बू (४।३।१६५) का नाम है। व्याकरण की दृष्टि से फल का नाम वृक्ष के नाम के अनुसार होता था (फले लुक् ४।३।१६१)।

सूदकर्म—रसोई बनाने को पक्ति कहा गया है (३।३।९५)। भोजन बनाने-वाला कोई रसोईया कितनी तोल का आटा पोकर उठाता है, इस विशेषता के आधार पर उसका नाम पड जाता था, जैसे एक प्रस्थ अन्न का पाचक प्रास्थिक और खारी भर अन्न का पाचक खारीक कहलाता था। ऐसे शब्दो की आवश्यकता समाज में दावत आदि के प्रसङ्ग मे पड़ती थी। साधारण रूप से तो घर का भोजन घर की

स्त्रियाँ ही बना लेती थी, पर ब्रह्मभोज, जेवनार या जातीय भोजन के अवसर पर जब हजार-पाँचसौ आदमियो का भोजन होता, तब मजदूरी पर हलवाई या रसोईये बुलाए जाते थे। उस समय जैसा बड़ा-छोटा कार्य हो, उसके अनुसार रसोईये और बर्तन इन दोनो की तलाश की जाती थी। सम्भवत्यवहरति पचति (५।१।५२) सूत्र मे तोल या माप के अनुसार बर्तन और रसोईयो के नाम पड़ने की प्रथा का उल्लेख है। जिस बर्तन मे या बड़े टोकने मे या बटलोई में प्रस्थ, खारी आढक, आचित या पात्र नामक तोल के बराबर सामग्री पकाई जा सके, उसे प्रास्थिक, खारीक, आढकिक आदि नामो से पुकारते थे। गांवो मे आज भी इस तरह के छोटे-बड़े बर्तनो की माँग रहती है। सूत्र का 'सम्भवति' पद विशिष्ट परिमाणों के बर्तनो की ओर संकेत करता है। 'पचति' का संकेत अलग-अलग तोल का आटा या चावल कढाई से उतारने या पकानेवालो के लिये है। बीच का 'अवहरति' पद स्पष्ट नहीं है, पर दावत के समय जो कई तरह की आवश्यकताएँ होती हैं, उन्ही से सम्बन्धित शब्दों का विधान इस सूत्र मे है। उस अवसर के लिये एक तो बर्तन चाहिएँ; दूसरे रसोईए या हलवाई जो उतने तोल का पूड़ी-पकवान बना सके; और तीसरे आटा गूँदनेवाले नाई-धीवर या पीठी पीसनेवाले दलपिसे। दावत से सम्बन्धित फुटकर सामान जुटानेवाले व्यक्ति के काम के लिये ही 'अवहरति' पद का संकेत ज्ञात होता है। कात्यायन ने एक द्रोण तोल पकानेवाली महाराजिन को 'द्रौणी' या 'द्रौणिकी' कहा है (५।१।५२ वा १—द्रोणादण् च)। भाष्य मे दो आढक (पाँच सेर) अन्न पकानेवाली स्त्री को द्व्याढकिकी, द्व्याढकीना कहा गया है। इन शब्दों की लोकप्रियता का यह प्रमाण है कि दो कुलिज अन्न पकानेवाली स्त्री के लिये चार शब्दरूप चलते थे—द्विकुलिजिकी, द्विकुलिजीना, द्विकुलिजा, द्वैकुलिजिका (५।१।५५, कुलिजाल्लुक् खौ च)। सूत्र ५।१।५३ मे आचित नामक तोल का उल्लेख है। अमरकोश के अनुसार एक सगड या लढिया गाडी का बोझा आचित कहलाता था। (शाकटो भार आचित —२।९।८७) यह दस भार या २५ मन के बराबर माना जाता था। मोटे तौर पर एक मन आटे में सौ व्यक्तियो के जीमने का हिसाब लगाया जाता है। अतएव एक आचित या शाकट भार अन्न में ढाई हजार व्यक्ति जीम लेते थे। जो रसोइये इतने अन्न सभार का प्रबन्ध सभाल सकें वे आचितक विशेषण के अधिकारी थे। इतने अधिक चावलो को पकानेवाले बहुत बड़े डेगो के लिये भी यही शब्द काम में आता था। परिमाणे पच. (३।२।३३) सूत्र मे इस प्रकार के बर्तनो का विशेष उल्लेख किया गया है जैसे प्रस्थंपचा स्थाली (एकप्रस्थ अन्न या ढाई पाव रांधने की बटलोई), द्रोणंपचः कटाहः (एक द्रोण या पाँच सेर रांधने की बड़ी कढ़ाई); खारीपच कटाह. (एक खारी = १६ द्रोण या चार मन रांधने का बड़ा कड़ाह)। ईख के रस को औटाने के लिये गुडगोई (गुड़ बनाने के घर) मे इस प्रकार के बड़े

कड़ाहो की आवश्यकता रहती थी और वहाँ इन शब्दो के प्रयोग का अवसर था।

नियुक्त भोजन—तदस्मै दीयटे नियुक्तम् (४।४।४६) सूत्र का अर्थ है कि जो भोजन जिस व्यक्ति को नियम बांधकर दिया जाय, उस व्यक्ति का नाम उस भोजन के नाम से पड जाता था। पतञ्जलि ने कहा है 'यद् अस्य नियोगतः कार्यम् ऋणं तस्य तद् भवति' (२।१।४१ सूत्र पर वार्तिक का भाष्य)। जैसे किसी नौकर को उसके काम के बदले में कुछ देना तय किया जाय तो काम हो जाने के बाद उस नौकर का हम पर उतना ऋण चढ जाता है। सूत्र मे इसी प्रकार के किसी प्रबन्ध की ओर संकेत है। इस प्रकरण मे दो सूत्र और हैं—श्राणामासोदनात् टिठन्, भक्तादण् अन्य तरस्याम् (४।४।६७-६८)। तीनो सूत्रो के उदाहरण इस प्रकार हैं—आग्रभोजनिक, आपूपिक, शाष्कुलिक, श्राणिक, मांसौदनिक, औदनिक, भाक्तिक। यह कोई ऐसी लोकप्रथा होनी चाहिए जिसकी पृष्ठभूमि मे ये उदाहरण ठीक घट सकें। बात यह है कि भारतीय समाज की अर्थव्यवस्था मे गावो और शहरो मे ऐसा रिवाज था कि घर-गृहस्थी मे सेवा करनेवाले कर्मकर या कमीनो को उस टहल या सेवा के बदले मे रोज कुछ भोजन दिया जाता था। आज भी गाँवो मे यह प्रथा बच गई है। जैसे कोई पनिहारी गाँव के घरो में पानी भरती है, तो उसके बदले मे वह पैसा नही लेती, बल्कि रोटी, दाल, चावल आदि भोजन के पदार्थ दोपहर बाद आकर इकट्ठा कर ले जाती है। अर्थशास्त्र मे ऐसे कमेरो को जिन्हे काम के बदले में भोजन मिलता हो भक्तकर्मकर कहा है। परिवार की पुरोहितानी, पनिहारी या धीवरी और मेहतरानी इस प्रकार नित्यप्रति घरो से नियत अन्न पाती है। इस दृष्टि से ऊपर के कई शब्द संगत हो जाते हैं, जैसे आग्रभोजनिक (अग्रेभोजनमस्मै नियुक्तं दीयते) वह ब्राह्मण या पुरोहित हुआ जो प्रतिदिन अग्राशन के रूप मे भोजन पाता हो। प्रतिदिन के भोजन में से कुछ अश ब्राह्मण या पुरोहित के लिये अलग रख दिया जाता है। उसे अग्रभोजन, अग्राशन या गोग्रास भी कहते हैं। इस प्रथा का कुछ ऐसा बन्धेज बांधा जाता था कि एक ही पनिहारी यदि दस घर पानी भरती है तो उसे किसी घर से भात, किसी घर से रोटी, किसी घर से साग भाजी मिल जाती थी और उसका भोजन पूरा हो जाता था। अतएव वह एक घर के लिये श्राणिकी, एक के लिये ओदनिकी और एक के लिये भाक्तिकी कही जायगी। जो हलवाई (= आपूपिक) के यहाँ काम करके बदले में रोज अपूप पावे, उसे आपूपिकी कहा जाता था। घर गृहस्थी में धंधा करने वाले नेगी भृत्यो को भोज देने की प्रथा थी, नगद पैसा नही।

निमंत्रण—निमंत्रण उस प्रकार का नेवता था, जिसे स्वीकार करना निमन्त्रित व्यक्ति के लिये आवश्यक होता था, जैसे हव्य और कव्य, अर्थात् यज्ञ और श्राद्ध मे ब्राह्मणो को दिया हुआ नेवता। यदि कोई विशेष कारण न हो तो पुरोहित और ऋत्विजो को यह स्वीकार करना ही चाहिए। स्वीकार न करने पर दोष लगता है।

आमन्त्रण की स्वीकृति आमन्त्रित व्यक्ति (मित्र सुहृद्संबंधी आदि) की इच्छा पर निर्भर है (आमन्त्रणे कामचारः, ३।३।१६१ भाष्य)।

बचा हुआ भोजन—भिन्न-भिन्न बर्तनों में जो भोजन बच जाता है, उसके लिये भिन्न-भिन्न विशेषण प्रयुक्त होते थे। इसके लिये पाणिनि का सूत्र है—तत्रोद्धृतम् अमत्रेभ्यः (४।२।१४)। उद्धृत का अर्थ है भुक्तोज्झित छूटा हुआ या बचा हुआ (नानार्थार्णव संक्षेप, भाग २, पृ० ४२)। जिस बर्तन में जो भोजन बच जाय, उस बर्तन के नाम से प्रत्यय जोडकर भोजनवाची शब्द बनाया जाता था। काशिका में इसके तीन उदाहरण हैं—शाराव, माल्लक, कार्पर ओदन। इस सूत्र मे जिस परिस्थिति का उल्लेख है वह ब्रह्मभोज आदि के अवसर पर संभव होती है। उस अवसर पर जो भृत्य काम करते हैं, बचे हुए भोजन का नेग उन्ही को मिलता है। जैसे शाराव का तात्पर्य उस अन्न से है, जो पत्तल या शराव मे परोसे हुए ओदन में से खाने के बाद बच रहता है। उसका नेग घर के भगी को मिलता है। माल्लक का अर्थ है मिट्टी की मलिया मे बचा हुआ ओदन, अर्थात् जो परोसने के बर्तनों मे बच जाता है। आज भी तौला, झांवला, चौकड़ा आदि जिन बर्तनों में खाने का सामान परोसते हैं, उनमे जो कुछ बच जाता है उस 'माल्लक ओदन' को नाई ले जाता है। कार्पर ओदन उस भोज्य पदार्थ के लिये है, जो पकाने के बर्तन मे बच जाता था। टोकने, डेग, कडाही आदि मे जो बचता है, वह हलवाई या रसोईये का हिस्सा माना जाता है। इस पृष्ठभूमि मे कार्पर, माल्लक, शाराव जैसे उदाहरणों की चरितार्थता समझी जा सकती है। सूत्र में प्रयुक्त उद्धृत से प्राकृत में उज्झित बनता है (उज्झ = छोडना)।

व्रत या उपवास रखने के लिये व्रतयति (३।१।२१) ठूँस कर खानेवाले पेटू के लिये औदरिक (५।२।६७) घस्मर, अद्मर (३।२।१६०) और तृप्तिपूर्वक भोजन के लिये 'सुहित' शब्द हैं (२।२।११)।

मद्य—मद्य चुआने की भट्टी आसुति (५।२।११२), उसका स्वामी आसुतीवल और चुआने का शुण्डाकृति भवका शुण्डिक कहलाता था[1] (४।३।७६) भवके से मद्य खीचने वाले व्यक्ति को शौण्डिक कहते थे (४।३।७६)। मद्य (३।१।१००) और सुरा (२।४।२५) ये प्राचीन शब्द थे, किन्तु मैरेय और कापिशायन ये दो नए संज्ञा शब्द भी पाणिनिकालीन भाषा मे चल गए थे, जो वैदिक साहित्य मे नही मिलते।

मैरेय—ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में यह शब्द नही है, अवश्य ही उसके बाद इस नए शब्द का जन्म हुआ। दूसरी ओर बुद्ध के समय मैरेय पीने का प्रचार

---

[1]. इसके कई नमूने तक्षशिला की खुदाई में मिले हैं जिनमें दो घड़ों के बीच में एक पोला शुण्डाकृति भाग रहता है।

इतना बढ़ा हुआ था कि बुद्ध को विशेष रूप से उसके निषेध की आवश्यकता जान पड़ी (मद्य मैरेय सुरा स्थानाद् विरमामि)। 'अङ्गानि मैरेय' (६।२।७०) सूत्र का अर्थ है—'मैरेय शब्द के पूर्वपद पर उदात्त स्वर होता है, यदि वह पूर्वपद मैरेय में पडने वाले किसी अंग (द्रव्य) का वाची हो।' यह ध्यान देने योग्य है कि मैरेय शराब जिन-जिन द्रव्यों से बनाई जाती थी, उसके नुस्खे का पाणिनि को परिचय था; तभी यह सूत्र बना। अर्थशास्त्र से मैरेय पर अच्छा प्रकाश पडता है। वहाँ मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु छः प्रकार की सुरा कही गई है (अर्थशास्त्र २।२५)। कौटिल्य ने मैरेय का नुस्खा इस प्रकार दिया है—मेषशृङ्गी-त्वक्क्वाथाभिषुतो गुडप्रतीवाप. पिप्पलीमरिच-संभारस्त्रिफला युक्तो वा मैरेयः (२।२५), अर्थात् मेषशृङ्गी की छाल का काढा बनाकर उसमे गुड़ डाल कर उसे उठाओ। फिर पीपल, कालीमिर्च या त्रिफला का चूर्ण मिलाओ—यही मैरेय है।' इस योग में काकड़ासीगी, मिर्च और त्रिफला—यह ओषधिवर्ग एक ओर और गुड दूसरी ओर है। काशिका मे सूत्र के दो उदाहरण हैं—गुड मैरेय., मधु मैरेयः। दोनो ही मूर्धाभिषिक्त उदाहरण जान पड़ते हैं, जो सूत्र के जन्मकाल से उसके साथ चले आते थे। ऐसा मानने का कारण आगे स्पष्ट होगा। उदाहरणो के दो पूर्वपद—गुड और मधु मधुर वर्ग के हैं। इससे सूचित होता है कि सूत्रगत 'अङ्गानि' पद से तात्पर्य काकड़ासीगी आदि ओषधि वर्ग से नही, वल्कि मैरेय मे मिठास के लिये डाले जाने वाले गुड़, शहद आदि द्रव्यो से था। यह बात भी समझ मे आती है कि काकड़ासीगी की छाल, मिर्च, पीपल और त्रिफला, ये सब तरह के मैरेय में एक जैसे रहते थे, सिर्फ मिठास वाला द्रव्य घटिया-बढिया किस्म की मैरेय के हिसाब से बदलता रहता था। स्पष्ट है कि मैरेय के अलग अलग भेदो का नाम मिर्च पीपल त्रिफला आदि से नहीं, बल्कि गुड़-शहद आदि से ही पड़ना स्वाभाविक था। मधुशाला मे बैठा हुआ व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार मैरेय की माँग करते हुए मधुर वर्ग वाची पूर्वपद पर ही बल देता था, जैसे इक्षुरस मैरेय, फाणित मैरेय, गुड़ मैरेय, शर्करा मैरेय, मधु मैरेय लाओ। ये पाँच तरह के मैरेय उत्तरोत्तर बढिया प्रकार के थे। ईख के रस, राब, गुड़, शक्कर, शहद मिलाने से मैरेय नामक आसव मे विभिन्न प्रकार का स्वाद और गुण उत्पन्न होता था। उच्चारण की इस स्वाभाविक स्थिति के कारण ही गुड मैरेय, मधु मैरेय आदि शब्दो के पूर्वपद मे उदात्त स्वर बोला जाता था।

काकडासीगी, पीपल, मिर्च और गुड, अर्थशास्त्र मे दिए हुए इस नुस्खे से काशिका का 'गुड़ मैरेय' उदाहरण तो समझ मे आ जाता है, मधु मैरेय के विषय में जानने की अपेक्षा रहती है। अर्थशास्त्र में ही कौटिल्य ने एक दूसरा नुस्खा दिया है—ईख का रस, गुड, शहद, राब, जामुन का रस, कटहल का रस, इनमे से कोई एक लेकर काकडासीगी और पीपल के काढे में यदि मिला दिया जाय और फिर उसे

एक महीने, छह महीने या साल भर रखा रहने दिया जाय और बाद में इच्छानुसार उसमें ककडी, खीरा, गन्ना, आम, त्रिफला मिलाया जाय, तो एक प्रकार का शुक्त तैयार होता है (अर्थशास्त्र २।१५)। यहाँ यद्यपि कहा नहीं गया, किन्तु यह भी मैरेय का ही नुस्खा है। इसमें छ: प्रकार के मधुरद्रव्य एक ओर और ओषधियाँ दूसरी ओर हैं। मधुर वर्ग में शहद की भी गिनती है। इससे काशिका का 'मधु मैरेय' उदाहरण स्पष्ट हो जाता है।

कापिशायिनी—कापिश्या: ष्फक् (४।२।२९) सूत्र से कापिशायन शब्द सिद्ध होता है। कापिशी से आने वाले किसी पदार्थ के लिये इस शब्द की चरितार्थता थी। कापिशायन मधु और कापिशायिनी द्राक्षा इस सूत्र के दो उदाहरणहैं। कापिशी की भौगोलिक पहचान काबुल के उत्तर मे स्थित कोहिस्तान-काफिरिस्तान के विस्तृत प्रदेश के साथ बताई जा चुकी है (ऊपर पृ० ४७)। यह प्रदेश अंगूर का घर है। वहाँ हरे रंग की दाख होती है और उससे एक विशेष प्रकार का मधु बनाया जाता है। दाख और उसका मधु दोनो ही कापिशी से अपने देश में लाये जाते थे। पाणिनि के निवास स्थान गन्धार जनपद के पडोस में ही कापिशी का राज्य था, अतएव वहाँ की कापिशायिनी द्राक्षा और कापिशायन मधु इन दोनो से आचार्य अवश्य परिचित रहे होगे। कौटिल्य ने कापिशायिनी नाम की व्याख्या करते हुए लिखा है—'द्राक्षा फल के रस से मधु बनता है। उसके उत्पन्न होने का जो स्थान है, उस स्थान के नाम से कापिशायन और हारहूरक इन नामो के अर्थ पर प्रकाश पड़ता है (मृद्वीका रसो मधु, तस्य स्वदेशो व्याख्यान कापिशायनं हारहूरकमिति, २।२५)। कापिशी या उत्तरी अफगानिस्तान मे हरी दाख से बनने वाला मधु कापिशायन था, दक्षिण-पश्चिमी अफगानिस्तान में अरगन्दाब या हरह्वैति[1] नदी के प्रदेश के काले अंगूरो का मधु हारहूरक था। कापिशी कापिशायन मधु के व्यापार का बहुत बडा केन्द्र कालान्तर में भी बना रहा। अभी हाल की खुदाई में वहाँ अनेक प्रकार के सुन्दर मधु पात्र और चषक पाए गए हैं।

कषाय—पाणिनि ने कई प्रकार के कषायो का भी उल्लेख किया है (६।२।१०, अध्वर्युकषाययोर्जातौ)। काशिका में सर्पिर्मण्डकषाय, उमापुष्पकषाय, दौवारिककषाय, ये तीन नाम दिए हैं। पहला घी और चावल के माँड को कई गुना जल मे औंटाकर बनाया जाता था और दूसरा अलसी के फूलो को। तीसरा ऐसा कोई पान था जो दौवारिक या प्रतिहारी के लिये तैयार किया जाता था और जो हल्के उत्तेजक पेय के रूप में नीद आने से रोकता था।

१—यह नदी संस्कृत में सरस्वती कहलाती थी। इसे अवेस्ता में हरह्वैति और प्राचीन ईरानी भाषा में हरउवति कहा है। इसी से हरक्वैति शब्द रूप बना, जिससे यूनानी भौगोलिकों ने उस प्रदेश को अरखोसिया कहा। इस समय यह नदी अर्गन्दाब कहलाती है।

सूत्र ५।४।३ के गण पाठ मे काशिका और चन्द्रवृत्ति के अनुसार कालिका और अवदातिका ये दो सुरावाची शब्द भी पढ़े गए हैं (क्षुतिल पाद्यकालावदाता: सुरायाम्)। कालिका सुरा का कौटिल्य ने भी उल्लेख किया है (अर्थ २।२५)। अवदातिक वही सुरा रही होगी जिसे अर्थशास्त्र मे श्वेतसुरा कहा गया है।

अभिषव—आसुति या अभिषव के स्थान मे मद्य बनाने के लिये विविध ओषधियो को पहले उठाया जाता था। जब वे पूरी तरह उठ आती तब उन्हे आसाव्य (३।१।१२६) कहते थे, अर्थात् जो ऐसी स्थिति मे आ गई हो कि उनका अभिषव या चुवाना अत्यन्त आवश्यक हो। चुवाने के बाद जो फोक (कल्क) बचता था उसे विनीय (फेंकने योग्य) कहते थे (३।१।११७)। कौटिल्य ने लिखा है कि चुवाने के बाद बचे हुए सुराकिण्व या फोक को हटाने के लिये स्त्री या बच्चो को लगाना चाहिए (२।२५)।

मधुपान से सम्बन्धित भाषा के एक विशेष प्रयोग का पाणिनि ने १।४।६६ में उल्लेख किया है—कणे हत्यपिबति, जिसका अर्थ है—तलछट तक पी गया फिर भी मन नही भरा (श्रद्धाप्रतिघाते)।

अध्याय ३, परिच्छेद ६—स्वास्थ्य और रोग

नाना प्रकार की ओषधियो और रोगो के विषय में छानबीन वैदिक युग में ही आरम्भ हो गई थी। प्रमुख विद्या केन्द्रो में इस अध्ययन को अधिक प्रोत्साहन मिला था। तक्षशिला में इस विषय का अनुशीलन विशेष रूप से होता था, जैसा कि बिम्बिसार के राज वैद्य जीवक के वहाँ जाकर शिक्षा ग्रहण करने से ज्ञात होता है। पाणिनि तक्षशिला की परम्पराओ से सुपरिचित थे। रोग और ओषधियों से संबंधित कुछ शब्द अष्टाध्यायी मे आए हैं। रोग के पर्याय गद (६।३।७०), उपताप (७।३।६१) थे। स्पर्श रोग छूत की बीमारी को कहते थे (३।३।१६)। वैद्य के लिये अगदंकार (कारे सत्यागदस्य ६।३।७०) विशेष शब्द भाषा में प्रयुक्त होने लगा था। जड़ी-बूटी ओषधि और तैयार दवाई औषध कहलाती थी (ओषधेरजातौ ५।४।३७।) कई द्रव्यो को एकत्र कूट छान कर तैयार की हुई औषध को जातिवाचक शब्द नही माना गया, जैसे जड़ी-बूटी वाची ओषधियो को।

रोगों की चिकित्सा करने के लिये भाषा मे एक विशेष प्रकार का प्रयोग चल गया था जो रोग के नाम मे तस् प्रत्यय जोड़कर कृ धातु के साथ बनाया जाता था, जैसे 'प्रवाहिकात: कुरु, कासत: कुरु, छर्दिकात: कुरु,' अर्थात् प्रवाहिका (संग्रहणी), खाँसी या मचली के लिये कुछ उपाय करो, अर्थात् उनकी चिकित्सा करो (रोगाच्चापनयने (५।४।४९)।

त्रिदोष—पाणिनीय सूत्र 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' (५।१।३९) पर कात्या-

यन ने वात-पित्त-श्लेष्मा का पहली बार उल्लेख किया है। कात्यायन से पहले पाणिनिकाल में त्रिदोष का परिज्ञान अवश्य हो चुका था। सूत्र ५।२।१२९ में वात के रोगी को वातकी कहा गया है (वातातिसाराभ्या कुक् च)। पित्त सिध्मादि गण (५।२।९७) और श्लेष्मा पामादि गण (५।२।१००) में पठित है।

रोगों का नामकरण—रोगो का नामकरण, काल और प्रयोजन इन दो कारणों से होता था (५।२।८१ काल प्रयोजनाद्रोगे)। जैसे दूसरे या चौथे दिन आनेवाला ज्वर द्वितीयक, चतुर्थक कहलाता था। ऐसे ही सर्दी देकर चढ़नेवाला ज्वर शीतक और गर्मी से आनेवाला उष्मक कहा जाता था (उष्णं कार्यमस्य उष्णकः)। विषपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर विषपुष्पक और कासपुष्प से उत्पन्न हुआ ज्वर कासपुष्पक था। काशिका के ये छह उदाहरण प्राचीन वृत्तियो से लिए जान पड़ते हैं।

रोगवाची शब्दो के निर्माण की एक विशेष पद्धति बन गई थी, अर्थात् धातु से ण्वुल् प्रत्यय जोडकर रोगवाची शब्द एक ही ढग से बनाए जाते थे, जैसे प्रच्छर्दिका प्रवाहिका; विचर्चिका। वर्तमान चिकित्साविज्ञान में भी एक ही ढग पर रोगो का नाम रखने की पद्धति है। आयुर्वेद की भाषा मे रोग के नाम से रोगी का नाम रखने की प्रथा भी चल पडी थी (५।२।१२८ छन्दोपतापगर्ह्यात् प्राणिस्थादिनिः) जैसे कुष्ठी, किलासी, अर्शस (अर्श आदिभ्योऽच ५।२।१२७), वातकी (वात का रोगी) और अतिसारकी (वातातिसाराभ्या कुक् च ५।२।१२९)। रोग से मुक्त किन्तु उसकी निर्बलता से पीडित व्यक्ति ग्लास्नु कहा जाता था (३।२।१३९) कात्यायन ने रोग से पीडित व्यक्ति के लिये आमयावी शब्द का उल्लेख किया है (५।२।१२२)।

शरद् ऋतु में उत्पन्न रोग—उत्तर भारत मे वर्षा की समाप्ति पर शरद् ऋतु के आरभ मे ज्वरादि रोगो का बडा प्रकोप देखा जाता है। पाणिनि ने उन्हें शारदिक रोग कहा है (विभाषा रोगातपयो. ४।३।१३)।

रोगों के नाम—सूत्रो मे निम्नलिखित रोगो का उल्लेख है—अतिसार (५।२।२९); अर्शस् (५।२।१२७); आस्राव (३।१।१४१); कुष्ठ (८।३।९७); न्युब्ज (७।३।६१); पामन् (५।२।१००); विस्राव (खासी, ३।३।२५); संज्वर (सभवत. क्षय रोग का ज्वर, ३।२।१४२); सिध्म (एक प्रकार का कुष्ठ ५।२।९७); स्पर्श (कात्यायन के अनुसार एक रोग का नाम, ३।३।१६); हृद्रोग (६।३।५१)।

आस्राव का उल्लेख अथर्ववेद (१।२।४) मे है जिसे सायण ने मूत्रातिसार कहा है। कुछ विद्वान् उसे प्रमेह और कुछ संग्रहणी मानते हैं (वैदिक इंडेक्स १।७४)। पामन् का नाम भी अथर्व मे है। ५।२२।१२)। पामा का रोगी पामन कहलाता था। क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (५।२।९२) सूत्र मे कहा गया है—क्षेत्रिय वह व्याधि है जिसकी चिकित्सा दूसरे शरीर मे हो सके, अर्थात् ऐसा घोर रोग जो इस

जन्म में ठीक न हो सके। अथर्ववेद में क्षेत्रियच् शब्द कई बार आया है। वहाँ उसका अर्थ व्याधि विशेष, किया गया है। भारतीय व्याख्याकार इसे पुश्तैनी बीमारी समझते हैं जो जन्म के साथ आती है और प्राणो के साथ जाती है (वैदिक इण्डेक्स १।२११)। हृद्रोग का उल्लेख ऋग्वेद मे भी है।

शरीर—शरीर मे दो प्रकार के स्वाग (अवयव) कहे गए हैं। ध्रुव (उपसर्गात् स्वांगं ध्रुवमपर्शु ६।२।१७७) और अध्रुव (स्वागेऽध्रुवे ३।४।५४)। काशिका के अनुसार वह अङ्ग जिसके कटने पर भी प्राणी न मरे, अध्रुव और उसका उलटा ध्रुव कहलाता है (यस्मिन् अङ्गे छिन्नेऽपि प्राणी न म्रियते तद् अध्रुवम्)। सूत्रकार ने पर्शु या पसली को ध्रुव अङ्ग कहा है।

शरीर संस्थान के भिन्न भिन्न अङ्गो के नाम अष्टाध्यायी मे इस प्रकार हैं—अङ्गुलि, पाद, प्रपाद ५।२।८), अष्ठीवत् (८।२।१२), जंघा, जानु, ऊरु, उर्वष्ठीव (५।४।७७)। सक्थि (५।४।११३), स्फिग ६।२।१८७= नितम्ब), उदर, नाभि, कुक्षि, बाहु, उरस् , पर्शु, स्तन, अंस, ग्रीवा, मन्या, (३।३।९९), कर्ण, नासिका, अक्षिभ्रुव, मुख, ओष्ठ, दन्त, जिह्वा, ललाट, मूर्धा, मस्तक, शीर्ष, अस्थि, नाडी, तन्त्री (५।४।१५९) हृदय, हृत् , यकृत् , केश, लोम, नख (६।३।७४), त्वच, मास, वस्ति (४।३।५६), अरुष् (= मर्म ६।३।६७)। अमरकोष के अनुसार मन्या ग्रीवा का पृष्ठ भाग या गुद्दी थी।

महाहैलहिल—सूत्र ६।२।३९ में हैलहिल और महाहैलहिल शब्द हैं, जिनका अर्थ संस्कृत कोशो मे स्पष्ट नही है और न साहित्य में कही उनका प्रयोग देखने मे आया है। इस सूत्र मे पठित दसो शब्द विशेष सज्ञावाची हैं, अतएव हैलहिल या महाहैलहिल भी वस्तु विशेष का नाम रहा होगा। ज्ञात होता है कि मुल मे यह म्लेच्छ भाषा का शब्द था, जो संस्कृत में अपना लिया गया। अरबी में हलाहिल का अर्थ घोर या घातक विष है जिसे हिब्रू भाषा में हलूल कहते थे (स्टाइनगास, फारसी कोश पृ १५०६ में इसे संस्कृत हलाहल से संबंधित माना है)। संस्कृत भाषा में हलाहल, हालाहल हालहल, हालहाल, हाहल हाहाल इन अनेक रूपो में इस शब्द के आने से सूचित होता है कि वह बाहर से आया हुआ शब्द था जिसके स्वरो को ठीक ठीक पकड़ने मे मतभेद था (मानियर विलियम्स सस्कृत कोष पृ० १२९३)। पाणिनीय हैलिहिल अरबी हलाहिल के निकटतम है। संभव है कि गन्धार और ईरान के बीच जो व्यापारसंबंध था उसके द्वारा यह शब्द हमारी भाषा में आया हो।

अध्याय ३, परिच्छेद ७–वस्त्र और अलंकार

वस्त्र—वैदिक भाषा मे वस्त्र और वसन शब्द चालू थे। पाणिनि में चार नये

शब्द और आ गए थे—चीर (६।२।१२७), चेल (३।४।३३), चीवर (३।१।२०), आच्छादन (३।३।५४;४।३।१४२;५।४।६) । चीवर का प्रयोग ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य मे कही नही है । चान्द्रवृत्ति और काशिका में चीवर का उदाहरण 'संचीवरयते भिक्षुः' है जो इस शब्द की बौद्ध पृष्ठभूमि का संकेत करता है । गृहस्थ या ब्रह्मचारी के वस्त्रो के लिये चीवर नही चलता था । आच्छादन भी एक नया शब्द था, जो ब्राह्मण ग्रन्थो मे नही मिलता, हाँ धर्मसूत्रों मे उसका प्रयोग अवश्य है (वसिष्ठ १७,६२; १८,३३, राजपत्न्यो ग्रासाच्छादने लभेरन् ; अर्थशास्त्र मे भी १।११) । अष्टाध्यायी मे प्रावार (३।३।५४) वृहतिका (५।४।६) जैसे वस्त्रो को आच्छादन कहा गया है ।

वस्त्रों के विविध प्रकार—रेशमी वस्त्रो को कौशेय (६।३।४२), अलसी (उमा) के तन्तुओ से बनाए हुए वस्त्रो को औम—औमक (६।३।१५०), और ऊनी वस्त्रो को और्ण—और्णक (४।३।१५८) कहते थे । ४।३।१४३ (मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयो) सूत्र के प्रत्युदाहरण मे कार्पास आच्छादन या सूती वस्त्र का उल्लेख है । सूत्र में कार्पासी शब्द नही है, पर बिल्वादिगण मे उसका पाठ अवश्य था, अन्यथा ४।३।१४३ सूत्र मे आच्छादन पद व्यर्थ हो जाता है । ४।३।१३६–१४२ प्रकरण मे जिसकी ओर ४।३।१४३ सूत्र का लक्ष्य है गणपठित अकेला कार्पासी शब्द ही वस्त्र के लिये है ।[1] तूल शब्द का सूत्र मे उल्लेख है (३।१।२५; ३।३।६४) इषीकातूल का अर्थ सीक में लिपटी हुई रुई हो सकता है ।

वेषभूषा—अन्तरं बहिर्योगोपसव्यानयो. (१।१।३६) सूत्र में अन्तर शब्द का अर्थ उपसव्यान है । कात्यायन के अनुसार उपसंव्यान अन्तरीय शाटक या धोती को कहते थे । उत्तरीय और अन्तरीय अर्थात् उपरना और धोती यही इस देश का प्राचीन वेष था । कला में भी इसका अंकन मिलता है । इस जोड़े को ही शाटक युगल (जोड़ा) या केवल युगल भी कहते थे । काशिका ने उपसव्यान शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि उसका अर्थ परिधानीय था, प्रावरणीय नही । इसका भी यही तात्पर्य हुआ कि उपसव्यानवाची अन्तर शब्द धोती के लिये प्रयुक्त होता था, उपरने के लिये नही । जिस समय यूनानी इस देश में आए, वे यहाँ के सरल और सुन्दर वेष से प्रभावित हुए । अरियन ने लिखा है—'भारतीय प्राय. सूती वस्त्र पहनते हैं । वे नीचे पैर तक लटकती हुई धोती और ऊपर अङ्गो पर एक उत्तरीय डाल लेते हैं, जिससे कभी-कभी सिर भी ढक लेते हैं ।' अष्टाध्यायी मे जो आप्रपदीन शब्द है, वह प्रपद अर्थात् पैरो के

---

१. बिल्वादिगण की प्रामाणिकता इससे भी सिद्ध है कि कात्यायन ने उस गण में पढ़े हुए गवेधुका शब्द के विषय में विशेष रूप से विचार किया है (बिल्वादिषु गवेधुकाग्रहण मयट् प्रतिषेधार्थम्—वा०; बिल्वादि गण में गवेधुका नवें स्थान पर है)।

अग्रभाग तक नीचे लटकती हुई धोती के लिये प्रयुक्त होता था (आप्रपदं प्राप्नोति ५।२।८, काशिका आप्रपदीनः पटः)। धोती के ऊपर कटि प्रदेश में कायबन्धन या फेटा बाँधा जाता था, जिसे अष्टाध्यायी मे नीवि कहा गया है। नीवि बाँधने का कटिभाग उपनीवि कहा जाता था (४।३।४४)।

सूत्र ५।१।२१ पर पतजलि ने यह सूचना दी है कि उनके समय में एक साड़ी या एक धोती का दाम एक कार्षापण था। यह चाँदी का सिक्का तोल में ३२ रत्ती होता था (शतेन क्रीतं शत्यं शाटक शतम्)।

स्थूलादि गण में (५।४।३) गोमूत्रिका नामक वस्त्र का उल्लेख है। यह उस प्रकार की धोती या साड़ी थी, जिसके एक पल्ले पर गोमूत्रिका भाँति की किनारी बनी रहती थी। प्राचीन यक्षमूर्तियो मे सामने की ओर लटकती हुई पटली में गोमूत्रिका (वन्दामूतन) भाँति की किनारी प्राय मिलती है।

कम्बल—उस समय पण्यकम्बल नाम से एक विशेष माप का बाजार मे चालू कम्बल बनता था (५।२।४२)। उनमें जितना ऊन लगता था, उसके लिये कम्बल्य शब्द चालू था। पाणिनि ने कम्बल्य को तोल-विशेष का वाचक सज्ञा शब्द कहा है (कम्बलाच्च सज्ञायाम्, ५।१।३)। काशिका में लिखा है कि सौ पल अर्थात् ५ सेर ऊन की संज्ञा कम्बल्य थी (कम्बल्यम् ऊर्णापलशतम्; पल = ४ तोले, १०० पल = ४०० तोले = ५ सेर)। सूत्र ४।१।१२ मे भी कम्बल्य शब्द आया है, जिसके उदाहरण मे काशिका ने 'द्विकम्बल्या त्रिकम्बल्या' प्रयोग दिए हैं। दो कम्बल्य या १० सेर ऊन और त्रिकम्बल्य या १५ सेर ऊन से मोल ली गई—यह अर्थ भेद के लिये ही चारितार्थ होता होगा।

प्रावार—वृणोतेराच्छादने (३।३।५४) सूत्र द्वारा पाणिनि ने प्रावार शब्द का विशेष रूप से विधान किया है। यह एक प्रकार का कम्बल ही था। कौटिल्य के अनुसार जंगली जानवरो के रोएँ से प्रावारक नामक कम्बल बनता था। महाभारत मे भी प्रावार का उल्लेख आता है। ज्ञात होता है कि पण्य कम्बल की अपेक्षा यह महीन और बढ़िया किस्म का कम्बल था, जिसे तूस या दुशाला कहना चाहिए।

बृहतिका—बृहत्या आच्छादने (५।४।६) सूत्र के अनुसार विशेष प्रकार के वस्त्र के अर्थ में बृहतिका सिद्ध होता है। अमरकोश में बृहतिका को प्रावार लिखा है। पतजलि के एक वाक्य से सूचित होता है कि बृहतिका सामान्यत. प्रयुक्त होने वाला वस्त्र था (शुक्लश्च कम्बल. शुक्ला च बृहतिका शुक्ल च वस्त्रम् तदिदं शुक्लम्, तानीमानि शुक्लानि १।२।६९)। मज्झिम निकाय मे वाहितिका को १६ हाथ लम्बी और ८ हाथ चौडी कहा गया है।[१] इससे सूचित होता है कि वाहितिका या

१ अयम्मे भन्ते वाहितिका रञ्ञा अजातसत्तुना वेदेहिपुत्तेन छत्तनालिया पक्खिपित्वा पहिता सोलससमा आयामेन अट्ठसमा वित्थारेण। तं भन्ते आयस्मा आनन्दो परिगण्हातु, अनुकम्पमुपादा-

बृहतिका आज कल का तूस था। इस समय दुहरे तूस की लम्बाई १२ हाथ या ६ गज होती है।

सूत्र ४।२।१०० (रङ्कोरमनुष्येऽण्च) में पठित रंकु शब्द से राङ्कव और राङ्कवायण इन दो शब्दों की सिद्धि की गई है। रंकु किसी जनपद का नाम था। काशिका से ज्ञात होता है कि वहाँ के बैल और कम्बल प्रसिद्ध थे, जिन्हें राङ्कव कम्बल कहते थे। चीन, हूण, शक आदि देशों के निवासी मध्य एशिया से युधिष्ठिर के लिये जो उपहार सामग्री लाए थे उसमें (और्ण), रेशमी (कीटज), पाट या चीनी घास के बने हुए (पट्टज, जिन्हें क्षौम भी कहते थे), और राङ्कव इन चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख है।[1] मध्य एशिया की लम्बे बालों वाली भेड़ें रंकु कहलाती थीं। उन्हीं के विशेष ऊन से बने हुए कम्बल राङ्कव होने चाहिएं।

कात्यायन ने वर्णका नामक एक विशेष वस्त्र का उल्लेख किया है (७।३।४५, वार्तिक, वर्णका तान्तवे)। अर्थशास्त्र में वर्णक एक प्रकार का ऊनी कम्बल है। (२।११)। भाष्य में कुतप (२।१।६९) नेपाली थुलमा ज्ञात होता है।

नागरक जीवन—नगर का प्रवीण व्यक्ति या छैल नागरक (४।२।१२८, नगरात्कुत्सन प्रावीण्ययोः) कहलाता था। सौन्दर्य के लिये अलंकरण और सुभगंकरण और सजावट के लिये आढ्यंकरण (३।२।५६) का उल्लेख है। शरीर के विभिन्न अंगों को सजाकर उनका संस्कार किया जाता था (स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते, ५।२।६६), जैसे बालों को सँवारने-काढ़ने वाला छैल व्यक्ति केशक कहलाता था। अलंकार (४।३।६४), आच्छादन (५।४।६), केशवेष (४।१।४२) उसी क्षेत्र के शब्द हैं। वामोरू, संहितोरू, शफोरू (४।१।७०) शब्द स्त्री-सौन्दर्य के सूचक हैं। सत्, महत्, परम, उत्तम, उत्कृष्ट (२।१।६१), वृन्दारक, नाग, कुंजर, पूज्यमान (२।१।६२) आदि शब्द नागरिकों की सामाजिक प्रतिष्ठा का संकेत करते हैं। पुरुष सिंह, पुरुष व्याघ्र आदि नए शब्द लौकिक संस्कृत में प्रयुक्त होने लगे थे (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, २।१।५६)।

स्त्रियाँ शालभंजिका आदि उद्यान क्रीडाओं (५।२।७४, प्राचाक्रीडायाम्) से और पुरुष प्रहरणक्रीड़ाओं से मनोविनोद करते थे (तदस्यं प्रहरण मिति क्रीडायाम् णः, ४।२।५७)।

याति। (मज्झिम सुत्त ८८, बाहितिक सुत्तम्) कोसलराज प्रसेन जित ने आनन्द से कहा—यह बाहितिका मगध के राजा अजातशत्रु ने एक नलकी में रखकर मेरे पास भेजी थी। यह सोलह हाथ लम्बी और आठ हाथ, चौड़ी है। हे आनन्द, आप इसे कृपा कर स्वीकार करें। आनन्द ने कहा-'महाराज, इसे रहने दें। मेरे लिये त्रिचीवर ही बहुत है।'

[1] प्रमाणरागस्पर्शाढ्य बाह्लीचीनसमुद्भवम्। और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं कुट्टजं तथा॥ कुट्टीकृतं तथैवान्यत् कमलाभं सहस्रशः। श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम्॥ (सभापर्व ४७।२२,२३)।

अलंकार—अंगुलीय (४।३।६२), कर्णिका (४।३।६५), ललाटिका (४।३।६५) और ग्रैवेयक (४।२।९६) इन चार गहनों का सूत्रो मे उल्लेख है। मौर्य-शुङ्गकाल की भारतीय कला मे ये अलकार मिलते हैं विशेषरूप से परखम यक्ष जैसी मूर्तियो के गले में पड़ा हुआ चपटा कंठा ग्रैवेयक का उदाहरण है। दीदारगंज यक्षी के माथे का बोल ललाटिका है। ऐसे ही भरहुत से प्राप्त सुदर्शना, चुलकोका, सिरिमा देवता की मूर्तियो में भी ललाटिका आभूषण दर्शनीय है। जातको मे ग्रीवा के आभूषण को गिवेय्य कहा है (जा० ६।५९०)।

कुम्बा का भी उल्लेख है (३।३।१०५)। वेद में इस शब्द को स्त्रियो के केशो का अलंकार माना गया है (वैदिक इंडेक्स १।१६३)।

भूषण, अलंकार या सुभगंकरण से सम्बन्धित अन्य वस्तुओं का भी वर्णन आया है, जैसे दर्शन या शीशा (५।२।६), अजन, माला (६।३।६५), गन्ध (४।४।५३-५४), दण्ड (५।१।१०), उपानह् (५।१।१४) आदि। यथामुखीन और सम्मुखीन दो प्रकार के शीशे होते थे। पहला चपटा और दूसरा उन्नतोदर या बीच मे उठा हुआ जिसमें सामने से ही ठीक देखा जा सके। अंजन का सूत्र में उल्लेख नही है, पर त्रिककुत् पर्वत का है (५।४।१४७) जहाँ से वैदिक युग मे ही प्रसिद्ध सुरमा आने लगा था। इसे त्रैककुद अंजन (अथर्व ४।९।९) कहते थे। कर्णपर्व मे आया है कि मद्रदेश की गोरी स्त्रियाँ त्रैककुद अंजन से आँखो की शोभा बढाती थी (मनः शिलोज्ज्वलापागा गौर्यस्त्रिककुदाजनाः, कर्ण० ३०।२२)। सौवीर देश में यही सौवीराजन कहा जाता था।

पाणिनि ने जिस कलकूट जनपद का उल्लेख किया है (४।१।१७३) वही महाभारत का कालकूट है। यमुना की उपरली धारा के प्रदेश में स्थित यहाँ से यामुन अंजन आता था। मालाओ से शरीर सजाने वाले को मालभारी (६।३।६५; स्त्री को मालभारिणी) कहा जाता था। भाष्य में इसी सूत्र पर उत्पल मालभारिणी कन्या उदाहरण दिया गया है। पाणिनि ने स्रग्वी (स्रज् या माला पहनने वाला) का उल्लेख किया है (५।२।१२१)। यह शब्द स्नातक के प्रसङ्ग में प्रयुक्त होता था (तं प्रतीतं स्वधर्मेण ब्रह्मदायहरं पितु.। स्रग्विणं तल्प आसीनमर्हयेत् प्रथमं पिता ।। मनु)।

किसर (४।५।५३) और शलालु (४।४।५४) नामक सुगन्धित द्रव्यो की दुकानो का उल्लेख है। इनकी ठीक पहचान नही हुई। शलालु बेचनेवाली स्त्री शालालुकी, शलालुकी कहलाती थी। किसरादि गण मे नलद, तगर, गुग्गुलु, उशीर का भी उल्लेख है।

याजकादिगण (२।२।९, ६।२।१५१) में पठित स्नातक, उत्सादक उद्वर्तक, परिषेचक, और महिष्यादि गण (४।४।४८) में अनुलेपिका, प्रलेपिका, विलेपिका आदि परिचारक प्रसाधन से सम्बन्धित थे।

अध्याय ३, परिच्छेद ८—शालाएँ

नगरो मे जो अनेक प्रकार के भवन या निवास स्थान होते हैं उनके नाम अष्टाध्यायी मे ये हैं—राजसभा (२।४।२३), गेह–गृह (३।१।१४४), निवासनिकाय्य (३।१।१२९), शाला, छात्रिशाला (६।२।८६), अगारान्त शब्द जैसे कोष्ठागार (४।४।७०), निषद्या (३।३।९९, बैठकें) । द्वार (४।३।८६), कपाट (३।२।५४), परिघ (८।२।२२) का भी उल्लेख है ।

शाला—मूल में यह वैदिक शब्द था जो घर के लिये प्रयुक्त होता था । पाणिनि काल में शाला शब्द का व्यापक प्रयोग देखने मे आता है । राजा की जो सभाएँ या आस्थान मडप होते थे उसे भी शाला कहा गया है (अशाला च, २।४।२४)। सूत्र ६।२।८६ मे छात्राओ के निवास स्थान को छात्रिशाला कहा है । गौ आदि पशु बाधने की जगह को भी शाला कहने लगे थे । गोशाल, खरशाल का उल्लेख पाणिनि ने किया है (४।३।३५) । अन्न रखने के कोठार को भी शाला कहा है, जिसमे नीचे की ओर बने हुए आनन या मुँह को शालाबिल कहते थे (६।२।१०२) ।

घर—घर के लिए वैदिक भाषा मे गृह शब्द था । पाणिनि ने गृह, गेह (३।१।१४४) अगार (३।३।७९) और क्षय (६।१।२०१, क्षयोनिवासे) कई शब्दो का उल्लेख किया है । क्षय शब्द इस अर्थ मे विशेष था जो सभापर्व मे भी आया है । (अजायत यदुक्षये, अर्थात् कृष्ण का जन्म यदुओ के घर में हुआ, (३३।१६) ।

पाणिनि ने ऐसे अधिकारियो का उल्लेख किया है जो विशेष प्रकार के अगारो का प्रबंध या अधिकार सभालते थे (तत्र नियुक्त., ४।४।६९; अगारान्ताट्ठन्, ४।४।७०) । काशिका में भाडागार, देवागार और कोष्ठागार, इन तीन प्रकार के अगारो और उनमे नियुक्त अधिकारियो का उल्लेख है । ज्ञात होता है कि अगार बडी इमारत होती थी जिस के कई भाग होते थे । अगार का एक भाग (अगारैक देश) प्रघण या प्रघाण कहलाता था । काशिका ने उसका अर्थ वाह्य द्वार प्रकोष्ठ किया है जिसे गुप्तकाल की भाषा में अलिन्द कहा जाने लगा । द्वारप्रकोष्ठ से हिंदी का बरोठा शब्द बना है जो घर के द्वार के लिए प्रयुक्त होता है । वाह्य द्वार प्रकोष्ठ बड़े मकानो के सामने बना हुआ वह द्वार हुआ जिसमे कई कमरे होते थे और जिसमे महा कपाट या बडा फाटक लगाया जाता था । आजकल उसे ड्योढी भी कहते हैं । पाली पघन की व्याख्या करते हुये बुद्धघोष ने लिखा है, 'पघन वह है जो घर में आते-जाते समय पैरो से खूँदा जाय (विनय २।१५३, पघन नाम य निक्खमन्ता च पविसन्ता च पादेही हनन्ति, बुद्धघोष) । डाक्टर कुमारस्वामी ने प्राचीन भारतीय शिल्प सामग्री के आधार पर द्वारकोट्ठक का अर्थ नगर के प्राकार या चहारदीवारी में बने

हुए बड़े फाटक से किया है जिन्हें बाद में प्रतोली कहा जाने लगा (अरली इंडियन आर्किटेक्चर, नगर और नगर-द्वार, पृष्ठ २०९)। आजकल इन्हे पौर या पोल कहते हैं।

निषद्या—सूत्र ३।३।९९ के अनुसार निषद्या संज्ञा शब्द था। पथिकों के लिये निर्मित विश्राम गृह के अर्थ मे अशोक के लेखों में निसिदिया शब्द आया है। नागार्जुनी पहाड़ी की गुफाओं को वहाँ के उत्कीर्ण लेखो मे 'वास-निसिदिया' कहा गया है अर्थात् वर्षा ऋतु में भिक्षुओं के विश्राम करने के स्थान।

निकाय्य—पाणिनि ने निकाय्य को निवास का पर्याय माना है (पाय्य सान्नाय्य निकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु, ३।१।१२९)। इसी अर्थ मे निकाय शब्द की भी सिद्धि की गई है (निवासचिति शरीरोपसमाधानेष्वादेश्च कः ३।३।४१)। इस अर्थ मे ये विशुद्ध पाणिनीय शब्द हैं। यजुर्वेद में एक बार निकाय शब्द आया है (यजुः १५।५) किन्तु शतपथ के अनुसार वह वायु छन्द का नाम था। (श० ८।५।२।५)। अर्थशास्त्र मे निकाय शब्द का प्रयोग है, पर संघ के अर्थ मे (अर्थ २१४)। मनु ने देवनिकाय का प्रयोग किया है (१।३६) जिसका अर्थ कुल्लूक टीका मे 'देवनिवासस्थान' किया गया है। यह कहना कठिन है कि निकाय सब घरों के लिये या केवल भिक्षुओं के निवास के अर्थ मे आता था।

एकशालिक—इसका दूसरा रूप ऐकशालिक भी था। पाणिनि के अर्थ के अनुसार जो 'एक शाला की भाँति' काम मे आवे, अर्थात् एक व्यक्ति का अपना निवास हो, वह एकशालिक या ऐकशालिक कहलाता था (एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम्, ५।३।१०९, एकशाला इव)। इस शब्द का यह अर्थ नहीं था कि जिस व्यक्ति का एक घर हो, बल्कि वह मकान जो केवल एक व्यक्ति के इस्तेमाल में आता हो, अर्थात् जो सार्वजनिक न हो। यह स्थिति इस उदाहरण से समझ मे आ सकती है। दीघनिकाय में लिखा है कि श्रावस्ती के तिन्दुक वन नामक बगीचे मे बना हुआ रानी मल्लिका का घर पहले 'एकसालक' था अर्थात् उसके अपने या अपने अतिथियो के काम मे आता था। उस समय की प्रथा थी कि प्रायः धनिक या शौकीन लोग अपने शहरी मकान के अलावा नगर के बाहर बगीचा बनाकर उसमे भी एक मकान विश्राम-विनोद के लिये बनाते थे। मल्लिका का वह एकशालक घर बाद मे भिक्षुसंघ को दान कर दिया गया। तब बहुतों के काम में आने के कारण उसके लिये कहा है—बहूसालाकता (सुमङ्गल विलासिनी २।३६५)। उस काल के समाज मे इस बात का कुछ महत्व था कि किसी रईस के बगीचे वाला घर उसके अपने लिये है या उसने उसे सबके लिये खोल रखा है। श्रावस्ती से नगरसेठ अनाथ पिण्डक की कहानी है कि उसने राजकुमार जेत का बगीचे वाला मकान जो राजकुमार के अपने काम मे आने से एकशालिक था, खरीद कर भिक्षुसंघ को दे डाला अर्थात् उसे बहुशालिक बना दिया।

यह सूत्र उसी प्रकार के नगर के बाहर बने हुए उद्यान-गृहो के लिये था। बनारस में अभी तक शहर से बाहर इस प्रकार के घर रखने की प्रथा चली आती है, जहाँ उनके स्वामी साँझ-सवेरे गंभीर वाद्य यानो (गहरेबाज इक्को) पर सवार होकर ठाठ से जाते हैं।

घरों की सामग्री—इष्टकचित शब्द में इष्टका या ईंटो का उल्लेख है (६।३।६५) वैदिक युग में ही इष्टकाएँ बनने लगी थी। पाली साहित्य मे ईंटो से चिनाई करने वाले करीगरो को 'इट्ठकावड्ढकि' कहा गया है। घर की छत के लिये छदिस् शब्द था, जो संभवतः फूस के छप्पर के लिये प्रयुक्त होता था। सूत्र ५।१।१३ के उदाहरण में छत पर छाने के लिये उपयोगी पयार या फूस को छादिषेय तृण कहा गया है। घरो के द्वार और उनके कपाट या किवाडो का भी सूत्र में उल्लेख है। किवाड़ तोड़ कर घुस जाने वाले चोरो के लिये कपाटघ्न शब्द प्रचलित था (३।२।५४ शक्तौ हस्तिकपाटयोः)। ऐसे चोर वस्तुतः डाकू थे। कपाटघ्न का अर्थ ऐसा व्यक्ति नही, जिसके घूँसे मे किवाड़ तोड़ने की ताकत हो, बल्कि वह जो बन्द किवाड़ो पर धमधम करके चुनौती दे और सामने से चोरी करे। महाकण्ह जातक में राजभवन के बड़े फाटक को तोड़कर घुसने के लिये 'कवाटे ठपेत्वा' शब्द आया है (४।१८२)। किवाड़ो को भी भीतर की ओर से परिघ या पलिघ लगाकर बन्द करते थे (८।२।२२)। यह लकड़ी का वह डण्डा या अर्गला था, जिसे किवाडो के पीछे खीचकर अटकाया जाता था।

रहने के घर और शालाओ के अतिरिक्त हाट में आपण या दूकानें होती थी, जहाँ विक्री की वस्तुएँ (पण्य, क्रय्य ६।१।८२) रखी जाती थी।

प्राचीन वैदिक शब्द वास्तोष्पति अर्थात् वास्तु-देवता का भी सूत्र मे उल्लेख है (४।२।३२)। घर के अर्थ में वैदिक क्षय शब्द पाणिनि कालीन भाषा मे भी प्रयुक्त होता था (क्षयो निवासे, ६।१।२०१)। आवसथ या आवसथ्य उस घर के लिये प्रयुक्त होता था, जो यज्ञशाला के पास आवसथ्य अग्नि के लिये बनाया जाता था, अथवा जहाँ ब्राह्मणादि विशिष्ट अतिथियो का स्वागत सत्कार किया जाता था (अनन्तावसथेतिहभेषाजाञ् ञ्यः, ५।४।२३)। आवसथ में यज्ञीय नियम या व्रत लेकर रहने वाला व्यक्ति आवसथिक कहलाता था (आवसथात्ष्ठल, ४।४।७३)। लोक मे प्रचलित अवस्थी नामक आस्पद आवसथिक से ही बना, अर्थात् जो व्यक्ति आवसथ में गार्हपत्य अग्नि रखता था।

अध्याय ३, परिच्छेद ६—नगरमापन

कापिशी, तक्षशिला, शाकल, हास्तिनपुर, सांकाश्य जैसे प्रसिद्ध नगरो का उल्लेख सूत्रों में हुआ है। गणो में और भी नाम हैं। यह इस बात का प्रमाण है कि वास्तु-

विद्या एवं नगरमापन शास्त्र अस्तित्व मे आ चुके थे। महाभारत में लिखा है कि जिस समय युधिष्ठिर ने इन्द्रप्रस्थ नगर बसाया उन्होंने व्यास तथा कृष्ण आदि प्रतिष्ठित पुरुषों को बुलाकर आरंभिक उत्सव किया और नगर के लिये नियत भूमि पर सूत्र मापन से इस बात का निश्चय किया कि परिखा, प्राकार, राजप्रासाद, गोपुर एवं चत्वर, वीथी आदिक का स्थान कहाँ-कहाँ रहेगा। इसीको नगरमापन कहते थे[1] (नगरं मापयामासुः)।

नगर निवेश करने वाले वास्तुविद्याचार्य (पालि वत्थुविज्जाचरिय, जातक १।२९७) तदर्थ निश्चित भूमि का पहले संस्कार करते थे (जातक १।२९७; ४।३२३)। भूमिशोधन के बाद नगरमापन किया जाता था। (नगरं वेदेहेन सुमापितम्, महा उम्मगजातक ६।४४८)। नगर निर्माण मे परिखा, प्राकार और द्वार—इन तीन का निर्माण सर्वप्रथम होता था। अर्थशास्त्र में उल्लेख है कि दुर्गविधान या पुरसन्निवेश के लिये परिखा-निर्माण सबसे पहले होना चाहिए। पाणिनीय सूत्र परिखाया ढञ् (५।१।१८) के अनुसार पारिखेयी भूमि उस लम्बी चौड़ी जगह को कहते थे जो नगर निवेश करते समय दुर्ग के चारो ओर की खाई के लिये छोड दी जाती थी। यह ध्यान रखना चाहिए कि प्राचीन नगर या पुरो का सन्निवेश दुर्ग के ढंग पर ही किया जाता था और रक्षा या नगर गुप्ति के लिये गहरी खाई और ऊँची चार-दिवारी या परकोटे का निर्माण आवश्यक समझा जाता था। तदस्य तदस्मिन् स्यादिति (५।१।१६) सूत्र की (जिसका अधिकार 'परिखाया ढञ्' मे भी आया है) सारी पृष्ठभूमि यह बताती है कि किस प्रकार नगर निर्माण के लिये पहले सामग्री इकट्ठा की जाती थी और तब सूत्र मापन किया जाता था। काशिका में इसके तीन महत्वपूर्ण उदाहरण हैं—प्राकारीया इष्टकाः, प्रासादीया भूमिः प्रासादीयं दारु। इसीके साथ सूत्र पठित पारिखेयी भूमि शब्द को मिला दिया जाय तो नगर-मापन का एक चित्र खड़ा हो जाता है। यहाँ पहली, यहाँ दूसरी, यहाँ तीसरी—इस प्रकार तीन खाईयाँ खोदने के उद्देश्य से नियत की हुई समस्त भूमि पारिखेयी भूमि कहलाती थी (परिखा अस्मिन् देशे स्यादिति)। परिखा के लिये भूमि नियत हो जाने पर तुरन्त उसके वाद अन्दर की ओर चारदिवारी वा परकोटे का स्थान नियत किया जाता था। उसे प्राकारीय देश कहते थे (प्रकारोऽस्मिन् देशे स्यादिति[2])।

---

(१) ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः। मण्डयाञ्चक्रिरे तद् वै पुरं स्वर्गवदच्युताः ॥
ततः पुण्ये शिवे देशे शान्ति कृत्वा महारथाः। नगरं मापयामासुर्द्वैपायन-पुरोगमाः ॥
सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्। प्राकारेण च सम्पन्न दीर्घमावृत्य तिष्ठता ॥
द्विपक्ष-गरुडप्रख्यैर्द्वारैर्घोर-प्रदर्शनै । गुप्तमभ्रुच्चय-प्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥
आदिपर्व १९९।२७-२९, ३१)

(२) इस पर काशिका ने स्पष्ट लिखा है कि इस शब्द के पीछे यह भाव नहीं था कि उस

परिखा और प्राकार का स्थान निश्चित हो जाने पर नगर या दुर्ग के भीतर सबसे महत्वपूर्ण स्थान राजप्रासाद होता था। अतएव उसका स्थान भी प्रारम्भ में ही नगर के केन्द्रीय भाग मे नियत कर दिया जाता था। उसके लिये उदाहरण है—'प्रासादीया भूमि.' अर्थात् वह भूमि, जहाँ राजमहल बनेगा (प्रासादोऽस्या भूमौ स्यादिति)। इसी प्रसङ्ग में उन ईंटो को 'प्राकारीयाः इष्टकाः' कहा जायगा जो नगर का परकोटा या प्राकार बनाने के लिये तैयार की जाती थी। शहर पनाह या नगर कोट की ईंटें पाथने के लिए लम्बा चौड़ा काम फैलाना पड़ता था, क्योंकि करोड़ो ईंटो को पकाने के लिये इन्धन के पूरे जगल की आवश्यकता पडती थी। पाँचवाँ उदाहरण 'प्रासादीयं दारु' भी है। राज प्रासाद बनाने के लिये भारी भारी साल के लट्ठो की आवश्यकता होती थी। भारतीय वास्तु विद्या के आरंभिक युग मे राज-प्रासाद और राजसभा का अधिकाश निर्माण लकडी के लट्ठो से ही किया जाता था। उन्ही के लिये 'प्रासादीय दारु' पद भाषा में प्रचलित था। जातको में कहानियाँ आती हैं कि वास्तु विद्या के विशेषज्ञ (वत्थुविज्जाचरिय) जंगल मे जाकर पुराने पेड़ो का चुनाव करते थे और उनकी पक्की लकड़ी कटवा कर प्रासाद के लिये लाते थे।

परिखा—खाई खोदने का काम पहले छेडने का प्रयोजन यह भी था कि उसमे से निकली हुई मिट्टी से ही प्राकार की ईंटें पाथ ली जाती थी या पक्के परकोटे के बाहर एक कच्चा परकोटा भी उसीसे बना लेते थे, जिसे अर्थशास्त्र में पांसु प्राकार कहा गया। मध्यकाल में उसे ही धूलकोट कहते थे, जैसा कि मथुरा आदि प्राचीन नगरो के चारो ओर अभी तक कही कही बच गया है।

अर्थशास्त्र में लिखा है कि दुर्ग के चारो ओर तीन परिखाएँ बनानी चाहिए। इनके बीच में एक दण्ड भूमि छोडनी चाहिए। पहली परिखा १४ दण्ड, दूसरी १२ दण्ड और तीसरी १० दण्ड चौड़ी होती थी (अर्थशास्त्र २।२३)। इस प्रकार कुल पारिखेयी भूमि १४ + १ + १२ + १ + १० = ३८ दण्ड (= २२८ फुट; एकदण्ड = ६ फुट) चौड़ी होती थी। उदक जातक की टीका मे यह भी बताया गया है कि पहली खाई उदक परिखा (पानी से भरी हुई), दूसरी कद्दम परिखा (दल दल से भरी हुई), तीसरी सुक्ख परिखा (सूखी खाई) होती थी। ५।२।३८ सूत्र के उदाहरण में काशिका में द्विपुरुषी, त्रिपुरुषी उदाहरण स्त्रीलिंग में आए हैं, जो परिखा का संकेत करते हैं, अर्थात दो पुरुसा या तीन पुरुसा गहरी खाई। ५।२।३८ सूत्र में पाणिनि ने जिस पुरुष संज्ञक माप का उल्लेख किया है, वह अर्थशास्त्र के अनुसार ८४ अगुल या ५ फुट ३ इन्च मानी जाती थी, उसे खात पौरुष कहते थे, अर्थात् गहराई नापने की

भूमि की मिट्टी से परकोटा बनेगा, किन्तु वह भूमि ऐसी गुणवती या इस योग्य थी कि वहाँ परकोटा बनाया जाय। (देशस्य च गुणेन संभाव्यते, प्रासादोऽस्मिन् देशे स्यादिति प्रकृति विकारभावस्तादर्थ्यं चेह न विवक्षितम्, किन्तर्हि, योग्यतामात्रम्—काशिका)।

पुरुष संज्ञक माप (चतुरशीत्यङ्गुलो व्यामो रज्जुमानं खात-पौरुषं च, अर्थशास्त्र २।२०)। इस हिसाब से द्विपुरुषी परिखा १० फुट ६ इञ्च और त्रिपुरुषी १५ फुट ९ इञ्च गहरी होती थी।

प्राकार और देवपथ—यद्यपि सूत्र मे प्राकार शब्द नही है, किन्तु कात्यायन ने प्राकार और प्रासाद दोनों का उल्लेख किया है (६।३।१२२ वार्तिक) और उनके वार्तिक की ऐसी ध्वनि है जैसे सूत्रकार को वहाँ वे दोनो शब्द इष्ट हो। पाणिनि ने प्राकार के संबध मे देवपथ इस महत्वपूर्ण शब्द का उल्लेख किया है (देवपथादिभ्यश्च, ५।३।१००)। इस शब्द की व्याख्या कौटिल्य के अर्थशास्त्र से ही ठीक समझी जा सकती है। पाणिनि के अनुसार देवपथ के दो अर्थ थे, एक तो आकाश मे विमानचारी देवताओ का मार्ग देवपथ कहलाता है (रघुवश में उसे सुरपथ कहा है[1]); दूसरे आकाशवाले देवपथ के समान जो ऊँचा हो उसे भी देवपथ कहा जाता था (देवपथ इव देवपथः)। कौटिल्य ने लिखा है कि देवपथ उस ऊँचे मार्ग का नाम था, जो किले की चार दिवारी के ऊपर इन्द्रकोश या कंगूरो के पीछे बनाया जाता था[2]। यह आठ हाथ या बारह फुट चौड़ा होता था। प्राचीन दुर्ग निर्माण पद्धति के अनुसार प्राकार की ऊँचाई १२ हाथ से २४ हाथ (१८ फुट से ३६ फुट तक) होती थी। जातको में भी अट्ठारह हाथ ऊँचे प्राकार (अट्ठारस हत्य प्राकार) का उल्लेख है। आज तक दुर्ग निर्माण में परकोटा १८ हाथ ऊँचा बनाने की चाल है। इतनी ऊँचाई पर जो मार्ग बनाया जाता था, उसे उचित ही देवपथ कहा जाता था।

भाष्य में पाटलिपुत्र नगर के विशिष्ट प्रासाद और प्राकारो का उल्लेख है। वहाँ कहा है—पाटलिपुत्र के परकोटे के भिन्न भिन्न अवयवो (प्रतोली, अट्टालक, इन्द्रकोश, देवपथ आदि) को ठीक ठीक समझना हो तो सुकोशला अर्थात् अयोध्या को देखकर समझा जा सकता है। तात्पर्य यह कि शुग काल में अयोध्या राजधानी हुई थी और उसका निर्माण हूबहू पाटलिपुत्र के समान किया गया था (४।३।६६—पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोशला पाटलिपुत्रं चाप्यवयवश आचष्ट ईदृशा अस्य प्राकार इति)।

नगरद्वार—प्राचीन नगरो में प्रायः चार बडे फाटक परकोटे में बनाए जाते थे (नगरस्य चतुसु द्वारेसु, जातक १।२६२; ३।४१४; कुमारस्वामी नगर और नगर द्वार शीर्षक लेख, पृ० २१३)। पाणिनि ने नगरद्वारो के नामकरण के नियम का

---

(१) क्वचित् पथा संचरते सुराणां क्वचिद् घनानां पतता क्वचिच्च।
यथाविधो मे मनसोऽभिलाषः प्रवर्तते पश्य तथा विमानम्॥ (रघुवंश १३।१९)। यहाँ सुरपथ, घनपथ, खगपथ आकाश में क्रमशः ऊँचे उठते मार्ग थे।

(२) अन्तरेषु द्विहस्त च विष्कम्भ-पार्श्वे चतुर्गुणयामम् अनुप्राकारम् अष्टहस्तायतं देवपथं कारयेत् (अर्थशास्त्र २।३)।

निर्देश किया है—अभिनिष्क्रामति द्वारम् (४।३।८६), अर्थात् द्वार का नाम उस नगर के नाम पर पड़ता है जिसकी ओर उस द्वार से निकलकर मार्ग जाता है। जैसे 'माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्' अर्थात् कन्नौज का वह दरवाजा जहाँ से मथुरा की ओर सड़क जाती है। आजतक भी नगरद्वारों के नाम रखने की यही रीति है। मथुरा में बने हुए भरतपुर दरवाजे का नाम इस कारण पड़ा, क्योंकि वहाँ से भरतपुर के लिये रास्ता निकलता था। द्वार की तरह ही सडको का नाम भी पडता था। जो सड़क जिस नगर की ओर जाती थी, उसका वैसा ही नाम होता था (तद् गच्छति पथिदूतयोः, ४।३।८५)। मथुरा को यदि केन्द्र मे मान लें, तो उसके चारों ओर के शहरों से मथुरा की ओर आनेवाली जितनी सड़कें थी, वे माथुर पथ कहलाती थी। उनका एक छोर भिन्न भिन्न नगरो मे होता था, पर सबका दूसरा छोर मथुरा मे मिलता था। इस प्रकार कन्नौज के माथुर द्वार से होकर मथुरा की ओर जानेवाली सडक का नाम माथुरपथ पडता था।

इन सड़को पर पथिको के ठहरने के लिये विश्रामस्थल बनाए जाते थे। जिस लक्ष्य स्थान तक सडक जाती थी उसे मर्यादा कहते थे। बीच के पडाव की अपेक्षा से इस ओर का भाग अवर और उस ओर का पर कहलाता था (भविष्यति मर्यादा-वचनेऽवरस्मिन् ३।३।१३६)। उदाहरण के लिये, साकेत मे पाटलिपुत्र को जानेवाले मार्ग में कौशाम्बी का पड़ाव था। साकेत और कौशाम्वी के बीच का भाग अवर और कौशाम्वी से उधर का साकेत की अपेक्षा से पर कहलाता था। इन दूरियो मे भी छोटे पड़ाव होते थे, जहाँ ठहर कर यात्री दिन के अन्त में भोजन बनाते रहे होंगे। इस प्रकार यात्रियो की भाषा मे पड़ावो की गिनती भोजन की गिनती से होती थी। जैसे यह कहा जा सकता था कि साकेत से कौशाम्बी तक के मार्ग मे दो बार आहार करना है, अर्थात् दो आहार की दूरी है (योऽयम् अध्वा गन्तव्य आपाटलि-पुत्रात् तस्य यदवर कौशाम्ब्याः तत्र द्विरोदनं भोक्ष्यामहे, भाष्य ३।३।१३६)। भाष्य में साकेत से पाटलिपुत्र और साकेत से स्रुघ्न के मार्गों का उल्लेख है।

उत्तरपथ—पाणिनि ने 'उत्तरपथेनाहृतं च' (५।१।७७) सूत्र में उस लम्बे मार्ग का उल्लेख किया है जो सारे उत्तरापथ के यातायात की वृहत् धमनी थी। यह मार्ग पाटलिपुत्र, वाराणसी, कौशाम्बी, साकेत, मथुरा, शाकल, तक्षशिला, पुष्कलावती, कपिशा की बड़ी राजधानियो को मिलाता हुआ बाह्लीक तक चला जाता था। यूनानी लेखको ने उत्तर पथ का ठीक अनुवाद करते हुए इस महापथ को 'नार्दर्न रूट' कहा था (आजकल का ग्रैन्ड ट्रङ्क रोड)।

इस प्रकार पाणिनि कालीन नगर मे नगर रक्षा के लिये परिखा, प्राकार और द्वार होते थे एवं नागरिको के लिये गृहशालाएँ एवं आपण बनाऐ जाते थे। उसकी

सड़कें नंचर कहलाती थी (३।३।११९) और उसमे राजसभा, कोष्ठागार, भाण्डागार (४।४।७०), प्रेक्षा के स्थान (४।२।८०) भी बनाए जाते थे।

ग्राम—ग्रामो के स्वरूप की कल्पना कुछ इस प्रकार होती है। वन, कठिन (४।४।७२, अर्थात् वँसवाडी), नदी, टीले, जगल और प्रस्तार (चट्टानी स्थान) ये सब ग्रामो के आस-पास की भूमि की विशेषताएँ थी। किसानो के घर कुटीर कहलाते थे (५।३।८८) जिन पर आजकल की तरह फूंस के छप्पर (छदिः ५।१।१३) छाए जाते थे। एक घर में एक परिवार या गार्हपत रहता था। सारी गाँव बस्ती के लिये वसति शब्द चलता था (४।४।१०४)। गाँवो का समूह ग्रामता थी। गाँवो मे मनुष्यो के लिये कूप (४।२।७३) और पशुओ के लिये निपान या चरही (३।३।७४) बनाई जाती थी। कुओ की सफाई करनेवाले उदगाह या उदकगाह (६।३।७) कहलाते थे।

गाँवो के चारो ओर की धरती के कई भाग होते थे—(१) क्षेत्र या हल के नीचे आई हुई खेतिहर भूमि (सीत्य, ४।४।९१); (२) गोचर या चरागाह (३।३। ११९); (३) वंश कठिन या पेडो के झुरमुट और वँसवारी (४।४।७२); (४) सरपत और मूँज के जगल, (५) ओषधियो के जगल और वनस्पति या बड़े पेडो के वन एवं फलों के बगीचे जो गाँव के बाहर होते थे; (६) एव कही-कही ऊषर के रूप मे पड़ती धरती (५।२।१०७)।

खेती की भूमि अलग-अलग टुकडो मे बँटी हुई होती थी। प्रत्येक को भी क्षेत्र कहते थे, जिसकी परिभाषा पाणिनि ने स्पष्ट की है—धान्याना भवने क्षेत्रे, (५।२।१) अर्थात् क्षेत्र वह है जिसमे धान्य या फसल उत्पन्न होती हो। खेतो की नापजोख करने के लिये क्षेत्रकर नामक विशेष अधिकारी होते थे (३।२।२१)। वे काण्ड नामक लम्बाई से नापकर खेतो का क्षेत्रफल (क्षेत्र भक्ति) निश्चित करते थे (४।१।२३) जैसे द्विकाण्डा क्षेत्रभक्ति, वह खेत जिसका क्षेत्रफल दो काण्ड हो। खेतो की नाप का अनुमान उसमे बोने के लिये आवश्यक बीज की तौल से भी किया जाता था (तस्य वापः ५।१।४५)। केदार उस खेत को कहते थे जहाँ पानी की सिंचाई सुलभ हो। बहुत से केदार या खेतो का समूह कैदार्य कहलाता था (४।२।४०) ज्ञात होता है कि खेतो का स्वामित्व अलग-अलग होता था, पर गोचर भूमि सारे गाँव भर की साझली होती थी जहाँ गाँव भर के पोहो (ग्राम्य पशु सघ, १।२।७३) को चरने की छूट थी। गाँव के बाहर किन्तु उससे लगे हुए गोष्ठ (५।२।१८) या व्रज (३।३।११९) होते थे, जिनमे बहुसंख्यक पशुओ को रखा जाता था। गौओ के चराने के लिये गोपाल और भेंड-बकरियो के लिये तन्तिपाल होते थे (गोतन्तियव पाले ६।२।७८) ग्वालो के गाँव घोष थे (६।२।८५)। पशुओ के गोष्ठ स्थान नए-नए चारे की खोज में एक स्थान से दूसरे स्थान पर हटते रहते थे। पाणिनि ने लिखा है

कि वह भूमि जहाँ पहले कभी गोष्ठ रहा हो, पर अब हट गया हो, गौष्ठीन कही जाती थी (गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे ५।२।१८) । अनुमान होता है कि ग्राम-सन्निवेश का ढग आजकल के जैसा ही था, अर्थात् बीच मे बस्ती या आबादी होती थी, उसके बाहर खात डालने की भूमि या खत्ते, फिर गोचर भूमि या गोष्ठ, और फिर खेतिहर भूमि या क्षेत्र होते थे ।

गांव के साथ लगनेवाली भूमि अरण्य से पृथक् होती थी । अरण्य के पशु आरण्य और वहाँ रहनेवाले वनवासी मनुष्य आरण्यक कहे जाते थे (४।२।१२९) । पाणिनि ने इस बात का संकेत किया है कि आसपास के अरण्यो मे भी गाँवो के पशुओ को चराने की प्रथा थी । जिस जगल मे सब चारे या घास को पशुओ ने चर लिया हो, वह आशितंगवीन कहलाता था (५।४।७, आशितगवनीमरण्यम् , काशिका) । उसके बाद ग्वाले अपने झुण्डो को दूसरे जगल में या उसी जंगल के दूसरे हिस्से मे ले जाते थे । तब ऐसे जंगल गोष्पद कहलाते थे, अर्थात् जो गौओ के लिये खुले हो (गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु ६।१।१४५) । इसके विपरीत वे घने जंगल जहाँ पशुओ के लिये, चरना कठिन हो, अगोष्पद अरण्य कहलाते थे (यानि हि महान्त्यरण्यानि येषु गवामत्यन्तासंभवस्तान्येवमुच्यन्ते अगोष्पदान्यरण्यानि-काशिका) ।

अध्याय ३, परिच्छेद १०—शयनासन

घरेलू सामान के लिये प्राचीन शब्द शयनासन था (६।२।१५१) शयन के काम में आनेवाले खाट-पलग और आसन के लिये पीढे-चौकी आदि मिलकर शयनासन कहलाते थे । इसे ही पाली मे सेनासन कहा है । गाँव की बोली में आजकल इसे राछ-रछेंडा कहा जाता है । गृहोपकरण वाची निम्नलिखित शब्द आए हैं—शय्या (३।३।९९), खट्वा (२।१।१२६), पर्यङ्क या पल्यङ्क (पलंग, ८।२।२२), आसन्दी[1] (कुरसी या राजसिंहासन, ८।२।१२), विष्टर, आसन (८।३।९३), पर्प (अशक्त व्यक्तियो के लिये पहियेदार पीढ़ा या चौकी, ४।४।१०) । पर्प पर बैठ कर चलनेवाले को पर्पिक कहा जाता था । इसे ही यजुर्वेद (३०।२४), मनु (८।३९४) और जातक मे पीठ सर्पी कहा गया है (जातक १।७६, पीठ=हस्तेन ग्रहण युग्य अर्थात् हाथ से खींचकर चलाने की गाड़ी) ।

पात्र या वर्तन (३।४६) घरेलू बर्तनो में निम्नलिखित का उल्लेख है—(१) कुम्भ (८।३।४६ बड़ा घडा) । (२) कंस, गगरा जैसा पात्र विशेष (कुछ लोग इसे फूल या काँसे का पात्र समझते हैं) । यूनानियो का ध्यान इसकी ओर गया था । उन्होने लिखा है कि यह गिरते ही मिट्टी के पात्र की तरह टूट जाता था । (३)

---

१. आसन्दी प्राचीन वैदिक शब्द था । अष्टाध्यायी में आसन्दीवत् शब्द है जो जनमेजय की राजधानी थी । वहाँ राजकीय आसन्दी या गद्दी होने के कारण उसका यह नाम पड़ा ।

कुण्डी, पत्थर या लकड़ी की कूण्डी (४।१।४२; इसे पाणिनि ने अमत्र भी कहा है)। (४) स्थाली, वटलोई (५।१।७०), जिससे स्थाली विलीय शब्द विशिष्ट खाद्य पदार्थ के लिये बनता था (स्थाली विलीय तण्डुल = वटलोई मे वढिया भात के योग्य चावल) । (५) उखा, कढाई (४।२।१७) । (६) कलशी, छोटी गगरी या लुटिया (४।३।५६) । (७) कपाल, शराव, मिट्टी के पात्र (६।२।२९) और अन्य अनेक मिट्टी के भाड़े जो कौलालक कहलाते थे (कुलालादिभ्यो वुञ् , ४।३।११८)। अपने देश मे गाँव और शहरो के घरेलू जीवन में मिट्टी के पात्रो का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। मिट्टी के इन भाँड़ो के अनेक प्रकारो मे एक सिरे पर बड़ा कुसूल (६।२।१०२) और दूसरी ओर छोटा शराव (६।२।२९) होता था। गृहोपस्कर की वस्तुओ मे इनका भी उल्लेख है—शूर्प (५।१।२६), मन्थ अर्थात् मथानी जिसे वैशाख भी कहते थे (५।१।११०) और शूल (४।२।१७) जिसे मासभोजी काम मे लाते थे।

चमड़े के पात्र—पाणिनि के समय में चमड़े के बड़े कुप्पे कुतु और छोटी कुप्पियाँ कुतुप कहलाती थी (कुत्वा डुपच् , ५।३।८९ ह्रस्वाः कुतू. कुतुपं चर्ममय स्नेहभाजन मुच्यते-काशिका)। तेल रखने की छोटी कुप्पियो को उदक (३।३।१२३) और बड़े डोल या पानी उठाने के मोट को उदञ्चन कहते थे। चमड़े की मशक भस्त्रा (४।४।१६) या दृति (४।३।५६) कहलाती थी। दृति का नाम वैदिक साहित्य मे आया हुआ है। पञ्चविंश ब्राह्मण मे क्षीरदृति और सुरादृति का उल्लेख है।[1] दृति या मशक में रखा हुआ पदार्थ दार्तेय कहा जाता था (४।३।५६)। आजकल दृति केवल पानी भरने के काम आती है। शुष्कं चर्म काष्ठवत् की उक्ति के अनुसार राजस्थान मे दृति या पखाल का पानी शुद्ध माना जाता है। पाणिनि के समय मे दृति या मशको मे भरा हुआ सामान लादकर ले जानेवाले पशुओ को 'दृतिहरी' कहते थे (हृतेर्दृति नाथयोः पशौ, ३।२।२५)। उन पहाड़ी इलाको में जहाँ यातायात के पथ नहीं हैं आज भी घोड़े, टट्टू, अब्बू आदि पर दृति लाद कर सामान ढोते हैं। उससे दुर्गम ऊँचे पहाड़ी मार्गों मे भेड-बकरी दृतिहरि पशु के रूप मे काम आते हैं।

भस्त्रा (४।४।१६)—शतपथ ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि भस्त्रा मे सत्तू भरकर ले जाए जाते थे (यथानिर्धूतसक्तुर्भस्त्रा एवं हतो वृत्रः सलीनः शिश्ये, शतपथ १।६।३।१६)। वहाँ लिखा है कि ऋषि लोग कोष्ठ (कोठार) या कुम्भी मे रक्खे

---

१. सक्षीर दृतयो रथा भवन्ति (पञ्चविंश ब्राह्मण १६।१३।१३)। सुरादृतिना उपवसथं धावयति (वही १४।११।२६)। इससे ज्ञात होता है कि दूध भरी हुई मशकें रथों पर लादकर लाई जाती थीं। सम्भवतः यह कबाइली इलाके के लोगों की प्रथा थी। वे अपनी छोटी फिरक या फलकास्तीर्ण रथ पर दृतियों में भरा हुआ सामान लाद कर लाते थे। व्रात्यों की पहिचान आगे की जाएगी।

हुए अन्न को लेना पसंद नही करते। उन्हे खेत से भास्त्राओं मे भरकर और छकड़े पर लादकर लाया हुआ अन्न ही भला लगता है क्योंकि भूमा या अधिक वस्तु उनके मन को रुचती है (न कोष्ठस्य न कुम्भ्यै, भस्त्रायै, ह स्म ऋषयो गृह्णन्ति, श० १।१।२।७)। इससे भस्त्रा का प्रयोग नित्य प्रति के जीवन मे सूचित होता है। पाणिनि ने भस्त्रिक शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में अर्थात् भस्त्रा से माल ढोने वाले मल्लाहों के लिये किया है (४।४।१६, भस्त्रादिभ्य. ष्ठन् ४।४।१६, भस्त्रया हरति)। जो लोग नदी में हवा से फूली हुई मशकों का बेडा बनाकर उससे माल ढोते या नदी पार कराते थे उनके लिए भाषा मे भस्त्रिक शब्द काम मे आता था। यह प्रथा उत्तर पश्चिमी भारत की नदियो मे विशेष थी जैसा कि आगे बताया जाएगा। उदीच्य देश के लोग भस्त्रिका को भस्त्रका कहते थे। (भस्त्रैषा ज्ञाद्वास्वा नञ् पूर्वाणामपि, ७।३।४७)।

गोणी—गोण से बने हुए आवपन या थैले को गोणी कहा जाता था (४।१।४२) वैदिक साहित्य मे गोण शब्द नही मिलता, किन्तु दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में गोणक शब्द आया है जो लम्बे बालो वाले बकरो के बालो से बना हुआ मोटा ऊनी वस्त्र होता था। श्री मोतीचन्द्र का अनुमान है कि यह गोणक शब्द कौनक से सबद्ध है जो ऊन का बनता था और जिसे प्राचीन सुमेर और अक्कद देश के निवासी पहिनते थे (Kaunakes, मार्शल, सिन्धु उपत्यका की सभ्यता, पृ० १३३, ३४२; फलक ९५, चित्र १०)। हो सकता है कि प्राक्पाणिनीय काल में कभी यह शब्द पश्चिमी व्यापारियो के साथ इस देश मे आ गया हो।

गोणी शब्द को हिन्दी में गौन या गोनी कहते हैं। गौन मे अनाज, नमक आदि भरकर पशुओ पर लादा जाता है। पाणिनि ने दो प्रकार की गोणी कही है बड़ी गोणी (४।१।४२) और छोटी गोणीतरी (कासूगोणीभ्या ष्टरच्, ५।३।९०)। पहिली बैल, खच्चर, टट्टू, घोड़ो पर लादी जाती थी और दूसरी भेड, बकरी और गधो पर। इद्गोण्या. सूत्र (१।२।५०) के उदाहरण मे पञ्चगोणि. और दशगोणि वस्त्र का उल्लेख किया है जो पाँच या दश गोनी मूल्य देने पर खरीदा जाता था (पञ्चभिः गोणीभि. क्रीत. पट. पञ्चगोणि , दशगोणिः)। इससे अनुमान होता है कि गोणी नाम की एक विशेष तोल भी थी। भाष्यकार ने एक श्लोक वार्तिक उद्धृत किया है जिसमे गोणी को एक प्रमाण माना है (गोणीमात्रमिदं गोणि. १।२।५०)। चरक के अनुसार गोणी खारी का नाम था, जो चार द्रोण के बराबर होती थी। शार्ङ्गधर से भी इसका समर्थन होता है। हिसाब से गोणी लगभग ढाई मन की तोल थी।

विवध—(४।४।१७, वीवध[1] ४।३।७) इसे हिन्दी मे बँहगी कहते हैं (सस्कृत विहङ्गिका)। कहार (उदकहार या उदहार) कुओ से पीने का पानी बँहगी में लाद

१. क्योंकि सूत्रकार ने स्वयं ह्रस्व और दीर्घ दोनों रूपों का प्रयोग किया है इस लिए भाष्यकार ने भी ४।४।१७ सूत्र में वीवध रूप का पाठ करने का निर्देश किया है।

फर घरो मे भरते थे। यह प्रथा गाँवो मे आज भी है। पाणिनि के समय मे इसे उदकवीवध या उदवीवध कहा जाता था (४।३।७)। कौटिल्य ने वीवध शब्द का प्रयोग नए पारिभाषिक अर्थ में किया है अर्थात् सेना मे रसद या माल ढोनेवाला विभाग (अर्थशास्त्र १२।४)।

अन्न संग्रह—सूत्र ६।२।१०२ (कुसूल कूप कुम्भ शालं विले) मे पाणिनि ने अन्न संग्रह के कई पात्रो का उल्लेख किया है—(१) कुसूल = वहुत वड़ा लम्वोतरा मिट्टी का वना हुआ कुठला या कोठी जो मनुष्य की ऊँचाई से कुछ ऊँची होती है और जिसमें १५ से २० मन तक अनाज आ सके। सभवत इसी को शतपथ (१।१।२।७) में कोष्ठी या कोठी कहा गया है। (२) कुम्भ = मिट्टी का वड़ा घड़ा जिसका मुँह अपेक्षाकृत छोटा हो। इसे सिन्ध को ओर गोदी कहा जाता है। इसमे कुसूल से लगभग आधा अन्न आएगा। शतपथ मे कोष्ठ के वाद कुम्भी का उल्लेख है और इन्ही दोनो को लक्ष्य करके मनु ने कुसूलधान्यक और कुम्भीधान्यक गृहस्थो का उल्लेख किया है। शतपथ मे कहा है—न कोष्ठस्य न कुम्भ्यैं, भस्त्रायैं ह स्म ऋषयो गृह्णन्ति। ज्ञात होता है कि साल भर के लिए अन्न रखने वाला गृहस्थ कुसूलधान्यक और छह महीने या एक फसल के लिए रखने वाला कुम्भीधान्यक कहलाता था (कुसूल धान्यको वा स्यात् कुम्भीधान्यक एव वा, मनु०, ४।७)। जिसके पास एक वर्ष खाने लायक अन्न हो (यस्यान्नं वार्षिकं भवेत्, याज्ञवल्क्य १।१२४) ऐसा गृहस्थ प्राचीन शास्त्रो में सभवतः कुसूलधान्यक या कुठले मे धान्य संग्रह करने वाला कहा होगा।

(३) कूप—इसका तात्पर्य पक्की मिट्टी की वनी हुई लगभग तीन फुट व्यास की उन चकरियो से ज्ञात होता है जिन्हे एक के ऊपर एक रखकर अन्नसग्रह के लिये कुठले जैसा वनाया जाता था। प्रत्येक चकरी को गण्ड और इस प्रकार के कुठले को गण्ड कुसूल कहा जाता था (हर्षचरित)। पाणिनि के कूप की पहिचान इसी से की जानी चाहिए। मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, राजघाट, पाटलिपुत्र आदि के उत्खनन में सर्वत्र इस प्रकार के गण्ड कुसूल पाए गए हैं जो कही-कही कुँए की तरह ही गहरे हैं। कच्ची खुदी हुई कुईयो में लगाकर उनसे कुओ का काम भी लिया जाता था।

(४) शाला—इस सूत्र में जिस शालाविल का उल्लेख है वह अन्न रखने के भण्डार का आनन या छोटा मुँह होना चाहिए। अन्न रखने के वखर को ही यहा सूत्रकार ने शाला कहा है। सोमयज्ञ करने के लायक व्यक्ति का विचार करते हुए कहा गया है कि तीन वर्ष तक खाने लायक अन्न जिसके पास हो वह सोमापन कर सकता है[1]। तीन वर्ष के लिये पर्याप्त अन्न सग्रह करने का साधन कुसूल से भी कम से कम

१. यस्य त्रैवार्षिकं भक्तं पर्याप्तं भृत्य वृत्तये।
अधिकं वापि विद्येत स सोम पातुमर्हति॥ मनु० ११।७

तिगुना बड़ा होना चाहिए और उसी का नाम शाला जान पड़ता है। संभवतः यह ऐसा कोठा होता था जिसे अन्न भरने के बाद चारो ओर से बन्द कर देते थे।

पाणिनि ने अन्न निकालने के लिये इन चारो के मुंह या मोखे का उल्लेख किया है जिसे उस समय बिल कहते थे (कुसूलबिल, कूपबिल, कुम्भबिल, शालबिल)। बिहार में कोठी कुठले आदि के मोखे को जिसमें से अन्न बाहर निकाला जाय आनन कहते हैं (बिहार पेजेन्ट लाइफ, अनुच्छेद ८१)। साधारणतः यह बिल या मुँह कोठी कुठले के निचले भाग मे बनाया जाता था और पिहान या ढक्कन (स० पिधान) से उसे मूंदकर रखते थे।

अध्याय ३, परिच्छेद ११—वाहन

आने जाने या माल ढोने के लिये सवारी वह्य (वह्यंकरणम, ३।१।१०२ वहत्यनेनेति वह्यं शकटम्) या वाहन (८।४।८) कहलाती थी। ये दो प्रकार के होते थे, स्थल के लिये और जल के लिये जिन्हे उदवाहन कहते थे (६।३।८)। वाहन का नाम उसमें लदे हुए बोझ के अनुसार पड़ता था (वाहनम् आहितात, ८।४।८), जैसे इक्षुवाहण, शरवाहण, दर्भवाहण। आज भी गन्ने की गाड़ी, गेहूँ की गाड़ी, रूई की गाड़ी नाम इसी नियम से बनते हैं।

शकट—बोझा ढोने की बड़ी गाडी या सग्गड को शकट और उसमें जुतने वाले तगड़े बैल को शाकट (४।४।८०) कहते थे। जो बैल जिस तरह की गाड़ी खीचता था उसी के अनुसार उसका नाम पड़ जाता था और उसके लिए रातिब और खातिर का प्रबन्ध उसी हिसाब से किया जाता था। पतञ्जलि ने शकट सार्थ का उल्लेख किया है। प्राचीन साहित्य से विदित होता है कि पाँच-पाँच सौ छकडो पर माल लादकर सार्थवाह लोग लम्बी-लम्बी यात्राएँ करते थे। यह सब दृढ ठुके हुए शकट और उन्हें खीचने वाले धुरन्धर बैलो की कृपा पर निर्भर था।

रथ—रथ (४।२।१०) विशेष करके मनुष्यो के आने-जाने का यान था। रथो का समूह रथ्या या रथकट्या कहलाता था (४।२।५०-५१)। सेना मे भी रथो का उपयोग होता था। सूत्र २।४।२ मे सेनाङ्ग का उदाहरण देते हुए काशिका मे 'रथिकाश्वारोहम्' आया है।

रथ कई प्रकार के होते थे जिनका नामकरण खीचने वाले पशु के अनुसार किया जाता था (४।३।१२२)। खीचने वाले अश्वादि को पत्र और युग्य (युग्यं च पत्रे ३।१।१२१) कहा गया है। इतर साहित्य मे इन दोनो को वाहन अर्थात् सवारी भी माना है। जैन साहित्य मे एक विशेष प्रकार की गाडी जो गोल्ल देश (कृष्णा गोदावरी के बीच गोली) मे चालू थी जुग्ग (सं० युग्य) कही गई है।

पतञ्जलि ने ४।३।१२२ सूत्र के उदाहरण मे अश्वरथ, उष्ट्ररथ और गर्दभरथ का

उल्लेख किया है (४।३।१२० वार्तिक ७)। यत्र या खीचने वाले जानवर के अनुसार सवारियो को आश्वरथ, औष्ट्ररथ आदि कहा जाता था। वैदिक साहित्य मे अश्वरथ के अतिरिक्त रासभरथ और अश्वतरीरथ का भी उल्लेख है। महाभारत मे दुर्योधन ने पुरोचन को रासभयुक्त स्यन्दन पर चढ़कर वारणावत जाने की आज्ञा दी जिससे कि वह उसी दिन वहाँ जा पहुँचे।[1]

महानिद्देश में ओट्टयान (ऊँट गाड़ी या शिकरम) और खरयान एवं जातक मे (५।३५५) अस्सतरीरथ का उल्लेख है। कात्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि इन विभिन्न शब्दो की आवश्यकता बढ़इयो को पडती थी जो इन विभिन्न सवारियो के छोटे-बड़े पहियो मे भेद करने के लिये उन्हे अश्वरथचक्र, औष्ट्ररथचक्र या गार्दभरथचक्र कहते थे (रथाद् रथाङ्गे, वार्तिक ७, सूत्र ४।३।१२०)।

पाणिनि ने रथाङ्ग को अपस्कर भी कहा है (अपस्करो रथाङ्गम् ६।१।१४९) जो रथ का कोई विशेष भाग या उसका पहिया भी हो सकता है। किन्तु महाभारत में बराबर उपस्कर शब्द का प्रयोग हुआ है (सुचक्रोपस्करं., सभा० ५४।४, सूपस्करं सोत्तरबन्धुरेयम् , भीष्म ५६।९), अपस्कर का नही। रथ के पहिए, जुए आदि के लिए 'रथ्य' इस विशेष शब्द का पाणिनि ने उल्लेख किया है (रथाद् यत् ४।३।१२१, काशिका-रथस्येदं रथ्यं चक्रं वा युग वा, रथाङ्ग एवेस्यते नान्यत्र, अनभिधानात्)। रथकारो की भाषा में इस शब्द का विशेष प्रचलन रहा होगा क्योकि वे रथ के चक्र वा जुए को अधिक सावधानी से बनाते और मूल्यवान् समझते थे।

गाडी के पहिये बनाने के लिए बढई लोग उसकी नाह की लकड़ी के चुनाव में विशेष सावधानी बरतते हैं। यह लकडी गाँठो से रहित पक्की ठोस और गाभे की होनी चाहिए क्योकि इसी के भीतर धुरी पिरोई रहती है और इसी के ऊपरी भाग मे अरे ठोके जाते हैं। इसे प्राचीन भाषा में उपधि कहा जाता था और उपधि बनाने के लिए जो लकडी चुनी जाती थी उसे औपधेय दारु कहते थे (छदिरुपधिवलेर्ढञ् ५।१।१३; औपधेयं दारु, उपधीयते इति उपधिः रथाङ्गम्)।

धुरे के लिए अक्ष शब्द था (५।४।७४)। कुत्सित धुरे को 'काक्ष' कहा जाता था (कापथ्यक्षयो ६।३।१०४)। इसी प्रसङ्ग में पाणिनि ने कद्रथ का भी उल्लेख कुत्सित रथ के लिये किया है (६।३।१०२)। सभवत· काक्ष और कद्राथ का सबंध था। छोटे रथो मे लगने वाले कम लम्बे धुरे काक्ष कहे जाते होगे। आपस्तम्ब शुल्व सूत्र के अनुसार अच्छे रथ की नाप यह थी—

ईषा की लम्बाई १८८ अगुल = पौने बारह फुट,
धुरे की लम्बाई १०४ अगुल = ६॥ फुट,

---

१. स त्वं रासभयुक्तेन स्यन्दनेनाशुगामिना।
वारणावतमद्यैव यथा यासि तथा कुरु॥ आदिपर्व १३३।७

जुए की लम्बाई ८६ अगुल = ५ फुट ४।। इच
(आपस्तम्ब शुल्व सूत्र, माईसोर सस्करण पृ० ९५)

यह नाप पूरे रथों की थी। ऐसे रथो को परम रथ या उत्तम रथ कहते थे (सूत्र १।१।७२, वार्त्तिक १६, 'रथ सीताहलेभ्यो यद् विधौ, इसके अनुसार ४।३।१२१ सूत्र से परमरथ और उत्तम रथ का भी ग्रहण था)। इस प्रकार के लम्बे पूरे रथ को जो बैलो की नाप को ध्यान मे रखकर बनाया जाता था अनुगव कहते थे (अनुगव मायामे, ५।४।८३, अनुगव यानम्)। इस प्रकार के उत्तम रथो की तुलना मे छोटी नाप वाले रथो को अवश्य ही कद्रथ और उनकी छोटी धुरी को काक्ष कहा जाता होगा। लाटचायन श्रौत्रसुत्र मे व्रात्यस्तोम के वर्णन मे व्रात्यो के कुत्सित रथ का उल्लेख है (८।६।९)। उसका मान उत्तम रथ की अपेक्षा कम होता था (अन्यदेव तस्य मानम् , टीका)। बोधायन श्रौतसूत्र (२०।२३) मे 'जरद्' 'कद्रथ' का उल्लेख है। कात्यायन श्रौ० ५।३।११ में रथयात्रा का उल्लेख है (= १८८ अंगुल)।

रथों का मॅढ़ना—प्राचीन भारत मे रथ बनाने की चार अवस्थाएँ थी। सबसे पहिले बढ़ई रथ के एक-एक भाग जैसे रथचक्र, ईषादण्ड, अक्ष, युग, कूवर आदि को अलग बना लेता था। दूसरी अवस्था में वह उन्हें एक में ठोकता और मिलाता था। इन दोनो अवस्थाओ का उल्लेख भाष्य मे इस प्रकार किया है, 'यथा तर्हि रथाङ्गानि विहृतानि प्रत्येकं व्रजिक्रिया प्रत्यसमर्थानि भवन्ति तत् समुदायश्च रथ· समर्थ' (१।२।४५, वा १०, महाभाष्य)। तीसरी अवस्था वह थी कि जिसमें रथ को चमड़े और कपडों से मढा जाता था। इसका उल्लेख पाणिनि ने 'परिवृतो रथः' और उसके बाद वाले दो सूत्रो (४।२।१०।१२) मे किया है।

चौथी अवस्था मे रथ को जहाँ तहाँ आवश्यक रस्सियो से जिन्हे अब जन्दनी (सं० यन्त्रिणी) कहा जाता है कसा जाता था। इस प्रक्रिया का संकेत पाणिनि के 'प्राध्व बन्धने' सूत्र (१।४।७८) में आया है।

रथ मॅढने (परिवृतो रथः) के काशिका मे तीन उदाहरण हैं—वास्त्र, काम्बल, चार्म, अर्थात् कपडे, कम्बल और चमड़े से मढे हुए रथ। कम्बल से मढे हुए रथो मे पाणिनि ने पाण्डुकम्बली रथ का विशेष रूप से उल्लेख किया है (पाण्डुकम्बलादिनि. ४।२।११)। वेस्सन्तर जातक मे लिखा है कि पाण्डु कम्बल गन्धार देश मे बनाए जाते थे और वीरवहूटी के जैसे चटकीले लाल रंग के होते थे (इन्दगोपकवण्णाभा गंधरा पंडुकम्बला, वेस्सन्तर० ६।५००)। जातक की टीका के अनुसार वे कम्बल सेना के काम के लिये गन्धार देश से अन्यत्र ले जाए जाते थे (गंधाररट्ठे उप्पन्ना सतसहग्घनिका सेनाय पारुता रत्तकंबला[1])।

---

१. ससजातक में भी पाण्डुकम्बल का उल्लेख है। (पडुकम्बल सिलासनम्) अर्थात इन्द्र के बैठने को पत्थर की चौकी पर पाण्डुकम्बल बिछा हुआ था, जातक भाग ३ पृष्ठ ५३)। वेस्सन्तर जातक (६।५१५) में वेस्सन्तर के राजकीय हाथी की पीठ पर पाण्डुकम्बल बिछाने का उल्लेख है।

काशिका के चार्मण रथ उदाहरण पर भी पाणिनि से विशेष प्रकाश पड़ता है। यों तो साधारण रथ मामूली चमड़े से मढ़े जाते हैं किन्तु द्वैप वैयाघ्रादञ् ४।२।१२ सूत्र मे कहा है कि बाघ और चीते के चमड़े भी विशेष रथों को मढ़ने के काम में लाए जाते थे। ऐसे रथ द्वैप और वैयाघ्र कहलाते थे। अपने देश मे वैयाघ्र रथ की परम्परा वैदिकयुग से आरम्भ हो गई थी और वह राजाओं के काम मे आता था। राज्याभिषेक के समय वैयाघ्र रथपर बैठकर राजा उत्सव यात्रा के लिये निकलता था (अथ व्याघ्रोऽधिवैयाघ्रे विक्रमस्व)। रामायण में राम के यौवराज्य पद पर अभिषेक के लिए अन्य सामग्री के साथ वैयाघ्र रथ भी लाया गया (अयोध्या० ६।२८)। पूर्व देश के राजा युधिष्ठिर के लिये जो उपहार लाए थे उनमे वैयाघ्र रथ भी था, जिसे वैयाघ्र परिवारित रथ (बाघ के चमड़े से मढ़ा हुआ रथ, सभापर्व ५१।२३) अथवा सहस्रसमित वैयाघ्र राज-रथ (एक हजार कार्षापण मूल्य का वैयाघ्र नामक राजकीय रथ, सभा० ६१।४) कहा गया है। वैयाघ्र चमड़ा और भी चीजें मढ़ने के काम मे आता था, जैसे महाभारत में ही भीमसेन की तलवार की म्यान को वैयाघ्र कोष कहा है (विराटपर्व ४८।३०, ५५)। ज्ञात होता है कि जातकों के और पाणिनि के समय मे वैयाघ्र रथ की विशेष ख्याति थी। वेस्सन्तर जातक मे कहा है कि राजकुमार वेस्सन्तर ने ऐसे सात सौ रथ दान मे दे डाले (सत्तरथसते दत्वा···दीपे अथोऽपि वेय्यघे, वेस्सन्तर जातक ६।५०३; दीपिचम्म—व्यग्घ चम्म—परिक्खित्ते··· टीका)। महाजनक जातक मे तो दीप और वेय्यग्घ रथों के ऊपर एक पूरा गीत ही दिया हुआ है (जातक भाग ६ पृष्ठ ४८-५०)।

भिन्न प्रकार के मार्गों में कौटिल्य ने रथपथ का विशेषरूप से उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र २।४)। वह रथ जो ऐसा मजबूत बना हो कि अच्छे रास्ते के समान ही ऊबड़खाबड़ मार्ग मे भी ले जाया जा सके 'सर्वपथीन' कहलाता था (५।२।७; काशिका, सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः)। वह सारथि जो सब तरह के अर्थात् सीधे और कड़वे जानवरों को हाँक सके सर्वपथीण कहा जाता था (५।२७) यह सारथि की सुघड़ाई का वाचक था।

चक्ररक्षक पुरुष—परिस्कन्दः प्राच्य भरतेषु (८।३।७५) सूत्र मे पाणिनि ने लिखा है कि भरत जनपद में और प्राच्य देश में परिस्कन्द शब्द प्रचलित था। इसकी ध्वनि है कि उदीच्य देश में उसका उच्चारण मूर्धन्य षकार के साथ परिष्कन्द होता था। परिस्कन्द उन दो सैनिकों को कहते थे जो रथ के दोनों ओर पहियों के साथ रहकर दोनों ओर के हमले से रथी का बचाव करते थे। अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त मे पाँच बार परिस्कन्द शब्द आया है। अथर्व १५।२।६ में इसका रूप द्विवचनान्त है, किन्तु तैत्तिरीय ब्राह्मण मे एक वचन है (३।४।१७, भूम्ने परिस्कन्दम्—परिचार-

कम् , भट्टभास्कर, अथर्व १५।३।१० तस्य देवजनाः परिस्कन्दा आसन्)। महाभारत मे परिस्कन्द नामक परिचारको को चक्ररक्ष कहा गया है (भीष्मपर्व १८।१६)।

प्राध्व वन्धने—जैसा ऊपर लिखा है गाडी और रथो के बनाने मे सबसे अन्तिम प्रक्रिया वह थी जिसमे उन्हे रस्सी या डोरियो से कसा जाता था। पाणिनि ने प्राध्वं वन्धने १।४।७८ सूत्र मे इसी का उल्लेख किया है। सूत्र का व्याकरणी अर्थ तो इतना ही है कि 'प्राध्वकृत्य' पद बांधने के लिए प्रयुक्त होता है। प्रश्न यह है कि प्राध्वकृत्य का अर्थ वन्धन कैसे हुआ ? इसका उत्तर यह है कि गाडी या रथ का सब ठाट तैयार हो जाने पर जब वढई का काम समाप्त हो जाता तो ग्राहक उसे अपने घर ले आता था। वह गाडी तब तक काम के योग्य अर्थात् मार्ग मे चलाने लायक न समझी जाती थी जबतक उसे रस्सिओं से कसा न जाय। सग्गड या लढिया गाडी के ढांचे और जुए को बरही (वद्ध्री) नामक मोटी रस्सी से कसकर बांधते हैं और रथ को इसी प्रकार सूत की जन्दनी नामक डोरियो से बहुत सफाई के साथ कसते हैं। कसकर बांधने की अन्तिम प्रक्रिया से ही प्रत्येक वाहन अध्व के अनुकूल अर्थात् मार्ग में चलने के योग्य बनाया जाता है। चाहे सारी गाडी या मढा हुआ रथ तैयार हो किन्तु वन्धन के बिना वह प्राध्व नही होता।

पाणिनिसूत्र ५।४।८५ (उपसर्गादध्वनः) का एक उदाहरण है प्रगतोऽध्वानं प्राध्वो रथः, प्राध्वं शकटम्। उससे ज्ञात होता है कि मार्ग में चलने के योग्य रथ या गाडी को प्राध्व कहा जाता था। प्राध्वकृत्य का प्रत्युदाहरण प्राध्व कृत्वा था। यदि मार्ग मे चलती हुई कोई गाड़ी टूट जाय तो उसे सड़क के एक किनारे रोक देते हैं और फिर मरम्मत करके उसे चलाते हैं। प्राध्वं कृत्वा का यही अर्थ है अर्थात् जो चलती हुई गाडी रास्ते से उतर गई हो उसे ठीक करके रास्ते पर डाल दिया जाय। दोनो शब्दो मे व्याकरण की बात इतनी ही थी कि प्राध्वकृत्य मे ल्यप् प्रत्यय और समास होता है और प्राध्वं कृत्वा में नही।

अध्याय ३, परिच्छेद १२—भारवाही पशु

जैसा ऊपर कहा गया है रथ या गाड़ी मे जुतकर उसे खींचनेवाले वोढा पशु को पत्र (३।१।१२१; ४।३।१२२-१२३) और जोतने योग्य पशु को युग्य कहा गया है (युग्यं च पत्रे, ३।१।१२५)। तद्वहति (अर्थात् वह वोझ ढोता है), प्रकरण में (४।४।७६-८१) पाणिनि ने भिन्न-भिन्न प्रकार का काम करने वाले बैलो का इस प्रकार वर्गीकरण किया है—

१—रथ्य, रथ के वैल (४।४।७६) ये सवारी के वैल बड़े चंचल होते थे।

२—शाकट, छकडा, या सगड खीचने वाले वैल (४।४।८०)। ये लादे के वेल धुरन्धर या तगडी जाति के होते थे। भाष्यकार ने लिखा है—वह अच्छा वैल

है जो गाड़ी खींचे पर वह और भी बढ़िया है जो गाड़ी और हल दोनों में काम दे (गौरयं य. शकट वहति गोतरोऽयं यः शकट वहतिः सीरं च)।

३—हालिक और सैरिक, हल के बैल (४।४।८१) किसान के जीवन में इन शब्दों की बराबर आवश्यकता पड़ती थी क्योंकि जैसा कि अर्थशास्त्र में विस्तार से उल्लेख है (अर्थशास्त्र २।२९) सवारी के बैल और लादे के बैलों की टहल और रातिब में भेद होता था।

कुछ बैल जुए में दोनों ओर जोते जा सकते हैं उन्हें सर्वधुरीण कहते थे। यहाँ धुरा गाड़ी के उस अगले भाग के लिये है जिन पर बैलवान बैठकर बैल हाँकता था (देखिए जातक १।१९२)। पर कुछ बैल ऐसे होते हैं जो धुरे के एक ही ओर जोते जा सकते हैं। उन्हें एक धुरीण कहा जाता था। आजकल दाहिनी ओर के बैल को उपराल और बाईं ओर के बैल को तरवाल कहते हैं। कभी-कभी दो बैलों के अतिरिक्त एक तीसरा बैल भी आगे जोता जाता है जो 'बीढ़िया' कहलाता है। पाणिनि ने उसे प्रष्ठ कहा है (प्रष्ठोऽग्रगामी ८।३।९२)। वैदिक भाषा में उसकी संज्ञा पुष्टि थी और जिस रथ में पुष्टि जुता हो उसे पुष्टिवाहन या पुष्टिवाही रथ कहते हैं।

बैलों पर सवारी करनेवाले गोसाद, गोसादिन् (६।२।४२) और ऊँट या साँढिनी के सवार 'उष्ट्रसादि' कहे जाते थे। ऐसे अधिकारी जो घोड़े आदि की सवारी करते थे युक्तारोह थे (६।२।८१)। सम्भवतः घुड़सवार सैनिकों के लिए यह शब्द प्रयुक्त होता था। सूत्रों में ये शब्द और आए हैं—सारथि (६।२।४१), प्रग्रह या रश्मि (रश्मौ च ३।३।५३), गोसारथि (६।२।४१ बैलवान्), एवं सर्वपत्रीण (५।२।७)।

आश्वीन—एक घोड़ा एक दिन में जितनी यात्रा करता था वह दूरी आश्वीन कहलाती थी (अश्वस्यैकाहगमः ५।२।१९)। अथर्ववेद में ३ योजन और ५ योजन के बाद आश्वीन दूरी का उल्लेख है (यत् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजन माश्विनम्, अथर्व ६।१३१।३)। अर्थशास्त्र में आश्वीन दूरी की लम्बाई का निश्चय किया गया है क्योंकि सरकारी नौकरों के भत्ते आदि के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती थी। वह तालिका इस प्रकार है—

अश्व का प्रकार	पृष्ठ वाह्य = सवारी के घोड़े	रथ्य = रथ के घोड़े
अधम	पाँच योजन (२५॥ मील)	६ योजन (३१ मील)
मध्यम	आठ योजन (४१ मील)	९ योजन (४६ मील)
उत्तम	दस योजन (५१ मील)	१२ योजन (६१ मील)

(अर्थशास्त्र २।१०, एक योजन बराबर ५$\frac{5}{8}$ मील)। इस प्रकार अर्थशास्त्र मे मामूली सवारी के घोडे की एक दिन की दूरी पाँच योजन और वाहक की छह योजन कही गई है। यह अथर्ववेद के उस प्रमाण से सगत होता है जिसमे आश्वीन दूरी को ५ योजन से कुछ अधिक कहा है। इस सम्बन्ध मे भाष्यकार ने रोचक सूचना दी है—'जो चार योजन दूरी तय करे वह अश्व है। जो आठ योजन जाय वह अश्वतर है, (अश्वोऽय यश्चत्वारि योजनानि गच्छति, अश्वतरोऽयं योऽष्टौ योजनानि गच्छति, ५।३।५५)।

अध्याय ३, परिच्छेद १३—नौ सन्तरण

पाणिनि ने समुद्र और महानदियो का उल्लेख किया है। उनके अनुसार द्वीप दो प्रकार के होते थे, एक वे जो किनारे के पास हो (अनुसमुद्र द्वीप, ४।३।१०) और दूसरे वे जो बीच समुद्र मे हो। अनुसमुद्र द्वीप से जो तिजारती सामान लाया जाय वह द्वैप्य और जो बीच समुद्र के या समुद्र पार के द्वीपो से लाया जाय वह द्वैप या द्वैपक कहलाता था। (द्वैपादनुसमुद्र यञ् ४।३।१०)। ऐसे द्वीपो से व्यापार करने वाले व्यापारी भी इन्ही नामो से अभिहित होते थे[१]।

पानी में चलनेवाले वाहनो को उदक-वाहन या उदवाहन कहा गया है। (६।३।५८)। नाव, डाँड और मल्लाह इन तीनो का भी सूत्रो में उल्लेख है (नौ, ५।४।९९, अरित्र, ३।२।१८४, नाविक, ४।४।७, नावा तरति)।

जहाँ नाव लगती हो ऐसे घाट को नाव्य कहा जाता था (४।४।९१) नौ द्वयचष्ठन्, नावातार्यम् नाव्यमुदकम्, नाव्या नदी। इसे ही पाली मे नावतित्थ कहा है (जातक ३।२३)। पाणिनि के जन्मस्थान शलातुर के पास ही सिन्धु नदी मे नाव का घाट था, जिसे वहाँ से प्राप्त एक शिलालेख में शल-नो-क्रम कहा गया है। उस स्थान पर साल में आठ महीने तक अब भी सिन्धु नदी में नाव का पुल लगता है।

नावो द्विगोः (५।४।९९) सूत्र के उदाहरण से ज्ञात होता है कि मालधनी व्यापारियो का नाम नावो की संख्या के आधार पर पडता था, जैसे दो नावो वाला मालधनी द्विनावधन और जिसने पाँच नावें लादी हो वह 'पञ्चनावप्रिय' कहा जाता था। दो नावो के साथ आया हुआ वजडा द्विनावरूप्य या 'द्विनावमय' कहलाता था (५।४।९९ का उदाहरण)।

नावो के व्यापार में व्यापारी बहुत से पटेलों मे माल लादकर उसे बेचते हुए

---

१. द्वैप शब्द का उत्तम प्रयोग माघ के निम्नलिखित श्लोक में आया है—विक्रीय दिश्यानि धनान्यरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः। तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्। इसमें द्वैप्य उन सांयात्रिक व्यापारियों के लिये आया है जो द्वारका के पास के समुद्रवाले द्वीपों के साथ वाणिज्य करते थे (माघ ३।७९)।

और उनकी जगह नया माल खरीदते हुए चलते थे। उदाहरण के लिये यदि किसी माल-धनी ने नौ नावें लादी हों और मार्ग में दस नावों में भरा हुआ माल देकर बदले में दूसरा माल भर ले तो उनका वह माल 'दशनौ' कहलाता था (दशभिः नौभिः क्रीत.—काशिका ५।४।९९)। माले के व्यापार में रुपये में अठन्नी भर जिसका माल में हिस्सा हो वह आधा भाग अर्धनाव कहा जाता था (५।४।१००)।

भस्त्रा—भस्त्रा का लोक में अर्थ लोहार की धौंकनी है, किन्तु इस शब्द का मूल अर्थ पशु की फुलाई हुई खाल लिया जाता था। इसी कारण भस्त्रा उस प्रकार के बजरे को कहते थे जो भेड़-बकरी या उससे बड़ी खालों को हवा से फुलाकर और एक दूसरे में बांध कर बनाया जाता था। पाणिनि ने इस विशिष्ट अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया है। भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् (४।४।१६) सूत्र के अनुसार भस्त्रिक उसे कहते थे जो भस्त्रा के बजरे से नदी पार कराता या बोझा ढोता था (भस्त्रया हरति भस्त्रिकः)। पजाब, उत्तर-पश्चिमी भारत और अफगानिस्तान की पहाड़ी नदियों में यही नदी पार करने का सबसे सुरक्षित और क्षिप्र उपाय है। बलूचिस्तान में ऐसे बजरे या तमेडो को जक कहते हैं (तिब्बती याक या झब्बू गाय की खाल के बनाया हुआ)। इस समय बकरे की खालो को सीकर जक बनाते हैं, जिनका एक पैर हवा भरने के लिये खुला छोड़ रखते हैं। इन फुलाई हुई खालो के ऊपर बांस बांध कर या मछुओ का जाल फैलाकर एक साथ बांध लेते हैं और यात्री उन्हीं पर बैठकर आठ मील की घण्टे की रफ्तार से मजे में यात्रा करते हैं। किसी-किसी जक में तो सोलह खाल तक बांधी जाती हैं। पंजाब में दो बैलो की फुलाई हुई खालो पर चार-पाई बिछाकर बैठ जाते हैं। इस प्रकार के बजरे बहुत ही सुविधाजनक रहते हैं। जैसे ही यात्री ठिकाने पर पहुँच जाते हैं, मल्लाह खालो को पटका कर कन्धे पर डाल लेता है और नदी किनारे पैदल चलता उजानी लौट आता है। भारतवर्ष में और उसके पड़ोसी देश प्राचीन ईरान में भी इस प्रकार के बजरो की प्रथा थी, जिसे पाणिनि ने भस्त्रा कहा है। उसी युक्ति को दारा प्रथम के बहिस्तून लेख में मश्का खुवा कहा गया है (संस्कृत भस्त्रा के लिये ईरानी शब्द मश्का था)। इस प्रकार ज्ञात होता है कि तिब्बत की नदियों से लेकर सारे पश्चिमी भारत में एवं अफगानिस्तान से लेकर ईरान की तिग्रा–उफ्रात् नदियो तक भस्त्रा या मश्का से नदी पार करने या माल ढोने की प्रथा थी और उनके मल्लाह भस्त्रिक कहलाते थे।

पाणिनि का दूसरा सूत्र है—हरत्युत्सङ्गादिभ्य. (४।४।१५)। उसके अनुसार उत्सङ्गेन हरति औत्सङ्गिकः, यह प्रयोग बनता था। उसी गण में उडुप, उत्पट पिटक—ये तीन शब्द और पढे हैं। ये शब्द विभिन्न प्रकार की नावो के वाचक हैं। उत्सग का गोद अर्थ यहाँ संगत नहीं है, क्योंकि गोद में ढोने की क्षणिक क्रिया से भाषा में शब्द की आकांक्षा नहीं होती। जैसे भौलिया, पनसुइया, पटेला, सारंगा, आदि भिन्न-

भिन्न प्रकार की नावें गगाजी मे चलती हैं, और उनके खिवैया मल्लाह को हम अपनी भाषा में भौलियावाला, पनसुइयावाला, पटेलेवाला, इस प्रकार के शब्दो से पुकारते हैं, ठीक वैसी ही स्थिति संस्कृत भाषा में भिन्न प्रकार की नावो के आधार पर बने हुए नाविकवाची शब्दो की थी। भस्त्रिक, औत्सङ्गिक, औडुपिक आदि का अर्थ इस पृष्ठ-भूमि मे ठीक समझा जा सकता है। उत्सङ्ग भी एक प्रकार की छोटी नाव होती थी। इसी प्रकार उडुप, उत्पथ और पिटक नावो के नाम थे। भस्त्रादिगण में भरट शब्द का पाठ है, जो सभवत: लकडी के लट्ठो या बाँस के मुट्ठो को बाँधकर बनाया जाता था, जिसे भरडा कहते हैं। पिटक भी एक तरह की नाव थी, जिसकी पहचान लोक मे मिल गई है। जगाधरी की तरफ यमुना मे अभी तक पिटक चलते हैं, जिन्हे वहाँ पिडक कहा जाता है। घड़ो को उलटकर उनकी गर्दन मे बाँस बाँधकर ऊपर चारपाई बिछाकर पिडक बनाए जाते हैं, इसे ही कही-कही घरनई या घण्डेल भी कहते हैं। वाल्मीकि रामायण मे लट्ठो को बाँधकर बनाए हुए प्लव या बजरे का उल्लेख है, जिसे सघाट कहा गया है (अयोध्याकाण्ड ५५।१४,१८)। उडुप एक आदमी से चलाई जानेवाली छोटी डोगी जान पडती है। रघुवश २।१।२ की व्याख्या मे मल्लि-नाथ ने सज्जनकोश का प्रमाण देते हुए उडुप को चर्मावनद्ध यानपात्र कहा है (चर्मावनद्धमुडुपं प्लव· काष्ठं करण्डवत्)। इससे ज्ञात होता है कि चमड़े से मढी हुई छोटी गोल डोगी उडुप कहलाती थी। सूत्र ४।४।५ (तरति) के उदाहरण में काशिका ने काष्ठप्लव का उल्लेख किया है। यह पेड के तने को खोखला करके बनाई हुई डोगी जान पडती है, जैसा कि सज्जन के प्रमाण से विदित होता है कि करण्डी की भाँति खोखला किया हुआ लक्कड़ या लट्ठा प्लव कहलाता था (प्लव. काष्ठ करण्डवत्; और भी आदिपर्व ७९।१९, उडुप प्लवसन्तार: अर्थात् उडुप और प्लव इन दोनो की उतराई)[1]।

अध्याय ३ परिच्छेद १४—क्रीड़ा-विनोद

अष्टाध्यायी मे निम्नलिखित क्रीड़ाओ का सकेत या उल्लेख है—(१) मल्लयुद्ध (२) प्रहरणक्रीडा, (३) लुब्धयोग या मृगया, (४) अक्षक्रीडा, (५) उद्यान-क्रीडा, (६) समज्या या गोष्ठिया।

खेल के लिये क्रीडा शब्द प्रयुक्त होने लगा था (६।२।७४; ४।२।५७) खिलाडी आक्रीडी कहलाता था। क्रीडा के विविध अंगों के लिये अनुक्रीड़ा, संक्रीड़ा, परिक्रीड़ा, आक्रीडा (१।३।२१) आदि शब्द प्रचलित थे।

---

१. गगा में चलनेवाली नावों के लिये देखिए—जैम्स हार्नेल कृत उक्त विषय का ग्रन्थ एशियाटिक सोसायटी बगाल से प्रकाशित, और भी उसी का लिखा हुआ लेख, एशिया में जल सन्तरण के आदिम प्रकार, लन्दन की राजकीय एशिया परिषद की शोधपत्रिका, १९४१, पृ० १२६–१२७।

समज्या—सूत्र ३।३।९९ के अनुसार यह संज्ञाशब्द था। वार्तिक और भाष्य मे कहा है कि जिसमें जनसमुदाय इकट्ठा हो, वह उत्सव समज्या कहलाता था (समजन्ति तस्याम् समज्या)। जातकों से विदित होता है कि समज्या वे विशेष प्रकार की गोष्ठिया थी, जिनमे स्त्री-पुरुष बाल-वृद्ध एकत्र होकर अनेक प्रकार के खेल-तमाशे, नृत्य, सगीत, हस्तियुद्ध, मेषयुद्ध, अजायुद्ध, दण्डयुद्ध, मल्लयुद्ध, आदि खेल या क्रीड़ाएँ खेलते थे। इन्हे समाज भी कहा जाता था। अशोक के अभिलेखो मे समाज नामक उत्सवो के विषय में लिखा है कि अच्छे और बुरे दो प्रकार के समाज होते थे। विधुर पण्डित जातक मे एक समज्या का चित्र खीचा गया है जिसमें भाग लेने के लिये स्त्री पुरुषो का समूह एकत्र हुआ था और वे पंक्तियो मे बनी हुई अपनी-अपनी जगह (मंचातिमच) पर बैठ गए थे (जातक ६।२७७)। महाभारत मे विस्तार से समाज नामक क्रीडोत्सवो का उल्लेख आता है। धृतराष्ट्र ने पाण्डवो को यही भुलावा देकर वारणावत भेजा था कि वहाँ एक समाजोत्सव होने को है, तुम लोग उसे जाकर देखो। समज्या या समाज महाजनपद युग के नागरिक जीवन की बहुत बडी विशेषता थी। पाणिनि ने जनसमूह के एकत्र होने के इन अवसरो के लिए समवाय यह सामान्य शब्द प्रयुक्त किया है (समवायान् समवैति, ४।४।४३)। समवाय के अन्तर्गत टीका में समाज का भी उल्लेख किया है। समवाय या समाज मे सम्मिलित होने वाले लोग सामवायिक या सामाजिक कहलाते थे। इस दृष्टि से समवाय पारिभाषिक शब्द था। कामसूत्र १।४।३१ मे इस शब्द का प्रयोग हुआ है (आगन्तूनां कृतसमवायानाम्)। महाभारत मे द्रौपदी के स्वयंवर के अवसर पर द्रुपद ने जो समाज किया था, उसे भी समवाय कहा गया है, जो इस शब्द के पाणिनीय अर्थ से संगत होता है (समवाये ततो राज्ञाम् , आदि० १।८२)। समाज और सन्निवेश ये समवाय के दो विशेष प्रकार थे जिनका उल्लेख समवायान् समवैति सूत्र के उदाहरण में है और रक्षति (४।४।३३) इस विशेष सूत्र में भी है। इस प्रकार शब्दो के दो जोड़े हुए—

(१) समाज रक्षति = सामाजिक·
समाज समवैति = सामाजिक:
(२) सन्निवेशं रक्षति = सान्निवेशिक:
सन्निनेशं समवैति = सन्निवेशिक·

यह स्पष्ट है कि शब्द रूप मे समानता होते हुए भी सामाजिक शब्द के दो भिन्न अर्थ थे। पाणिनि ने स्वय सूत्रो मे उन अर्थों को बताया है। ४।४।३३ सूत्र मे रक्षति का ठीक वही अर्थ है जो हिन्दी मे आजतक 'रखना' धातु का है, जैसे वह चकला रखता है, अर्थात् अपनी जीविका के लिये उसे चलाता है। सामाजिक का पहला अर्थ ठीक ऐसा ही है। जो जीविका या धनोपार्जन के लिये समाज रखे अर्थात् चलावे

या प्रबन्ध करे वह सामाजिक कहलाता था (समाज रक्षति)। दूसरी ओर जो व्यक्ति उस समाज मे क्रीड़ा या मनोविनोद के लिये भाग ले (समाजं समवैति, आगत्य तदेकदेशी भवति—काशिका) वह भी सामाजिक कहलाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि रक्षधातु के इस विशिष्ट अर्थ की ओर संस्कृत कोषकारो का ध्यान प्राय नही गया, इसलिये किसी भी कोश मे सामाजिक शब्द का पहला अर्थ नहीं मिलता। यह भी कम आश्चर्यजनक नही है कि हिन्दी में रक्षधातु का जो विशेष अर्थ अभी जीवित है, वह पाणिनि के युग मे ही सस्कृत रक्षधातु में विद्यमान था।

सामाजिक के साथ ही सान्निवेशिक पद पर विचार करने से वे ही दोनो अर्थ सामने आते हैं, अर्थात् जो किसी प्रकार का सन्निवेश रखे या चलावे, वे भी सान्नि-वेशिक और जो उस सन्निवेश मे सम्मिलित हो (सन्निवेशं समवैति) वह भी सान्निवेशिक था। इस प्रकरण मे सन्निवेश का समाज से मिलता जुलता कोई पारिभाषिक अर्थ होना चाहिए। सौभाग्य से अमरकोश मे सन्निवेश का यह विशिष्ट अर्थ दिया हुआ है—सन्निवेशो निकर्षणम् (२।२।१९)। क्षीरस्वामी ने इसकी व्याख्या मे कहा है—'समन्तान्निविशन्तेऽत्र सन्निवेशः पुराद्बहिर्विहरणभू.'। स्पष्ट है कि नगर से बाहर खेल और उत्सवो के लिये रखी हुई विहारभूमि का पारिभाषिक नाम सन्निवेश था। ज्ञात होता है कि वहाँ लोगो के उठने-बैठने के लिये कुछ मण्डप आदि और दौड़ने-खेलने के लिये मैदान बना रहता था। इससे समाज से भेद यही था कि समाज कही अन्यत्र भी किया जा सकता था, किन्तु सन्निवेश उत्सव के लिये नियत स्थान पर ही एकत्र होना आवश्यक था। स्वाभाविक है कि ऐसे स्थान को ठीक हालत मे रखने के लिये राज्य की या नगर शासन की ओर से व्यय या प्रयत्न नही किया जाता होगा, बल्कि निजीरूप से जो व्यक्ति ऐसे स्थान का प्रबन्ध करता और उसे चलाता था वह सान्निवेशिक कहा जाता था। उस सन्निवेश मे खेल और विनोद के लिये हिस्सा लेने जो लोग इकट्ठा होते थे, वे भी सान्निवेशिक कहलाते थे।

सूत्र ४।२।४३ पर काशिका मे 'सामूहिकः' उदाहरण भी है, अर्थात् वह व्यक्ति जो समूह मे सम्मिलित हो। समूह भी यहाँ पारिभाषिक शब्द है। मनु से विदित होता है कि श्रेणि निगम आदि के सार्वजनिक संगठन समूह कहलाते थे (ग्रामजाति-समूहेषु समयव्यभिचारिणाम्, ८।२२१)। याज्ञवल्क्य (२।१८८-१९१) मे समूह पारिभाषिक शब्द है, जो इन्ही सस्थाओ के लिए प्रयुक्त हुआ है। याज्ञवल्क्य (८।१९२) से ज्ञात होता है कि श्रेणि (शिल्पियो की सस्था), नैगम (सर्राफे के व्यापारियो या महाजनो की सस्था), पाषण्डी (भिक्षु आदि साम्प्रदायिक संघ) और गण (आयुधजीवी आदि राजनीतिक सस्था), ये सब समूह के ही विभिन्न

रूप थे। याज्ञवल्क्य, ८।१८७ पर मिताक्षरा ने लिखा है संवित् समयस्ता समूहकृता राजकृता वा। यहाँ स्पष्ट ही राजा के बनाए हुए नियम और समूह नामक संस्थाओं के परम्पराप्राप्त समयाचार या सामयिक नियम (जिन्हे दस्तूरुल् अमल कह सकते हैं), इन दोनो मे भेद किया गया है और समूह के पारिभाषिक अर्थ की ओर ही संकेत है। अतएव सामूहिक का पारिभाषिक अर्थ वह व्यक्ति था जो श्रेणि आदि समूह संस्थाओ में सम्मिलित होता था।

मल्लयुद्ध—समि मुष्टौ (३।३।३६) सूत्र मे मल्ल की मुट्ठी या पकड़ को संग्राह कहा है (अहो मल्लस्य सग्राह, वाह पहलवान की कैसी पकड है!)। कात्यायन ने लिखा है कि मुष्टि का अर्थ मुट्ठी नही, अपितु मूठ या पकड़ है। जातको मे पहलवान को मुट्ठिक कहा गया है (जातक, ६।२७७)। पतञ्जलि ने मल्ल और मुष्टिक के संग्राह का उल्लेख किया है। कुश्ती का आरम्भ दो मल्लो की परस्पर ललकार से होता है जिसके उत्तर मे वे दोनो ही आपस मे लपट करने लगते हैं। इसके लिये भाषा मे मल्लो मल्लमाह्वयते, इस प्रकार का वाक्य प्रयुक्त होता था (स्पर्धायामाङः, १।३।३१, ३।३।७३)।

प्रहरण क्रीडा—प्राचीनकाल मे शस्त्रो की क्रीड़ा के लिये अखाड़े में उतरने की प्रथा थी। महाभारत मे द्रोणाचार्य ने राजकुमारो की शस्त्र परीक्षा के लिए ऐसे ही अखाड़े का आयोजन किया था, इस सम्बन्ध में पाणिनि का सूत्र है, तदस्या प्रहरण-मिति क्रीडायाम् णः ४।२।५७)। क्रीडा का नाम उस प्रहरण या आयुध के नाम से पड़ता था, जिसे लेकर क्रीडा की जाती थी अर्थात् जिसके कौशल का प्रदर्शन किया जाता था। काशिका ने दाण्डा (लाठी के खेल), मौष्टा (मुक्केबाजी का खेल), ये उदाहरण दिए हैं। सरभंग जातक में धनुष बाण के बहुत से खेलो का वर्णन है, जैसे सरलट्ठि, सररज्जु आदि (५।१३०)।

प्राच्यक्रीडा—भारतवर्ष के पूर्वी भाग मे अनेक प्रकार की उद्यान-क्रीड़ाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से चली आती थी। उनका विषय पाणिनि के निम्नलिखित तीन सूत्र हैं—

१—प्राचां क्रीडायाम् (६।२।७४)।

२—नित्यं क्रीडाजीविकयोः (२।२।१७)।

३—संज्ञायाम् (३।३।१०९)।

पहले सूत्र से क्रीडावाची शब्दो मे स्वर, दूसरे से उनके नाम और तीसरे से उनके समास का विधान है। काशिका मे इनके निम्नलिखित उदाहरण हैं, उद्दालक पुष्पभञ्जिका वीरणपुष्प प्रचायिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका, अभ्योषखादिका। कामसूत्र मे इन्हे देश्य क्रीडा कहा है, जिसका तात्पर्य हुआ कि ये खेल परम्परा से लोगो मे चले आते थे। वात्स्यायन मे कुछ और भी नाम है, जैसे सहकारभञ्जिका,

बिसखादिका, अशोकोत्तंसिका, पुष्पावचायिका, इक्षुभक्षिका, दमनभञ्जिका, उदकक्ष्वेडिका आदि। अन्तिम के विषय मे जयमङ्गला ने लिखा है कि वह मध्यदेश के लोगों की क्रीडा थी।

प्राच्यक्रीडाओ का स्वरूप—इस देश के साहित्य मे दो प्रकार की क्रीडाओं की परम्परा जातक कहानियो से लेकर मध्यकालीन काव्यो तक पाई जाती है, एक उद्यानक्रीडा और दूसरी सलिलक्रीडा। मातङ्गजातक मे उल्लेख है कि वाराणसी के सेठ की दिट्ठमङ्गलिका नाम की दुहिता महीने दो महीने पर अपनी सखियो को लेकर उद्यानक्रीडा के लिये जाया करती थी।[1] उद्दालक जातक के अनुसार वाराणसी के राजा का पुरोहित उद्दालक वृक्षो के बगीचे मे अपनी गणिका को उद्यानक्रीडा के लिये ले जाता था। अश्वघोष, कालिदास, माघ, भारवि आदि सभी कवियों ने उद्यान-क्रीडा और सलिलक्रीडाओ का रोचक वर्णन किया है। फूले हुए अशोक वृक्ष या शालवृक्षो के नीचे खडी होकर और उनकी टहनियो से पुष्प चुनकर परस्पर क्रीडा करने की मनोरम उत्सव विधि इस देश के स्त्री-समाज के वातातपिक जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती थी। अवदानशतक मे आया है, "एक बार जब बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन मे ठहरे हुए थे, उसी समय सारी श्रावस्ती में शालभञ्जिका का उत्सव मनाया जा रहा था, कई हजार व्यक्ति उसमे भाग लेने के लिए एकत्र हुए और पुष्पित शालवृक्षो के फूल चुनकर वे एक दूसरे के साथ क्रीडा और विनोद करते हुए इधर-उधर मन बहलाने लगे (अवदान पृ० २०१)।" शाल-वन में शालभञ्जिका क्रीडा करने का सबसे अच्छा वर्णन पालि निदानकथा मे आया है, "उन दोनो नगरो (कपिलवस्तु और देवदह) के बीच मे लुम्बिनीवन नामक मङ्गल शालवन था, जो उभय नगरवासियो के उपभोग मे आता था। उस समय मे मूल से लेकर फुनगी तक सारा वन फूलो से अकस्मात् लद गया था। शाखाओ और पुष्पो के बीच मे पँचरंगी तितलियाँ और नाना प्रकार के पक्षी मधुर स्वर से कूजते हुए विचर रहे थे। सारा लुम्बिनी वन रग-बिरंगी लताओ के वन के समान या किसी वैभवशाली राजा के सुसज्जित हाट के समान हो गया था। उसे देखकर रानी मायादेवी के मन मे शाल-वन की क्रीड़ा करने की कामना उत्पन्न हुई (सालवन कीलितुकामता उदपादि) अमात्य देवी के साथ शालवन के भीतर आए। रानी ने माङ्गलिक शाल के नीचे जाकर उसकी शाखा को पकड़ने की इच्छा की। शाल की शाखा भपारा दिये हुए बेंत के समान झुककर देवी के हाथ की पहुँच के भीतर आ गई। उसने हाथ बढा कर शाखा को पकड़ लिया। उसी समय उसे प्रसव पीड़ा आरम्भ हुई[2]।

१. तदा वाराणसिसेट्ठिनो धीता दिट्ठमङ्गलिका नाम एकमासद्वेमासवारेन महापरिवारा उद्यान-कीळिक गच्छति (जातक, ४।३७६)।

२. जातकट्ठकथा, भा० १ पृ० ४१, भारतीय ज्ञानपीठ काशी का देवनागरी संस्करण।

शालभञ्जिका शब्द क्रीडा का नाम भी था और शालवृक्ष के नीचे उसकी डाल झुकाने की मुद्रा मे खड़ी हुई स्त्री का वाचक भी हो गया। भरहुत, सॉची की शुङ्गकला मे और मथुरा की कुषाणकला मे शालभञ्जिका और पुष्पप्रचायिका मे संलग्न स्त्रियो के अनेक दृश्य अंकित मिलते हैं। यह पूर्व भारत की क्रीड़ा थी। उत्तर-पश्चिम या गन्धार मे जहाँ शाल या अशोक वृक्षो का अभाव है, इस क्रीडा का न साहित्य में उल्लेख मिलता है, न कला में अंकन। काशिका ने प्रत्युदाहरण के रूप मे जीवपुत्र-प्रचायिका नाम की क्रीडा (इगुदी या जिवतिया के फूल चुनने की क्रीडा) को उत्तर-पश्चिमी भाग की क्रीडा कहा है (इयमुदीचां क्रीडा, ६।२।७४)। वीरणपुष्पप्रचायिका का उत्सव वैशाख पूर्णिमा को मनाया जाता था, जिसमें वीरण (हिन्दी, बेना या खस) के पुष्पो का चयन होता था।

इन पुष्प क्रीडाओ की यह सामान्य विशेषता थी कि पुष्पो का चयन हाथ की पहुँच के भीतर आई हुई शाखा से अपने ही हाथ से करना चाहिए। उसी अवस्था में पुष्पप्रचाय यह शब्द रूप बनता था, जिससे क्रीडा का नाम पुष्पप्रचायिका पड़ता था (हस्तादाने चेरस्तेये, ३।३।४०)।

मृगया—मृगया लुब्धयोग (५।४।१२६), शिकारी मार्गिक, चिड़ीमार या बहेलिया पाक्षिक या शाकुनिक कहलाता था (पक्षि-मत्स्य मृगान् हन्ति, ४।४।३५)। मृगो मे न केवल हिरन बल्कि सूअर आदि बड़े जङ्गली जानवरो की भी गिनती होती थी। बहेलियो का नाम उन पक्षियो से पड़ता था जिन्हे वे फँसाकर बेचते थे, जैसे मायूरिक, तैत्तिरिक। शिकार ऐसे बाणो से किया जाता था जिनमे पीछे दोनो ओर पत्र या आँकुड़ेनुमा काँटे लगे रहते थे। साधारण बाण की अपेक्षा सपत्र बाणो के लगने से पशु को बहुत व्यथा होती थी। क्योकि पशु के शरीर मे उनका घाव बहुत बडा होता था (सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने ५।४।६१, सपत्रकारोति मृग व्याधः, काशिका)। जो बाण इतने वेग से मारा जाता कि शरीर के एक ओर से घुसकर दूसरी ओर जा निकले उसे निष्पत्रा बाण मारना कहते थे। निष्पत्राकरोति, शरीरात् शरम् अपर पार्श्वे निष्क्रामयति)। सपत्र बाणो का प्रयोग युद्ध मे भी किया जाता था। जब सिकन्दर का वाहीक देश के निवासी मालवो से सग्राम हुआ तो मालवो ने सपत्र बाण छोड़ा जो सिकन्दर के करिहॉव मे घुस गया। उस बाण ने लगभग उसका प्राण ही ले डाला था। प्लूटार्क ने लिखा है कि उस बाण मे जो पत्र या कॉटा लगा था वह पॉच अगुल लम्बा और चार अंगुल चौडा था। यदि बाण शिकार के दाहिने पार्श्व मे जाकर लगे तो शिकारी की भाषा मे उसे दक्षिणेर्मा कहा जाता था। ईर्म का प्रयोग पार्श्व या पुट्ठे के लिए ऋग्वेद मे आता है (ऋ०८।२२।४)। दक्षिणेर्मा कहने की ध्वनि यह थी कि पशु की दाहिनी ओर लगा हुआ बाण बाईं ओर की अपेक्षा जहाँ हृदय रहता है कम घातक समझा जाता था। इसलिए ऐसा संभावना

रहती थी कि दाहिनी ओर घायल हुआ पशु जंगल मे दूर तक बचकर निकल भागा हो और जीवित रह गया हो।

शेर आदि जगल के बड़े शिकारी जानवर दिन भर मांद मे पड़े रहते हैं और शाम या रात को शिकार के लिए बाहर निकलते हैं। उस समय भूखे होने के कारण शिकार की खोज मे वे कुपित होकर दहाड़ते हैं। शिकारी लोग इसका भी पता रखते हैं कि कौन सा जानवर शाम को और कौन सा रात को दहाड़ता है। तदनुसार ही जानवर को प्रादोषिक या नैशिक कहा जाता था (व्याहरति मृगः ४।३।५१) व्याहरति का अर्थ दहाड़ना, रोना या हू हू करना है। जैनेन्द्र व्याकरण में 'रौति मृगः' सूत्र (जैनेन्द्र ३।३।२६) है। हेमचन्द्र ने शृगाल को नैश या नैशिक कहा है। महाभारत मे भी व्याहरति धातु का इस अर्थ मे प्रयोग हुआ है (क्रव्यादा व्याहरन्त्येते मृगा कुर्वन्ति भैरवम्, कर्णपर्व ३१।४०)।

पाणिनि ने उन शिकारियो को जो खूँखार कुत्तो का झुण्ड लेकर शिकार के लिए जगल छानते थे श्वागणिक या श्वगणिक कहा है (श्वगणेन चरति ४।४।११)। अर्थशास्त्र मे लुब्धक श्वगणी का उल्लेख है (२।२९) जिनका उपयोग राज्य की ओर से गोचर स्थानो को जगली जानवरो और चोरो से मुक्त रखने के लिये किया जाता था। भरहुत स्तूप की वेदिका पर एक दृश्य अकित है जिसमे शिकारी अपने कुत्तो से जानवर पर हमला करा रहा है।

मछली पकड़ने वाले मछुओ को मात्सिक या मैनिक कहा जाता था (४।४।३५)। मछली के नाम से भी उसका नाम पडता था, जैसे शाफरिक, जो सहरी नाम की छोटी मछली जाल में फँसाकर बेंचे, शाकुलिक जो शकुल या सौल नाम की मछली पकड़े। जाल के लिए आनाय शब्द भी प्रयुक्त होता था (जालमानायः ३।३।१२४)।

अक्षद्यूत—अक्षो से खेलने का उल्लेख ऋग्वेद में ही मिलता है। पाणिनि ने उसे अक्षद्यूत (४।४।१९) या केवल द्यूत (३।३।३७) कहा है। भाषा मे 'अक्षान् दीव्यति, अक्षैर्दीव्यति' दोनो प्रयोग चलते थे (दिव. कर्म च १।४।४), क्योंकि खेल और पासा दोनो ही अक्ष कहलाते थे।

पासो का खिलाडी आक्षिक या शालाकिक कहलाता था (तेन दीव्यति ४।४।२)। भाष्य के अनुसार कितव और धूर्त का पाठ शौण्डादि गण मे था। (२।१।४०)। चतुर खिलाडी को अक्षकितव और अक्षधूर्त कहते थे। जुआरी के लिये कितव शब्द ऋग्वेद मे भी आता है। बौद्ध साहित्य मे चतुर खिलाडो को सिक्खित कितव और बौड़म को असिप्प धुत्तक कहा गया है (जातक ६।२२८) महाभारत सभापर्व में कितव शब्द का प्रयोग जुआरी के लिए हुआ है उसके अर्थ मे कुत्सा या निन्दा का भाव नहीं पाया जाता।

खेलने के पासे आदि—पासे का खेल अक्ष और शलाका से खेला जाता था, दोनो का ही सूत्र मे उल्लेख है (२।१।१०) अर्थशास्त्र मे कहा गया है कि जो अक्ष से खेलने वाले आक्षिक जुवारी हो उनके लिये द्यूताध्यक्ष अक्ष का प्रवन्ध करे और जो शलाका से खेलने वाले शालाकिक हो उनके लिये शलाकाओ का। अक्ष चौकोर और शलाकाएँ लम्बी होती थी जिन पर अंक पड़े रहते थे। भरहुत के एक दृश्य मे जुआरी पुण्णक यक्ष के पासे छोटे घनाकार दिखाए गए हैं (कनिंघम, भरहुत स्तूप, फलक ४।५)।

आजकल की अपेक्षा पुराने समय मे पासो की संख्या मे भेद था। इस समय दो पासो से खेला जाता है किन्तु ब्राह्मण युग मे यह खेल पांच पासो का था। तैत्तिरीय ब्राह्मण में लिखा है कि खिलाने वाला राजा को पाच पासे देता है क्योंकि सब इतने ही पासे होते हैं तै० ब्रा० (१।७।१०)। अक्षराज, कृत, त्रेता, द्वापर, कलि ये पाच पासो के नाम थे। पाणिनि ने जिस खेल का उल्लेख किया है उसमे भी पाँच ही पासे होते थे जैसा कि २।१।१० सूत्र के चतुष्परि (वह दाव जिसमें चार पासे ठीक न पड़े हो) प्रयोग से सिद्ध होता है। काशिका, चन्द्र, कैयट सवने पाणिनीय खेल को पञ्चिका द्यूत कहा है (पञ्चिका नाम द्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति)।

खेल का प्रकार—खेलने के ढंग पर निम्नलिखित सूत्र से प्रकाश पडता है—

अक्षशलाकासंख्या परिणा (२।१।१०)। अक्ष शब्द, शलाकाशब्द और संख्यावाची शब्द (केवल चार तक, एक द्वि त्रि चतुर्) इनका परि के साथ अव्ययी भाव समास होता है जव कि उस समास का अर्थ पासे के दाव का नाम हो। कात्यायन ने इस सूत्र का सम्बन्ध कितव व्यवहार या ज्वारियो की भाषा से बताया है। इस प्रकार निम्नलिखित छह शब्द वनते थे—

१—अक्षपरि।	४—द्विपरि।
२—शलाकापरि।	५—त्रिपरि।
३—एकपरि।	६—चतुष्परि।

काशिका मे लिखा है कि पञ्चिका नाम का जुआ पाँच अक्ष या पाँच शलाकाओ से खेला जाता है। जव वे सव के सव सीधे या औंधे एक से गिरते हैं तव पासा फेंकने वाला जीतता है, किन्तु यदि कोई पासा उलटा गिरता है तो खेलने वाला उतने अंश मे हारता है।[1] उदाहरण के लिए, जव चार पासे एक से पडते और एक उलटा होता तो खिलाडी कहता था अक्षपरि शलाकापरि—एकपरि। इन तीनो का मतलब हुआ—

---

१. पञ्चिकानामद्यूतं पञ्चभिरक्षैः शलाकाभिर्वा भवति। तत्र यदा सर्वे उत्तानाः पतति अवाञ्चो वा तदा पातयिता जयति। तस्यैवास्य विघातोऽन्यया पाते सति जायते। अक्षेणेदं न तथा वृत्तं यथा पूर्वं जये, अक्षपरि। शलाकापरि। एकपरि। द्विपरि। त्रिपरि। परमेण चतुष्परि। पञ्चस्वेकरूपासु जय एव भविष्यति काशिका २।१।१०।

'हा! एक पासे से दाव उलट गया।' ये तीनों शब्द एक ही प्रकार के दाव के लिये थे जैसा भाष्य मे लिखा है (एकत्वेऽक्षशलाकयोः)। यदि दाव में दो पासे उलटे पड़े हो तो वह द्विपरि, तीन पासे उलटे हो तो त्रिपरि, और चार पासे उलटे हों तो चतुष्परि कहा जाता था। जब पाँचो पासे एक से पड़ें तो वह जीत का दाव होता था और उसे कृत कहते थे। धम्मपद के अनुसार बेईमान जुआड़ी (कितवो सठो) अपने कलि दावो को छिपाना चाहता है (धम्मपद गाथा २५२)। भूरिदत्त जातक में कलि और कृत दोनो को एक दूसरे के विपरीत माना है (कली हि धीरा कटं मुगान जातक ६।२२८, जे० आर० ए० एस० १८९२, पृ० १२७)। छान्दोग्य उपनिषद् मे भी कृत जीत का दाव है (यथा कृताय विजितायाधरेयाः संयन्ति, ४।१।४)। सभापर्व मे (५२।१३) शकुनि को कृतहस्त कहा गया है, अर्थात् जो सदा जीत का दाव ही फेंकता था। पाणिनि के समय दोनो प्रकार के दाँव फेंकने के लिये भाषा में अलग-अलग नाम धातुएँ चल गई थीं जिनका सूत्रकार ने स्पष्ट उल्लेख किया है—

कृतं गृह्णाति कृतयति,
कलिं गृह्णाति कलयति, (३।१।२१)[1]।

खेल चलते समय हारजीत के दावो को कहने के लिये इस प्रकार के स्वाभाविक शब्दों की भाषा मे आवश्यकता थी। विधुर पण्डित जातक मे कुरुजनपद के राजा और पुण्णक यक्ख के बीच पासे के खेल का वर्णन करते हुए 'कृतं गृह्णाति' 'कलिं गृह्णाति' ऐसे प्रयोग हुए हैं—

राजा कलिं विचिनमग्गहेसि
कटं अग्गही पुण्णको पि यक्खो॥ (जातक ६।२८२)

वहाँ कहा है कि यक्ष अपनी माया से उन पासो को जो उसके विरुद्ध पड़ने वाले होते थे उलट देता था। जातक मे उन्हे 'भस्सपान पासक' कहा है। वे ही पाणिनि के एकपरि, द्विपरि आदि हैं। ज्ञात होता है कि जब तक किसी खिलाड़ी का कृत दाव आता रहता वही पासा फेंकता जाता था। पर जैसे ही कलि दाँव आता चट पासा डालने की बारी दूसरे खिलाड़ी की हो जाती। इसीलिए शकुनि और पुण्णक एक बार जब जीतने लगते हैं बराबर उन्ही को दाव मिलता जाता है।

ग्लह या दाव—शकुनि ने कहा है कि पासे का खेल बहुत ही शुद्ध और बढ़िया है। हार-जीत के दाव के कारण ही वह निन्दित मान लिया गया[2]। पाणिनि ने

---

१. सूत्र में जान बूझकर कलि की जगह कल शब्द रखा गया है जैसा कि कात्यायन ने बताया है—कलिहल्योररव निपातनम् सन्वद्भाव प्रतिषेधार्थम्। कात्यायन का कहना है कि कलयति धातु से इच्छार्थक सन्नन्त प्रयोग नहीं बन सकता क्योंकि कौन ऐसा होगा जो चाहेगा कि कलि दाव पड़े।

२. युधिष्ठिर ने कहा था 'नहि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य ह (सभा-५३।२) उसी के

ठीक इसी अर्थ मे ग्लह शब्द सिद्ध किया है। (अक्षेषु ग्लहः ३।३।७०) ऋग्वेद में मूल शब्द 'ग्राभ' था। कहा जाता है कि उसी से निकला हुआ अथर्व मे ग्लह शब्द है। ऋग्वेद मे ग्राभ का मूल अर्थ केवल पासा फेंकना था। पर पाणिनीय संस्कृत में ग्लह का अर्थ पासे का दाव नही बल्कि वह दाव था जो रुपए पैसे के रूप मे हार-जीत के लिये रखा जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति २।१९९ पर मिताक्षरा ने ग्लह का अर्थ 'कितवपरिकल्पित-पण' किया है। सभापर्व मे ग्लह को पाण भी कहा गया है (५३।५)। द्यूतपर्व मे सर्वत्र ग्लह शब्द का यही अर्थ है। पाणिनि ने रुपए पैसे के दाव से संबंधित भाषा के और भी कई प्रयोगो का उल्लेख किया है, जैसे शतस्य दीव्यति (२।३।५८), शतस्य प्रतिदीव्यति (२।३।५९), शतस्य व्यवहरति, शतस्य पणते (२।३।५७)। इन सबका अर्थ जुए मे सौ रुपए दाव पर रखना है।[1]

वैदिक साहित्य, जातक, महाभारत, कौटिल्य सब इसमे एकमत हैं कि अक्षद्यूत सभा मे खेला जाता था। सभा अवश्य ही कोई सार्वजनिक या राजकीय स्थान होना चाहिए। अर्थशास्त्र में लिखा है कि दाव के धन पर राजा को पाच प्रतिशत शुल्क मिलता था। (अर्थ० ३।२०)। सूत्र ५।१।४७ पर आय के उदाहरण मे जिस पञ्चक शब्द (पञ्चास्मिन्नाय·) का उल्लेख है, उसका संकेत या पृष्ठभूमि कुछ ऐसी ही आय होगी।

चौपड़ का खेल—पाणिनि ने एक अन्य खेल का उल्लेख किया है जो चौपड़ ज्ञात होता है। वह आकर्ष पर खेला जाता था (५।२।६४)। इस फलक पर कोठे या घर बने रहते थे। आकर्ष का अर्थ अमरकोष में शारिफलक किया है। (द्यूतेऽक्षे शारिफलकेऽप्याकर्ष. अमर, ३।३।२२१)। ४।४।९ सूत्र मे भी आकर्ष शब्द का प्रयोग हुआ है (आकर्षात् ष्ठल्), किन्तु वहाँ उसका अर्थ सोना परखने की कसौटी है (आकर्ष इति सुवर्णपरीक्षार्थो-निकषोपल उच्यते, काशिका)।

इस खेल की मुख्य बात गोटो का घरो मे चलना था। चाल के बारे में दो सूत्रों से विशिष्ट सूचना मिलती है। एक तो पाणिनि ने 'अयानयीन' विशेष शब्द सिद्ध किया है (५।२।९, अयानयं नेयः अयानयीनः)। इस पर भाष्य मे लिखा है—'अयानयं नेय.' केवल इतना कह देने से यह नही जान पड़ता कि अय क्या और अनय क्या ? (इस पर हमारा कहना है) दाहिनी ओर की चाल अय है और

उत्तर में शकुनि का कहना है—'अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं नस्तेनैव कालो भवतीदमात्थ। दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्का कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः।—सभापर्व ५३।५ अर्थात् पासों के साथ जो दाव है वही नीचा दिखलानेवाला है, वही कालरूप हो जाता है—तुम्हारे कहने का यही अभिप्राय है न ? युधिष्ठिर डरो मत, आओ दाव लगाओ, समय न खोओ।

१. इन चारों शब्दों का दूसरा अर्थ है—सौ रुपए की पूँजी से क्रय विक्रय या वाणिज्य करता है।

बाईं ओर की अनय (आमने सामने बैठे हुए खिलाड़ियों की दृष्टि से गोटें दाहिनी बाईं ओर से चलती हुई आती हैं) वह घर अयानय है जिसमें दाहिने बाएँ दोनों से आती हुई गोटें (अर्थात् दोनो खिलाड़ियो की गोटें) एक दूसरे से या अपनी शत्रु-गोटो से पिट न सकें। ऐसी गोट जिसे ऐसे घर मे ले जाना या पुगाना हो वह अयानयीन कही जाती है।[1] चौपड के फलक पर बीच का कोठा वह स्थान है जहाँ पहुँचकर गोटें फिर मरती नही। हमारी दृष्टि मे यही 'अयानयीन' पद या घर होना चाहिए। कभी-कभी ऐसा होता है कि बीच के कोठे या अयानय के पास पहुँच कर गोट को दो-चार घर चलना रह जाता है, तब यह प्रतीक्षा करनी पडती है कि उतने ही अक का पासा पड़े तो गोट पुगे। इस प्रतीक्षा मे जो गोट हो उसी के लिये 'अयानयीन' इस विशेष शब्द की भाषा मे आकांक्षा हुई होगी।

गोटो की चाल का दूसरा प्रयोग 'परिणायेन हन्ति शारान्', सूत्र ३।३।३७ (परिन्योर्नीणोर्द्यूताभ्रेषयोः) का विषय है। टीकाओ मे और कोषो में परिणाय का अर्थ समन्तान्नयन दिया है, पर यह स्पष्ट नही होता कि इस 'चारो ओर घुमाने' से ठीक क्या समझा जाय। हमारी समझ मे यह विशेष स्थिति है जिसे हिन्दी मे 'वेणी' कहते हैं। कभी-कभी ऐसा होता है जब किसी खिलाड़ी की सब गोटें चारो फड घूम कर बीच के घर मे पुग जाती हैं, तब वह पुगी गोटो में से एक गोट निकाल कर फिर से चलता है और उससे दूसरी गोटो को पीटता है। यह गोट वेणी कही जाती है। यह पहले की तरह बाँई ओर से न चल कर उसकी उल्टी अर्थात् दाहिनी ओर से घूमती हुई फिर बीच के कोठे मे लौटती है। औरो से भेद करने के लिये यह गोट औंधी रखी जाती है। अतएव समन्तान्नयन या चारो ओर घूम आने के बाद जो गोट पुग चुकी है उसकी सज्ञा 'परिणाय' मानी जाय तो उसकी चाल से दूसरी विपक्षी गोटो को पीटने की क्रिया के लिये 'परिणायेन हन्ति शारान्' यह प्रयोग भाषा मे प्रयुक्त होता था।

अध्याय ३, परिच्छेद १५—संगीत

संगीत और वाद्यकर्म को पाणिनि के युग मे शिल्प माना जाता था जिसे अब ललितकला का पद दिया जाता है। न केवल मड्डुक, झर्झर जैसे बाजो का बजाना शिल्प है (४।४।५५–५६), बल्कि नृत्य (३।१।१४५ और गायन ३।१।१४६–१४७) भी शिल्प कहा गया है। जातक युग की भी यही विशेषता थी। वहाँ संगीत की गणना शिल्पो मे की जाती थी।

---

१. अयानयं नेय इत्युच्यते। तत्र न ज्ञायते कोऽयः कोऽनय इति। अयः प्रदक्षिणम्। अनयः प्रसव्यम्। प्रदक्षिणप्रसव्य गामिनां शाराणां यस्मिन् पदे (कोष्ठे) परैः (शत्रुशारैः) पदानामसमावेशः सोऽयानयः। अयानयं नेयोऽयानयीनः शारः (भाष्य ५।२।९)।

खन्तिवादी जातक मे नृत्य, गीत, वादित्र और नाट्य या अभिनय के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध की ओर सकेत है (गीत-वादित नच्चेसु चेका नाटकात्थियो गीतादानि पयोजयिंसु, जा० ३।४०)। अर्थशास्त्र मे भी गीत, वाद्य, नृत्त, नाट्य को संगीत का अङ्ग माना है (अर्थ २।२७) अष्टाध्यायी मे इन चारो का ही अलग-अलग सूत्रो मे उल्लेख आ गया है, जैसे गीति (३।३।९५), गेय (३।४।६८), गाथक (३।१।१४६, गवैया); गायन (३।१।१४७, शिल्पिनि ष्वुन् , गस्थकन् , ण्युट्च, गानेवाला, शिल्पी, स्त्री गायिका, गायनी), नर्तक (६।१।१४५, भाष्य के अनुसार), और परिवादक (४।२।१४६)। अभिनय के लिए नाट्य शब्द अस्तित्व मे आ चुका था (४।३।१२९)। अष्टाध्यायी मे नट सूत्रो के उल्लेख से (४।३।११०) अनुमान होता है कि अभिनय या नाट्य प्रयोग की भी उन्नति पाणिनि के समय मे हो चुकी थी।

तूर्यांग—वृन्दवाद्य के लिये तूर्य शब्द आया है। तूर्य मे भाग लेनेवाले तूर्यांग कहलाते थे। (२।४।२)। जातकट्ठकथा मे 'पंचगिक तुरीय' का उल्लेख आता है। वृन्द वाद्य के लिए दो मिलते हुये बाजो की जोड़ मिलाई जाती थी, जैसे मृदङ्ग और पणव साथ बजाने वालो की जुट 'मार्दङ्गिक–पाणविकम्' कहलाती थी। नाट्यशास्त्र में दोनो का पृथक् उल्लेख भी है। काशिका मे 'वाणिवादक-परिवादकम्' यह भी तूर्यांग का उदाहरण है। पाणिनि ने ४।२।१४६ सूत्र मे परिवादक का उल्लेख किया है। पतजलि ने तो परिवादक को भी वीणा बजानेवाला माना है (भाष्य ७।४।१, अवीवदद्वीणा परिवादकेन)। संभव है ऊपर के समास मे परिवादक वीणावादक का साथ देने के लिये कोई दूसरा तांत का बाजा बजाता हो। पाणिनि ने कई सूत्रो मे वीणा का उल्लेख किया है। जातको के अनुसार वीणा भी तूर्य का एक अङ्ग थी (वीणादीनि तुरियानि, जा० ३।४०)।

सम्मद—पाणिनि ने सम्मद और प्रमद को हर्ष या उत्सव अर्थ में सिद्ध किया है (प्रमद सम्मदौ हर्षे, ३।३।६८) भरहुत स्तूप के एक शिलापट पर अकित दृश्य को सम्मद कहा गया है जिसमे गीत और वाद्य के साथ सट्टक प्रयोग दिखाया गया है (साडकं सम्मदं तुरं देवानं, बरुआ, भरहुत, भाग १, फलक २, भाग ३, चित्र ३४)। साडक को विद्वान् सट्टक ही मानते हैं (स्टेन कोनो)। इस दृश्य मे कुछ गानेवाले हैं, चार स्त्रिया नृत्य कर रही है और एक वृन्दवाद्य या तूर्य है जिसमे वीणा-वादिनी स्त्री, पाणिवादक, माड्डुकिक और झार्झरिक अकित किए गए हैं। पञ्चाङ्गिक तूर्य (जा० १।३२) मे वांशिक और रहता होगा। इससे ज्ञात होता है कि सम्मद विशेष उत्सव का प्रकार था जिसमे नृत्य, गीत और वादित्र का सहयोग रहता था।

वाद्य—तंत्री वाद्यो मे वीणा का उल्लेख हुआ है। वीणा के साथ गाने के लिये भाषा मे उपवीणयति धातु ही चल गई थी (३।१।२५, वीणयोपगायति, काशिका)।

वीणा के बिना गायन 'अपवीण' कहलाता था (६।२।१८७)। वीणा के तारो से उत्पन्न स्वर लहरी निक्वण या निक्वाण कहलाती थी (क्वणो वीणाया च ३।३।६५)।

अन्य बाजो के ये नाम आए हैं—मड्डुक (४।४।५६, हुड्डुक जैसा छोटा वाद्य); झर्झर (४।४।५६, झाझ)। इनके बजानेवाले माड्डुकिक, झार्झरिक कहलाते थे। हाथ से ताली देकर स्वर साधनेवाले पाणिघ, तालघ कहलाते थे (पाणिघताडघौ शिल्पिनि, ३।२।५५), जिन्हे पाली मे पाणिस्सर कहा गया है (विधुर पण्डित जा० ६।२६७)।

दार्दुरिक सम्भवत: मिट्टी का घडा बजानेवाले के लिये प्रयुक्त होता था (शब्द दर्दुरं करोति, ४।४।३४) नाट्य शास्त्र में दर्दर वाद्य और उसके बजानेवाले को दार्दरिक कहा गया है (नाट्य० ३३।२०५)। दर्दरा को वाद्यभाण्ड ही कहना ठीक होगा। विधुर पण्डित जातक वाद्यवादको की सूची मे कुम्भथूनिक का भी उल्लेख है जिसे टीकाकार ने घटदद्दर वादक (जा० ६।२७६) कहा है।

अध्याय ३, परिच्छेद १६—काल विभाग

अकालक व्याकरण—प्राचीन विद्वानो ने पाणिनीय व्याकरण को अकालक कहा है। काशिका में तीन सूत्रो के उदाहरण रूप मे 'पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्', सूचना है (२।४।२१, ४।३।११५; ६।२।१४; और भी चान्द्रवृत्ति, २।२।६८)। दिन का परिमाण सूर्योदय से सूर्यास्त तक, या मध्यरात्रि से मध्यरात्रि तक माना जाय ? वर्तमान किस क्षण समाप्त होता है और भविष्य कहाँ से आरम्भ होता है ? अद्यतन क्या है ? कितना समय बीतने पर परोक्ष माना जाय ?—इस प्रकार की ऊहापोह पुराने वैयाकरणो के लिये बडी सिरदर्दी थी। भाष्य ने बाल की खाल खीचनेवाले कालविद् शाब्दिको की कुछ बानगी दी है।[1] किसी का मत था, वर्तमान काल कुछ नही। दूसरे कहते वर्तमानकाल है अवश्य पर उसका भाव अति सूक्ष्म होने से अनुमान से ही जाना जा सकता है। कात्यायन का मत था कि भूत, भविष्य और वर्तमान का काल विभाग मानना आवश्यक है (सन्ति च कालविभागा: ३।२।१२३ वा०)। कालविभाग को पाणिनि ने भी माना है पर वे इस पचड़े मे नही पड़े कि भवन्ती, भविष्यन्ती, अद्यतनी, श्वस्तनी, परोक्षा, इनका स्वय निर्णय करने बैठें। उन्होंने स्पष्ट

१. अपर आह, नास्ति वर्तमान: काल इति। अपि चात्र श्लोकानुदाहरन्ति—
न वर्तते चक्रमिषुर्न पात्यते न स्पन्दन्ते सरित: सागराय।
कूटस्थोऽयं लोको न विचेष्टितास्ति यो ह्येवं पश्यति सोऽप्यनन्ध: ॥
अनागतमतिक्रान्तं वर्तमानमिति त्रयम्।
सर्वत्र च गतिर्नास्ति गच्छतीति किमुच्यते ॥
अपर आह, अस्ति वर्तमान: काल इति। आदित्यगतिवन्नोपलभ्यते। (भाष्य ३।२।१२३)।

कहा कि इस विषय मे लोक को प्रमाण मान लेना चाहिए (कालोपसर्जने च तुल्यम्, १।२।५७)। पहले के व्याकरणो से अष्टाध्यायी का यह भेद देखकर ठीक ही उस समय के लोगो ने पाणिनि के शास्त्र को अकालक व्याकरण माना।

फिर भी मोटे तौर पर पाणिनि ने काल विभागो मे (३।१।१३७) अहोरात्र (३।३।१३७), पक्ष (५।२।२५), मास (५।१।८५), षण्मास (५।१।८३), वर्ष (५।१।८८), अयन (७।४।२५) आदि का उल्लेख किया है। काल, समय, वेला, पर्यायवाची होते हुए भी एक सूत्र मे इन तीनो का पृथक् उल्लेख है (कालसमयवेलासु तुमुन्, ३।३।१६७)। सूत्र ७।३।१५ पर भाष्य ने एक अन्य वार्तिककार का मत दिया है कि अष्टाध्यायी के अन्तर्गत परिमाणवाची शब्दो मे काल का ग्रहण नही होता (ज्ञापकन्तु कालपरिमाणाना परिमाणाग्रहणस्य)। किन्तु पाणिनि ने स्पष्टत काल को आयु का परिमाण कहा है (काला. परिमाणिना, २।२।५)। उदाहरण के लिये जन्म होते ही प्रत्येक व्यक्ति कालरूपी परिमाण की नाप मे आने लगता है। इसी आधार पर उसे द्व्यहजात, त्र्यहजात, मासजात, सवत्सरजात आदि कहा जाता है। पतञ्जलि ने कहा है कि हम काल से ही मूर्त पदार्थों मे वृद्धि और ह्रास देखते हैं और आदित्य गति के कारण ही दिन और रात का विभाग होता है। फिर उसी के वार-वार होने से मास और सवत्सर वनते हैं (भाष्य, २।२।५)। इसीलिए सूर्य को अहस्कर कहा जाता था (३।२।२१)। नक्षत्र के लिये ज्योतिष शब्द सूत्रयुग मे प्रयुक्त होता था। एक ही नक्षत्र मे जन्म लेनेवाले कई व्यक्ति सज्योति कहलाते थे (६।३।८५)। विधुन्तुद शब्द (३।२।३५) राहु द्वारा चन्द्रग्रहण की कथा की ओर संकेत करता है, जिसका उल्लेख वैदिक साहित्य में भी है (ताण्डय ब्राह्मण, ६।६।८)।

अष्टाध्यायी मे काल के निम्नलिखित विभागो का उल्लेख है—

अहोरात्र (३।१।१३७; ६।२।३३)—अहोरात्र को इकाई मानकर कालगणना की जाती थी। षष्टिका: षष्टिरात्रेण पच्यन्ते (५।१।९०) सूत्र मे रात्रि शब्द पूरे अहोरात्र या एक दिन के लिये है। नक्तन्दिव, रात्रिन्दिव (५।४।७७) शब्द फ्लीट के मत मे कुछ विचित्र से लगते हैं, क्योकि भारतवर्ष मे दिन की गणना सूर्योदय से की जाती है जिसमे दिन के वाद रात्रि का स्थान है। सम्भव है सन्धि की सुविधा के लिये नक्त और रात्रि का पूर्वनिपात इन शब्दो मे हुआ हो। कीथ का मत है कि ये दोनो शब्द उस प्राचीनकाल में बन चुके थे जब अहोरात्र का परिमाण सूर्यास्त से निश्चित किया जाता था।[1] यह सर्वसम्मत है कि सूत्रयुग मे दिन सूर्योदय से ही माना जाता था।

---

१. जे आर ए एस, १९१६, पृ० १४३–४६; फ्लीट का उत्तर, वही पृ० ३५६; कीथ का प्रत्युत्तर, वही, पृ० ५५५; और फ्लीट का अंतिम कथन, जिसमें फ्लीट की युक्ति ही ठीक प्रतीत होती है।

दिन के भाग पूर्वाह्न, अपराह्न (४।३।२४) और रात के पूर्वरात्र, अपररात्र (५।४।८७) कहलाते थे। साय प्रात होनेवाली रात दिन की सन्धि के लिये सन्धि-वेला शब्द था (४।३।१६) दिन का विभाग मुहूर्तों मे माना जाता था। मुहूर्त भर समय परिमाण के आधार पर लकार मे भेद हो सकता है (लिङ् चोर्ध्वमौहूर्तिके, ३।३।१६४)। भाष्य में छह चराचर मुहूर्तों का उल्लेख है (२।१।२८)। अर्थशास्त्र मे लिखा है कि तीस मुहूर्त के दिन रात मे पन्द्रह मुहूर्त का दिन और पन्द्रह मुहूर्त की रात्रि होती थी। यह स्थिति चैत्र और आश्विन मे आती है। पर अयनो के कारण रात और दिन तीन मुहूर्त तक घटते-बढते हैं। ग्रीष्म मे तीन मुहूर्त तक दिन की वृद्धि, और जाडे में तीन मुहूर्त तक रात की वृद्धि, इन्ही छह मुहूर्तों का नाम चराचर मुहूर्त था।

मास—मास के पक्षो मे पक्षान्त की तिथि अमावास्या और पौर्णमासी कहलाती थी। पक्ष का प्रथम दिन पक्षति कहा गया है (पक्षात्ति', ५।२।२५, पक्षस्य मूल पक्षतिः प्रतिपत्-काशिका)।

सावन मास—तीस दिन के सावन मास की गणना पाणिनि के षष्टिरात्र पद से सूचित होती है (५।१।९०)। षष्टिरात्र का शब्दार्थ साठ अहोरात्र या दो मास है। कौटिल्य ने तीस दिन और रात के महीने का उल्लेख करते हुए उसे प्रकर्म मास कहा है (अर्थ० २।२०)। इस गणना मे यह आवश्यक न था कि मास का पन्द्रहवाँ दिन अमावास्या और तीसवाँ दिन पूर्णिमा को ही पड़े। वे तो चान्द्रमास के पर्व थे। सावन-मास के पन्द्रहवें और तीसवें दिन के लिये अर्धमासतम और मासतम इन दो विशेष शब्दो का प्रचलन हुआ, जिनका पाणिनि ने उल्लेख किया है (नित्यं शतादिमासार्धमास संवत्सराच्च, ५।२।५७; मासस्य पूर्ण. मासतमो दिवसः, अर्धमासस्य पूर्णः अर्धमासतम -काशिका)। कौटिल्य के प्रकर्ममास के पन्द्रहवें और तीसवें दिन के ही ये नाम रहे होगे। प्रकर्ममास का व्यवहार राजकीय कामकाज मे होता था। वैतनिक लोगो के वेतन के निर्धारण और भुगतान के लिये तीस दिन के मास की व्यावहारिक आवश्यकता थी। पतञ्जलि ने स्पष्ट ही भृतकमास का उल्लेख किया है (४।२।२१, वा० २)। इसका व्यवहार भृति पर काम करनेवाले कर्मकरो की भृति बाँटने के लिये होता था। सास्मिन् पौर्णमासीति (४।२।२१) सूत्र पर वार्तिककार और भाष्यकार दोनो के विचार का आधार यही है कि चान्द्रमास की पौर्णमासी का किसी दूसरे प्रकार की मासगणना के अन्तिम दिन से मेल न खाता था। वह दूसरा मास कौटिल्य का प्रकर्ममास अथवा पतञ्जलि का भृतकमास ही होना चाहिए।

पतञ्जलि ने त्रिंशद्रात्र का उल्लेख किया है, जिसके दो बराबर भाग होते थे (३।३।१३६–१३७)। उसका पहला भाग अवरपञ्चदशरात्र या अवर अर्धमास

कहलाता था। इसी सकेत से दूसरे की संज्ञा परपञ्चदशरात्र या परअर्धमास रही होगी। पाणिनि के षष्टिरात्र की तरह त्रिंशद्रात्र शब्द मे रात्र का अर्थ अहोरात्र है।

चान्द्रमास—अमावास्या और पौर्णमासी इन दो पक्षो से 'बनने वाला चान्द्रमास पाणिनि के कई सूत्रो का आधार है। ज्ञात होता है कि पाणिनि काल मे पूर्णिमा के दिन चान्द्रमास की समाप्ति मानी जाती थी। यह इसी बात से सूचित है कि मास का नाम उसमे होनेवाली पौर्णमासी से माना जाता था। आग्रहायणी (४।२।-२२) श्रवणा, कार्तिकी और चैत्री (४।२।२३), इनका उल्लेख सूत्रो मे आया है। एक अन्य सूत्र मे कहा है कि पौर्णमासी के दिन अमुक ऋण का भुगतान किया जाय (४।३।५०)। यह सकेत भी पूर्णिमान्त मास गणना के पक्ष मे ही है, क्योंकि महीने के बीच मे ऋण लौटाने की बात कम सम्भव है। उसके बिना आग्रहायणिक या अग्रहायणक (४।३।५०; अगहन या मँगसिर की पूनो को लौटाया जानेवाला ऋण) जैसा शब्द भाषा मे बनना कठिन था। और भी, इस प्रकार के विशेष शब्द, जैसे उपपौर्णमासि उपपौर्णमासम् अर्थात् महीने की पौर्णमासी तिथि के लगभग (५।४।११०, नदी पौर्णमास्याग्रहायणीभ्य.) पूर्णिमान्त मास गणना के आधार पर ही भाषा मे प्रयुक्त होना सम्भव थे। यदि अमावस्या को मास की समाप्ति मानी जाती तो इसी प्रकार के प्रयोग अमावस्या शब्द से बन जाते, जो नही मिलते। कात्यायन और पतञ्जलि दोनो पौर्णमासी को महीने की अन्तिम तिथि मानते हैं।[1]

महीनों का नाम—यद्यपि नभस्य, सहस्य, तपस्य जैसे कुछ वैदिक नाम सूत्र, ४।४।१२८ में आ गए हैं, पर नक्षत्रो से रक्खे हुए मास नाम ही सूत्र युग से चालू थे। इस प्रथा का आरम्भ ब्राह्मण युग मे हुआ, फिर रामायण, महाभारत मे तो ये ही नाम नियमतः मिलने लगते हैं (वैदिक इण्डेक्स, २।१६२)। स्मरण रखना चाहिए कि ब्राह्मणो की भाषा मे 'फाल्गुनी पौर्णमासी' या 'फाल्गुनी अमावस्या' इस प्रकार नक्षत्र के नाम से बने हुए विशेषणो के साथ विशेष्य का प्रयोग होता था। पर सूत्रयुग मे फाल्गुनी आदि का प्रयोग स्वतन्त्र रूप से होने लगा (वैदिक इण्डेक्स १।४२२)। उस समय फाल्गुनी पौर्णमासी के लिये फाल्गुनी कहना ही पर्याप्त था। अष्टाध्यायी मे भी आग्रहायणी फाल्गुनी, श्रवणा, कार्तिकी, चैत्री नामो का स्वतन्त्र रूप से प्रयोग हुआ है (आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक, ४।२।२२; विभाषा फाल्गुनी श्रवणा कार्तिकी चैत्रीभ्य; ४।२।२३)। कात्यायन के स्पष्टीकरण के अनुसार ये सब नाम स्वय सज्ञाएँ बन गई थी (सूत्र ४।२।२१ पर वार्तिक संज्ञायाम्)।

पौर्णमासी का नाम उसमें पड़ने वाले नक्षत्र से (नक्षत्रेण युक्तः काल., ४।२।३) और महीने का नाम उसमे होनेवाली पौर्णमासी से माना जाता था। (सास्मिन् पौर्णमासीति, ४।२।२१)। 'नक्षत्रेण युक्त' कालः सूत्र पर शंका है कि काल जैसे अव्यक्त

---

१. पूर्णमासादण् (भा० पूर्णमासो वर्ततेऽस्मिन् काले पौर्णमासी तिथिः)।

पदार्थ का नक्षत्र से योग कैसे हो सकता है ? उत्तर में कहा है कि नक्षत्र का योग काल से नहीं, चन्द्रमा से होता है।[1] जिस दिन फाल्गुनी नक्षत्र चन्द्रमा के समीप आ जाता है उस दिन फाल्गुनी पौर्णमासी मान लेते हैं, और फिर पौर्णमासी से मास का नाम बनाते हैं।

नक्षत्र—पाणिनि के अनुसार नक्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति न+क्षत्र है। शतपथ ब्रा० में भी यही है। (२।१।२।१८; न-क्षत्र इसलिये कहे जाते हैं क्योंकि सूर्य उदित होते ही उनके क्षत्र या ज्योति को हर लेता है)। दूसरी व्युत्पत्ति 'नक्षगतौ' से भी मानी जाती थी (यो वा इह यजते, अमुं स लोकं नक्षते तन्नक्षत्राणा नक्षत्रत्वम्, तै० ब्रा० १।५।२।५)। निरुक्त में शतपथ को उद्धृत करते हुए भी दूसरी व्युत्पत्ति को स्वीकार किया गया है (नक्षतेर्गतिकर्मणाः, निरुक्त ३।२०)। पर पाणिनि ने शतपथ की परम्परा को मान्य समझा। अष्टाध्यायी मे नक्षत्रों के नाम और संबन्धित शब्द इस प्रकार हैं—

१. कृत्तिका—कार्तिकी पौर्णमासी मे नक्षत्र नाम स्पष्ट है (४।२।२३)। कृत्तिका का नाम बहुल भी था (४।३।३४), क्योंकि कृत्तिका में बहुत से नक्षत्र माने जाते हैं (भूयिष्ठा यत् कृत्तिका;, शतपथ २।१।२।३) बहुल से ही भूयिष्ठ बना है (बहोर्लोपो भू च बहो, ६।४।१५८)।[2]

३. मृगशीर्ष—आग्रहायणी पौर्णमासी का कई वार उल्लेख है (४।२।२२, ४।३।५०; ५।४।११०)। मास का नाम आग्रहायणिक भी पडता था। अगहन की पूनो के आस-पास का समय आग्रहायण या आग्रहायणि (५।४।११०) कहलाता था।

४. आर्द्रा—आर्द्रा में उत्पन्न बालक का नक्षत्र नाम आर्द्रक होता था।

५ पुनर्वसु—इस नक्षत्र मे दो तारे माने जाते थे। यद्यपि दो पुनर्वसु और एक तिष्य मिलकर तीन नक्षत्र होते हैं, पर तिष्य-पुनर्वसू में द्विवचन का ही प्रयोग होता था। सूत्र ४।३।६४ मे पुनर्वसु एक वचन में ही आया है जैसा मैत्रायणी और काठक संहिताओं मे भी आता है।

६. तिष्य—तिष्य (१।२।६३; ४।३।३४; ६।४।१४९) के दो अन्य पर्याय पुष्य और सिद्ध्य भी थे (पुष्यसिद्ध्यो नक्षत्रे ३।१।११६)। तिष्य नक्षत्र मे जन्म लेने वाला बालक तिष्य कहलाता था। जातको मे यह नाम प्राय. आता है (तिस्स,

---

१. कथ पुनर्नक्षत्रेण पुष्यादिना कालो युज्यते ? पुष्यादि समीपस्थे चन्द्रमसि वर्तमानाः पुष्यादिशब्दाः प्रत्ययमुत्पादयन्तीत्यर्थः-काशिका।

२. कृत्तिका में सात नक्षत्र हैं—अम्बा, दुला, नितत्नी, अभ्रयन्ती, मेघयन्ती, वर्षयन्ती चुपुणिका (तै० ब्रा० ३।१।४१)। संस्कृत साहित्य में कृत्तिका के छह नक्षत्र माने गए हैं (तुलना कीजिए, सूत्र ४।१।११५ पर उदाहरण द्वैमातुर, षाण्मातुर)।

फुस्स)। अर्थशास्त्र मे तिष्य नही, केवल पुष्य का प्रयोग है। पतञ्जलि को भी वही प्रिय है। पाणिनि के उत्तर युग मे वही चल गया था।

९-१०. फाल्गुनी—फल्गुन्यौ और फल्गुन्य. दोनो रूप आते थे (१।२।६०)।

११. हस्त—(४।३।३४)।

१२. चित्रा (४।२।२३) की पौर्णमाणी चैत्री कहलाती थी।

१३. स्वाति (४।३।३४)।

१४. विशाखा के दो नक्षत्रो को विशाखे भी कहा जाता था (१।२।६२)। तैत्तिरीय सं० मे विशाखे और काठक मे विशाखा आता है। पाणिनि को एक वचनान्त रूप प्रिय है (४।३।६४)।

१५. अनुराधा (४।३।३४)।

१७. मूल (४।३।२८)।

१८-१९ अषाढा (४।३।३४)।

२०. अभिजित् (४।३।३६)।

२१. श्रवण (४।२।२३)—काठक स० मे इसे अश्वत्थ कहा है (वैदिक इण्डेक्स, १।४।१३)। पाणिनि में भी यह नाम है। (संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ४।२।५)। काशिका के अनुसार पीपल की पीपली पकने का काल अश्वत्थ कहा जाता था (यस्मिन्नश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः, ४।३।४८)। श्रवण और अश्वत्थ ये दोनो सावन महीने की किसी विशेष रात और मुहूर्त की संज्ञाएँ थी।

२२. श्रविष्ठा (४।३।३४)।

२३ शतभिषज् (४।३।३६)।

२४-२५. प्रोष्ठपदा—इसके दो रूप थे, प्रोष्ठपदे, प्रोष्ठपदाः (१।२।६०)। पुल्लिङ्ग प्रोष्ठपद रूप भी चलता था (५।४।१२०)। प्रोष्ठपद नक्षत्र देवता का उल्लेख करते हुए पाणिनि ने भी इसे पुल्लिङ्ग लिखा है (४।२।३५)। तै० स० मे भी यह पुल्लिङ्ग ही है।

२६. रेवती (४।१।१४६)।

२७. अश्वयुज् (४।३।३६)—खेत बोने के लिए आश्वयुजी पौर्णमासी विशेष मांगलिक मानी जाती थी। (उप्ते च, आश्वयुज्या वुञ्, ४।३।४४–४५)।

नक्षत्रो का क्रम—वैदिकयुग में कृत्तिका पहला नक्षत्र माना जाता था। याज्ञवल्क्य स्मृति के समय तक, (१।२६७) कृत्तिकादि सूची चालू रही, और उसके बाद अश्विनी प्रथम नक्षत्र माना गया (हापकिंस, जे० ए० ओ० एस०, २४।३४)। पतंजलि ने नक्षत्रो का पौर्वापर्य सूचित करने के लिए 'कृत्तिकारोहिण्यः' उदाहरण दिया है, जिससे उनके युग में भी कृत्तिकादि गणना सूचित होती है।

श्रविष्ठादि गणना—सूत्र ४।३।३४ मे दस नक्षत्रो के नामो की सूची मे पाणिनि ने सबसे पहले श्रविष्ठा को रक्खा है—

श्रविष्ठा—फलगुन्यनुराधा–स्वाति–तिष्य–पुनर्वसु–हस्त–विशाखाषाढा बहुलाल्–लुक्।

श्रविष्ठा को पहले रखने का क्या हेतु हो सकता है ? वेदाग ज्योतिष की नक्षत्र सूची में भी श्रविष्ठा ही सबसे पहले था।

गर्ग के अनुसार भी श्रविष्ठा की गिनती नक्षत्रो में सबसे पहिले थी (कर्मसु कृत्तिका प्रथम श्रविष्ठा तु संख्याया')। महाभारत में नक्षत्रो का एक आरम्भ धनिष्ठा (श्रविष्ठा का दूसरा नाम) से है (वनपर्व २३०।१०) और दूसरा श्रवण से कहा है (अश्वमेधपर्व ४४।२, श्रवणादीनि ऋक्षाणि, हापकिंस, जे० ए० ओ० एस० भाग, २४, पृ० १५–३४)।

महाभारत में श्रवण को नक्षत्र सूची में पहिला कहा है (प्रतिश्रवणपूर्वाणि नक्षत्राणि चकार य—आदिपर्व ७१।३४)। अनुमान किया जाता है कि महाभारत का यह उल्लेख ऐसे समय हुआ जब कि सूर्य का मकर सपात (उत्तरायण) श्रविष्ठा से हटकर उससे एक नक्षत्र पूर्व श्रवण मे होने लगा था। (फ्लीट, जे० आर० ए० एस०, १९१६, पृ० ५७०)। वेदाङ्ग ज्योतिष मे जो पुरानी श्रविष्ठादि नक्षत्र सूची थी उसे कालान्तर मे सुधारकर श्रवणादि बनाया गया। ऐसा लगभग ४०५ ई० पूर्व मे किया गया। पाणिनि की श्रविष्ठादि सूची उस समय की होनी चाहिए जब श्रवण को यह स्थान नही मिला था। इससे पाणिनि के तिथिक्रम पर भी प्रकाश पडता है जैसा कि अन्तिम अध्याय मे विचार किया जायगा।

पाणिनीय उल्लेखो के अनुसार क्रान्तिवृत्त २७ नक्षत्रो मे बँटा हुआ था और पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा जिस नक्षत्र मे होता उसी के अनुसार पौर्णमासी तिथि और मास का नाम रखा जाता था। लुबविशेषे सूत्र (४।२।४) के अनुसार नक्षत्र के नाम से ही काल का नाम समझा जाता था। जैसे अद्य पुष्य' = आज पुष्य है का तात्पर्य यह हुआ कि आज चन्द्रमा पुष्य नक्षत्र के समीप है, अर्थात् आज पुष्य नक्षत्र का योग है। पाणिनि के युग मे वारो के नाम नही रक्खे गए थे। तिथियो को ही दिन कहा जाता था, एवं नक्षत्रो के नाम से ही तिथियो के नाम रक्खे जाते थे। जैसे पुष्य नक्षत्र से युक्त दिन 'पौषम् अहः' कहा जाता था।

ऐसा दिन जब दो नक्षत्रो का योग हो उन दोनो के नाम से पुकारा जाता था, जैसे 'राधानुराधीय' 'तिष्य पुनर्वसवीय' (द्वन्द्वाच्छ' ४।२।६)।

पाणिनि मे लग्न शब्द का अर्थ सक्त अर्थात् सटा हुआ या लगा हुआ है (७।२।१८)। 'राशि का उदय' यह अर्थ चौथी शती ईसवी के लगभग आरम्भ हुआ (डा० के० दी नक्षत्राज् एण्ड प्रिसेशन, इण्डियन ऐण्टीक्वेरी, भाग ५०, पृ० ४५)।

अयन—सूत्र ८।४।२५ (अयनञ्च) में अन्तरयण का उल्लेख है। सम्भवतः यह अयनो के सानिध्य मे सूर्य की स्थिति का काल था। इसके विपरीत अन्तरयन से कर्क और मकर रेखा के बीच मे स्थित देशो का बोध होता था।

ऋतु और वर्ष—वर्ष (५।१।८८), समा (५।१।८५-५।२।१२), संवत्सर (५।१।८७), हायन (३।१।१४८, ४।१।१३०) शब्द संवत्सर के लिये प्रयुक्त होते थे। अर्थशास्त्र मे पाँच वर्षों के एक युग का उल्लेख है जिसमे हर एक वर्ष का अलग-अलग नाम होता था। इनमें से इद्वत्सर, संवत्सर, परिवत्सर का पाणिनि मे भी उल्लेख है (५।१।९१-९२)।

वर्ष के विभागो में दो षण्मास माने जाते (५।१।८३)। पहिले को अवर षण्मास कहते थे (४।३।४९)। सूत्रो में छहो ऋतुओ के नाम आ गए हैं। वसन्त (४।३।४६), ग्रीष्म (४।३।४९), वर्षा (४।३।१८), प्रावृट् (४।३।१७, ४।३।२६), शरद् (४।३।१२-४।३।२७), हेमन्त (४।३।२१-२२) और शिशिर (२।४।२८)। प्रत्येक ऋतु दो मास की होती थी। पहिला महीना पूर्व और दूसरा अपर कहलाता था। (अवयवाद् ऋतो' ७।३।११), जैसे वर्षा ऋतु के पहिले मास के लिये पूर्व-वार्षिक और दूसरे के लिये अपरवार्षिक प्रयोग थे। भाष्य मे पूर्वशरद् और अपरशरद्, पूर्वनिदाघ और अपरनिदाघ शब्द भी हैं (१।१।७२ वार्तिक १८ भाष्य)। पतञ्जलि ने लिखा है कि शिशिर वसन्त से पहिले होती है और शिशिर से ही उत्तरायण का आरम्भ होता है (शिशिरवसन्तावुदगयनस्थो २।२।३४)। अर्थशास्त्र मे भी उत्तरायण का आरम्भ शिशिर से माना है और माघ-फाल्गुन उसके महीने कहे हैं (अर्थशास्त्र २।२०)।

व्युष्ट, वर्ष का पहिला दिन—पाणिनि ने उन कार्यों को जो व्युष्ट के दिन होते थे या उस भुगतान को जो उस दिन किया जाता था वैयुष्ट कहा है (तत्र च दीयते कार्यं भववत् ५।१।९६; व्युष्टादिभ्योऽण् ५।१।९७)।

वैसे तो व्युष्ट का सामान्य अर्थ रात्रि का चौथा पहर था (वाराह श्रौतसूत्र) किन्तु आर्थिक वर्ष के प्रथम दिन का पारिभाषिक नाम व्युष्ट था जो कि आषाढी पौर्णमासी के अगले दिन होता था (अर्थशास्त्र २।६)[1]। पाणिनि मे भी व्युष्ट का यही विशेष अर्थ है। इस दिन के कार्य और देय भुगतानो पर कुछ प्रकाश अर्थशास्त्र से पडता है। वहाँ कहा है कि जितने गणनाध्यक्ष हैं वे आषाढ़ी पूर्णिमा को अपने मोहरबन्द हिसाब-किताब के कागज और रोकड़ लेकर राजधानी मे आएँ। वहाँ उन्हे आय, व्यय, रोकड का जोड बताना पड़ता था और तब उनसे रोकड़ जमा

१. देखिए, श्री शाम शास्त्री का लेख, व्युष्ट वैदिक-संवत्सर का प्रथम दिन, अखिल भारतीय द्वितीय प्राच्य सम्मेलन, कलकत्ता अधिवेशन की लेखमाला।

कराई जाती थी। 'तत्र च दीयते' मे जिनकी ओर लक्ष्य है वे ही वैयुष्ट भुगतान ज्ञात होते हैं।

राजकीय गणना विभाग के केन्द्रीय कार्यालय मे हिसाव-किताव की जाँच-पडताल वारीकी से की जाती थी। यही वे वैयुष्ट कार्य थे जिनका 'तत्र च कार्यम्' मे सकेत है। सारे हिसाव की जांच का सूत्र उस रोकड से पकड़ मे आता था जिसे व्युष्ट के दिन गाणनिक (गणन के अधिकारी) जमा कराते थे। (अर्थशास्त्र २।७)। अशोक के ब्रह्मगिरि वाले लघु लेख से ज्ञात होता है कि वर्ष की दिवस गणना व्युष्ट दिन से आरम्भ होती थी।

पाणिनि मे वर्ष के अन्तिम दिन के लिये 'संवत्सरतम' शब्द का प्रयोग किया है। (५।२।५७ सवत्सरस्य पूर्णो दिवस॰ सवत्सरतम.)। सूत्र (४।३।५०) मे सवत्सर की समाप्ति पर लौटाए जानेवाले ऋण को सावत्सरिक कहा है (४।३।५०)। वे इसी संवत्सरतम नामक अन्तिम दिन पर भुगताए जाते थे।

महापराह्ण (६।२।३८)—इसका शब्दार्थ है 'वडा दुपहरा'। इस सूत्र मे पठित महाव्रीहि आदि दसो शब्द पारिभाषिक सज्ञाएँ हैं, अतएव महापराह्ण भी किसी दिन-विशेष का नाम रहा होगा। ज्ञात होता है कि यह व्युष्ट वाले दिन का ही 'बड़ा दुपहरा' था। सूर्य प्रज्ञप्ति मे कहा है नया वर्ष श्रावण महीने के 'सवसे लम्वे दिन' आरम्भ होता था। (अखिल भारतीय द्वितीय प्राच्य सम्मेलन, लेख संग्रह, पृ० ३८)। यह दिन सचमुच महापराह्ण होता था क्योंकि आजकल की तरह इस दिन का रोजनामचा वहीखाता (अहोरूप) उसी दिन वन्द न करके कई दिनो वाद तक खुला रहता था और सरकारी-कार्यालयो में भी उस दिन देर तक हिसाव-किताब होता रहता था। महाभारत मे महापराह्ण दिन का उल्लेख है—महत्यथापराह्णे तु घर्मेसुर्य इवावृतः (आदिपर्व १८१।४०), अर्थात् अर्जुन महापराह्ण के दिन कृष्णमृगचर्म पहिने हुए ब्राह्मणो के वीच ऐसे सुशोभित हुआ जैसे मेघो से घिरा हुआ सूर्य हो। यह कल्पना वर्षाऋतु मे ही ठीक वैठती है। इससे महापराह्ण दिन का वर्षाऋतु या श्रावण मे होना संगत हो जाता है। इसी आधार पर व्युष्ट के साथ उसका सम्वन्ध जोड़ना युक्त है। आषाढ़ी पूर्णिमा के वाद श्रावण का प्रथम दिन या 'युष्ट' हिसाब-किताब आदि की दृष्टि से उचित ही महापराह्ण समझा जाता था।

अध्याय ३, परिच्छेद १७–पाणिनिकालीन मनुष्य नाम

मनुष्य-नाम और स्थान नाम, ये नामो के दो बड़े समूह हैं। दोनो मनुष्य की भाषा के अङ्ग हैं और दोनो से ही मनुष्य के भूतकालीन इतिहास और संस्कृति पर प्रकाश पड़ता है। पश्चिमी देशो मे स्थानीय नामो का व्यौरेवार अध्ययन किया गया है जिससे जातियो की भाषा, प्रसार और रहन-सहन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है।

भारतीय स्थान नामो का अध्ययन भी उतना ही महत्त्वपूर्ण सिद्ध होगा, क्योकि मुण्डारी भाषा, द्रविड भाषा, आर्य भाषा और म्लेच्छ परिवार की भाषाओ ने स्थान-नामो की रचना मे भाग लिया है। यहाँ हम केवल मनुष्य-नामो की चर्चा करना चाहते हैं।

भारतीय मनुष्य-नामों का इतिहास वैदिक काल से आरम्भ होता है। नामो के विकास और परिवर्तन की दृष्टि से नीचे लिखी हुई सीढियाँ मुख्य हैं—

१—ऋग्वैदिक नाम

२—उत्तर-वैदिक और ब्राह्मणकालीन नाम

३— बौद्ध पाली साहित्य और पाणिनिकालीन नाम

४—मौर्य, शुङ्ग और कुषाणकालीन प्राकृत नाम

५—गुप्तकालीन एवं संस्कृत साहित्यगत नाम

६—अपभ्रंश भाषा, प्राकृत और सस्कृत साहित्य से प्राप्त मध्यकालीन नाम

७—आधुनिक नाम

इस प्रकार भारतीय मनुष्य-नामो का अध्ययन प्रत्येक युग के सास्कृतिक इतिहास का ही एक टुकडा है। भाषा और धार्मिक एव सामाजिक विश्वासो के अनुसार माता-पिता बालक का नाम रखते हैं। नाम प्रत्येक मनुष्य के लिये बहुत ही प्रिय शब्द बन जाता है। प्रत्येक के जीवन मे वह सबसे अधिक व्यवहार मे आनेवाला शब्द होता है। अतएव नामो मे एक प्रकार की जातीय और वैयक्तिक सुरुचि, आस्था और सस्कृति की छाप पाई जाती है। चरक के अनुसार नाम दो प्रकार के होते हैं—नाक्षत्रिक नाम और आभिप्रायिक नाम (शरीर स्थान, अ० ८।५१)। जिस नक्षत्र मे जन्म होता है उसके अनुसार रखा हुआ नाम (नक्षत्रदेवतासमानाख्य) नाक्षत्रिक कहलाता है; जैसे, स्वाति नक्षत्र से स्वातिदत्त, जिसका छोटा रूप होगा स्वातिल। आभिप्रायिक नाम को ही पुकारने का सच्चा नाम कहना चाहिए; जैसे यज्ञदत्त, देवदत्त इत्यादि।

ऋग्वेद के समय अधिकाश नाम केवल आभिप्रायिक थे। उनके साथ पिता से प्राप्त होनेवाला पैतृक नाम भी जुडा रहता था जैसे मेधातिथि काण्व। कालातर में गोत्रनाम की प्रवृत्ति बहुत बढ गई। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदो के समय मे जितने नाम मिलते है उनमे गोत्र-नाम का रिवाज बहुत अधिक है। उदाहरण के लिये बुडिल शार्कराक्ष्य, अर्थात् शर्कराक्ष गोत्र मे उत्पन्न बुडिल। लगभग इसी समय गोत्रो की बहुत बडी-बडी सूचियाँ सगृहीत हुई। बौधायन श्रौतसूत्र में इस तरह की एक बृहत् गोत्र-सूची महाप्रवर काण्ड के नाम से पाई जाती है जिसके आधार पर पीछे मत्स्यपुराण मे गोत्रो की सूची तैयार की गई। आश्वलायन, कात्यायन आदि श्रौत-सूत्रो में भी गोत्रो की सूचियाँ हैं, पर वे कुछ छोटी हैं। प्राचीन भारतीय समाज जिन

प्रतिष्ठित परिवारो से बना था उन परिवारो या कुलो की सूचियो को ही महाप्रवर-काड समझना चाहिये।

इसी परिस्थिति मे पाणिनि और बौद्ध साहित्य की साक्षी हमे मिलती है। पाली बौद्ध साहित्य में गोत्रनामो की प्रधानता पाई जाती है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे गोत्रनामो की लंबी-चौडी सूचियाँ हैं। गर्गादि, अश्वादि, नडादि, शिवादि, हरितादि गणो मे लगभग पाँच सौ से अधिक गोत्रनामो का परिगणन है और पाणिनि ने विशेष ध्यान से इस बात की शिक्षा दी है कि एक ही कुल मे बडे-बूढो और नवयुवको के गोत्रसज्ञक नामो मे क्या भेद होता था। उदाहरण के लिये गर्ग का लडका गार्गि, उसका पोता या पड़पोता गार्ग्य कहलाता था। पर यदि गर्ग जीवित हो तो पडपोता गार्ग्यायण कहलाता रहेगा। जब गर्ग कुल में वृद्ध का शरीर पूरा हो जाता था तो नीचे के पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र एक-एक सीढी चढ़ जाते थे। अर्थात् जो गार्ग्यायण था वह गार्ग्य बन जाता और उसके नीचे की पीढी का व्यक्ति गार्ग्यायण कहलाने लगता था। समाज के विभिन्न क्षेत्रो मे कुल का प्रतिनिधित्व करने के लिये इस प्रकार के सूक्ष्म भेदो का काफी महत्त्व रहा जान पडता है। किसी पंचायत मे परिवार की ओर से गार्ग्य प्रतिनिधि बनकर गया या गार्ग्यायण, यह बात अपना महत्त्व रखती थी। गृह्यसूत्रो के समय गोत्रवाची नामो का समाज मे बहुत अधिक प्रचार और महत्त्व था। अष्टाध्यायी मे और बौद्ध साहित्य मे इसकी भरपूर सामग्री मिलती है।

पाणिनि के समय मे एक दूसरे प्रकार के नाम भी काफी प्रचलित हो गए थे—ये थे स्थानवाची नामो से बननेवाले व्यक्ति नाम या विशेषण। जैसे, आज जयपुर के निवासी जयपुरिया कहलाते हैं और खडाला गाँव के पारसी अपने को खडालावाला तथा तारापुर के तारापुरवाला कहते हैं। मराठी क्षेत्र के अधिकाश नाम गावो के नाम के आगे 'कर' प्रत्यय जोडकर बनाये जाते हैं, जैसे बरसई गाँव का रहनेवाला बरसईकर। इसी प्रकार पाणिनि के समय मे नामो के लिये स्थानवाची शब्दो का विशेष महत्त्व था। काशी का रहनेवाला काश्य, मथुरा का माथुर, अवति का आवंत्य कहलाता था। भिन्न-भिन्न स्थान-नामो से अलग-अलग तरह के प्रत्यय जुडते थे। इन सबकी व्यवस्था पाणिनि ने सूत्रो मे की है। इसी कारण अष्टाध्यायी की भौगोलिक सामग्री बहुत बढी चढी है। स्थान-नाम के कारण जो व्यक्ति का नाम पडता है उसके दो कारण है। स्वय मथुरा मे रहने के कारण भी 'माथुर' और पूर्वजो के वहाँ रहने के कारण भी 'माथुर' विशेषण व्यक्ति के नाम के आगे जोडा जाता था। यही स्वाभाविक प्रथा लोक में आज तक देखी जाती है। कोई व्यक्ति किसी एक स्थान से हटकर जब दूसरी जगह जा बसता है तब वह स्वयं पहले स्थान के नाम से पुकारा जाता है और उसकी सतानें भी उसी नाम को जारी रखती हैं। जो स्वयं जयपुर में रहा हो या रहता हो, वह 'जयपुरिया' कहलाता है और जिसके पूर्वज वहाँ रहे हो वह भी

'जयपुरिया' कहलाएगा। पाणिनि की परिभाषा के अनुसार अपने रहने का स्थान 'निवास' (सोऽस्य निवासः, ४।३।८९) और पूर्वजो के रहने का स्थान 'अभिजन' (४।३।९०) कहलाता था।

इनके अतिरिक्त पाणिनि ने एक प्रकरण मे विशेष रूप से केवल मनुष्य नामो के बनाने का उपदेश किया है। इस प्रकरण (बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ५ । ३ । ७८ से लेकर शेवल-सुपरि-विशाल-वरुणार्यमादीना तृतीयात् ५ । ३ । ८४ तक) का विवेचन विशेष रूप से करना होगा, क्योंकि बहुत ही थोड़े मे भारतीय नामो के बनाने की विधि सूत्रकार ने बताई है जिसका प्रभाव आज तक के भारतीय नामो पर पाया जाता है।

पाणिनिकालीन नामो की तीन मोटी विशेषताएँ थी—

(१) नाम के प्रायः दो भाग होते थे—पूर्वपद और उत्तरपद; जैसे देवदत्त या देवश्रुत।

(२) नामो को छोटा करने की प्रथा चल पड़ी थी। उत्तरपद या पूर्वपद का लोप करके नामो को छोटा किया जाता था और लोप को सूचित करने के लिये कुछ प्रत्यय जोड़े जाते थे। जैसे देवदत्त के 'दत्त' को हटाकर केवल 'देवक' नाम प्यार के कारण छोटा किया हुआ नाम है।

(३) नक्षत्र के नामो से मनुष्य के नाम रखने की प्रथा पाणिनियुग की तीसरी विशेषता थी।

यदि हम पहली विशेषता को देखें, जिसके अनुसार नामो को समस्त पद होना चाहिए, तो हमे ज्ञात होता है कि मनुष्य-नामो का यह रूप वही है जिसका आदेश गृह्यसूत्रों में किया गया है। गृह्यसूत्रो में नामकरण की पद्धति के अनुसार[1] नाम प्रायः चार अक्षरो का होना चाहिए, और नाम के अंत मे 'कृत्' शब्द आना चाहिए, तद्धित नही—

पिता नाम करोति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा घोषवदाद्यन्तरन्तस्थं दीर्घाभिनिष्ठानं कृतं कुर्यान्न तद्धितम्। (पारस्कर)

---

१. गृह्यसूत्रों का नामकरण सस्कार, पारस्कर १।१७।२, आश्वलायन १।१३।५-६; हिरण्यकेशी २।४।१०; काठक ३।१० २; आपस्तंब ६।१५।९; मानव १।१८।१; बौधायन २।१।२४-३१; गोभिल २।७।१५-१६; शांखायन १।२४; खादिर २।२।३१-३२; द्राह्यायण २।४।१२; भारद्वाज १।२६; वाराह ३।७।

पतंजलि ने याज्ञिकों के प्रमाण से नाम के इसी स्वरूप का समर्थन किया है—'दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितं तद्धि प्रतिष्ठिततम भवति द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृत कुर्यान्न तद्धितमिति। नचान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्।' (भाष्य १।१।१)

अर्थात् पिता बालक को जो नाम दे उसमे दो या चार अक्षर हो नाम के आदि मे घोष अक्षर (वर्ग के तीसरे, चौथे, पाँचवें) हो, अन्त मे अन्तःस्थ (य, र, ल, व) अक्षर हो, अन्त का अक्षर दीर्घ हो या विसर्ग हो और वह नाम कृदत हो, तद्धित नही । गृह्यसूत्रो मे जो चार अक्षर वाला नाम कहा है वही पाणिनि के समस्त पद (पूर्वपद + उत्तरपद) के अनुकूल है, और गृह्यसूत्रो के कृदत नाम के अनुकूल पाणिनि के 'दत्त' और 'श्रुत' उत्तरपद हैं जिनका विधान ६।२।१४८ सूत्र मे किया गया है ।[1] काशिका के अनुसार देवदत्त और विष्णुश्रुत नाम पाणिनि सूत्र के उदाहरण हैं । 'दत्त' और 'श्रुत' दोनो कृदंत पद हैं । भाष्य से ज्ञात होता कि 'रक्षित' और 'गुप्त' पदो का भी नामो के साथ प्रयोग होने लगा था (भाष्य १।१।७३) । इसके उदाहरणो मे आम्रगुप्त और शालगुप्त भाष्य मे मिलते हैं (भा० १।१।१) । पाणिनि के अनुसार मित्र (६।२।१६५), अजिन (५।३।८२, ६।२।१६५) और सेन (४।१।१५२, ८।३।९९) शब्दो का भी नामो के उत्तरपद मे प्रयोग होने लगा था, जिनके उदाहरण आगे दिए जायँगे ।

पाणिनिकालीन नाम पूर्वपद और उत्तरपद के मेल से बने होने के कारण बह्वच् (= बहुत अच् वाला—अर्थात् वह नाम जिसमे दो से अधिक स्वर हो) कहलाता था (५।३।७८) । प्रायः नाम मे चार पाँच स्वर रहते थे । नामो के इस बह्वच् स्वरूप के कारण दूसरी विशेषता का जन्म हुआ जिसके अनुसार नामो के उत्तरपद या पूर्वपद का लोप करके उन्हें छोटा बनाया जाता था । वैदिककालीन नामो मे उन्हें छाँटकर छोटा करने का कोई उदाहरण नही पाया जाता । किन्तु अष्टाध्यायी मे इसके लिये काफी बारीकी के साथ नियम बने हुए मिलते हैं । सूत्र ५।३।८२ के अनुसार यदि नाम के अन्त मे 'अजिन' पद हो तो उसका लोप कर दिया जाता था, जैसे व्याघ्राजिन (व्याघ्र + अजिन) की जगह केवल व्याघ्रक कहने से काम चल जाता था । प्रायः पहले दो स्वरो को रखकर नाम का शेष भाग पुकारते समय छोड दिया जाता था । जैसे देवदत्त मे पहले दो स्वरो का पद 'देव' है, उसके बाद का 'दत्त' पद छोड दिया जा सकता था और उस लोप का सूचक एक प्रत्यय देव मे जोडकर देवक, देविय, देविल आदि नाम बनाए जाते थे । नामो को छोटा करने का रिवाज क्यो चल पडा, इस प्रश्न का उत्तर पाणिनि का सूत्र 'अनुकम्पायाम्' (५।३।७६) है । अनुकम्पा अर्थात् प्यार या दुलार का जो नाम होता था उसी मे उत्तरपद के लोप की प्रवृत्ति पाई जाती थी । इस तरह का नाम पाणिनीय परिभाषा मे अनुकम्पार्थ नाम कहा जा सकता है । पीछे इसे ही लोग 'प्रिय नाम' भी कहने लगे थे । मौर्य-शुङ्ग काल और मध्यकाल में नाम को छोटा करके उसका रूप बदलने की प्रथा सामान्य हो गई थी । गोत्रवाची नामो मे हेर-फेर या काट-छाँट असम्भव थी । वे सस्कृत भाषा के नाम थे

---

१ कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि, पाणिनि ६।२।१४८

और जड़ाऊ नगीने की तरह उनका स्वरूप स्थिर था। लेकिन पाली बौद्ध साहित्य के समय मे नामो पर प्राकृत भाषा का प्रभाव पूरी तरह पड गया था और प्यार या दुलार के नाम छोटे होने लगे थे। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे इस प्रवृत्ति का पूरा चित्रण पाया जाता है। दुलार के नाम मे कभी-कभी प्रत्यय जोडकर एक स्वर बढाया भी जा सकता था, जैसे देवदत्त की जगह देवदत्तक और यज्ञदत्त की जगह यज्ञदत्तक (५।३।७८)। किन्तु सामान्यत नामो को छोटा करने का नियम ही अधिक प्रचलित था। इसी कारण छोटे रूप में तराशे हुए नाम देवक, देविय, देविल आदि एक से अधिक रूप काम में आते थे।

पाणिनिकालीन तीसरी विशेषता नक्षत्र-नामो की है। गृह्यसूत्र भी इस प्रथा का समर्थन करते हैं। जिस नक्षत्र मे बालक का जन्म हो उस नक्षत्र के नाम पर लडके का नाम रखा जा सकता था। पाली साहित्य मे इसके बहुत उदाहरण मिलते हैं। तिष्य नक्षत्र मे जन्म लेने वाले बच्चे को तिष्य और पुनर्वसु मे जन्म लेनेवाले बालक को पुनर्वसु नाम दिया जा सकता था (४।३।३४)।[1] नाक्षत्रिक नाम पाणिनियुग की विशेषता थी। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषदो में नाक्षत्रिक नामो का अस्तित्व नही पाया जाता[2]। नक्षत्राश्रयी नामो की भरमार मौर्य-शुंगकालीन ब्राह्मी लेखो में पाई जाती है। मालूम होता है गृह्यसूत्रो के समय में नक्षत्रनामो की ओर लोगो की आस्था बढ गई थी। आपस्तंब के अनुसार नक्षत्र-नाम मनुष्य का गुह्य नाम समझा जाता था। गोभिल का मत है कि गुरु अपने शिष्य के लिये, जब वह पहली बार उसके पास आता था, नक्षत्र-नाम चुन देता था जो शिष्य का अभिवादनीय नाम कहलाता था। संभवतः इसी नाम से पुकार कर गुरु शिष्य को अभिवादन के उत्तर में आशीर्वाद देते थे। शांखायन, खादिर, मानव और हिरण्यकेशी गृह्यसूत्रों का मत भी यही है। 'मौद्गल्यायन तिष्य'—इस भारी नाम के स्थान मे पुकारने की सुविधा केवल 'तिष्य' नाम मे अधिक है, अतएव प्यार से बुलाने आदि मे नक्षत्र-नाम का प्रचार ही अधिक सभव था।

नक्षत्र-नामों की ओर जनता का झुकाव क्यो हुआ, इसका उत्तर उस समय की धार्मिक प्रवृत्तियो और विश्वासो मे पाया जाता है। साधारण मनुष्यो का यह विश्वास

---

१. तिष्यश्च माणवकः पुनर्वसु च माणवकौ तिष्यपुनर्वसवः—भाष्य के अनुसार ये नाम सूत्र १।२।६३, 'तिष्यपुनर्वस्वोर्नक्षत्रद्वन्द्वे बहुवचनस्य द्विवचन नित्यम्' में अतर्निहित है।

२. इस प्रकार के केवल दो तीन विरल उदाहरण हैं। जैसे, चित्र गाङ्ग्यायनि (शांखायन आरण्यक ३।१), चित्र गार्ग्यायणि (जैमिनीय ब्राह्मण १।२); आषाढ सावयस (जैमिनीय ब्राह्मण, यह शार्कराक्षों के ग्रामणी का नाम था); आषाढि सौश्रोमतेय (शतपथ ६।२।१।३७) जो आषाढ़ और सुश्रोमता का पुत्र था। इन नामों में संभव यह है कि चित्र = विचित्र और आषाढ = पलाश-दंड हो और दोनों में से कोई भी नक्षत्र नाम न हो।

बढ रहा था कि नक्षत्रो के अधिष्ठातृ देवताओ की मानता मानने से शुभ-अशुभ फल की प्राप्ति होती है। समाज मे नैमित्तिक और मौहूर्तिक लोगो की बन आई थी। पाली साहित्य मे इस तरह की बहुत-सी कहानियाँ पाई जाती हैं कि नक्षत्रविद्या और ज्योतिष के जाननेवालो के कहने-सुनने का जनता पर प्रभाव पडता था। 'सास्य देवता' प्रकरण में स्वयं पाणिनि ने प्रोष्ठपद नक्षत्र को देवता कहा है (४।२।३५)। नक्षत्रो की शक्ति मे जनता का जब विश्वास बढता है तभी तिष्यदत्त, पुष्यदत्त जैसे नाम सूझते हैं और रखे जाते हैं। वस्तुत· पूजन-पाठ, श्रद्धा-भक्ति के द्वारा देवताओ को प्रसन्न करके संतान पाने का विश्वास जब लोगो मे घर करता है तभी दत्त, रक्षित, गुप्त जैसे नामो के अंतिम पद व्यवहार मे आते हैं। पाणिनि के समय मे यह धार्मिक परिवर्तन समाज में आ चुका था। इन्द्रदत्त, वरुणदत्त, देवदत्त, जैसे नाम उसी अवस्था मे सभव हुए। एक ओर तो पुराने वैदिक देवताओ की भक्ति की ओर जनता का ध्यान था और यज्ञ के अतिरिक्त अन्य उपायो से भी लोग उन्हे प्रसन्न करने का उपचार करने लगे थे; दूसरी ओर नक्षत्रो के अधिपति अथवा दिशाओ के अधिपति लोकपालो को देवता का पद प्राप्त हो रहा था। पाली साहित्य मे 'चातू महाराजिक' (चार लोकपाल देवताओ की) भक्ति का प्रायः उल्लेख आता है। पाणिनि ने भी 'महाराज' को देवता कहा है (४।२।३५)। यह 'महाराज' कुबेर का ही नाम था जो लोकपालों और यक्षो मे बड़े समझे जाते थे। सस्कृत साहित्य में कुबेर को इसीलिये 'राज-राज'[1] कहा गया है। बुद्ध के उदय से पहले ही लोक मे यक्षो और कुबेरो की मान्यता प्रचलित हो चुकी थी और वह बराबर बढ़ रही थी। बौद्ध धर्म ने यक्ष पूजा के साथ बड़ी भलमनसाहत का समझौता किया और जनता के जमे हुए विश्वासों के साथ धक्का-मुक्की करने के बदले उन्हे अपनाकर उनके कंधो पर अपने लिये आदर का स्थान बना लिया। लोक-जीवन का यह सुदर पक्ष भरहुत और साँची के स्तूप-तोरणो पर और वेदिका के खंभो पर खुलकर देखने में आता है।

धर्म की छाप नामो पर अवश्य पड़ती है। देवताओ के नाम मनुष्यो के नामो में घुल-मिल जाते हैं और पुरातत्व की सामग्री की तरह बचे रह जाते हैं। षष्ठिदत्त नाम गुप्तकाल की मुहरो पर बचा हुआ एक सकेत है जो उस युग मे अत्यत प्रिय षष्ठी देवी की पूजा की सूचना देता है। मणिभद्र और पूर्णभद्र यक्षो को जिस युग मे लोग पूजते थे उसी युग मे उनके भक्त अपने पुत्रो के नाम भी मणिभद्रगुप्त या मणिभद्रदत्त रखने की बात सोच सकते थे। यद्यपि ईसाई धर्म ने इंगलिस्तान के पुराने धर्मों और विश्वासो को उखाड डाला, परंतु फिर भी पुराने देवी-देवताओ और पहाड-नदी-

१ अतर्बाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ। मेघदूत १।३।

'राजराज' पर मल्लिनाथ की टीका—राजानो यक्षाः, राज्ञां राजा राजराजा कुबेरः।

नालो को पवित्र रखनेवाले छुटभैए यक्ष और जिनो के नाम जो किसी समय जनता मे प्रचलित थे, प्राचीन अंग्रेजी नामो मे अभी तक बचे पड़े हैं। यही सत्य अन्य जातियो और देशो मे भी चरितार्थ होता है। प्राचीन भारतीय मनुष्यनाम और स्थान-नामो की पड़ताल करने से मुडा, शबर, द्रविड़ आदि जातियो के देवी-देवताओ का कुछ परिचय प्राप्त हो सकेगा।

नक्षत्रो से मनुष्य-नाम बनने का आधार उस नक्षत्र में जन्म पाना है। 'तत्र जात.' (४।३।२५) सूत्र के अनुसार नक्षत्रवाची शब्दो मे प्रत्यय जोडे जाते हैं। प्राय: नक्षत्रवाची शब्दो से मनुष्य नाम बनाने के लिये जोड़े हुए प्रत्यय का लोप हो जाता था। उदाहरण के लिये रोहिणी नक्षत्र मे जन्मा हुआ व्यक्ति रोहिण कहलाता था। इसी प्रसंग मे निम्नलिखित सूत्र विचारने योग्य है—

श्रविष्ठा–फाल्गुन्यनुराधा–स्वाति–तिष्य–पुनर्वसु–हस्त–विशाखाषाढा बहुलाल्लुक्। (४।३।३४)

श्रविष्ठा, फाल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा; अषाढा, और बहुला (अर्थात् कृत्तिका) इन नक्षत्रो मे यदि किसी का जन्म होने के कारण नाम बनाना हो तो प्रत्यय का लुक् समझना चाहिए। श्रविष्ठा नक्षत्र मे जिसका जन्म हुआ हो उसका नक्षत्राश्रयी नाम श्रविष्ठ होता था। इसी प्रकार फल्गुन, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाख, अषाढ और बहुल—इतने नाम और बनते थे।[1] अभिजित्, अश्वयुज और शतभिषक् भी नक्षत्रो के नाम हैं। पाणिनि के अनुसार इनके 'तत्र जात:' इस अर्थ मे दो-दो रूप बनते थे—प्रत्यय का लोप करके और प्रत्यय के साथ; जैसे अभिजित् आभिजित, अश्वयुक् आश्वयुज, शतभिषक्-शातभिषज।

जातको में नक्षत्र-नाम प्राय: आते हैं; जैसे विसाखा, पुनब्बसु, चित्ता, पोट्ठपाद, फग्गुनी, फुस्स, तिस्स, उपतिस्स। साँची के लेखो मे कुछ नक्षत्र नाम इस प्रकार हैं—

फगुन, फगुला, तिसक (=तिष्यक), उपसिझ (=उपसिद्धय), सिझा (सिद्धया), पुस (=पुष्यदत्त), पुसक, पुसनी, बहुल, सातिल (=स्वातिगुप्त या स्वातिदत्त), असाढ, मूल पोठक, (प्रोष्ठपद दत्त), पोठदेवा (=प्रोष्ठदेवी), अनुराधा, सोना (=श्रवणा)।

सातिल नाम का विश्लेषण करने से ज्ञात होता है कि पहले नक्षत्र के आश्रय से स्वातिदत्त या स्वातिगुप्त नाम बनाया गया। फिर उत्तरपद का लोप किया गया

१—को नामासीत्युक्तो देवताश्रयं नक्षत्राश्रय वाभिवादनीयं नाम ब्रूयादसावस्मीति (द्राह्यायण गृह्यसूत्र २।४।१२); अर्थात् 'क्या नाम है' यह प्रश्न पूछने पर शिष्य गुरु के सामने अपना अभिवादनीय नाम बोलकर बताए, जो देवता या नक्षत्र के आधार पर रखा गया हो।

और उस लोप का सूचक 'ल' प्रत्यय जोडा गया। तब रूप बना स्वातिल जिसका प्राकृत रूप हुआ सातिल। ऐसे ही पोठक नाम (प्रोष्ठपद दत्त–प्रोष्ठक–पोठक) को भी समझना चाहिए।

मनुष्य-नाम संबधी निम्नलिखित विविध सामग्री अष्टाध्यायी से प्राप्त होती है—

(१) वे नाम जिनमे 'विश्व' पूर्वपद हो (बहुव्रीहौ विश्व सज्ञायाम् ६।२।१०६)। काशिका मे इससे उदाहरण हैं विश्वदेव, विश्वयशस्। पाणिनि से पहले के साहित्य मे विश्वामित्र, विश्वमनस् (जैमिनीय ब्राह्मण) और विश्वसामन् नाम मिलते हैं। जातकों मे विश्वादि नामो की सख्या कुछ अधिक है; जैसे—विस्सकम्म, विस्ससेन (काशी के राजा का नाम जा० २।३४५), वेस्सभू बुद्ध, वेस्सामित्र (एक प्राचीन राजा, पौराणिक राजा, ६।२५१) और वेस्सतर।

(२) वे नाम जिनमे उत्तरपद उदर, अश्व और इषु हो (उत्तराश्वेषेषु, १६।२।१०७)। काशिका मे इसके उदाहरण हैं वृकोदर, हर्यश्व, महेषु–जो कि प्राक्पाणिनीय जान पडते हैं। उदरात नाम का केवल एक उदाहरण जातक में मिलता है—बहुशोदरी देवविता (जा० ६।८३)।

(३) वे नाम जिनके अत मे 'कर्ण' हो (६।२।११३)। इसके भी बहुत ही थोडे उदाहरण हैं; जैसे, शिवादिगण मे 'मयूर कर्ण' (४।१।११२)। सभवतः कर्णांत नामो की प्रथा पाणिनिकालीन ही थी।

(४) वे नाम जिनके अत मे कंठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जघा शब्द हों (६।२।११४)। वैदिक साहित्य मे इस प्रकार के नाम बहुत ही कम हैं। शितिपृष्ठ और शितिकठ, दो नाम वहाँ मिलते हैं। पाणिनि ने उपकादिगण (२।४।६९) मे कलशीकठ, दामकठ और खारीजघ नाम गिनाए हैं। काशिका मे उद्धृत तालजघ पुराना नाम था। मणिकठ नाम जातको मे आता है (जा० २।२८२)।

(५) वे नाम जिनके अत मे 'शृङ्ग' शब्द हो (६।२।११५)। इसका केवल एक ही उदाहरण बौद्ध और संस्कृत साहित्य में पाया जाता है, अर्थात् ऋष्यशृङ्ग।

(६) वे नाम जिनके आदि में (पूर्वपद) 'मनसा' हो (६।३।४)। काशिका मे इसके उदाहरण मनसादत्त और मनसागुप्त हैं। साहित्य मे इन नामो का प्रयोग देखने मे नही आता। अवश्य ही ये नाम ठेठ पाणिनिकालीन हैं। 'मनसा' पद तृतीया का एकवचन रूप है। मन से जो बालक देवता को अर्पित कर दिया जाता था, अर्थात् जिसे देवता के निमित्त 'मस' देते थे, वह मनसादत्त कहलाता था। नवजात शिशु को मर्तजाई (जिसके बच्चे होकर मर जाते हैं) माता देवता का करके मान लेती थी, अर्थात् बच्चे और मृत्यु के बीच मे देवता की साक्षी समझी जाती थी। इसी से वह बच्चा जी जाता था, ऐसा लोगो का विश्वास था।

(७) वे नाम जिसके अन्त मे 'मित्र' हो (६।२।१६५)। वैदिक साहित्य मे मित्रात नाम बहुत थोड़े हैं। पर पाणिनियुग और बाद के साहित्य मे उनकी बहुतायत है; जैसे सर्वमित्र (जा० ५।१३) जितमित्र (जा० १।३७), चदमित्र (जा० १।४१)। ब्राह्मी शिलालेखो मे मित्रांत नामो की बाढ़ आ जाती है। साँची मे बलमित्र (ज्ञात होता है कि बलराम की मान्यता या पूजा इस नाम के पीछे निहित है, ई० पू० द्वितीय शताब्दी मे मथुरा के आसपास सकर्षण और वासुदेव की पूजा चालू हो गई थी और बलराम की मूर्तियाँ भी बनने लगी थी), नागमित्रा (नाग देवता से सबधित स्त्री नाम), उत्तरमित्रा (उत्तराफाल्गुनी नक्षत्र से सबधित), वसुमित्रा, ऋषिमित्रा (इसिमिता), जितमिता और मित्रा[1] तथा भरहुत मे सघमित्र और गर्गमित्र नाम भी पाए जाते हैं (ल्यूडर्स सूची ४०३, ४०७)। पचाल राजाओ के सिक्को पर (ई० पूर्व प्रथम शती) ब्राह्मण देवताओ की मूर्तियाँ मिली हैं। उस समय उन देवताओ की भक्ति और पूजा अच्छी तरह फैल चुकी थी। इसी कारण उनसे निस्सृत नाम पचाल राजाओ की सूची मे मिलते हैं, जैसे बृहस्पतिमित्र, अग्निमित्र, भानुमित्र, भूमिमित्र, ध्रुवमित्र, फल्गुनीमित्र, सूर्यमित्र, विष्णुमित्र, प्रजापतिमित्र।

(८) वे नाम जिनके अत में 'अजिन' हो (६।२।१६५)। काशिका के अनुसार वृकाजिन, कुलाजिन, कृष्णाजिन। जातको मे दो उदाहरण मिलते हैं—मिगाजिन (६।५८) और कण्हाजिना (वेस्सतर की पुत्री, ६।४८७)। पाणिनि ने भी उपकादिगण (२।४।६९) मे कृष्णाजिन का उल्लेख किया है। साहित्य मे अजिनात नामो का टोटा है। पाणिनि के अनुसार अजिनात नाम मे उत्तरपद के लोप का विधान है (अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ५।३।८२)। जैसे, व्याघ्राजिन मे 'अजिन' का लोप होने के बाद व्याघ्रक हो जाता था।

(९) वे मनुष्य नाम जो जातिवाचक शब्दो से लिए गए हो (जातिनाम्नः कन् ५।३।८१), जैसे व्याघ्रक सिहक। दूसरे प्रत्यय जोडने से इन्ही के रूप व्याघ्रिल, सिहिल भी होते थे। पाणिनि के समय मे व्याघ्र, सिह, ऋक्ष, वराह, कुजर आदि पशु मनुष्य के बलवीर्यादि के उपमान मान लिए गए थे (उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे, २।१।५६, पुरुषोऽयं व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्रः पुरुषसिहः)। सिहो का पैदल शिकार करना, हाथ मे तलवार लेकर व्याघ्र या सिह के मुकाबले मे अकेले डट जाना, इस प्रकार के विनोद और आखेटो का समाज मे काफी प्रचार हो चुका था। 'सिह' शब्द का भारतीय नामो पर बहुत प्रभाव पडा है। वस्तुतः इस शब्द ने भारतीय नामो के उत्तरपद रूप मे जो स्थान प्राप्त किया है वह अन्य किसी शब्द को नही मिला। आज भी राजस्थान और पजाब के प्राय. शत-प्रतिशत नाम सिहात सुने

---

१. बूहलर, साँची लेखों में व्यक्तिवाची नाम, एपिग्राफिया इडिका २।४०३; भरहुत के नामों के लिये द्रष्टव्य ल्यूडर्स कृत लेख सूची, ए० इ० भाग १०, परिशिष्ट।

जाते हैं। शुगकालीन ब्राह्मी लेखो मे 'सिह' से निकले हुए नाम इस प्रकार मिलते हैं—सीह, सिहा, सीहा, सिहदत्त, सीहदेव, सिहक, सिहमित्र, सिहनादिक, सिहरखित, सीहरखित। कारला की गुफा में एक यवन (यूनानी) का नाम सिहधय (=सिह-ध्वज) मिलता है। गुप्तकाल में सिह शब्द का नाम के साथ संबंध शिथिल पड गया था। किंतु मध्यकाल मे सिहाश्रित नामो की प्रथा ही चल गई थी। सिह से सीहाक, सीहड (=सिहभट्ट), ये अपभ्रशकालीन नाम हैं। लेकिन 'सिह' शब्द का पूरा प्रचार और महत्त्व तो उत्तरपद के रूप मे सभवत. मुसलिम काल मे हुआ।

(१०) वे नाम जिनके अंत मे 'सेन' शब्द हो (एति संज्ञायामगात् ८।३।९९)। सेनात नामो का विशेप उल्लेख सूत्र ४।१।१५२ (सेनात लक्षण कारिभ्यश्च) मे हुआ है। काशिका मे इसके उदाहरण करिपेण, हरिपेण मिलते हैं। वैदिक काल में सेनांत नाम के उदाहरण यज्ञसेन (तैत्तिरीय स० ५।३।८।१; काठक स० २१।४) और ऋष्टिपेण (ऋष्टि या बरछी नामक आयुध की सेनावाला, निरुक्त २।११) मिलते हैं।[१] पतजलि के अनुसार जातसेन भी एक ऋपि का नाम था (जातसेनो नामर्षिस्तस्माद्‌-भयं प्राप्नोति, ४।१।११४)। क्षत्रियो के सेनात नामो मे पतजलि ने उग्रसेन अधक, विष्वक्सेन वृष्णि और भीमसेन कुरु का उल्लेख किया है (४।१।११४)। पाणिनि के युग में सेनात नाम काफी चल गए थे। जातकों मे मिलनेवाले नाम सोत्थिसेन (= स्वस्तिसेन, जा० ५।८८), सुरसेन (=शूरसेन, काशिराज, जा० ४।४५८), उग्गसेन (जा० २।४४९), अत्थिसेन (=अस्तिसेन, जा० ३।३५२) नदिसेन (जा० ३।३), जयसेन (जा० निदान कथा), चद्रसेन (जा० ४।१५७), और भद्दसेन (जा० ६।१३४) हैं। साँची मे धमसेन, वरसेन, भरहुत मे नागसेन, महेदसेन और पभोसा में अषाढसेन नाम मिले हैं।

पाणिनि सूत्र ८।३।१०० (नक्षत्राद्वा) से ज्ञात होता है कि नक्षत्रवाची शब्दो के साथ 'सेन' शब्द लगाकर भी मनुष्य नाम बनाए जाते थे। इसके उदाहरण रोहि-णिसेन, भरणिसेन है। इसी सूत्र का अनिवार्य उदाहरण शतभिषक् सेन है जो मनुष्य नाम के रूप मे साहित्य में नही मिला।

(११) वे नाम जिनके अंत मे 'दत्त' और श्रुत' पद इस तरह प्रयुक्त हो कि उनसे आशीर्वाद प्रकट हो (कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि, ६।२।१४८)। जैसे देवदत्त (देवा एन देयासु:, अर्थात् जिसके जन्म के समय माता-पिता के मन मे ऐसी भावना हो कि 'देवता इमे दें'), विष्णुश्रुत (विष्णुरेन श्रूयात्—अर्थात् जिसके जन्म के समय ऐसी भावना हो कि 'विष्णु इसे सुनें')। ये दोनो नाम कृदत उत्तरपद वाले हैं। वैदिक या बौद्ध साहित्य मे ऐसे नाम शायद ही कोई हों

१. कौषीतकी ब्रा० ७।४ में यज्ञसेन के पुत्र याज्ञसेन का उल्लेख है। जैमिनीय ब्राह्मण में सुश्रवा याज्ञसेन का उल्लेख है।

जिनमे 'श्रुत' उत्तरपद हो। 'दत्त' से समाप्त होनेवाले वैदिक नामो के उदाहरण ये हैं—ब्रह्मदत्त (जो कोसल के राजा थे, जिनका नाम प्रसेनजित भी था, जैमिनीय ब्राह्मण), पुनर्दत्त और सूर्यदत्त (शाखायन आ० ८।८)। बौद्ध साहित्य मे इन नामो की परिपाटी चल पडी थी; जैसे देवदत्त, भूरिदत्त (जा० ६।१६७), मतिदत्त (जा० ४।३४२), यञ्ञदत्त ब्राह्मणकुमार (जा० ४।३०), सोमदत्त (जा० ६।१७)। सांची स्तूप के अभिलेख जिस समय खुदवाए गए थे उस समय तो देवो के आशीर्वाद वाले नामो की भरमार हो गई थी; जैसे अग्गिदत्त, वायुदत्त, यमदत्त, इददत्त (= इन्द्रदत्त), इसिदत्त (= ऋषिदत्त), बहदत्त (= ब्रह्मदत्त), उपेददत्त या उपिद-दत्त (= उपेन्द्रदत्त), उत्तरदत्त, वैश्रमणदत्त, पुष्यदत्त, गंगदत्त, धर्मदत्त, नागदत्त आदि। कात्यायन ने एक वार्तिक मे मरुदत्त नाम का उल्लेख किया है जिसका छोटा रूप मरुत्त होता था (१।४।५८)। पतंजलि के समय मे देवदत्त, यज्ञदत्त ब्राह्मणो के सामान्य नाम हो गए थे (१।१।७३), जिनका छोटा रूप केवल 'दत्त' होता था (देवदत्तो दत्त. सत्यभामा भामेति, भाष्य १।१।४५)।

(१२) पाणिनि ने एक सूत्र मे विशिष्ट नामो का उल्लेख किया है—शेवल-सुपरि-विशाल वरुणार्यमादीना तृतीयात् (५।३।८४)। इस सूत्र का तात्पर्य यह है कि शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पांच शब्दो से जो नाम बनते हैं उसमे तीसरे स्वर के बाद सब अक्षरो का लोप हो जाना चाहिए और लोप के बाद जो रूप बचे, उसमे इक्, इय, इल—ये तीन प्रत्यय जोड दिए जायें। जैसे, शेवलदत्त या शेवलेंद्रदत्त मे तीसरे स्वर के बाद सब अक्षरो का लोप करके प्रत्यय जोडने से शेवलिक, शेवलिय शेवलिल ये तीन नाम बनते हैं। सुपर्याशीर्दत्त नाम का छोटा रूप सुपरिक, सुपरिय या सुपरिल होता था। विशालदत्त को दुलार के लिये (अनुकपार्थ) विशालिक, विशालिय, विशालिल पुकारते थे। ये नाम कुछ बेतुके से हैं, पर लोक मे चालू रहे होगे। शेवलदत्त का कुछ अर्थ भी स्पष्ट नही होता। जान पडता है कि ये किन्ही यक्ष या छुटभैए देवताओ के नाम थे जिनकी मानता मानने से लोग पुत्र लाभ की आशा करते थे। 'विशाल' निश्चयपूर्वक एक यक्ष का नाम था जो सभापर्व मे उन यक्षो की सूची मे है जो कुबेर की सभा मे उपस्थित थे (सभापर्व १०।१६)। यह इस बात का सकेत देता है कि संभवत: शेवल और सुपरि भी यक्षो के नाम थे। 'शेव' प्राचीन वैदिक शब्द है जिसका अर्थ था धन या समृद्धि। जो धन दे वह शेवल। यक्ष के लिये शेवल धनद की तरह सार्थक नाम हुआ। फिर शेवलदत्त के अतिरिक्त काशिका ने शेवलेंद्रदत्त नाम का भी उदाहरण दिया है। शेवलदत्त वह बालक हुआ जिसके जन्म के लिये शेवल का आशीर्वाद प्राप्त किया गया हो। शेवल का स्वामी शेवलेंद्र हुआ, अर्थात् यक्षराज कुबेर या वैश्रवण की संज्ञा शेवलेन्द्र होनी चाहिए थी। शेवल यक्ष की भक्ति करने वाले गृहस्थ लोग कुबेर के आशीर्वाद से जन्मे हुए अपने बालक के लिये

ऐसा नाम सुनते रहे होंगे। शेवलेन्द्र या कुवेर भी एक यक्ष की संज्ञा थी। भरहुत स्तूप के खभे पर कुवेर यक्ष की मूर्ति (कुपिरो यखो) पाई गई है। यदि शेवलेंद्रदत्त से 'शेवल और इन्द्र के आशीर्वाद से उत्पन्न', यह तात्पर्य लिया जाय तो भी शेवल एक देवता का नाम ठहरता है। वौद्धो के आटानाटीय सुत्त (दीघनिकाय ३२) मे यक्खराजो की सूची मे इन्द्र, सोम, वरुण, प्रजापति, मणिभद्द, आलावक आदि नामो मे इन्द्र और वरुण भी यक्ष हैं। वरुण का नाम पाणिनि के इसी सूत्र मे आया है। ऐसा ज्ञात होता है कि यक्ष के रूप मे वरुण की मान्यता पाणिनि-काल से होती थी। अर्यमा का वच्चो के जन्म से घनिष्ठ सम्बन्ध था, ऐसा अथर्ववेद के 'नारी सुखप्रसव' सूक्त के प्रथम मन्त्र (अथर्व० १।१।११) से विदित होता है, जिसमे कहा है कि प्रसव के समय आर्यमा चतुर होता की तरह वच्चे के झटपट जन्म लेने के लिये 'वषट्' का वोल वोल दे। इससे आर्यमादत्त नाम की वात समझ मे आ सकती है।

पाणिनि के इस सूत्र (शेवल सुपरि विशाल वरुणार्य मादीना तृतीयात् ५।३।८४) पर कात्यायन का एक वार्तिक है—वरुणादीना तृतीयात्सचाकृतसन्धीनाम्; अर्थात् वरुण आदि पूर्वपदवाले नामो मे जव तीसरे स्वर के वादवाले स्वरो का लोप किया जाय, तो वरुणादि शब्दो का स्वरूप लेना चाहिए जो उत्तरपद के साथ होने वाली किसी स्वर सन्धि के पहले का हो। यहाँ एक छोटा-सा प्रश्न उठता है कि कात्यायन ने 'वरुणादीना' क्यो कहा ? 'शेलवादीना' कहते तो ठीक होता, क्योकि पाणिनि का सूत्र शेवल से आरम्भ होता है। हमारा अनुमान है कि पाणिनि से पूर्व के किसी व्याकरण मे 'वरुणार्यमादीना' सूत्र ही पढा गया था और यह वार्तिक उसी काल का है। पाणिनि ने किसी पूर्वाचार्य का सूत्र ग्रहण करके अपनी ओर से शेवल, सुपरि और विशाल, इन तीन नए नामो का पैवंद उस सूत्र मे लगाया। वरुण और अर्यमा पहले के माने हुए देवता थे, आरंभ में वच्चो के नाम भी उन्हीं के नाम पर रखे जाते रहे होंगे। पीछे से छोटे-छोटे देवी-देवताओ की बाढ़ आई और लोक में उनकी मान्यता फैली। तभी, विशेषकर वुद्ध के और गृह्यसूत्रो के युग मे इन्द्र, वरुण, सोम, प्रजापति जैसे वैदिक देवताओ को भी यक्ष बना डाला गया और नये-नये यक्ष तो पुजने ही लगे। विशाल, शेवल और सुपरि, तीन नाम लोक में प्रचलित मनुष्य नामो से लेकर पाणिनि ने पूर्व सूत्र मे वढ़ाकर अपना सूत्र वनाया, पर कात्यायन ने वही पहले का वार्तिक रहने दिया। वौद्ध साहित्य मे सीवल और सीवली दो नाम आए हैं। संभव है उनका सवंध भी शेवल से ही हो।

सुपरि के आशीर्वाद से जो पुत्र उत्पन्न हुआ उसके लिये सुपर्याशीर्दत्त (सुपरि+ आशी +दत्त) नाम वनता था। यद्यपि नाम कुछ टेढ़ा है, पर विशाल यक्ष की तरह सुपरि भी कोई विशेष देवता या यक्ष अवश्य रहा होगा, जिसका पद अपने वर्ग मे इतना ऊँचा था कि भक्त लोग उसके पूजा-पाठ से पुत्र की कामना करते थे। सुपर्या-

पौर्दत्त नाम मे आशीर्वाद पद का लोप करके सुपरिक, सुपरिय, सुपरिल—ये दुलार के तीन नाम बनाए जाते थे। दोवल, सुपरि, विशाल, और अर्यमा नामो के उदाहरण साहित्य मे बहुत ही कम हैं या नहीं हैं। भरहुत मे एक बार 'अयम' नाम आया है जो अवश्य अर्यमा का ही रूप है (ल्यूडर्स सूची ८१३)।

(१३) वे नाम या विशेषण जो गोशाला, खरशाला और वत्सशाला मे जन्म लेने के कारण बने, जैसे गोशाला से गोशाल, खरशाला से खरशाल (४।३।३५) और वत्सशाला से वात्सशाल या वत्सशाल (४।३।३६)। इनमे मखलि गोशाल नाम का उदाहरण प्रसिद्ध है। मंखलि ही सम्भवतः पाणिनि का मस्करी है जिसका उल्लेख सूत्र ६।१।१५४ (मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयोः) मे हुआ है। मस्करी नाम की व्युत्पत्ति बताते हुए पतंजलि ने लिखा है कि मस्करी का मत कर्मवाद का निराकरण था (मा कर्म कार्षीः शान्तिर्वः श्रेयसी)। मक्खलि गोशाल भी इसी मत के प्रवर्तक थे, दैववाद या भाग्य ही उनकी शिक्षा का सार था। महाभारत शान्तिपर्व मे मंकि ऋषि की एक कहानी है जिसमे दैव और पुरुषार्थ की विवेचना करते हुए मंकि ने अन्त मे यह मत प्रकट किया कि इस लोक में दैव ही सब कुछ है, पुरुषार्थ मे सार नही (शुद्ध हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम्, शांति-पर्व, अ० १७७)। भरहुत के एक वेदिका-लेख मे गोशाल नाम आया है जो लोकप्रचलित नाम रहा होगा (ल्यूडर्स कृत सूची ८५३)।

(१४) वे नाम जिनके अन्त मे 'पुत्र' हो और आदि मे पुरुषवाची शब्द हो (पुत्रः पुम्भ्यः, ६।२।१३२); जैसे कौनटिपुत्र, दामकपुत्र, महिषकपुत्र। पिता का नाम गौरवसूचक समझा जाता है, इसलिये इनमे पूर्वपद का पहला स्वर उदात्त बोला जाता था। इससे उलटी रीति पूर्वपद मे माता का नाम रखने की थी; जैसे वात्सी-पुत्र, गार्गीपुत्र। यहाँ उदात्त उच्चारण नाम के अन्तिम स्वर पर पड़ता था। पाणिनि की राय मे गोत्रवाची स्त्री-नाम से बेटे का नाम पड़ना हेठी की बात थी, क्योकि जब पिता में गड़बड़ी होगी और उसका ठीक नाम न मालूम होगा तभी माँ के नाम से काम चलाना पड़ेगा (गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च, ४।१।१४७); इस पर काशिका की व्याख्या है—पितुरसविज्ञाने मात्रा व्यपदेशोऽपत्यस्य कुत्सा)। यह तो हुई पाणिनिकाल की स्थिति, पर शतपथ ब्राह्मण के आचार्य वंश की सूची मे माता के नाम से प्रसिद्ध ऋषियो के नामो की भरमार है। साजीवीपुत्र से आरम्भ करके बीसो नाम उस सूची मे हैं (बृ० उ० ६।५७, अन्त की वंश सूची)। शतपथ ब्राह्मण या उपनिषद् काल मे ऐसा नाम रखना प्रतिष्ठा की बात थी। पाणिनि के युग मे उसमें निन्दा का भाव आ गया था। पर पीछे से शुंग काल मे हम फिर सातवाहन-वंशी राजाओ के नामो मे बड़े आदर के साथ माता का नाम जुड़ा हुआ पाते है। पतञ्जलि ने जो माता के नाम से पुत्र के नाम को प्रतिष्ठासूचक बताया है वह उनके

युग की प्रथा के अनुकूल ही है, जैसे गार्गीमात, वात्सीमात (मातृणा मातच पुत्रार्थमर्हते, ७।३।१०७)।

पाणिनि में लडकियो का नाम नदी के नाम पर रखने की प्रथा का उल्लेख मिलता है। माता का नाम यदि नदी के नाम पर है, जैसे यमुना, वितस्ता, तो पुत्र का नाम अण् प्रत्यय जोडकर बनेगा; जैसे यामुन, वैतस्त (अवृद्धाभ्यो नदी मानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्य, ४।१।११३)। गृह्यसूत्रो के समय लडकियो के लिये नदीनामो का रिवाज सम्मत रहा होगा, पर पीछे मनुस्मृति मे इसे अच्छा नही समझा गया। यही बात नक्षत्रो पर रखे जानेवाले नामो पर भी घटती है, क्योकि मनु ने यहाँ तक लिखा है कि नक्षत्र, नदी और पेड के नाम पर जिस लडका का नाम हो उससे व्याह न करे। पर गृह्यसूत्रो और पाणिनि के काल मे तो नक्षत्र-नाम बहुत ही प्रचलित थे। पीछे शुग काल मे मानो नक्षत्र-नामो ने दूसरी तरह के नामो को छा लिया था। इसीलिये सभवत: स्मृतिकाल मे उस तरह के निषेध की बात सुझाई गई।

ऊपर के सूत्र मे पाणिनि ने स्त्रियो के लिये एक दूसरे प्रकार के नाम भी कहे हैं। इस मानुषी नामों के उदाहरण काशिका में 'चिन्तिता', 'शिक्षिता' हैं। वराह गृह्यसूत्र मे, जो पाणिनिकाल के बाद की लोकसम्मति को प्रकट करता जान पडता है, ऐसे नाम अच्छे नही समझे गए जो नदी से बने हो या जिनमे देवता के नाम के साथ 'दत्त', 'रक्षित' पद जोडे गए हो (श्री कणे, बच्चे का नामकरण इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टर्ली, १९२८, पृ० २३३)।

(१५) नामो को छोटा करने के लिये जोड़े जानेवाले प्रत्यय इस प्रकार थे—

(अ) इक—पाणिनि के अनुसार ठच् प्रत्यय था जिसके स्थान मे इक-आदेश होता है (सूत्र ५।३।७८)। देवदत्त को छोटा करके 'देव' बना, फिर उसमें लुप्त उत्तरपद की जगह भरने के लिये इक प्रत्यय जोडने से 'देविक' दुलार का नाम बनता था। एसे ही यज्ञदत्त से यज्ञिक। साची मे प्राप्त 'छडिक' याम का मूल होगा सं० षडिक, मूल षडंगुलिदत्त, जिससे लोक में 'छगा' बनता है (ल्यू० सूची ३८०, काशिका ५।३।८३), और भरहुत में प्राप्त यसिक का यशोदत्त (ल्यू० सूची ७५७)।

(आ) इय—पाणिनि के अनुसार घन् प्रत्यय था (५।३।७९) जिसकी जगह इय जोडा जाता था। छोटा करने के नियम वे ही थे। इसके अनुसार देविय, यज्ञिय नाम सार्थक हुए। जातक मे अन्य नाम हैं गिरिय (जा० ३।३२२), चदिय (चदकुमार, ६।१३७), नंदिय (जा० २।१९९; इसी मूल का दूसरा रूप नदिक, जा० २।२००, और तीसरा रूप नन्दक भी मिलता है), सभिय (जा० ६।३२९, सभाकुमार या सभादत्त; सभा से तात्पर्य देवसभा से था)। साँची, भरहुत मे इस प्रत्यय के नाम प्रायः नही हैं। सम्भवत. यह मगध देश की प्रथा थी।

(इ) इल—यह प्रत्यय भी अनुकम्पार्थ या प्यार के नाम में जोड़ा जाता था

(५।३।७९, घनिलचौ) । देवदत्त और यज्ञदत्त से क्रमशः देविल और यज्ञिल बनते हैं । जातकों में गुत्तिल (२।२४८) और मखिल (महादेव, निदान कथा, पृ० ४१) नाम हैं ।

'इल' वाले नाम साँची में इस प्रकार हैं—अगिल (अग्निदत्त), सातिल (स्वातिदत्त), नागिल (नागदत्त), यखिल (यक्षदत्त), बुधिल (बुधदत्त) । भरहुत में यखिल (ल्यू० ८४६), महिल (ल्यू० ७६६) और घटिल (घटदत्त या घटकुमार, ल्यू ८६०) हैं ।

वे नाम जिनके आदि में 'उप' आता है, विशेष नियम (प्राचामुपादेरडज् वुचौ च, ५।३।८०) के अधीन हैं । उदाहरण के लिये उपेन्द्रदत्त नाम काशिका ने दिया है । भारतवर्ष के पूरबी भाग के आचार्यों का मत था कि ऐसे नामों से प्यार का नाम बनाने के लिये 'अड' और 'अक' प्रत्यय जोड़े जायँ । उपेन्द्र विष्णु की संज्ञा है । उपेन्द्रदत्त में 'उप' अलग करके उप + इन्द्रदत्त + अड रूप बना । छोटा करने के लिये बीच के इन्द्रदत्त पद का लोप करने पर 'उपड' नाम बचता था । इसी तरह 'अक' प्रत्यय लगाकर 'उपक' । ऐसे नाम विहार इत्यादि की ओर विशेष प्रचलित रहे होंगे । पहले के तीन प्रत्यय लगाने से उपिक, उपिय, उपिल और लोप न करने से उपेन्द्रदत्तक, इस प्रकार एक नाम छः प्रकार से पुकारा जा सकता था । सम्भव है बौद्ध साहित्य का उपालि नाम भी उपेन्द्रदत्त का ही छोटा रूप हो । आश्चर्य है कि साँची के लेखों में उपक इत्यादि छोटे रूपों की जगह उपेददत्त, उपिददत्त, ओपेददत्त, ये बड़े रूप मिलते हैं । पाणिनि में उपक गोत्र-नाम भी है (उपकादिभ्यो गोत्रे २।४।६९) । 'उप' वाले दूसरे नाम उपकस (जातक ४।७९), उपकंचन (जा० ४।३०५), उपजोतिय (जा० ४।३८२), उपगु (जै० ग्रा०), उपजीव (जै० ग्रा०) मिलते हैं ।

(ई) 'क' प्रत्यय नाम के आगे दो अर्थों में जोड़ा जाता था—(१) निंदा के लिये, जैसे शूद्रक, पूर्णक और (२) आशीर्वाद के अर्थ में, जैसे नन्दक (नन्दतात् नन्दकः), जीवक (जीवतात् जीवक., ३।१।१५०) ।

पाणिनि के बाद नामों को छोटा करने की प्रवृत्ति ने और जोर पकड़ा । कुछ नए प्रत्यय और नए नियम बन गए, जिनमें चार बातें मुख्य थी—

(१) नाम के पहले चार अक्षरों को रखकर बाद के अंश का लोप करना; जैसे बृहस्पतिदत्त से बृहस्पतिक, प्रजापतिदत्त से प्रजापतिक ।

(२) इक की जगह क प्रत्यय जोड़कर नाम छोटा करना; जैसे देवदत्त से देवक । क प्रत्यय वाले नामों के उदाहरण जातकों में भी हैं, जैसे पहक (प्रभाकर, १।४०), सोनक (सोननंद ५।२४७), सच्चक (सत्ययज्ञ, ६।४७८) । साँची, भरहुत में तो ऐसे नामों की भरमार है—बलक (बलदेव, बलराम, बलमित्र), पुसक (पुष्यदत्त), धमक (धर्मगुप्त, धर्मदत्त) आदि ।

(३) इल की जगह ल प्रत्यय, केवल उकारांत नामो के बाद; जैसे भानु-दत्त + इल की जगह भानुल, वसुदत्त + इल की जगह वसुल। राहुल और वधुल (जा० ४।१४८) इस प्रवृत्ति के प्राचीन उदाहरण हैं।

(४) चौथा सबसे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन यह हुआ कि प्यार का नाम बनाने के लिये उत्तरपद की तरह पूर्वपद का भी लोप किया जाने लगा, जैसे देवदत्त से दत्तक और यज्ञदत्त से भी दत्तक।

(५) किसी भी प्रत्यय को जोड़े बिना बारी-बारी से पूर्वपद या उत्तरपद का लोप करके अनुकंपार्थ या दुलार का नाम बनाना एक नई विधि थी। जैसे, देवदत्त से केवल देव या केवल दत्त भी हो सकता था।

इन सब नियमो पर यदि एक साथ विचार करें तो देवदत्त नाम के नीचे लिखे ग्यारह रूप बन जाते हैं—

देवदत्तक, देवक, देविय, देविल (पाणिनि के अनुसार), देवक दत्तिक, दत्तिल, दत्तिय, दत्तक, देव, दत्त (पिछले परिवर्तनों के अनुसार)। इस प्रकार हम देखते हैं कि नामो को छोटा करने की प्रवृत्ति मे सब तरह की छूट दे दी गई थी। वैदिक काल मे यह प्रथा नही थी, अथवा उसका साहित्यिक प्रमाण नही पाया जाता। पाणिनि के समय में वह विकसित हो चुकी थी। पतंजलि के समय मे वह अपने पूर्ण विकास को पहुँच गई। इसी तरह नक्षत्र-आश्रित नाम भी पाणिनियुग की अपनी विशेषता थी। गृह्यसूत्र और बौद्ध साहित्य उसका समर्थन करते हैं। तीसरी विशेषता नामों को संक्षिप्त करने की थी। यह अंतिम बात तो भारतीय नामो के साथ सदा के लिये जुड़ गई। कालांतर में भी प्यार का नाम बनाने के लिये संक्षेप विधि से काम लिया जाता रहा। मध्य काल में इसका बड़ा प्रचलन था। आज भी गाँवो के अधिकांश नाम भाषा की दृष्टि से अपभ्रंश का चोला पहने हुए और संक्षेप के नियमों की दृष्टि से पाणिनि-पतंजलि का अनुसरण करते हुए पाए जायँगे।

अध्याय ४

आर्थिक दशा

परिच्छेद १—कृषि

वृत्ति—वार्ताशास्त्र का सम्बन्ध कृषि, वाणिज्य, पशुपाल्य आदि मनुष्यो की जीविका के साधन या वृत्तियो से है। जनपदो मे फैले हुए आर्थिक जीवन के इस ताने-बाने के लिये जानपदी वृत्ति यह सुन्दर शब्द प्रचलित था (४।१।४२)। इस अर्थ मे जानपदी वृत्ति का उल्लेख पाणिनि से पहले यास्क मे आता है—'जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति', अर्थात् जनपद सम्बन्धी वृत्तियो या शिल्पों में कुशलता प्राप्त किया हुआ पुरुष विशेष समझा जाता है, निरुक्त, (१।१६)। यह ध्यान देने योग्य है कि यास्क ने जानपदी शब्द को विशेष्य मान कर उसका प्रयोग किया है।

कृषि—खेती के लिये सूत्रो में कृषि शब्द है। मूल मे कृषि शब्द का अर्थ केवल हल चलाना था, जैसा कि महाभारत में भी पाया जाता है।[1] कात्यायन और पतंजलि में कृषि के व्यापक अर्थ पर विचार किया गया है—कृषि का अर्थ केवल भूमि विलेखन या हल चलाना नहीं बल्कि, बीज, बैल, एवं कर्मकर आदि के लिये भोजन का प्रबन्ध करना भी कृषि धातु के अर्थ के अन्तर्गत है।[2] सूत्रो मे कृषि जीवन के सम्बन्ध में कई प्रकार के शब्द हैं, जैसे कृषीवल (किसान ५।२।११२), हल (३।२।१८३; ४।४।८१), हलयति (हल चलाना, ३।१।२१), हलि (एक प्रकार का बडा हल, ३।१।११७), कर्ष (जुताई, ४।४।९७), वाप (बुवाई, ५।१।४५), मूलाबर्हण (निराई, ४।४।८८), लवन (कटाई, ६।१।१४०), खल (खलिहान ४।२।५०-५१) और निष्पाव (बरसाई ३।३।२८)।

कृषिवल—खेती करने वाले किसान के लिये कृषीवल शब्द चला गया था (रजः कृष्यासुति परिषदो वलच्, ५।२।११२) इस नये शब्द ने वैदिक कृषि शब्द को हटा दिया था। कीनाश शब्द भी इस समय चालू न रह गया था। ब्राह्मण ग्रन्थो में कृषीवल शब्द नही मिलता।

---

१. पण्यानां शोभनं पण्यं कृषीणां बाधते कृषिः।
बहुकारं च सस्यानां वाह्ये वाह्यं तथा गवाम्॥ (शांतिपर्व, १८६।२०)
अर्थात् बिक्री की वस्तुओं में वह अच्छी है जो दुकान में सजी हो। खेती की सब प्रक्रियाओं में हल चलाना उत्तम कहा जाता है। हरी फसल के लिये निराना सर्वोत्तम है। वाहनों में बैल का वाहन बढ़िया है। यहाँ एक श्लोक में कृषि के दोनों अर्थ प्रयुक्त हुए हैं।

२. नाना क्रियाः कृषेरर्थाः नावश्यं कृषिर्विलेखन एव वर्तते। किं तर्हि, प्रतिविधानेऽपि वर्तते, यदसौ भक्तबीजबलीवर्दैः प्रतिविधानं करोति स कृष्यर्थः (भाष्य, ३।१।२६)।

भूमि और क्षेत्र—गाँव की भूमि कई प्रकार की होती थी जैसे हल्य या सीत्य, जो हल की जोत मे हो (४।४।९७), ऊषर (रेहाड़ या नोनी धरती ५।२।१०७), गोचर या चरागाह (३।३।११९)। व्रज (३।३।११९) और गोष्ठ (५।२।१८) भी उसके अङ्ग थे।

कृषियोग्य भूमि अलग-अलग क्षेत्रो मे बँटी रहती थी। ये खेत तरह-तरह के धान्य या फसलें बोने के काम मे आते थे (धान्याना भवने क्षेत्रे खञ् ५।२।१) खेतो के बटवारे से सूचित होता है कि नापजोख का प्रबन्ध था, जैसा कि सूत्र, (४।१।२३) में कहा है। क्षेत्र व्यापक शब्द था, उसी के अन्तर्गत केदार उस खेत को कहते थे जहाँ हरी फसल बोई गई हो और जिसमे पानी की सिंचाई होती हो। अर्थशास्त्र मे केदार शब्द आर्द्र खेतो के लिये प्रयुक्त हुआ है। जिस खेत मे हरी फसल खड़ी हो वह केदार कहा जाता था। वाल्मीकि ने लिखा है, 'सुग्रीव की बानरी सेना ऐसी सुशोभित थी, जैसे पके शालि के केदारो से पृथिवी सुहावनी लगती है' (यथा कलम केदारैः पक्वैरेव वसुन्धरा)। हरी फसल से लहलहाते खेतो का समूह कैदार्य या कैदारक कहा जाता था। प्राय॰ किसान रक्षा की दृष्टि से खलिहानो के लिये खेत पास-पास चुनते थे। ऐसे खलिहानो के समूह खल्या (४।२।५०) या खलिनी (४।२।५१) कहलाते थे। खेती योग्य भूमि साधारणत. कर्ष कही जाती थी (४।४।९७)। किन्तु जितनी वस्तुत. हल की जोत में आ गई हो उसे हल्य (४।४।९७) और सीत्य (४।४।९१) कहते थे।

हल्य—एक हल की जोत के लिये पर्याप्त भूमि हल्य कहलाती थी (हलस्य कर्षः हल्य., ४।४।९७, काशिका)। इसी सूत्र के उदाहरण में द्विहल्य और त्रिहल्य, अर्थात् एक हल की माप से दुगुनी, तिगुनी का भी उल्लेख है। वस्तुतः एक परिवार के भरण-पोषण के लिये पर्याप्त भूमि की इकाई को द्विहल्या कहते थे। इसे ही मध्यकाल मे दोहली या डोहली कहने लगे, जो भूमि मन्दिर आदि के साथ राज्य की ओर से लगा दी जाती थी। मनु ने 'कुल' परिमाण भूमि का उल्लेख किया है (मनु० ७।११९)। कुल्लूक के अनुसार यह दोहल जोत की भूमि थी। इसीलिये दान में दोहली भूमि देने की प्रथा चली जो एक कुटुम्ब के गुजारे के लिये काफी हो। एकहल धरती की माप पचीस सहस्र वर्ग हाथ (१$\frac{1}{3}$ एकड़) मानी जाती थी। इस हिसाब से द्विहल्य या दोहली भूमि २$\frac{2}{3}$ एकड होती थी। त्रिहल्य भूमि पूरे चार एकड होती थी। पतंजलि ने हल्य भूमि के अतिरिक्त परमहल्या का भी उल्लेख किया है, जो अवश्य ही उससे भी बड़ा क्षेत्रफल होना चाहिए (१।१।७२ वा १६)। इसी प्रकार सीत्य और परमसीत्य का भी भाष्य मे उल्लेख है।

सीता—यह शब्द ऋग्वेद और उत्तरकालीन संहिताओ मे कृषि के देवता और हल की खूड या फाड़ के लिये प्रयुक्त हुआ है। शनै. शनै पहला अर्थ विलुप्त हो गया।

अर्थशास्त्र में केवल एक स्थान पर पुराना अर्थ है—सीता मे ह्रूष्यतां देवी बीजेषु च धनेषु च (२।२४)। शेष स्थानों में सीता का अर्थ विशेष रूप से राजा की भूमि की उपज है (अर्थ० २।१५) । अष्टाध्यायी में इस प्रकार का कोई विशिष्ट अर्थ नहीं मिलता। सीत्य उस खेत को कहते थे, जो हल की जोत में आ गया हो (सीतया संगतं क्षेत्रम् सीत्यम्, ४।४।९१)।

सास्य देवता प्रकरण में (४।२।२४–३२) शुन और सीर नामक प्राचीन देवताओं का उल्लेख है। कुछ लोग इन्हें वायु और आदित्य और कुछ उन्हें क्रमशः हल और उसके अग्रभाग में लगी हुई फाली मानते थे (वैदिक इंडेक्स, २।३८६)। इन देवताओं को दी जानेवाली हवि शुनासीरीय या शुनासीर्य कहलाती थी।

खेतों की नापजोख—किसानों के निजी खेत नापजोख के आधार पर एक दूसरे से बँटे हुए थे। काण्डान्तात् क्षेत्रे (४।१।२३) सूत्र में खेतों के क्षेत्रफल की माप बतानेवाले शब्दों की ओर संकेत है, जैसे द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः (द्विकाण्डे प्रमाण मस्या: क्षेत्रभक्ते) या त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः। काण्ड एक नाप थी (प्रमाण-विशेष: काण्डम्, काशिका) जिसकी लम्बाई सोलह हाथ मानी जाती थी (षोडशा-रत्न्यायामो दण्ड: काण्डम्, बालमनोरमा; अरत्नि = दो वितस्ति या २४ अंगुल = १८ इञ्च)। इस प्रकार एक काण्ड खेत २४ फुट से २४ फुट हुआ। द्विकाण्ड क्षेत्रफल = ४८ × २४ वर्गफुट या १२८ वर्ग गज; और त्रिकाण्ड = ७२ × २४ वर्गफुट या १९२ वर्ग गज हुआ।

क्षेत्रकर (३।२।२१)—'खेत बनानेवाला' यह उस अधिकारी की संज्ञा थी जो खेतों की नाप-जोख करता था। मेगस्थने ने ऐसे राजपुरुषों का उल्लेख किया है जो भूमि का लगान निश्चित करने अर्थात् बंदोबस्त के लिये खेतों की नाप-जोख करते थे (मेगस्थने का ग्रन्थाश, ३४)। जातकों में जिसे रज्जुग्राहक कहा है वही यह हो सकता है। उसका पद अमात्य का था। वह अपनी रज्जु के एक छोर पर खूंटा पिरोकर उसे खेत के सिरे पर गाडता था और खेत का मालिक दूसरा सिरा पकड़ कर खेत की नाप करवाता था (कुरुधम्म जातक २।३७६)।

खेतों का नाम—खेतों का नाम उनमें बोई जाने वाली फसल से (धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्, ५।२।१–४) या, बोने के लिये आवश्यक बीज की तोल से (तस्य-वापः, ५।१।४५-४६) पड़ता था।

धान्यों के अनुसार खेतों के ये नाम थे—व्रैहेय (व्रीहि या धान का खेत), शालेय (शालि या जडहन का खेत, व्रीहिशाल्योर्ढक् , ५।२।२); यव्य (जौ का खेत), यवक्य (यवक नमक चावल का खेत), षष्टिक्य (साठी का खेत, ५।२।३), तिल्य-तैलीन (तिल का खेत), माष्य-माषीण (उडद का खेत जिसे लोक में मसीना कहते हैं),

उम्य-औमीन (असली का खेत), भग्य-भागीन (भाग का खेत), अणव्य-आणवीन (चीना का खेत, ५।२।४)।

बीज के आधार पर खेत के नाम के उदाहरण प्रास्थिक (२½ पाव) द्रौणिक (१० सेर) खारीक (४ मन) हैं (काशिका ५।१।४५)। पाणिनि ने पात्रिक खेत का विशेष उल्लेख किया है (५।१।४६), पात्रिक क्षेत्रं, पात्रिकी क्षेत्र भक्तिः। चरक ने पात्र को आढक का पर्याय कहा है जो २½ सेर का होता था। किस धान्य का बीघे मे कितना बीज पड़ेगा इसका एक मोटा हिसाब किसान रखते हैं, जैसे बाजरा एक पाव और मक्का तीन पाव प्रति कच्चे बीघे मे। इसी आधार पर खेत की माप का अनुमान बीज से लगा लिया जाता है।

जो खेत जिस धान्य की फसल के लिये अधिक उपयुक्त हो, उससे भी उसका नाम पड़ जाता था, जैसे यव्य (जौ के लिये), माष्य (उडद के लिये), तिल्य (तिल के लिये उपयुक्त खेत, ५।१।७, खल यव माषतिल वृष ब्रह्मणश्च)। किसान अपने कई खेतो की चक मे से खलिहान के लिये ऐसा विशेष खेत चुन लेता था जिसमें कुछ छाया हो और जो ऊँचे पर हो। उसे खल्य कहा जाता था।

खेती के उपकरण, हल—हल का कई सूत्रो में उल्लेख है (३।२।१८३; ४।३।१२४; ४।४।८१; ६।३।८९)। वैदिक लागल शब्द सूत्र मे नही है, पर सूत्र ६।२।१८७ के सीर नामो मे उसका अन्तर्भाव है। बडा हल हलि कहलाता था (३।१।११७)। उसे जित्य भी कहा गया है (३।१।११७) अवधी भाषा में अभी तक हरी और जीत शब्द सुरक्षित रह गए हैं। खेती मे हल के साझे के लिये ये शब्द चलते हैं (कार्नेगी, कचहरी टेकनीकैलिटीज, इलाहाबाद, १८७७, पृ० १४)। सम्भवतः नई पडती धरती को तोडने के लिये जित्य हल काम मे लाया जाता था। ईख बोने के लिये खेत में चौड़ी खूड बनाने के लिये बडा हल चलाते हैं। उसके पडौथे में गन्नों के टुकड़े बाँध कर उसे भारी बना लेते हैं। उन्नाव की ओर उसे सीर और शाहजहाँपुर में हरी कहते हैं। यही पाणिनि का हलि ज्ञात होता है।

पाणिनि ने तीन तरह के किसान कहे हैं—(१) अहलि, जिनके पास निज का हल न हो, इन्हें अपहल, अपसीर, अपलागल भी कहते थे, (६।२।१८७); (२) सुहल-सुहलि, बढ़िया हल रखनेवाले; (३) दुर्हल-दुर्हलि, जिनका हल पुराना पड़कर घिस गया हो (जिसे देशी भाषा मे गलत्थिअ कहा जाता है, देशी नाम माला २।७२; मेरठ की बोली मे गलोथिया घिसा हुआ पडौथा जो चौड़ाई में कम पड़ गया हो)। 'स्वस्ति भवते सहहलाय, सहलाय' किसान के लिये यह सुन्दर आशीर्वाद वाक्य था (कात्यायन)।

हल के तीन भाग होते थे, ईषा या हलस (सं० हलीषा), बीच का भाग पोत्र

(३।२।१८३) और लोहे की बनी (अयोविकार) कुशी जो फाल या फलके में जुड़ी रहती है (४।१।४२)। वेद में इसे फाल कहते थे।

हल चलानेवाले बैल हालिक या सैरिक कहे जाते थे (४।४।८१; ४।४।८०)। उन्हें योत्र या योक्त्र (जोत) से जुए में कसा जाता था (३।२।१८२)। नद्ध्री या नद्धी (नाड़ी) वह चमड़े की रस्सी थी जिससे जुए को हल से जोड़ते हैं (३।२।१८२)। खंडिकादि गण में (४।२।४५) युग-वरत्रा (जुआ और बरत) का नाम उल्लिखित है जो सिंचाई के लिये कुआँ चलाते समय एक साथ काम आती हैं। पैना या चाबुक व्यज (३।३।११९) या तोत्र (३।२।१८२); फरसा खनित्र (३।२।१८४), आखान या आखन (३।३।१२५); घास निराने की कुदाली स्तम्बघ्न (३।३।८३), हँसिया या दाँती दात्र (३।२।१८२) या लवित्र (३।२।१८४) कहलाती थी। दात्र वैदिक और लवित्र नया शब्द था। यास्क के अनुसार उदीच्य देश में जो दात्र था वही प्राच्य देश में दाति (= दात्र) कहलाता था (निरुक्त २।२)।

कृषिकर्म—शतपथ के अनुसार खेती का पूरा स्वरूप यह है, जोतना, बोना, काटना, मड़ाई करना (कृषन्तः, वपन्तः, लुनन्तः, मृणन्तः, श० १।६।१।३) प्रत्येक के विषय में सूत्रों की सामग्री इस प्रकार है—

(१) जोतना या कर्ष—जोतने के लिये कृषति धातु थी (कृष विलेखने)। आजकल हिन्दी में 'काढ़ना' 'खेंचना' दोनों क्रिया जोतने के अर्थ में भी व्यवहृत होती हैं। 'हलयति' यह नया शब्द चल गया था (हलिं गृह्णाति हलयति, ३।१।२१)। भाष्य में लिखा है कि किस प्रकार खेत का स्वामी एक ओर बैठा रहता और उसके मजदूर पांच-पांच हलों से उसके लिये खेत जोतते (एकान्ते तूष्णीमासीन उत्स्वेदे पंचभिर्हलैः कृषतीति। तत्र भवितव्य पंचभिर्हलैः कर्षयतीति, ३।१।२६, वा० ९)। खेतिहर मजूरों को क्षेत्रस्वामी उचित समय पर भक्त या भोजन देता था।

यूनानी लेखक भारत में आने पर यहाँ की भूमि की उपजाऊ शक्ति और किसानों के कौशल देखकर चकित हुए थे (अरिअन, ५।६)। उन्होंने जुताई के विषय में लोगों की सावधानी का भी उल्लेख किया है (मेगस्थने)। पाणिनि में इसका संकेत है कि खेत की जुताई करने या भूमि कमाने में किसान कितना श्रम करते थे। दो बार की जोत के लिये द्वितीया करोति, और तीन बार की जोत के लिये तृतीया करोति (५।४।५८) शब्द चलते थे। आजकल इन्हें 'दूसरे करना', 'तीसरे करना' कहते हैं जो पुराने शब्दों के ज्यों के त्यों अनुवाद हैं। अधिक बार की जोत के लिये भी सूत्र में विधान है, पर दो-तीन बार की जोत मामूली बात थी, अतएव उसके लिये भाषा में विशेष शब्द चल गए थे। आजकल तीसरी बाह के लिये तेस शब्द भी चलता है। उससे भी गहरी फाड़ के लिये हल को उल्टा चलाते थे जिसे 'शम्बाकरोति' (५।४।५८) कहा जाता था (अनुलोमकृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रति लोमं कृषतीत्यर्थः, काशिका)।

(२) बोना (वाप)—जुताई के बाद खेत बोने लायक (वाप्य) हो जाता है (३।१।१२६, यहाँ वप् धातु से 'आवश्यक' अर्थ मे ण्यत् प्रत्यय का विधान है)। पहले खेत को दो तीन बाह देकर छोड़ देते हैं। फिर जब बोने का समय आता है तब जोतकर बीज डालते हैं। ऐसा ही खेत 'वाप्य' कहलाता था। हिन्दी में इसे कहते हैं खेत जुताई आ रहा है, या केवल 'खेत आ रहा है', अर्थात् जुताई के लिये धरती बिल्कुल तैयार है, तंत पर आ गई है, बोना आवश्यक हो गया है। किसान मानते हैं कि जैसे ऋतु पर गाय-भैंस हरी होने के लिये आकुल होती हैं वैसे ही धरती भी। बुआई के कई प्रकार हैं, जैसे वैंर, पवेड या छीट, चोवली। हल चलाते समय बीज खूड मे गिरता जाय इसे वैंर की बुआई कहते हैं। खेत मे बीज छीट कर हल चलाने का नाम पवेड की बुवाई है। जोती हुई धरती मे बीज को हाथ से गाड़ना चोवली कहलाता है। सूत्र ५।४।५८ में 'बीजा करोति' प्रयोग बताया गया है, जिसका तात्पर्य पवेड की बुआई से ही जान पडता है (सह बीजेन विलेखनं करोतीत्यर्थ; काशिका)। भाष्य मे एक स्थान पर दो धान्यो को मिलाकर बोने का भी उल्लेख है। अब भी किसान मिलवाँ फसल बोते हैं, जैसे तिलो के साथ उडद मिलाकर बोते हैं। इसमे यह देखना होता है कि कौन फसल प्रधान है, कौन गौण, क्योकि खेत की जुताई-गुडाई आदि उसी हिसाब से करनी आवश्यक होती है। बोते समय दूसरी फसल का बीज आनुषंगिक रूप से मिलाकर बो या छीट दिया जाता है और समझा जाता है कि हो जायगा तो हो जायगा।[1]

कृषिकर्म का सम्बन्ध माता भूमि से है। उसके लिये शुभ मुहूर्त देखकर बुवाई की जाती है। पाणिनि ने आश्वयुजी पौर्णमासी का बुवाई के सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेख किया है (आश्वयुज्या वुञ् , ४।३।४५)। उस दिन बोए हुए उड़द आश्वयुजक माष कहलाते थे। कौटिल्य ने भी मूँग, उड़द आदि छीमी धान्य को 'मध्यवाप' अर्थात् सावनी और कातिकी के बीच की बुवाई के योग्य माना है (अर्थ० २।२४)। उप्ते च सूत्र (४।३।४४) के उदाहरण में हैमन्त जौ और ग्रैष्म व्रीहि का उल्लेख है।

(३) लवनी—जो खेत कटाई या लवनी के लिये बिलकुल तैयार हो वह लाव्य कहलाता था (३।१।१२५, काशिका)। लवनी दात्र या लवित्र से की जाती थी (३।२।१८२; १८४)। लवनी को अभिलाव कहते थे (३।३।२८, निरभ्योः पूल्वोः) आजलक खेतिहरों की भाषा मे इसे लाव कहते हैं। लाव के समय खेतो में बड़ी

---

१. इदं चाप्युदाहरणं तिलैः सह माषान् वपतीति। ननु चोक्तं तिलैर्मिश्रीकृत्य माषा उप्यन्ते तत्र करण इत्येव सिद्धमिति। भवेत्सिद्ध यथा तिलैर्मिश्रीकृत्योप्येरन्। यदा तु खलु कस्यचिन्माष-बीजावाप उपस्थितस्तदर्थं च क्षेत्रमुपार्जित तत्रान्यदपि किंचिदुप्यते यदि भविष्यति भविष्यतीति तदा न सिद्धयति (२।३।१९, सहयुक्तेऽप्रधाने पर भाष्य)।

चहल-पहल रहती है। कटाई करनेवाले लावक या [illegible] (३।१।१४९) [illegible] जिन्हें आजकल लाया कहते हैं। कटाई [illegible] (खेत मे घास लग गई, घुन् = काटना)। [illegible] छिटपुट की जाती है, [illegible] 'दुर्लविका' [illegible] लवने, ६।१।१४०)। काशिका ने लिखा है कि [illegible] ही चाल थी (उपस्कारं मद्रका लुनन्ति; [illegible]) । [illegible] जैसी दालो के पौधों को जड़ से उखाड़कर [illegible] का उल्टा मूल्य कहते थे (मूलमस्याबर्हि, ४।४।८८)।

(४) मणनी (निष्पाव, ३।३।२८)—[illegible] खलिहान के लिये चुना हुआ खेत खल (५।१।७) [illegible] जाता था। इसीलिये खलीकृत का अर्थ हो गया [illegible] हुआ। [illegible] समूह खल्या (४।२।५०) या [illegible] (४।२।५१)। [illegible] लिखा है कि जहाँतक हो खलिहानों को एक [illegible] चाहिए ([illegible] कुर्यान्मण्डलान्ते समाश्रितान्, २।२४)।

मणनी के बाद अनाज की बरसाई की जाती थी ([illegible], ३।३।२८, [illegible] धान्यस्य, निकारो धान्यस्य)। खेत-खलिहान का एक [illegible] निम्नलिखित दस शब्दों में सूत्रकार ने उतार दिया है[1]—

१. लूयमानयव—वह समय जब जौ के खेत में लाव लगी हो (लूयमाना यवा यत्रकाले स लूयमानयवम्, वर्धमानकृत गणरत्नमहोदधि, २।१४)।

२. लूनयव—पहले के बाद का वह समय जब कटाई हो चुकी हो।

३. पूयमानयव—जब खलिहान में मणनी और बरसाई हो रही हो।

४. पूतयव—जब बरसाई हो चुकी हो।

५. खलेयव—जब खलिहान में जौ की रास अलग लगी हो।

६. खलेबुस—जब खलिहान में भूसे का ढेर अलग लग गया हो।

७. संह्रियमाणयव—जब रास को ढोकर घर ले जा रहे हों।

८. संहृतयव—जब रास खलिहान से उठकर कोठार में पहुँच चुकी हो।

९. संह्रियमाणबुस—जब भूसे को खलिहान से हटाकर भुसौले में ढो रहे हों।

१०. संहृतबुस—वह अन्तिम समय जब भूसा भुसौले में पहुँचा और किसान खेत-बयार के काम से छुट्टी पा गया हो।

कौटिल्य मे भी लिखा है कि जैसे ही फसल तैयार होती जाय उसे कोठार में भेज देना चाहिए। बुद्धिमान् को चाहिए कि खेत मे कुछ न छोड़े, पयार तक नहीं

[1] तिष्ठद्गु गण (२।१।१७); कात्यायन के वार्तिक (खलेयवादीनि प्रथमान्तानि अन्यपदार्थे) और उसपर भाष्य से सिद्ध होता है कि इन दसों शब्दों को पाणिनि ने ही गण में रक्खा था।

(अर्थ० २।२४)। पाणिनि की यह शब्दावली जौ की खेती से ली गई है। अनुमान होता है कि मद्रदेश की भाषा मे यह बनी होगी, जहाँ जौ की खेती सर्वप्रधान थी। भाष्य मे मद्र और उशीनर में जौ की समृद्धि का उल्लेख है, मगध मे चावलो का (उशीनर वन्मद्रेषु यवाः, १।१।५७ वा० ६; तानेवशालीन्भुञ्जमहे ये मगधेषु, शिवसूत्र २ पर वा० १६)। जौ की फसल का महत्त्व इससे भी ज्ञात होता है कि पाणिनि ने ऐसे ऋण का उल्लेख किया है जो इस शर्त पर दिया जाता था कि जौ के भूसे से उसका भुगतान कर दिया जायगा। उसे यवबुसक कहते थे (४।३।४८)। पतजलि ने लिखा है कि अकेली जौ या धान की उपज तगडी हो जाय तो किसान की जय है (एको व्रीहि सम्पन्न सुभिक्ष करोति; एको यव सम्पन्न. सुभिक्ष करोति, १।२।५८ वा० ४)। प्राच्यदेश मे धान और उदीच्य में जौ, ये ही उस समय की मुख्य फसलें थीं। जौ के खेतो की रखवाली के लिये यवपाल नामक विशेष अधिकारी रक्खे जाते थे (गो-तन्ति-यवं पाले, ६।२।७८)। भाष्य मे हिरनो के झुण्ड से जौ की खेती को संशय लिखा है (न च मृगाः सन्तीति यवा नोप्यन्ते, १।१।३९, वा० १६)।

वृष्टि—बरसात को प्रावृट् (४।३।२६; ६।३।१४) और वर्षा (४।३।१८) कहा गया है। वर्षा के पूर्व भाग के लिये प्रावृट् विशिष्ट शब्द था (हाप्किन्स, एपिक क्रोनोलाजी, जे ए ओ एस०, १९०३, पृ० २६)। सावन भादो के महीनो मे पहले को पूर्व वर्षा और दूसरे को अपर वर्षा कहा जाता था (अवयवादृतोः, ७।३।११)। वृष्टि की नाप वर्ष-प्रमाण कही जाती थी (३।४।३२)। वह दो तरह की थी, एक तो जिसमे खेत की खूडें पानी से लबालब भर जायँ और सारे खेत मे पानी उतिराने लगे–सीतापूर वृष्टो देव (वर्षप्रमाण ऊलोपश्चान्यतरस्याम्, ३।४।३२, काशिका)। दूसरे जिससे खेत मे पड़े हुए खुर के निशानमात्र पानी से भरे—गोष्पदपूरं वृष्टो देवः (भाष्य, २।४।३३ पर)। पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रयोग में गोष्पद से प्रमाण लिया जाता था (गोष्पदं सेवितासेवित प्रमाणेषु, ६।१।१४५; काशिका नात्र गोष्पदं स्वार्थ प्रतिपादनार्थं मुपादीयते, किंतर्हि क्षेत्रस्य वृष्टेश्च)। कौटिल्य ने जागल अनूप आदि प्रदेशो मे वर्ष प्रमाण का उल्लेख किया है। वृष्टि का न होना या सूखा पड़ जाना (वर्ष प्रतिबन्ध) अवग्रह कहलाता था (३।३।५१)।[1] मेगस्थने ने लिखा है कि भारत में दो बार वृष्टि और दो फसलें होती थी। पाणिनि ने भी वासन्तकग्रैष्मक (खरीफ) और आश्वयुजक (असौज मे बोई जानेवाली और वसन्त मे पकने वाली, रबी) फसलो का उल्लेख किया है (४।३।४५-४६)।

सिंचाई—पाणिनि ने कई बडी-छोटी नदियो के नाम दिए हैं जिनसे सिंचाई होती होगी। भाष्य ने नहर या गूलों से धान के खेत सीचने का उल्लेख किया है

---

१. खेती के अन्य विघ्न, आखूत्थ, शलभोत्थ, श्येनोत्थ (भाष्य ३।२।४), चूहे, टिड्डी, बाज से भय।

(शाल्यर्थं कुल्या. प्रणीयन्ते, १।१।२४)। मद्र देश की देविका नदी के तट पर बरसात में छोड़ी हुई रौमली मिट्टी की तह शालि के लिये बहुत अच्छी समझी जाती थी (७।३।१)। कुओं से भी सिंचाई होती थी। चरस या मोट के लिये उदञ्चन शब्द आया है (३।३।१२३, उदकोऽनुदके में उदक के लिये उदचन का विधान है)। गण-पाठ में युगवरत्रा का पाठ है (४।२।४५) जिसकी आवश्यकता कुएं की सिंचाई में बैलों को जोतने और मोट उठाने के लिये होती है।

सस्य या फसलें—दो प्रकार की थीं, कृष्टपच्य (३।१।११४) जो खेती से उत्पन्न हो; अकृष्टपच्य जैसे नीवार आदि जंगली धान्य। बोने के समय (उप्तेच, ४।३।४४-४६) और पकने के समय (४।३।४३) के आधार पर भी फसलों का नाम पड़ता था। बोने के हिसाब से फसलें तीन होती थीं—(१) आश्वयुज या आश्विन में बोई गई असौजी (आश्वयुज्या वुञ्, ४।३।४५); (२) ग्रीष्म में बोई ग्रैष्म या ग्रैष्मकः और (३) वसन्त में बोई गई वासन्त या वासन्तक (ग्रीष्म वसन्तादन्यतरस्याम्, ४।३।४६)। असौजी में जौ गेहूं प्रधान हैं जो कातिक में बोए जाते हैं और वसन्त में पकते हैं। वसन्त की बोई फसल बरसात में पकती है। ग्रीष्म में बोई हुई शरद् या अगहन में पकती है।

कौटिल्य में भी ऋतु के अनुसार कई फसल होने का उल्लेख है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है। वार्षिक सस्य के बाद हैमन-मुष्टि मार्गशीर्ष में, हैमन सस्य के बाद वासन्तिक मुष्टि चैत्र में, वासन्तिक सस्य के बाद वार्षिक मुष्टि ज्येष्ठ में तैयार होती थी। कौटिल्य के शब्दों में सस्य और मुष्टि वही है जिन्हें पाणिनि ने वाप और पच्यमान कहा है। दोनों का तुलनात्मक परिचय इस प्रकार है—

वाप काल के अनुसार कौटिल्य में सस्य का नाम	बोने या वाप के अनुसार पाणिनि में फसल का नाम	पच्यमान काल के अनुसार मुष्टि (पकी फसल) का नाम	पकने का काल
१ वार्षिक सस्य	ग्रैष्म, ग्रैष्मक (४।३।४६)	हैमन मुष्टि	मार्गशीर्ष
२ हैमन सस्य	आश्व युजक (४।३।४५)	वासन्तिक मुष्टि	चैत्र
३ वासन्तिक सस्य	वासन्त, वासन्तिक (४।३।४६)	वार्षिक मुष्टि	ज्येष्ठ

पहिले और दूसरे स्तम्भ मिलते हैं। केवल इतना अन्तर है कि पाणिनि में जहाँ ग्रीष्म ऋतु मे बोई हुई फसल का उल्लेख है वहाँ अर्थशास्त्र में बरसात की फसल का। वैसे कौटिल्य के समय में भी गरमी मे कुछ फसलें बोई जाती थीं जिनका उसमें ग्रैष्मिक सस्य के नाम से उल्लेख किया है (कर्मोदक प्रमाणेन हैमनं ग्रैष्मकं वा सस्यं स्थापयेत् , अर्थ० २।२४)। किन्तु ग्रैष्मक सस्य में किसानो को बहुत श्रम करना पड़ता था, इसलिए अर्थशास्त्र में कहा है कि राजा के लिए जब अन्य आय के साधन कम हो तब ही उसके समाहर्ता लोग किसानो को ग्रीष्म की खेती के लिए प्रेरित करें। (तस्याकरणे वा समाहर्तृपुरुषा ग्रीष्मे कर्षकाणामुद्वाप कारयेयुः, अर्थ० ५।२)।

खेती की उपज—

धान्य—धान्यों मे निम्नलिखित का उल्लेख है—

व्रीहि और शालि के खेत पृथक्-पृथक् होते थे जो व्रैहेय और शालेय नामो से पहिचाने जाते थे (व्रीहिशाल्योर्ढक् ५।२।२)। व्रीहि बरसात में बोया जाने वाला धान था जो कातिक मे तैयार होता था। जिसके यहाँ व्रीहि या धान की उपज अच्छी होती उसे व्रीहिमान् , व्रीहिक या व्रीही कहते थे (व्रीह्यादिभ्यश्च ५।२।११६)। इन शब्दो से जनपदीय ससार के धनी व्यक्ति का बोध होता था। व्रीहिमान् के लिये ही बहुव्रीहि शब्द पहले प्रचलित था जो पीछे समास का नाम मान लिया गया। तैत्तिरीय सहिता (७।२।१०।२) के अनुसार व्रीहि शरद् में पककर तैयार होता था। एक सूत्र में व्रीहि से बननेवाले पुरोडाश को व्रीहिमय कहा गया है। (व्रीहेः पुरा-डाशे, ४।३।१४६)।

निम्नलिखित चावलो का उल्लेख है—

शालि (५।२।२)—अर्थशास्त्र में भी शालि को व्रीहि से भिन्न माना गया है। यह उखाडकर फिर से रोपा जाने वाला जडहन था। शालि की फसल शीत ऋतु में पकती थी[1]। शालि की अपेक्षा व्रीहि प्राचीन शब्द था। उसे ग्राम्य धान्य या कृष्ट पच्य अन्नो में सबसे पहिला मानते थे (यजु० २८।१२; बृ० उप०, ६।३।१३)। पतञ्जलि ने लोहित शालि (२।१।६९ वा० ५) का उल्लेख किया है। आज भी भदई धानो मे कई धान लाल होते हैं जैसे लालचू, सजनी जो ईंगुर के ऐसा लाल होता है। ऐसे ही शालि या अगहनी धानो में भी रजनेत ललदेहया और बगरी आदि हैं। बगरी का छिलका काला पर चावल लाल होता है। जिसे जायसी ने रितुमारी कहा है (पदमावत ५४४।३) सम्भवत. वह रक्तशालि या लोहित शालि ही था जो रत्त शालि>रत्त सारि>रितुसारि बन गया।

---

१. वाल्मीकि में हेमन्त ऋतु में शालि का वर्णन इस प्रकार है—

खर्जूरपुष्पाकृतिभिः शिरोभिः पूर्णतण्डुलैः।

शोभन्ते किंचिदालम्बाः शालयः कनकप्रभाः॥ अरण्यकांड १६।१।

महाव्रीहि (६।२।३८)—महाव्रीहि पाणिनि के समय मे प्रसिद्ध धान्य था जिसका उल्लेख तैत्तिरीय संहिता (३।१।५।२) में भी आया है। इसके अतिरिक्त हायन षष्टिक नीवार (अकृष्टपच्य) धान्यो का भी उल्लेख है। कात्यायन के अनुसार साठी विशेष चावल का ही नाम था। और कोई फसल साठ दिन मे पकने से साठी नहीं कही जा सकती (षष्टिके संज्ञाग्रहणम् ५।१।९०)।

अन्य धान्यो में जौ, मूंग, माष, तिल, अणु, कुल्त्थ (४।४।४) का उल्लेख है। यवानी (४।१।४९) को कात्यायन ने निकृष्ट जौ कहा है। जौ के खेत यव्य (५।१।७) और युवक संज्ञक चावल के यवक्य (५।२।३) कहलाते थे। मुद्ग और माष का उल्लेख पाणिनि से पहिले ही वाजसनेयी संहिता में आता है। (१८।१२)। माष के खेत माष या माषीण कहलाते थे। आज भी देहातो मे उसकी फसल मासीना कही जाती है। सूत्र ४।४।८८ (मूलमस्यावर्हि) पर काशिका में मुद्ग और माष को मूल्य कहा है। पकने पर इनके पौधे जड़ से उखाड़ लिए जाते थे और फिर उनकी छीमियाँ काट ली जाती थी। वॉट ने अपने कोश मे लिखा है माष का खेत कही तो काटा जाता है और कहीं पर जैसे पश्चिमी जिलो में, पौधो को उखाड़ लेते हैं (आर्थिक उपज का कोश, जिल्द ६, भाग १, पृ० १८९)। जौ, उड़द और तिल के लिये जो खाद या खेत अच्छा हो उसे यव्य, माष्य या तिल्य कहा जाता था। भाष्य मे कृष्ण तिलो का नाम है। पाणिनि में काले या सफेद तिलो का अलग-अलग उल्लेख नही है, पर श्राद्ध कर्म मे उपयोगी तिलो का नाम आया है जो प्राय. काले होते हैं (४।६।७१; ४।२।५८)। मूल मे तैल शब्द तिल के तेल के लिये ही प्रयुक्त होता था (४।३।१४९, असंज्ञाया तिलयवाभ्याम्), किन्तु बाद मे वैयाकरणो ने सर्षप तैल, इगुदी तैल इन प्रयोगो को भी समीचीन माना (५।२।२९ भाष्य)। तैल शब्द का प्रयोग प्रत्यय के समान किया जाने लगा (तैलशब्दश्च प्रत्ययो वक्तव्य')। षष्टिक की भाँति कुलत्थ (हिन्दी कुलथी) शब्द भी पहिली वार अष्टाध्यायी मे आया है। इसकी दाल या सत्तू बनाकर खाए जाते हैं, किन्तु पाणिनी मे तड़का आदि देने के लिये सस्कारक द्रव्यो मे उसका उल्लेख किया है (कुलत्थकोपधादण् ४।४।४; कुलत्थैः संस्कृतं कौलत्थम्)। बिल्वादि गण (४।३।१३६) मे मसूर, गोधूम, गवेधुका (हिन्दी गड़हेरुआ या गोमी) का भी उल्लेख है।

उमा-भङ्गा—उमा और भङ्गा अर्थात् अलसी और भाँग के खेतो का उल्लेख है। कौटिल्य मे उनकी जगह अतसी और शण का नाम है। उमा या अलसी से वने हुए वस्त्र औम या औमक और ऊन से वने हुए और्ण था और्णक कहलाते थे। (उमोर्णयोर्वा, ४।३।१५८)। कपास का उल्लेख किसी सूत्र में नही है, किन्तु बिल्वादिगण (४।३।१३४) में कर्पास का पाठ है।

अष्टाध्यायी मे उमा और भङ्गा का उल्लेख धान्य के प्रकरण मे आया है। कुछ

वैयाकरण इन्हे धान्य मानने पर आनाकानी करते थे । पतंजलि ने बीच-बचाव किया है कि धान्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करें तो धान्य वह है जिसकी बढ़िया फसल देखकर चित्त प्रसन्न हो जाय । सो उमा भङ्गा से भी चित्त प्रसन्न होता ही है (धिनोतेर्धान्यम् एते चाभिधिनुतः) इसलिये इन्हे धान्य मानने मे क्या आपत्ति हो सकती है ? पर सच्ची बात यह थी कि पुराने समय मे जो मुख्य फसलें होती थीं उनकी गिनती करके सत्रह धान्यो की सूची बना ली गई थी, जिनमें सन भी था (षणसप्तदशानि धान्यानि) । अतएव पाणिनिसूत्र के लिये, उमा या भङ्गा को धान्य मानने में कोई आपत्ति नही हो सकती (भाष्य, ५।२।४) ।

इक्षु—एक ओर तो ईख की नियमित खेती होती थी, दूसरी ओर ज्ञात होता है उसके जङ्गल भी थे जिन्हें इक्षुवण कहा गया है, (८।४।५) । खेतीवाले गन्नो का चुनाव करके उन्हें बोते थे जिससे उनका गुड अच्छा बैठे (गुडादिभ्यष्ठञ् ४।४।१०३, गुडे साधुर्गौडिक इक्षु) आज भी किसान जानते हैं कि सरौती ईख गुड के लिये अच्छी होती है । पुराने समय में सरौती, मनगो, डकचन, बाँसपत्ती आदि कई प्रकार की ईखें हुआ करती थीं । काण्ठेक्षु पौण्ड्रक, वंशक आदि गन्नो का कोशों मे उल्लेख है । इनमें काष्ठेक्षु और वंशक (बाँसपत्ती) जंगली ईख थीं जिसके जंगलो के लिये इक्षुवण शब्द प्रचलित था । किसानो से बोई जानेवाली ईख के खेत इक्षुशाकट और इक्षुशाकिन कहलाते थे (भाष्य ५।२।२९) ।

कुस्तुम्बुरु (६।१।१४३ कुस्तुम्बुरूणि जातिः)—धनिये के लिये संस्कृत का यह विचित्र शब्द दक्षिण भारत की भाषाओ से लिया गया था । इसे कन्नड़ मे कोतम्बरि, तेलुगू में कोत्तिमिरि और तमिल मे कोत्तमल्लि कहते हैं ।

रङ्ग—मञ्जिष्ठ (८।३।९७) और नीली (४।१।४२) का उल्लेख सूत्रो में आया है । मञ्जिष्ठ या मँजीठ नाम ऐतरेय आरण्यक ३।२।४ और शाङ्खायन आरण्यक ८।४ में आया है । पाणिनि ने इसकी व्युत्पत्ति मञ्जि—स्थ दी है । मञ्जि का अर्थ मञ्जरी ज्ञात होता है । मँजीठ की उत्पत्ति अधिकतर अफगानिस्तान (प्राचीन गन्धार) मे होती है जहाँ से लोहानी अफगान उसे लाकर बेचते हैं । नीली शब्द पाणिनि ने नील के पौधे को नीली और उससे रंगी साडी को नीला कहा है (४।१।४२ नीला दोषधौ नील्योषधि , कात्यायन) संस्कृत साहित्य मे यह उसका सर्वप्राचीन उल्लेख है । यूनानी लेखको के अनुसार नील की खेती सबसे पहिले बहुत प्राचीन काल में भारतवर्ष में ही की गई थी (पैरिप्लस, पृ० १७) ।

अध्याय ४, परिच्छेद २—ओषधि-वनस्पति

ओषधि-वनस्पतियो मे कुछ का उल्लेख पहली बार पाणिनीय सूत्रो मे मिलता है । पुष्प, पत्र, फल, मूल आदि के आधार पर ओषधियो के नामकरण का जो

अध्याय प्राचीन भारत में आरम्भ हुआ था, उसकी भी हल्की-सी रेखा इस चित्र मे है। ओषधि—वनस्पतियों के जंगल और वनो का भी उल्लेख आया है।

वन—इस शब्द के दो अर्थ थे, एक तो प्राकृतिक अरण्य जैसे पुरगावण, मिश्रकावण (८।४।४), दूसरे वृक्षों और फलो के जङ्गल या उद्यान, जैसे आम्रवण, खदिरवण, इक्षुवण जो सामान्य नाम थे (असंज्ञायामपि, ८।४।५)। बड़े प्राकृतिक वन को पाणिनि ने अरण्य (४।१।४९) और कात्यायन ने अरण्यानी कहा है।

वन दो प्रकार के थे, १ ओषधिवन, जैसे मूर्वावन, मूर्वावित और २ वनस्पतिवन, जैसे शिरीषवन, देवदारुवन (८।४।६, विभाषौषधिवनस्पतिभ्य.)।

ओषधि-वनस्पति—वनस्पति जगत् के दो विभाग किए गए हैं, ओषधि और वनस्पति। वनस्पति और वृक्ष दोनो एक दूसरे के पर्याय थे, जैसे ४।३।१३५ सूत्र मे (अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः)। कात्यायन इससे सहमत हैं (२।४।१२)। तृण और धान्य जिन्हें सूत्र २।४।१२ मे वृक्षो से अलग गिना है, ओषधि के अन्तर्गत आते थे।

पतञ्जलि ने 'मूल-स्कन्ध-फल-पलाशवान्' वाक्य मे वृक्ष के वितान का भव्य चित्र खींचा है (१।२।४५, वा० ९)। पाणिनि ने पर्ण, पुष्प, फल, मूल के आधार पर ओषधियों के नामकरण के सिद्धान्त का उल्लेख किया है (पाककर्णपर्णपुष्प फल मूल वालोत्तर पदाच्च, ४।१।६४)। उदाहरण के लिये, ओदनपाकी शंकुकर्णी शालपर्णी, शङ्खपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली, आदि। ये सब जड़ी बूटी और लताओ के नाम थे। फलों का नाम प्रायः वृक्षों के नाम से पड़ता था, जैसे आमलकी वृक्ष का फल आमलक, जम्बू वृक्ष का फल जम्बू (फले लुक् ४।३।१६३; लुक् तद्धितलुकि से ईकार का लोप)।

वृक्ष—वृक्षों के निम्नलिखित नाम सूत्रो में हैं—

(१) अश्वत्थ (४।३।४८; अश्वत्थ वृक्ष के फलने का समय भी अश्वत्थ कहा गया है); (२) न्यग्रोध (६।३।५; इसके लिये वट शब्द का भी प्रयोग होने लगा था जो वैदिक साहित्य में अज्ञात था, ६।२।८२); (३) प्लक्ष (४।३।१६४; इसका फल प्लाक्ष और जंगल प्लक्षवण, ८।४।५); (४) आम्रवण (यह आम्र का प्राचीनतम उल्लेख है); (५) पलाश (४।३।१४१, पलाशादिगण में अन्य वृक्ष खदिर, शिंशपा, चन्दन, करीर, शिरीष, विकंकट हैं); (६) विल्व (४।३।१३६); (७) खदिर (८।४।५ खदिरवण एक विशेष वन का नाम और खदिर वृक्ष का जंगल); (८) शिंशपा (७।३।१); (९) वरण (४।२।८२, हिन्दी वरना, वरण जातक के अनुसार गंधार देश में तक्षशिला के बाहर वरण वृक्षो का जंगल था); (१०) शमी (५।३।८८, ४।३।१४२, हिन्दी छोकरा या जंड, इसका छोटा पौधा शमीर या इससे बनी हुई चीजें शामील कहलाती थी); (११) पीलु (५।२।२४, ६।३।१२१, शमी और पीलु वाहीक देश में बहुत होते थे; पीलु वृक्ष के नीचे होने वाली घटनाओ और लेन देन को पैलमूल कहा

गया था, ५।१।९७। ज्ञात होता है कि चोरी और लूटपाट के कामो के लिये जो कि वाहीक देश में पीलु के जगलो मे प्राय' होते थे, इस तरह के शब्दो का प्रचलन भाषा मे था—पीलुमूले दीयते कार्यं वा पैलुमूलम्, ५।१।९७, व्युष्टादिगण); (१२) कार्श्य (८।४।५, शालवृक्ष, कार्श्यवण या शालवृक्ष के जंगल तराई प्रदेश मे थे); (१३) पीयूक्षा (८।४।५, प्लक्ष जाति के वृक्षो का एक भेद, तालादि ४।३।५२ और काशादिगण ४।२।८० मे भी इसका पाठ है); (१४) ताल (४।३।१५२); (१५) जम्वू (४।३।१६५, फल जाम्बव या जम्बू); (१६) हारीतकी (४।३।१६६ फल भी हरीतकी); (१७) वश (५।१।५०, वेणु और मस्कर भी, ६।१।१५४); (१८) कारस्कर (६।१।१५६); (१९) सिध्रका (८।४।४, सामविधानब्राह्मण ३।६।९ और तैत्तिरीय ब्रा० ३।४।१० मे भी सैध्रिक वृक्ष का उल्लेख है। यह कत्थे की तरह का सा वृक्ष था); विष्टर (वृक्षासनयोर्विष्टर., ८।३।९३, यह कोई विशेष वृक्ष था, या सामान्य वृक्षवाची शब्द था, निश्चय नही)।

गणो मे भी कुछ वृक्षो के नाम हैं, यथा कर्कन्धू और वदर (५।२।२४), कुवल (५।२।२४), कुटज (५।१।५०), पाटली (४।३।१३६); पतंजलि के पाटलानि मूलानि उदाहरण से (४।३।१६६, वा० २) सिद्ध है कि यह विल्वादि गण में पढा गया था), विककत (४।३।१४१), इंगुदी (४।३।१६४), शाल्मली, (४।२।८२), उदुम्बर (४।३'१५२), नीप (४।३।१५२), दारु (पीतदारु या देवदारु, ४।३।१३९), रोहीतक (४।३।१५२), विभीतक (४।३।१५२), शिरीष (४।२।८०), स्यन्दन (४।३।१४१, अति प्राचीन वृक्ष जिसका ऋग्वेद में भी उल्लेख है, दृढ़ता के कारण रथ वनाने मे उपयोग होता था), कण्टकार (४।३।१५२), करीर (४।३।१४१, करीरप्रस्थ ग्राम का नाम ६।२।८७)।

तृण—सूत्रो में निम्नलिखित तृणो का उल्लेख है—शर (८।४।५, पाणिनि में शरवण और शरावती नदी का उल्लेख है, पतंजलि ने शर शीर्यम् २।४।१२ लिखा है जिसमे शीर्य ऋग्वेदकालीन १।१९१।३ सैर्य है); काश (४।२।८०, ६।२।८२); कुश (कुशाग्र ५।३।१०५, कुशल ५।२।६३); जैसे शब्दो मे अन्तर्निहित, स्त्रीलिंग कुशा ४।१।४२, पतजलि मे कुशकासम् नाम है, २।४।१२); मुज (३।१।११७, इसे सडा, विपूय, कर बान आदि वटते थे, इसकी सीक इषीका, ६।३।६५); नड (४।२।८७, नड्वान् ४।२।८८, नड्वल, ५।२।९१, नडकीय जैसे स्थान नामो मे; शाद (४।२।८८, एक घास), वेतस (४।२।८७); कत्तृण (६।३।१०३, अमर के अनुसार सौगन्धिक तृण, सम्भवत: वैदिक साहित्य का सुगन्धितेजन)।

इसके अतिरिक्त गणी में भी ये नाम हैं—वीरण जिसे उशीर भी कहा जाता था (४।५।५३, ४।२।८०, खस), वल्वज (४।२।८०, ४।३।१४४), दर्भ (४।३।१४२, २।४।११ में दर्भ शरम्), पूतिक (२।४।११, वैदिक साहित्य में प्रयुक्त)।

पुष्प (४।१।६४)—कुमुद (४।२।८०, ४।२।८७), पुष्कर (५।२।१३५, पुष्करादिगण मे पद्म, उत्पल, बिस, मृणाल पर्यायो का भी उल्लेख है)। हरीतक्यादि गण मे शेफालिका का नाम है (पारिजात या हरसिंगार)। पतंजलि ने उससे रगे हुए शैफालिक वस्त्र का उल्लेख किया है (५।३।५५ पर भाष्य)। पाणिनि के अनुसार पुष्पो के नाम उनके फूलने की ऋतु से रक्खे जाते थे (कालात् पुष्पत् ४।३।४३), जैसे वासन्ती कुन्दलता (कार्तिका)।

औषधि—सूत्र ४।१।६४ (पाक कर्ण पर्ण पुष्प मूल वालोत्तर पदाच्च) में संकेत है कि जड़ी बूटियो के नाम उनके पत्ते, फूल, मूल आदि की विशेषताओ के अनुसार रक्खे जाने लगे थे। अजादि गण (४।१।४) में त्रिफला का और भाष्य में ब्राह्मी का उल्लेख है (६।४।१७१)।

फल—सूत्र ४।३।१६३-६४ से सूचित होता है कि पाणिनि फल को वृक्षो से सम्बन्धित मानते हैं। किन्तु वार्तिक और भाष्य मे चावल, जौ, दाल, तिल आदि वार्षिक पौधो की उपज भी उनका फल माना गया है (फल पाक शुषामुपसंख्यानम्)। मनु के ओषधियो को फल पाकान्त कहने का भी यही भाव है (१।४६)। फलवाले वृक्षों को फलेग्रहि कहा जाता था (३।२।२६) फले लुक् सूत्र (४।३।१६३) मे भाषा के उस नियम की ओर संकेत किया गया है जिसके अनुसार वृक्ष और उसके फल का नाम प्राय. एक सा होता है।

आम्र, बिल्व, जम्बू का सूत्रो मे उल्लेख है। प्लक्ष और हरीतकी के नाम भी हैं। द्राक्षा का पाठ ४।३।१६७ के गण मे है। पाणिनि कृत कापिशायन के उल्लेख से भी उनके द्राक्षा से परिचित होने का संकेत मिलता है (४।२।९९)। माल्यादि और यवादि गणो मे (६।२।८८; ८।२।९) भी द्राक्षा का नाम है। दाडिम अर्धर्चादि गण मे है (२।४।३१) पर उसका सर्वप्राचीन पक्का प्रमाण भाष्य में मिलता है (१।२।४५, वा० १)।

पीलुकुण (५।२।२४)—पके पीलु फलों के लिये पाणिनि ने इस शब्द का उल्लेख किया है। शाहपुर खिउडा आदि जिलो की पंजाबी भाषा मे जहा प्राचीन कैकय प्रदेश था, यह शब्द जीवित है जहा उसे पिलकना कहते हैं। संस्कृत मे कुण प्रत्यय बहुत कम देखा जाता है। सूत्रकार ने अपने युग की जनपदीय भाषा से इस शब्द का सकलन किया था। जामुन मे भी इसी कुण प्रत्यय का अवशेष ज्ञात होता है।

अध्याय ४, परिच्छेद ३—पशु-पक्षी

वर्गीकरण—वस्तुओ के दो विभाग आचार्य ने किए हैं, प्राणी (४।३।१३५; १५४, या प्राणभृत् ५।१।१२९) और अप्राणी (२।४।६; ५।४।९७)। इन्हे ही चित्तवत् (५।१।८९) और अचित्त (४।२।४१) कहा गया है। उपनिषद् विचार-

धारा के अनुसार प्राण और चित्त ये ही जीवन की दो विशेषताएँ थी। प्राणभृत् संसार को पुनः मनुष्य (४।२।१३४) और पशु (३।३।६९) इन दो वर्गों मे बाटा गया है। फिर पशुओं के भी दो विभाग किए गए हैं, ग्राम्य पशु (१।२।७३) और आरण्य पशु (४।२।१२९)। परिमाण के आधार पर कुछ को क्षुद्रजन्तु (२।४।८), और भोजन के आधार पर कुछ को क्रव्याद् कहा गया है (३।२।६९)। पाणिनि से पूर्व के वर्गीकरण के कुछ सकेत ये थे—उभयतोदन्त-अन्यतोदन्त, द्विपाद् , चतुष्पाद् , एकशफ-द्विशफ। अष्टाध्यायी में मृग का अर्थ जंगली जानवर है (४।३।५१, ४।४।३५) पर सूत्र २।४।१२ मे वह हिरनो के लिये है, जैसे रुरु-पृषतम् (भाष्य)। चिड़ियो को पक्षी, शकुनि कहा गया है।

सूत्रो में निम्नलिखित पशुओ का उल्लेख है—

१ हस्ती (५।२।१३३), नाग या कुंजर (२।१।६२)। नदन्त हाथी को शुडार कहा है (५।३।८८)। हस्ती एक नाप भी थी जैसे द्विहस्ति, त्रिहस्ति शब्दो में (५।२।३८)। इसका विचार आगे परिच्छेद ८ में किया गया है। पाली हत्थि का भी अर्थ प्रमाणवाची था (मिलिन्द पन्ह)। दतैल हाथी को दन्तावल (५।२।११३) और हाथी दांत को केवल दन्त (दाँत) कहा जाता था। हाथी से भिड़कर उसे वश में करने की शारीरिक शक्ति वाला व्यक्ति हस्तिघ्न कहलाता था (३।२।५४, शक्तौ हस्ति-कपाटयोः)। बाण ने ऐसे महाकाय महाबली व्यक्ति को वंठ कहा है। सेना में या राजदरबार में उनकी मांग रहती थी। पतंजलि ने हाथी के रातिव को हस्तिविधा कहा है (२।१।६३, वा० ३)।

२. उष्ट्र (४।३।१५७)—ऊँटो के समूह को औष्ट्रक (४।२।३९), बच्चे को करभ और छोटे बच्चे को शृङ्खलक (शृङ्खल मस्य बंधनं करभे, ५।२।७९) कहते थे। साडनी सवार उष्ट्र-सादि और ऊट और खच्चर की मिली-जुली टुकडी उष्ट्रवामि (उष्ट्र· सादिवाम्योः ६।२।४०) कहलाती थी। ज्ञात होता है सेना में शीघ्र प्रयाण के लिये इनका उपयोग होता था।

ऊँट के बाल, खाल या आँतो में बने हुए पदार्थ या बर्तन (विकारावयव, ४।३।१५७) औष्ट्रक कहलाते थे। ऊँट के बालो से बनाई हुई गोणी और उनकी आँतो से बनाए हुए कुप्पे या कुप्पियो आदि की गणना इस शब्द में की जाती थी।

३ अश्व—घोडे और घोड़ी दोनो का सयुक्त नाम अश्व-वडव था (२।४।२७)। सूत्र ६।२।४२ में पठित पारेवडवा का तात्पर्य सिन्धु के उस पार की चचल बछेड़ियो से था जो उस युग से सुप्रसिद्ध रही हैं। कौटिल्य ने लिखा है कि उत्तम जाति के अश्व कम्बोज, बाल्हीक, सौवीर और सिन्धु से लाए जाते थे (अर्थ २।३०)।

हरण—घोड़ी के गरमाने को 'अश्वस्यति' कहा गया है (७।१।५१)। घोड़ा छलवाने का जो शुल्क देना पड़ता था उसके लिये हरण यह विशेष शब्द चलता था।

सप्तमी हारिणो धर्म्येऽहरणे सूत्र (६।२।६५) में हरण पारिभाषिक शब्द है। पहले समय से जो दंवेज अर्थात् दस्तूर या रिवाज से निश्चित देय या नेग(अनुवृत्तः आचारः) चले आते थे उन्हें धर्म्य कहा जाता था। उन्हीं मे एक देय हरण भी था। सप्तम्यन्त पदों से सूचित नेग जैसे 'मुकुटेकार्पापणम्' आदि के अर्थो पर आगे विचार किया जायगा (अ० ७, परि० २)। अहरण (जो हरण न हो) का प्रत्युदाहरण काशिका में वाडवहरण लिखा है।—वडवाया अयं वाडव., तस्य वीजंनिषेकादुत्तरकालं यद्-दीयते हरणमिति तदुच्यते, अर्थात् गर्भाधान करने के बाद नर घोड़े को जो रातिव आदि के लिये दिया जाय वह हरण है। यह नेग दस्तूर से बंधा हुआ होने के कारण धर्म्य था और उसका देना आवश्यक था। महाभारत मे हरण शब्द का कुछ व्यापक अर्थ है, अर्थात् विवाहोपरान्त प्रदत्त धन यौतुकादि। जब अर्जुन सुभद्रा को हर ले गया तो सुभद्रा के ज्ञाति बन्धु कृष्ण आदि यादव अर्जुन के लिये बहुत सा 'हरण' द्रव्य लेकर इन्द्रप्रस्थ देने गए (हरणं वै सुभद्राया ज्ञाति देयं, आदि २३३।४४)। इस सूत्र का वाडवहरण प्रत्युदाहरण मूर्धाभिषिक्त था और अति प्राचीन काल से चला आता था।

आश्वीन—एक घोडा दिन भर मे जितनी मंजिल तय करे वह दूरी आश्वीन कही जाती थी (अश्वस्यैकाहगमः, ५।२।१९)। अथर्व वेद में इसे आश्विन कहा गया है (६।१।३१।३)। अर्थशास्त्र के आधार पर इस दूरी का निर्णय पहले किया जा चुका है।

४. खर—गधों के लिये खरशाल नामक अलग अस्तबल बनाए जाते थे (४।३।३५)।

५. अज (४।१।४।; ४।२।३९)। भेड बकरी दोनो अजावि या अजैड (तिष्ठद्गु गण) और बकरों का रेवड़ आजक कहलाता था (४।२।३९)।

६. अवि (५।१।८)—इसी के लिये अविक शब्द भी था (५।४।२८)। भेड़ो का बड़ा झुड औरभ्रक (४।२।३९) कहलाता था। कात्यायन ने भेड़ के दूध के लिये अविदूस, अविमरीस, अविसोढ शब्द दिए हैं (४।२।३६, वा०) जो जनपदीय बोली से लिए गए ज्ञात होते हैं। अजापाल को जावाल और भेड बकरियो के बहुत बड़े रेवड़ पालने वाले को महाजावाल (६।२।३८) कहा जाता था। जावाल का सम्बन्ध म्लेच्छ भाषा के भेड़वाची शब्द योविल या जोविल (भेड़ का सींग) से ज्ञात होता है, जिससे अंग्रेजी का जुविली शब्द बना है। पाणिनि में और भी दो एक विदेशी शब्द आगए हैं, जैसे अरबी भाषा का हलाहिल, इरानी का दिष्टि और शकभाषा का कन्था, जिन पर यथास्थान विचार किया गया है।

७. मृग—मृगो में ऋष्य (४।३।८०) और न्यङ्कु का (७।३।५३) सूत्रो में उल्लेख है। दोनो शब्द वैदिक भाषा मे मिलते है। सूत्र, २।४।१२ मे मृगवाची शब्दो के द्वन्द्व समास मे एकवद्भाव का विधान है जैसे रुरुपृषतम्। हिरनी के लिये एणी शब्द था (४।३।१५९)। भाष्य मे ऋश्य की हिरनी को लोहित कहा है।

क्रव्याद् पशुओ में (३।२।६९) सिंह (६।२।७२), व्याघ्र (२।१।५६), वृक (५।४।४१), क्रोष्टु (= शृगाल) (७।१।९५), विडाल (६।२।७२) और श्वा (४।२।११) का उल्लेख है। राजघरानो मे जो कुत्ते पाले जाते थे उन्हे कौलेयक कहा गया है (४।२।९६)। कुक्कुर जातक (१।२२) में ऐसे कुत्तो का उल्लेख है (ये कुक्कुरा राजकुलह्मि वद्धा)। रामायण में केकय देश के राजमहल मे बघेरी नस्ल के खूँखार कुत्ते पालने का विशेषरूप से उल्लेख आया है, जिन्हे अन्त.पुर सवृद्ध कहा गया है।[१]

पक्षियो के ये नाम थे—चटका (४।१।१२८), मयूर (२।१।७२); कलापी (४।३।४८), कुक्कुट (४।४।४६), ध्वाक्ष (२।१।४२), श्येन (६।३।७१)। विष्किर पक्षी वे थे (६।१।१५०) जो चोच से कुरेदकर अपना चुग्गा खाते हैं (विष्किरः शकुनिर्विकिरो वा अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने, ६।१।१४२)।

क्षुद्र जन्तुओ मे (२।४।८) नकुल (६।३।७५), गोधा (४।१।१२९, १३०), अहि (४।३।५६), क्षुद्रा, भ्रमर, वटर (४।३।११९, भ्रमर की मक्खियो के भेद, छोटी मक्खी क्षुद्रा और बड़ी डेंगारा मक्खी भ्रमर) और वटि (चीटी, ५।२।१३९) का उल्लेख है। जलचरो मे नक्र (६।३।७५), वर्षाभू (६।४।८४), मत्स्य (४।४।३५) तथा वैसारिण मछली (विसारिणो मत्स्ये, ५।४।१६) के नाम हैं। सम्भवतः यह वह मछली थी जो छूने से अपना शरीर फुला लेती है।

गोष्ठ और पशुचारण—पशु समूह को समज और उन्हें गोचरभूमि मे हांक देने को उदज कहते थे (३।३।६९, समज पशूना समुदाय इत्यर्थः उदज. पशूना प्रेणा मित्यर्थः—काशिका)। ग्राम्य पशुसंघो मे एक साथ चरती हुई गायो और वैलो के लिये केवल गाव , और ऐसे ही नर-मादा भैसो के लिये महिष्य., तथा बकरे-बकरियो के लिये अजाः कहा जाता था (१।२।७३, ग्राम्यपशुसघेष्वतरुणेषु स्त्री)। परन्तु साथ चरते हुए बछडे, बछियो को वत्साः कहा जाता था। आज भी हिन्दी भाषा की यही प्रकृति है, जैसे गाएँ, भैसें, बकरियाँ चर रही हैं।

पशुओ की आयु, उनके दाँत (५।४।१४१), सीग (६।२।१) और कूबड (५।४।१४६) की वृद्धि से सूचित होती थी, जैसे छोटी आयु का दो दाँत का बछड़ा द्विदन् , असञ्जातककुत् और अंगुल श्रृङ्ग कहा जाता था। वही चार दाँत या छह दाँत का होने पर चतुर्दन् , षोडन् (हिन्दी छहर), पूर्णककुत् और उद्गतश्रृङ्ग कहलाता था।

चरागाह या गोचर (३।३।११९) में पशु स्वच्छन्द चरते थे। उनके लिये चारे की उपलब्धि के अनुसार नई-नई जगह गोष्ठ बना लेते थे। छोड़ी हुई पहली धरती

---

१ अन्तःपुरेति सवृद्धान् व्याघ्र वीर्यबलोपमान् , दंष्ट्रायुक्तान् महाकायान् शुनश्चोपायनं ददौ ॥ (अयोध्याकाण्ड, ७०।२०)

को गोष्ठीन कहा जाता था (गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे, ५।२।१८)। जिस जगल मे पशु चराने के वाद दूसरी जगह हटा लिए गये हो, वह आशितङ्गवीन कहा जाता था (५।४।७)। इनसे सूचित होता है कि गावो के चारो ओर के जंगलो और वनो मे क्रमिक व्यवस्था के अनुसार पशुओ के चराने का प्रवन्ध किया जाता था। पशुओ को खाने के लिये भुस और कडङ्कर या कुट्टी दी जाती थी। उसे खाने वाले कडङ्करीय कहलाते थे (५।१।६९, हिन्दी डगर)। जल पीने की चरही निपान या आहाव कही जाती थी (३।३।७४)।

कौटिल्य ने लिखा है कि नियमित चारे के साथ पशुओ को नमक भी देना चाहिए। नमक के लिये पशु की इच्छा या हुडक को लवणस्यति कहा गया है (७।१।५१)।

गाय और वैल के लिये भाषा मे धेन्वनडुह शब्द प्रयुक्त होता था। सम्भवतः उसका वाच्यार्थ दूध देने वाली गाय और सगड खीचने वाले वैल के लिये था। दोनो का एक साथ होना किसान के कल्याण सम्पन्न जीवन का द्योतक था। आशीर्वाद देने के लिये उपयुक्त वाक्य था 'स्वस्ति भवते सगवे सवत्साय ।(६।३।७३ पर कात्यायन)। व्रज, गोशाल (४।३।३५), गोष्ठ (८।३।९७) और गोष्पद भूमियो का गाय के जीवन से विशेष सम्वन्ध था (६।१।१४५, गोभिः सेवितो देशः, काशिका)। गायो के समूह के लिये गोत्रा शब्द है (४।२।५१) जो वैदिक गोत्र शब्द का स्मरण दिलाता है। गोत्र का मूल अर्थ कई परिवारो की समान गोशाला थी। पाणिनि-कालीन भाषा मे गोत्रा के लिये दो नूतन शब्द गव्या (४।२।५०) और आधेनव (४।२।४७) प्रयुक्त होने लगे थे।

ग्वालो के लिये गोपाल शब्द चल गया था। तन्तिपाल (६।२।७८) उन अधि-कारियो को कहते थे जो राज्य की गायो के वड़े-वडे झुण्डों की देखभाल करते थे। महाभारत में तन्तिपाल शब्द का उल्लेख इसी अर्थ में है। जव ग्वाले का नौजवान लड़का स्वतन्त्र रूप से जगल में गायो को चरा लाने की आयु प्राप्त कर लेता तो उसे अनुगवीन कहते थे। (अनुग्वलंगामी, ५।२।१५, अनुगवीनो गोपालकः)। जैसे वयःप्राप्त क्षत्रिय कुमार के लिये कवचहर शब्द था वैसे ही गोपाल के पुत्र के लिये अनुगवीन। आगवीन कर्मकर वह मजदूर था जो गाय मिल जाने तक काम करे (यो गवाभृतः कर्म करोति आ तस्य गोः प्रत्यर्पणात्—काशिका ५।२।१४, आगवीनः)। इसका व्यौरा यो वैठता है। माँ का दूध छोड देने पर वछिया किसी कमेरे को चराई पर दे दी जाती है। यदि वह अपने घर पर चरावे तव गाय के विआने पर उसका मूल्य कूतकर आधा-आधा कर दिया जाता है। दोनो मे से कोई आधा मूल्य देकर गाय ले लेता है। इसे अधवट चराई कहते हैं। दूसरा तरीका यह है कि चराने वाला मालिक के यहाँ ही काम करता रहता है। जव गाय विआ जाती है तो उसकी भृति के वदले में वह गाय उसी को दे दी जाती है। यही आगवीन कहलाता था।

गौ की जीवन-गाथा—प्राचीन भारतीय भाषा में गौ से सम्बन्धित विविध शब्दावली का होना स्वाभाविक है। गाय के जन्म और जीवन की भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ उन-उन शब्दो से प्रकट की गई हैं। ओसर बछिया जो हरी होने, फलने या वरदाने के लिये तैयार हो, उपसर्या कहलाती थी (उपसर्या काल्या प्रजने, ३।१।१०४), अर्थात् वह प्रजनन या वूने-साहने के लिये काल प्राप्त समझी जाती थी। उसका पहला वरदाना उपसर कहा जाता था (३।३।७१)। बछिया तीन वरस की या तिवरसी होने पर पूरी पट्ठी मानी जाती थी। विराट् पर्व में उसे त्रिहायनी माहेयी कहा है (विराट्, १६।६, पूना सस्करण)। ग्याभिन होने के वाद यदि वह बह जाय या तू-निछा जाय तो उस चुई हुई को वेहत् कहते थे (२।१।६५, वेहद् गर्भ-पातिनी, काशिका)। ग्याभिन होने पर जो ठहर जाती थी वह गर्भ पूरा हो जाने पर पुट्ठे तोड़ने लगती थी, जिससे सूचित होता था कि वह आजकल मे बिआने वाली है। उसकी इस अवस्था का द्योतक अद्यश्वीना (५।२।१३) शब्द था। वैदिक भाषा मे इसे ही प्रवय्या कहते थे (६।१।८३, भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि, वत्सतरी प्रवय्या, काशिका)। बिआने के बाद पहलवन बिआई या पहलौटी गाय गृष्टि कहलाती थी (२।१।६५)। पाणिनि ने महागृष्टि शब्द का उल्लेख किया है (६।२।३८)। यह उस प्रकार की गौ थी जो एक व्यांत के वाद लगभग तव तक दूध देती है, जब तक दूसरी व्यात न करे। इसी के लिए वैदिक भाषा मे नैत्यिकी शब्द चलता था। स्वाभाविक है कि ऐसी गाय बहुत धन्य और शीलवती मानी जाती थी। इसे ही मध्यकालीन संस्कृत मे नित्यवत्सा (हेमचन्द्र, अभिधानचिन्तामणि ४।३३६) और व्रज भाषा मे नैचकी कहा गया है। इस प्रकार जो गाय बरस-बरस या बरस व्यावर होती थी, उसके लिये पाणिनिकालीन भाषा में समासमीना, यह सुन्दर शब्द चल गया था (समा समां विजायते, ५।२।१२)। पतजलि ने ऐसी गौ के विषय में अपने युग की कल्याणी भावना को प्रगट करते हुए लिखा है—गौरियं या समा समा विजायते। गोतरेयं या समा समा विजायते स्त्रीवत्सा च (भाष्य, ५।३।५५)। 'वह गौ धन्य है जो बरस-बरस पर बिआती है। उससे भी उत्कृष्ट वह है जो बरस-बरस पर बिआती और बछिया जनती है।' जब तक गाय दूध देती रहे वह धेनु कहलाती थी (२।१।६५), जिसे आज भी हिन्दी में धेन कहते हैं। इसे ही कात्यायन ने अस्तिक्षीरा कहा है (२।२।२४, वा० २१)। बिआने के छह सात महीने वाद दूध गाढा और कम होने लगता है और गाय वष्कयणी हो जाती है (२।१।६५, हिन्दी वखेनी या बाखडी)। जिस गाय को उसके दूध से ऋण पाटने के लिये बन्धक रख दिया जाय वह धेनुष्या कहलाती थी।

बैल—भारतीय किसान के जीवन में बैल का जो महत्वपूर्ण स्थान है उसकी झाँकी सस्कृत भाषा और हिन्दी भाषा के उन सैकड़ो शब्दो से मिलती है, जो बैलों

के रूपरंग, आयु, स्वभाव और दु ख सुख पर प्रकाश डालते है। पाणिनि की अष्टाध्यायी मे भी ऐसे सार्थक शब्दो का गुच्छा सुरक्षित है। छोटा दूध पीता बच्चा शकृत्करि कहलाता था (३।२।२४, स्तम्बशकृतोरिन्) जिसे वैदिक भाषा मे अतृणाद कहते थे (बृहदारण्यक उप० १।५।२)। फिर वही वत्स या बछडा कहलाता था। बछडो का समूह वात्सक था। जब गायें जंगल मे चली जाती तो जिस विशेष स्थान में बछडे रखे जाते उसे वत्सशाला कहते थे (४।३।३६)। कुछ दिन बाद जब बछडा दूध पीने से हट जाता तब उसके गले मे डेंगुर बांधकर उसे कुछ दूर चरने के लिये छोड देते थे। इस अवस्था में वह प्रासङ्ग्य कहलाता था (तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् , ४।४।७६, प्रासङ्ग = बछडे के गले में बांधा हुआ खटखटा या डेंगुर)। लगभग दो बरस का बछडा दित्यवाह् कहा॰ जाता था। (७।३।१, वैदिक इण्डेक्स, १।३५९)। उसे निकालने के लिये जो लकड़ी के लट्ठे का खटखटा बनाया जाता है, सम्भवतः उसकी सज्ञा दित्य थी। उसमे जोतकर जिस बछडे को निकालते थे उसकी संज्ञा दम्य होती थी। पहले वत्स, फिर दम्य और अन्त में वह बलीवर्द बनता था (बालो युवा वृद्धो वत्सो दम्यो बली वर्द इति, भाष्य, १।१।१, वा० १३)। चतुर किसान अपने बछडो में से पहले ही यह पहचान लेते हैं कि किसे सांड या बिजार बनाना है। ऐसे चुने हुए बछड़ो को आर्षभ्य कहा जाता था (ऋषभोपानहोर्ञ्यः, ५।१।१४)। ऐसे बछडे के पोखने के लिये किसान शुरू से ही गाय के थनों मे अधिक दूध छोड देता है और प्राय. दो थनो का दूध उन्हे देता है। कभी-कभी तो ऐसे बछड़े को अपनी मां का पूरा दूध ही मुखामेल या मुहछुट्ट पीने दिया जाता है। इस प्रकार ऋषभ बननेवाला बछड़ा जब कुछ बडा होकर बढने लगता तब उसे जातोक्ष कहते थे (५।४।७७)। जातोक्ष वधिया नही किया जाता था। वही जब अपने पूरे यौवन पर आता और उसकी गर्दन पर टाट लोटने लगती तो वह पूर्णककुत् कहलाता था (५।४।१४८–१४९)। उस यौवनकाल मे उसे महोक्ष यह सम्मानित पद मिलता था (५।४।७७)। उस पूरे साड या बिजार को प्रत्येक जनपद मे पर्याप्त आदर की दृष्टि से देखते थे। जब वह जंगल में खड़ा हुआ दड़ूकता और मठारता तो ऐसा ज्ञात होता मानो सारे जनपद की गायो का सौभाग्य उस महोक्ष मे मूर्तिमन्त हो उठा है। इसके बाद जब उसकी उमर ढलने लगती और यौवन बीत जाता तब उसे वृद्धोक्ष कहते थे (५।४।७७)। इस प्रकार असमर्थ बने हुए ऋषभ को भाषा के द्वारा और अधिक सम्मान देने के लिये ऋषभतर कहा जाता था (वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे, ५।३।९१)। अब यह सांड ऋषभ नही ऋषभतर हो गया—यह कथन एक ओर तरप् प्रत्यय द्वारा उसका अधिक सम्मान करता है दूसरी ओर उसके तनुत्व या असमर्थता का सूचक है। इसी प्रकार जिस बछडे को शकट आदि में जोतने के लिये वधिया करते थे वह पुरा जवान होने पर उक्षा और अधेड़ अवस्था का होने पर

उक्षतर कहा जाता था (५।३।९१)। उक्षतर से ही हिन्दी खैरा शब्द बना है (उक्षतर–उक्खयर–उखइर–खइरअ—खैरा)।

बछड़ो का दाँतना और उनकी आयु[1]—दो से ढाई वर्ष की आयु के बीच में बछड़े के दूध के दाँत गिरकर दो पक्के दाँत निकल आते हैं, तब वह द्विदन् कहा जाता है। जिसके दूध के दाँत न टूटे हो उसे भाषा मे उदन्त कहते हैं। तीन वर्ष की आयु मे वह चतुर्दन् या चौदन्ता होता है (वयसि दन्तस्य दतृ, ५।४।१४१)। इस समय उसकी नाक छेदकर नाथ डाल दी जाती है और तब से वह नाथहरि हो जाता है (३।२।२५)। लगभग साढे तीन वर्ष की आयु मे दो दाँत और निकल आते हैं, तब वह षोडन् (हिन्दी छद्दर) कहा जाता है। पूरे चार वर्ष की आयु में सब दाँत भर जाते हैं और तरुण बैल अष्टदन् हो जाता है। जिसके एक दाँत कम रहे उसे सप्तदन् (हिन्दी सद्दर) कहते थे।

बैल मोल लेते और बेचते समय दाँत देखकर उसकी आयु का अनुमान किया जाता है। ऐसे ही सींगो की नाप से भी आयु की पहचान होती है[2]। खुम्भ या टाट की वृद्धि भी आयु की सूचक है। (ककुदस्यावस्थाया लोपः, ५।४।१४६) उसके लिये भाषा मे तीन शब्द प्रचलित थे, असंजातककुत् (बालक.), पूर्णककुत् (मझली उमर का), उन्नतककुत् (वृद्धवया)। कामकाजी बैलो को रथ गाड़ी, तागा, हल आदि जिसमें जोतना हो उसी के अनुसार उनका अलग अलग वर्गीकरण करके दाने-चारे और टहल का प्रबन्ध किया जाता था। रथ के लिये पूरी नाप का ठाढा बैल पसन्द किया जाता था। हल और गाडी मे चाहे जैसा भी जोत लेते थे। शौकीन लोग रथ के बैलो को पालने में काफी ध्यान देते थे, क्योंकि उस समय बैलो के रथ की सवारी सबसे अधिक सम्भ्रान्त मानी जाती (वाह्ये वाह्यं तथा गवा, शान्तिपर्व १८६।२०)। रथ खीचने वाला बैल रथ्य (४।४।७६), जुवा खीचने वाला युग्य (४।४।७६, जो कुएँ से सिचाई करता था), बोझ ढोने वाला धुर्य या धौरेय (४।४।७७ धुरो यड्ढकौ), पूरी गाडी या सग्गड खीचने वाली शाकट (४।४।८० शकटादण), और हल खीचने वाला हालिक या सैरिक कहलाता था (हलसीराट्ठक् ४।४।८१)। गाडी मे केवल एक ओर जुतने का अभ्यस्त बैल एकधुरीण (एकधुराल्लुक् च, ४।४।७९) और दोनो ओर जुतकर जुआ खीचने वाला सर्वधुरीण (ख. सर्वधुरात्, ४।४।७८) कहलाता था। पतञ्जलि ने लिखा है, 'वह अच्छा बैल है जो छकडा

---

१. गाय बैलों का दाँतना—

आयु	दाँतों की संख्या
२–२॥ वर्ष	दो दांत
तीन वर्ष	चार दांत
साढ़े तीन वर्ष	छः दांत
चार वर्ष	आठ दांत

२. शृङ्गमवस्थायाञ्च, ५।२।११५, अङ्गुलशृङ्गः, द्व्यङ्गुलशृङ्गः, उद्गतशृङ्गः।

खींचता है। पर जो छकड़े और हल दोनो मे चलता है वह और भी बढिया है (गोरयं यः शकटं वहति गोतरोऽय यः शकटं वहति सीरञ्च, ५।३।५५)।

बैलों की प्रसिद्ध नस्लें—पाणिनि ने साल्व जनपद की नस्ल के बैलो को साल्वक कहा है (गोयवाग्वोश्च, ४।२।१३६)। साल्व की पहचान ऊपर की जा चुकी है (अ० २, परि० ४)। उत्तरी राजस्थान के बीकानेर से अलवर तक फैले हुए बड़े भूभाग का नाम साल्व था। मेड़ता और जोधपुर इलाका भी उसी के अन्तर्गत था। इस प्रदेश के नागौरी बैल आज तक प्रसिद्ध हैं जो चलने मे ततैया होते हैं। नागौर के उत्तर-पच्छिम मे दूर तक फैला हुआ जो जङ्गल है उसी मे यह नस्ल प्राचीन काल से पनपती आई है (हण्टर, इम्पीरियल गज़ेटियर, १०।१५९)।

पतंजलि ने वाहीक के बैलो का (१।४।१०८, वा० ७), और काशिका ने कच्छी बैलो का (सूत्र ४।२।१३४ के प्रत्युदाहरण रूप मे) और रंकु जनपद के राकव और राकवायण बैलो का उल्लेख किया है। इनमे से पहली दो नस्लें तो आजतक मशहूर हैं। काठियावाड़ मे रैवतक पर्वत की तलहटी मे बैलो और गायो की एक विलक्षण जाति अभी तक जीवित है। यहाँ की गायें अत्यन्त दुधार और सुहावनी एवं बैल बहुत ही तगड़े और चलनेवाले होते हैं। यही प्राचीन कच्छी-काठियावाडी नस्ल होनी चाहिए जिसका रङ्ग सिंह के समान नेत्रसुभग होता है। राकव बैलो की ठीक पहिचान अभी निश्चित नही है।

लक्षण—पशुओ के शरीर या कानो पर अङ्कित चिह्नो या लक्षणो से उनके स्वामी का बोध होता था (पशूनां स्वामि विशेष सम्बन्ध ज्ञापनार्थम्, काशिका)। पाणिनि ने निम्नलिखित दो सूत्रो मे लक्षणो का विधान किया है—

(१) कर्णो वर्ण लक्षणात् (६।२।११)

(२) कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्ट-पञ्च-मणि-भिन्न-छिन्न-छिद्र-स्रुव-स्वस्तिकस्य (६।३।११५)

पहले सूत्र का अर्थ है—रग या लक्षणवाची शब्द पहले हो और कर्ण बाद मे, तो कर्ण का आद्य स्वर उदात्त होता है, जैसे शुक्लकर्ण, दात्राकर्ण में। दूसरे सूत्र का अर्थ है—लक्षणवाची शब्द पहले हो, कर्ण शब्द बाद मे हो, तो पहले शब्द का अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाता है। यदि विष्ट, अष्ट, पञ्च, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक—ये नौ लक्षणवाची शब्द पूर्व मे हो तो दीर्घ नही होता।

गायो पर स्वामित्व का चिह्न अङ्कित करने की प्रथा वैदिक युग से चली आती थी। अथर्ववेद मे लक्षण को लक्ष्म कहा है और मिथुन नामक लक्षण का उल्लेख किया गया है (६।१४१।२-३; १२।४।६)। मैत्रायणी सहिता (४।२।९), मानव श्रौत सूत्र (९।५।१-३), और वाराह श्रौत सूत्र के गोनामिक परिशिष्ट[1] में इस प्राचीन पशुकर्म के विषय में और भी सूचनाएँ दी गई हैं। वनपर्व मे दुर्योधन की घोषयात्रा

---

१. जर्नल ऑफ वैदिक स्टडीज़, लाहौर, जनवरी १९३४, पृ० १६।

का उल्लेख करते हुए गाय बछडो के स्मारण या गिनती करने के लिये उन पर अंक और लक्ष्म अंकित हुए थे (वनपर्व २३९।४, २४०।४)। अर्थशास्त्र में गवाध्यक्ष को आदेश है कि वह व्रज से सम्बन्धित निजकर्म में गायो पर लगाए हुए अंको का पूरा व्योरा रखे (अर्थशास्त्र, २।२९)। अशोक के अभिलेखों में निर्देश है कि कुछ विशेष तिथियो मे घोड़े और बैलो पर लक्षण न दागे जाएँ[1]। पतञ्जलि ने लिखा है कि यह लिंग अर्थात् चिह्न गाय के कान पर या पुट्ठे पर लगाना चाहिए (गो सक्थनि कर्णे वा कृत लिंगम् , १।३।६२)। अन्यत्र भाष्य में कहा है कि इस प्रकार अंकित गाएँ दूसरी गायो से अलग पहचान ली जाती हैं (अकं प्रकाशनम् , अंकिता गाव इत्युच्यन्तेऽन्याभ्यो गोभ्यः प्रकाश्यन्ते, ८।२।४८)।

लक्षणों के नाम—पाणिनि ने कर्णे लक्षणस्यादि सूत्र में नौ लक्षणो के नाम दिए हैं। मैत्रायणी संहिता में भी चार नाम हैं। ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में पाणिनि से ही मिलता हुआ एक सूत्र है जिसमें सात लक्षणो की सूची है (कर्णे प्लीहाकुश कुण्डलो परिग्राव्यक्षत बाणानाम् , ऋक्तन्त्र, सूत्र २१७)। विष्टकर्णी जो पाणिनि की सूची मे है मैत्रायणी संहिता के अनुसार अगस्त्य की गायो का चिह्न था। जमदग्नि की गायो के कान पर कर्करी या वीणा का चिह्न, वसिष्ठ की गायों के कान पर स्थूणा या थूनी का चिह्न बनाया जाता था (वैदिक इण्डेक्स, १।४६)। पाणिनि मे जो अष्टकर्णी चिह्न है उसका ऋग्वेद (१०।६२।७) मे भी उल्लेख आया है। ग्रासमन ने लिखा है कि अष्टकर्णी का तात्पर्य उन गायो से था जिनके कान पर आठ का चिह्न अकित किया जाता था (मैक्डानल, वैदिक इण्डेक्स, १।४६)। संख्या वाची पाच और आठ चिन्हो के अकित करने के आधार पर गोल्डस्टूकर का मत है कि प्राचीन भारतवर्ष मे लिखने और पढने का आम रिवाज था, क्योंकि ये चिह्न सामान्य ग्वालो के समझने के लिये ही लगाए जाते थे[2]।

इनमें से कुछ चिह्न भारत की प्राचीन आहत मुद्राओ पर भी पहचाने जा सकते हैं, जैसे (१) स्रुव, (२) स्वस्तिक, (३) अकुश, (४) कुण्डल, (५) प्लीहा, (६) बाण, (७) मिथुन[3]।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७

---

१. देखिए ऐनीमल्स इन दी इस्क्रिप्शन्स ऑफ पियदसी, पृ० ३७३। वहीं सूत्र साहित्य की निम्नलिखित सामग्री की भी सूचना दी गई है—पारस्कर गृह्यसूत्र, ३।१०; शांखायन, ३।१०; आश्वलायन गृह्य परिशिष्ट ३।८। और भी द्राह्यायण गृह्यसूत्र ३।१।४६ (वहीं भुवन नामक चिह्न अंकित करने का उल्लेख किया गया है)। खादिर गृह्यसूत्र ३।१।४६।

२ गोल्डस्टूकर, पाणिनि हिज़ प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर (पाणिनि, संस्कृत साहित्य में उनका स्थान), पृ० ४४।

३. एलेन, काइंस ऑफ एंश्येण्ट इंडिया (प्राचीन भारत की मुद्राएं), आहत चिह्नों की सूची, सूची ४।

लक्षणों की सूची—

ग्रंथ का नाम	लक्षण का नाम	अर्थ
१. पाणिनि (६।३।११५)	१. विष्ट (कर्णी)	मैत्रायणी संहिता में भी है; अर्थ अनिश्चित
	२. अष्ट	आठ का अंक
	३. पञ्च	पाँच का अंक
	४. मणि	मनका या गुरिया
	५. भिन्न	फटा हुआ कान
	६. छिन्न	कटा हुआ कान
	७. छिद्र	विधा हुआ कान; मैत्रायणी संहिता में भी है।
	८. स्रुव	चम्मच का निशान
	९. स्वस्तिक	स्वस्तिक का चिह्न
२. मैत्रायणी संहिता (४।२।९)	१०. स्यूणा	थूनी के आकार का चिह्न (वनपर्व, १६३।३२, अर्जुन के बाण का चिह्न)
	११. कर्करी	वीणा
	१२ पुच्छिन्या	संभवत' पूँछ
	१३. दात्र	दरांत या हँसिया; काशिका में भी उदाहृत
३. अथर्ववेद (६।१४१।२)	१४. मिथुन	स्त्री-पुरुष
४. ऋक तंत्र (सूत्र २१७)	१५. प्लीहा	तिल्ली
	१६. अंकुश	अंकुश
	१७. कुण्डल	मण्डलाकार घेरा
	१८. उपरिष्ट	ऊपर की ओर मुडे हुए
	१९. अधि	भीतर की ओर मुड़े हुए
	२० अक्षत	पूर्ण सुडौल
	२१. बाण	बाण
	२२. शंकु	खूँटा या कीली
५. काशिका (६।२।११२, ६।३।११५)	२३. द्विगुण	दोहरे मुडे हुए
	२४. त्रिगुण	तिहरे मुडे हुए
	२५. द्वयगुल	दो अंगुली का चिह्न
	२६. अंगुल	एक अगुली का निशान
६. द्राह्यायण गृह्यसूत्र (३।१।४६)	२७. भुवन	संभवतः ब्रह्माण्ड का गोल निशान

अध्याय ४, परिच्छेद ४—शिल्प

अष्टाध्यायी मे शिल्पी शब्द चारु शिल्पी और कारुशिल्पी दोनो के लिये प्रयुक्त हुआ है। नर्तक, गायन, वादक जिस नृत्य सगीत की साधना करते हैं उस ललित कला को भी उस समय शिल्प कहा जाता था (३।१।१४६, ३।२।५५, ४।४।५६)। कुम्हार आदि के मोटे हुनर को भी शिल्प कहते थे (६।२।६२)। ठीक यही अर्थ बौद्ध साहित्य मे सिप्प का है। वहाँ नट लंघक आदि की कलाबाजी को भी सिप्प कहा गया है। कौषीतकी ब्रा० में नृत्य और गीत को शिल्प माना है (२९।५)। अर्थशास्त्र में सैनिक शिक्षा भी एक शिल्प है (शिक्षित सैनिक—शिल्पवन्तः पादाताः ५।१) और राजा द्वारा सेना का निरीक्षण शिल्पदर्शन कहा गया है।

हाथ से शिल्प या उद्योग धन्धा करनेवाले के लिये उस समय 'कारि' शब्द प्रयुक्त होता था (सेनान्त लक्षणकारिभ्यश्च ४।१।१५२)। काशिका में कारि का अर्थ कारु शिल्पी किया गया है (कारिशब्दः कारूणां तन्तुवायादीनां वाचकः)। अर्थशास्त्र में कारि शब्द नही, कारु है (कारुशिल्पिनः, अर्थ० २।३६)। कात्यायन ने भी शिल्पी के लिये पाणिनीय कारि शब्द का प्रयोग किया है (४।१।१५९ वा०)।

शिल्पियो के भेद—सूत्रो में ग्रामशिल्पी (६।२।६२), ग्रामतक्षा (५।४।९५) और कुलाल का उल्लेख है। पतजलि ने लिखा है कि उस समय के प्रत्येक गाव मे कम से कम पाँच प्रकार के शिल्पी अवश्य पाए जाते थे—तत्र चावरतः पञ्चकारुकी भवति (१।१।४८)। नागेश ने उनके नाम इस प्रकार दिए हैं—कुम्हार, लोहार, बढई, नाई और धोबी। पाणिनि ने कुशल शिल्पियो को राजशिल्पी कहा है। (राजा च प्रशंसायाम् ६।२।६३,) जैसे राजनापित, राजकुलाल। संभवतः ये लोग राजकुल से संबन्धित होने के कारण प्रशंसित और कर्मकुशल समझे जाते थे। पतंजलि ने स्पष्ट लिखा है कि जो बढई राजा के लिये काम करता है, वह फिर निजी काम अर्थात् घर पर बैठकर जनता का काम नही करता (तक्षा राजकर्मणि प्रवर्तमानः स्वं कर्म जहाति, भा० २।२।१) राजकुल के कर्मों में नियुक्त शिल्पियो को जनता का काम करने का निषेध पतंजलि के पहले से ही चला आता था। इसके विपरीत जो सर्वसाधारण के लिये काम करते थे। उनमे भी दो प्रकार के शिल्पी थे। एक वे जो अपने ठीहे पर बैठ कर ही काम करते थे[1] और दूसरे वे जो बुलाए जाने पर किसी के भी घर जाकर काम कर आते थे। विशेष रूप से बढइयों के लिये आज भी यह बात ठीक घटित होती है। ग्रामकौटाभ्यां तक्ष्णः (५।४।९५) सूत्र में पाणिनि ने दोनो प्रकार के तक्षाओं का उल्लेख किया है। अपनी कुटी या घर की दूकान पर काम करनेवाला

---

१. कश्मीरी भाषा में भी इसके लिये शब्द है—तोर्क छान, वह बढई जो अपनी दूकान पर काम करे, गाँव में काम करने न जाय।

कौटतक्षा और भृति या मजदूरी पर गाव मे जाकर काम करनेवाला ग्रामतक्षा कहलाता था । अपने ठीहे पर काम करनेवाले को लोग कुछ अधिक संमानित समझते हैं ।

शिल्पों का विवरण—सगीत नृत्य, गीत आदि शिल्पकार्य मे प्रवृत्त शिल्पियो के लिये सूत्रो मे निम्नलिखित शब्द आए हैं—

गाथक (३।१।१४६) गायन (३।१।१४७)। माड्डुकिक (४।४।५६), झार्झरिक (४।४।५६), पाणिघ (३।२।५५), ताडघ (३।२।५५), नर्तक (३।१।१४५, वार्तिक के साथ) ।

अन्य शिल्पियो के नाम ये हैं—कुलाल (४।३।११८), कुम्भकार (गणपाठ) उसके बनाए हुए मिट्टी के बर्तन कौलालक कहलाते थे । तक्षा (५।४।९५) का मुख्य कार्य रन्दे बसूले से लकडी का गढना छीलना (तनूकरण) था । उसके उपकरणो मे उद्घन (३।३।८०) वह ठीहा था, जिस पर रखकर वह अदद तैयार करता है । पाणिनि के युग मे तक्षा या बढई का महत्त्वपूर्ण स्थान था । सूत्र २।४।२३ के उदाहरण मे काष्ठ सभा और ५।१।१६ के उदाहरण में प्रासादीय दारु का उल्लेख है । इनसे सूचित होता है कि राजमहल और उनकी सभा (आस्थान मंडप या दरबार) पूरे लकडी के बड़े-बड़े लट्ठो को गढ़ छीलकर बनाए जाते थे । जातक कथाओ मे पाँच-पाँच सौ बढइयो के गाँवों के उल्लेख से काष्ठमय वास्तु का महत्त्व सूचित होता है । धनुष्कर (३।२।२१) सामान्य धनुष और महेष्वास (६।२।३८) नाम के विशेष धनुष का उल्लेख है । तालादि गण में कहा गया है कि धनुष् ताड की लकडी के बनाए जाते थे ४।३।१५२, तालाद् धनुषि) । महेष्वास वह बडा धनुष था जो पूरे ६ फुट का मनुष्य की लम्बाई के बराबर होता था । यूनानी इतिहास लेखको के अनुसार उसका एक शिरा भूमि पर टेककर बाण चलाया जाता था ।

रजक (३।१।१४५, वा० के अनुसार)—सूत्रो मे कई प्रकार के रंगो से रँगे हुए वस्त्रो का उल्लेख है (तेन रक्तं रागात् , ४।२।१) रंग और रँगने का मसाला (गुण और द्रव्य) इन दोनो के लिये राग शब्द था (६।४।२६–२७ घञि च भावकरणयोः भावे—विचित्रो रागः, करणे—रज्यतेऽननेति रागः) । लाल रंग से रङ्गा हुआ वस्त्र लोहितक (५।४।३२-रक्ते-लोहितकः कम्बलः लोहितकः पटः, लोहितिका शाटी) और काल से रगा कालक कहलाता था (कालाच्च, ५।४।३३, कालकः पट , कालिका शाटी) । लाक्षा या लाखी रङ्ग (४।२।२) जिसे जतु भी कहते थे (४।३।१३८) वस्त्र रङ्गने के लिये और लकड़ी पर चढाने के लिये इस देश में सदा से अत्यन्त प्रिय माना जाता रहा है । उसके रँगे हुए सामान को लाक्षिक या जातुष कहते थे (लाक्षया रक्तं वस्त्रं लाक्षिकं—काशिका) इसी प्रकार मजिष्ठ (८।३।९७), नीली (४।१।४२) और रोचना या गोरोचन (४।२।२) इन चटकीले रंगों से भी वस्त्र रंगे जाते थे । कात्यायन के अनुसार शकल और कर्दम से भी वस्त्र रगने का रिवाज था,

जिन्हें शाकलिक या कार्दमिक कहते थे (४।२।२ वा०)। वार्तिककार ने हरिद्रा और महारजन नामक रंगो का भी उल्लेख किया है (४।२।२)। (३।१।१४५) सूत्र पर वार्तिक मे खनक का उल्लेख है। आकर या खानो से प्राप्त होनेवाली आय आकरिक कहलाती थी (ठगायस्थानेभ्यः, ४।३।७५)। काशिका में प्रस्तार (३।३।३२) का अर्थ ऐसी खान है जहाँ रत्न या मणि निकलती हो (मणिप्रस्तारः)। अर्थशास्त्र मे भी यह अर्थ है। प्रस्तारो में काम करने वाले वाणिजो को प्रास्तारिक कहते थे (४।४।७२, प्रस्तारे व्यवहरति)।

धातु और रत्नो का उल्लेख इस प्रकार है—

हिरण्य, जातरूप (४।३।१५३), वैदिक उपचाय्यपृड (=सोना ३।१।१२३), रजत (४।३।१५४), अयस् (लोहा, ५।४।९४), कास्य (फूल, ४।३।१३८), त्रपु (रागा, ४।३।१३८)। पाणिनि ने अयस् को जाति और सज्ञा दोनो अर्थों मे लिया है। काशिका मे उसके दो प्रकार कहे गए हैं कालायस् (लोहा) और लोहितायस् (ताँवा)। रजतादि गण में लोहे और सीसे का उल्लेख है। उनकी बनी वस्तुएं लोह और सैंस कहलाती थी।

मणि—लोहितक सभ्वतः माणिक्य या लाल की संज्ञा थी (लोहितान्मणौ, ५।४।३०)। अनुमान होता है कि पद्मराग रत्न का नाम था और लोहितक केवल संग या उसकी अपेक्षा घटिया किस्म का पत्थर होता था।[1] यह हकीक या तामड़े की कोई जाति होनी चाहिए। सस्येन परिजात. (५।२।६८) सूत्र के उदाहरण मे काशिका ने सस्यक को मणि कहा है। कल्पसूत्र में प्राचीन रत्नो की सूची के अन्तर्गत सासग या सस्यक का नाम आता है (३।१३)। अनुमान होता है कि यह पन्ने का प्राचीन नाम था, जिसे बाद में कुषाण-गुप्तकाल के लगभग मरकत कहने लगे। श्री मोतीचन्द्र जी का विचार है कि लालसागर मे मरकत बन्दरगाह से आने के कारण पन्ने का नाम मरकत पडा। सूत्र ४।३।८४ (विदूराञ् ञ.) पर भाष्यकार ने वडूर्य-मणि का उल्लेख करते हुए लिखा है कि यह मणि वालवाय पर्वत मे होती थी, किन्तु विदूर नगर के वैकटिक (हिन्दी वेगड़ी) उसे तराशते या उसका सस्कार करते थे, अतएव वह वैदूर्यनाम से प्रसिद्ध हुई। काशिका ने वालवाय नामक पर्वत का उल्लेख किया है (६।२।७७), किन्तु उसकी पहचान निश्चित नही।

(६) तन्तुवाय—शिल्पिनि चाकृञः (६।२।७६) सूत्र पर तन्तुवाय का उल्लेख व्याख्याकारों ने किया है। जहाँ कपडा बुना जाता था, उस स्थान को आवाय (आवयन्ति अस्मिन् ३।३।११२) और करघे को तन्त्र (५।२।७०) और ढरकी को प्रवाणी (५।४।१६० तन्तुवायशलाका) कहते थे। जो वस्त्र अभी नया-नया करघे से

---

१. पंचतन्त्र के अनुसार लोहितक मणि पद्मराग से घटिया होती थी—लोहिताख्यस्य मणेः पद्मरागस्य चान्तरम्। यत्र नास्ति कथं तत्र क्रियते रत्न विक्रयः॥ —पंचतन्त्र १।८५

उतरा हो, उसे तन्त्रक (तन्त्रादचिरापहृते, ५।२।७०), नवक या निष्प्रवाणि कहा जाता था (५।४।१६०, अपनीतशलाकः समाप्तवाणः) । पाणिनि ने वस्त्र के लिये प्राय. आच्छादन शब्द का प्रयोग किया है । सूत्र युग की भाषा में वही चालू शब्द था (वसिष्ठधर्मसूत्र १७।६२; १८।३३) । पतंजलि ने अपने युग के कुछ प्रसिद्ध वस्त्रों के नाम दिए हैं, जैसे शैफालिक (हरसिंगार या पारिजात का रंगा हुआ), काशिक (काशि जनपद का बना हुआ जिसे जातको में कासेय्यक या वाराणसेय्यक कहा गया है), माध्यमिक अर्थात् चित्तोड़ के पास प्राचीन मध्यमिका नगरी का बना हुआ वस्त्र, और मथुरा के बने हुए शाटक (५।३।५५ सूत्र पर भाष्य; शिवसूत्र १ वार्तिक १६, तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मथुरायाम्) ।

(७) कम्बलकारक—पाणिनि के समय में इस देश में अनेक प्रकार के कम्बल बनाए जाते थे, विशेषत' उत्तर-पश्चिमी भारत से सब प्रकार के ऊनी वस्त्र और कम्बल बनकर मध्यदेश मे आते थे। पाणिनि ने निम्नलिखित कम्बलो का उल्लेख किया है—(१) प्रावार (३।३।५४)—इसका उल्लेख महाभारत आदि मे बहुधा आता है। (२) पाण्डु-कम्बल (४।२।११) । (३) पण्यकम्बल (६।२।४२) । कात्यायन ने वर्णक कम्बल का नाम दिया है (७।३।४५) जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र मे भी है (२।११) । काशिका में रांकव भी एक प्रकार का कम्बल माना है । यह रङ्कु नाम की बकरियो के लम्बे बालो से बनता था (४।२।१०० का प्रत्युदाहरण) । पण्य कम्बल निश्चित नाप और तोल का बाजार मे चालू कम्बल था । उसमे जो ऊन लगती थी, उसे उस कारण कम्बल्य कहते थे (कम्बलाच्च सज्ञायाम् ४।१।२२ कम्बल्यः ५।१।३) । सौ पल या ५ सेर ऊन की संज्ञा कम्बल्य थी (कम्बल्यमूर्णापलशतम्) ।

पाण्डुकम्बल—पाणिनि के अनुसार इस कम्बल से मढे हुए रथ पाण्डुकम्बली कहलाते थे (४।२।११) । काशिका ने इसे राजसिंहासन पर बिछाने के लिये बढिया मेल का रगीन कम्बल कहा है (राजास्तरणस्य वर्णकम्बलस्य वाचकः) । इन्द्र के हाथी और आसन पर भी बिछाने के लिये जातको मे इसका उल्लेख है (जातक ६। ४९०; २।१८८; ३।५३; ४।८) । वहाँ यह भी कहा गया है कि यह चटकीले लाल रग का कम्बल गन्धार देश में बनता था (इन्दगोपकवण्णाभा गन्धारा पाण्डुकम्बला, वेस्सन्तरजातक ६।५००) । महावाणिजजातक[1] मे उड्डियान कम्बल का उल्लेख है । स्वात की द्रोणी प्राचीन गन्धार या उड्डियान के नाम से प्रसिद्ध थी । आज भी वहाँ विशिष्ट प्रकार के कम्बल बनते हैं, जो सारे उत्तर-पच्छिमी भारत मे स्वाती कम्बल के नाम से प्रसिद्ध हैं । श्री आरेल स्टाईन ने स्वातघाटी की अपनी पुरातत्व पारायण यात्रा मे पता लगाया कि ये कम्बल वहाँ की स्वाती स्त्रियाँ अभी तक बुनती हैं । इनके किनारे अत्यन्त सुहावने चटकीले लाल रंग के होते हैं ।

---

१. कासिकानि च वत्थानि उड्डियाने च कम्बले, ४।३५२ ।

(८) चर्मकार—चमड़े की बनी हुई कई वस्तुओं का सूत्रों में उल्लेख है (चर्मणोऽञ्, ५।१।१५), जैसे नध्री (हिन्दी नाड ३।२।१८२), वह तस्मा जिससे बैलो को जुए मे बाँधते हैं, वर्ध्र (हिन्दी बद्धी), चमड़े की दुवाली या रस्सी। काशिका मे वारत्र चर्म उदाहरण दिया है (५।१।१५)। इससे ज्ञात होता है कि कभी-कभी मोटी वरत या कुआँ चलाने की रस्सी या शकट गाडी मे बाँधने की रस्सी भी चमड़े की बनाई जाती थी। 'पूरे चमड़े का बना हुआ' इस अर्थ मे सर्वचर्मीण या सार्वचर्मीण प्रयोग भी चलता था (सर्व चर्मणा कृत खखञौ (५।२।५)। इस शब्द का प्रयोग उस वस्तु के लिये होता था जिसके बनाने मे गाय-भैंस के चमड़े का पूरा थान लग जाय। जैसे प्रायः कुएँ से पानी उठाने के लिये मोट, चरस या पुर के बनाने मे ऐसा किया जाता है। लोक में जूता बनवाने के दो प्रकार हैं, एक तो मोची को बुलाकर पैर की नाप देकर और दूसरे हाट में जाकर जो भी अपने पैर की नाप का हो पहन लेते हैं। पहले प्रकार की पनही के लिये लोक मे अनुपदीना शब्द चलता था, जिसका पाणिनि ने उल्लेख किया है (अनुपद बद्धा ५।२।९) गावो मे वह अच्छी और मजबूत मानी जाती है। दूसरी मे विशेषता न होने से उसके लिये भाषा मे शब्द की आकाक्षा नही हुई।

कर्मार (लोहार)—उसके निम्नलिखित औजारो का उल्लेख है—भस्त्रा (७।३।४७), अयोघन या घन नामक हथौडा (३।३।८२), कुटिलिका या आँकुडा (४।४।१८) जिसके कारण लोहार के लिये कौटिलिक शब्द भाषा में चल गया (अण् कुटिलिकाया. ४।४।१८)। वह गाँव मे नाना प्रकार की उपयोगी वस्तुएँ तैयार करता था, जैसे लोहे की बनी हुई हल की कुशी या फाल (४।१।४२, अयो-विकार कुशी), एवं द्रुघन या कुल्हाडी (३।३।८२)।

सुवर्णकार—सूत्रों मे कर्णिका, ललाटिका, ग्रैवेयक, अगुलीयक आदि आभूषणो के नाम आए हैं। उन्हे सुनार तैयार करते थे। वे कसौटी पर सोना कसने मे कुशल होते थे, जिसके कारण उन्हें आकर्षिक कहा जाता था (५।२।६४, आकर्षे कुशलः आकर्ष इति सुवर्णपरीक्षार्थो निकषोपलः)। कसौटी लेकर जो लोग घरों मे जाकर सोना कसते और उसका वान बताते थे, उन्हे भी आकर्षिक कहा जाता था (आकर्षण चरति आकर्षिक ४।४।९)।

पाणिनि ने सुनारो की भाषा के एक विशेष प्रयोग का उल्लेख किया है—निष्टपति सुवर्णम् (निसस्तपतावनासेवने, ८।३।१०२)। इस वाक्य का ठीक अर्थ यह था—'वह सोने को आँच में केवल एक बार तपाता है।' इसकी पृष्ठभूमि यो समझनी चाहिए। अपनी भट्टी और घरिया के सामने बैठा हुआ सुनार तीन तरह के ग्राहको का काम भुगताता है। पहले वे जो गहने बनाने के लिये उसके पास नया सोना चाँदी लाते हैं। दूसरे वे जो पुराने आभूषण लाकर देते हैं कि उन्हें

गलाकर फिर नए गहने बनाए जायँ। इन दोनो के सोने को लेकर वह उसे बारबार तपाता और पीटता या बढाता है। उसके लिये भाषा का प्रयोग 'निस्तपति सुवर्णम्' था। तीसरे प्रकार के ग्राहक वे होते हैं जो अपने गहने गलाने के लिये नही, बल्कि सफाई और चमकाने के लिये लाते हैं। सुनार उन्हे लेकर एकबार अग्नि में तपाता है, और रगडकर या बुलाकर उन्हें फिर नए जैसा चमकीला कर देता है। अनासेवन अर्थात् एक बार इस पद का यही संकेत है। इस तीसरी प्रक्रिया के लिये ही भाषा मे, 'निष्टपति सुवर्णं सुवर्णकारः' प्रयोग चलता था (मूर्धन्य षकार का आदेश इसमे हुआ है)

(११) बन्धानी—अपने देश मे पत्थर का काम बहुत पुराने समय से चला आता है। पत्थर की शिलाओं और खंभे आदि उठाने के लिये बन्धानी होते थे, जो लकडी की सोटो या डडो से और रस्सियो से भारी बोझ उठाकर एक स्थान से दूसरे स्थान मे पहुँचाते थे। वे लोग रस्सियो मे कई तरह की मजबूत गाँठें लगाते हैं, उन्हे प्राचीन भाषा मे बन्ध कहते थे। सज्ञायाम् (३।४।४२) एव अधिकरणे बन्ध. (३।४।४१) सूत्रो पर काशिका ने कुछ पुराने बन्धो का उल्लेख किया है, जैसे क्रौञ्चो बन्ध, मयूरिका बन्ध, अट्टालिका बन्ध (बन्धविशेषणा नामधेयानि)। अर्थशास्त्र में वृश्चिकबन्ध नाम आता है (अर्थ ४।८)। ये बन्धानियो की गाठो, फन्दों या फाँसो के नाम थे।

अध्याय ४, परिच्छेद ५—कर्मकर और भृति

कर्मकर—अनसिखिये मजूर जिन्हे कही भी किसी काम पर लगा लिया जाय कर्मकर कहलाते थे (३।२।२२, कर्मणि भृतौ, कर्म करोतीति कर्मकरः)। वे अपने शरीर या हाथ पांव की मेहनत तो कर सकते हैं, पर किसी प्रकार का शिल्प नहीं जानते। खेतिहर मजदूर भी कर्मकर कहलाते थे। ऐसे मजदूरो के लिये हिन्दी में कमेरा शब्द चलता है (कर्मकर>कम्मयर>कम्मइर>कमेरा)। उनकी मजदूरी भृति कहलाती थी (भृतिर्वेतनम्, काशिका, ३।२।२२)। कमेरों को काम पर लगाने के लिये भाषा में 'कर्मकरानुपनयते' वाक्य प्रयुक्त होने लगा था (१।३।३६, काशिका, भृतिदानेन समीपं करोतीत्यर्थ.)।

शिल्प जाननेवाले कारीगर शिल्पी या कारि कहलाते थे। उनकी मजदूरी या उजरत को वेतन कहा गया है (शिल्पिनो नाम स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते वेतनञ्च लप्स्यामहे, भाष्य, ३।१।२६, वा० १४)। पाणिनि ने वेतन द्वारा जीविकोपार्जन करनेवाले को वैतनिक कहा है (वेतनादिभ्यो जीवति, ४।४।१२)। अर्थशास्त्र के अनुसार वेतन शब्द के दो अर्थ थे। शिल्पियो को मिलने वाला द्रव्य विशेष भी वेतन कहलाता था (अर्थ० २।२३)। राजकर्मचारियो को जो नौकरी मिलती थी उसे भी वेतन कहते थे (अर्थ० ५।३)।

शिल्पियो के काम करने का मुख्य उद्देश्य जीविकोपार्जन करना था (अके जीविकार्थे, ६।२।७३)। नियत काल के लिये नियत वेतन पर किसी व्यक्ति को काम के लिये स्वीकृत करना परिक्रयण कहलाता था (परिक्रयणे सम्प्रदानमन्यतरस्याम्, १।४।१४, परिक्रयणं नियतकालं वेतनादिना स्वीकरणम्, नात्यन्तिक क्रय एव) जो व्यक्ति इस प्रकार परिक्रीत होता वह अपने परिक्रेता से वेतन जान लेने पर उसकी औपचारिक स्वीकृति देता था, उसी के लिये इस प्रकार के प्रयोग भाषा में चलते थे—शताय (या शतेन) परिक्रीतोऽनुब्रूहि: सहस्राय (या सहस्रेण) परिक्रीतोऽनुब्रूहि, अर्थात् एक शत या एक सहस्र कार्षापण मुद्रा पर तुम्हे काम पर रख लिया गया, उसे स्वीकार करो। भृति या मजदूरी पर लगाए हुए मजदूर का नाम या तो उसकी मजदूरी से और या उसके कार्यकाल से रक्खा जाता था, (५।१।५६ सोऽस्यांश वस्नभृतय., पञ्चभृतिरस्य पञ्चकः, सप्तकः, साहस्र.) पञ्चक वह मजदूर हुआ, जिसे पाँच कार्षापण माहवार मिलें। अथवा मासिक वह जिसे महीने भर के लिये काम पर लगाया गया हो (तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, ५।१।८०)। दैनिक से भेद करने के लिये मासिक शब्द था। आजकल रोजीना और महावारी के हिसाब से मजदूरो को मजदूरी दी जाती है। भृति या वेतन की गणना की इकाई एक मास माना जाता था, जैसे कर्मकरः मासिक मासं भृतः। कात्यायन ने भी इसका समर्थन किया है (५।४।११६, वा० मासाद् भृतिप्रत्यय पूर्वपदाट्ठज् विधिः, पञ्चकः मासोऽस्य पञ्चकमासिकः कर्मकरः, सूत्र, ५।१।५६ के साथ)। इस वार्तिक पर विचार करते हुए पतञ्जलि ने अपने समय के कर्मकरो की मासिक भृति का कुछ सङ्केत दिया है, जैसे पञ्चकमासिक , षट्कमासिक., दशकमासिक', अर्थात् पाँच छ' या दस कार्षापण मासिक पानेवाला मजदूर। भाष्य मे एक जगह ऐसे मजदूरो का भी उल्लेख है जो रोजाना मजदूरी पर रक्खे जाते थे। उनकी मजदूरी चादी का चौथाई कार्षापण कही गई है, जो साढे सात कार्षापण माहवारी हुआ (कर्मकरा. कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामहे, १।३।७२)। इसी के साथ कौटिल्य का वह प्रमाण भी सङ्गत हो जाता है जिसमे कहा गया है कि उन मजदूरो को जो खाना भी पाते हैं, सवा कार्षापण प्रतिमास मजदूरी दी जायगी (अर्थ ५।३)। यह स्थिति उन दास कर्मकरो की थी, जो मुख्यत खाने कपड़े पर रक्खे जाते थे। भाष्य मे उनके विषय में लिखा है—तथा यदेतद्दासकर्मकरा नामैतेऽपि स्वभूत्यर्थमेव प्रवर्तन्ते भक्तञ्चेलञ्च लप्स्यामहे, परिभाषाश्च न नो भविष्यन्ति, भाष्य (३।१।२६ वा० १४)। रोजाना भोजन पर रहनेवाले मजदूर भाक्त या भाक्तिक कहलाते थे (४।४।६८)। जातको में मजदूरो को यवागू और भक्त देने का उल्लेख आता है।

अध्याय ४, परिच्छेद ६—वाणिज्य-व्यापार

वाणिज्य-व्यापार के सम्बन्ध मे सूत्रो में पर्याप्त सामग्री आ गई है। ये शब्द विशेष

ध्यान देने योग्य हैं—वाणिज, निमान, क्रय-विक्रय, क्रयविक्रयिक, आपण, पण्य, शुल्क, देय ऋण।

व्यवहार—वाणिज्य-व्यापार के लिये सामान्यतः शब्द व्यवहार चालू था। उसे पण भी कहा गया है। व्यवहार का मुख्य लक्षण क्रय-विक्रय है (४।४।१३)। ज्ञात होता है कि व्यवहार आयात-निर्यात सम्बन्धी व्यापक व्यापार के लिये और पण स्थानीय क्रय-विक्रय के लिये प्रयुक्त होता था। आपण अर्थात् दूकान या बाजार मे क्रय-विक्रय के लिये प्रदर्शित वस्तुएँ पण्य कहलाती थी (४।४।५१)।

वाणिज—व्यापारियो के लिये वणिक् (३।३।५२) और वाणिज (६।२।१३) ये दोनो शब्द प्रयुक्त होते थे। किसी भी जाति का व्यापारी हो वह वाणिज कहलाता था। वैश्यों के लिये वह शब्द सीमित न था; जैसे मद्रवाणिज. मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला कोई भी व्यक्ति हो सकता था।

व्यापारियो के नाम कई कारणो से पडते थे, उनके व्यवसाय की विशेषता से, व्यापार की वस्तुओ से, पूजी के आधार पर अथवा वे जिन देशो से वाणिज्य करते हों उनके नाम से। सूत्रो मे इन सब का उल्लेख यथास्थान किया गया है।

क्रय-विक्रयिक (४।४।१३ वस्नक्रयविक्रयाट् ठन्, क्रय-विक्रयेणजीवति) वह व्यापारी था, जिसका मुख्य काम लेवा-वेची या खरीद-फरोख्त था। यह थोक व्यापारी हुआ, जो सामान एक जगह भरकर दूसरी जगह ले जाकर वेचता था। वस्निक उस व्यापारी की संज्ञा होती थी, जो रोकड़-पूंजी व्यापार में लगाता हो, चाहे स्वयं उसकी देखभाल न भी करता हो (वस्नेन जीवति ४।४।१३)। एक प्रकार से क्रय-विक्रयिक और वस्निक का यही परस्पर भेद था कि एक की पूंजी या रोकड़ लगती थी और दूसरा मुख्यतः काम-काज देखता था। पाणिनि ने एक विशेष प्रकार के व्यापारी को सास्थानिक कहा है (४।४।७२ सस्थाने व्यवहरति)। संस्थान का अर्थ विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। प्राचीन भारत में आर्थिक जीवन की तीन मुख्य संस्थाएं थी। शिल्पियो के संगठन को श्रेणी, व्यापारियो के संगठन को निगम (३।३।११९, निगच्छन्तीति निगमः) और एक साथ माल लाद कर वाणिज्य करने वाले व्यापारियो को सार्थवाह कहते थे। सार्थवाह और श्रेणी दोनो ही महाभारत मे प्रयुक्त हुए हैं। सार्थवाह का तो विशेष उल्लेख जातको मे आता है। पाणिनि में सार्थवाह शब्द का प्रयोग नही मिलता, किन्तु व्यापार की यह विधि उस समय भी अवश्य विद्यमान थी। विचार करने से अनुमान होता है कि पाणिनि का सास्थानिक शब्द सार्थवाह के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। सार्थ या समूह मे व्यापार करने वाले लोगो को सार्थवाह शब्द के जन्म के पहले सास्थानिक कहा जाता हो, ऐसी संभावना है (सस्थान = समूह)।

सूत्रो में दो प्रकार के व्यापारियो का और उल्लेख है, प्रास्तारिक (प्रस्तारे व्यवहरति) एवं काठिनिक (कठिने व्यवहरति ४।४।७२)। पहले व्यापारी खनिज

धातुओ मे और दूसरे बाँस, ववई (वल्वज) वाध (वार्घ—काशिका) आदि के जंगलो की उपज की ठेकेदारी का काम करते थे।

व्यापारिक वस्तुओ के नाम से भी व्यापारी लोग प्रसिद्ध हो जाते थे, जैसे अश्ववाणिजः गोवाणिजः (६।२।१३)। इसी प्रकार उन देशो के नाम से जिनके साथ वे प्रायः व्यापार करते थे व्यापारियो का नाम पडता था (गन्तव्य पण्यं वाणिजे ६।२।१३), जैसे काश्मीरवाणिज मद्रवाणिज, गान्धारिवाणिज (मद्रादिपु गत्वा व्यवहरन्तीत्यर्थः)। व्यापारियो मे जो उच्चस्थानीय या चोटी के होते थे, वे औरो की तुलना मे परमवाणिज या उत्तमवाणिज कहलाते थे। इन उदाहरणो से प्राचीन-काल के अन्तर-प्रान्तीय व्यापार का सकेत मिलता है। जातको मे वर्णन आता है कि प्राच्य देश के व्यापारी उत्तर-पश्चिमी भारत मे जाकर व्यापार करते थे, जैसे विदेह के व्यापारी कश्मीर और गन्धार मे (३।३६५), एवं मगध के व्यापारी सुरपश्चिम के सौवीर देश मे (विमानवत्थु अट्ठकथा, पृ० ३३६), अथवा वाराणसी के व्यापारी उज्जैन (जातक २।२४८) या श्रावस्ती मे (२।२९४)। भाषा की प्रकृति से ज्ञात होता है कि दूरस्थ प्रदेशो के साथ व्यापार करने वाले व्यक्तियो के लिये ही इस प्रकार के विशेष शब्दो की आवश्यकता पड़ती होगी। उन्ही मे सूत्रार्थ की चरितार्थता अधिक है।

आपण (३।३।११९)—दुकान या वाजार के लिये आपण शब्द था (एत्य तस्मिन् आपणन्त इत्यापंण, काशिका) बिक्री की वस्तुएँ पण्य या पणितव्य कहलाती थी (३।१।१०१)। पण्य सामान्य शब्द था। कोई वस्तु भाण्डशाला मे बिक्री के निमित्त रखी हो, तो भी पण्य हो सकती थी, किन्तु जो वस्तुएँ बिक्री के निमित्त दूकान मे सजाकर रखी जाती थी, उनके लिये क्रय्य शब्द प्रयुक्त होता था (क्रय्य स्तदर्थे, ६।१।८२)। महाभारत में क्रय्य के विशिष्ट अर्थ में पण्य का भी व्यवहार हुआ है, जैसे 'पण्यानां शोभनं पण्यम्' (शान्ति पर्व १८६।२०) का अर्थ यह है कि जो बिक्री की वस्तुएँ हो, उनमें वे उत्तम हैं जो उस निमित्त से पण्य रूप में दुकान या वाजार में सजाई हुई हैं। सूत्र का क्रय्य शब्द ठीक उन्हीं के लिये है।

तेन क्रीतम् (५।१।३७)—इस प्रकरण मे कई सोने-चादी और तावे की मुद्राओ का उल्लेख है जो उस समय व्यवहार में काम आती थी (आगे परिच्छेद ९)। वाजार में माल खरीदने के लिये सिक्को का चलन आम बात थी। पहले की उस स्थिति से लोग आगे वढ गए थे, जिसमे वस्तुओ की अदलावदली ही व्यापार का मुख्य साधन होती थी। वस्तुओ का मूल्य दुकानदार और ग्राहको के बीच में सिक्को मे ही चुकाया जाता था'। इस के वडे सौदे भी होते थे, जैसा पाणिनि ने उल्लेख किया है। जो सामान एक सहस्र कार्षापण से खरीदा जाय वह साहस्र कहलाता था (५।१।२७, सहस्रेण क्रीतम्)। हर वडी संख्या से भाषा में शब्द नही वना करता,

पर शत और सहस्र ऐसी संख्याएँ हैं, जो प्राय भाषा मे व्यवहृत होती हैं, अतएव उनके संबन्ध मे ही शत्य और साहस्र शब्द प्रचलित हो गए। बाजार मे सोने के निष्क से लेकर तावे के माष तक बीसियो प्रकारके सिक्के चलते थे। उनके आधार पर छोटे बड़े मूल्य की अनेक प्रकार की क्रीत वस्तुओ के लिये बहुत से शब्द लोक मे चालू थे, जैसे नैष्किक (एक निष्क की वस्तु ५।१।२०), द्विनिष्क या द्विनैष्किक, त्रिनिष्क या त्रिनैष्किक (५।१।३०), शतमान (५।१।२७), विंशतिक (५।१।२७), अध्यर्धविंशतिकीन, द्विविंशतिकीन, त्रिविंशतिकीन, कार्षापणिक, अध्यर्धकार्षापणिक, द्विकार्षापण-द्विकार्षापणिक (५।१।२९), पाणिक, पादिक अध्यर्धपण्य, द्विपण्य, त्रिपण्य, अध्यर्धपाद्य, द्विपाद्य, त्रिपाद्य, माषिक, अध्यर्धमाष्य, द्विमाष्य, त्रिमाष्य, शत्य, अध्यर्धशत्य, द्विशत्य, त्रिशत्य (५।१।३४), अध्यर्धशाण्य–अध्यर्धशाण, द्विशाण्य–द्विशाण–द्वैशाण त्रिशाण्य-त्रिशाण–त्रैशाण (५।१।३६), साहस्र, अध्यर्धसाहस्र-अध्यर्धसहस्र, द्विसाहस्र–द्विसहस्र (५।१।२९), इत्यादि। अनेक प्रकार के शब्दो मे उस समय के उस क्रय-विक्रय की झाकी मिलती है, जो तावे के धेले-पैसे से लेकर हजार-दो-हजार-तीनहजार की लागत की वस्तुओ की लेवा-वेची के रूप मे प्रचलित था। इसके अतिरिक्त निमान या अदलाबदली की प्रथा भी थी (५।२।४७)।

साई या सत्यापन द्रव्य—बाजार में किसी चीज की बिक्री पक्की करने के लिये दुकानदार गाहक से कुछ साई लेता है। इसके लिये सत्याकरोति (सत्यादशपथे, सत्याकरोति वणिक् भाण्डम् ५।४।६६) एवं सत्यापयति (३।१।२५) ये दो शब्द भाषा मे प्रचलित थे। साई का उद्देश्य जैसा काशिका ने लिखा है ग्राहक की ओर से सौदा नक्की करना था (मयैतत् क्रेतव्यमिति तथ्यं करोति)। पक्का करने की क्रिया को सत्यंकार[1] कहते थे (कारे सत्यागदस्य ६।३।७०)।

मूल और लाभ—पूंजी मूल थी। लाभ सहित पूंजी या लागत को मूल्य कहते थे (पटादीनां उत्पत्तिकारण मूलम्, मूल्यं हि सगुणं मूलम्—काशिका)। लाभ वह है जो मूल द्वारा प्राप्त होता है (मूलेन आनाम्यम्, ४।४९१)। इसी सूत्र में पाणिनि ने मूल्य शब्द का दूसरा अर्थ भी दिया है—मूलेन समं मूल्यम् (४।४।९१)। पहले मूल्य का अर्थ है लागत और लाभ; दूसरे मूल्य का अर्थ है वह वस्तु जो लागत के समतुल्य हो, अर्थात् उसमे जो लागत आई है, उसके अनुरूप या बराबर कीमत की हो।

भाषा में ऐसे शब्द भी चलते थे, जिनसे यह प्रकट हो कि अमुक वस्तु की बिक्री से कितना लाभ हुआ है (तदस्मिन् वृद्धयायलाभशुल्कोपदा दीयते, ५।१।४७), जैसे पञ्चक, सप्तक, शत्य-शतिक, साहस्र, जिसमे पांच, सात, सौ या हजार कार्षापण का मुनाफा हो।

---

१. याज्ञवल्क्य स्मृति २।६१ में सत्यंकार कृतम्।

वस्न—इस शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से आरंभ हो जाता है। निम्नलिखित तीन सूत्रो मे वस्न आया है—

१—वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् (४।४।१३), वस्नेन जीवति वस्निक.।

२—वस्नद्रव्याभ्या ठन्कनौ (५।१।५१), वस्नं हरति, वस्न वहति, वस्नमावहति वस्निक:।

३—सोऽस्यांशवस्नभृतय. (५।१।५६), पञ्च वस्न: अस्य पञ्चक.।

वस्न का अर्थ सर्वत्र पूंजी है। वस्निक शब्द के अर्थों को इस प्रकार समझना चाहिए—वस्निक वह व्यापारी था, जो स्वयं खरीदने-बेचने का काम न करके केवल पूजी लगाता और लाभ का उपार्जन करता हो। वस्निक का उलटा क्रय-विक्रयिक था, जो स्वय लेता-बेचता था (४।४।१३)। सूत्र ५।१।५६ में जिस वस्न का उल्लेख है, वह सम्मिलित व्यापार मे लगी हुई पूंजी को व्यक्त करने के लिये है। इस प्रयोग का क्षेत्र सास्थानिक या सार्थवाह लोगो का वाणिज्य था। यदि कई आदमियो की मिलाकर सौ पूंजी लगी है, तो अपनी अपनी पूंजी के अनुसार लाभ मे भी सब हिस्सा बाटते थे। सौ की पूंजी में जिसका ५ वस्न है, वह पञ्चक कहलाता था।

वस्निक शब्द का तीसरा प्रयोग (५।१।५१) द्रव्यक का उलटा था। जो व्यापारी माल बेचने के लिये शकटो पर भांड लादकर निकलता था, वह जाते समय द्रव्यक कहलाता था। वही जब अपना माल बेचकर पूंजी और लाभ कमाकर घर की ओर लौटता था, तब वस्निक कहलाता था। वस्निक और द्रव्यक इन दोनों शब्दो के भी तीन तीन अर्थ थे। उन्हे सूत्रकार ने हरति वहति, आवहति—इन तीन शब्दो से प्रकट किया है। उदाहरण के लिये एक व्यापारी वाराणसी से तक्षशिला तक जाकर अपना माल बेचने के लिये घर से निकलता है। जब वह काशी से चला, तो काशी के व्यापारियो की भाषा मे वह 'हरति देशान्तर' प्रापयति, माल लादकर चला है, इस अर्थ मे द्रव्यक कहलाता था। मार्ग में जब वह मथुरा पहुँचता तो मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ में द्रव्यक कहते थे अर्थात् जो उनके नगर से होता हुआ माल ले जा रहा है। वही वाणिज जब अपने गन्तव्य स्थान तक्षशिला में पहुँचता, तब वहाँ के व्यापारी उसे 'आवहति' अर्थ मे द्रव्यक कहते अर्थात् वह हमारे नगर में माल लेकर आ रहा है। इस प्रकार वह माल बेचकर पूंजी कमाता हुआ चलता था। तक्षशिला मे बिक्री समाप्त करके वह अपनी पूंजी लेकर वाराणसी की ओर लौटता था, तब वह वस्निक कहलाने लगता था। तक्षशिला के व्यापारी 'हरति' अर्थ मे उसे वस्निक कहते अर्थात् वह बिक्री से मिली हुई आय, जिसमे पूंजी और लाभ दोनो शामिल थे, ले जा रहा है (यहाँ भी हरति देशान्तरं प्रापयति)। मार्ग मे मथुरा के व्यापारी उसे 'वहति' अर्थ मे वस्निक कहते, अर्थात् वह बिक्री का द्रव्य लेकर उनके नगर से जा रहा है। जब वह वाराणसी पहुँचने को होता, तब वहाँ

के लोग उसके लिये आवहति अर्थ मे वस्निक शब्द का प्रयोग करते, अर्थात् वह बिक्री की रोकड ला रहा है। इन उदाहरणो से यह समझा जा सकता है कि सूत्रकार ने शब्दो के अर्थो की सूक्ष्म छानवीन में कितना परिश्रम किया था—महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्रकारस्य।

सूत्रयुग की भाषा के बाद वस्न शब्द का प्रचलन साहित्य में कम हो गया, हाँ लोक मे पूंजी और रोकड के लिये यह शब्द चलता रहा, जैसा की भोजपुरी भाषा में अभी तक मिलता है। अर्थशास्त्र में वस्न की जगह मूल्य शब्द का प्रयोग हुआ है। पतञ्जलि ने अपनी समृद्ध भाषा मे केवल एक बार मूल्य के अर्थ मे वस्न शब्द का प्रयोग किया है (अन्येन हि वस्नेनैकं गा क्रीणाति, अन्येन द्वौ अन्येन त्रीन् १।१।३८ वा० ६) अर्थात् एक बैल का मूल्य और, दो का और, तीन का और होता है।

द्रव्यक व्यापारी अर्थात् माल लादकर ले जानेवाले सार्थवाह कितने भिन्न प्रकारो का माल लेकर चलते थे, उसका थोड़ा-सा सकेत वशादिगण (५।१।५०) में है, जैसे वंश (बांस), कुटज, बल्वज (एक प्रकार की घास, बबई), मूल (कई प्रकार की ओषधियाँ), अक्ष (गाडी या रथ के पहियो के धुरे, स्थूण (घरों में लगाने के लिये लकडी के लट्ठो की बनी हुई थूनी या खंभे), अश्म (पत्थर की पटिया या भोट या स्तम्भ), अश्व, इक्षु, खट्वा (खाट के पाए और पट्टियाँ)।

शुल्क—व्यापारियो के माल पर जगह जगह चुङ्गी लगती थी, जिसे शुल्क कहते थे। जितना शुल्क माल पर पडता था, उसके आधार पर व्यवहार मे माल का नाम पड़ जाता था, जैसे पञ्चक, वह माल जिस पर पाँच कार्षापण चुङ्गी लगी हो (५।१।७ पञ्च अस्मिन् शुल्को दीयते)। ऐसे ही सप्तक, सहस्रक आदि। चुङ्गीघर को शुल्कशाला और वहाँ से प्राप्त होनेवाली आय को शौलकशालिक कहा जाता था। शुल्कशाला राज्य के लिये प्रमुख आयस्थान थी। ठगायस्थानेभ्यः सूत्र के मूर्धाभिषिक्त उदाहरणो में सर्वप्रथम शौलकशालिक आय अर्थात् चुङ्गी की आमदनी का ही उल्लेख है। वस्तुतः शुल्क से ही दक्षिणी भाषाओ मे सुङ्क हुआ जिससे बिगड़कर चुङ्गी शब्द बना है। छोटे या फुटकर माल पर चुङ्गी की रकम कम ही होती थी। जिस पर आधा कार्षापण या अठन्नी चुङ्गी लगे उसके लिये चुङ्गी की भाषा मे अर्धिक या भागिक—ये दो शब्द प्रचलित थे (पूरणार्धाट्ठन् ५।१।४८; भागाद् यच्च ५।१।४९; भागिक का दूसरा रूप भाग्य भी था)। अर्ध और भाग शब्द का अर्थ आधा कार्षापण या अठन्नी होता था (अर्धशब्द· भाग शब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचक., काशिका)।

पाणिनि ने पूर्व देश मे परम्परा से चले आते हुए कुछ करो का उल्लेख किया है, जिन्हे वहाँ की भाषा में कार कहते थे (कारनाम्नि च प्राचा हलादौ ६।३।१०)। भाष्य मे अविकटोरणः उदाहरण मे कहा गया है कि भेडो के हरेक झुण्ड या रेवड़ के पीछे एक भेड़ चुङ्गी वसूल की जाती थी। काशिका मे दो उदाहरण और है—

यूथपशु अर्थात् एक झुण्ड या हेडे के पीछे एक पशु चुङ्गी; नदी दोहनी अर्थात् नदी का घाट पार करने वाले हर दूधिये से एक छोटी दोहनी दूध उतराई या चुङ्गी वसूल किया जाता था। इसी सूत्र पर दपदिमापकः, मुकुटेकार्षापण हलेद्विपदिका इन करों का और भी उल्लेख है। उनका संबन्ध चुङ्गी से न था।

वाणिज्य पथ—जैसा कहा जा चुका है, सूत्र ४।३।८५ में एक नगर को दूसरे नगर से मिलाने वाले पथों का उल्लेख आया है (तद्गच्छति पथि दूतयो.)। देव पथादिगण मे कई प्रकार के विशेष पथों का उल्लेख है, जैसे वारिपथ, स्थलपथ, रथपथ, करिपथ, अजपथ, शङ्कुपथ, राजपथ, सिंहपथ, हंसपथ, देवपथ (पिछले दो का संबन्ध वायुमार्ग से है)। पालि महानिद्देस मे इन पथो का प्राचीन उल्लेख रह गया है। उस सूची में ये नाम हैं—वण्णुपथ, अजपथ, मेण्ढपथ, सकुपथ, छत्तपथ, वंनपथ, सकुणपथ, मूसिकपथ, दरीपथ, वेत्तचारपथ (महानिद्देस, भाग १, पृ० १५४-१५५; भाग २ पृ० ४१४-४१५; सिल्वां लेवी, टालेमी, निद्देस और बृहत्कथा नामक लेख)। अजपथ और शङ्कुपथ का उल्लेख कात्यायन ने भी किया है जिससे इन नामो की प्राचीनता सिद्ध होती है। अजपथ से आनेवाला माल (अजपथेन आहृतम्) अथवा उस रास्ते जानेवाला व्यापारी (अजपथेन गच्छति) आजपथिक कहलाता है। ऐसे ही शंकुपथ से जानेवाला या आनेवाला शाकुपथिक था। अजपथ के विषय मे बृहत्-कथाश्लोकसग्रह (१८।४१६) मे लिखा है कि यह रास्ता इतना कम चौडा होता था कि आमने सामने से आने वाले दो व्यक्ति एक साथ उस पर से न निकल सकते थे। जिस मार्ग मे केवल एक बकरी के चलने की गुजाइश हो, वह तंग रास्ता अजपथ हुआ। आज भी पहाड़ी प्रदेश में बकरी और भेड़ो पर छोटे थैलो में माल लादकर ले जाते हैं। ये ही अजपथ और मेण्ढपथ होने चाहिएं।

पाणिनि, कात्यायन और निद्देस में जिसे शङ्कुपथ कहा है, वह और भी अधिक कठिन मार्ग था। पहाड़ी मार्गों में जहाँ बीच में चट्टानें आ जाती थी, वहाँ शंकु या लोहे की कीलें चट्टान मे ठोककर चढना पडता था। एक जातक मे शंकुपथ का उल्लेख आया है (वेत्ताचारो सकुपथ पि छिन्ने, जातक ३।५४१)।

मूषिक पथ वे पहाड़ी मार्ग थे, जिनमे चट्टान काटकर चूहों के बिल जैसी छोटी सुरगें बनानी पड़ती थी। दरीपथ वे मार्ग थे जिनमें कुछ चौडी सुरगें काटी जाती थी। वशपथ और वेत्राचार उन मार्गों को कहते थे, जहाँ नदी के एक किनारे पर लगे हुए लम्बे बाँस या बेतो को झुकाकर उनकी सहायता से दूसरी ओर पहुँचा जा सके। अत्यन्त घने जगलो में इस प्रकार के उपाय काम में लाये जाते थे। पाणिनि का हंसपथ वही है जो महानिद्देस का सकुणपथ है। कालिदास ने भी खग-पथ, घनपथ सुरपथ (= देवपथ) इन तीनो मार्गों का उल्लेख किया है (रघु० १३।१९)। वैसे तो देवपथ आकाश में ऊँचे मार्ग को कहते थे, किन्तु देवपथा-

दिभ्यश्च सूत्र मे देवपथ शब्द उस मार्ग के लिये सिद्ध किया गया हैं, जो किले की दीवार के ऊपर ऊँची सडक होती थी (अर्थशास्त्र २।३; देखिए अ० ३ परि० ९, पृ० १४४)।

कात्यायन ने और भी कुछ विशेष पथ और उनसे आने वाले सामानो का उल्लेख किया है, जैसे कान्तार-पथ, स्थलपथ, वारिपथ। इनसे आने वाला सामान कान्तार-पथिक, स्थालपथिक, वारिपथिक नामो से पुकारा जाता था। कौशाम्बी से अवन्ति होकर दक्षिण मे प्रतिष्ठान और पश्चिम मे भरुकच्छ को मिलाने वाला विन्ध्याटवी या विन्ध्य के बड़े जंगल का मार्ग प्राचीन भूगोल मे कान्तार-पथ नाम से प्रसिद्ध था। कात्यायन की सूचना से ज्ञात होता है कि मधूक (मुलहठी) और मिर्च स्थलपथ नामक मार्ग से उत्तर में लाई जाती थी। यह स्थलपथ दक्षिण भारत के पाण्ड्यदेश से पूर्वी घाट और दक्षिणकोशल होकर आनेवाला मार्ग हो सकता है। कालिदास ने भारत से ईरान को जाने वाले खुश्की के रास्ते को भी स्थलपथ कहा है। पेतवत्थु की परमत्थदीपनी टीका के अनुसार द्वारका से मरुभूमि के रेगिस्तान को पार करता हुआ एक मार्ग सौवीर की राजधानी रोरुक को चला जाता था। वहाँ से फिर वही उत्तर की ओर मुड़कर वाहीक कम्बोज की तरफ चला जाता था (परमत्थ, भाग ३, पृ० ११३)। वही दूसरी ओर पश्चिम मे ईरान की ओर जाता होगा, जैसा कि आज भी है।

उत्तरपथ—एक विशेष सूत्र में उत्तरपथ का उल्लेख है। जो माल उत्तरपथ से आता था, या जो लोग उस मार्ग पर जाते थे, उनके लिये औत्तरपथिक शब्द का प्रयोग उस समय की भाषा मे होता था (उत्तरपथेनाहृतं च, ५।१।७७)। उत्तर भारत मे यातायात और व्यापार की जो महाधमनी गन्धार से पाटलिपुत्र तक चली गई है, अशोक शेरशाह अकबर आदि के समय में भी जो बराबर चालू रही, उसी महामार्ग (राहे आजम) का प्राचीन नाम उत्तरपथ था। मेगस्थने आदि यूनानी लेखको ने इसे 'नार्दर्न रूट' कहा है, जो उत्तरपथ का ठीक अनुवाद है। उन लेखको के अनुसार इस मार्ग के दो बड़े टुकड़े थे। एक तो वंक्षु से कास्यपीय सागर तक जो ब्लैक सी होकर यूरप तक चला जाता था। उसी रास्ते भारतीय माल नदियो के वारिपथ से होता हुआ पश्चिमी देशो में पहुँचता था।

इस मार्ग का दूसरा भाग भारतवर्ष में था जो गन्धार की राजधानी पुष्कलावती से चलकर तक्षशिला होता हुआ मार्ग में सिंधु, शुतुद्रि और यमुना पार करके, हस्तिनापुर और कान्यकुब्ज प्रयाग को मिलाता हुआ पाटलिपुत्र एव ताम्रलिप्ति तक चला जाता था। इस मार्ग पर यात्रियो के ठहरने के लिये निषद्याएँ, जल के लिये कुएँ, और छायादार वृक्ष लगे हुए थे। सवत्र एक-एक कोस पर दूरी की सूचना देनेवाले चिह्न बने थे। इसी मार्ग का बीच का टुकडा वह था जो तक्षशिला

पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ वाल्हीक तक जाता था और वहाँ पूरव में कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथो से मिलता था। इस प्रकार चीन, पश्चिमी देश और भारत इन तीनो को मिलानेवाला यह उत्तरपथ नामक महामार्ग विश्व के वाणिज्य-पथो में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

पण्यद्रव्य—अष्टाध्यायी में यत्र-तत्र वस्तुओ के जो अनेक नाम आए हैं, उनकी सूची से उस समय की पण्य वस्तुओ का अनुमान किया जा सकता है। तदस्य पण्यम् (४।४।५१) सूत्र के प्रकरण मे लवण (४।४।५२), किसर, तगर, गुग्गुल, उशीर (४।४।५३), शलालु (४।४।५४; पाली सलल, देवदार का सुगन्धित पुष्प, सारत्थपकासिनी ३।२६३) का पण्यद्रव्यो मे उल्लेख है। और भी इस प्रकार की आर्थिक वस्तुओं की सूची सूत्रो से संगृहीत की जा सकती है—वस्त्र जैसे कौशेय (४।२।४२), और्ण (४।३।१५८), औम (४।३।१५८), भंग्यभागीन (५।२।४), कार्पासिक (४।३।१३६ गणपाठ, तूल ३।१।२५), उपसव्यान (१।१।३६), बृहतिका (५।४।६); कम्बल, जैसे पण्यकम्बल (६।२।४२ और ४।१।२२) प्रावार (३।३।५४), पाण्डुकम्बल; (४।२।११), अजिन (६।२।१९४), द्वैप-वैयाघ (४।२।१२); रंग जैसे लाक्षा (४।२।२) रोचना (४।२।२), मंजिष्ठ (८।१।९७), नीली (४।१।४२); थैले और बोरे (आवपन) जैसे गोणी और गोणीतरी (४।१।४२, ५।३।९०), कुतुप (५।३।८९); उपानत्, (५।१।१४), नद्ध्री (३।२।१८२), वार्ध्र (४।३।१५१); श्रृङ्खल (५।२।७९), दात्र (३।२।१८२), कुशी (४।१।४२), युग, अक्ष (६।३।१०४), खनित्र (३।२।१८४), अरित्र (३।२।१८४); तन्त्र (५।२।७०), प्रवाणी (५।४।१६०); खाद्यद्रव्य जैसे गुड (४।४।१०३), फाणित (७।२।१८), क्षीर-दधि-हैयगवीन (५।२।२३), शाक (६।२।१२८); धान्य (५।२।१) जैसे, व्रीहि, शालि, यव, तिल, माष, अणु, षष्टिका आदि; कौलालक (मिट्टी के वर्तन ४।३।११८), अमत्र (३।१।१००); सुरा (२।४।५५), कापिशायन (४।२।९९); आभूषण, जैसे कर्णिका, ललाटिका (४।३।६५); रत्न और मणि जैसे सस्यक (५।२।६८), लोहितक (५।४।३०), वैदूर्य (४।३।८४); धातुएँ जैसे सुवर्ण, रजत, ताम्रायस्, कृष्णायस्, त्रपु; शस्त्र (३।२।१८२) जैसे शक्ति (४।४।५९), कासू (५।३।९०), परश्वध (४।४।५८), धनु-इषु (६।२।१०७), वर्म (३।१।२५); वाद्य जैसे वीणा (३।३।६५), मड्डुक, झर्झर (४।४।५६); माला (६।३।६५), शकट, रथ, नौ आदि।

इसी सूची मे शाल्व जनपद के बैल (४।२।१२६) और सिन्धु के उस पार की बछेड़ियाँ (पारेवडवा) भी हैं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी थी, जिनका बेचना अच्छा नहीं समझा जाता था (कर्मणीनिविक्रिय, ३।२।९३, कुत्सानिमित्त कर्म) काशिका ने सोम-विक्रयी, रसविक्रयी दा

उदाहरण दिए हैं। मनु ने सोम और दूध इत्यादि रसो का वेचना निषिद्ध माना है (मनु० १०।८६-८९)। व्यापारी लोग अपना माल भरने के लिये भाण्डागार रखते होगे, जिसका उल्लेख सूत्र ४।४।७० मे है। इसे ही कालान्तर में भाण्डशाला या भडसाल कहने लगे। भंडसाल भरना इस प्रयोग के लिये संस्कृत मे संभाण्डयते प्रयोग था (३।१।२०)। कात्यायन ने इसे ही समाचयन कहा है (भाण्डात् समाचयने)।

अध्याय ४, परिच्छेद ७—निमान

एक वस्तु से बदलकर दूसरी वस्तु लेना निमान कहलाता था, जिसे आज कल अदलावदली कहते हैं। जो वस्तु दी जाती थी, उसका उस वस्तु के साथ जो ली जाती थी, मूल्य का आनुपातिक सम्बन्ध निश्चित करना पडता था। या तो दोनो वस्तुओ का मुल्य वरावर होता, जैसे सेर भर गेहूँ के बदले मे सेर भर तिल लेना। किन्तु यदि सेर भर जौ देकर दो सेर मट्ठा मिले तो जौ का मूल्य मट्ठे के मूल्य से दुगना होगा। उस समय कहा जायगा द्विमयमुदश्विद् यवानाम्। इसी प्रकार त्रिमयम्, चतुर्मयम् उदाहरण भी थे अर्थात् दो भाग मट्ठे का मूल्य एक भाग जौ के बरावर हुआ। जो वस्तु वदले में ली जाती है वह निमेय और जो दी जाती वह निमान कहलाती थी। निमेय के एक भाग के मूल्य की तुलना निमान के कई भागो से करने का नियम था। यदि निमान 'क' माना जाय तो यह अनुपात क. १—इस रूप मे प्रगट किया जाता था। क: ३—इस रूप मे कभी नही। निमान और निमेय के आनुपातिक सम्बन्ध को वताने वाले भाषा के प्रयोगो को नियमित करने के लिये सूत्र था—सख्याया गुणस्य निमाने मयट् (५।२।४७, गुणो भाग: निमानं मूल्यम्—काशिका)।

निमान के कुछ उदाहरण—निमान निमेय के उदाहरण प्रतिदिन के काम में आने वाली साधारण वस्तुएँ हैं, जैसे खाद्य पदार्थ, वस्त्र, छोटे पालतू पशु। सूत्र मे वसन या वस्त्र को निमान का साधन माना है (५।१।२७)। वसन देकर जो वस्तु ली जाती थी, उसे वासन कहते थे। वसन नियत लम्बाई और मूल्य का शाटक या धोती थी। कोली जुलाहे वस्त्र देकर वदले मे वस्तुएँ लेते होगे। सूत्र ५।१।१९ मे गोपुच्छिक उस वस्तु को कहा है जो गोपुच्छ के वदले मे ली जाती थी। डाक्टर भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदलावदली या सिक्को की तरह क्रय-विक्रय करने का साधन माना था। किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूछ नही, गौ ही है। गाय के लिये जो चराई का शुल्क दिया जाता है, उसे आज भी पुच्छी कहते हैं। प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को वेचते समय उसका स्वाम्य परिवर्तन उसी समय पूरा होता था, जव वेचने वाला गाय की पूछ खरीदने वाले के हाथ मे पकड़ा दे। इससे ज्ञात होता है कि गोपुच्छ शब्द गौ के ही पर्याय रूप में लिया जाता था। वैदिक काल से ही गाय

पुष्कलावती से कापिशी होता हुआ वाल्हीक तक जाता था और वहाँ पूरब में कम्बोज की ओर से आते हुए चीन के कौशेय पथों से मिलता था। इस प्रकार चीन, पश्चिमी देश और भारत इन तीनों को मिलानेवाला यह उत्तरपथ नामक महामार्ग विश्व के वाणिज्य-पथों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण था।

पण्यद्रव्य—अष्टाध्यायी में यत्र-तत्र वस्तुओं के जो अनेक नाम आए हैं, उनकी सूची से उस समय की पण्य वस्तुओं का अनुमान किया जा सकता है। तदस्य पण्यम् (४।४।५१) सूत्र के प्रकरण में लवण (४।४।५२), किसर, तगर, गुग्गुल, उशीर (४।४।५३), शलालु (४।४।५४; पाली सलल, देवदार का सुगन्धित पुष्प, सारत्थपकासिनी ३।२६३) का पण्यद्रव्यों में उल्लेख है। और भी इस प्रकार की आर्थिक वस्तुओं की सूची सूत्रों से सगृहीत की जा सकती है—वस्त्र जैसे कौशेय (४।२।४२), और्ण (४।३।१५८), औम (४।३।१५८), भंग्यभागीन (५।२।४), कार्पासिक (४।३।१३६ गणपाठ, तूल ३।१।२५), उपसंव्यान (१।१।३६), बृहतिका (५।४।६), कम्बल, जैसे पण्यकम्बल (६।२।४२ और ४।१।२२) प्रावार (३।३।५४), पाण्डुकम्बल; (४।२।११), अजिन (६।२।१९४), द्वैप-वैयाघ (४।२।१२); रंग जैसे लाक्षा (४।२।२) रोचना (४।२।२), मजिष्ठ (८।१।९७), नीली (४।१।४२); थैले और बोरे (आवपन) जैसे गोणी और गोणीतरी (४।१।४२, ५।३।९०), कुतुप (५।३।८९), उपानत्, (५।१।१४), नद्ध्री (३।२।१८२), वार्ध्र (४।३।१५१), शृङ्खल (५।२।७९), दात्र (३।२।१८२), कुशी (४।१।४२), युग, अक्ष (६।३।१०४), खनित्र (३।२।१८४), अरित्र (३।२।१८४); तन्त्र (५।२।७०), प्रवाणी (५।४।१६०); खाद्यद्रव्य जैसे गुड (४।४।१०३), फाणित (७।२।१८), क्षीर-दधि-हैयगवीन (५।२।२३), शाक (६।२।१२८); धान्य (५।२।१) जैसे, व्रीहि, शालि, यव, तिल, माष, अणु, षष्टिका आदि; कौलालक (मिट्टी के बर्तन ४।३।११८), अमत्र (३।१।१००); सुरा (२।४।५५), कापिशायन (४।२।९९); आभूषण, जैसे कर्णिका, ललाटिका (४।३।६५); रत्न और मणि जैसे सस्यक (५।२।६८), लोहितक (५।४।३०), वैदूर्य (४।३।८४); धातुएँ जैसे सुवर्ण, रजत, ताम्रायस्, कृष्णायस्, त्रपु; शस्त्र (३।२।१८२) जैसे शक्ति (४।४।५९), कासू (५।३।९०), परश्वध (४।४।५८), धनु-इषु (६।२।१०७), वर्म (३।१।२५); वाद्य जैसे वीणा (३।३।६५), मड्डुक, झर्झर (४।४।५६); माला (६।३।६५), शकट, रथ, नौ आदि।

इसी सूची में शाल्व जनपद के बैल (४।२।१२६) और सिन्धु के उस पार की बछेड़ियाँ (पारेवडवा) भी हैं।

कुछ वस्तुएँ ऐसी थीं, जिनका बेचना अच्छा नहीं समझा जाता था (कमणीनि विक्रिय', ३।२।९३, कुत्सानिमित्त कर्म) काशिका ने सोम-विक्रयी, रसविक्रयी दा

उदाहरण दिए हैं। मनु ने सोम और दूध इत्यादि रसो का वेचना निषिद्ध माना है (मनु० १०।८६-८९)। व्यापारी लोग अपना माल भरने के लिये भाण्डागार रखते होगे, जिसका उल्लेख सूत्र ४।४।७० मे है। इसे ही कालान्तर में भाण्डशाला या भडसाल कहने लगे। भंडसाल भरना इस प्रयोग के लिये संस्कृत मे सभाण्डयते प्रयोग था (३।१।२०)। कात्यायन ने इसे ही समाचयन कहा है (भाण्डात् समाचयने)।

अध्याय ४, परिच्छेद ७—निमान

एक वस्तु से वदलकर दूसरी वस्तु लेना निमान कहलाता था, जिसे आज कल अदलावदली कहते हैं। जो वस्तु दी जाती थी, उसका उस वस्तु के साथ जो ली जाती थी, मूल्य का आनुपातिक सम्वन्ध निश्चित करना पडता था। या तो दोनों वस्तुओ का मुल्य वरावर होता, जैसे सेर भर गेहूँ के वदले में सेर भर तिल लेना। किन्तु यदि सेर भर जौ देकर दो सेर मट्ठा मिले तो जौ का मूल्य मट्ठे के मूल्य से दुगना होगा। उस समय कहा जायगा द्विमयमुदश्विद् यवानाम्। इसी प्रकार त्रिमयम्, चतुर्मयम् उदाहरण भी थे अर्थात् दो भाग मट्ठे का मूल्य एक भाग जौ के वरावर हुआ। जो वस्तु वदले में ली जाती है वह निमेय और जो दी जाती वह निमान कहलाती थी। निमेय के एक भाग के मूल्य की तुलना निमान के कई भागों से करने का नियम था। यदि निमान 'क' माना जाय तो यह अनुपात क. १—इस रूप मे प्रगट किया जाता था। क: ३—इस रूप मे कभी नही। निमान और निमेय के आनुपातिक सम्वन्व को वताने वाले भाषा के प्रयोगो को नियमित करने के लिये सूत्र था—संख्याया गुणस्य निमाने मयट् (५।२।४७, गुणो भाग: निमानं मूल्यम्—काशिका)।

निमान के कुछ उदाहरण—निमान निमेय के उदाहरण प्रतिदिन के काम में आने वाली साधारण वस्तुएँ हैं, जैसे खाद्य पदार्थ, वस्त्र, छोटे पालतू पशु। सूत्र मे वसन या वस्त्र को निमान का साधन माना है (५।१।२७)। वसन देकर जो वस्तु ली जाती थी, उसे वासन कहते थे। वसन नियत लम्वाई और मूल्य का शाटक या धोती थी। कोली जुलाहे वस्त्र देकर वदले मे वस्तुएँ लेते होगे। सूत्र ५।१।१९ में गोपुच्छिक उस वस्तु को कहा है जो गोपुच्छ के वदले मे ली जाती थी। डाक्टर भण्डारकर ने गोपुच्छ को अदलावदली या सिक्कों की तरह क्रय-विक्रय करने का साधन माना था। किन्तु गोपुच्छ का अर्थ गाय की पूछ नही, गौ ही है। गाय के लिये जो चराई का शुल्क दिया जाता है, उसे आज भी पुच्छी कहते हैं। प्राचीन प्रथा के अनुसार गाय को वेचते समय उसका स्वाम्य परिवर्तन उसी समय पूरा होता था, जब वेचने वाला गाय की पूछ खरीदने वाले के हाथ मे पकडा दे। इससे ज्ञात होता है कि गोपुच्छ शव्द गौ के ही पर्याय रूप में लिया जाता था। वैदिक काल से ही गाय

अन्य वस्तुओ के साथ अदला-बदली करने या मूल्य चुकाने का साधन थी। अतएव जो वस्तु एक गाय के बदले मे ली जाती, वह गोपुच्छिक कहलाती थी। भाष्य में इससे भी बडे सौदे का उल्लेख है—पञ्चभिः गोभिः क्रीत. पञ्चगु (१।२।४४)। पञ्चक्रोष्ट्रीरथः (७।१।९६) अर्थात् पांच क्रोष्ट्री देकर लिया हुआ रथ। इस उदाहरण का अर्थ स्पष्ट नही है। हो सकता है कि धान्यगव (सूत्र, ६।२।७२ के अनुसार काटी हुई फसल का वह ढेर या चट्टा जो दूर से बैल की शकल का दिखाई पडे) की तरह क्रोष्ट्री भी धान्य की कोई नाप रही हो, जिसके बदले में रथ जैसी सवारी मोल ली जाती थी। द्विकम्बल्या उस भेंड को कहा जाता था जो दो कम्बल्य अर्थात् दस सेर ऊन के बदले में मोल ली जाती थी (४।१।२२; ५।१।३; कम्बल्य=५ सेर)। ऐसे ही त्रिकम्बल्या पन्द्रह सेर ऊन के बदले में ली जाने वाली वस्तु थी। काशिका में पञ्चाश्वा और दशाश्वा शब्द भी आते हैं, जो किसी महँगी वस्तु के लिये प्रयुक्त होते थे, जो पाँच या दस अश्वो के बदले में ली जाए। वस्तुओ के लेन-देन के सम्बन्ध में कस, (५।१।२५), शूर्प (५।१।२६) और खारी (५।१।३३) का भी उल्लेख है, ये परिमाणवाची शब्द थे, इसलिये कसिक-कंसिकी, शौर्प-शौर्पिक, अध्यर्धखारीक द्विखारीक, ये प्रयोग उन वस्तुओ के लिये चलते थे, जो इतनी तोल के द्रव्य, सम्भवतः अनाज से बदली जाती थी। एक सूत्र मे द्व्यञ्जलि, त्र्यञ्जलि प्रयोग दिए हैं ५।४।१०२, द्वित्रिभ्यामञ्जले.)।

आज भी प्रथा है कि मालिनो से हरी साग-सब्जी या फल-फूलादि लेने के लिये एक, दो या तीन अञ्जलि भर अनाज दिया जाता है। उसी के लिये ये घरेलू शब्द थे। दो या तीन आचित नामक तोल से ली गई वस्तु द्व्याचिता, त्र्याचिता कहलाती थी (४।१।२२, अपरिमाणविस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि)। जैसा आगे बताया गया है, आचित पच्चीस मन के बराबर होता था, जो कि बड़े सगड़ या लढियागाडी का बोझ माना जाता था। पचास मन या पिचहत्तर मन अन्न देकर बदले मे ली जानेवाली वस्तु भूमि हो सकती है। जिसे पहले द्विकाण्डा क्षेत्र भक्ति. और त्रिकाण्डा क्षेत्र भक्ति. (४।१।२३) कहा है, उतने नाप की भूमि मोल लेने के लिये पचास और पिचहत्तर मन अन्न सम्भवत. दिया जाता था। उसके लिये द्व्याचिता, त्र्याचिता जैसे शब्द प्रयोग भाषा मे आए।

पाणिनि ने एक शूर्प प्रमाण से क्रीत वस्तु को शौर्प कहा है (शूर्पादञन्यतरस्याम्, ५।१।२६)। इस पर पतञ्जलि ने द्विशूर्प, त्रिशूर्प उदाहरण भी दिए हैं (५।१।२०, वा० १, द्वाभ्या शूर्पाभ्यां क्रीत द्विशूर्प त्रिशूर्पम्; द्विशूर्पेण क्रीत द्विशौर्पिकम् त्रिशौर्पिकम्, भाष्य)। चरक के अनुसार दो द्रोण का एक शूर्प एवं दो शूर्प की एक गोणी (=लगभग ढाई मन तोल की) होती थी। पाँच गोणी और दस गोणी अन्न से क्रीत वस्तु के लिये भाष्य में पञ्चगोणि, दश गोणि शब्दो का उल्लेख है। काशिका

के अनुसार इतने अन्न से पट मोल लिया जाता था (द्वगोण्या., १।२।५०; पञ्चभिर्गोणीभि क्रीत: पट: पञ्चगोणि.)। साढे बारह मन या पच्चीस मन अन्न की तोल से जो पट लिया जाता था वह किसी नियत नाप का होता होगा। पाणिनि ने वसन देकर वस्तु मोल लेने की प्रथा का उल्लेख किया है। उस प्रकार की वस्तु के लिये वासन शब्द सिद्ध किया है (शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्, ५।१।२७, वसनेन क्रीत वासनम्)। यह वासन पाँच गोणी अन्न के बराबर मूल्य का होना चाहिए। कात्यायन ने लिखा है कि वसन मोल लेने के लिये जो ऋण उधार लिया जाता था उसे वासनार्ण कहते थे (प्रवत्सतरकम्बलवसनानाञ्च ऋणे, ६।१।८९, वा० ७)। यह ऋण कितना होता था इस प्रश्न के उत्तर का संकेत 'पञ्चगोणि: पट:' इस उदाहरण से मिलता है, अर्थात् पाच गोणी अन्न से या उसके बराबर मूल्य उधार लेकर वसन या पट लिया जाता था। प्रश्न यह है कि यह पट कौन-सा था और उसका क्या मूल्य होता था। पहले प्रश्न के उत्तर मे अनुमान होता है कि धोती या साड़ी ऐसा वस्त्र है जिसकी नाप सदा से प्राय: नियत रही है। जुलाहे उसी नाप की धोती बुनते हैं। ऐसा प्रतिमानित पट या वसन ही 'वसनेन क्रीतम्', इस प्रकार के व्यवहार के लिये काम दे सकता था। इस प्रकार के नियत नाप वाले वस्त्र या शाटक के मूल्य पर पतञ्जलि के एक उदाहरण से अच्छा प्रकाश पड़ता है—शतेन क्रीत, शत्य शाटक शतम्, ५।१।२१ भाष्य)। इससे विदित होता है कि पतञ्जलि के समय में एक साडी या धोती का मूल्य एक कार्षापण था। यदि एक शाटक पञ्च गोणी या साढे बारह मन अन्न अथवा एक कार्षापण से मोल मिलता था तो इससे यह जाना जाता है कि पतञ्जलि के समय मे एक कार्षापण से साढे बारह मन अन्न आता था। शुङ्गयुग से पूर्व मौर्ययुग और नन्दयुग मे भी वस्तुस्थिति इससे कुछ भिन्न न रही होगी, ऐसा अनुमान किया जा सकता है। जब वस्तुएँ इतनी सस्ती थी, तभी एक काकणी और अर्धकाकणी जैसे छोटे सिक्के बजारो मे चलते थे, जैसा कि हम मुद्रा वाले परिच्छेद में आगे देखेंगे। इस प्रकार पञ्चगोणि का अर्थ एक शाटक, एक वसन, या एक पट; या एक धोती के लिये सङ्गत हो जाता है।

इसी सूत्र पर भाष्य मे दशगोणि शब्द आता है, अर्थात् वह पट जो २५ मन अन्न से खरीदा गया हो। इस वस्त्र के सम्बन्ध मे अनुमान करने का भी कुछ आधार प्राप्त होता है। इस देश मे अन्तरीय और उत्तरीय अर्थात् धोती और उपरना, इन दो वस्त्रो के पहनने की प्रथा प्राचीनकाल से रही है। अन्तर बहिर्योगोपसंव्यानयो' सूत्र मे पाणिनि ने भी उनका उल्लेख किया है। इस पर टिप्पणी करते हुए कात्यायन ने धारण किये जाने वाले वस्त्रो के जोडे को शाटकयुग कहा है (नवा शाटकयुगाद्यर्थम्, १।१।३६, वा० २; शाटकयुगाद्यर्थं तर्हीद वक्तव्यम्, यत्रैतन्न ज्ञायते किमन्तरीय किमुत्तरीयमिति)। कात्यायन और पतञ्जलि के उल्लेख

से ऐसा सङ्केत मिलता है कि उपरना और धोती (उत्तरीय, और अन्तरीय, प्रावरणीय और परिधानीय) इन दोनो प्रकार के शाटको का नया जोडा एक साथ भी बाजारो मे बेचा या खरीदा जाता था। तभी पतञ्जलि ने लिखा है कि एक साथ रक्खे हुए शाटकयुग में यह नही मालूम पडेगा कि कौन सा उत्तरीय (उपरना) और कौन सा अन्तरीय (धोती) है। फिर वे कहते हैं कि जो व्यक्ति समझदारी से देखेगा वह यह जान लेगा कि दोनो मे कौन सी धोती है और कौन सा उपरना है। इसी शाटक युग के लिये दशगोणि शब्द प्रयोग में आता था, जिसका मूल्य एक शाटक से दुगुना पच्चीस मन धान्य या दो कार्षापण होता था।

पञ्चनौ, दशनौ जैसे प्रयोग (नावो द्विगोः, ५।४।९९ का प्रत्युदाहरण, पञ्च-भिर्नौभि. क्रीतः) उन बड़े सौदो के लिये काम में आते थे जो पाच नाव या दस नावो में भरे हुए माल के बदले मे किए जाते थे।

अध्याय ४, परिच्छेद ८—प्रमाण और उन्मान

अष्टाध्यायी में परिमाण तोल या घनाकार वस्तुओ के लिये और प्रमाण लम्बाई के लिये आया है। पतंजलि के अनुसार तोल के लिये उन्मान, आयाम या लम्बाई के लिये प्रमाण और लम्बाई मोटाई चौडाई वाली घनाकृति (सर्वतोमान) वस्तुओ के लिये परिमाण शब्द का प्रयोग किया गया है।[1] अर्थशास्त्र में प्रयुक्त 'पौतव' शब्द का उल्लेख पाणिनि मे नही है।

वस्तुतः सूत्रो में परिमाण शब्द का दो अर्थों मे प्रयोग है। सूत्र ५।१।१९ मे संख्या को परिमाण से अलग माना है, 'किन्तु' सूत्र ३।३।२० और ४।३।१५६ में सख्या का भी परिमाण से ग्रहण किया है। (परिमाणाख्यायाः सर्वेभ्यः, ३।३।२०, आख्या ग्रहणं रूढिनिरासार्थं तेन संख्याऽपि गृह्यते न प्रस्थाद्येव—काशिका)। पतंजलि के अनुसार काल परिमाण अर्थात् समय की नाप बताने वाले शब्द सूत्रगत परिमाण शब्द के अन्तर्गत नही आते (ज्ञापक तु काल परिमाणाग्रहणस्य, ७।३।१५, वार्तिक)। लम्बाई की माप के लिये सर्वत्र प्रमाण शब्द ही प्रयुक्त हुआ है।

तुला—तराजू और उसमे तोली हुई वस्तुएँ तुल्य कहलाती थी (तुलया समितम्, ४।४।९१)। तराजू की डंडी के ऊपर बधी हुई रस्सी वनियो की बोलचाल में प्रग्रह कही जाती थी (प्रे वणिजाम् ३।३।५२)। अथर्व वेद मे द्रुवय शब्द दुंदुभि या नगाडे के बने हुए बाहरी खोल के लिये आया है। (द्रुवयो विबद्ध , अथर्व ५।२०।२)। लगभग उसी प्रकार के गहरे लकड़ी के पात्र नाप-जोख के लिये काम मे आने लगे थे।

---

१. ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाण तु सर्वतः।
आयामस्तु प्रमाण स्याद संख्या बाह्या तु सर्वतः॥ भाष्य ५।१।१९

पाणिनि के समय तक द्रुवय शब्द ऐसे ही नपनो के लिये[1] रूढ़ हो गया है (माने वयः, ४।३।१६२)। ऐसे ही नपने के वर्तनो मे दो विशेष प्रकार से प्रसिद्ध थे। एक जिसका पाणिनि ने विशेष उल्लेख किया है, पाय्य था—

पाय्यसानाय्यनिकाय्यधाय्या मानहविर्निवाससामिधेनीषु। ३।१।१२९

कंसमंथशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ। ६।२।१२२

'पाय्य अभी तक पंजाब राजस्थान मे पाइ[2] और उत्तर प्रदेश मे प्या कहलाता है। बुन्देल खंड में प्या भगोने की तरह का एक वर्तन होता है। भगोने में कनौठे होते हैं, प्या मे नही होते। मणनी के बाद खालिहान में एकत्र अन्न की रास को गावो में अब भी प्या से ही नापने का नियम है। सब नही तो मागलिक रूप मे पाच प्या भर कर नाप दिए जाते हैं। एक प्या अन्न देकर सवा प्या लेने के नियम को वहाँ सवाई कहते हैं।[3] प्या की नाप साधारणतः पाँच, सात, दस सेर तक होती है।[4] जातको में खेत की रास को नापने वाले अधिकारियो को द्रोण मापक कहा गया है। हिन्दी भगोना संस्कृत भाग द्रोणक का ही रूप है। भाग द्रोणक का अर्थ खेत की रास से अलग निकाले हुए राजग्राह्य अंश या भाग को (इसे राजरास कहा जाता था) नापने का वर्तन हुआ। सुभिक्ष की अवस्था मे प्रायः यह उपज का छठा भाग होता था। सम्भव है कि पाय्य और द्रोण की माप प्राचीन समय में एक ही रही हो क्योंकि दोनो ही रास नापने के काम मे आते थे। पाणिनि ने एक विशेष प्रकार के मान या नाप को षष्ठक कहा है (षष्ठाष्टमाभ्या मान पश्वङ्गयो. कन्लुकौ च ५।३।५१) जिसका शब्दार्थ छठा भाग ऐसा था। ज्ञात होता है कि राजग्राह्य छठे भाग को नापने के लिए जो द्रोण सज्ञक माप थी वही पाणिनि का षष्ठक मान था। कुरुधम्म-जातक[1] में द्रोण मापक यह एक राजकीय अधिकारी का नाम ही आया है (कुरुधम्म जातक, ३।२७६)।

व्याकरण साहित्य मे एक प्राचीन मूर्धाभिषिक्त उदाहरण सुरक्षित रह गया है नन्दोपक्रमाणि मानानि (२।४।२१: ६।२।१४, काशिका)। इसका अभिप्राय यह है कि नाप तोल के वट्टे सर्व प्रथम नन्दराजाओ ने निश्चित किए। अपने विस्तृत साम्राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उन्हे ऐसा करना पडा था। तभी से मागध मान यह प्रसिद्धि हुई। क्योंकि कलिंग जनपद स्वतन्त्र था इसलिए कलिंग

---

१. गढवाल में नापने के वर्तन को पाथा कहते हैं। प्राचीन काल में सरकारी लगान इन्हीं के द्वारा लिया जाता था। कई स्थानों में इन्हें नाली भी कहा जाता है।

२. एक पजाबी लोकोक्ति है—पाई पीसी चगी कुड़ी खड़ाई मंदी। किसी का पाइली भर अनाज पीस देना सुगम है, पर उसकी लड़की खिलाना टेढा काम है।

३. देखिये मेरा लेख सग्रह, पृथिवीपुत्र, पृष्ठ १०९

४ बम्बई में पायली लगभग तीन सेर की नाप है।

मान की परम्परा अलग चलती रही। मान स्थिर हो जाने के बाद आढक (ढाई सेर), द्रोण (दस सेर), खारी (चार मन) इत्यादि शब्द बिलकुल सही नाप-तोल के लिए सर्वत्र प्रयुक्त होने लगे, जैसा कि पतजलि ने लिखा है—अक्तपरिमाणानामर्थाना वाचका भवन्ति नैवाधिके भवन्ति न च न्यूने (१।४।१४)।

अष्टाध्यायी में उल्लिखित तोल और नापवाची शब्द इस प्रकार हैं—

१—माष—यह एक तोल और एक सिक्के का नाम भी था (पणपादमाषशताद्यत्, ५।१।३४)। तावे का माप तोल में पाँच रत्ती और चाँदी का दो रत्ती का होता था (मनु ८।१३५, अर्थशास्त्र २।१२)।

२—निष्पाव—सूत्र ३।३।२८, निरभ्यो: पूल्वो: मे निष्पाव शब्द सिद्ध किया गया है। अर्थ के विषय मे कोई सकेत नही मिलता। जैन साहित्य मे सोना चादी रत्न आदि तोलने के सूक्ष्म बटखरो की सूची मे निष्पाव भी है—प्रतिमानो में गुञ्जा, काकणी, निष्पाव, कर्ममापक, मण्डलक, स्वर्ण ये सोने चान्दी तोलने मे काम आते हैं (अनुयोग द्वार सूत्र, १३२)। इस सूची मे गुञ्जा (= १ रत्ती), काकणी (= सवा रत्ती), माषक (= पाच रत्ती) की तोल सोना तोलने के काम मे आती थी। जैन साहित्य में निष्पाव (प्रा० निप्फाव) का पर्याय वल्ल दिया है (वृहत्कल्पसूत्र गाथा ६०४९)। वल्ल या वाल तीन रत्ती की तोल का नाम था (वल्लस्त्रिगुञ्ज: लीलावती) अतएव निष्पाव भी वल्ल या तीन रत्ती माना जा सकता है। अनुयोग-द्वार की सूची मे सवा रत्ती की काकणी और पाच रत्ती के माषक के बीच मे निष्पाव पठित होने से यह सगत भी होता है।

३—शाण (५।१।३५, ७।३।१७)—चरक मे सुवर्ण का चौथाई भाग शाण कहा गया है। इससे शाण की तोल २० रत्ती के बराबर हुई। (कल्पस्थान, १२।७९)[1]। शाणार्ध उसका आधा दस रत्ती के बराबर ओषधि की स्वल्प मात्रा तोलने के काम मे आता था। महाभारत में शाण को शतमान का आठवा भाग कहा गया है (आरण्यक पर्व १३४।१४) जिससे उसकी पुरानी तोल १२॥ रत्ती ठहरती है।

परिमाणान्तस्यासञ्ज्ञाशाणयो: (७।३।१७) मे शाण परिमाण का वाचक है और शाणाद्वा ५।१।३५ मे सिक्के का।

४—विस्त (४।१।२२; ५।१।३१)—अमरकोश मे विस्त को कर्ष या अक्ष का पर्याय कहा है। जो स्वर्ण तोलने के काम मे आता था। चरक मे कर्ष, सुवर्ण और अक्ष पर्याय हैं। अतएव विस्त सुवर्ण का ही पर्याय ज्ञात होता है, जो तोल मे अस्सी रत्ती होता था।

---

१. २ शाण = १ द्रक्षण। २ द्रक्षण = १ कर्ष या सुवर्ण या अक्ष। शाण की तोल के विषय में आगे चलकर और भी कई विकल्प मिलते हैं (दे० भारतीय मुद्रापरिषद् की पत्रिका, १५।१५१-१५२)।

५—अञ्जलि (५।४।१०२)—द्व्यञ्जलि, त्र्यञ्जलि, प्रयोगों मे अञ्जलि शब्द एक परिमाण ही ज्ञात होता है। चरक के अनुसार सोलह कर्ष या तोले की एक अञ्जलि होती थी, जिसे कुडव भी कहते थे। दो पल की एक प्रसृति और दो प्रसृति या चार पल की एक अञ्जलि कही गई है (गरुड पुराण, २०२।७३, अञ्जलिं कुड़वं चैव विद्यात् पलचतुष्टयम्)। कौटिल्य के अनुसार तालिका यह थी—चार कुड़व = एक प्रस्थ; चार प्रस्थ = एक आढक; ४ आढक = १ द्रोण = २०० पल = ८०० कर्ष = १० सेर (अर्थशास्त्र २।१९)। अतएव कुडव या अजलि ढाई छटाँक या १२½ तोले के बराबर थी।

६—कुलिज—सूत्र ५।१।५५ मे कुलिज का विशेष रूप से उल्लेख है (कुलिजाल्लुक् खौ च)। उससे कई रूप बनते थे, जैसे द्विकुलिजिकी, द्विकुलजीना, द्वैकुलिजिकी। ज्ञात होता है कि उस समय की भाषा मे इस शब्द का काफी प्रचार था। इस शब्द पर किसी अन्य स्रोत से अभी तक प्रकाश नही पड़ सका। केवल अथर्व वेद के कौशिक सूत्र मे यह शब्द दो बार आया है (उदकुलिजं सम्पातवन्तं ग्राम परिहृत्य मध्ये निनयत्येव सुरा कुलिजम्, कण्डिका १२; कण्डिका, ४३)। पाणिनि में प्रस्थ शब्द का उल्लेख नही है। कौटिल्य के समय वह बहुत चालू शब्द था। साढे बारह पल या ५० तोले या ढाई पाव की तोल प्रस्थ कहलाती थी। अनुमान है कि पाणिनि ने उसी के लिये कुलिज शब्द का प्रयोग किया है।

७—आढक—(५।१।५३) चरक के अनुसार आढक और पात्र एक दूसरे के पर्याय हैं (कल्पस्थान, १२।९४)। पाणिनि ने दोनो का एक साथ उल्लेख किया है (आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् ५।१।५३)। आढक की तोल के दो प्रकार मिलते हैं। एक चरक मे दूसरा अर्थशास्त्र मे। चरक का मान इस प्रकार है—

४ कर्ष = १ पल
२ पल = १ प्रसृति = ८ तोला
२ प्रसृति = १ अञ्जलि या कुड़व = १६ तोला
४ कुडव = १ प्रस्थ = २५६ तोला
४ प्रस्थक = १ आढक
४ आढक = १ द्रोण = १०२४ तोला = १२⅘ सेर

इसके विरुद्ध कौटिल्य ने चार प्रकार के द्रोण लिखे हैं। उनमे पहला दो सौ पल या आठ सौ तोले अर्थात् आजकल के दस सेर के बराबर होता था (अथ धान्यमाषद्विपलशतं द्रोणमापमानम्, अर्थशास्त्र, २।१९)। इस हिसाब से तोल की यह तालिका बन जाती है—

१ कुडव = १२½ तोला = २½ छटाक
४ कुड़व = १ प्रस्थ = ५० तोला = ढाई पाव

४ प्रस्थ = १ आढक = ५० पल = २०० तोला = ढाई सेर
४ आढक = एक द्रोण = २०० पल = ८०० तोला = १० सेर
१६ द्रोण = १ खारी = १६० सेर = ४ मन
२० द्रोण = १ कुम्भ = ५ मन
१० कुम्भ = १ वह = ५० मन

इस हिसाब से जिन खेतो को पाणिनि ने पात्रिक क्षेत्र (५।१।४६) कहा है, उनमे ढाई सेर बीज बोया जाता था।

८ कंस—(५।१।२५; ६।२।१२२)—चरक के अनुसार कस आठ प्रस्थ या दो आढक के बराबर था। वह अर्थशास्त्र की तालिका के अनुसार पाँच सेर और चरक की तालिका के अनुसार ६२⁄३ सेर के बराबर हुआ।

९. मन्थ (६।२।१२२)—इसकी ठीक तौल किसी तालिका में नही मिलती। किन्तु पाणिनि ने सूत्र में कस के बाद उसका उल्लेख किया है (कंस मन्थ शूर्पपाय्य काण्ड द्विगौ)। सम्भव है मन्थ द्रोण का पर्यायवाची हो, क्योकि द्रोण का सूत्रो में उल्लेख नही है। चरक मे कलश और घट को द्रोण का पर्याय लिखा है। कौटिल्य के अनुसार द्रोण १० सेर की तोल थी। वही सम्भवत., मन्थ की भी तोल थी।

१०. शूर्प (५।१।२६; ६।२।१२२)—चरक ने दो द्रोण का शूर्प माना है, जिसे कुम्भ भी कहते थे। उनकी तालिका के अनुसार शूर्प = ४०९६ तोला = १ मन ११ सेर १६ तोला।

११. खारी—(५।१।३३) पाणिनि ने लिखा है कि डेढ खारी से क्रीत वस्तु अध्यर्धखारी कहलाती थी। प्राच्य वैयाकरणो के अनुसार खारी शब्द का द्विगु समास में खार हो जाता था (खार्याः प्राचाम्, ५।४।१०१)। कात्यायन ने 'खार शताद्यर्थम्' प्रयोग में अकारान्त रूप ही रक्खा है (५।१।५८ वा०)। कौटिल्य के अनुसार सोलह द्रोण की एक खारी मानी जाती थी। उस हिसाब से उसकी तोल चार मन के बराबर हुई। पतञ्जलि ने भी खारी को द्रोण से बडी माना है (अधिको द्रोणः खार्याम ५।२।७३)। खलिहान मे रास की तोल खारी मे बताई जाती थी। कात्यायन के खारशतादि पर पतञ्जलि ने सौ खारी अर्थात् चार सौ मन और हजार खारी या चार हजार मन तोल की बडी रासो का उल्लेख किया है (खारशतिको राशिः खारसहस्रिको राशि., ५।१।५८, वा० ६)। यह बहुत ही बड़ी राशि हुई। इतनी भारी उपज के लिये लगभग पाँच सौ पक्के बीघे का खेत या चक भूमिधारी की जोत में होना आवश्यक था। खलिहान में मणनी हो जाने के बाद साफ किए हुए अन्न के ढेर को सदा से रास (स० राशि) कहा जाता रहा है। पाली ग्रन्थो में पाँच प्रकार की अन्न समृद्धि कही गई है—खेतग्ग, रासग्ग, कोट्ठग्ग, कुम्भिग्ग, भोजनग्ग, अर्थात् ललहाते हुए खेत में, रास में, कोठार में, कुम्भी में, और परोसे हुए थाल में अन्न की बहुतायत।

सहस्र खारी तोल की रास के लिये रासग्ग (राशि + अग्र) राशि का भारी ढेर यह विशेषण उपयुक्त था।

१२. गोणी (१।२।५०)—श्लोक वार्तिक के अनुसार एक गोणी माप की तोल भी गोणी कहलाती थी (गोणीमात्रमिदं गोणिः, १।२।५०)। चरक ने गोणी को खारी का पर्याय मानते हुए उसे बड़ी तोल लिखा है। तदनुसार खारी = ८१९२ तोला = २ मन २२ सेर ३२ तोला।

१३. भार—सूत्र ६।२।३८ मे भार और महाभार का उल्लेख है। ये दोनो संज्ञा शब्द थे। अर्थशास्त्र के अनुसार सौ पल या ५ सेर की एक तुला और २० तुला या ढाई मन का एक भार होता था (२।१९, विंशति तौलिको भार.)। अमरकोश में यही तोल है। एक भार = ८००० कर्ष या ढाई मन (अमर २।९।८७)। आज भी तराजू का एक घड़ा ५ सेर और एक पल्लेदार को लादने का बोझ ढाई मन होता है। इसी आधार पर ढाई मनी बोरी आजकल चलती है। महाभार एक अच्छी सग्गड़ गाड़ी का बोझा होना चाहिए, जो लगभग २५ मन माना जाता है। अतएव अनुमान होता है कि १० भार का बोझ महाभार कहलाता था। आदिपर्व मे १० मनुष्यभार बोझे का उल्लेख आया है।[1]

१४. आचित (४।१।२२, ५।१।५३)—अमरकोष के अनुसार आचित सग्गड़ के बोझे को कहते थे (शाकटो भार आचित —२।९।८७) जो १० भार या २०००० पल या २५ मन का होता था। इससे ज्ञात होता है कि आचित और महाभार दोनो पर्याय थे।

१५. कुम्भ (६।२।१०२)—अर्थशास्त्र मे कुम्भ २० द्रोण के बराबर माना है। जो १० सेर प्रति द्रोण के हिसाब से ५ मन हुआ।

१६. वह—सूत्र ३।३।११९ में संज्ञा शब्द के रूप में वह शब्द सिद्ध किया गया है। परिमाण से उसका विशेष संबंध नही बताया गया, किन्तु अर्थशास्त्र के अनुसार १० कुम्भ का एक वह होता था, जो ५० मन के बराबर था। कालान्तर मे वह ही वाह कहा जाने लगा। अंगुत्तर (५।१७३) के अनुसार कोसल जनपद मे २० खारी या ८० मन का वाह होता था (वीसति खारीको कोसलको तिलवाहो)। वसुबन्धु ने २० खारी का ही मागधक तिलवाह कहा है (अभिधर्म० ३।८४)।

सूत्र में पण शब्द को भी परिमाणवाचक माना है (नित्य पणः परिमाणे ३।३।६६) यह उस नाम का सिक्का या तोल नही, बल्कि साग सब्जी की एक गड्डी के लिये

---

१. कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः।
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः॥ (आदि २१३।४६)

अर्थात् सुभद्रा के दायज में कृष्ण ने दस मनुष्यभार सोना दिया, जिसमें ढले हुए सिक्के (कृत) और पासा सोना (अकृत) दोनों शामिल थे।

प्रयुक्त होता था (ऋय शाकाट्टिका, मेदिनी), जैसे मुलक पण, शाक पण (सव्यवहाराय मूलकादीना य: परिमितो मुष्टिर्वध्यते तस्यदेमभिधानम्–काशिका)।

आयाम या लम्बाई की नाप—

प्रमाण—अष्टाध्यायी मे सर्वत्र प्रमाण का अर्थ आयाम है, केवल ६।२।४ सूत्र मे तोल भी है, जैसे गोलवण, अश्वलवण उदाहरणो से ज्ञात होता है। ६।२।१२ सूत्र मे काल को भी प्रमाण के अन्तर्गत माना है (द्विगौ प्रमाणे), जैसा प्राच्य सप्तसमः गान्धारि सप्तसम. उदाहरणो मे स्पष्ट है।

अष्टाध्यायी मे निम्नलिखित आयाम प्रमाणो का उल्लेख है—

(१) अङ्गुलि (५।४।८६)—८ यवमध्य के बराबर प्रमाण की संज्ञा अंगुलि थी (अर्थ० २।२०)। यह आजकल के पौन इञ्च के बराबर हुआ।

(२) दिष्टि, वितस्ति (६।२।७१, दिष्टिवितस्त्योश्च)—भाष्य मे इन दोनो को प्रमाण कहा है, जैसा ५।२।३७ सूत्र पर काशिका के उदाहरण से भी सिद्ध होता है। ये एक दूसरे के पर्याय थे। इस आधार पर प्राचीन वैयाकरणो मे कुछ प्रासंगिक चर्चा चली थी कि सूत्रकार ने इन दोनो का पाठ साथ-साथ क्यो किया, जब एक के ग्रहण होने से दूसरे का ग्रहण भी हो जाता (सू० ६।२।१ पर श्लोक वार्त्तिक और भाष्य)। अर्थशास्त्र मे १२ अंगुल की वितस्ति कही गई (२।२०)। प्रमाण अर्थ में दिष्टि शब्द का प्रयोग सस्कृत साहित्य मे अत्यन्त विरल है। केवल कौशिकसूत्र (५०।८५) मे आया है। तथ्य यह है कि वितस्ति शब्द भारतवर्ष में और दिष्टि ईरान और मध्य एशिया की भाषाओ मे अधिक चालू हुआ। मध्य एशिया से मिले हुए खरोष्ठी लेखो में दिठि शब्द प्राय: आता है, जो कि ईरानी दिस्तय का पर्याय है। इसका अर्थ एक वितस्ति ही था (एफ्० डब्लू० टामस, मध्य एशिया के खरोष्ठी लेखो पर कुछ टिप्पणिया, स्कूल आफ ओरियन्टल एन्ड अफ्रिकन् स्टडीज की पत्रिका, ११, १९४५, पृ० ५४७)।

पतंजलि ने शम: दिष्टि: वितस्ति: का क्रमश: उल्लेख किया है (५।२।३७)। अर्थशास्त्र के अनुसार शम १४ अंगुल का होता था। संभवत: पाणिनि में 'शम्बा करोति' (५।४।५८) का अर्थ यही था कि वह एक शम्ब या १४ अंगुल की गहराई तक खेत को जोतता है।

पुरुष—गहराई नापने के संबन्ध मे पुरुष संज्ञक माप का प्रयोग किया जाता था (पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम्, ४।१।२४) जैसे द्विपुरुषा-द्विपुरुषी, त्रिपुरुषा-त्रिपुरुषी परिखा, अर्थात्, २ या ३ पुरसा गहरी खाई; अथवा द्विपुरुष त्रिपुरुष-मुदकम् अर्थात् २ या ३ पुरसा गहरा पानी (पुरुषहस्तिभ्यामण् च, ५।२।३८)। एक पुरुष प्रमाण के बराबर गहरी वस्तु पौरुष कहलाती थी।

अर्थशास्त्र (२।२०) में पौरुष नाप तीन तरह की है—(१) खातपौरुष, परिखा, रज्जु आदि की नाप के लिये = ८४ अंगुल = १ व्याम = ५ फुट ३ इन्च। (२) पौरुष, संभवतः सेना में रंगरूटों की ऊँचाई नापने के लिये = ४ अरत्नि = ९६ अंगुल = ६ फुट (इसे दंड भी कहते थे)। (३) अग्निचित्य पौरुष, अग्निचयन की वेदी बनाने के लिये = ४½ अरत्नि = १०८ अंगुल = ६ फुट ९ इन्च। इस प्रकार दो पुरसा गहरी खाई १०½ फुट और तीन पुरसा गहरी १५¾ फुट होती थी। बौधायन में वेदी-निर्माण के लिये पुरुषमाप को ५ अरत्नि या ७½ फुट लिखा है (बौधायनश्रौत ३०।१; पदमंजरी ४।१।२४, पञ्चारत्नि' पुरुष इति शुल्वविद.)।

हस्ति (५।२।३८)—हस्ती की माप ४० वर्ष के उत्तमजातीय पट्ठे हाथी के प्रमाण से ली जाती थी। उसकी ऊँचाई ७ अरत्नि, लम्बाई ९ अरत्नि और घेरा १० अरत्नि कहा गया है (अर्थ० २।३१)। हस्ति-माप के संबन्ध में यह उल्लेखनीय है कि वह नाप हाथी की ऊँचाई से न लेकर लम्बाई के आधार पर ही ली जाती थी। यों नौ अरत्नि १३½ फुट हस्ति-संज्ञक माप थी। ५।२।३८ सूत्र पर काशिका में द्विहस्ति त्रिहस्ति उदाहरण दिए हैं। द्विहस्ति या २७ फुट की नाप किले के परकोटे की ऊँचाई होती थी। महासुत सोम जातक में १८ हाथ ऊँचे परकोटे का उल्लेख है (अट्ठारसहत्थ पाकारेन, जातक ५।४७७)। आज भी पुराने किलो के परकोटे की ऊँचाई १८ हाथ मिलती है।

काण्ड (४।१।२३)—खेतों की नाप के संबंध में इसका उल्लेख आया है। द्विकाण्डी त्रिकाण्डी रज्जु से ज्ञात होता है कि काण्ड रज्जु संज्ञक नाप का छोटा भाग था। बाल मनोरमा ने काण्ड को दण्ड का पर्याय लिखा है, जो १६ हाथ या २७ फुट लम्बा माना जाता था। अर्थशास्त्र में दण्ड को छह कंस या १९२ अंगुल (= १२ फुट) लिखा है और १० अंगुल की रज्जु मानी है। खेतों का निवर्तनसंज्ञक क्षेत्रफल ३ रज्जु के बराबर होता था। कांड शब्द दो प्रकार की नाप के लिये था। लम्बी नाप के लिये, जैसे द्विकाण्डी रज्जु। तब उसमें ङीप् प्रत्यय लगता था। किन्तु क्षेत्रभक्ति या क्षेत्रफल के लिये जब उसका प्रयोग होता था, तब स्त्रीलिंगवाची टाप् प्रत्यय लगता था, जैसे द्विकाण्डा क्षेत्रभक्ति।

किष्कु—पतंजलि ने पारस्करादि गण में इसका पाठ प्रामाणिक माना है (पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्, ६।१।१५७)। अर्थशास्त्र के अनुसार ३२ अंगुल या दो फुट का साधारण किष्कु होता था। आराकश एवं राजबढ़ई का किष्कु ४२ अंगुल या ३१½ इन्च लम्बा माना जाता था (क्राकचिक किष्कु)। स्कन्धावार, दुर्ग, राजभवन आदि के निर्माण के समय इसी का प्रयोग होता था (अर्थ० २।२०)। महाभारत में भी किष्कु का उल्लेख है (आरण्यक १२६।२९)। किष्कु ही यहाँ का पुराना गज था।

योजन (योजनं गच्छति, ५।१।७४)—योजन की नाप ४ क्रोश या ४ गोरुत मानी जाती थी। एक क्रोश ४००० हाथ या २००० गज का होता था। इस प्रकार योजन = ८००० गज—४·५४ मील या ४ मील ९६० गज होता था (देखिए श्रीशामशास्त्रिकृत अर्थशास्त्र का अनुवाद पृ० ११८)।

आयाम प्रमाणो की तालिका इस प्रकार है—

८ यव = १ अगुल = $\frac{3}{4}$ इञ्च

१२ अगुल = १ वितस्ति या दिष्टि = ९ इञ्च

२ वितस्ति = १ अरत्नि = १$\frac{1}{2}$ फुट

४२ अगुल = १ किष्कु = २ फुट ७$\frac{1}{2}$ इञ्च

८४ अगुल = १ खात पौरुष = ५ फुट ४ इञ्च

२१६ अगुल = १ हस्ति आयाम = १३ फुट ६ इञ्च

१९२ अगुल = १ दड या कांट = १२ फुट

१० दड = १ रज्जु = ४० गज

अध्याय ४, परिच्छेद ९—मुद्राएं

अष्टाध्यायी के पचम अध्याय के प्रथम पाद में एक प्रकरण (सूत्र १९।३७) का नाम आर्हीय प्रकरण है। ये सूत्र अधिकाश में प्रचलित सिक्को की दर मे चीजो का मोलभाव करने के लिये जो नियम लागू थे उनका वर्णन करते हैं। इस अधिकार को 'तेन क्रीतम्' (५।१।३७) इस सूत्र से सूचित किया गया है। इन्ही सूत्रों मे एक दूसरा अर्थ भी लागू है, उसे पाणिनि ने 'तदर्हति' (५।१।६३) सूत्र से बताया है। अर्थात् मोलभाव के लिये ये दो अर्थ थे। पहला तो यह कि अमुक वस्तु 'इस दाम से मोल ली गई' और दूसरा यह कि वह 'इतने मोल की है'। जैसे जिस बनारसी रेशमी दुपट्टे (काशिक क्षौम दुकुल) के लिये पाणिनि के समय मे दो निष्क लागत लगती थी वह द्विनैष्किक कहलाता था। और इतना मूल्य देकर जो खरीदा गया हो वह भी द्विनैष्किक कहा जाता था। स्वभावत: एक का प्रयोग दुकूल के बाजार दर की दृष्टि से और दूसरे का उसकी असली कीमत की दृष्टि से भाषा मे होता होगा। यह उचित ही है कि ऐसे विषय से संबंध रखनेवाले प्रकरण में उस समय के बहुत से सिक्को का हवाला पाणिनि को देना पडा। ये सिक्के अवश्य ही पाणिनि के अपने समय मे चलते थे। उनमें से अधिकाश एक सदी बाद कौटिल्य के समय मे भी चालू थे। यहाँ हम सोने, चादी और तांबे के सिक्को का अलग अलग वर्णन करेंगे।[1]

---

१. आदरणीय श्री देवदत्त रामकृष्ण भांडारकर ने कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र (Ancient Indian Numismatics) पर सन् १९२१ में एक व्याख्यानमाला दी थी। उसमें पाणिनीय सामग्री का अच्छा सन्निवेश था। हम उसके अनुगृहीत हैं। पर यहाँ अध्ययन का क्षेत्र उससे विस्तृत है।

सोने के सिक्के—निष्क और सुवर्ण

१ निष्क—निष्क वैदिक युग में एक सुवर्ण का आभूषण था। ऋ० ५।१९।३ मे निष्कग्रीव का, २।३३।१० में विश्वरूप निष्क का उल्लेख है। ऋ० १।१२६।५ मे शत निष्क मागने के उल्लेख से श्री मैकडानल और कीथ का विचार था कि निष्क एक सिक्का भी रहा होगा (वैदिक इंडेक्स, १।४५५)। अथर्व वेद मे सौ सुवर्ण निष्को का उल्लेख है (शतं निष्का हिरण्ययाः, २०।१३१।५)। निष्कमिव प्रतिमुञ्चत (५।१४।१; ५।७।५), 'निष्क की तरह बांधकर पहनो', इस कथन से सूचित होता है कि निष्क मुख्यतः कंठ का आभूषण था। अथर्व मे भी निष्कग्रीवः (५।१७।१४) और ऐतरेय ब्रा० में निष्क कंठी स्त्रियों का उल्लेख है (ऐ० ८।२२)। निष्क पहनने वाले पुरुष को निष्की (जै० ब्रा०) और स्त्री को निष्किनी (श० १३।४१।८) कहते थे। वैदिक संहिताओ की सामग्री से निश्चित रूप मे निष्क को सिक्का मानना कठिन है। यद्यपि यह सम्भव है कि निष्क गहने की तोल और आकृति व्यवहार में निश्चित मान की हो गई हो और तब लेन-देन या अदला बदली या गिरवी रखने में निष्क का व्यवहार होने लगा हो।

बाद के युगों मे तो निष्क नियत सुवर्ण मुद्रा बन गई थी, ऐसा निश्चित ज्ञात होता है। जातक, महाभारत और पाणिनि तीनो की सामग्री का एक ही ओर संकेत है।

डा० भांडारकर के मत से जातको में जो निष्क या जिक्र है उससे निष्क सोने का सिक्का ही मालूम होता है। अष्टाध्यायी मे निष्क का वर्णन इन तीन सूत्रों में है—

(१) असमासे निष्कादिभ्यः (५।१।२०)—इसका अर्थ यह है कि निष्क, पण, पाद और माष जब समास मे न हो तब 'इससे मोल लिया' (तेन क्रीतम्) इस अर्थ में ठक् प्रत्यय हो जाता है। निष्क में ठक् जोड़ने से 'नैष्किक' बनता है। पाणिनी के समय में जिस नैष्किक शब्द का प्रयोग होता था उसका अर्थ था 'एक निष्क से मोल ली हुई वस्तु'। इस अर्थ का ज्ञान कराने के लिये पाणिनि ने व्याकरण की दृष्टि से ठक् प्रत्यय का विधान किया। मुद्राशास्त्र की दृष्टि से तथ्य यह था कि निष्क पाणिनिकाल में एक चालू सिक्का था। इसी तरह पण से पाणिक, पाद से पादिक और माष से माषिक इन शब्दो का प्रयोग होता था। पतंजलि के भाष्य मे एक स्थान पर ऐसा भी उदाहरण है जिससे 'नैष्किक' शब्द का दूसरा अर्थ (तदर्हति) यह भी मालूम होता है, जैसे—किमयं ब्राह्मणोऽर्हति ? शतमर्हति शत्य.। शतिकः। साहस्रः। नैष्किक इति न सिध्यति[1] (महाभाष्य, सूत्र ५।१।१९)। ब्राह्मण की

---

१. 'न सिध्यति' वाक्य व्याकरण शास्त्र के पूर्वपक्ष की स्थापना के लिये है।

योग्यता या गुण-परिप्रश्न के विचार के समय कहा जाता था कि यह ब्राह्मण सौ की दक्षिणा के योग्य है, यह सहस्र की, या यह एक निष्क की। संभवतः यज्ञ आदि कर्मों मे ब्राह्मणो को निमन्त्रित करते समय इस प्रकार के विशेषणो से ब्राह्मणो की प्रतिष्ठा का अन्दाज लगाया जाता था। 'शत्य' ब्राह्मण की योग्यता सौ चाँदी के कार्षापणो के लायक थी। साहस्र ब्राह्मण को एक सहस्र कार्षापण यज्ञ-दक्षिणा में या राजा के यहाँ से उपहार में मिलता होगा।

(२) द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् (५।१।३०)—निष्क के चालू सिक्के होने की बात को यह सूत्र और भी पुष्ट करता है। कुछ चीजें दो निष्क और कुछ तीन निष्क के मूल्य से ली जाती थी। व्याकरण की दृष्टि से विकल्पलोप के द्वारा इन दोनो के लिये ये प्रयोग बनते थे—

द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम्।

त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम्।

(३) शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् (५।२।११९)—पाणिनि के समय में सौ निष्क की हैसियत वाला व्यक्ति नैष्कशतिक (निष्कशतमस्यास्तीति) और एक सहस्र निष्क वाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था। व्यापारिक समृद्धि के उस युग में व्यक्ति विशेष के आढ्यभाव या आर्थिक प्रतिष्ठा का निर्देश करने के लिये ये वास्तविक पदवियाँ थी। नगर की समृद्धि का अनुमान नागरिको की अमीरी से लगाया जाता था। इस आँख से भी उस समय भिन्न-भिन्न नगरो के निवासियो को देखने की प्रथा थी। पतंजलि का यह वाक्य कि मथुरा के रहनेवाले पाटलिपुत्र के रहनेवालों से अधिक धनी हैं, इसी प्रकार के सामाजिक व्यवहार की ओर सकेत करता है।[1]। महाभारत मे भी सौ निष्क और सहस्र निष्कवाली सम्पत्ति का उल्लेख आया है (शतेन निष्कगणितं सहस्रेण च समितम्, अनुशासन पर्व १३।४३)। पतंजलि ने निष्कधन और शतनिष्कधन शब्दो का उल्लेख किया है (५।३।५५, नहि निष्कधनः शतनिष्कधनेन स्पर्धते)। महाभारत के अनुसार-१०८ सुवर्ण मुद्राओ के साथ एक निष्क उस समय धन की इकाई मानी जाती थी (साष्ट शतं सुवर्णाना निष्कमाहुर्धनं तथा, द्रोणपर्व ६७।१०)। काशिकाकार ने यह प्रश्न किया है कि निष्कशत और निष्कसहस्र से पूर्व में सुवर्ण पद क्यो न जोड़ लिया जाय, जिससे यह मालूम हो सके कि किस धातु के निष्क उस व्यक्ति के पास हैं। इसका उत्तर काशिकाकार ने स्वयं दिया है कि लोक में इस तरह कहने का महावरा नही है। भाषा तो लोक के पीछे चलनेवाली है। जब निष्क सोने का ही होता है, तब व्यर्थ सुवर्ण पद जोडने से क्या लाभ ? और फिर नैष्कशतिक पदवी मे जिस प्रतिष्ठा की ध्वनि है वह तो सुवर्णनिष्क से ही संभव

१. माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्यः आढ्यतराः। भाष्य ५।३।५७
सांकाश्यकेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूततराः। भाष्य १।३।११

थी न कि रौप्यनिष्कों से। इसलिये भी नैष्कशतिक और नैष्कसहस्रिक जैसे प्रयोगों में सोने का सिक्का लोक-व्यवहार से समझ लिया जाता था। शतपथ ब्राह्मण में स्पष्ट इस बात का उल्लेख है कि निष्क सोने का सिक्का था। उद्दालक आरुणि ने स्वैदायन आचार्य के साथ शास्त्रार्थ करने के लिये एक सुवर्णनिष्क की शर्त बदी थी (श० ११।४।१।८)। कुहक जातक में कथा है कि एक कुटुम्बी ने सोने के सौ निष्क एक तपस्वी की पर्णशाला के पास भूमि में गाड़कर रखे थे (सुवण्णनिक्खसतं, कुहकजातक, जातकसंख्या ८९, पालि-जातक जिल्द १, पृ० ३७५)। वेस्संतर जातक में कथा है कि वेस्संतर ने अपने पुत्र का निष्क्रय मूल्य एक सहस्र निष्क निश्चित किया था (पालि-जातक, जि० ६ पृ० ५४६)। जुण्ह जातक की कथा में एक ब्राह्मण जुण्ह कुमार से सहस्र से भी अधिक निष्कों की याचना करता है (परो सहस्सञ्च सुवण्णनिक्खे, पालि-जातक, ४।९७)।

निष्क नाम से जिस सोने के सिक्के का वर्णन मिलता है क्या उसी के मेल में उससे छोटे फुटकर सिक्के भी थे। अँगरेजी पौंड सोने का सिक्का है। उसी के फुटकर सिक्के में आधे पौंड का सिक्का भी सोने का है। इसी तरह पहले समय में निष्क के बाद अर्धनिष्क और पादनिष्क के अस्तित्व का अनुमान होता है। पाणिनि ने इनका उल्लेख नहीं किया। हाँ, पतञ्जलि ने 'निष्के चोपसंख्यानम्' वार्तिक (सूत्र ६।३।५६) के उदाहरण में पादनिष्क का उल्लेख किया है। इसे बोलचाल में 'पन्निष्क' भी कहते थे। मनु (८।१३७) में निष्क की तोल में ४ सुवर्ण या ३२० रत्ती के बराबर कहा है। अतएव पादनिष्क की तोल सुवर्ण के बराबर हुई। डा० भांडारकर का अनुमान है कि राजा जनक ने अपने यज्ञ में ब्राह्मणों को दक्षिणा के लिये गौओं के सींगो में जो २०,००० पाद सिक्के बाँधे थे। (गोसहस्र के प्रत्येक शृङ्ग में दस-दस पाद) वे सोने के ही थे। यह सभव है, क्योंकि उस यज्ञ को 'बहुदक्षिण' कहा गया है। उनका यह भी अनुमान है कि पाणिनीय सूत्र ५।१।३४—पण पाद माष शताद्यत्—में जो पाद है वह भी सोने का ही सिक्का था। यह दूसरा अनुमान चिन्त्य है। पण कार्षापण का छोटा नाम था। उसके साथ पढ़ा होने से पाद चाँदी के कार्षापण का चौथाई भाग था। पाद के बाद का माष सिक्का तांबे का था। चाँदी के पण और ताम्र माष के बीच में पढ़ा हुआ पाद सोने के सिक्के का वाचक नहीं माना जा सकता। इससे ¼ कार्षापण का अर्थ लेना अधिक संगत है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र और जातकों में पाद कार्षापण का उल्लेख भी है, जैसा कि आगे ज्ञात होगा। काशिकाकार ने हिरण्य परिमाण या संपत्ति के उदाहरण में निष्क माला का उल्लेख किया है (६।२।५५)।

२. सुवर्ण—जैसा ऊपर कहा जा चुका है, सुवर्ण का स्पष्ट उल्लेख अष्टाध्यायी में नहीं है। परंतु 'हिरण्यपरिमाणं धने' (६।२।५५) इस सूत्र में हिरण्यपद में सुवर्ण

का भी अंतर्भाव है। सूत्र का अर्थ है कि परिमाणवाची पूर्वपद के बाद धन शब्द उत्तरपद मे रहे तो पूर्वपद का अपना प्रकृतिस्वर विकल्प से रहता है। इसका उदाहरण है द्वौ सुवर्णौ परिमाणमस्य द्विसुवर्णम्, तदेव धनमिति द्विसुवर्णधनम्, अर्थात् दो सुवर्ण सिक्को की पूंजी। वह पूंजी जिसकी हो उसको भी 'द्विसुवर्णधन:' कहेगे। हिरण्य और सुवर्ण मे अंतर है। डा० भांडारकर ने यह सिद्ध किया था कि अनगढ़ हुण्ड की संज्ञा हिरण्य थी। उसी के जब सिक्के ढाल लेते थे तब वे सुवर्ण कहलाते थे (प्राचीन भारतीय मुद्राशास्त्र, पृ० ५१)। कौटिल्य के अनुसार सुवर्ण का भार एक कर्ष अर्थात् ८० गुञ्जा (लगभग १५० ग्रेन) के बराबर होता था। पुराने स्वर्ण तो मिले नहीं हैं, गुप्त युग के जो सुवर्ण सिक्के प्राप्त होते हैं, उनका वजन प्राय: इतना ही मिलता है। साम जातक मे 'हिरञ्ञ सुवण्ण' दोनो शब्द साथ आते हैं।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'हिरण्यसुवर्णम्' पद का अर्थ करते हुए श्री शाम शास्त्री ने हिरण्य का अर्थ पासा (bar gold) और सुवर्ण का अर्थ सोने का सिक्का (coined gold) किया है। जातरूपेभ्य. परिमाणे ४।३।१५३ सूत्र के उदाहरण मे काशिका ने 'हाटकं कार्षापणं' (सोने का कार्षापण) यह उदाहरण दिया है। कार्षापण की तोल भी ८० रत्ती के बराबर थी। इससे अनुमान होता है कि कौटिल्य के सुवर्ण का ही दूसरा नाम 'हाटक कार्षापण' है। 'जातरूपेभ्य: परिमाणे' सूत्र में भी पाणिनि ने सोने के सिक्को का ही सकेत किया है। जातरूप से सुवर्ण के पर्यायवाची शब्दो का ग्रहण होता है। सुवर्ण का परिमाण व्यक्त करने के लिये आवश्यक था कि सोने के निश्चित परिमाण के टुकड़े हो जिनकी आकृति पर उस परिमाण की निश्चयात्मक छाप हो। यह बात सिक्को से ही प्रकट हो सकती है। हाटक: निष्क. में हाटक विशेषण का अण् प्रत्यय परिमाण अर्थ का द्योतक है। यह हाटक पद वही आ सकता है जहाँ अगला पद. जो हाटक का विकार है, परिमाणवाची हो। सोने के पात्र या सोने की बनी छड़ी के लिये हाटकमयम् या हाटकमयी कहना ठीक होगा।

इस प्रकार सुवर्ण के सिक्को का अस्तित्व पाणिनि के समय मे ज्ञात होता है। विभाषाकार्षापण सहस्राभ्याम् सूत्र (५।१।२९) पर कात्यायन ने कहा है कि सूत्र में सुवर्ण और शतमान का ग्रहण भी करना चाहिए (सुवर्णशतमानयोरुपसख्यानम्)। उससे अध्यर्धसुवर्ण और द्विसुवर्ण जैसे प्रयोगों को सिद्ध किया गया है। पर इतना तो निर्विवाद हो जाता है कि कात्यायन के समय में सुवर्ण नामक सोने के सिक्के का अस्तित्व था। कौटिल्य की साक्षी भी ऐसी ही है। पर इस संबध मे आश्चर्य की बात यह है कि पाणिनि या चाणक्य के समय का सुवर्ण का कोई सिक्का अभी

१. दासकम्मकारादयो पि हिरञ्ञसुवण्णादीनि गहेत्वा पक्कमिंसु। सामजातक (संख्या ५४०), पालि जातक जिल्द ६, पृ० ६९।

तक कहीं नहीं मिला, यद्यपि उस समय के चाँदी के कार्षापण नामक सिक्के लगभग पचास हजार मिल चुके हैं।

३. सुवर्ण माषक—अष्टाध्यायी के निष्कादि गण में (५।१।२०) तथा अलग सूत्र मे (५।१।३४) भी जो माष शब्द आता है, उससे दोनों स्थानो मे रौप्य कार्षापण वाले माष का ग्रहण करना चाहिए। सुवर्ण माष का स्पष्टतः उल्लेख पाणिनि मे नही है। उदय जातक की कथा में एक जगह सुवर्ण माषको से भरी हुई सुवर्ण पात्री का वर्णन आता है[1]।

चाँदी की आहत मुद्राएँ

१. शतमान—शतमान का नाम केवल एक सूत्र मे आया है—शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् (५।१।२७,) अर्थात् शतमान, विंशतिक, सहस्र और वसन—इन चार शब्दों से क्रीतादि अर्थों में अण् प्रत्यय होता है। शतमानेन क्रीतम् शातमानम्, अर्थात् शतमान मुद्रा से मोल ली हुई वस्तु के लिये 'शातमान' पद का प्रयोग होता था।

पाणिनि ने यह नही कहा कि शतमान सिक्का सोने का था। पर शतपथ ब्राह्मण से मालूम होता है कि शतमान सुवर्णमुद्रा थी—तस्य त्रीणि शतमानानि हिरण्यानि दक्षिणा (श० ५।५।५।१६); हिरण्य दक्षिणा सुवर्णं शतमानं तस्योक्तम्, (श० ८।२।३।२)। सोने की दक्षिणा मे शतमान दिया जाता था पर समय क्रम से शतमान का अधिक सम्बन्ध चांदी के सिक्के से होने लगा। शतपथ में कहा है—देवता के दोनो रूपो के कारण विचित्रता के लिये सोने और चादी दोनो की दक्षिणा देनी चाहिए। वह दक्षिणा शतमान होनी चाहिए, क्योकि मनुष्य की आयु सौ वर्ष होती है (रजतं हिरण्यं दक्षिणा नानारूपतया शतमानं भवति शतायुर्वै पुरुष, श० १३।२।३।२)। यहाँ सौ मान या भागो वाले राजत शतमान का उल्लेख है। कात्यायन श्रौत सूत्र मे सुवर्ण शतमान के साथ-साथ राजत शतमान का सुनिश्चित उल्लेख है (द्वादश कपालन्निर्वपति भिन्नतंत्रान् शतमानदक्षिणान्, मध्यमस्य राजत', का० श्रौ० २०।२।६)। अलग सौवर्ण शतमान का भी स्पष्ट उल्लेख है (शतमानं दक्षिणा सौवर्णम्, का० श्रौ० २०।१।२२)। वैदिक संहिताओ मे ऐसा प्रमाण नही है कि शतमान सौ रत्ती का था, पर सायण और कर्काचार्य ने उसकी यही व्याख्या की है

---

१. सुवण्णमासकपूरं एकं सुवण्णपातिं आदाय। उदय-जातक (४५८), पालिजातक ४।१०६। डा० भांडारकर, प्राचीन मुद्राशास्त्र, पृ० ५२। इस कहानी में सुवर्णमाषकों से भरी सोने की पात्री (तश्तरी), सुवर्ण माषकों से भरी चांदी की पात्री और चाँदी कार्षापणों से भरी ताँबे की पात्री को एक दूसरे से कम मूल्य की बताया गया है। ज्ञात होता है कि ३२ रत्तेके चाँदी के कार्षापण का मूल्य सोने के एक माषक (=५ रत्ती) से कुछ कम था। यों जातक युग में सोने और चांदी का आनुमानिक मूल्य १:७ रहा होगा।

(रक्तिका-शत-मान, का० श्रौ० १५।६।३०) । वैदिक इन्डेक्स के विद्वान् लेखको ने भी इसे स्वीकार किया है। संहिता ग्रन्थो मे कृष्णल या रत्ती तोल का प्रायः उल्लेख आया है (मैत्रायणी स० २।२।२; तै० स० २।३ २।१) । तै० ब्रा० (१।३।६।७) मे कहा है कि वाजपेय यज्ञ मे एक एक कृष्णल या रक्तिका बाटी जाती थी । अतएव यह अनुमान समीचीन है कि शतमान सिक्के की इकाई यही कृष्णल रहा हो । सौ रत्ती तोल का चादी का सिक्का १८० ग्रेन तोल मे रहा होगा । यह ठीक है कि मनु (८।१३५-१३७) और याज्ञवल्क्य स्मृति (१।३६४-३६५) के अनुसार शतमान की तोल ३२० रत्ती कही गई है । पर यह प्रमाण वैदिक युग और जनपद युग के लिये सत्य न था, बाद के युगो मे बनाया गया । जब भूमि का लगान ३२ रत्ती वाले चादी के कार्षापणो में दिया जाना निश्चित हुआ (शुग-कुषाण-गुप्त युग) तब कार्षापण या पुराण या धरण की दसगुनी तोल की कल्पना की गई और उसे शतमान नाम दिया गया । यह ३२० रत्ती का शतमान कोई सिक्का न था, क्योकि एक भी वैसा उदाहरण आजतक कही नही मिला, बल्कि हिसाब किताब के लिये चाँदी की एक कल्पित तोल मान ली गई थी । लेकिन सौ रत्ती वाले चाँदी के वास्तविक सिक्के तक्षशिला की खुदाई में प्राप्त हुए हैं । उनकी पहचान शतमान सिक्के से करना युक्ति सगत और प्रमाण सामग्री के अनुकूल है । ये मुद्राए शलाकाकृति हैं और उनकी तोल १७७-३ ग्रेन या ठीक सौ रत्ती के लगभग है । वे सिक्के चौथी शती ई० पू० के हैं । सब विद्वान् ऐसा मानते हैं । यह सम्भावित है कि सातवी शती ई० पू० से चौथी-तीसरी शती ई० पू० तक अर्थात् महाजनपद और नन्दयुग मे शतमान सिक्के चलते थे ।

शतमान मुद्रा कात्यायन के समय मे भी चलती थी । सूत्र ५।१।२९ पर एक वार्तिक मे डेढ शतमान का स्पष्ट नाम लिया है; यथा—वार्तिक—सुवर्णशतमानयो-रुपसख्यानम् । भाष्य—अध्यर्धशतमानम्, अध्यर्धशातमानम् । द्विशतमानम्, द्विशात-मानम् । डेढ या दो शतमान से खरीदी हुई वस्तु की उक्त सज्ञाएँ थी ।

२ शाण—पाणिनि ने शाण सिक्के से क्रीत वस्तुओ के लिये लोक में प्रचलित कई शब्दो का उल्लेख किया है (शाणाद्वा, ५।१।३५; द्वित्रिपूर्वादण् च ५।१।३६), जैसे—अध्यर्धशाणम् । अध्यर्धशाण्यम् । द्विशाणम् । त्रिसाणम् । द्वैशाणम् । त्रैशाणम् । द्विशाण्यम् । त्रिशाण्यम् । इसमे पतजलि ने पंचशाण-पचशाण्यम् और जोडे हैं (५।१।३५) । ये अनेक उदाहरण इस बात के साक्षी हैं कि इस सिक्के का व्यवहार अधिक था । इसी सूत्र पर कात्यायन के दो वार्तिक हैं । वे भी इस बात को बताते हैं कि कात्यायन के समय में भी यह सिक्का काफी चालू था जिसके कारण विविध शब्द रूपों का व्यवहार हो गया था । पाणिनि ने (परिमाणातस्य असज्ञाशाणयोः ७।३।१७) सूत्र मे शाण का उल्लेख किया है जिससे मालूम होता है कि शाण

उसी अर्थ मे परिमाणवाची शब्द था जिस प्रकार हिरण्यपरिमाण धने (६।२।५५) या जातरूपेभ्य: परिमाणे (४।३।१५३) मे वर्णित सुवर्णादि। अर्थात् शाण निश्चित परिमाण और मूल्य का एक सिक्का था। महाभारत मे शाण सिक्के के मूल्य का सबसे निश्चित उल्लेख आया है—अष्टौ शाणा. शतमानं वहन्ति (आरण्यकपर्व १३४।१४)। सौ रत्ती वाले शतमान मे आठ शाण होते थे। अतएव एक शाण की तोल १२½ रत्ती हुई (= २५ ग्रेन)। चरक ने शाण तोल को सुवर्ण या कर्ष का एक चौथाई लिखा है जो २० रत्ती हुआ। हो सकता है शाण सिक्के की पुरानी तोल को कुछ बढ़ाकर यह नया मान बनाया गया जैसा कि चरक की द्रोणादि तोलो मे भी बढाया हुआ मान मिलता है। शाण शतमान का अष्टभाग था उसकी वास्तविक तोल के पुराने चांदी के सिक्के मिल गए हैं (दे० मुद्रापरिषद् की पत्रिका, १४।२२-५५ शाण मुद्रा पर मेरा लेख)। अष्टभाग या पदार्ध शतमान का दुगना अर्थात् द्विशाण के बराबर पाद शतमान सिक्का, उससे बडा तीन शाण का सिक्का, उससे बडा चार शाण का या अर्धशतमान सिक्का भी चलता था। पैलानिधान के सिक्के पादशतमान वही, २।२७), लखनऊ संग्रहालय के कुछ चादी के चौडे सिक्के भी पाद शतमान (मुद्रा परिशिष्ट, ४५।९-१२), प्राचीन कोसलजनपद के कुछ सिक्के अर्धशतमान (तोल ७५-७९ ग्रेन, मुद्रा परिषद् पत्रिका, ३।५१, १५।१५०), और सोनपुर से प्राप्त सिक्के (तोल २१ ग्रेन) पदार्धशतमान या शाण (वही १३।९२, १५।५४) से मिलते हैं।

१. कार्षापण

प्राचीन भारतवर्ष का सबसे मशहूर सिक्का चाँदी का कार्षापण था। इसे ही मनुस्मृति में धरण और राजत पुराण (चादी का पुराण) भी कहा गया है[1]। पाणिनि ने इन सिक्को को 'आहत' (५।२।१२०) कहा है उसी के अनुसार अँगरेजी मे ये पंच-मार्क्ड (Punch-marked) के नाम से प्रसिद्ध हैं। ये सिक्के बुद्ध से भी पुराने हैं और भारतवर्ष मे ओर से छोर तक पाए जाते हैं। अब तक लगभग पचास सहस्र से भी अधिक चाँदी के कार्षापण मिल चुके हैं। कौटिलीय अर्थशास्त्र मे कार्षापण ही चालू सिक्का था पर वहाँ सर्वत्र इसका सक्षिप्त नाम पण दिया गया है। मनुस्मृति के अनुसार चाँदी के कार्षापण या पुराण का वजन ३२ रत्ती था। सोने और तांबे के कर्ष का वजन ८० रत्ती था। उसके बराबर तोल के सोने के सुवर्ण और तावे के कार्षापण सिक्के की तोल भी ८० रत्ती होती थी।

जातक कथाओ में अनेक स्थानो पर कार्षापण का उल्लेख है। उसका पाली नाम कहापण था। जातको के पढने से यह साफ मालूम होता है कि रोजमर्रा के लेने-देने

---

१. द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषकः। ८।१३५
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजत.। ८।१३६

मे कहापण और उसकी छोटी खरीज का बहुत चलन था। अष्टाध्यायी मे कार्षापण और पण ये दोनो नाम पाए जाते हैं। यथा—

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम्। ५।१।२९

पणपादमाषशताद्यत्। ५।१।३४

संभव है चाँदी के सिक्के का नाम कार्षापण और ताँवे के कर्ष का नाम पण रहा हो। मनुस्मृति मे ताँवे के कार्षापण को पण कहा है :—

कार्षापणस्तु विज्ञेयस्ताम्रिक कार्षिकः पणः। ८।१३६

अर्थात् ताँवे का कार्षापण जो तोल मे एक कर्ष (८० रत्ती) हो पण कहलाता है। पाणिनीय सूत्र पर कात्यायन ने कार्षापण का एक नया नाम 'प्रति' दिया है। एक कार्षापण मे मोल ली हुई अर्थात् प्रति कार्षापण के हिसाव वाली वस्तु को 'प्रतिक' कहने लगे थे। यही कात्यायन के वार्तिक की ध्वनि है, जिससे 'प्रतिक' पद सिद्ध किया गया है[1] कार्षापण का 'प्रति' नाम उसके चालू सिक्के होने की वात को और अधिक पुष्ट करता है।

बौद्ध साहित्य मे जहाँ कहीं हजारो लाखो का जिक्र है वहाँ कार्षापण पद के विना भी सहस्र या शतसहस्र कार्षापण ही समझे जाते हैं। हिंदी मे जैसे लखपति या करोडपति का आशय लाख या करोड़ रुपयो वाले मनुष्य से है, वैसे ही प्राचीन साहित्य मे कार्षापण समझा जाता था। गंगमाल जातक[2] में राजा उदय ने 'अड्ढमासक' भिश्ती से उसके धन की संख्या पूछते हुए 'सतसहस्स', 'पञ्ञास-सहस्स' से पूछना शुरू किया था जिसका आशय एक लाख और पचास हजार कार्षापण से था। सस्कृत-साहित्य मे भी इसी तरह का मुहाविरा पाया जाता है। अर्थशास्त्र में एक स्थान पर (पृष्ठ ३६८) शतसहस्र, दशसहस्र, पंचसहस्र, सहस्र शत और विंशति मुद्राओ के इनाम देने का वर्णन है। वहाँ इनसे पणो का ही अर्थ लिया जाता है।

स्वय अष्टाध्यायी मे भी कार्षापणो के सूचक निरे सख्या-शब्दो का प्रयोग हुआ है। सूत्र ५।१।२१ मे सौ से खरीदी हुई वस्तु के लिये शतिक और शत्य प्रयोग है। सूत्र ५।१।२७ मे हजार की कीमतवाली चीज के लिये 'साहस्र' तथा सूत्र ५।१।२९ में डेढ हजार या उससे भी अधिक मोलवाली वस्तु के लिये अध्यर्धसहस्रम्, अध्यर्धसाहस्रम्, द्विसहस्रम्' द्विसाहस्रम् आदि प्रयोग सिद्ध किए गए हैं। इन सूत्रो में केवल शत और सहस्र पद उतनी संख्या वाले चाँदी के कार्षापणो का वोध कराते

१. वा०—कार्षापणाद्वा प्रतिश्च।

भाष्य—कार्षापणाट्टिठन् वक्तव्यो वा च प्रतिरादेशो वक्तव्यः कार्षापणिकः कार्षापणिकी। प्रतिकः प्रतिकी।

२. गंगमाल-जातक (४२१), पालि-जातक, जिल्द ३, पृष्ठ ४४८।

हैं। सूत्र ५।१।३४ में अध्यर्ध, द्वि और त्रि पूर्वक शत शब्द १५०, २००, और ३०० कार्षापणो के लिये हैं। द्रव्यवाचक ये संख्याएँ संभवतः बहुत अधिक व्यवहार मे आती थी। इसी तरह सूत्र ५।४।२ में सो या उससे अधिक जुर्माने और दान का विधान है वहाँ भी द्विशतिकां दण्डितः उदाहरण मे दो सो कार्षापण के जुर्माने का ही ग्रहण होता है।

पतंजलि के भाष्य में भी इस मुहाविरे के कई उदाहरण हैं। ५।१।२१ सूत्र पर एक वार्तिक के भाष्य में भाष्यकार ने एक महत्वपूर्ण वाक्य लिखा है—शतेन क्रीतं शत्यं शाटकशतम्, अर्थात् सो मे खरीदी गई सौ धोतिया। यहा यह मालूम होता है कि अब से २२०० वर्ष पूर्व एक धोती का मूल्य चादी का एक कार्षापण था।

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः सूत्र (५।२।४५) पर वार्तिको का व्याख्यान करते समय भाष्यकार ने स्पष्ट बताया है कि प्राचीन काल मे फुटकर अधिक संख्या की गणना सो और हजार की दृष्टि से की जाती थी। जैसे १११ मे ११ संख्या उसी सिक्के की सूचक है जिसकी कि १००। अपने उदाहरण मे भाष्यकार ने स्वभावतः सो का तात्पर्य सो कार्षापण में घटाया है। जैसे ग्यारह अधिक है जिस कार्षापण के सैकड़े मे उसको कहेंगे एक सो ग्यारह (एकादश कार्षापणा उपश्लिष्टा अस्मिञ्शते एकादशं शतम्)।

कार्षापण की फुटकर खरीज

जहाँ कार्षापण इतना प्रचलित सिक्का था वहा यह स्वाभाविक है कि उससे सम्बन्ध रखने वाले कई तरह के छोटे सिक्के भी चालू हो। फुटकर सिक्को की तीन सूचिया हमे मिलती हैं। एक अष्टाध्यायी से, दूसरी जातको से[1] और तीसरी कौटिल्य के अर्थशास्त्र से[2]। अष्टाध्यायी में कार्षापण (दूसरा नाम पण), अर्ध (भाग), पाद, त्रिमाष, द्विमाष, अध्यर्ध या डेढ माष, माष और अर्ध माष का वर्णन है। इसमे कात्यायन ने काकणी और अर्धकाकणी नाम और जोड़े हैं। नीचे की तालिका मे

---

१. गंगमाल-जातक, ३।४४८—

तेन हि पञ्ञाससहस्सानि चत्तालीस तिंस वीसति दस पंच चत्तारि तयो द्वे एको कहापणो, अड्ढो, पादो, चत्तारो मासका, तयो, द्वे, एको मासको ति पुच्छि। सब्ब पटिक्खिपित्वा अड्ढमासको ति वुत्ते, आम देव, एत्तकं मय्ह धनम्।

२. अर्थशास्त्र २।१२—

पणम्, अर्धपणम्, पादम्, अष्टभागम् इति। पादाजीवं ताम्ररूपं माषकम्, अर्धमाषकम्, काकणीम्, अर्धकाकणीमिति।

अर्थात्—चाँदी के सिक्के—पण, अर्धपण, पाद, अष्टभाग (जैसे अब रुपया, अठन्नी, चवन्नी और दुअन्नी हैं)। ताँबे के सिक्के—माषक, अर्धमाषक, काकणी, अर्धकाकणी। जान पड़ता है कि ताँबे के सिक्कों में माषक से ऊपर ताँबे का चौथाई पण, आधा पण, और पण नामक सिक्के भी थे।

पाणिनि की सूची जातक और अर्थशास्त्र के साथ मिलाकर दिखाई गई है। पाठक देखेंगे कि इन दो ग्रथो की सज्ञाएँ अष्टाध्यायी के नामो से कही-कही भिन्न हैं।

कार्षापण-तालिका

संख्या	कार्षापण का भाग	अष्टाध्यायी	जातक	अर्थशास्त्र	तोल
१	१/१	कार्षापण और पण	कहापण	पण	३२ रत्ती चाँदी
२	१/२	अर्ध या भाग	अड्ढ	अर्धपण	१६ ,, ,,
३	१/४	पाद	पाद या चत्तारो मासका	पाद	८ ,, ,,
४	३/१६	त्रिमाष	तयो मासका		
५	१/८	द्विमाष	द्वे मासका	अष्टभाग	४ ,, ,,
६	१/१६	माष	एकमासक	माषक	तोल २ रत्ती
७	१/३२	अर्धमाष	अड्ढमासक	अर्ध माषक	१ रत्ती
८	१/६८	काकणी (कात्यायन वा० ५।१।३३)		काकणी	१/२ रत्ती (चार काकणी का एक माष)
९	१/१२८	अर्धकाकणी (कात्यायन)		अर्धकाकणी	१/४ रत्ती

चाँदी के कार्षापण की तोल

कार्षापण नामक चादी के सिक्को की तोल के संबध में दो तरह की सामग्री है। एक शास्त्रीय, दूसरी कार्षापणो के उपलब्ध नमूने। शास्त्र के वाक्यो मे मनुस्मृति का कथन सबसे अधिक स्पष्ट है—

द्वे कृष्णले समधृते विज्ञेयो रौप्यमाषक ॥८।१३५
ते षोडश स्याद् धरणं पुराणश्चैव राजत. ॥८।१३६

अर्थात् २ कृष्णल = १ चांदी का माशा।

१६ रौप्यमाष = १ धरण या राजत पुराण या ३२ रत्ती।

इस प्रकार चादी के पुराण अर्थात् कार्षापण का वजन ३२ रत्ती होता था।

कौटिल्य के अनुसार ८८ गौरसर्षप = १ रूप्यमाषक, और १६ रूप्यमाषक = १ धरण। मनु का धरण और कौटिल्य का धरण एक ही मालूम होते हैं। एक रत्ती की आधुनिक तोल १·८३ ग्रेन के लगभग मानी जाती है। (भांडारकर, पृ० ११२)। इस हिसाब से ३२ रत्ती का वजन ५८·५६ ग्रेन होता है। विद्वान् लोग इसी को प्रायः कार्षापण का वजन मानते हैं। रत्ती की तोल घटने-बढ़ने से यह वजन ५६ से ६० ग्रेन तक हो सकता है। इसी हिसाब से अर्धकार्षापण, पाद और अष्टभाग का वजन निकल आता है। अब तक जो सिक्के मिले हैं उनके वजन की छानबीन करके देखने से पता चला है कि कार्षापण की ऊपर बताई तोल अधिकाश में ठीक ही है। कुछ कार्षापण ऐसे भी हैं जिनकी तोल का हिसाब ३२ रत्ती के साथ मेल नही खाता। उदाहरणार्थ डा० स्पूनर को पेशावर से मिले हुए कार्षापणो मे कुछ का वजन ४९·४१ और ५१·२४ ग्रेन के बराबर था। इन अपवादो का कारण सिक्को की घिसाई या जान बूझकर वजन मे की हुई कमी हो सकती है। अधिकाश कार्षापण ३२ रत्ती वाले हिसाब से मिल जाते हैं। अर्धकार्षापण और पादकार्षापण अपेक्षाकृत कम संख्या मे मिले हैं।

२. अर्धकार्षापण

पाणिनीय सूत्र ५।१।४८ (पूरणार्धाट्ठन्) में अर्ध शब्द अर्धकार्षापण के लिये प्रयुक्त हुआ है। काशिका मे स्पष्ट कहा है—अर्धशब्दो रूपकार्धस्य रूढिः, अर्थात् इस सूत्र मे अर्ध रूपकार्ध या 'अधेली' की संज्ञा है। रूपकार्ध का तात्पर्य कार्षापण के अर्धभाग से है। जिस काम मे आधा कार्षापण सूद, निकासी, मुनाफा, चुगी या रिश्वत के रूप में दिया जाय उसे 'अर्धिक' कहते थे। महासुपिन जातक मे अर्ध-कार्षापण के लिये सिर्फ अड्ढ शब्द का व्यवहार हुआ है—कहापणड्ढमासकरूपादीनि—(जातक १।३४०)।

गंगमाल जातक का जो प्रमाण ऊपर दिया गया है उसमें भी 'अड्ढ' संज्ञा ही है। इससे मालूम होता है कि पाणिनि के और जातको के समय मे अर्धकार्षपण के लिये केवल 'अड्ढ' शब्द काम मे आता था। पाणिनि के अगले ही सूत्र मे अर्ध के लिये भाग शब्द का भी प्रयोग है—

भागाद्यच्च—५।१।४९

भाग का अर्थ काशिका में 'रूपकार्ध' दिया है जो अर्ध का ही नामातर है। (भागशब्दोऽपि रूपकार्धस्य वाचकः, काशिका ५।१।४९)। भागिक का अर्थ भी वही

था जो अधिक का था। कात्यायन ने भी अर्धकार्षापण के लिये अर्ध शब्द का प्रयोग किया है—टिठनर्धाच्च (सूत्र ५।१।२५, वा०)।

कौटिल्य में अर्धकार्षापण के लिये अर्धपण शब्द है। उसका वजन १६ रत्ती = २९.२८ ग्रेन था। इस तोल के आसपास के सिक्के प्राचीन 'अर्ध' के ही नमूने हैं।

३. पादकार्षापण

चौथाई कार्षापण का नाम 'पाद' था। 'पणपादमाषशताद्यत्' (५।१।३४) में पाद शब्द इसी के लिये प्रयुक्त जान पडता है। सूत्र १।३।७२ के भाष्य में पतंजलि ने लिखा है—

कर्मकरा. कुर्वन्ति पादिकमहर्लप्स्यामह इति। भाष्य १।२९१

अर्थात् मजदूर (कमेरे) इसलिये काम करते हैं कि दिन भर की मजदूरी एक पादिक (पावली) हमें मिल जायगी। इससे मालूम होता है कि शुगकाल में मजदूरो की रोजाना मजदूरी चौथाई कार्षापण अर्थात् ८ रत्ती चाँदी के बराबर थी।

पाणिनीय सूत्र ५।४।१ और २ में भी पाद सिक्के का उल्लेख है। द्विपदिका और त्रिपदिका प्रयोगो का उदाहरण काशिका ने और भी कई सूत्रो (६।२।६५; ६।३।१०; ६।४।१३०) की व्याख्या मे दिया है। ये स्वतन्त्र सिक्के न थे, बल्कि दो और तीन पदो के वाची हैं। जैसे द्विपदिकां दण्डित., दो पाद का जुर्माना हुआ; द्विपदिका व्यवसृजति, दो पाद दान मे देता है।

४. अष्टभाग

अर्थशास्त्र ने व्यावहारिक सिक्को की जो सुची दी है उसमे अष्ट भाग का नाम है। यह पण का आठवाँ हिस्सा था। मनुस्मृति (८।४०४) मे इसे पादार्ध कहा है। अर्थशास्त्र में एक ऐसी सूची है जिसमें सोने और चांदी की तोल में काम आनेवाले छोटे बट्टो के नाम दिए हुए हैं (अर्थ २।१९)। इसमे 'दो माशा' भी एक तोल है। चाँदी की तोल में दो माशे का वजन ४ रत्ती के बराबर हुआ। यही कार्षापणा अष्टभाग सिक्का था।

उ—ताँबे के सिक्के

५. माष

सूत्र ५।१।३४ में पण, पाद के बाद माष का जिक्र है। माष चाँदी और ताँबे का सिक्का था। दोनो के शब्दरूप एक से बनते थे। चाँदी का रौप्य माष दो रत्ती का और ताँबे का पाँच रत्ती का होता था। (द्वे कृष्णले समघृते विज्ञेयो रौप्यमाषक:, मनु० ८।१३५)। अष्टाध्यायी में माष से छोटे अर्धमाष का स्पष्ट उल्लेख नही है, पर पणपादमाषशताद्यत् इस सूत्र मे अध्यर्ध की अनुवृत्ति से डेढ माष का जिक्र है।

इससे 'अर्धमाष' के अस्तित्व का भी अनुमान होता है। जातकों में तो 'अड्ढमासक' का खूब वर्णन है। गगमाल जातक में अड्ढमासक नाम के भिश्ती की कथा में आधे माशे का रोचक वर्णन है। अर्थशास्त्र मे सिक्को की और तोल की सूची मे अर्धमाषक की गिनती है।

ताँबे के सिक्के

ताँबे में भी कार्षापण या कहापण चालू सिक्का आजकल के पैसे जैसा था। ताँबे का माष तोल में पांच रत्ती होता था। इसके छोटे सिक्के अड्ढमाषक, काकणी, अर्ध काकणी थे।

अर्थशास्त्र मे ताँबे के सिक्को की सूची के आदि में 'पादाजीवं ताम्ररूपं' पद आया है (पृ० ८४)। श्री शामशास्त्री जी ने इसका अर्थ किया है कि ताँबे के सिक्को मे एक-चौथाई मिलावट रहती थी। पर डा० भाडारकर को बेसनगर की खुदाई मे १४७·५ ग्रेन के पूरे वजन के ताम्र कार्षापण, १११·५ ग्रेन के पौन कार्षापण भी मिले थे। संभव है चाँदी के कार्षापण की भाँति ताँबे के पण मे भी एक-एक पाद कम वजन के $\frac{3}{4}$, $\frac{1}{2}$, $\frac{1}{4}$ पण के सिक्के हों। पादाजीवं का संकेत इन्ही मुद्राओ से ज्ञात होता है।

काकणी, अर्ध-काकणी

पाणिनि में इन दो सिक्को का उल्लेख नही है। चाणक्य ने ताँबे की सुची मे इनका नाम दिया है (२।१९)। चुल्लसेट्ठि जातक में इसका उल्लेख है (१।१२०)। सालित्तक जातक मे भी काकणी सिक्के का वर्णन है (१।४१९)। चार काकणी का एक माष होता था।

कात्यायन ने सूत्र ५।१।३३ पर दो वार्तिको मे काकणी और अर्धकाकणी का पहली बार उल्लेख किया है। वहाँ एक, डेढ और दो काकणी से मोल ली जाने वाली वस्तु के लिये काकणीक, अध्यर्धकाकणीक और द्विकाकणीक प्रयोग सिद्ध किए गए हैं[1]। मालूम होता है कि पाणिनि के समय मे काकणी का व्यवहार नही था, अन्यथा उनके सूत्रों मे उसका उल्लेख होता।

विंशतिक

पाणिनि के सिक्को की सूची मे विंशतिक और त्रिंशत्क ये दो नाम रहस्यमय हैं। विंशतिक का उल्लेख दो सूत्रो मे है।

---

१. काकण्याश्चोपसख्यानम्।

भाष्य—काकण्याश्चोपसंख्यानं कर्तव्यम्। अध्यर्धकाकणीकम्। द्विकाकणीकम्।

वा०—केवलायाश्च।

भाष्य—केवलायाश्चेति वक्तव्यम्। काकणीकम्।

शतमान-विंशतिक-सहस्र-वसनादण् । ५।१।२७
विंशतिकात्ख॰ । ५।१।३२

पहले सूत्र में वैंशतिक (एक विंशतिक से मोल लिया हुआ) और दूसरे से अध्यर्धविंशतिकीन, द्विविंशतिकीन, त्रिविंशतिकीन (१½, २, ३ विंशतिक से क्रीत) ये प्रयोग बनते हैं। विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् ५।१।२४ सूत्र के द्वारा असंज्ञा मे विंशक-त्रिंशक और संज्ञा अर्थ में पाणिनि ने विंशतिक और त्रिंशत्क पदो का विधान किया है। प्रसंग से ये सज्ञाएं सिक्को की जान पडती हैं। विंशतिक शब्द २० हिस्सो वाले सिक्के का सकेत करता है। विंशति शब्द से पहले [किसी (संभवतः सिक्के) के नाम] के लिये विंशतिक संज्ञा बनती है पुन. तेन क्रीतं आदि अर्थों मे वैंशतिक प्रयोग सिद्ध होता है। प्रश्न यह है कि विंशतिक नाम की कौन सी मुद्रा थी ? इसके उत्तर मे अब निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि यह एक प्रकार का कार्षापण सिक्का था जिसके २० भाग होते थे। इस प्रकार दो तरह के कार्षापण थे, एक १६ माष का और दूसरा २० माष का होता था। वीस भाग होने के कारण ही उसका नाम विंशतिक पड़ा था। इस विषय मे निम्नलिखित प्रमाण हैं—

(१) विनयपिटक पर बुद्धघोष कृत समंत-पासादिका टीका मे लिखा है— तदा राजगहे वीसतिमासको कहापणो होति, तस्मा पचमासको पादो। अर्थात् राजा बिंबिसार के समय मे राजगृह में वीस माषक का कार्षापण था। उसके एक पाद का वजन ५ माषक था। समतपासादिका पर सारिपुत्त थेर की सारत्थदीपनी टीका ने भी इसकी पुष्टि की है[१]।

(२) गंगमाल जातक (३।४४२) में कार्षापण के फुटकर छोटे सिक्को की नामावली मे पाद के बाद उससे कम मूल्य के चार मासक सिक्के का वर्णन है। यह तभी संभव है जब पाद पाँच मासक के बराबर हो और उसका कार्षापण २० मासक का हो।

(३) कौटिल्य ने धरण का वजन १६ रौप्यमाषक या २० शैब्य बीज दिया है। संभवत २० शैब्य बीजो वाले कार्षापण के ही २० भाग होते थे (अर्थशास्त्र पृ० १०३)।

(४) याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३६४) मे एक पल को चार या पाँच सुवर्ण के बराबर माना है। इस पर मिताक्षरा का वचन है कि पाँच सुवर्ण के बराबर १ पल मानने से पण या कार्षापण का वजन २० माष मानना होगा (पचसुवर्णपलपक्षे विंशतिमाष. पणो भवति याज्ञ० १।३६५)।

---

१. इमिना व सब्बजनपदेसु कहापणस्स वीसतिमो भागो मासको ति। श्री चरणदास चटर्जी, पाली ग्रन्थों में कुछ नए मुद्रा सम्बन्धी शब्द, उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् की पत्रिका, मई १९३३, पृ० २५८।

(५) कात्यायनस्मृति मे भी एक कार्पापण को २० माषक के बराबर माना है (डा० भांडारकर, पृ० १८६) ।

(६) पाणिनि १।२।६४ पर पतंजलि ने लिखा है—अपरस्त्वाह । पुराकल्प एतदासीत् षोडशमाषाः कार्षापणं षोडषपलाश्च माषशम्वट्यः । तत्र संख्यासामान्यात्सिद्धम् । अर्थात् किन्ही आचार्य का मत है कि पूर्व समय मे सोलह माष का कार्षापण होता था और सोलह पल की एक माषशंवटी होती थी, तब दोनो माष शब्दों के साथ सोलह की संख्या का समान सम्बन्ध था । जिस आचार्य का यह पक्ष है उसके मत मे १६ माषवाला कार्षापण पुराकल्प की घटना थी । डा० शामशास्त्री का अनुमान है कि पुराकल्पवाला यह कार्षापण वही है जिसका उल्लेख अर्थशास्त्र मे है । पर इससे यह अनुमान नही निकाला जा सकता कि कौटिल्य से पहले २० माषकवाले कार्षापण का अथवा कौटिल्य के बाद १६ माषकवाले कार्षापण का प्रचार नही था । ऐसा मालूम होता है कि एक ही समय मे देशभेद से दोनो प्रकार के कार्षापणो का चलन था, जैसे राजगृह मे २० माषकवाला कार्षापण चालू था । तभी तो हम बिंबिसार के समय में, जातको मे और पतंजलि मे २० भागवाले कार्षापण का वर्णन पाते हैं और उसके बीच मे अर्थशास्त्र मे १६ माषक कार्षापण का ।

इन प्रमाणो से यह स्पष्ट होता है कि २० भाग वाले कार्षापण का भी रिवाज था । पाणिनि के विंशतक सिक्के का संबंध इसी २० भागवाले कार्षापण से था । इसी कारण उसकी एक विशेष संज्ञा पड़ गई थी । साथ ही सोलह माषकवाला कार्षापण भी पाणिनि को ज्ञात था और व्यवहार में वही अधिक प्रचलित भी रहा होगा ।

विंशतिक सिक्को के वास्तविक नमूने भी मिल गए हैं । कुछ लखनऊ संग्रहालय मे हैं । उनकी तोल ७० से ८० ग्रेन तक है । उन पर आहत रूपो और बनावट के आधार पर यह निश्चित ज्ञात होता है कि वे ३२ रत्ती वाले कार्षापण सिक्को से प्राचीन थे । मुद्राशास्त्र के प्रमाणो से ज्ञात होता है कि ३२ रत्ती वाले कार्षापण को पहली बार नन्दराजाओ ने चलाया था । उनसे पूर्व बिम्बिसार के काल मे ४० रत्ती वाले विंशतिक का ही प्रचार था । विंशतिक से सम्बन्धित इन सिक्को का भी उल्लेख उदाहरणो में आया है—त्रिविंशतिक (काशिका, ५।१।३२, १२० रत्ती तोल का सिक्का); द्विविंशतिक (काशिका, ५।१।३२, ८० रत्ती तोल का सिक्का); अध्यर्ध विंशतिक (सूत्र ५।१।८४ मे उल्लिखित; ६० रत्ती तोल का) ।

पाणिनि ने जिस त्रिंशत्क का उल्लेख किया है (५।१।२४) वह विंशतिक का ड्योढ़ा था और उसका मूल्य अध्यर्धकार्षापण (५।१।२९) के बराबर रहा होगा । श्री दुर्गाप्रसाद जी को १०४ से १०५·७ ग्रेन या लगभग ५८ रत्ती के सिक्के मिले थे । उनकी पहचान अष्टाध्यायी के त्रिंशत्क से की गई है ।

रूप या रूप्य

'प्राचीन कार्षापण सिक्कों को आहृत सिक्को का नाम दिया गया है। इसका कारण यह है कि उनपर अनेक प्रकार के रूप (Symbols) ठप्पो से छापे हुए मिलते हैं। आहृत नाम भी एक प्रकार से पाणिनि का दिया हुआ है—

रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ५।२।१२०

सूत्रार्थ—रूप शब्द के बाद यप् प्रत्यय आहृत और प्रशंसा अर्थों में जोड़ा जाता है। जैसे रूप्यो गौः, प्रशंसनीय रूपवाला बैल। आहृत के लिये काशिका में तीन उदाहरण हैं—

आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः,

रूप्यः केदारः

रूप्य कार्षापणम्।

काशिकाकार ने आहृत की व्याख्या करते हुए लिखा है कि निहाई पर रखकर पीटने से दीनार आदि पर जो रूप बनाया जाता है उसे आहृत कहते हैं (निघातिका-ताडनादिना दीनारादिषु रूपं यदुत्पाद्यते तदाहतमित्युच्यते)।

कार्षापण को रूप्य कहना ठीक है क्योंकि उस पर ठप्पे से चिह्न ठोक कर बनाए जाते थे। 'केदार' सिक्को का सम्बन्ध केदार कृपाणो के साथ था। कार्षापण बनाने की विधि यह थी। एक चाँदी की चादर को पीटकर उसके लम्बे पत्तर काट लिए जाते थे। फिर हर एक पत्तर से छोटे-छोटे टुकड़े कतर लेते थे और कोने कुपटकर उनका वजन एक समान कर लेते थे। इसके बाद हर टुकड़े पर अलग-अलग ठप्पे से एक-एक चिह्न या रूप ठोका जाता था। विद्वानो का विचार है कि एक रूप के लिये एक ठप्पा काम में लाया जाता था। पाणिनि ने 'रूपात्' एक वचनांत पद रखा है, जो एक रूप के लिये एक ठप्पे की बात को सूचित करता है।

कार्षापणो के प्राचीन रूपो का अध्ययन एक रोचक विषय है। काशी के श्री दुर्गाप्रसादजी ने अनेक प्रकार के रूपो को छाँटकर उनका वर्गीकरण और पहचान करके लगभग ५६४ प्रकार के रूपो की तालिका दी है। उससे यह भी मालूम होता है कि किस स्थान के कार्षापणो पर कौन-कौन से रूपो का समुदाय छापा जाता था। पतञ्जलि ने अइउण सूत्र पर १६ वें वार्तिक के भाष्य मे लिखा है—तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्।

'यही वह आप का कार्षापण है जो हमने मथुरा मे लिया था।' यहाँ मथुरा के कार्षापणो का उल्लेख कारणवश ही हुआ है। वह यह कि शूरसेन जनपद के प्राचीन कार्षापणो पर जो कई प्रकार के रूपो का एक समुदाय था वह अन्यत्र नही मिलता था और बहुत स्पष्ट होने के कारण उसकी पहचान भी सरल थी। श्री दुर्गाप्रसादजी

ने अपनी पुस्तक मे मथुरा के प्राचीन कार्षापणो के उन विशेष रूपो का चित्र भी दिया है।

कौटिल्य ने रूपदर्शक नाम के एक अधिकारी का उल्लेख किया है जो सरकारी खजाने मे आनेवाले (कोश प्रवेश्य) सिक्को की परख किया करता था। पतजलि ने उसी का उल्लेख रूपतर्क के नाम से किया है—

पश्यति रूपतर्कः कार्षापणम्।
दर्शयति रूपतर्कं कार्षापणम्। (भाष्य १।४।५२, वार्तिक ४)

रूपदर्शक और रूपतर्क में रूप का अर्थ है सिक्का। महासुपिन जातक (१।३४७) में भी यह अर्थ है। पर पाणिनि की अष्टाध्यायी में रूप का अर्थ है चिह्न-विशेष। उस चिह्न-विशेष से आहत सिक्को का विशेषण रूप्य शब्द था। कालान्तर में रूप्य विशेष्य पद बनकर उन्ही सिक्को के लिये और फिर सब प्रकार के सिक्को के लिये प्रयुक्त होने लगा था।

सूत्रो मे और उदाहरणो में जो आहत मुद्राओ के नाम आए हैं, उनकी एक सूची तोल सहित यहा दी जाती है।

(१ रत्ति = १.८ ग्रेन)

(अ) चाँदी की आहत मुद्राएँ	रत्ती	ग्रेन
(१) शतमान	१००	१८०
अर्धशतमान	५०	९०
त्रिशाण	३७·५	६६·५
पादशतमान या द्विशाण	२५	४५
अध्यर्धशाण	१८·७५	३३·७५
पादार्धशतमान या अष्टभागशतमान या शाण	१२·५	२२·५
अर्धशाण	६·२५	११·२५
(२) विंशतिक		
त्रिविंशतिक	१२०	२१६
द्विविंशतिक	८०	१४६
अध्यर्ध विंशतिक या त्रिंशत्क	६०	१०८
विंशतिक	४०	७२
अर्ध विंशतिक	२०	३६
पादविंशतिक या पंचमाषक	१०	१८
(३) कार्षापण (= प्रति)	३२	५७·६
अर्धकार्षापण (= भाग, अर्ध)	१६	२८·८

	रत्ती	ग्रेन
पाद कार्षापण	८	१४.४
अष्टभाग कार्षापण	४	७.२
रौप्य अध्यर्धमाषक	३	५.४
रौप्य माषक	२	३.६
रौप्य त्रिकाकिणी	१.५	२.७
रौप्य अर्धमाषक (द्विकाकिणी)	१	१.८
रौप्य अध्यर्धकाकिणी	३/४	१.३५
रौप्य काकिणी	१/२	.९
रौप्य अर्धकाकिणी	१/४	.४५
(आ) तांबे की आहत मुद्राएँ		
(१) ताम्रविंशतिक		
त्रिविंशतिक	३००	५४०
द्विविंशतिक	२००	३६०
अध्यर्ध विंशतिक या त्रिंशत्क	१५०	२७०
विंशतिक	१००	१८०
अर्ध विंशतिक	५०	९०
पाद विंशतिक	२५	४५
(२) ताम्र कार्षापण या ताम्रिकपण (पालि काहापण)		
कार्षापण	८०	१४०
अर्ध कार्षापण	४०	७२
पाद कार्षापण	२०	३६
त्रिमाष	१५	२७
अष्टभाग कार्षापण (या द्विमाष)	१०	१८
ताम्रमाष	५	९
अर्धमाष	२१/२	४१/२
काकिणी	११/४	२१/४
अर्धकाकिणी	५/८	११/८

यह हर्ष की बात है कि इनमे से अधिकाश सिक्के प्राप्त हो चुके हैं। पिछले कुछ वर्षों में पाणिनीय सामग्री की सहायता से बहुत-सी आहत मुद्राओ की यथार्थ पहचान सम्भव हो सकी है, जो पाणिनीय सामग्री के अभाव में पहले नही हुई थी। इस

अध्ययन का परिणाम भारतीय मुद्रा परिषत् की पत्रिका मे कई लेखो में मैंने प्रकाशित किया है[1]।

ऊपर की तालिका को देखने से विदित होता है कि चाँदी के कार्षापण मे रौप्य मापक, रौप्य अर्ध मापक, काकिणी और अर्धकाकिणी बहुत ही छोटी मुद्राएँ थी। एक समय यह विश्वास किया जाता था कि इतनी कम तोल की हलकी मुद्राओ का अस्तित्व सम्भव नही था, किन्तु अब इनके असली नमूने मिल गए हैं। अतएव यह मानने पर बाधित होना पडता है कि ये नाम वैयाकरणो की कोरी कल्पना न थी, बल्कि जो सिक्के वस्तुतः व्यवहार मे चालू थे, उन्ही के आधार पर व्याकरणशास्त्र मे उदाहरण बनाए गए। इन मुद्राओ के साथ एक प्रश्न यह भी उत्पन्न होता है कि इतनी छोटी मुद्राओ का क्रयमूल्य वस्तुतः कुछ था या नही। जिस रौप्य काकिणी में आधी रत्ती या अर्धकाकिणी मे चौथाई रत्ती चाँदी थी वह किस उपयोग मे आ सकती थी। इस प्रश्न का उत्तर कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। पहले पञ्चगोणिपटः दश गोणिपट. उदाहरण की व्याख्या करते हुए यह दिखाया गया है कि एक चांदी के कार्षापण से जिसकी तौल ३२ रत्ती थी, पाँच गोणी अन्न अर्थात् १२ मन ३२ सेर अन्न खरीदा जा सकता था। इस गणना से इन छोटे सिक्को की क्रय शक्ति का अनुमान इस प्रकार किया जा सकता है।

कार्षापण	=१६ रौप्यमापक	३२ रत्ती चांदी	१२मन ३२सेर अन्न
कार्षापण का १६वाँ भाग	१ रौप्यमापक	२ रत्ती चाँदी	३२सेर २० तोला
कार्षापण का $\frac{१}{३२}$ भाग	अर्धमापक	१ रत्ती	१६सेर १० तोला
कार्षापण का $\frac{१}{६४}$ भाग	काकिणी	$\frac{१}{२}$ रत्ती	८सेर ५ तोला
कार्षापण का $\frac{१}{१२८}$ भाग	अर्धकाकिणी	$\frac{१}{४}$ रत्ती	४सेर २$\frac{१}{२}$ तोला

इस प्रकार यह अनुमान किया जा सकता है कि काकिणी और अर्धकाकिणी जैसी छोटी रौप्य मुद्राओ का भी व्यवहार मे वास्तविक उपयोग था। इसी लिये हम देखते हैं कि जातको मे अड्ढमासक का कितना उल्लेख आता है। साधारण स्थिति के व्यक्तियो के लिये अड्ढमासक जैसा अत्यन्त छोटा सिक्का भी महत्त्व रखता था। अड्ढमासक जातक से विदित होता है कि वे लोग इस तरह के अत्यन्त छोटे सिक्कों को भी कितनी सावधानी और चाव से छिपाकर या सँभालकर रखते थे। यह भी उल्लेखनीय है कि वस्तुओ का इतना सस्ता मुल्य मौर्य युग की आर्थिक व्यवस्था में संभव हो सका था, इसलिये काकिणी और अर्धकाकिणी, ये दो नए छोटे सिक्के इस

१. एशियण्ट क्वायनस् ऐन नोन टु पाणिनि (पाणिनिकालीन प्राचीन 'मुद्राएँ, भारतीय मुद्रा पत्रिका, भाग २५, पृ० २७–४१।

(२) रौप्य माषक नामक आहत मुद्राएँ, वही, भाग १६ पृ० १४–१९।

(३) शाण, वही, भाग १४ पृ० २२–२५।

युग में ढलवाए गए। पाणिनि मे उनका नाम नही है, किन्तु कात्यायन ने वार्तिक मे विशेष रूप से उनका उल्लेख किया है।

अध्याय ४, परिच्छेद १०—व्यवहार और ऋणादान

धन—धन के लिये अष्टाध्यायी मे कई शब्द हैं, जैसे स्व (१।१।३५; ३।४।४०; आत्मीय ज्ञातिधन-वचन. स्वशब्दः—काशिका), द्रव्य, मूल; किन्तु स्वापतेय, यह नया शब्द भी इस अर्थ में चल गया था, जो ब्राह्मण और आरण्यक साहित्य में नही है। स्वापतेय वह द्रव्य या वस्तु है, जिसमे स्वपति या मालधनी का साधु अर्थात् न्याय्य अधिकार हो (स्वपतौ साधु, ४।४।१०४)।

धनी व्यक्ति आढच (३।२।५६, पाली अड्ढो) कहलाता था। पाणिनि ने गणपाठ मे इभ्य शब्द का उल्लेख किया है (दण्डादिगण, ५।१।६६)। जातको में भी इब्भ शब्द है। आढच वर्ग के ही अन्तर्गत इभ्य वे धनिक थे, जो निगम सभा के सदस्य होने के कारण श्रेष्ठी कहलाते थे और जिन्हे राज्य की ओर से हाथी पर चढकर निकलने का विशेष अधिकार प्राप्त था (इभमर्हति)। कालान्तर मे इन्हें नैगम वा महाजन कहने लगे।

सोने और चादी के जो चालू सिक्के थे, उनसे निर्मित शब्दो द्वारा धनी का अभिधान किया जाता था। जैसे आजकल लखपति करोडपति शब्द हैं, वैसे ही सौ सोने के निष्क धनवाला व्यक्ति नैष्कशतिक और सहस्र निष्कवाला नैष्कसहस्रिक कहलाता था (शत सहस्रान्ताच्च निष्कात्, ५।२।११९)। निष्क सोने का सिक्का सुविदित था अतएव उसके पहले सुवर्ण शब्द जोड़ने की आवश्यकता न थी (सुवर्ण निष्क शतमस्यास्तीत्यनभिधानान् न भवति)। अब भी लखपति शब्द के पहले चांदी शब्द की आकाक्षा भाषा में नही होती। सौ निष्क धन सग्रह का आदर्श ऋग्वेद से ही मिलने लगता है (शतं राज्ञो नाधमानस्य निष्कान्, १।१२६।२)। सूत्र ५।२।११८ मे ऐकशतिक और ऐकसहस्रिक उदाहरण हैं, जो सौ कार्षापण और एक सहस्र कार्षापण धनवाले व्यक्ति की सज्ञाएँ थी। जहाँ शत सहस्र के पहले किसी सिक्के का नाम न हो, वहाँ चालू सिक्का होने से कार्षापण ही समझा जाता था।

ऋणदान—उत्तमर्ण (१।४।३५), अधमर्ण (३।३।१७०), ऋण (४।३।४७) वृद्धि (५।१।४७), प्रतिदान (१।४।९२), और प्रतिभू (३।२।१८९; २।३।३९), ये लेन-देन सबंधी पारिभाषिक शब्द सूत्रो मे आए हैं।

कृषि वाणिज्य और गोपालन के साथ सूद पर ऋण देना भी लोगो की न्याय्य जीविका का अग था (जातक ४।४१२)। पाणिनि ने न्याय्य सूद को वृद्धि (५।१।४७) और ब्याज की कड़ी दर को कुसीद कहा है (४।४।३१)। कुसीद को निन्दित समझा जाता था (प्रयच्छति गर्ह्यम्, ४।४।३०)। कुसीदिक व्यक्ति के लिये

सामाजिक निन्दा सूचित होती थी। उस कुत्सा का कुछ अंश उसके घर वालों को भी भुगतना पड़ता था, जैसे उसकी स्त्री को कुसीदायी, सूदखोर की घरवाली कहकर पुकारा जाता था।

कात्यायन ने तगड़े व्याज को वृधुषि और सूदखोर को वार्धुषिक (४।४।३० वा० ३) कहा है।

वृद्धि—पाणिनि में दशैकादश नामक ऋण का उल्लेख किया है, जिसमें १० रुपये देकर एक रूपये महीने की किस्त से ११ वसूल किए जाते थे (४।४।३१)। इस लेन-देन में १० प्रतिशत व्याज पड़ता था जिसे गर्ह्य माना गया था। कौटिल्य ने १०० पण पर सवा पण मासिक वृद्धि को धर्म्य कहा है (अर्थ० ३।११) मनु (८।१४०—१४३) और याज्ञवल्कक्य १०० का ८० वा भाग न्याय्य वृद्धि मानते हैं। वशिष्ठ ने २० कार्षापण पर ५ माष धर्म्यवृद्धि कही है (२।५१)। यदि कार्षापण को विंशतिक कार्षापण माना जाय, जो २० मासे का होता था, तो यह भी मूल का ८० वां भाग व्याज हुआ। नारद, गौतम, व्यास इसी से सहमत हैं। इस प्रकार १५ प्रतिशत वृद्धि धर्म्य मानी जाती थी। बोधायन में २० प्रतिशत का उल्लेख है। इसके मुकाबिले में दशैकादश ऋण पद्धति को भी पाणिनि के समय मे गर्ह्य समझा जाता था। पतंजलि ने द्वैगुणिक और त्रैगुणिक अर्थात् मूल का दुगना-तिगुना व्याज कमाने वालो को निन्दायोग्य माना है (४।४।३०)। यह स्थिति सभवत: अल्पकालिक बे-लिखा पढी के ऋणो के सबध मे थी।

सूत्र मे अर्घ, या भाग अर्थात् आधे, कार्षापण प्रतिमास वृद्धि का भी उल्लेख है (५।१।४८-४९) जो छह प्रतिशत हुई। ऐसे ऋण को अधिक, भाग्य या भागिक कहते थे (भाग्यं-भागिकं शतम्) व्याज मे मिलनेवाली रकम के अनुसार ऋण का नाम पड़ने की प्रथा थी, जैसे पंचक वह ऋण हुआ जिस पर पाच रुपया सूद मिले। पतजलि ने ७, ८, ९, १० व्याजवाले ऋणो का भी उल्लेख किया है (सप्तक:, अष्टक·, नवक:, दशक:, ५।१।४७)। ऐसे ऋण दशैकादश पद्धति के अन्तर्गत आते थे, जैसे जिसने १०, १० रुपये की पाँच किश्तें ली हो, उसका ऋण पञ्चक कहलाता था। वैसे ही सात किश्तो वाला सप्तक, आठ किश्तो का अष्टक, नौ किश्तो वाला नवक कहलाता था। पूरे सौ रुपये अर्थात् दस दस रुपयो की दस किश्तो वाला ऋण दशक कहलाता था। इस प्रकार के ऋणो मे प्रतिमास ५, ७, ८, ९, १० रुपये चुकाने से पूरा ऋण ग्यारह किश्तो मे चुक जाता था। किश्त बन्दी ऋण की ईकाई दस रुपया मानी जाती थी। आजकल यही ऋण थोड़े अन्तर से दस के बारह कहलाता है।

जितने समय मे ऋण चुकाना हो, उसके अनुसार ऋण का नाम पड़ता था (देयमृणे, ४।३।४७)। जैसे साल भर में चुकाया जानेवाला ऋण सांवत्सरिक

(४।३।५०) और छह मास का आवरसमक (४।३।४९) कहलाता था।

विशेष ऋतुओ में चुकाने की शर्त पर भी ऋण लिया जाता था और वह ऋण उसी ऋतु के नाम से कहा जाता था; जैसे ग्रैष्मक (४।३।४९), वह ऋण जो ग्रीष्म ऋतु अर्थात् अषाढ की पूर्णमासी को जब वर्ष का अन्तिम दिन हो, चुकाया जाय (आषाढी पूर्णिमा और वर्ष के अन्तिम दिन के लिये देखिए अ० ३, परि० १६ पृ० १७९)। यह ऋण सम्भवतः गर्मी में बोई जाने वाली ककड़ी, खरबूजे, तरबूज, आदि पालेज की फसल से होने वाली आय से चुकाया जाता था, जैसी आज भी प्रथा है।

इसके बाद ऋण चुकाने के लिये दूसरी ऋतु वर्षा थी। मोरो कि कूकने के कारण वर्षाकाल का चालूनाम कलापी भी था। 'जब मोरो की कूक सुनाई देगी, उस समय तुम्हारा ऋण चुका दूंगा', इस शर्त पर लिया गया ऋण कलापक कहा जाता था। वर्षाकाल मे तैयार होनेवाली जो फसल वार्षिक कहलाती थी, उसी से कलापक ऋण का भुगतान किया जाता था। कलापक ऋणो के लिये ऐसा ही दूसरा चलता नाम अश्वत्थक भी था (कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन्, ४।३।४८)। काठक संहिता कि अनुसार श्रोणा या श्रवणा नक्षत्र का नाम अश्वत्थ था जिस महीने मे पीपल के पेडो पर पीपली लगे उसे अश्वत्थ कहते हैं (यस्मिन् काले अश्वत्थाः फलन्ति सोऽश्वत्थः, काशिका)। इसी से सावन महीने में जो ऋण चुकाना हो वह अश्वत्थक कहा जाता था।

इसके बाद अगहन का महीना ऋण चुकाने के लिये अनुकूल पडता था, क्योकि उस समय हेमन्त ऋतु में तैय्यार होनेवाली फसल (कौटिल्य की हैमनमुष्टि) की आमदनी किसान के पास आती थी। यह फसल सावन में बोयी जाती और अगहन में पकती थी। आजकल इसे खरीफ कहते हैं। चावल, ज्वार, बाजरा, मक्का, तिल, मूँग, उडद आदि धान्यो की फसल इसी महीने मे होती है। पाणिनि ने अगहन की पूर्णिमा को भुगताए जाने वाले ऋणो को आग्रहायणिक या अग्रहायणक कहा है। यह भी कल्पना की जा सकती है कि सावन के महीने मे किसीने दशैकादश ऋण की ऐसी किस्त ली जो पञ्चक हो तो उसे पांच महीने बाद अगहन की पूनो को लौटाना पड़ता था।

इसके बाद फिर वसन्त ऋतु का समय आता था। उसमें तैयार होने वाली फसल वासन्तिक कहलाती थी, आजकल जिसे रबी कहते हैं। इसमें जो, गेहूँ और तिलहन पैदा होते हैं। जौ की फसल के साथ जौ का भूसा भी इस समय किसानों कि भुसैले को भर देता है। हजार मन जौ के साथ तीन हजार मन भूसा खलिहान में उपट पडता है। इस कारण इस ऋतु का भी चलतू भाषा में यवबुस नाम पड़ गया (यस्मिन् यवबुसं सम्पद्यते स यवबुस शब्देन उच्यते, काशिका, ४।३।४८)। इस

समय पर भुगताने के लिये लिया हुआ ऋण पहले से ही यववुसक कहलाता था (४।३।४८)।

कात्यायन ने विशेष नाम वाले कुछ स्वल्प ऋणो का उल्लेख किया है। दशार्ण उस ऋण को कहते थे जो दशैकादश पद्धति पर लिया जाता था। नये बछड़े के लिये जो ऋण लिया जाय उसे वत्सतरार्ण कहते थे। कम्बल के लिये लिया जाने वाला ऋण कम्बलार्ण कहलाता था। यह कम्बल पाच सेर ऊन का बना हुआ निश्चित नाप और तोल का होता था। आज भी पाच सेर ऊन का कम्बल चार पटो मे बुना जाता है। एक पट डेढ़ बालिश्त या साढे तेरह इची चौडा और और लगभग आठ फुट लम्बा होता है। चार पटों को मिलाकर सी देने से कम्बल की चौडाई डेढ गज बैठती है। ये ही पाच सेर कम्बल्य ऊन से बने हुए नियत नाप के कम्बल थे जिनके लिये लिया हुआ ऋण कम्बलार्ण कहलाता था। कात्यायन ने एक प्रकार के छोटे ऋण को वसनार्ण लिखा है। वसन भी नियत माप और मूल्य का वस्त्र होता था। जैसा ऊपर बताया गया है, एक शाटक या धोती वसन कहलाती थी जिसका मूल्य पतञ्जलि के समय मे एक कार्षापण होता था (५।१।२१)। विसुद्धिमग्ग के अनुसार शाटक या धोती की लम्बाई नौ हाथ होती थी (नवहत्थ साटक, विसुद्धिमग्ग, ९२)। आजकल यह दश हाथ होती है। काशिका मे 'पञ्चगोणिः पटः' उदाहरण मे इसी शाटक या वसन के लिये पट शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका मूल्य पांच गोणी या साढ़े बारह मन अन्न होता था। यो वसनार्ण की रकम एक कार्षापण या पाच गोणी अन्न होती थी। शाटकयुग या धोती उपरने के जोड़े के लिये दो कार्षापण ऋण आवश्यक था।

कायिक वृद्धि—गौतम ने छह प्रकार की वृद्धि लिखी है—(१) चक्र वृद्धि, (२) काल वृद्धि, (३) कारित वृद्धि, (४) कायिक वृद्धि, (५) शिखा वृद्धि[1] प्रतिदिन दिया जानेवाला व्याज, (६) अधिभोग वृद्धि (गौतम स्मृति १२।३४-३५)। पाणिनि ने अलग-अलग सूत्रो मे इन छहो का उल्लेख किया है। चक्रवृद्धि का उल्लेख सूत्र ६।२।३८ (महाप्रवृद्ध) में है। कालवृद्धि दशैकादश ऋण के रूप में ली जाती थी। कारित वृद्धि पञ्चक, सप्तक के रूप में होती थी। शिखावृद्धि का अलग कोई उल्लेख सूत्रो मे नही है, किन्तु वह प्रयच्छति गर्ह्यम् (४।४।३०) के अन्तर्गत आ जाती है। बृहस्पति ने शिखावृद्धि को निन्दित सूदखोरी माना है। कायिक वृद्धि का सङ्केत अकर्तर्यृणे पञ्चमी (२।३।२४) सूत्र मे है, जिसके अनुसार 'शताद् बद्धः', जैसे प्रयोगो को नियमित किया गया था। उसका अर्थ था—सौ रुपये का ऋण चुकाने के लिये उसने अपने आप को बन्धक रख दिया है। कौटिल्य मे भी इस प्रथा का उल्लेख है।

---

१. जैसे एक रूपया लेकर बहत्तर दिन तक एक-एक पैसा प्रतिदिन चुकाना शिखा वृद्धि है।

धेनुष्या (संज्ञायां धेनुष्या, ४।४।८९)—गौतम ने जिसे अधिभोग वृद्धि कहा है, उसका उदाहरण धेनुष्या पद मे मिलता है, अर्थात् वह गाय जो अधमर्ण द्वारा उत्तमर्ण को तब तक के लिये दे दी जाय जब तक उसके दूध के मूल्य से उधार लिया हुआ रुपया न चुक जाय (या धेनुरुत्तमर्णाय ऋणप्रदानाद् दोहनार्थं दीयते सा धेनुष्या, काशिका)।

महाप्रवृद्ध (६।२।३८)—व्याज की उस अधिक से अधिक रकम को महाप्रवृद्ध कहते थे जहां तक चक्रवृद्धि से बढते बढते और आगे व्याज का बढना सम्भव न हो। मनु ने कहा है कि व्याज की इकट्ठा रकम मूलधन से किसी भी हालत में अधिक नही होनी चाहिए (मनु, ८।५०)। कौटिल्य का नियम था कि उत्तमर्ण (धनिक) या अधमर्ण (धारणिक) की अनुपस्थिति या लापरवाही के कारण यदि व्याज बढ़ जाय तो उसे चुकता करने के लिये मूल का दुगुना अदा कर देना चाहिए (अर्थशास्त्र, ३।११, चिरप्रवासस्तम्भप्रविष्टो वा मूल्य-द्विगुणं दद्यात्)। शुक्र का भी यही मत है (४।५।६३१–२)। इस प्रकार जब सौ कार्षापण का ऋण प्रवृद्ध होकर अर्थात् चक्रवृद्धि से दो सौ कार्षापण हो जाता, तब उस ऋण को महाप्रवृद्ध हुआ समझते थे।

आपमित्यक—आपमित्यक उस द्रव्य या धान्य को कहा जाता था जिसे इस शर्त पर लेते थे कि उसी तरह की वस्तु लौटाकर ऋण चुका दिया जायगा (अपमित्य याचते)। इस प्रकार के परिवर्तन को व्यतीहार (३।४।१९) और उस प्रकार के ऋण को आपमित्यक कहा जाता था (अपमित्य याचिताभ्यां कक्कनौ, ४।४।२१) कौटिल्य ने आपमित्यक उस धान्य को कहा है जो उतनी ही मात्रा मे लौटाने की शर्त पर ऋण के रूप में लिया गया हो (तदेव प्रतिदानार्थमापमित्यकम्, २।१५)। धान्य लेने की यह प्रथा अथर्ववेद के समय से चली आती थी—मैंने जो धान्य उधार लेकर खाया हो उसे लौटाकर मैं अनृण बनता हूं (अपमित्य धान्य यज्जघासाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ६।११७।८)।

याचितक—कौटिल्य ने इसी प्रकरण मे उस अन्न को प्रामित्यक कहा है, जिसे आवश्यकता पड़ने पर कोई अपना काम चलाने के लिये दूसरे से माग ले, पर लौटाने की शर्त न हो (सस्ययाचनमन्यतः प्रामित्यकम्, अर्थशास्त्र, २।१५)। पाणिनि ने उसे ही याचितक कहा है (४।४।२१, याचितेन निर्वृत्तम्)।

अध्याय ५

शिक्षा और साहित्य

परिच्छेद १–शिक्षा

पाणिनीय व्याकरण की रचना भाषा और साहित्य के क्षेत्र मे पूर्ववर्ती दीर्घ विकास और उन्नति की सूचक है। उस उन्नति के मूल मे वह सुन्दर शिक्षा प्रणाली थी जो महाफलवती हुई। अष्टाध्यायी ने उस काल के विभिन्न साहित्यिक रूप, ग्रन्थ रचना के प्रकार, शिक्षा-संस्थाएँ, आचार्य और अन्तेवासी छात्र, शिक्षण-प्रणाली, अध्ययन के विषय एवं ग्रन्थो के नामो के सम्बन्ध मे बहुत-सी मूल्यवान् सामग्री प्राप्त होती है। आचार्य पाणिनि स्वयं उस उच्च ख-स्वस्तिक के प्रतीक हैं जहां तक उस युग मे ज्ञान सूर्य का उत्थान हुआ था। उसका तपस्वी जीवन, विश्लेषणात्मक कार्य-प्रणाली, विषय के अनुशीलन मे सूक्ष्म-दृष्टि, भाषा पर असामान्य अधिकार, ग्रन्थ-प्रणयन में प्रतिभा, सर्वोपरि दृढ संकल्प तथा महान् प्रयत्न—ये गुण सदा के लिये भारतीय साहित्य पर अपनी छाप छोड गए हैं। उनके समकालीन शिक्षा-जगत् मे भी वे ओत प्रोत थे जिसका परिणाम उस विशाल साहित्य के रूप में हुआ जिसे सूत्र-साहित्य कहा जाता है।

छात्र—शिक्षा का मूल आधार ब्रह्मचर्य प्रणाली थी। (तदस्य ब्रह्मचर्यम् ५।१।९४) । इसमे न केवल शिक्षा, बल्कि ज्ञान संचय की चर्या या आन्तरिक जीवन के निर्माण पर बहुत अधिक बल दिया जाता था। गुरु और शिष्य विद्या सम्बन्ध से परस्पर बँधे होते थे। (४।३।७७)। यह सम्बन्ध योनिसम्बन्ध के सदृश ही पवित्र और प्रभाव-पूर्ण था। शिष्य अन्तेवासी के रूप मे आचार्य के साथ ही निवास करते और सच्चे अर्थो में आचार्य के जीवन से प्रभावित होते थे। ब्रह्मचारी चरण नामक विद्या सस्था मे अन्य ब्रह्मचारियो के साथ विद्याध्ययन करते थे। जैसा हम आगे देखेंगे शिक्षा और साहित्य के निर्माण मे इन चरणो का व्यापक महत्त्व था। आचार्य के जीवन का वेग और शक्ति उनके द्वारा संस्थापित चरणो के माध्यम से प्रकट होती थी। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इन तीनो वर्णों के ब्रह्मचारी वर्णी कहलाते थे (वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ५।२।१३४)। यह शब्द संहिता और ब्राह्मणो में अविदित था। गुरु से पढनेवालो के लिये छात्र यह सामान्य शब्द प्रयुक्त होता था (छत्रादिभ्यो ण , ४।४।६२) । छात्र शब्द के मूल में यह कल्पना बड़ी मधुर है कि वह आचार्य के जीवन पर छत्र के समान छाया रहता था (छत्रं शीलमस्य)। यह

एक आध्यात्मिक भाव था जिसके कारण शिष्य गुरु के प्रति विशेष जागरूक रहकर अपना कर्तव्य पालन करने का बल प्राप्त करता था। (गुरुकार्येष्ववहितः)। जैसा काशिका ने लिखा है वह अपने गुरु की त्रुटियो की ओर मन को ले जाकर (तच्छिद्रावरणप्रवृत्त) कभी अपनी शक्ति का क्षय नही करता था। ब्रह्मचारी को स्नातक बनाते समय आचार्य की भावना भी यही रहती थी कि जो मेरा सदाचार हो उसी पर ध्यान देना, त्रुटियो पर नही।

छात्र दो प्रकार के होते थे—(१) दण्डमाणव, और (२) अन्तेवासी। (दण्डमाणवान्तेवासिषु, ४।३।१३०)। दण्डमाणव को केवल माणव कहा जाता था (६।२।६९)। वह अभी छोटी श्रेणियो मे सीखतर छात्र होता था। जैसा पतञ्जलि ने लिखा है वेद की पढाई शुरू होने के पहले उसकी माणव संज्ञा होती है। (अनूचो माणवे बह्वृश्चरणाख्यायामिति ५।४।१५४) तत्त्वबोधिनी के अनुसार दण्डमाणव वह था जिसका उपनयन न हुआ हो। दण्ड रखने के कारण वे छात्र दण्डमाणव कहे जाते थे (दण्डप्रमानाः माणवः,—काशिका)। पलास का वह दण्ड आषाढ कहलाता था। मतगजातक (४।३७९) मे माणव को आयु में बाल कहा है। वे अपना डंडा लिए हुए आश्रम मे इधर से उधर फिरते दिखाई देते थे। माणवो का वर्ग माणव्य कहलाता था (४।२।४२)।

जब वेद पढ़ने का समय आता तो आचार्य माणव का उपनयन-संस्कार कराते थे। उसके लिए माणवकमुनपते यह वाक्य भाषा में प्रचलित था। (१।३।३६) इस विशेष कर्म को आचार्यकरण कहते थे। इस संस्कार के बाद वह माणवक सच्चे अर्थों मे आचार्य का सामीप्य प्राप्त करता था[१]। मनसा वाचा कर्मणा आचार्य के समीप पहुँचा हुआ ब्रह्मचारी अन्तेवासी इस अन्वितार्थ पदवी को धारण करता था (४।३।१०४; ४।३।१३०)। उपनीत हो जाने पर ब्रह्मचारी अजिन और कमण्डलु धारण करता था। भाष्य मे कमण्डलु-पाणि छात्र का उल्लेख है। चरण में पढने वाले शब्द अन्तेवासी ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे (चरणाद् ब्रह्मचारिणि, ६।२।८६)।

छात्र के कर्तव्य—उपनयन होने के बाद छात्र और गुरु दोनो के बीच में जो नया विद्या-सम्बन्ध बनता था उससे वे दोनो एक दूसरे के लिए उपस्थानीय बन जाते थे (३।८।६८) अर्थात् शिष्य गुरु के समीप आकर उसकी सेवा करे और उससे अध्ययन करे (उपस्थानीय. शिष्येण गुरुः) और गुरु अन्तेवासी को अपने समीप लाकर शिक्षित करे (उपस्थानीयोऽन्तेवासी गुरोः)। दोनो के लिये यह अत्यन्त

---

१. आचार्यकरणमाचार्यं क्रिया। माणवकमीदृशेन विधिनाऽऽत्मसमीपं प्रापयति यथा स उपनेता स्वयमाचार्यः सपद्यते। माणवकमुपनयते। आत्मानमाचार्यीकुर्वन्माणवकमात्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः—काशिका।

मधुर सम्बन्ध बनता था। अध्यापन कराने की दशा मे आचार्य को अनूचान (३।२।१०९) एवं प्रवचनीय (३।४।६८) कहते थे (प्रवचनीयो गुरुः स्वाध्यायस्य-काशिका)। छन्दो का अध्ययन करने वाले शिष्य की संज्ञा शुश्रूषु होती थी क्योकि वह श्रुति के पारायण या 'श्रवणीय' को कान से सुनकर धारण करता था (१।३।५७; ३।२।१०८)। अपने पिता से ही अध्ययन करनेवाले ब्रह्मचारी पितुरन्तेवासी कहलाते थे (६।३।२३)। आचार्य कुल मे आचार्य का पुत्र भी पर्याप्त महत्त्व रखता था। अतएव उसके लिये भाषा में 'आचार्य पुत्र' इस विशेष शब्द की उत्पत्ति हुई, (६।२।१३३)। इसी प्रकार राजपुत्र और ऋत्विक् पुत्र भी अपने पिता की पदवी से अभिहित होते थे (६।२।१३३)। स्वाभाविक है कि दूसरे शिष्य आचार्य पुत्र का विशेष सम्मान करते हो। जैसा कात्यायन ने लिखा है—गुरुवद् गुरुपुत्र इति यथा (१।१।५६ वा १)। गुरुपुत्र मे भी गुरु जैसी वृत्ति उचित थी (उद्योगपर्व. ४४।१२)।

गुरु—पाणिनि ने चार प्रकार के शिक्षको का उल्लेख किया है (१) आचार्य, (२) प्रवक्ता, (३) श्रोत्रिय, (४) अध्यापक (२।१।६५)। इनमे आचार्य का स्थान सर्वोच्च था। शिष्य का उपनयन कराने का अधिकार आचार्य को ही था। अथर्ववेद मे आचार्य करण प्रक्रिया का वर्णन आया है—आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त. (११।५।३), अर्थात् आचार्य उपनयन सस्कार करके ब्रह्मचारी को अपने विद्यागर्भ के भीतर प्रविष्ट कराता है। इसी उदात्त कल्पना के आधार पर ब्रह्मचारी अन्तेवासी कहा जाता था। जैसे माता के गर्भ मे शिशु पोषण पाता है वैसे ही अन्तेवासी आचार्य के विद्यागर्भ मे सर्वभावेन आध्यात्मिक पोषण प्राप्त करता है। आचार्य और अन्तेवासी का यह सम्बन्ध यहाँ तक घनिष्ठ होता था कि आचार्य के ही नाम से अन्तेवासी का नाम पड़ जाता था, जैसा कि 'आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी' इस सूत्र मे कहा गया है (६।२।१३६; ६।२।१०४।); जैसे तित्तिरि आचार्य के शिष्य तैत्तिरीय, आपिशिलि के आपिशल और पाणिनि के पाणिनीय कहलाते थे।

प्रवक्ता—आचार्य के बाद दूसरा पद प्रवक्ता का था। पाणिनि ने जिसे प्रोक्त साहित्य कहा है, अर्थात् शाखाग्रन्थ, ब्राह्मण, श्रौत सूत्र आदि, उस साहित्य का प्रवचन करने वाले आचार्य प्रवक्ता कहलाते थे। वेद और वेदागो का अर्थ-सहित अध्यापन इनका कार्य था। ये ही आख्याता भी थे। (१।४।२९; उद्योग पर्व ४३।३२। सूत्र २।१।६५) मे प्रवक्ता, श्रोत्रिय और अध्यापक इन तीनो का उल्लेख क्रमिक महत्त्व के अनुसार है।

श्रोत्रिय—छन्द या वेद की शाखाओ को कण्ठ करने वाले विद्वान् श्रोत्रिय कहलाते थे (श्रोत्रियश्छंदोऽधीते ५।२।८४)। इनका सम्बन्ध विशेषत. वेद के पारायण से था। वे संहिता, पद, क्रम, दण्ड, जटा, घन आदि पाठो के अनुसार शाखा-ग्रन्थ और उनके ब्राह्मण आदि को स्वयं कंठ करते थे एवं विद्यार्थियो को कराते थे। इनके

निर्देशन में रहकर विद्यार्थियो का जो वर्ग पदपाठ कण्ठस्थ करता वह पदक कहलाता था। इसी प्रकार क्रमपाठ कण्ठस्थ करनेवाले छात्र क्रमक कहलाते थे (क्रमादिभ्यो वुन्)। वे श्रोत्रिय गुरु भी अपने कण्ठस्थ किए हुए वेद पाठ के आधार पर उस-उस नाम से प्रसिद्ध होते थे। ज्ञात होता है कि बड़े-बड़े चरणो में भिन्न-भिन्न पाठ कठस्थ कराने के लिये भिन्न भिन्न अध्यापक होते थे। कोई पदक कहा जाता था और कोई क्रमक। जो जिस प्रकार के पारायण का श्रावक होता वह उसी के आधार पर पदक या क्रमक कहा जाता था (४।२।६१, तदधीते तद्वेद के साथ उसका अर्थ, क्रमं वेद क्रमक', पद वेद पदकः)।

अध्यापक (२।१।६५)—पाणिनि ने 'कृते ग्रन्थे' या 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' सूत्रों मे जिस साहित्य का उल्लेख किया है उस वैज्ञानिक या लौकिक साहित्य का अध्यापन कराने वाले गुरु अध्यापक कहलाते थे। माणवक आदि बाल कक्षा को भी ये लोग पढाते थे। इन्हें आगे चलकर उपाध्याय कहा जाने लगा। भाष्य मे कण्ठिकोपाध्याय नाम मिलता है।

कुत्सित छात्र—नियमो का उल्लघन करने वाले छात्रो की निन्दा के लिये कई शब्द प्रयुक्त होते थे, जैसे तीर्थध्वाक्ष, तीर्थकाक, अर्थात् जो अपने तीर्थ या गुरु में कौए की तरह चचल व्यवहार करे, या गुरुकुल मे पूरे समय तक निवास न करके शीघ्र वदलता रहे (ध्वाक्षेण क्षेपे २।१।४१, भाष्य—यो गुरुकुलानि गत्वा न चिरं तिष्ठति स उच्यते तीर्थकाक इति)।

इसी प्रकार खट्वारूढ शब्द उस छात्र के लिये प्रयुक्त होता था जो समय से पहले ही ब्रह्मचर्य व्रत समाप्त करके आराम का जीवन बिताने लगा हो (खट्वाक्षेपे, २।१।२६)।

पाणिनि ने यह भी कहा है कि कुछ माणव और अन्तेवासी ऐसे होते थे जिनका पढने-लिखने मे मन न था, बस गुरुकुल में सेंत का माल चाभने के लिये माणव बन जाते थे (गोत्रान्तेवासी माणव ब्राह्मणेषु क्षेपे ६।२।६९; भिक्षा लप्स्येऽहमिति माणवो भवति-काशिका)। बाल्मीकि रामायण में कठकालाप चरण के माणवों के विषय में कहा है कि वे बड़े जिह्वा लोलुप (स्वादुकामाः) और आलसी (अलसाः) थे और पढाई का बहाना बनाकर काम-काज मे गुरु को बुत्ता दे जाते थे (अयोध्या काण्ड ३२।१८)। बड़े छात्रों मे भी जो ऐसे निकम्मे होते, उनके कई उदाहरण पतंजलि ने दिए हैं; जैसे 'कम्बलचारायणीयाः' (बढ़िया कम्बल के लोभ से चारायण के गुरुकुल मे भर्ती होने वाले); 'घृतरौढीया' (घी पीने के लिये रौढि के गुरुकुल में घुसने वाले), ओदन पाणिनीयाः (भात भसकने के लिये पाणिनीय बन जाने वाले, १।१।७३, भाष्य)।[१]

१. काशिका ने इनसे भी गए बीते छात्रों का संकेत किया है, जैसे कुमारीदाक्षाः (६।२।६९) कुमारी के लिये दक्ष के यहाँ शास्त्र पढ़ने के लिये पहुँचने वाले।

इन उदाहरणो मे चारायण का उल्लेख कौटिल्य मे है। वे अर्थशास्त्र के प्राचीन आचार्य थे। कोशलराज प्रसेनजित् के महामन्त्री चारायण से उनकी पहचान की जा सकती है। रौढि पाणिनि के समकालीन या उत्तरवर्ती आचार्य थे, जैसा पाणिनीयरौढीयाः इस प्रयोग से ज्ञात होता है, जिसमे दोनो नाम काल क्रम के अनुसार पढे गए हैं (काशिका ६।२।३६; भाष्य ४।१।८९)।

छात्रो के नामकरण—छात्रो के नामकरण के तीन आधार थे। (१) अध्ययन के विषय के अनुसार, (२) जिस चरण मे शिक्षा पाते हो उसके अनुसार; (३) जिस गुरु के यहाँ या जिसके ग्रन्थ पढते हो उसके नाम के अनुसार।

विषय के अनुसार छात्रो के नामकरण का विधान ४।२।६०—६२ सूत्रो मे है। क्रतु या सोमयज्ञो का अध्ययन करनेवाले छात्र उन यज्ञो के नाम से आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक (क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ४।२।६०); वेद के क्रमपाठ और पादपाठ का अध्ययन करनेवाले छात्र क्रमक और पदक (क्रमादिभ्यो वुन्—४।२।६१; अनुब्राह्मण नाम विशेष ग्रन्थो के विद्यार्थी अनुब्राह्मणी कहलाते थे (४।२।६०)। इस प्रकरण मे उक्थादिगण महत्त्वपूर्ण है, जिसमे अनेक प्रकार के नए-नए अध्ययन-विषयो का उल्लेख है, जिनका विचार आगे साहित्य के प्रकरण मे किया जायगा। यज्ञीय कर्मकाण्ड का अध्ययन करने वाले छात्र याज्ञिक कहे जाते थे। याज्ञिक का उल्लेख अन्यत्र भी किया गया है (४।३।१२९)। ऋतुओ के अनुसार अध्ययन के विषयो मे क्रमिक परिवर्तन होता रहता था। जो ग्रन्थ जिस ऋतु मे पढा-पढाया जाता उसका भी वही नाम पड़ जाता था, जैसे वसन्त ऋतु मे जिस ग्रन्थ का पाठ हो, उसका नाम भी वसन्त पड जाता था और वसन्तऋतु मे उस ग्रन्थ की कक्षा के छात्र वासन्तिक कहे जाते थे (वसन्तादिभ्यष्ठक् ४।२।६३, वसन्तसहचरितोऽय ग्रन्थो वसन्तस्तमधीते—काशिका)। स्मृतियो से ज्ञात होता है कि माघ शुक्ल मे वसन्तपञ्चमी के दिन प्राचीन विद्यालयो का वसन्तसत्र आरम्भ होता था, और उस समय विशेषतः वेदाङ्गो का अध्ययन किया जाता है (मनु ४।९८)। उससे पूर्व श्रावणी पूर्णिमा से पौष की अमावस्या तक या भाद्र पूर्णिमा से माघ की अमावस्या तक साढ़े चार महीने का सत्र विशेषत छन्दो के अध्ययन या वैदिक पारायण के लिये होता था (मनु ४।९५)। वर्षा, शरत्, हेमन्त, शिशिर आदि ऋतुओ मे भी छात्र अल्पकालिक अध्ययन के लिये कुछ विषय या ग्रन्थ चुन लेते थे। ऐसे छात्रो को वार्षिक, शारदिक, हैमन्तिक और शैशिरिक कहा जाता था (४।२।६३ गणपाठ)। वर्तमानकाल मे कुछ इसी ढग पर वसन्त, ग्रीष्म, शरद् आदि ऋतुओ मे मास दो मास की विशेष व्याख्यान मालाएँ आयोजित की जाती हैं।

वैदिक छात्रो का नामकरण—चरणों के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न छन्द या शाखा ग्रन्थ पढ़ाए जाते थे। उनके अध्येता छात्रो का नाम उन छन्द ग्रन्थो के नाम से रखा जाता

था, जैसे तित्तिरि आचार्य से प्रोक्त तैत्तिरीय शाखा के विद्यार्थी तैत्तिरीय कहलाते थे। वस्तुत. स्थिति यह थी कि प्रत्येक शाखा से सम्बन्धित छन्द और ब्राह्मण इन दोनो का कोई स्वतन्त्र नाम न था, बल्कि उनके पढनेवाले छात्र और पढानेवाले गुरुओ के नाम से ही ग्रन्थो का नाम लोक मे प्रचलित होता था। (छन्दो ब्राह्मणानि च तद् विषयाणि, ४।२।६६)।

तद् विषयता का नियम—तदधीते तद्वेद प्रकरण मे अष्टाध्यायी मे तद्‌विषयता का नियम बहुत महत्वपूर्ण है। शाखा का मूल प्रवर्तक प्रत्यक्षकारी कहलाता था (४।३।१०४ वा०) वही चरण का सस्थापक आचार्य भी होता था। उसकी छान्दस शाखा का अध्ययन उस चरण के विद्यार्थी करते थे। आचार्य कठ और उसके द्वारा प्रोक्त छान्दस ग्रन्थ—इस सम्बन्ध को प्रकट करने के लिये पहले कठ शब्द मे एक प्रत्यय जोडा जाता था। उसका विधान पाणिनि ने 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१) सूत्र मे किया है। इस प्रकार जो शब्द का रूप बनता था, उससे फिर एक दूसरा प्रत्यय उस ग्रन्थ के पढने वाले या पढाने वाले—इन दो अर्थों को व्यक्त करने के लिये जोडा जाता था। इस प्रत्यय का विधान 'तदधीते तद्वेद' इस सूत्र मे किया गया है (४।२।५९) पहला प्रोक्त प्रत्यय और दूसरा अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय कहलाता था। प्रोक्ताल्लुक (४।२।६४) सूत्र से विद्यार्थी वाची दूसरे प्रत्यय का लोप हो जाता है। किन्तु उसका अर्थ शब्द मे बना रहता है। फलत. छन्द और ब्राह्मण के नाम का जो रूप प्रोक्त प्रत्यय लगाने से बनता था उसका अर्थ तदधीते तद्वेद के अनुसार उस शाखा और ब्राह्मण के पढने-पढ़ानेवालो के लिये किया जाता था। अतएव वैदिक मूल ग्रन्थो का नाम सदा उनके छात्रो का ही बोधक होता था, जैसे कठ आचार्य द्वारा प्रोक्त जो कठ शाखा थी, उसके पढने-पढानेवालो (अध्येतृ-वेदितृ) का नाम 'कठा' होता था। कठ जो साधारणत: कठ-प्रोक्त पुस्तक का नाम होना चाहिए था, उन सब छात्र और गुरुओ का बोध कराता था, जो उसको पढते (अधीयान) और पढाते थे (तद्वेद)। मूल कठ शब्द आचार्य के नाम से और उसकी शाखा के नाम से एक सीढी आगे बढकर चरण का नाम बन गया। और भी सैकडो वैदिक शाखाएँ और उनके ब्राह्मण ग्रन्थ थे, जिनको केन्द्र मानकर चरणो की स्थापना हुई। यही तद्विषयता का नियम था अर्थात् छन्द और ब्राह्मण का नामकरण स्वतन्त्र न होकर अध्येतृ वेदितृ परक होता था। जिस प्रधान आचार्य ने शाखा का प्रवचन किया था वह अथवा उसके शिष्य ब्राह्मण आदि नये व्याख्या ग्रन्थो की रचना भी करते रहते थे। उनकी शिष्य-परम्परा मे आगे आनेवाले लोग भी उन व्याख्यानो और विमर्शों मे अपना अपना भाग जोडते रहते थे, किन्तु उन सबका नामकरण स्वतन्त्र न होकर चरण के नाम से ही किया जाता था। जैसे तित्तिरि आचार्य के तैत्तिरीय चरण मे तैत्तिरीय शाखा, तैत्तिरीय

ब्राह्मण, तैत्तिरीय आरण्यक, तैत्तिरीय उपनिषत्, तैत्तिरीय प्रातिशाख्य आदि समस्त साहित्य तैत्तिरीय चरण के नाम से ही प्रसिद्ध हुआ था। जब तक वैदिक चरणो का संगठन दृढ रहा, नामकरण की यही पद्धति चालू रही। आगे चलकर वैदिक चरणों के अन्तर्गत कल्प साहित्य की भी रचना हुई, जिसमे श्रौतसूत्र आदि थे (पुराण-प्रोक्तेपु ब्राह्मणकल्पेपु ४।३।१०५)। कुछ चरणो मे धर्मसूत्रो का भी निर्माण हुआ (चरणेभ्यो धर्मवत् ४।२।४६)। इन सब का नाम उसी पुरानी शैली से चरण के नाम के अनुसार रखा गया। स्वाभाविक है कि सब चरण या शिक्षण संस्थाओ का समान महत्त्व न था। उनमें कुछ प्रधान या बड़े और कुछ छोटे चरण थे। प्रधान चरणो में तो छन्द (शाखा), ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषत्, प्रातिशाख्य, श्रौतसूत्र आदि पूरे या अधिकाश साहित्य का विकास हो गया था, पर छोटे चरण उसी परम्परा मे एकाध सूत्रग्रन्थ ही बना पाते थे, उनका साहित्यिक प्रयत्न उसी तक सीमित रह जाता था। इन्हे सूत्र चरण कहते थे। एक सूत्रग्रन्थ के निर्माण द्वारा वे अपना अस्तित्व चरितार्थ करते थे। वैदिक शाखाओ मे कुछ का अधिक महत्त्व था, कुछ का कम। कुछ मे स्वतन्त्र सामग्री अधिक होनी थी, कुछ मे नाममात्र का पाठ परिवर्तन रहता था। पाणिनि ने इनकी तीन कोटियो का उल्लेख किया है—उत्तम-शाख, समान शाख, अधम शाख, जिनके चरण मूलचरण की तुलना मे क्रमशः उत्तम-शाखीय, समानशाखीय और अधमशाखीय कहलाते थे (गहादि गण, ४।२।१३८)। इन वैदिक चरणो अर्थात् उनके छात्र और गुरुओ के समुदाय के बहुत से नाम प्राचीन चरण व्यूह सूचियो में मिलते हैं। पाणिनि ने भी अनेक नामो का उल्लेख किया है, जैसा हम आगे देखेंगे।

छात्रो का बढता हुआ एक नया वर्ग ऐसा भी था जो चरण या वैदिक शिक्षा संस्थाओ से स्वतन्त्र रहकर उन ग्रंथो का अध्ययन करता था, जिनकी रचना चरणो की सीमित परिधि से बाहर बडे वेग से हो रही थी। वस्तुतः यह महान् आचार्यों का युग था। शाकटायन और आपिशलि, स्फोटायन और भारद्वाज आदि महान् आचार्यों ने व्याकरण और भाषाशास्त्र के क्षेत्र मे बिलकुल नयी रचनाएँ की थी। उनका पठन-पाठन लोक मे व्यापक रूप से होने लगा था। स्वयं पाणिनि इसी प्रकार के धुरन्धर आचार्य थे, जिन्होने एक नये शास्त्र का प्रणयन किया। जो विद्यार्थी जिस आचार्य के शास्त्र या ग्रथ का अध्ययन करता वह उसी नाम से पुकारा जाता, जैसे आपिशलि के आपिशल, शाकटायन के शाकटायनीय और पाणिनि व्याकरण के पाणिनीय कहलाते थे। वैदिक चरणो का क्षेत्र इनकी अपेक्षा कही व्यापक था, किन्तु फिर भी इस प्रकार के स्वतन्त्र आचार्य और उनके शास्त्रो की सख्या उत्तरोत्तर बढ़ रही थी। पाणिनि ने ऐसे आचार्यों को उपज्ञाता (४।३।११५)

और उनके द्वारा नये-नये विषयो के विवेचन को आद्य आचिख्यासा कहा है (२।४।२१)।

स्त्री शिक्षा—पाणिनि और पतञ्जलि दोनो ने वैदिक चरणो मे अध्ययन करने वाली स्त्रियो का उल्लेख किया है। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (४।१।६३) सूत्र में जाति की परिभाषा के अन्तर्गत गोत्र और चरण दोनो का ग्रहण किया गया है (गोत्रं च चरणानि च, भाष्य)। इस प्रकार कठचरण मे अध्ययन करनेवाली छात्रा कठी और ऋग्वेद के बह्वृच चरण की बह्वृची कहलाती थी। छात्रो के नामकरण के जो नियम थे वही छात्राओ के लिये लागू थे। उदाहरण के लिये आपिशलि व्याकरण का अध्ययन करने वाली ब्राह्मण जाति की स्त्री आपिशला ब्राह्मणी कहलाती थी (पूर्व सूत्र निर्देशो वाऽऽपिशलमधीत इति, ४।१।१४ वा० ३)। कात्यायन ने यहाँ किसी पूर्व वैयाकरण के, सम्भवत. स्वय आपिशलि के, सूत्र का उल्लेख किया है। इसी प्रकार पाणिनि व्याकरण का अध्ययन करनेवाली पाणिनीया ब्राह्मणी थी। भाष्य से ज्ञात होता है कि मीमासा जैसे विलष्ट विषय का अध्ययन भी स्त्रियो के लिये विहित था, जैसे काशकृत्स्नि आचार्य के मीमासाशास्त्र का अध्ययन करनेवाली छात्रा काशकृत्स्ना कही जाती थी (एवमपि काशकृत्स्निना प्रोक्ता मीमासा काशकृत्स्नी, काशकृत्स्नीमधीते काशकृत्स्ना ब्राह्मणी, ४।१।१४ भाष्य)। पतञ्जलि ने नियमित अध्ययन करनेवाली इन छात्राओ को अध्येत्री कहा है। भाष्य में स्त्री छात्राओ के नामकरण का जो प्रकरण है उसकी पृष्ठभूमि ऐसी है मानो स्त्रियो की उच्च शिक्षा समाज की एक सामान्य प्रथा हो। पाणिनि ने इन अध्येत्री स्त्रियो के लिये निर्मित छात्रिशालाओ का उल्लेख किया है (६।२।८६)। आचार्य की स्त्री तो आचार्यानी कही जाती किन्तु जो स्वय आचार्य के ही समान विद्या के क्षेत्र में ऊँचे उठकर अध्यापन का कार्य कराती थी और छात्राओ के उपनयन आदि का भी अधिकार रखती थी, उन्हे आचार्या कहते थे। पतञ्जलि ने तो एक उदारण मे यहाँ तक सकेत किया है कि इन आचार्याओ से पुरुष छात्र भी पढते थे, जैसे औदमेघ्या आचार्या से पढ़नेवाले छात्र अपनी आचार्या के नाम से औदमेघ कहलाते थे। (औदमेघ्यायाश्छात्रा औदमेघाः ४।१।७८, वा० १ भाष्य)। यह भी ज्ञात होता है कि जिस प्रकार शाकल आदि चरणो के विद्यार्थी सघ आदर्श के अनुसार अपना सगठन बना लेते थे, जो शाकल संघ आदि नामो से प्रसिद्ध होते थे, ऐसे ही औदमेघ्या के छात्रो के सघ का औदमेघा. यह बहुवचनान्त नाम पडता था। कठीवृन्दारिका जैसा शब्द कठशाखा की उस छात्रा के लिये भाषा मे प्रयुक्त होता था जो अपने चरण मे विशेष कीर्ति या अग्र पद प्राप्त करती थी। षट्पथ और शतपथ का अध्ययन करनेवाली स्त्रियाँ षट्पथिकी और शतपथिकी कहलाती थीं (भाष्य ४।२।६०, शतषष्टे. षिकन्पथः, काशिका)। माणव की तरह अनुपनीत कुमारी छात्रा माणविका कही जाती थी।

अध्ययन के नियम—शिक्षा संस्था में अध्ययन के दिन अध्याय कहलाते थे (३।३।१२२ अधीयते अस्मिन्निरत्यध्यायः)। इसी व्युत्पत्ति के आधार पर अनध्याय वह दिन था जिस दिन अध्ययन बन्द रहे। गृह्यसूत्रो में अनध्याय या छुट्टी के नियम दिए हुए हैं। पाणिनि ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि अध्ययन में देश और काल सम्बन्धी कुछ नियम थे। उनका उल्लंघन करके जो छात्र देश विरुद्ध और काल विरुद्ध अध्ययन करता था उसका नाम उसी प्रकार पड़ जाता था (अध्यायिन्य-देशकालात्, ४।४।७१)। इस पर काशिका ने ऐसे छात्रो का उल्लेख किया है जो श्मशान में या चौराहे पर अध्ययन करने के कारण श्माशानिक और चातुष्पथिक कहे जाते थे। जानबूझ कर श्मशान मे जाकर तो कोई विद्यार्थी क्या पढता ? ज्ञात होता है कि जब श्मशान यात्रा मे जाने के कारण सब छात्र पाठ बन्द रखते उस दिन भी जो वहाँ पढता उसके लिये ऐसा निन्दा भरा विशेषण प्रयुक्त होता था। ऐसे ही जब किसी हाट मेले के कारण औरो का पाठ बन्द रहता तब भी जो पढता वह चातुष्प-थिक कहलाता था। चातुर्दशिक और आमावस्यिक उदाहरणो से सूचित होता है कि चतुर्दशी और आमावस्या को भी पाठ वर्जित था क्योकि ये दर्शपौर्णमास इष्टि के दिन थे। इन शब्दो मे जो निन्दा का भाव था, वह स्थायी नही, उसी काल तक के लिये होता था।

एक ही चरण मे पढने वाले ब्रह्मचारी परस्पर सब्रह्मचारी कहे जाते थे (चरणे ब्रह्मचारिणि, ६।३।८६)। एक ही गुरु के पास अध्ययन करने वाले छात्रो को सतीर्थ्य कहा जाता था (समानतीर्थे वासी, ४।४।१०७, तीर्थे ये, ६।३।८७)।

जिन संस्थाओ मे अध्ययन के विषय और ग्रथो का इतना विस्तार था वहाँ यह आवश्यक था कि छात्रो को कक्षा या वर्गो में बाँटा जाय। यह वर्गीकरण दो प्रकार से होता था, एक तो जो छात्र एक विषय का एक समय मे अध्ययन करते उनकी एक कक्षा बना दी जाती थी। कभी-कभी ऐसी एक से अधिक कक्षाओ के छात्र कार्य विशेष के लिये एक साथ मिलकर भी अपने विशेष वर्ग बना लेते थे। लेकिन शर्त यह थी कि उनकी कक्षाए पृथक् होते हुए भी पाठ्यक्रम के पौर्वापर्य से एक दूसरे के बाद पड़ती हो, अर्थात् उनमे अत्यन्त निकट का सम्बन्ध हो (अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यानाम्, २।४।५)। उदाहरण के लिये क्रमपाठ पढने वाले छात्र 'क्रमकाः' कहलाते थे। ऐसे ही पदपाठ की कक्षा वाले 'पदकाः' (क्रमादिभ्योवुन्, ४।२।६१)। पदपाठ का अध्ययन पहले और उसके तुरन्त बाद क्रमपाठ का अध्ययन किया जाता था। अतएव पदक और क्रमक ये दो कक्षाएं एक दूसरे से सन्निकट थी। उनमे और किसी कक्षा का व्यवधान न था। इसलिये उन दोनो के नामो का जोडा भाषा मे चल जाता था। उसे पदकक्रमकम् इस एक वचनान्त पद से प्रकट करते थे। यह ठीक ऐसे ही हुआ जैसे आज कल एफ० ए०-बी० ए० इन दो नामो को साथ बोला जाता है।

जब कभी निमन्त्रण आदिक के लिये छात्रों को बाहर जाना पड़ता तो आचार्य इस प्रकार कहते—पदक-क्रमकं गच्छतु, अर्थात आज पदक और क्रमक छात्र वहाँ जाएं। काशिका में क्रमकवार्तिकम् उदाहरण और दिया है जिससे यह ज्ञात होता है कि जैसा पद पाठ के बाद क्रमपाठ पढ़ने की प्रथा थी वैसे ही क्रम पाठ के बाद वृत्ति का अध्ययन किया जाता था। क्रम और वृत्ति इन दोनों का प्रत्याम्नायपाठ था। वृत्ति से तात्पर्य व्याकरण सूत्रों की वृत्ति से ज्ञात होता है। इससे यह सूचित होता है कि पदपाठ और क्रमपाठ का पारायण सब छात्रों को पहले करा दिया जाता था और उसके बाद व्याकरण की पढ़ाई आरम्भ होती थी। ठीक यही बात पतञ्जलि ने लिखी है—आजकल ऐसी प्रथा है कि पहले वैदिक शब्दों को पढ़ते हैं।[1] ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में, सम्भवतः सूत्र युग में, ऐसी प्रथा थी कि छात्रों की शिक्षा व्याकरण से शुरू होती और बाद उन्हें वेद का पारायण कण्ठ कराया जाता। किन्तु पतञ्जलि के समय में पुरानी प्रथा बदल गई थी। उस समय शिक्षा का स्तर कुछ नीचे आ गया था और छात्रों की पढ़ाई वेद कण्ठ करने से ही शुरू होती और कुछ दिन बाद वे लोग पढ़ाई छोड़ कर फिर अपने अन्य धंधों में लग जाते थे। उनका तर्क यह था कि वेद कंठ करने से वैदिक ज्ञान हमें आ गया अब लोक व्यवहार से लोक की बात सीख लेंगे, व्याकरण के पचड़े में कौन पड़े? इस प्रकार पतञ्जलि के युग में वेद कंठ कर लेने वाले श्रोत्रिय ब्राह्मणों की संख्या में वृद्धि हुई होगी। फिर भी वेद कंठ करने के बाद कुछ संख्या छात्रों की ऐसी अवश्य थी जो व्याकरण का अध्ययन करती थी। गुरु मुख से सुनकर मन्त्रों का पाठ कण्ठ करनेवाले छोटे छात्रों का एक चित्र पतञ्जलि ने दिया है—जब आयु में छोटे ऐसे छात्र पाठ कंठ करने या सुनाने में अशुद्धि करते हैं तो कण्डिका घोखाने वाले उनके उपाध्याय चपत रसीद करते हैं (एवं हि दृश्यते लोके य उदात्ते कर्तव्ये अनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददात्यन्यत्त्वं करोषीति, १।१।१, वा० १३)।

पाठ्यक्रम—भिन्न-भिन्न कक्षाओं के वर्गीकरण से सूचित होता है कि शिक्षण संस्थाओं में पाठ्य-विषयों का एक क्रम निर्धारित किया जाता था। माणव, अन्तेवासी, चरक ये तीन शब्द छात्रों की विभिन्न अवस्थाओं के द्योतक थे। ऐसे ही अध्यापक, प्रवक्ता, आचार्य ये शब्द गुरुओं के क्रमिक पदों के सूचक थे, जिनका सम्बन्ध शिक्षण के क्रम से था।

पाठ्यक्रम के अध्ययन में छात्र की जो प्रगति होती थी उसे व्यक्त करने के लिये भाषा में कुछ प्रयोग और शब्द चल पड़े थे। ग्रन्थ के नाम से पढ़ाई का दरजा सूचित

---

१. पुराकल्प एतदासीत् संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणाः व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यस्तत्र स्थानकरण-नादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते, तदद्यत्वे न तथा वेदमधीत्यत्वरिता वक्तारो भवन्ति, पस्पशाह्निक)।

किया जाता था (ग्रन्थान्ताधिके च, ६।३।७९) जैसे सकलं समुहूर्तं ज्योतिषमधीते, अर्थात् अमुक छात्र ने कला के प्रकरण तक या मुहूर्त के प्रकरण तक ज्योतिष का अध्ययन किया है अथवा ससंग्रहं व्याकरणमधीते, अमुक छात्र ने सग्रह ग्रन्थ तक व्याकरण-शास्त्र पढ लिया है । आजकल भी भाष्यान्त व्याकरण पढा है, कौमुद्यन्त व्याकरण पढा है, इन प्रयोगो से कुछ ऐसा ही सूचित किया जाता है । किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति को प्रकट करने के लिये भाषा मे विशेष शब्दो का निर्माण हुआ था (अन्त-वचन में अव्ययीभाव समास, २।१।६) जैसे साग्नि अधीते, वह 'अग्नि' ग्रन्थ की समाप्ति तक अध्ययन करता है (शतपथ ब्राह्मण काण्ड ६ से ९ तक की सज्ञा अग्नि थी, क्योंकि उसमे अग्निचयन का विषय था); अथवा सेष्टि पशु बन्धमधीते, अर्थात् वह इष्टि (शतपथ, काण्ड १-२ जिनमे दर्शपौर्णमास इष्टियो का वर्णन है) और पशुबन्ध (शतपथकाण्ड ३-५ जिनमे सोमयाग का विषय है) पर्यन्त अध्ययन करता है ।

किसी विषय के अध्ययन की समाप्ति 'वृत्त' कहलाती थी (णेरध्ययने वृत्तम्, ७।२।२६), जैसे देवदत्त ने कहाँ तक पढ़ा है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जाता था—वृत्तो गुणो देवदत्तेन (देवदत्त ने व्याकरण शास्त्र मे गुण प्रकरण पढ कर समाप्त कर लिया है); वृत्त पारायण देवदत्तेन (देवदत्त ने वैदिक पारायण समाप्त कर लिया है) । इस प्रकार या तो ग्रन्थ के नाम से, या विषय के नाम से अध्ययन की प्रगति सूचित करने के दो ढंग भाषा के प्रयोगो मे चलते थे ।

जैसा कहा जा चुका है (४।२।६३) वर्ष भर के पाठ्यक्रम का विभाग ऋतुओ के अनुसार कर लिया गया था । प्रत्येक ऋतु मे जो विषय पढाए जाते उनका सकेत ऋतु के नाम से सूचित किया जाता था और उसके अध्येता छात्र भी उसी नाम से पुकारे जाते थे, जैसा 'वसन्त' संज्ञक ग्रन्थ से वासन्तिक छात्र, वर्षा से वार्षिक, शरद से शारदिक, हेमन्त से हैमन्तिक और शिशिर से शैशिरिक । इस सूची मे ग्रीष्म का नाम नही है । संभवतः आजकल की तरह उस समय भी ग्रीष्म या जेठ-अषाढ के तपते महीनो मे पढाई बन्द रहती थी ।

अल्पकाल के लिये शिक्षण सस्थाओ मे प्रविष्ट होकर किसी ग्रन्थ विशेष या विषय विशेष का अध्ययन करने की भी प्रथा थी । इसका विधान तदस्य ब्रह्मचर्यम् सूत्र मे है (५।१।९४) । जो विद्यार्थी जितने समय के लिये गुरुकुल मे प्रविष्ट हो अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का नियम ले उससे उसका नाम पड जाता था । अथवा जिस विषय या ग्रन्थ के पढने के लिये वह आवे उससे भी उसका नाम रक्खा जाता था । उदाहरण लिये सावत्सरिक ब्रह्मचारी, वह छात्र जो एक वर्ष के लिये ब्रह्मचारी बना है; मासिक, वह छात्र जो केवल एक मास के लिये ब्रह्मचारी बना है; अर्धमासिक, वह छात्र जो केवल पन्द्रह दिन के ब्रह्मचारी बना है । यहाँ ब्रह्मचर्य का तात्पर्य चरण का नियमित

विद्यार्थी था। चरण में प्रविष्ट होना ब्रह्मचर्य या उपनयन द्वारा समिधाधान से शुरू होता था। इसलिये ब्रह्मचर्य का यह पारिभाषिक अर्थ चल गया था। उपनिषदो में जो कथा आती है कि केवल एक प्रश्न पूछने के लिये भी कोई जिज्ञासु आचार्य या तत्वज्ञानी के पास जाकर ब्रह्मचर्य से रहता था उसकी पृष्ठ भूमि में वही नियम था जिसका इस सूत्र मे संकेत है। 'ब्रह्मचर्य मुपुः' का अर्थ हो गया था ज्ञानोपार्जन या विशेष अध्ययन के लिये जाना (बृ० उप० ५।१।१)। आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु से कहा—वस ब्रह्मचर्यम् (छा० ६।१।१)। वह बारह वर्ष आचार्य के यहाँ जाकर रहा। प्राचीनशाल औपमन्यव आदि पाँच मित्र केवल वैश्वानर विद्या सीखने के लिये ही अश्वपति के पास गए और पूर्वाह्न मे समित्पाणि होकर उनके सामने पहुँचे। 'समित्पाणी' होना ब्रह्मचर्य के औपचारिक नियम का सूचक था। सत्यकाम जावाल ने हारिद्रुमत गौतम के पास जाकर कहा—ब्रह्मचर्यं भगवति वत्स्यामि।

कात्यायन ने कुछ और नाम दिए हैं—महानाम्निक, वह छात्र जो महानाम्नी ऋचाओ के अध्ययन तक के लिये ब्रह्मचारी बना हो (महानाम्न्यो नाम ऋचो व्रतो तासा तुचर्यते, भाष्य ५।१।९४, वा० १–२)। कात्यायन का यह भी कहना है कि एक ओर तो इस प्रकार के विशेष शिक्षा प्रबन्ध को माहानाम्निक कहा जाता था, दूसरी ओर उस छात्र का भी माहानाम्निक. (पुंल्लिग) नाम पड़ता था (तच्चरतीति च, महानाम्नीश्चरति माहानाम्निक)। ऐसे ही आदित्यव्रतिक, वह जो आदित्यव्रत साम की समाप्ति तक के लिये चरण मे अन्तेवासी बनता था। गोभिल गृह्यसूत्र मे आदित्यव्रतिक ब्रह्मचारियो का उल्लेख है (गोभिल० ३।१।२८; ३।२।१–९)। महानाम्नी व्रत को शाक्वरी व्रत भी कहते थे। प्राचीन रौरुकि ब्राह्मण मे कहा गया था कि उस समय के छात्र महानाम्नी छन्दो तक वेदाध्ययन करना बहुत ही महनीय व्रत समझते थे। माताए बच्चो को दूध पिलाते समय लोरी मे कहा करती थी कि तुम शाक्वरी व्रत के पारगामी बनो[1]।

अध्ययन की समाप्ति समापन कहलाती थी (समापनात्सपूर्वपदात्, ५।१।११२); जैसे छन्द समापनीय, व्याकरणसमापनीय, अर्थात् वह अध्ययन या व्रत जिसका उद्देश्य छन्द अर्थात् वैदिक शाखा, या वेदागो मे व्याकरण की समाप्ति हो (तदस्यप्रयोजनम्)।

अध्यापन—चरण के अन्तर्गत नियमपूर्वक अध्यापन उपयोग और अध्यापन कराने वाला आख्याता कहलाता था (आख्यातोपयोगे १।४।२९, नियमपूर्वकं

---

१. अथ ह रौरुकि ब्राह्मण भवति। कुमारान् ह स्म वै मातरः पाययमाना आहुः शाक्वरीणां व्रतं पारयिष्णवो भवतेति। गोभिल गृह्यसूत्र, ३।२।७ ९।

विद्याग्रहणं—काशिका)। काशिका के अनुसार नाटच आदि लौकिक विषयो की शिक्षा इस शब्द का तात्पर्य न था, जैसे नटस्य शृणोति, नट से नाटच या अभिनय सीखता है। जो विषय धार्मिक अध्ययन के क्षेत्र से बाहर नए शुरू हो रहे थे उन्हे स्वभावत: वह सम्मान प्राप्त न था जो चरणो मे अनुशीलित विषयो को था। स्वाध्याय सम्बन्धी ग्रन्थो का अध्यापन करानेवाला प्रवचनीय कहलाता था (३।४।६८, प्रवचनीयो गुरु स्वाध्यायस्य)। अथवा जो वस्तु पढाई जाती उसके लिये भी यही शब्द था, जैसे प्रवचनीयो गुरुणा स्वाध्याय:)। जिन अध्यापन कराने-वालो को प्रवक्ता कहा गया है वे ही वैदिक ग्रन्थो का प्रवचन करते थे (२।१।६५)। पाणिनि ने कुछ विद्वानो को अनूचान कहा है (३।२।१०९)। बोधायन के अनुसार ये वेदागो की शिक्षा देते थे (अगाध्यायी अनूचान., बोधायन गृह्यसूत्र, १।४)। उपनयन, गोदानव्रत, महानाम्नी व्रत आदि प्रत्येक व्रत की समाप्ति पर अनुप्रवचनीय होम किया जाता था (अनुप्रवचनादिभ्यश्छ., ५।१।१११; आश्व० १।२२; गोभिल ३।२।४८-४; खादिर २।९।३४, रुद्रस्कन्द, प्रवचनात् पश्चात्क्रियते इत्य-नुप्रवचनीय होम:)।

माणवक का पिता या अभिभावक गुरु के पास आकर सत्कारपूर्वक निवेदन करता था—मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप इस माणवक को उपनीत करें (अधी-च्छामो भवन्तं माणवकं भवानुपनयेत्, काशिका ३।३।१६१ सूत्र में पठित अधीष्ट शब्द की व्याख्या)। जितने काल के लिये यह प्रार्थना की गई हो उसे व्यक्त करने के लिये भी भाषा मे प्रयोग चलता था, जैसे एक मास तक अध्यापन के लिये जिससे अनुरोध किया गया हो वह मासिक अध्यापक कहा जाता था (तमधीष्ट:, ५।१।८०, मासमधीष्ट: सत्कृत्य व्यापारित:)।

विद्यार्थी के छात्र जीवन मे नियम और व्यवस्था का मुख्य स्थान था। अध्ययन की कठिनाई प्रकट करने वाले शब्द भी मिलते हैं; जैसे कष्टोऽग्नि:, कष्ट व्याकरण, ततोऽपि कष्टतराणि सामानि, अर्थात् अग्नि ग्रन्थ (शतपथ काण्ड ६-९) का अध्ययन कठिन है; ऐसे ही व्याकरण भी कठिन है; इन दोनो से कठिन साम गान का सीखना है (कृच्छगहनयो: कष, ७।२।२२, काशिका)।

अष्टाध्यायी मे कई प्रकार के अध्यापको का उल्लेख है, जैसे दारुणाध्यापक, घोराध्यापक (पूजनात्पूजित काष्ठादिभ्य, ८।१।६७)। ये बहुत कठोरता से नियमो का पालन कराते या शारीरिक दण्ड का भी प्रयोग करते थे। दूसरी ओर अनुभवी, सरल और आदर्श पढाने वाले भी थे जिन्हे काष्ठाध्यापक, अद्भुताध्यापक, परमाध्या-पक, स्वाध्यापक कहा जाता था। अधिक रटन्त कराने वाले भृशाध्यापक या अत्या-ध्यापक भी होते थे। अवसर-प्राप्त अध्यापक प्राचार्य और पुराने छात्र प्रान्तेवासी कहलाते थे (भाष्य २।२।१८)।

पारायण—वैदिक शाखा ग्रंथ या छन्दों को कण्ठस्थ करने की प्रथा थी। कण्ठाग्र करने वाले विद्वान् श्रोत्रिय कहलाते थे (श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते, ५।२।८४)। संहिता-पाठ (निर्भुज), पद पाठ (प्रतृण्ण), क्रम पाठ आदि कई प्रकार से वैदिक मन्त्रो का सस्वर पाठ करना वैदिक पारायण कहलाता था। नियमानुसार पारायण करने-वाला पारायणिक होता था (पारायणं वर्तयति, ५।१।७२)। श्रावणी या भाद्रपद पूर्णिमा को उपाकर्म करने के वाद साढे चार महीने तक वेद का पारायण किया जाता था। उस समय कुछ नियमो का पालन करना आवश्यक था। बोधायन एवं अन्य गृह्यसूत्रो मे वर्णित नियत कर्म विधि के साथ पारायण का आरम्भ किया जाता था। पारायणिक ब्रह्मचारी या श्रोत्रिय स्थण्डिल पर शयन करता था, अतएव उसे उस समय स्थाण्डिल कहते थे (स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते, ४।२।१५)। उस अवधि मे वह पारायण के अतिरिक्त और कुछ न वोलने का व्रत लेने के कारण वाचंयम कहलाता था (वाचि यमो व्रते, ३।२।४०)। उस व्रत के समय वह आहार मे भी सयम करता था, कभी केवल दुग्ध ही पीकर रह जाता था, तब उसके लिये 'पयो व्रतयति' कहा जाता था (३।१।२१)। महीदास ने लिखा है कि एक से अधिक पारायण करने की प्रथा भी थी। ऐसे लोगो को द्वैपारायणिक कहा जाता जो जीवन मे दो पारायण कर लेते थे (द्वैपारायणं वर्तयति, ४।१।८८ पर काशिका)। छात्रा-वस्था के वाद भी कभी कोई पारायण कर सकता था।

छन्दो को कठ करना उस समय की शिक्षाप्रणाली का आवश्यक अङ्ग वन गया था। पतञ्जलि ने तो लिखा है कि पढाई का आरम्भ ही वेद कठस्थ करने से होता था। उसके वाद किसी का मन हुआ तो व्याकरण पढ़ता था। कठ करते समय छात्र स्वय वहुत परिश्रम करते थे और श्रोत्रिय लोग भी उनके साथ परिश्रम करते थे। अच्छी स्मृति वाले छात्रो को अधिक परिश्रम के विना (अकृच्छ्र) ग्रन्थ कठस्थ हो जाता था। उनके लिये भाषा मे इस प्रकार का प्रयोग था—अधीयन् पारायणम्, धारयन्नुपनिषदम् (इङ्धार्यो शत्रकृच्छ्रिणि, ३।२।१३०)।

कुछ सूत्रो से कठस्थ करने की प्रक्रिया पर प्रकाश पडता है। एक तो जितनी वार घोखने से ग्रथ कण्ठस्थ होता हो उतने अध्ययन या आवृत्ति की सख्या प्रकट करने के लिये भाषा मे प्रयोग थे; जैसे पञ्चकोऽधीतः, सप्तकोऽधीत॰, अष्टक, नवक॰, अर्थात् पांच आवृत्ति या पांच वार में जिसका अध्ययन पक्का हो उसके लिये इस प्रकार कहा जाता था। अथवा पांच प्रकार से जो अध्ययन या आवृत्ति की जाय वह भी पञ्चक कहलाती थी (पञ्च रूपाण्यस्याध्ययनस्य पञ्चकमध्ययनम्)। दूसरी वात यह थी कि पारायण करते समय जो अशुद्धियाँ होती उन्हे भी प्रकट करने के लिये भाषा मे प्रयोग थे। या तो एक पद अशुद्ध निकल जाता (पद मिथ्या कारयते), या स्वर की अशुद्धि होती (स्वरादि दुष्टम्), या वार-वार वही अशुद्धि हो जाती (असकृदु-

च्चारयति, १।३।७१ मिथ्योपपदात्कृञोऽभ्यासे)। अध्ययन या पारायण सुनाते समय परीक्षा-काल मे जिससे जितनी अशुद्धियाँ हो उनकी गिनती सूचित करने वाले प्रयोग भी चलते थे (कर्माध्ययने वृत्तम् ४।२।६३-६४), जैसे ऐकान्यिक, जो एक अशुद्धि करे। ऐसे ही द्वैयन्यिक, त्रैयन्यिक आदि दस अशुद्धियो तक बताने के लिये शब्द थे।

दस तक के संख्यावाची शब्दो मे दो अच् होते है। पर सूत्र मे बहुच् सख्या शब्दो से भी ऐसे प्रयोग बनाने का विधान है (४।४।६४), जैसे द्वादशान्यिक, त्रयोदशान्यिक, चतुर्दशान्यिक, अर्थात् जो पारायण मे १२, १३ या १४ अशुद्धियाँ करे। इस प्रकार छन्दो को कठस्थ करने मे जो कठिन परिश्रम किया जाता उसीका यह सुफल होता कि ऋग्वेद तैत्तिरीय सहिता और शतपथ ब्राह्मण जैसे महाग्रन्थो को लोग सस्वर कठस्थ कर लेते थे और पीढी-दर-पीढी उनकी रक्षा करते रहते थे।

ज्ञानपूर्वक अध्ययन—ऊपर कही विधि से कठस्थ करना शिक्षण विधि का केवल एक अङ्ग था। उससे तत्कालीन ज्ञान साधन के यत्नो का अतिसीमित परिचय मिलता है। यास्क ने वेदो को कठस्थ कर लेने मात्र से सतुष्ट हो जानेवाली मनोवृत्ति से सावधान किया है। पतजलि ने भी आगे चलकर एक पुराने श्लोक का उद्धरण देते हुए इसमें अरुचि प्रकट की है। बिना समझे-बूझे कठ फाड़ कर घोखना ऐसा है जैसे अग्नि के बिना सूखे कडो का ढेर हो।[1] यह मनना पड़ेगा कि सूत्र युग मे ज्ञानपूर्वक अध्ययन की ओर लोगो का सविशेष ध्यान था। स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी शब्दो के सग्रह और विश्लेषण मे किए गए भूरि परिश्रम का फल थी। यास्क के निरुक्त एव शाकटायन और आपिशलि के व्याकरण भी इसी प्रकार की वैज्ञानिक पद्धति के परिणाम थे। इस प्रकार मौलिक चिन्तन और सामग्री के सकलन एव विश्लेषण से जिन नए शास्त्रो की उद्भावना की जाती थी उन्हे पाणिनि ने उपज्ञात कहा है (४।३।११५)। पुराने ग्रन्थो के व्याख्यान से उपज्ञात साहित्य भिन्न प्रकार का था। पाणिनि का व्याकरण उपज्ञात कोटि मे था (पाणिन्युपज्ञ व्याकरण; पाणिनिना उपज्ञातं पाणिनीयम्)।

ज्ञान साधन के विशेष प्रकार—शिक्षण और ज्ञान साधन के क्षेत्र में प्रयुक्त कई महत्वपूर्ण शब्दो का पाणिनि ने उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके समय मे कितने प्रकार से शास्त्रो की ऊहापोह और प्रचार का वास्तविक प्रयत्न किया जा रहा था। ये शब्द इस प्रकार हैं—प्रकथन, तत्काल स्फुरित विषय का मौखिक निरूपण (१।३।३२); भासन, विषय का चमत्कृत व्याख्यान (१।३।४७); विषय

---

१. यदधीतमविज्ञात निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्॥ पस्पशाह्निक।

का सम्यगववोध (ज्ञान अर्थ मे वद धातु का विशिष्ट प्रयोग जैसे वदते चार्वी लोकायते, १।३।४७); विमति, किसी विषय पर नाना मतो का विवेचन (१।३।४७); विप्रलाप, विभिन्न मत रखने वाले विद्वानो का शास्त्रार्थ (१।३।५०), जैसे काल के विषय मे सावत्सर और मौहूर्त—संवत्सरवादी और मुहूर्तवादी दार्शनिकों का परस्पर प्रतिषेधपूर्वक विचार करना); प्रतिश्रवण (८।२।९९) या प्रतिज्ञान, अपने मत की प्रतिज्ञा का स्थापन, जैसे नित्यं शब्दं सगिरते, 'शब्द नित्य है' इस प्रकार की प्रतिज्ञा करता है (१।३।५२); ज्ञान की खोज मे जिज्ञासा वृत्ति (१।३।५७, जिज्ञासते)। सत्य तक पहुँचने के लिये विद्वानो के मध्य वाद और विवाद की ये प्रवृत्तियाँ और प्रकार थे। ज्ञान साधन की यह बहुशः युक्ति उपनिषद्, बौद्ध साहित्य एव महाभारत शान्तिपर्व मे परिलक्षित होती है। विवाद के समय जो मध्यस्थ होने वालो का (मध्येकृत्य, १।४।७६), विपक्षी को निरुत्तर कर देने का (निवचनेकृत्य, १।४।७६), एवं उसकी युक्तियो का खण्डन करके या उनकी निस्सारता दिखाकर उसे अवरुद्ध कर देने का भी उल्लेख है (निगृह्यानुयोगे च, ८।२।९४)। इसमे निग्रह और अनुयोग दोनो न्यायशास्त्र के शब्द थे। तर्क के मार्ग से विचार करते हुए सिद्धान्त तक पहुँचना (विचार्यमाणानाम्, ८।२।९७, प्रमाणेन वस्तु परीक्षणम्, काशिका), एवं अपने मत की विनिश्चयपूर्वक स्थापना (ज्ञान = प्रमेयनिश्चय, १।३।३६), भी शास्त्रार्थ के आवश्यक अङ्ग थे। शास्त्रार्थ में विजयी व्यक्ति को विशेष सम्मान मिलता था (सम्मानन, १।३।३६) और तब उस विषय या शास्त्र में सब लोग उसे अग्रणी या प्रमुख मानने लगते थे। जैसे चान्द्र वृत्ति ने एक पुराना उदाहरण दिया है कि भगवान् पाणिनि स्वय व्याकरण के क्षेत्र मे अग्रणी माने जाने लगे थे (नयते पाणिनिर्व्याकरणे, १।४।८२)। गुरुओ से शिष्यो को प्राप्त होती हुई विद्या निरन्तर प्रथित होती या फैलती थी, उसे तायन कहते थे (१।३।३८)। शास्त्रो के विस्तार का यही सर्वोत्तम प्रकार इस देश मे सदा से रहा है कि उस शास्त्र को गुरु-शिष्य पारम्पर्य मे डाल दिया जाय। फिर ऐसा होता हो रहेगा कि मेधावी शिष्य पूर्व प्राप्त अपनी प्रतिभा से ज्ञान का अभूतपूर्व विस्तार करेंगे, जैसे पाणिनि के शब्द शास्त्र का अपूर्व 'तायन' वार्तिककार कात्यायन और भाष्यकार पतजलि ने किया। जिस समय आचार्य अपने बुद्धिशाली शिष्य के मन मे किसी शास्त्र का बीज वपन कर देता है आचार्य का काम समाप्त हो जाता है और उस शास्त्र के भावी कल्याण के लिये वह अपने कर्तव्य से उऋण हो जाता है। प्रायः ऐसा होता कि चरणो के सस्थापक आचार्य स्वय अपने कार्य से ऐसे यशस्वी न बन पाते जैसे वे अपने शिष्यो के ग्रन्थो से कीर्तिमान हो जाते थे। पाणिनि ने लिखा है कि कलापी और वैशम्पायन इस प्रकार के आचार्य थे जिनके प्रतिपादित विषयो या छन्द ग्रंथो का विस्तार उनके अनेक अन्तेवासी शिष्यो ने किया (कलापि वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च, ४।३।१०४; श्री

राधाकुमुद मुकर्जी, पाणिनि, कात्यायन पतंजलि के ग्रंथो मे प्राचीन भारतीय शिक्षा)।

चरण, वैदिक विद्यापीठ—चरण उस प्रकार की शिक्षा संस्था थी जिसमे वेद की एक शाखा का अध्ययन शिष्य समुदाय करता था और जिसका नाम मूल संस्थापक के नाम से पडता था। इसका प्रबन्ध संघ के आदर्श पर होता था (चरण शब्दः शाखानिमित्तक. पुरुषेषु वर्तते, काशिका २।४।३)। वैदिक साहित्य के विविध अङ्गो का विकास चरणो मे हुआ था, जैसे मूल संस्थापक ऋषि द्वारा प्रोक्त छन्द या शाखा, मन्त्रो की अधिदैवत अध्यात्म अधिभूत और अधियज्ञ परक व्याख्या करनेवाला ब्राह्मण ग्रन्थ एवं श्रौत सूत्र आदि कल्पग्रन्थ। पाणिनि के समय से पूर्व ही चरणो मे वैदिक साहित्य का इतना विकास सम्पन्न हो चुका था (सूत्र ४।२।६६; ४।३।१०५)। वस्तुत. वैदिक शाखा और ब्राह्मण ग्रन्थो का चरणो के साथ ऐसा तादात्म्य सम्बन्ध माना जाता था कि इन दोनो प्रकार के साहित्य का नामकरण चरणो मे उनका अध्ययनाध्यापन करने वाले (अध्येतृ-वेदितृ) विद्वान् गुरु शिष्यो के नाम पर ही प्रसिद्ध होता था। छन्द या शाखाएँ ग्रंथ मात्र नही रह गई थी बल्कि उन्होने संस्थाओ का रूप ले लिया था जिसमे ब्राह्मण, आरण्यक, श्रौत सूत्र आदि साहित्य का भी समावेश हो गया था। पाणिनि काल मे चरणो का विकास एक सीढ़ी और आगे पहुँच चुका था, अर्थात् श्रौत सूत्र या कल्प ग्रंथो के बाद धर्म सूत्रो की रचना भी चरण साहित्य के अन्तर्गत हो गई थी। चरणेभ्यो धर्मवत् (४।२।४६) सूत्र मे आचार्य ने इसी का उल्लेख किया है (उसी पर वार्तिक है, चरणाद् धर्माम्नाययोः)। वैदिक चरणो के विकास की यह अन्तिम कडी थी। जब धर्म सूत्रो का अध्ययन चरणो मे हुआ, उसी युग मे कितने ही नये विषयो का अध्ययन चरणो के बाहर भी होने लगा था, जिनकी शिक्षा विधि के नियम चरणो की अपेक्षा सम्भवतः सरल थे। एक बार जब गुरु या शास्त्रज्ञ लोगो के स्वतन्त्र रीति से अध्यापन कराने की प्रथा शुरू हुई तो फिर चरणो की वह बँधी हुई प्रतिष्ठा छिनती ही चली गई। यास्क कृत निरुक्त और पाणिनि कृत अष्टाध्यायी इसी प्रकार के स्वतन्त्र शास्त्र और ग्रन्थ थे जिन पर किसी एक चरण का सर्वाधिकार न था और जिनका निर्माण और अध्ययन चरणो के बाहर हुआ और होने लगा था। पतंजलि ने अष्टाध्यायी के विषय मे यह बहुत ही महत्वपूर्ण सूचना दी है कि उसका सम्बन्ध किसी एक चरण से न था बल्कि सभी चरणो की परिषदे उन्हे अपना रही थी—

सर्व वेद परिषद हीद शास्त्रम् (२।१।५८; ६।३।१४ भाष्य)।

नए शास्त्रो की रचना सबके वश की बात न थी। अतएव जहाँ भी चाहे उनका निर्माण हुआ हो, सब चरणो को उन्हे अपने पाठ्यक्रम मे स्वीकार कर लेना पडता था।

परिषद्-पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदों का उल्लेख किया है, (१) शिक्षा सम्बन्धी, (२) समाज मे गोष्ठी सम्बन्धी और (३) राजशासन सम्बन्धी। पहले प्रकार की परिषद् चरण के अन्तर्गत एक प्रकार की विद्वत्सभा थी जो उच्चारण और व्याकरण सम्बन्धी नियमो का निश्चय करती थी और शाखा के पाठ आदि के विषय में भी जिसमे विचार होता था। सूत्र ४।३।१२३ (पत्राध्वर्यु परिषदश्च) मे चरण परिषद् का ही उल्लेख है। इसमे परिषत् सम्बन्धी किसी वस्तु के लिये पारिषद शब्द सिद्ध किया गया है (परिषद इदम्)। गृह्यसूत्रों में आचार्य और उनकी परिषत् का निश्चित उल्लेख है। कहा है कि प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी परिषद् के मध्य में विराजमान आचार्य के समक्ष उपस्थित होकर हर्षित मन से अपना आदर भाव प्रकट करता था (यक्षमिव चक्षुष· प्रियो वा भूयासमिति सपरिषत्कमाचार्यमभ्येत्य ब्रह्मचारी पठति, गोभिल गृह्यसूत्र ३।४।२८; द्राह्यायण गृह्यसूत्र ३।१।२५)। चरक मे भी इस प्रकार की शिक्षा परिषत् का आभास मिलता है (विमानस्थान, ८।१९–२०)। पाणिनि ने जो परिषद शब्द सिद्ध किया है, पतजलि ने परिषदो मे बने हुए साहित्य के अर्थ में ही उसका प्रयोग किया है (ऊपर के सर्ववेद-पारिषद हीद शास्त्रम् वाक्य मे)। इसी शब्द का दूसरा रूप पार्षद निरुक्त मे मिलता है जिसका प्रयोग चरणो की परिषदो के साहित्य के लिये ही किया गया है (पदप्रकृतीनि सर्व चरणाना पार्षदानि, निरुक्त १।१७)। दुर्गाचार्य ने लिखा है कि पार्षद ग्रथो से तात्पर्य प्रातिशाख्यो का है जो चरणो की पर्षदो (परिषदो) मे बनाए गए थे। स्वर, सन्धि, वैदिक शब्द रूप, पाठ आदि के सम्बन्ध मे परिषदो द्वारा निर्णीत नियमो का ही इनमे सग्रह है। पतजलि ने सामवेद की सात्यमुग्रि और राणायनीय शाखाओ के अर्ध एकार, अर्ध ओकार सम्बन्धी नियम को पार्षद कृति अर्थात् चरण परिषत् द्वारा निर्णीत नियम कहा है (पार्षदकृतिरेषा तत्रभवतां नैव हि लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति, प्रत्याहार सूत्र ३–४ पर वा० ४)।

ऊपर दो अन्य परिषदो का भी उल्लेख किया गया है। परिषद् में जो सम्मिलित हो, वह पारिषद्य होता था (परिषद समवैति, ४।४।४४)। यहाँ सामाजिक परिषद् का ग्रहण है जिसे गोष्ठी या समाज कहा जाता था। तीसरी परिषद् राजा की मन्त्रि-परिषद् थी जिसका उल्लेख 'परिषद्वलो राजा' इस प्रयोग में है (कृष्यासुति परिषदो वलच्, ५।२।११२) सूत्र ४।४।१०१ मे भी जिस परिषद् का उल्लेख है, वह राज-नीति के क्षेत्र का शब्द था (परिषदो ण्यः)। परिषद् या मन्त्रिपरिषद् मे जो साधु हो अर्थात् उसमे सम्मिलित होने का अधिकारी हो वह पारिषद्य या पारिषद कहलाता था। यह निश्चित है कि परिषद् चरण के अन्तर्गत एक अति प्राचीन संस्था थी जो वहाँ की विद्यासम्बन्धी व्यवस्था करती थी और जिसके अध्यक्ष आचार्य स्वयं होते थे।

चरणो की कार्य प्रणाली—चरणो के सम्बन्ध मे अष्टाध्यायी से निम्नलिखित सूचनाएँ प्राप्त होती हैं—

(१) नाम—जैसा पहले कहा जा चुका है चरण का नाम और उसमें अध्येता छात्रो का नाम एक ही होता था। इन नामो के विकास की दो सीढियाँ थी, जो चरणों के विकास क्रम की सूचक हैं। पहले एक ऋषि या आचार्य ने अपनी प्रतिभा से वैदिक शाखा या ग्रन्थ का प्रवचन किया जो उस चरण की आधार शिला बनी (४।३।१०२)। फिर उस छन्द ग्रन्थ के अध्ययन के लिये छात्र एकत्र होने लगे। उदाहरण के लिये, ऋषि तित्तिर ने तैत्तिरीय शाखा का प्रवचन किया (ते न प्रोक्तम्)। उसके अध्येता छात्र तैत्तिरीय कहलाए (तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते)। व्याकरण की बात इतनी ही है कि प्रोक्त प्रत्यय के लगाने से बना हुआ तित्तिर प्रोक्त=तैत्तिरीय, यह शब्द उस प्रोक्त छन्द या शाखा ग्रन्थ के नाम के लिये स्वतंत्र रूप से प्रयुक्त न हो सकता था। उस शाखा को पढने वाले छात्रो को सूचित करने के लिये उसी तैत्तिरीय शब्द में अध्येतृ-वेदितृ वाची दूसरा प्रत्यय जुडता था (छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि, ४।२।६६) और तब तैत्तिरीय शब्द से नया चरण वाची अर्थ प्रकट होता था। इसे यो समझना चाहिए—तित्तिर+छ (प्रोक्त प्रत्यय) + छ (अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय)।

ऊपर दो अर्थों में दो प्रत्यय हैं। दूसरे प्रत्यय का लोप हो जाता है (प्रोक्ताल्लुक्, ४।२।६४) पर उसका अर्थ बना रहता है। पहला प्रत्यय बना रहता है पर उसका अर्थ नही रहता। शाखावाची और चरणवाची दोनो शब्दो का रूप एक सा ही था पर अर्थों मे भेद था। चरण के अर्थ में शब्द का प्रयोग लोक मे चालू था, शाखा के लिये नही। इसी नियम को पाणिनि ने 'तद्विषयता' कहा है। जितना भी साहित्य चरण के अन्तर्गत बनता गया, सब मे तद्विषयता का नियम लागू होता गया, अर्थात् सब का नामकरण चरण के नाम से ही हुआ। सौ दो सौ वर्षों मे भी जो रचनाए हुईं उनके नाम चरण के नाम पर ही पड़े अर्थात् चरण के संस्थापक मूल आचार्य के नाम से ही उसकी शाखा, उसके विद्यार्थी और अध्यापक एवं उनके साहित्य का नाम पड़ा। तैत्तिरीय शाखा का अर्थ तित्तिर प्रोक्त शाखा न होकर, तैत्तिरीय चरण वालो का छन्दोग्रन्थ, ऐसा समझना चाहिए। प्राचीन भारत की वैदिक शिक्षा संस्थाओ मे नामकरण का यह सिद्धान्त बहुत ही महत्त्वपूर्ण था। इसका परिणाम बहुत दूर तक हुआ। उदाहरण के लिये इतिहास-पुराण का विकास अथर्ववेद के समय मे हो चुका था (अथर्व, १५।६।११)। छान्दोग्य मे इतिहास पुराण विद्या को पंचम वेद कहा गया है। उसका अध्यनाध्यापन भी चरण के अन्तर्गत होने लगा। पाराशर्य वेदव्यास के चरण ने इस नूतन विषय को पल्लवित किया। फल यह हुआ कि पुराण ग्रन्थो का कर्तृत्व वेदव्यास के नाम से प्रसिद्ध हो गया और चार सहस्र श्लोकात्मक मूलपुराण संहिता यद्यपि कालक्रम से सौगुनी बढ़कर चार लक्ष श्लोक के बराबर हो

गई तो भी उसके समस्त साहित्य पर वेदव्यास के नाम की ही छाप लगी रही।

(२) चरणो का उदय और प्रतिष्ठा—एक आचार्य के केन्द्र से आरम्भ होकर चरणो का देश और काल में विस्तार होता जाता था। आजकल के विद्यालयों की भाँति यह न समझना चाहिए कि किसी स्थान विशेष मे कोई चरण सीमाबद्ध था। जहाँ-जहाँ आचार्य से पढे हुए अन्तेवासी और फिर उन अन्तेवासियो के शिष्य फैलते जाते वे सब उसी चरण के नाम से प्रसिद्ध होते थे। यही विद्या सम्बन्ध या गुरु-शिष्य पारम्पर्य सम्बन्ध वास्तविक चरण था। पतञ्जलि ने लिखा है कि कठ और कालाप चरण गाँव-गाँव में फैल गए थे जहाँ उनके ग्रन्थो की शिक्षा देनेवाले विद्वान् जा बसे थे (ग्रामे ग्रामे काठकं कालापकं च प्रोच्यते, भाष्य ४।३।१०१)। चरणो के उदय और फैलने के विषय मे पाणिनि ने लोक की वास्तविक स्थिति का इस सूत्र में संकेत किया है—अनुवादे चरणानाम् (२।४।३)। जो बात पहले से लोक प्रसिद्ध थी उसी का कथन अनुवाद कहा जाता था (प्रमाणान्तरावगतस्यार्थस्य शब्देन सकीर्तन मात्रमनुवाद', काशिका)। कात्यायन ने कहा है कि पाणिनि को इस सूत्र मे जो प्रयोग इष्ट थे उनमें स्था और इण् धातुओं के भूतकाल के रूप बोले जाते थे (स्थेणो:, अद्यतन्या च)। पतजलि ने 'उदगात्' और 'प्रत्यस्थात्' इन दो रूपो का उल्लेख किया है जिनके द्वारा दो चरणो के एक साथ उदय और प्रतिष्ठा की बात कही जाती थी। जैसे, उदगात् कठकालापम्. प्रत्यष्ठात्कठकौथुमम् उदगान्मौदपैप्पलादम्। लोक मे यह तथ्य भलीभाँति विदित था कि कठकालाप चरणो की इस प्रकार उन्नति हुई और उन्हें ऐसे सर्वत्र दृढ़ स्थिति प्राप्त हुई। उसी तथ्य को जानने वाला व्यक्ति बातचीत के सिलसिले मे कहता था—कठकालाप चरणो के साथ ऐसा उदय हुआ, कठकौथुम चरणो को ऐसी प्रतिष्ठा मिली। इन्हीं वाक्यो को पाणिनि ने अनुवाद कहा है, अर्थात् जानी-बूझी बात को फिर कहना। वैदिक चरण भौगोलिक क्षेत्र मे और उनमें पनपनेवाले विषयो की दृष्टि से भी शीघ्र उन्नति कर रहे थे। उसी पृष्ठभूमि की ओर ऊपर के सूत्र का सकेत है।

(३) अनुवाद—अभी जिस परिस्थिति का उल्लेख किया है, उससे कुछ भिन्न अर्थ मे यहाँ अनुवाद शब्द है। अनोरनुक्रमात् सूत्र (१।३।४९) में दो चरणो के पारस्परिक विद्यासम्बन्ध की ओर संकेत है, जैसे अनुवदते कठः कालापस्य, अनुवदते मौद. पैप्पलादस्य, कठ चरण के छात्र कालापचरण के समान छन्द का पाठ करते हैं (यथा कालापोऽधीयानो वदति तथा कठ., काशिका)। कठ और कालाप दोनो कृष्णयजुर्वेद के एव मौद और पैप्पलाद दोनो अथर्ववेद के चरण थे। चरणो में ज्ञान-साहचर्य के ये उदाहरण हैं। पाणिनि ने कार्त कौजपादि गण मे (६।२।३७) कठका-लापा. कठकौथुमा:, कौथुमलौगाक्षा', मौदपैप्पलादा: उदाहरणो में उन-उन चरणो के बौद्धिक सहयोग का उल्लख किया है।

(४) चरण-प्रवेश—छात्रो के चरणो मे प्रविष्ट होने को 'तद् अवेत' कहा गया है (५।१।१३४), जैसे 'काठिकाम् अवेतः' का तात्पर्य था कि वह छात्र कठ चरण का ब्रह्मचारी या उसके आचार्य का अन्तेवासी बन गया (कठत्वं प्राप्तः —काशिका)।

यद्यपि कठ चरण के आचार्य और छात्र दूर-दूर तक फैले हुए होते थे पर उनका परस्पर एक समूह था जिसे काठक कहते थे (कठानां समूहः काठकम्, कालापकम्, छान्दोग्यम् , औक्थिक्यम् , आथर्वणम् (चरणेभ्योधर्मवत् , ४।२।४६)। कठचरण अथवा सभी चरणो का आन्तरिक संगठन संघ पद्धति पर होता था जिसे काठक संघ, शाकल संघ आदि नामो से पुकारा जाता था। सघ शासन ही उस समय सार्वजनिक संस्थाओ का आदर्श था। आज फिर ठीक वैसी ही स्थिति हो गई है। इस समय जो सार्वजनिक संस्थाएँ संगठित होती हैं वे संघ के सविधान को ही अपना आदर्श बनाती हैं।

(५) चरणो की सदस्यता—एक ही चरण के छात्र परस्पर सब्रह्मचारी कहलाते थे (चरणे ब्रह्मचारिणि, ६।३।८६)। शिक्षा संस्था के आधार पर निर्मित इस सम्बन्ध का सामाजिक महत्त्व था। याज्ञवल्क्य के अनुसार व्यक्ति के नाम और गोत्र के साथ उसके चरण का नाम भी कानूनी कागज-पत्रो मे लिखा जाता था। ताम्रपत्रों में प्रायः ब्राह्मणो के नामों के आगे उनके चरण का नाम भी मिलता है।

पतंजलि के चरण-विषयक पूछताछ का यह रूप दिया है—'किं सब्रह्मचारी त्वम्', अर्थात् आप किस चरण के ब्रह्मचारी हैं, आपके सब्रह्मचारी या सहपाठी किस चरण के हैं ? उनका कहना है कि इस प्रश्न को तीन तरह पूछ सकते हैं—

(१) के सब्रह्मचारिणः तव—आपके चरण सहपाठी कौन थे ?

(२) किं सब्रह्मचारीत्वम्—आप किन के सहपाठी हैं ?

(३) कः सब्रह्मचारी तव—आपका सहपाठी कौन है ?

बात एक ही है। इस प्रश्न से यही जानना इष्ट था कि व्यक्ति का सम्बन्ध किस चरण से था। चाहे इसे सीधे पूछ लें या घुमा-फिरा कर। जैसे आज हम कहे—आपका विश्वविद्यालय कौन है ? किस विश्वविद्यालय से आप उत्तीर्ण हैं ? आपकी पदवी किस विश्वविद्यालय की है ? भाषा की विविधता के ही ये सूचक हैं।

(६) स्त्री छात्राएँ—जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् (४।१।६३) सूत्र पर पतंजलि ने लिखा है कि स्त्रियाँ भी चरण नामक शिक्षासंस्थाओ में प्रविष्ट होती थीं। 'गोत्रं च चरणैः सह' उल्लेख में यह स्वीकार किया गया है कि गोत्र और चरण ये दोनो जातियो का स्वरूप ले रहे थे। उदाहरण के लिये कठचरण में प्रविष्ट स्त्री

कठी, उन में जो विशेष संमानित होती वह पूजमान कठी और जो अग्रपद की अधिकारिणी होती वह कठवृन्दारिका कहलाती थी। कठचरण की सदस्या होने के नाते जो अपने को गौरवान्वित समझती उसके लिये कठमानिनी यह विशेषण भाषा में चल गया था। कठजातीय और कठदेशीय शब्द से उनका अभिधान होता था जो कठचरण मे पूरे समय तक रहकर उसकी शिक्षा परिसमाप्त न कर सके हो (५।३।६७ ईषद समाप्तौ कल्पब्देश्य देशीयर·), वल्कि कठ जाति या कठ देश से सम्वन्धित होने के कारण जिनमे कठत्व का भाव आ गया हो ।

(७) चरण जनित गौरव प्रसिद्ध चरणो की सदस्यता के आधार पर समाज मे विद्वानो को आदर मिलता था। कुछ लोग इस स्थिति से लाभ उठाकर औरो की तुलना मे स्वयं अपने आप को अधिक गौरवशाली समझने लगते थे। पाणिनि ने इस भाव को श्लाघा कहा है, जैसे 'काठिकया श्लाघते', कठ होने के नाते वह अपना बड़प्पन दिखाता है। कभी-कभी इसी मनोवृत्ति के लोग अपने से कम प्रतिष्ठित दूसरे चरण के सदस्यो को हेठी की निगाह से देखते थे। इसे पाणिनि ने अत्याकार कहा है, जैसे काठिकया अत्याकुरुते (गोत्र चरणाच् श्लाघात्याकार तदवेतेषु ५।१।१३४)। यह ऐसे ही हुआ जैसे आजकल कोई आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से पदवी प्राप्त स्नातक उसी कारण अपनी शेखी बघारे, या दूसरो को हीन समझे ।

(८) ज्ञानसाधना का आदर्श—अनेक गुरु-शिष्यो ने मिलकर पीढी दरपीढी जो ज्ञानसाधना की थी, उस सबकी परम्परा के रक्षक चरण थे। आचार्यरूपी मूल वीज से जो महान् प्रज्ञा स्कन्ध या विद्याविटप जन्म लेता था, उसी की शाखा-प्रशाखाओ के रूप मे चरणो के विद्वान् गुरु और शिष्य देश में सर्वत्र फैल जाते थे। यह बड़ी ही प्रशसनीय और स्वाभाविक स्थिति थी, जिसमे स्वेच्छा से व्यक्ति के अधिकतम प्रयत्न की अभिव्यक्ति होती थी। ज्ञान साधन की इन परम्पराओ का मूर्तरूप वह वाङ्मय है जिसका इन चरणो मे निर्माण हुआ। इनमे सबसे विशिष्ट, सबसे विशाल और सबसे गम्भीर वह साहित्य था जो ब्राह्मणो के रूप में आज मिलता है। वैदिक मन्त्रो के अध्यात्म, अधिदैवत, अधिभूत और अधियज्ञ अर्थों की जैसी निश्चित ऊहापोह ब्राह्मण ग्रन्थो में मिलती है, अन्यत्र नही। ब्राह्मण ग्रन्थ वैदिक अर्थों के शीर्षस्थानीय हैं। उनकी अर्थवती शैली देखकर मुग्ध हो जाना पडता है। इन्द्र, अग्नि, यज्ञ, प्राण, अमृत, सोम आदि शत-सहस्र शब्दो के जितने प्रकार के भिन्न-भिन्न क्षेत्रो मे अर्थ ब्राह्मण ग्रन्थो में दिए हैं, वह चरणो की विराट् निधि थी, जिसकी सप्राप्ति के लिये अनेक आचार्यों ने अर्थों का अन्वेषण किया था। पाणिनि ने साहित्य के उन रूपो का उल्लेख किया है, जिनका विकास उनके समय तक चरणो मे हो चुका था। इनमे चार प्रकार के ग्रन्थ मुख्य थे—(१) वैदिक छन्द या शाखा, (२) ब्राह्मण ग्रन्थ, (३) कल्प ग्रन्थ, जैसे श्रौत सूत्र, और (४) धर्मसूत्र। इसके अतिरिक्त कुछ

चरणो ने नये विषयो मे भी रुचि ली। उनमे भिक्षु सूत्र और नट सूत्र जैसे विषयों का सूत्रकार ने स्वयं उल्लेख किया है। धर्मसूत्रो की अवस्था तक आते-आते विद्याओ का बटवारा स्वत होने लगा। एक ओर वैदिक और यज्ञीय विषय थे, एवं दूसरी ओर वैज्ञानिक और लौकिक विषय थे। दोनो में बिलगाव होने लगा। यह प्रवृत्ति उस ज्ञानप्रधान युग की स्वाभाविक माग थी, जिसका पर्यवसान एक ओर यास्क और पाणिनि एवं दूसरी ओर बुद्ध और महावीर, अथवा बृहस्पति और मंखलि गोसाल जैसे स्वतन्त्र विचारको के रूप में हुआ। इन सब के प्रयत्न से भारी साहित्य चरणो के बाहर निर्मित हुआ, किन्तु श्रद्धा और मेधा, दीक्षा और तप के जिन चोखे नियमो की परम्परा चरणो मे पड गई थी, वह आगे भी भारतीय शिक्षा प्रणाली मे बनी रही (देखिए २।४।१४, दीक्षातपसी, श्रद्धातपसी, मेधातपसी, अध्ययनतपसी, श्रद्धामेधे)।

चरणो मे जो परिषदें थी, उन्होंने स्वयं शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द आदि विषयो के अध्ययन का मार्ग प्रशस्त करने मे नेतृत्व दिया, जैसा कि चरणों के उपलब्ध पार्षद साहित्य या प्रातिशाख्य ग्रन्थो से ज्ञात होता है। यह स्मरणीय है कि अपनी-अपनी शाखा या उनसे सबन्धित ब्राह्मण या सूत्रग्रन्थ रखते हुए एक ही वेद के कई चरण मिलकर समान प्रातिशाख्य ग्रन्थ का अध्ययन करते थे। प्रातिशाख्य शब्द का अर्थ ही था, वह ग्रन्थ जो एक वेद की कई या सब शाखाओ से सबधित हो (शाखा-दिभ्यो यः, ५।३।१०३; शाखेव शाख्यः, वृक्षादीनामिव शाखेवास्य वेदकल्परुहोऽव-यवाः शाखा', शाख्य शाख्यं प्रतीति प्रातिशाख्यम्, तदधि कृतं प्रातिशाख्यम्—दुर्गाचार्य)।

(९) चरणो का संघ आदर्श—चरणो का आन्तरिक संगठन संघो के आदर्श पर हुआ था। पाणिनि काल में संघ भारतीय राजनीति की जीती-जागती संस्थाएं थी। उनके अपने रूप और सविधान थे, जैसा कि हम आगे देखेंगे। ज्ञान और शिक्षा के क्षेत्र मे वही आदर्श लोगो को प्रेरित कर रहा था, अतएव चरणो के प्रबन्ध एवं व्यवस्था संबन्धी नियम सघो की स्वायत्त-प्रणाली पर ही बनाए जाते थे। पाणिनि ने इस प्रकार की संस्थाओ का उल्लेख करते हुए शाकल आचार्य की शाकल सहिता का अध्ययन करनेवाले शाकल नामक गुरु-शिष्यो के सघ का उल्लेख किया है। वह शाकल या शाकलक कहलाता था (शाकलाद् वा ४।३।१२८; शाकलेन प्रोक्तमधीयते शाकलाः, तेषा सङ्घः)। स्पष्ट है कि न केवल शाकल बल्कि दूसरे चरणो की भी सामाजिक और आर्थिक इकाई थी और उस व्यवहार पक्ष को ठीक रखने के लिये उन्हे अपनी मुद्रा या मुहरें भी रखनी पड़ती थी, जिनपर उनके अंक और लक्षण उत्कीर्ण होते थे। इसी के लिये भाषा मे शाकलोऽङ्कः, शाकल लक्षणम् इस प्रकार के शब्दो का पाणिनि ने विधान किया है (सघाङ्कलक्षणेषु अञ् यञ् इञामण्, ४।३।१२७;

शाकलाद् वा, ४।१।१२८)। उनके घोष या ग्रामादिक सन्निवेशों का नाम भी इसी प्रकार पडता था जैसे शकल:-शाकलक: घोष: ।

अध्याय ५, परिच्छेद २ विद्या

विद्या की प्रवृत्तियाँ—विद्या की प्रवृत्तियो के माध्यम और साधन इस प्रकार थे—(१) आचार्य, प्रवक्ता, श्रोत्रिय, उपाध्याय आदि गुरु, (२) नियमित ब्रह्मचर्य प्रणाली द्वारा अध्येता छात्र, (३) चरक संज्ञक विचरण करनेवाले विद्वान्, (४) चरण आदि शिक्षा संस्थाएँ, (५), परिषत् और विद्वानो की सभाएं, (६) विवाद, व्याख्यान, शास्त्रार्थ आदि विषयानुसन्धान के विविध रूप, (७) बहु प्रकार से ग्रन्थ लेखन, (८) वाङ्मय। इन सब उपायो और प्रयत्नो का मिलकर इतना भारी परिणाम हुआ कि सूत्र युग मे शिक्षा और विद्या का देशव्यापी प्रचार हो गया और विद्या का मानदण्ड बहुत ऊँचा उठा गया।

भूयसी विद्या का आदर्श—समाज में शिक्षा का क्रम किस रूप मे ढाला जाय यह बात प्रत्येक युग में स्वीकृत शिक्षा के आदर्श पर निर्भर करती है। आचार्य और अन्तेवासी अर्थात् पढ़ानेवाले और पढनेवाले दोनो ही उस आदर्श से प्रेरित होते हैं। आकाश में स्थित विष्णुपद नक्षत्र के समान उस ऊंचे आदर्श की ओर सबकी आँखें लगी रहती हैं। इस प्रेरणात्मक शक्ति से ही विद्या का मानदण्ड ऊँचा उठता है। महाजनपद युग में शिल्प-कौशल और शास्त्रीय शिक्षा इन दोनो के विषय में यास्क ने अपने समय की भावनाओ को प्रकट करते हुए लिखा है—

जानपदीषु विद्यातः पुरुषो भवति, पारोवर्यवित्सु तु खलु वेदितृषु भूयोविद्यः प्रशस्यो भवति।

यहाँ दो प्रकार की शिक्षा पद्धति का उल्लेख है। एक पेशेवर लोगो की शिल्प शिक्षा का जिसे जानपदी कहा जाता था, और दूसरे चरणो के परम्परा प्राप्त साहित्य की शिक्षा का। जानपदी को पाणिनि ने वृत्ति के अर्थ मे सिद्ध किया है (४।१।४२)। जनपदो मे फैले हुए जो सैकडो प्रकार के शिल्प थे, उनमें कुशलता प्राप्त करनेवाले पुरुष विशेष समझे जाते थे, अर्थात् पेशेवरो की बिरादरी मे सम्मान पाते थे। कोई वास्तु विद्या का श्रेष्ठ आचार्य होता,कोई धनुर्विद्या का, कोई नृत्य और संगीत का। इनके उल्लेख बहुधा जातको मे मिलते हैं। इसी प्रकार चरण नामक शिक्षा संस्था मे जो बौद्धिक शिक्षा या ज्ञान साधना की जाती थी, उस क्षेत्र में भी जो व्यक्ति जितना ऊँचा उठता, वह उतना अधिक सम्मान पाता था। पीढी दरपीढ़ी गुरु-शिष्य परम्परा से जो ज्ञान पर और अवर अर्थात् पुराने और नये साहित्य के रूप मे सगृहीत हो जाता था, उसे ही यास्क ने पारोवर्य कहा है। इस पारोवर्य ज्ञान का उपार्जन करने वाले चरणो के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान् होते थे। उनमे भी अध्येतृ वर्ग का

अन्तर्भाव आगे चलकर वेदितृ विद्वानो मे ही हो जाता था। ऐसे विद्वानो मे जो भूयोविद्य होते थे, वही प्रशस्य या श्रेष्ठ सम्मान के अधिकारी समझे जाते थे (निरुक्त १।१।१६)। भूयोविद्य एक विशिष्ट शब्द है, इसका सकेत उन विद्वानो की ओर है, जो चरण साहित्य के अनेक अंगो मे पारगामी होते थे। इस साहित्य का अपरिमित विस्तार स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी से प्रमाणित होता है। छन्द, ब्राह्मण, अनुब्राह्मण, कल्प, धर्म, व्याकरण, काव्य, नाटय, आख्यान (४।३।११०–१११), गाथा, श्लोक (३।२।३०), ऋतु, उक्थ, व्याख्यान, अनुव्याख्यान, पारायण, यज्ञ, मीमासा आदि अनेक विषयो का विकास चरण और उनके बाहर किया जा रहा था। भूयोविद्य का आदर्श उस बहुश्रुत विद्वान् मे चरितार्थ होता था जो इस वाङ्मय की अधिक से अधिक विद्याओ मे योग्यता प्राप्त करता था। पाणिनि ने कई प्रकार के विद्वानो का उल्लेख किया है, जो उस-उस साहित्य मे विशेषज्ञ होते थे। जैसे वेद के सरहस्य ज्ञान के लिये आचार्य, छन्दो के अध्ययन या कण्ठस्थ करने के लिये श्रोत्रिय, प्रोक्त साहित्य का प्रवचन करने या पढाने के लिये प्रवक्ता, धार्मिक साहित्य के लिये आख्याता, वेदागो के लिये अनूचान और साधारण लौकिक ग्रन्थो के पढाने के लिये अध्यापक होते थे। एक-एक विषय मे प्रवीण विशेषज्ञ विद्वानो की बाढ़-सी आ गई थी। वस्तुतः प्रत्येक विद्या या प्रत्येक ग्रन्थ अपने-अपने विशेषज्ञ के रूप मे समाज मे प्रतिष्ठित होता था। इस प्रकार के तद् वेद विद्वानो को ही यास्क ने वेदितृ कहा है। एक-एक विषय के अनेक वेदितृ विद्वानो में जो कोई बहुत-सी विद्याओ या विषयो का विद्वान् होता था, वही भूयोविद्य इस सम्मानित पद का अधिकारी समझा जाता था। भूयोविद्य से भी उच्चतर कोटि मे सर्वविद्य ब्रह्मा की उपाधि थी (ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति, निरुक्त १।१।३)। उसे वही पाणिनि (५।४।१०५) और जातको मे महाब्रह्मा कहा है।

पाणिनि ने अलग-अलग वेदितृ विद्वानो की लम्बी सूची दी है। उदाहरण के लिये ऋतु या सोमयज्ञ के विशेषज्ञ उसी सोमयज्ञ के नाम से प्रसिद्ध होते थे, जैसे अग्निष्टोम और वाजपेय के ज्ञाता आग्निष्टोमिक और वाजपेयिक कहलाते थे (तदधीते तद्वेद—ऋतुक्थादि सूत्रान्तात् ठक् ४।२।५९–६०)। उक्थो का अध्ययन करने वाले औक्थिक, क्रमपाठ का अध्ययन करने वाले क्रमक और पदपाठ के विशेषज्ञ पदक कहलाते थे (४।२।६१)। यास्क ने लिखा है कि पार्षद ग्रंथ या प्रातिशाख्यो के ऊहापोह का मूल आधार पदपाठ था (पदप्रकृतीनि सर्वचरणानां पार्षदानि, निरुक्त १।१८)। अतएव पदपाठ का विशेष अध्ययन करने वालो की आवश्यकता थी। ब्राह्मण और अनुब्राह्मण ग्रन्थो के विशेषज्ञ भी थे (४।२।६२, अनुब्राह्मणादिनि) वेदाग साहित्य के विशेषज्ञो के वैयाकरण (६।३।७), नैरुक्तिक, याज्ञिक (४।३।१२९) आदि थे। वस्तुतः शिक्षा के क्षेत्र में नई प्रवृत्ति विशेषज्ञो का निर्माण था, जिसका तात्पर्य यह हुआ कि

बहुधा लोग एक-एक विषय में प्रवीणता प्राप्त करके सन्तुष्ट हो जाते थे। इसलिये भी भूयोविद्य व्यक्ति विशेष प्रशसनीय समझा जाने लगा। इस प्रकार के बहुश्रुत विद्वान चरणो के प्राचीन आदर्श के मूर्त रूप थे। वह आदर्श अब शीघ्रता से बदल रहा था। सूत्र ४।२।६० पर पतंजलि ने तदधीते तद्वेद विद्वानों के जो उदाहरण दिए हैं, उनसे इस बात पर अधिक प्रकाश पड़ता है कि एक-एक विषय या ग्रन्थ के अध्ययन कर लेने मात्र की प्रथा कितनी आगे बढ चुकी थी। इस प्रकार की प्रवृत्ति का आरम्भ यास्क और पाणिनि के युग मे ही हो गया था। पतजलि ने अङ्ग विद्या के जानने वालो को आङ्ग विद्य, वायसविद्या या पक्षिशास्त्र के जानकर लोगो को वासयविद्यिक या वायोविद्यिक, गाय और घोड़ो के लक्षण ग्रन्थो का अध्ययन करने वालो को गौलक्षणिक, आश्वलक्षणिक, क्षत्रविद्या के विद्वानो को क्षात्रविद्य कहा है। और भी कई प्रकार का साहित्य पतजलि के समय तक बन चुका था, यहाँ तक कि एक-एक कथा ग्रन्थ या कहानी के विशेषज्ञ उस-उस नाम से पुकारे जाने लगे थे। उदाहरण के लिये यवक्रीत का आख्यान जाननेवाले यावक्रीतिक (वनपर्व अ० १३३–१३८ मे वर्णित. भण्डारकर प्राच्यसस्थान की पत्रिका में मेरा लेख २१।२८२), ययाति के उपाख्यान के विशेषज्ञ यायातिक (देखिए ६।२।१०३ के उदाहरण, महाभा० आदिपर्व); वासवदत्ता की कहानी जानने या कहनेवाले वासवदत्तिक नाम से लोक मे प्रसिद्ध हो जाते थे। शौरि वासुदेव की पत्नी प्रियगुसुन्दरी की कथा के विशेषज्ञ 'प्रैयगविक' थे। यहाँ तक कि सुमनोत्तरा नाम की विशेष कहानी जिसका बौद्ध साहित्य मे उल्लेख है, जानने और कहनेवाले सौमनोत्तरिक कहे जाते थे (मललशेखर, पालिनामो का कोश, १।३६१)। इन शब्दो की भाषा मे क्यो आवश्यकता हुई, इस पर विचार करने से ज्ञात होता है कि पाणिनि से लेकर पतंजलि के युग तक सब प्रकार की विद्याओ की शिक्षा का इतना अधिक विस्तार हुआ था, और एक-एक विषय और ग्रन्थ में जनता की रुचि इतनी अधिक जाग्रत हो गई थी कि समाज मे ऐसे विद्वानो की आवश्यकता प्राय: पडती थी। वह ऐसे हुआ जैसे अब से सौ वर्ष-पूर्व आल्हा गानेवाले अल्हैत या लोरिकायन गानेवालो की विशेष माँग देहातों मे रहती थी। न केवल खेल-तलाशे, बल्कि नाटक और कहानियो मे भी लोगो की जो बढी हुई रुचि थी, उस पर जातको से प्रकाश पड़ता है। पाणिनि ने भी स्वय आख्यानसाहित्य और उसके विशेषज्ञो का उल्लेख किया है (६।२।१०३)।

चरक—ऊपर कहा जा चुका है कि माणव, अन्तेवासी और चरक—तीन कोटि के विद्यार्थी होते थे। पाणिनि ने एक सूत्र में माणव और चरक इन दोनो का साथ उल्लेख किया (माणावरकाभ्या खञ् ५।१।११)। माणव के लिये हितकारी इस अर्थ मे माणवीन और चरक के लिये हितकारी इस अर्थ मे चारकीण शब्द प्रयुक्त होते थे। वैशम्पायन का भी नाम चरक पड गया था। सभवत: एक स्थान से दूसरे स्थान पर

जाकर ज्ञान का प्रचार करने के कारण उनकी यह सज्ञा हुई। अवश्य ही वैशम्पायन के बहुत से अन्तेवासी शिष्य थे, जिन्होने भिन्न-भिन्न स्थानो मे फैलकर स्वयं अपनी शाखाओ का विकास किया और नए चरणो की स्थापना की (कलापि-वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ४।३।१०४)। उनके नो प्रमुख शिष्य प्रत्यक्षकारी अर्थात् स्वयं शाखाओ का प्रवर्तन करनेवाले थे।[1] आचार्य कुल में ब्रह्मचय की अवधि समाप्त कर लेने पर भी जो उच्चतर ज्ञान की खोज मे विचरते थे, ऐसे उत्तम विद्वानो के लिये चरक यह अन्वर्थ नाम उस समय था। जातको मे तक्षशिला विश्वविद्यालय कि विद्यार्थियों कि लिये 'चारिकं चरन्ता' कहा गया है, जो अध्ययन समाप्त करके स्वयं देशाचार का परिज्ञान करने कि लिये यात्रा करते थे (सोनक जातक ५।२४७)। वृहदारण्यक उपनिषत् में भुज्यु लाह्यायनि ने याज्ञवल्क्य से कहा कि वह मद्रदेश मे अपने साथियो के साथ चरक बनकर विचर रहा था (मद्रेषु चरका. पर्यव्रजाम्, वृह० उप० ३।३।१)। य्यूआन् चुआङ् ने पाणिनि के विषय में भी लिखा है कि शब्द सामग्री की खोज मे उन्होंने दीर्घयात्रा की और विद्वानो से मिलकर पूछ-ताछ की। यही उनका 'चरक' रूप था।

ग्रन्थ निर्माण—अपने-अपने विषयो के विद्वान् नूतन ग्रन्थ रचना द्वारा अपनी विद्या को सफल बनाते थे। विभिन्न विषयो पर लिखे जाने वाले (अधिकृत्य कृते ग्रंथे ४।३।८७) अथवा विशेष विद्वानो द्वारा अपने प्रयत्न से निर्मित ग्रन्थो का पाणिनि ने उल्लेख किया है (कृते ग्रन्थे ४।३।११६)।

इतने प्रकार के रचयिताओ का नामोल्लेख किया गया है—(१) मन्त्रकार, (२) पदकार, (३) सूत्रकार, (४) गाथाकार, (५) श्लोककार (न शब्द श्लोक कलह गाथा वैरचाटु सूत्र मन्त्र पदेषु ३।२।२३)। इन शब्दो मे उन विभिन्न साहित्य रूप और शैलियों के नाम हैं, जो उस समय तक प्रचलित हो चुकी थी।

शब्द विद्या या व्याकरण शास्त्र की उस युग मे बहुत उन्नति हो चुकी थी। वैयाकरण को शब्दकार (३।२।२१) या शाब्दिक कहा जाता था (४।४।३४, शब्दं करोति शाब्दिको वैयाकरण.)। पाणिनि ने रचना की दृष्टि से अपने समय के साहित्य को चार भागो में बाँटा है—दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात और कृत। इनमे उपज्ञात साहित्य पाणिनि के युग की महती विशेषता थी। आपिशलि, यास्क, शाकटायन और पाणिनि जैसे दिग्गज विद्वान् अपने मौलिक चिन्तन और महान् प्रयत्न से नए-नए शास्त्रो की उद्भावना कर रहे थे और उन विषयो को नियम-बद्ध करके शास्त्रों का रूप दे रहे

वैशम्पायनान्तेवासिनो नव—

१. आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, तण्डि, श्यामायन, कठ, कलापी। वैशम्पायन के शिष्य भी चरक कहलाते थे (चरक इति वैशम्पायनस्य आख्या, तत्संबन्धेन सर्वे तदन्तेवासिनश्चरका इत्युच्यन्ते—काशिका)।

थे। यही उस युग की सबसे विशिष्ट साहित्यिक सम्पत्ति थी। इस प्रकार के बुद्धि-परक प्रयत्न को पाणिनि ने उपज्ञा कहा है। जो नया ज्ञान इस रूप में पहली बार नियमबद्ध किया जाता था, उसे आद्य आचिख्यासा कहते थे (उपज्ञोपक्रम तदाद्याचि॰ख्यासायाम्—२।४।२१; उपज्ञाते ४।३।११५; ६।२।१४) इन आचार्यों ने शास्त्र रचना मे कितना प्रयत्न किया था, इसका कुछ आभास पतंजलि के इस वाक्य से मिलता है—महता यत्नेन सूत्रं प्रणयति स्म। पाणिनि ने अत्यन्त परिष्कारपूर्वक जिन सूत्रो की रचना की, उन्हे प्रतिष्णात कहा है, अर्थात् जो विषय ज्ञान-समुद्र मे डूबकर ऊपर उतिराता था वह प्रतिष्णात कहा जाता था (८।३।९०, प्रतिष्णातं सूत्रम्)। ग्रन्थकर्ता ग्रन्थनिर्माण मे जिस लगन से काम करते थे, इसका कुछ संकेत भासन, ज्ञान, यत्न, (१।३।४७), वृत्ति (=मूल मन्त्रो या सूत्रो पर वृत्ति लेखन), तायन (१।३।३८), सम्मानन (१।३।३६) आदि शब्दो में पाया जाता है।

एक प्रकार की साहित्यिक रचना को प्रकथन कहा गया है (१।३।३२)। यह एक प्रकार से आशु कविता थी, जैसे गाथाः प्रकुरुते (काशिका)। ज्ञात होता है कि गाथाकार से तत्काल ही छन्दोबद्ध कविता करने की आशा की जाती थी। परिप्लव आख्यान मे कहा गया है कि वीणागाथी (अथवा वीणागणगिन्) अपनी बनाई हुई गाथाओ को वीणा पर गाता था (स्वय सभृता गाथा गायति, शतपथ ब्रा० १३।४।३।५) गै धातु ने जिस गाक शब्द की व्युत्पत्ति सूत्र मे की गई है, उसका सम्बन्ध मूल में गाथाकार से ही ज्ञात होता है।

ग्रन्थो का नामकरण—ग्रन्थो के नामकरण के दो हेतु आचार्य ने कहे हैं, एक तो लेखक के नाम से (कृते ग्रंथे, ४।३।११६), जैसे वररुचि के बनाए हुए श्लोक वाररुचा' श्लोकाः। दूसरे जिस विषय का प्रतिपादन ग्रथ मे होता था उसके नाम से भी ग्रथ का नाम रखा जाता था (अधिकृत्य कृते ग्रथे, ४।३।८७), जैसे सौभद्र (सुभद्रा के आख्यान का ग्रथ); यायात (ययाति के आख्यान का ग्रन्थ); गौरी मित्र (कोई अज्ञात कथा ग्रंथ)। विषय पर आश्रित ग्रन्थो के कुछ नामो का उल्लेख स्वय पाणिनि ने किया है जैसे शिशुक्रन्दीय (बच्चे की रोने की घटना पर लिखा हुआ नाटक या काव्य, सम्भवत कृष्णजन्म की कथा इसका विषय था); यमसभीय (यमराज की सभा पर आश्रित ग्रंथ); इन्द्र जननीय (इन्द्र जन्म की कथा पर आश्रित नाटक या काव्य (४।३।८८)।

व्याख्यान—व्याख्यान ग्रथो का निर्माण भी होने लगा था। उनका नाम मूल व्याख्यातव्य विषय के नाम से रखा जाता था (तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्य नाम्न, ४।३।६६), जैसे सुपा व्याख्यान सौप ग्रन्थ. (सुबन्त शब्दो की व्याख्या करने वाली सौप ग्रथ), ऐसे ही तैङ (तिङन्त शब्दो का व्याख्यान ग्रंथ); कार्त (कृदन्त शब्दो पर व्याख्यान ग्रन्थ); षात्वणत्विक (षत्व णत्व या मूर्धन्य

प्रकरण का व्याख्यान ग्रंथ); नातानतिक नत-अनत या अनुदात्त-उदात्त स्वरो का व्याख्यान ग्रन्थ ।

पाणिनि ने छोटे-बड़े अनेक विषयो के व्याख्यान ग्रथो का उल्लेख किया है—(१) ऋतु (४।३।६८) (अ) अग्निष्टोमिक (आग्निष्टोम संज्ञक सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रंथ), (आ) वाजपेयिक (वाजपेय नामक ऋतु का व्याख्यान ग्रंथ), (इ) राजसूयिक (राजसूय ऋतु का व्याख्यान ग्रन्थ) ।

(२) यज्ञ (४।३।६८), गृह्य अग्नि मे होने वाले छोटे यज्ञो या इष्टियो के व्याख्यान ग्रंथ, जैसे पाक यज्ञिक, नावयज्ञिक ।

(३) अध्याय (४।३।६९), वैदिक सहिताओ के मन्त्र समूहात्मक प्रकरण, जैसे (अ) वाशिष्ठिक अध्याय (वशिष्ठस्य व्याख्यानः, अर्थात् ऋग्वेद के सातवें मण्डल का जिसमें वशिष्ठ ऋषि के मन्त्र हैं व्याख्यान ग्रन्थ (आ) वैश्वामित्रिक (तीसरा मण्डल) । (४) छोटे फुटकर ग्रन्थ जैसे (१) पौरोडाशिक, (पुरोडाश के सम्बन्धी मन्त्रो का व्याख्यान ग्रथ), (२) पुरोडाशिक (पुरोडाश बनाने की विधि बतानेवाला ग्रन्थ); (३) छन्दस्य या छान्दस (छन्द शास्त्र परक ग्रंथ, ४।३।७१); (४) ऐष्टिक ४।३।७२ इष्टियो का व्याख्यान ग्रन्थ; (५) पाशुक (पशुबन्ध यज्ञ अथवा शतपथ के पशुबन्ध प्रकरण, काण्ड ३–५, का व्याख्यान ग्रथ); (६) चातुर्होतृक चतुर्होताओ द्वारा प्रयुक्त यज्ञ कर्म का व्याख्यान ग्रंथ); (७) पञ्चहोतृक (पञ्चहोतृसज्ञक यज्ञविधि का व्याख्यान ग्रन्थ जिसमे पाँच देवो का आवाहन किया जाता है); (८) ब्राह्मणिक (ब्राह्मणग्रन्थ या उसके एक अंश या प्रकरण का व्याख्यान ग्रन्थ; (९) आर्चिक (ऋचाओ का व्याख्यान ग्रन्थ); (१०) प्राथमिक (सम्भवतः प्रधानोपसर्जन विषय का व्याख्यान ग्रन्थ); (११) आध्वरिक (अध्वर या सोम यज्ञ का व्याख्यान ग्रन्थ); (१२) पौरश्चरणिक (पुरश्चरण या यज्ञ के लिये पूर्व तैयारी का व्याख्यान ग्रन्थ जिसका शतपथ में उल्लेख है); (१३) नामिक (नाम या संज्ञा शब्दो का व्याख्यान ग्रन्थ); (१४) आख्यातिक (क्रिया रूपो का व्याख्यान ग्रन्थ); (१५) आर्गयन (ऋगयन व्याख्यान अर्थात् ऋग्वेद के पारायण का व्याख्यान ग्रन्थ ४।३।७३ काशिका, ६।२।१५१) ।

ऊपर कहे हुए व्याख्यान सम्बन्धी इस विस्तृत साहित्य का उल्लेख तो सूत्रो मे (४।३।६८–७२) है । और भी फुटकर कितने ही छोटे विषयो और उन पर लिखे जाने वाले व्याख्यान ग्रन्थो का उल्लेख ऋगयनादिगण मे (४।३।७३) विशेष रूप से किया गया है जैसे पद व्याख्यान, छन्दोमान, छन्दोभाषा, छन्दोविचिति, न्याय पुनरुक्त, व्याकरण, निगम, वास्तुविद्या, अङ्ग विद्या, क्षत्रविद्या, उत्पात, उत्पाद, संवत्सर, मुहूर्त, निमित्त, उपनिषत्, शिक्षा आदि । ये सब उस युग मे फुटकर अध्ययन के विषय थे जो लोगो के दृष्टिपथ में आ रहे थे या जिन्हे नई मान्यता मिल रही थी ।

दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त मे इस तरह की विद्याओ की सूची है, जिनमे अङ्ग-विज्जा, वत्थुविज्जा खत्तविज्जा के नाम भी हैं।

सूत्र ग्रन्थो के नामकरण के विषय में पाणिनि ने लिखा है कि अध्याओ की सख्या के अनुसार उनका नाम पडता था (सख्याया. सज्ञा सूत्र ध्ययनेषु ५।१।५८)। पाणिनि का अपना शास्त्र इसीलिये अष्टक कहलाया (अष्टक पाणिनीयम्)। व्याघ्रपद्य का सूत्र ग्रन्थ, जिसमें १० अध्याय थे, दशक और काशकृत्स्न का ग्रन्थ जिनमे तीन अध्याय थे, त्रिक नाम से प्रसिद्ध हुआ (दशकं वैयाघ्रपदीयम्, त्रिकं काशकृत्स्नम्)। संभवत· ये दोनो व्याकरण के ग्रन्थ थे। इनका अध्ययन करनेवाले छात्रो का नाम उन्ही के अनुसार अष्टका:, त्रिका., दशका: होता था (तदधीते तद्वेद, सूत्राच्च कोपधात् ४।२।६५)।

नामकरण का यही नियम ३० और ४० अध्यायोवाले दो ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी लागू होता था (त्रिशच्चत्वारिंशतो र्ब्राह्मणे संज्ञाया डण्, ५।१।६२)। तीस अध्यायवाला त्रैश ब्राह्मण कौषीतकी और चालीस अध्यायवाला चात्वारिंश ब्राह्मण ऐतरेय था (कीथ, ऋग्वेदब्राह्मण भूमिका)। शतपथ के विषय में हमें विदित है कि अध्यायो की संख्या का उसके विकास मे महत्त्वपूर्ण स्थान था। इष्टि पशुबन्ध और अग्नि चयन अर्थात् हविर्यज्ञ और सोमयज्ञ का व्याख्यान करनेवाले पहले ९ काण्डो मे ६० अध्याय होने से वह षष्टिपथ कहलाता था। पीछे १०वें से १४वें काण्ड तक के ४० अध्याय और जोडकर उसका शतपथ नाम हुआ।

तन्त्रयुक्ति—किसी भी रचना के लिये यह आवश्यक है कि सबसे पहले उसकी रूपरेखा निश्चित कर ली जाय, इसे तन्त्रयुक्ति कहते थे। कौटिल्य में ३२ तन्त्रयुक्तियो के नाम हैं। चरक सुश्रुत मे भी यह प्रकरण है। चरक मे तीन नाम अधिक हैं। प्राचीन तमिल व्याकरण तोलकप्पियम् में भी जिसका आधार ऐन्द्र व्याकरण था, ३२ तन्त्रयुक्तियाँ कही गई हैं, जिनमे से २२ वही हैं, जो अर्थशास्त्र में हैं। मीमासको ने ग्रन्थरचना की युक्तियो के विषय से सूक्ष्म विचार किया था। उनकी दृष्टि में संगति ग्रंथ का सबसे बडा गुण है, जिसमें कि सारे ग्रन्थ की सगति के साथ-साथ प्रत्येक अध्याय, पाद, सूत्र, वाक्य और शब्द की भी परस्पर सगति मिलनी चाहिए। वे मङ्गल को भी मानते हैं। पाणिनि ने भी इन तन्त्रयुक्तियो को स्वीकार किया है। उनमें से पहली तन्त्रयुक्ति अधिकार है। अर्थात् जिस विषय का ग्रंथ हो उसी मर्यादा के भीतर उसके प्रत्येक भाग का संगत निरूपण होना चाहिए। 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (४।३।८७) में आचार्य का उसी ओर संकेत है। अधिकार के नियम को मानकर ही ग्रंथ में विषय का निरूपण होना चाहिए। पाणिनि का अपना ग्रंथ नियम और व्यवस्था का आदर्श है। उसमें सैकडो अधिकार और प्रकरण परस्पर संगत होते हुए सुव्यवस्थित हैं। उनका त्रिपादी प्रकरण तो रचना कौशल का चमत्कार ही है।

विश्लेषण की कितनी सूक्ष्म शक्ति विषय का कितना अपरिमित विस्तार, कितनी अधिक दृष्टियों से भाषा की छानबीन—ये सब पाणिनीय शास्त्र के महान् और सुविहित होने का प्रमाण देते हैं। उच्चारण के अनेक नियम, शब्दों के अर्थ और वृत्तियाँ, विभिन्न प्रत्यय, नाम और आख्यात के अनेक रूपों की साधनिका, स्वर, गणपाठ, प्रत्याहार, अधिकार, स्वरित, अनुनासिक कितनी ही युक्तियों से शब्दों के अनन्त भण्डार पर पाणिनि ने अधिकार प्राप्त किया और उसे अपने व्याकरण में सूत्रबद्ध किया।

तन्त्र युक्ति के और भी सिद्धान्तों का पाणिनि सूत्रों में यत्र तत्र उल्लेख है, जैसे—(१) हेत्वर्थ (१।२।५३); (२) उपदेश (१।३।२), (३) अपदेश—दूसरे के मत का निराकरण कर अपने मत का उपन्यास करना, जैसे १।२।५१–५२ सूत्र; (४) एक स्थान मे पठित नियम का अन्यत्र पठित नियम से परस्पर अन्वय या अर्थ सम्बन्ध, जिसके अष्टाध्यायी मे सर्वत्र उदाहरण हैं; (५) समय या विप्रतिषेध = तुल्यबल विरोधी दो नियमों में बलाबल की चिन्ता; (१।४।२); (६) वाक्याध्याहार (६।१।१३९); (७) अनुमत, अन्य आचार्य के मत का स्वीकृति पूर्ण उपन्यास, जैसे अन्य आचार्यों की संमति का अष्टाध्यायी मे उल्लेख है; (८) अतिशयवर्णन, जैसे इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमितिवा (६।२।९३), (९) निर्वचन = शब्द के व्युत्पन्न अर्थ में उसका प्रयोग, जैसे सर्वनाम, अव्यय आदि महासंज्ञाओं में; (१०) स्वसंज्ञा, अपने पारिभाषिक शब्दों का निर्माण, जैसे टि, घु, न; (११) पूर्वपक्ष, (१२) उत्तरपक्ष, जैसे १।२।५१–५६ के सूत्रकाण्ड में; (१३) सादृश्य का आरोप, जैसे कालोपसर्जने च तुल्यम् में (१।२।५७); (१४) विकल्प, जैसे वा, अन्यतरस्याम्, उभयथा, एकेषा, बहुलं, विभाषा द्वारा अष्टाध्यायी में (इन विभिन्न शब्दों के प्रयोग की समीचीनता पर देखिए भाष्य २।१।५८); (१५) मङ्गल, ग्रन्थ के आरभ मे किसी देवता की नमस्क्रिया या स्तुति अथवा आशीर्वादात्मक किसी शब्द का प्रयोग मङ्गल था। कार्य की निर्विघ्न समाप्ति के लिये दैवी सहायता या देव प्रसाद की प्राप्ति—यही उसका उद्देश्य था। पाणिनि ने जिनकी गणना इस देश के सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ निर्माताओं मे है, मंगल की परिपाटी का अष्टाध्यायी में पालन किया और पहले सूत्र का आरंभ मंगलात्मक वृद्धि शब्द से किया, यद्यपि ऐसा करने के लिये उन्हें शब्दों के क्रम मे कुछ परिवर्तन करना पड़ा। उन्होंने 'आदैज् वृद्धिः' न कहकर 'वृद्धिरादैच्' यह क्रम मङ्गलात्मक आरंभ करने के लिये ही रखा। भाष्यकार ने पाणिनि को मांगलिक आचार्य कहा है, जिससे उनके मांगलिक शास्त्र के पढ़ने और पढ़ाने वाले सब प्रकार से वृद्धियुक्त और दीर्घजीवी हों[1]। भूवादयो धातवः (१।३।१)

---

१. (माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धि शब्द मादितः प्रयुङ्क्ते, मङ्गलादी-

सूत्र में वकार का समर्थन भी मङ्गलात्मक मानकर ही किया गया है। उनका कहना है कि न केवल आरंभ मे, वल्कि मध्य और अन्त में भी मंगल करने वाले शास्त्र विस्तार को प्राप्त होते हैं (मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मङ्गलान्तीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते १।३।१) । शिवशमरिष्टस्य करे (४।४।१४३) सूत्र मे शिव शब्द का प्रयोग मध्य-मङ्गल का प्रतीक है । कुछ ही सूत्रो के वाद आचार्य ने 'तस्मै हितम्' इस प्रकार का मङ्गलात्मक वाक्य रखा है (५।१।५) । अपने चौथे और पाँचवें इन दो महाअध्यायो का तद्धित-नामकरण भी उन्होने मङ्गलात्मक शब्द से ही किया है।¹

अष्टाध्यायी के अन्त्य सूत्र से पहले सूत्र मे उदय शब्द शास्त्र को मङ्गलान्तक बनाता है (उदात्त परस्येति वक्तव्य उदयग्रहणं मङ्गलार्थम् , काशिका ८।४।६७) । पर के अर्थ में उदय शब्द का प्रयोग ऋक् प्रातिशाख्य में आता है, वही से आचार्य ने इसे लिया है (ऋक् प्रा० २।३२, ऋकार उदये) । पतञ्जलि और कात्यायन ने अपने शास्त्र के अन्त में भगवतः पाणिनेः सिद्धम् इस प्रकार का उदात्त मङ्गलात्मक वाक्य रखा है । भाष्यकार वार्तिककार को भी सूत्रकार के समान माङ्गलिक आचार्य मानते हैं, क्योकि उन्होंने अपने वार्तिक के आरम्भ मे सिद्ध शब्द का प्रयोग किया (सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे) ।

चरणों के अन्तर्गत परिषदों मे स्वाध्याय के आरम्भ में ओम् शब्द का उच्चारण करने की प्रथा थी । पाणिनि ने लिखा है कि इस प्रकार के उच्चारण में प्लुत स्वर होना चाहिए—ओमभ्यादाने (८।२।८७) ।

लिपि—पाणिनि के समय में लिपि का ज्ञान या प्रचार इस देश में था या नहीं, इसे पश्चिमी लेखको ने विवाद का विषय वना दिया है । हमारी दृष्टि में अष्टाध्यायी में स्वयं ऐसे दृढ प्रमाण हैं, जिससे इस प्रकार की शंका का उत्थान ही अनावश्यक था। पश्चिमी विद्वानो मे भी गोल्डस्टूकर का मत है कि पाणिनि काल मे वैदिक साहित्य लिखित ग्रन्थो के रूप मे चुका था, यद्यपि उसे कंठस्थ करनेवाले श्रोत्रिय विद्वान् सहस्रो की सख्या मे विद्यमान थे, जैसे कि कुछ तो आज भी हैं। उस समय की शिक्षा-पद्धति मौखिक पारायण पर आश्रित थी । लिखित ग्रन्थो का अधिक चलन न था, पर यह कहना अतथ्य है कि लिपि का ज्ञान ही लोगो को न था। पाणिनि ने ग्रन्थ, लिपिकर, यवनानी लिपि और गौओ के कानो पर संख्यावाची चिह्न अङ्कित करने की प्रथा का उल्लेख किया है । ये सब लिपि ज्ञान के अस्तित्व के निश्चित प्रमाण हैं ।

लिपिकर (३।२।२१)—इसी का दूसरा उच्चारण लिविकर भी उसी सूत्र में दिया है । मौर्ययुग में लिपिशब्द लेखने के लिये प्रयुक्त होता था । तृतीय शती ईस्वी

---

¹ नि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि च भवन्त्यायुष्मत् पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति, १।१।१, वा० ७) ।

पूर्व में अशोक ने अपने स्तंभ लेख और शिलालेखों को धम्मलिपि या ध्रम दिपि कहा है। लघु शिलालेख संख्या २ में लेख खोदनेवाले को लिपिकर कहा गया है। कौटिल्य में भी लिपि शब्द आया है (अर्थ० १।५)। वहाँ सांकेतिक लिपि की संज्ञा लिपि कहा है (अर्थ० १।१२)। ईरानी सम्राट् दारा प्रथम के बहिस्तून (संस्कृत भगस्थान) अभिलेख मे उत्कीर्ण लेखन को दिपि कहा है। अतएव यह निःसन्देह है कि पाणिनि के समय में लिपि का अर्थ लेखन-क्रिया और लेखन-चिह्न थे।

लक्षण अंकित करना—पाणिनि ने पशुओं के कान पर स्वामित्व के ज्ञापक कुछ चिह्न अंकित करने की प्रथा का उल्लेख किया है। कई चिह्नों मे अष्ट और पञ्च भी हैं, जो ८ और ५ संख्या के लिये प्रयुक्त चिह्न थे। अनपढ ग्वाले भी इन चिह्नों को देखकर पहचान लेते थे। इससे उनका व्यापक प्रचार सिद्ध होता है (गोल्डस्टूकर, पाणिनि पृ० ४४)।

यवनानी—पाणिनि ने सूत्र में यवनानी शब्द का उल्लेख किया है (४।१। ४९)। उस पर कात्यायन ने लिखा है कि यवनानी शब्द का अर्थ यवनो की लिपि ऐसा समझा जाता था—यवनाल् लिप्याम्। यहाँ कात्यायन ने केवल उस शब्द का विवरण दिया है।

यह मानना उचित नहीं कि पाणिनि को अर्थ नहीं ज्ञात था, कात्यायन वार्तिक द्वारा उसे बता रहे हैं, क्योंकि इसी सूत्र के हिमानी, अरण्यानी, यवानी इन शब्दों पर भी कात्यायन के व्याख्यापरक वार्तिक ही हैं। यवनानी लिपि का उल्लेख प्राचीन साहित्य में अन्यत्र सुविदित है। समवायाङ्ग सूत्र मे लिपियों की सूची मे जवणाणिया लिपि की भी गिनती है (पण्णवणा सूत्र मे भी यह सूची है)। वेबर ने स्वीकार किया है कि यवनानी शब्द का अर्थ यूनानी लिपि से ही था। कीथ ने लिखा है कि यवनानी लिपि से तात्पर्य सभवत. आईओनिया देश के यूनानियो की लिपि से ही था (संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ४२५)।

गोल्डस्टूकर और स्पूनर ने यवनानी लिपि का अभिप्राय प्राचीन ईरान देश की कीलकाक्षर लिपि माना था, किन्तु यह मत समीचीन नही है, क्योंकि इस बात का प्रमाण नही कि यवन शब्द से ईरानियो का कभी ग्रहण होता था। दारा प्रथम (ई०पू० ५८१-४८५) ने अपने प्राचीन ईरानी अभिलेखो मे योनदेश और वहाँ के निवासी योनो का उल्लेख किया है। ये दोनो नाम ईरान या ईरानियो के लिये अप्रयुक्त थे। अशोक ने भी अपने लेखो मे यवन या यूनानियो के लिये ही योन शब्द का प्रयोग किया है, ईरानियो के लिये नही। यह भी प्रमाणाभाव से नहीं माना जा सकता कि प्राचीन ईरानी साम्राज्य की जो राजकीय अर्माइक लिपि थी, उसके लिये पाणिनि का यवनानी शब्द है। इस बात के निश्चित प्रमाण है कि चौथी शती ईस्वी पूर्व मे जब सिकन्दर भारतवर्ष में आया, उससे लगभग डेढ़ दो सौ वर्ष पहले ही भारतवासी

यूनानियो के सम्पर्क मे आ चुके थे। यूनानी इतिहास लेखक हेरीदोत ने लिखा है कि भारतीय सैनिको की एक टुकडी ख्पयार्ष के ईरानी कटकदल के साथ यूनान के युद्ध मे सम्मिलित हुई थी, और सिकन्दर से पहले ही यूनान देश के लोगो ने वाह्लीक में अपने उपनिवेश बना लिये थे। अतएव इसमें आश्चर्य नही कि पाणिनि को यवनानी शब्द का परिचय गन्धार और तक्षशिला के प्रदेश में हुआ हो। आचार्य ने जिस बारीकी से शब्दो की छान-बीन की थी, उसमें यवनानी जैसे महत्वपूर्ण शब्द का परिगृहीत हो जाना स्वाभाविक था।

अध्याय ५, परिच्छेद ३—साहित्य

साहित्य के विविध प्रकार—साहित्यिक रचना के लिये जिस प्रकार के बौद्धिक प्रयत्न की आवश्यकता होती है, उसका संकेत करते हुए सूत्रकार ने अपने समकालीन साहित्य का वर्गीकरण किया था। उन्होने समस्त साहित्व को दृष्ट, प्रोक्त, उपज्ञात, कृत और व्याख्यानो इन रूपो मे बाँटा है—

(१) दृष्ट (४।२।७)—ऋषियो ने जिस साहित्य का प्रत्यक्ष किया था, उसे इस वर्ग में रखा जा सकता है। पाणिनि ने विशेषरूप से सामवेद के गान सूक्तो का इस प्रसंग मे नामोल्लेख किया है, जैसे कालेय साम (४।२।८) और वामदेव साम (४।२।९)। ऋग्वेद संहिता का भी आचार्य को परिचय अवश्य था। उसके सूक्त (५।२।५९), अध्याय और अनुवाको (५।२।६०) का उन्होने उल्लेख किया है।

(२) प्रोक्त (४।३।१०१)—वह साहित्य जिसके निर्माण मे वैदिक चरणो के संस्थापक ऋषियो ने भाग लिया। इसके अन्तर्गत छन्द ग्रन्थ अर्थात् वेदो की पृथक्-पृथक् शाखाएँ थी (४।२।६६)। उदाहरण के लिये तैत्तिरीय चरण की शाखा (४।३।१०२), कठो की शाखा (४।३।१०७), कालापो की शाखा (४।३।१०८), एवं और भी प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थ जिनका चरणो मे विकास हुआ (पुराण प्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु ४।३।१०५)। प्रोक्त ग्रन्थ का सबन्ध चरणो के अन्तर्गत उनके पढने-पढाने वालो से था। यह सम्बन्ध मूल छन्द या शाखा ग्रन्थ से ही आरम्भ हुआ था। ब्राह्मण ग्रन्थों के विकास के साथ उनमें भी तद्विषयता का नियम लागू हुआ (छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि, ४।२।६५)। उदाहरण के लिये तैत्तिरीय चरण के अन्तर्गत मूल तैत्तिरीय शाखा और तैत्तिरीय ब्राह्मण का नाम अपने चरण के नाम से पडा। कालक्रम से आरण्यक और उपनिषद् भी बने। साहित्य रचना की दृष्टि से आरण्यक और उपनिषद् ब्राह्मण साहित्य के ही अन्तरङ्ग भाग थे। इसलिये उनके नामकरण की पृथक् समस्या का अनुभव नही हुआ। वे भी तद्विषयता नियम के ही अन्तर्गत आ गए।

तीसरे प्रकार के प्रोक्त ग्रन्थ कल्प या श्रौत सूत्र थे, जिनकी गणना वेदागो में की गई। कात्यायन और पतञ्जलि ने स्पष्ट लिखा है कि चरणग्रन्थो में जो तद्विष-

यता का नियम लागू था, वह काश्यप और कौशिक द्वारा प्रोक्त कल्पग्रन्थो में ही मान्य हुआ, जैसा कि पाणिनि ने स्वयं उसकी ऋषि पदवी से सूचित किया है (काश्यप कौशिकाभ्या मृषिभ्या णिनिः ४।३।१०३ काश्यपेन प्रोक्त कल्पमधीयते काश्यपिन.)। ऋषि काश्यप और कौशिक द्वारा स्थापित चरण काश्यपिन., और कौशिकिन कहलाते थे, एवं ये चरण कल्पसूत्रों तक सीमित थे, अर्थात् इन ऋषियो ने किसी शाखा या ब्राह्मण का प्रवचन न करके कल्पसूत्र का ही प्रवचन किया था (काश्यप कौशिक ग्रहणं च कल्पे नियमार्थम् , ४।२।६६ वा० ६) । प्रोक्त साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने दो प्रकार के सूत्र ग्रथों का विशेष उल्लेख किया है, अर्थात् पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षु सूत्र और शिलालि और कृशाश्व के नटसूत्र (४।३।११०-१११)। यह बात कुछ आश्चर्यजनक है कि तद्विषयता का जो नियम केवल छन्द और ब्राह्मण-ग्रन्थो में लागू था, वही भिक्षुसूत्र और नटसूत्र जैसे लौकिक विषयो का निरूपण करने वाले ग्रन्थो मे भी लागू हुआ । पतंजलि ने लिखा है—पाराशरिणो । भिक्षव., शैलालिनो नटाः । यहाँ सब टीकाकार सहमत हैं कि पाराशरिणः और शैलालिनः ये दो चरणो के नाम थे, अर्थात् गुरु शिष्य पारम्पर्य के द्योतक थे, जिनका सगठन ठीक वैदिक चरण संस्थाओ के आदर्श पर हुआ था। इनमे भी अन्य चरणो की भाँति अध्येतृ-वेदितृपरक प्रत्यय और अर्थ का बोध होता था (पाराशर्येण प्रोक्त मधीयते पाराशरिण.) पाराशर्य और शैलालक चरणो का मूल मे संबन्ध ऋग्वेद के साथ था, अर्थात् उनमे ऋग्वेद की शाखा एवं ब्राह्मण ग्रन्थ का अध्ययन होता था। ज्ञात होता है कि कुछ काल बाद जब नए-नए विषयो की उद्भावना हुई, तब पाराशर्य चरण के आचार्यों ने भिक्षु सूत्र अर्थात् वेदान्तसूत्र के अध्ययन की नीव डाली, और शिलालिचरण के आचार्यों ने नटसूत्रो का निर्माण किया। ये दोनो ही विषय महत्त्वपूर्ण और लौकिक थे। यदि इनका मूल संबन्ध वैदिक चरणो मे न होता, तो पाणिन्यादि कृत शास्त्रो का जैसे नामकरण हुआ, वैसे ही इनका भी नाम पड़ता। इन नए विषयो को उन दोनों चरणो के आचार्यों ने इतने उत्साह से ग्रहण किया कि उनसे सम्बन्धित वैदिक ग्रन्थो का नाम लुप्त हो गया। उनकी कीर्ति केवल इन नए विषयो के कारण ही लोक में प्रथित हुई, अथवा यह भी सभव है कि इनके वैदिक ग्रन्थो मे ठीक वही मौलिकता न रही हो और किसी अन्य वैदिक चरण की शाखा को ही आचार्य शिलाली पढ़ते-पढ़ाते रहे हो। किन्तु जिस विषय मे आचार्य शिलाली ने स्वतन्त्र अन्वेषण किया और अपनी प्रतिभा से नए विषय का प्रवचन किया, वह नट सूत्र या नाट्य का विषय था। यह भी समझा जा सकता है कि ऐसे प्रतिभाशाली आचार्य के समीप मे ज्ञान सीखने वाले जिज्ञासु शिष्य वैदिक ग्रन्थ पढ़ने के लिये न आए होंगे, बल्कि आचार्य द्वारा उपज्ञात नाट्य शास्त्र या नट सूत्रो के अध्ययन के लिये ही उपस्थित हुए होंगे। यह भी तथ्य है कि आचार्य शिलाली ने अपने ज्ञान

का जो वितरण किया, वह 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' वाली उसी आचार्य-अन्तेवासी पद्धति से जो कि चरणो के लिये सर्वमान्य थी अर्थात् उनसे नट सूत्र के अध्ययन करने वाले व्यक्ति अपना उपनयन कराते और आचार्य के पास ब्रह्मचारी होकर रहते थे। यह वैदिक चरणो की उदारता थी कि उन्होने समयानुसार नए विषयो के स्वागत के लिये अपना द्वार उन्मुक्त किया, और अपनी चिर-उपार्जित प्रतिष्ठा से उन्हें सम्मानित किया। भिक्षु और नट सूत्रो को भी वही ऊँचा दर्जा प्राप्त हुआ, जो छन्द या शाखा ग्रथो का था (भिक्षु· नटसूत्रयो. छन्दस्त्वम्—काशिका)। भाष्य मे ठीक ही लिखा है कि ज्ञान के इस नए क्षेत्र मे भी तद्विषयता का नियम लागू किया गया (अत्रापि तद्विषयता चेत्यनुवर्तिष्यते, ४।२।६६)। पाणिनि ने स्वयं इस बात का संकेत किया है कि जैसे छन्दोग बह्वृच नामक वैदिक चरणो के धर्म और आम्नाय ग्रन्थ थे, वही प्रतिष्ठा नाट्य शास्त्र को भी उनके समय मिल चुकी थी। सूत्र ४।३।१२९ में उन्होने छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक और बह्वृच के साथ नट शब्द का भी पाठ किया है। वहाँ शका यह उत्पन्न हुई कि छन्दोग आदि शब्दो से धर्म ग्रन्थ और आम्नाय ग्रन्थो का द्योतन करने के लिये प्रत्यय किया गया, तो नट शब्द से किस अर्थ में सूत्रकार ने प्रत्यय का विधान किया? इसका उत्तर है—चरणाद्धर्माम्नाययोस्तत् साहचर्यात् नटशब्दाद् धर्माम्नाययोरेव भवति (काशिका), अर्थात् जैसे चरणवाची शब्दो से प्रत्यय है, उन्ही अर्थों के नटशब्द से भी। नटो का धर्म और नटों का आम्नाय दोनो नाट्य कहलाए।

पाराशर्य और शिलाली के अतिरिक्त पाणिनि ने कर्मन्द और कृशाश्व नामक दो अन्य आचार्यों का भी उल्लेख किया है। कर्मन्द ने भिक्षुसूत्र और कृशाश्व ने नटसूत्रो की रचना की थी, एव उनके पढ़ने पढानेवाले गुरु–शिष्यो की परम्परा चरण रूप मे संगठित हुई थी। जैसा काशिका में कहा है—इन दोनो चरणो मे भी तद्विषयता का नियम मान्य हुआ (अत्रापि तद्विषयतार्थं छन्दो ग्रहण मनुवर्त्यम्—कर्मन्देनप्रोक्त मधीयते कर्मन्दिनो भिक्षव, कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनो नटा.)। कर्मन्द और कृशाश्व के विषय में यह ज्ञात नही कि उनका सबन्ध किस वेद के साथ था। आचार्य शिलाली के नट सूत्रो के विषय में अनुमान होता है कि उन्ही की मूल सूत्र-सामग्री का सन्निवेश प्रस्तुत भरत नाट्यशास्त्र मे कर लिया गया और नाट्यशास्त्र का वर्तमान स्वरूप आचार्य भरत द्वारा उसी प्रकार प्रतिसंस्कृत हुआ, जैसे अग्निवेश का आयुर्वेद तन्त्र चरक द्वारा।

(३) उपज्ञात (४।३।११५)—इस कोटि में उस साहित्य का परिगणन था जिसका किसी विशिष्ट आचार्य ने पहली वार आविर्भाव किया हो। इस प्रकार के प्रयत्न को आद्य आचिख्यासा कहते थे (२।४।२१)। आपिशलि, शाकटायन, पाणिनि, और काशकृत्स्न जैसे महान् आचार्यों की कृतियाँ इस श्रेणी में आती थी।

प्रोक्त साहित्य के ही अन्तर्गत उपज्ञात संज्ञक विशेष साहित्य था। छन्द या शाखा ग्रन्थ केवल प्रोक्त थे, उपज्ञात नही, क्योंकि प्रवचन कर्ता ऋषियों ने कुछ नई मौलिक सूझ से उन वैदिक ग्रन्थो का आविर्भाव नही किया था। जो मूल संहिताएँ थी, उन्ही मे फेरफार करके उन्होने शिष्यो को उनका अध्यापन कराया था। इसीलिये एक ही वेद की कई शाखाएँ परस्पर बहुत मिलती हैं, किन्तु पाणिनि का ग्रन्थ प्रोक्त भी था और उपज्ञात भी। पाणिनिना प्रोक्तम् , पाणिनिना उपज्ञातम्, दोनो ही प्रकार से पाणिनि प्रोक्त नए व्याकरण शास्त्र के लिये पाणिनीय यह नाम संगत हुआ। संक्रान्तिकाल मे कुछ ऐसी स्थिति स्वाभाविक भी थी कि नूतन ग्रन्थो मे कुछ नियम प्रोक्त शाखा ग्रन्थो और कुछ उपज्ञात ग्रन्थो के एक साथ लागू हो। उदाहरण के लिये, पाणिनि के नए शास्त्र मे प्रोक्त ग्रन्थवाली बात तो यह थी कि उसकी भी गुरु-शिष्य परंपरा उसी प्रकार प्रवर्तित हुई, जैसे छन्दोग्रन्थो की थी। दूसरी ओर उपज्ञात लक्षण यह था कि यहाँ पाणिनि का स्वतन्त्र कर्तृत्व माना गया। तद् विषयता का नियम पाणिनि के व्याकरण के लिये लागू नही हुआ, अन्यथा पाणिनि के नाम से उसका नाम नही हो सकता था। नए नए विषय और उनका प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ चरणों के बाहर आस्तित्व मे आ रहे थे, जिनकी रचना मे उनके लेखको ने महान् प्रयत्न किया था। उनके कर्तृत्व का भी लोगो को तथ्यात्मक परिचय था। अतएव यह संभव नही था कि उनका नामकरण उनके प्रवक्ता या उपज्ञाता अर्थात् मौलिक रचयिताओ के नाम से न हो। यास्क, शाकटायन, औद-व्रजि और पाणिनि इसी श्रेणी के उपज्ञाता आचार्य थे (पाणिनिना उपज्ञात पाणिनीयं व्याकरणम्, उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्, २।४।२१; पाणिनेरुपज्ञानेन प्रथमतः प्रणीतम् पाणिनीयम्—काशिका) ।

इस विषय में एक बात और स्मरण रखने योग्य है। पाणिनि प्रोक्त शास्त्र पाणिनीय हुआ। फिर उस पाणिनीय शास्त्र के पढने-पढ़ाने वाले (अध्येतृ-वेदितृ) भी पाणिनीय कहलाए। यहाँ भी वही पहली-सी स्थिति समझनी चाहिए। पाणिनि शब्द से प्रोक्त प्रत्यय (पाणिनि + ईय) लगाने के बाद तदधीते तद्वेद अधिकारा-न्तर्गत यथा विहित अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय लगाया गया—पाणिनि + ईय (प्रोक्त प्रत्यय) + ईय (अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय)। इस स्थिति मे प्रोक्ताल् लुक् से दूसरे ईय प्रत्यय का लुक् हो जाता है और पाणिनीय यही शब्द पाणिनि के ग्रन्थ और उसके पढने-पढाने वालो का भी बोध कराता है। इस प्रकार यद्यपि ग्रन्थ और गुरु-शिष्य पारम्पर्य के नाम मे कोई भेद न था, किन्तु शिक्षण संस्था की दृष्टि से पाणिनीय सदृश ग्रन्थो में और चरण साहित्य के ग्रन्थों में बहुत अन्तर था। शाखा पर आश्रित चरणो का जो नियमित सगठन था वह नए शास्त्रो को प्राप्त न था। फिर पाणिनीय शास्त्र के पढ़ने वाले सब पाणिनीय विद्वान् किसी एक ही वैदिक चरण से संबन्धित

हो—यह भी आवश्यक न था। वल्कि पतंजलि ने तो स्पष्ट लिखा है कि उनका संबन्ध सभी चरणों से समान था (सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्)।

नवनिर्मित सूत्र ग्रन्थो के अध्येता छात्रो का नाम ग्रन्थो की अध्याय-सख्या से भी पडता था, जैसे अष्टकाः, दशकाः, त्रिकाः, अर्थात् पाणिनीय, वैयाघ्रपदीय और काशकृत्स्न शास्त्रो के पढने वाले छात्र (सूत्राच्चकोपधात्—४।२।६५; पाणिनीयमष्टकं सूत्र तदधीते अष्टकाः पाणिनीया, दशकाः वैयाघ्रपदीयाः, त्रिका काशकृत्स्ना)। आठ अध्याय होने के कारण पाणिनि का ग्रन्थ अष्टक कहलाया (अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य अष्टकम्, संख्यायाः सञ्ज्ञासघसूत्राध्ययनेषु, ५।१।५२), और फिर उस अष्टक के पढने वाले छात्र अष्टकाः कहलाए। यहाँ भी पाणिनीयम्-पाणिनीयाः जैसी दो कोटियां थी—अष्टकम् अष्टका। पहले ग्रन्थ का नाम, फिर पढने वालो का नाम। ग्रन्थ की रचना में विशेष प्रयत्न और परिष्कार इस युग मे किया गया, जिसके कारण ग्रन्थो का स्वरूप इतना साफ-सुथरा और सुविभक्त होता था। उसी पृष्ठभूमि मे संख्या शब्दो को ग्रन्थो के नामकरण में इतना महत्व प्राप्त हुआ। अध्याय, पाद, सूत्र के साँचे में ग्रन्थ को ढालने अथवा कुशल तक्षक की भांति अपनी सामग्री को गढ़-छील कर उस रूप मे ले आने मे ग्रन्थकर्ता जो महान् प्रयत्न करते थे, उसका गौरव सख्या शब्दो को प्राप्त हुआ। तभी भाषा मे इस प्रकार के नामो की आकाक्षा हुई। यह कौन सा सूत्र ग्रन्थ है ? इस प्रकार के प्रश्न के उत्तर में कहा जाता था—यह अष्टक है अर्थात् आठ अध्यायों में इसके रचयिता आचार्य ने इसकी सामग्री का वन्धान बांधा है। ऐसे ही आप लोग कौन हैं ? इस प्रश्न के उत्तर में विद्यार्थी कहते थे—हम अष्टक हैं, अर्थात् आठ अध्यायो वाला जो सूत्र ग्रन्थ है, हम उसका अध्ययन करने वाले हैं। ग्रन्थ के आन्तरिक शिल्प या वास्तु विधान को ऐसा महत्व किसी अन्य युग मे प्राप्त नही हुआ। ब्राह्मण युग के अन्त में ही अध्यायो के संवन्ध की सख्याओ के महत्व की यह व्यजना शुरू हो गई थी। तभी तो ६० अध्यायो वाले ग्रन्थ के लिये षष्टिपथ और १०० अध्यायो वाले ग्रन्थ के लिये शतपथ, ३० अध्यायों वाले कौषीतकी के लिये त्रैंश, और ४० अध्यायो वाले ऐतरेय के लिये चात्वारिंश जैसे नाम पड़े।

(४) कृत (४।३।८७; ४।३।११६)—इस श्रेणी के साहित्य मे साधारण ग्रन्थो का समावेश किया गया, जिनका नामकरण या तो उनके विषय से (अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ४।३।८७) या लेखक के नाम से होता था (कृते ग्रन्थे ४।३।११६)। अनुष्टुप् श्लोक और उसके साथ श्लोककार (३।२।२३) कवि के उदय का फल यह हुआ कि शीघ्र ही काव्य और नाटकरूपी साहित्य का जन्म होने लगा। यह सब साहित्य कृत कोटि का था। उदाहरण के लिये सौभद्र (सुभद्रा के उपाख्यान पर आश्रित ग्रन्थ); यायात (ययाति के उपाख्यान पर आश्रित); वाररुचा. श्लोकाः (वर रुचि के बनाए श्लोक)—ये सब काशिका में उद्धृत कृत साहित्य के उदाहरण

हैं। स्वयं पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय, इन्द्रजननीय, यमसभीय इन तीन कृत ग्रन्थो का उल्लेख किया है।

कृत और उपज्ञात मे भेद यह था कि कृत वह ग्रन्थ था जिसे किसी लेखक ने विरचित किया, किन्तु उपज्ञात ग्रन्थविशेष न होकर उस शास्त्रीय विषय के लिये प्रयुक्त होता था, जिसकी प्रथम वार उद्भावना किसी मेधावी आचार्य ने की हो, जैसे पाणिनि का व्याकरण शास्त्र। हम पाणिनि की अष्टाध्यायी को पाणिनीय व्याकरण तो कह सकते हैं, पाणिनीय ग्रन्थ नही कह सकते। उपज्ञात ग्रन्थ व्यक्तिविशेष से प्रोक्त और उपदिष्ट होता था, किन्तु उसका नाम उस विषय के नाम से पडता था, जिसका उपदेश या प्रवचन उसमें किया गया हो। शास्त्रीय नाम के पहले उपज्ञाता आचार्य के नाम से बना हुआ विशेषण प्रयुक्त किया जाता था, जैसे पाणिनीय व्याकरण।

(५) व्याख्यान (तस्य व्याख्यान इति च व्याख्या तव्यनामन: ४।३।६६)—धार्मिक और लौकिक विषयो के फुटकर ग्रन्थो पर विरचित व्याख्यान ग्रन्थ इस श्रेणी के साहित्य में आते थे। ये कुछ मौलिक रचनाएँ न थी, वल्कि व्यावहारिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये इनकी रचना उस समय वड़े वेग से हो रही थी, जैसे वैदिक अध्यायो और मन्त्रो के अर्थ समझाने के लिये, या उसके विभिन्न पाठो की युक्ति वताने के लिये, या यज्ञीय कर्मकाण्ड की व्याख्या के लिये, या वेदाग सम्वन्धी विषयो के व्याख्यान के लिये, अथवा दर्शन, विज्ञान, ज्योतिष, अङ्गविद्या, क्षत्रविद्या, आदि फुटकर विद्याओ को स्पष्टता से समझाने के लिये। इस साहित्य का उद्देश्य उन उदाहरणों से स्पष्ट होता है, जो स्वयं पाणिनि ने इस प्रकरण मे दिए हैं, जैसे, सोमक्रतुओ के व्याख्यान ग्रन्थ, नामिक और आख्यातिक जैसे व्याकरण सवन्धी व्याख्यान ग्रन्थ, अथवा पुरोडाश बनाने की विधि बताने वाले ग्रन्थ या पुरोडाश संवन्धी मन्त्रो की व्याख्या करने वाले ग्रन्थ। एक प्रकार से आजकल की पद्धतियो के ढंग की पुस्तकें रही होगी। व्याख्यान-साहित्य के निर्माण मे वहुत-से छोटे-छोटे लेखक भी अपनी-अपनी विद्या और वुद्धि के अनुसार भाग ले रहे थे, जैसा कि उत्पात, निमित्त आदि अति सामान्य विषयो पर लिखे गए ग्रन्थो से सूचित होता है। निमित्तो का व्याख्यान ग्रन्थ नैमित्त (४।३।७३) और उन्हे बताने वाला व्यक्ति नैमित्तिक कहा जाता था (४।२।७)। उस समय नक्षत्रो के फलाफल का विचार करना, हाथो की रेखा देखना, या ज्योतिष की सहायता से भविष्य कथन करना इन वातो में भी लोगो को काफी रुचि हो गई थी, जैसा जातक कहानियो से विदित होता है। पाणिनि ने इस तरह की पूछताछ को विप्रश्न कहा है। राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्न: (१।४।३९) सूत्र मे तत् संबन्धी भाषा प्रयोगो का उल्लेख किया

गया है, जैसे देवदत्ताय राध्यति, देवदत्ताय ईक्षते, नैमित्तिक. पृष्टः सन् देवदत्तस्य दैव पर्यालोचयति (काशिका)।

पाणिनि को विदित साहित्य

वैदिक साहित्य—वैदिक साहित्य के विषय मे पाणिनि का परिचय कितना था, यह बात कुछ तो सूत्रो मे आए हुए नामो से जानी जाती है, और कुछ उनकी सामग्री के स्रोतो से जहाँ से उन्होने अपने व्याकरण के लिये शब्दो का चुनाव किया। पाणिनि ने अपनी सामग्री का सकलन इन सहिताओ से किया था—ऋग्वेद, मैत्रायणी सहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय सहिता, अथर्ववेद और सामवेद (थीमे, पाणिनि और वेद)। इसी से ऋग्वेद के शाकल्य पदपाठ का नाम भी जोड लेना चाहिए। जहाँ से १।१।१६–१८ सूत्रो की सामग्री ली गई है (वही पृ० ६२)। यह भी उल्लेखनीय है कि पाणिनि के कुछ वैदिक प्रयोग इस समय उपलब्ध वैदिक साहित्य में नही प्राप्त होते। संभवतः वे कृष्ण यजुर्वेद की किसी शाखा से लिए गए थे, जो पाणिनि के समय में विदित थी, पर अब लुप्त हो गई है (वही, पृ० ६४)। अथर्ववेद की पैप्पलादशाखा से सूत्रकार ने सामग्री ली थी (वही, पृ० ६६)। भारतीय टीकाकार भी प्रायः वैदिक प्रयोगो के लिये 'प्रयोगो मृग्यः' कह कर छुट्टी ले लेते हैं। वस्तुतः पाणिनि की संपूर्ण वैदिक सामग्री की छानबीन स्वतन्त्र खोज का विषय है। उसमें यह भी अध्ययन करना होगा कि कितनी सामग्री संहिताओ मे ऐसी है, जिसका आचार्य ने सकलन नही किया। तब तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर वैदिक व्याकरण का विशिष्ट रूप खडा किया जा सकेगा और यह भी जाना जा सकेगा कि पाणिनि को उसमें कितना श्रेय है।

पाणिनि ने आथर्वणिक (अथर्ववेद के छात्र, ६।४।१७४) का उल्लेख किया है, और वसन्तादि गण में अथर्वन् और आथर्वण का पाठ किया है जिस पर पतंजलि ने लिखा है कि आथर्वणिक विद्यार्थी वे थे जो अपने आम्नाय या शाखा, एवं धर्म या धर्मसूत्र का अध्ययन करते थे (तत्रापि सम्बन्धमात्रं कर्तव्यम् आथर्वणिकानामिदमिति। न चेदानीमन्यदाथर्वणिकाना स्वं भवितुमर्हति अन्यदतो कर्मादाम्नायाद्वा, भाष्य ४।३।१३१)।

यद्यपि आचार्य ने शुक्ल यजुर्वेद से सामग्री का सकलन नही किया, किन्तु इसका यह अभिप्राय नही था कि वाजसनेयिसंहिता और शतपथ सूत्रकार के बाद की रचना है। शौकनादिगण पाठ मे पाणिनि ने वाजसनेय और वाजसनेयी का उल्लेख किया है।

मन्त्र, छन्द आदि शब्द—छन्द, मन्त्र, ऋच्, यजुष, ब्राह्मण, और निगम—इनका उल्लेख शब्द प्रयोगो के सबन्ध में कितने ही सूत्रों में आता है। इन शब्दो से

पाणिनि का क्या अभिप्राय था, यह स्पष्ट होने की आवश्यकता है। छन्द तो भाषा का उलटा है। भाषा का प्रयोग आचार्य ने उस समय की बोलचाल में आनेवाली संस्कृत अर्थात् शिष्ट भाषा के लिये किया है। जहाँ किसी प्रयोग का साधुत्व छन्द में कहा गया, वहां पाणिनि का आशय संहिता साहित्य और ब्राह्मण साहित्य इन दोनो से होता था। जब किसी सूत्र मे केवल मन्त्र शब्द कहा गया तो, यह समझना चाहिए कि ब्राह्मण साहित्य को छोडकर ऋचा भाग या यजुष् भाग मे उस शब्द का साधुत्व होता है। ऋच् का तात्पर्य ऋग्वेदसदृश मन्त्रो से है और उसका उलटा यजुष् गद्यात्मक मन्त्र भाग से। ब्राह्मण से तात्पर्य गद्यात्मक ब्राह्मण साहित्य से है। सूत्र ३।१।३५ मे अमन्त्र शब्द का संकेत भी ब्राह्मण साहित्य से ही है। निगम शब्द आचार्य ने जहाँ प्रयुक्त किया है, वहाँ उनका तात्पर्य वैदिक साहित्य में आए हुए उन पारिभाषिक वाक्यो से है, जहाँ अर्थ या व्युत्पत्ति का कोई कथन पाया जाता है।

वैदिक शाखा—जैसा ऊपर बताया गया है चरणो का विकास मूलतः वैदिक शाखाओ के आधार पर हुआ। इन्हे छन्द और आम्नाय भी कहते थे (चरणाद् धर्माम्नाययोः, ४।३।१२० वा ११, भाष्य, कठानामाम्नायः धर्मो वा काठकम्, कालापकम्, मौदकम् पैप्पलादकम्)। छन्द और ब्राह्मण ये चरणो के प्रधान अध्ययन के विषय थे।

ऋग्वेद—ऋग्वेद के निम्नलिखित चरणो का पाणिनि ने उल्लेख किया है।

(१) शाकल—शाकल्य आचार्य ने ऋग्वेद का पदपाठ बनाया था, जिसका पाणिनि में उल्लेख है। (१।१।१६)। शाकल प्रोक्त शाखा का अध्ययन करनेवाले विद्वानो का भी सूत्र मे उल्लेख है (शाकलाद्वा ४।३।१२८) इसे शाकल चरण कहते थे, शाकलेन प्रोक्तमधीते शाकलाः। ऋक्सहिता का वर्तमान संस्करण शाकल शाखा का है। वस्तुतः शाकलो के अन्तर्गत एक शैशिरीय चरण था, उसीका यह शाखा ग्रन्थ है। ऋक् प्रातिशाख्य के आरंभिक श्लोको मे शैशिरीय शाखा कि साथ उसका सबन्ध कहा गया है। गहादिगण (४।२।१३८) मे पाणिनि ने शैशिरीयो का उल्लेख किया है। अनुश्रुति के अनुसार शाकल और शुनको का घनिष्ठ संबन्ध था। शौनक ऋग्वेद के कई फुटकर ग्रन्थो के रचयिता हैं। इन दोनो का घनिष्ठ संबन्ध शाकल-शुनकाः इस द्वन्द्व प्रयोग से विदित होता है, जो कार्तकौजपादिगण मे पठित है।

शाकल चरण के भी पाँच अवान्तर चरण हुए, जिनकी स्थापना शाकल्य के पाँच विद्वान् शिष्यो ने की। इनके नाम ये हैं—(१) मुद्गल, (२) गालव, (३) वात्स्य, (४) शालीय और (५) शैशिरीय। पाणिनि ने जिस क्रमपाठ का उल्लेख किया है (क्रमादिभ्यो वुन्, ४।२।६१) वह संभवतः ऋग्वेद का क्रम-

पाठ ही था, जिसकी रचना बाभ्रव्य पाञ्चाल ने की थी। सूत्र ४।१।१०६ मे कौशिक गोत्रीय एक बाभ्रव्य का उल्लेख है। कार्तकौजपादिगण में शौनक और बाभ्रव्य चरणो को एक साथ शुनक-बाभ्रवाः कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि ये दोनो किसी एक ही मूल शाखा से निकले हुए दो चरण थे। मत्स्य पुराण मे कहा है (२१।३०) कि बाभ्रव्य दक्षिण पंचाल के राजा ब्रह्मदत्त के महामन्त्री थे, उन्होने क्रमपाठ की रचना की।

(२) बाष्कल—चरण व्यूह के अनुसार यह ऋग्वेद का महत्त्वपूर्ण चरण था। पाणिनि ने बाष्कलो का उल्लेख साक्षात् रूप से नही किया, किन्तु इस चरण के प्रमुख शिष्य पराशर का उल्लेख किया है, जिसने पाराशर्य शाखा का आरभ किया। पाराशर्य के भिक्षु सूत्रो का आविर्भाव या विकास इसी पाराशर चरण के अन्तर्गत हुआ। इस चरण के तपस्वी जो इन सूत्रो का अध्ययन करते थे पाराशरिण. भिक्षवः कहलाते थे (४।३।११०)। पाराशर्य लोगो की स्वतन्त्र कोई शाखा या छन्द ग्रन्थ न था, उसके लिये वे बाष्कल शाखा पर निर्भर थे। उनका साहित्यिक कार्य भिक्षु सूत्रो की रचना में ही स्फुट हुआ। पतंजलि ने इस चरण के एक कल्प ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है, जिसके पढने वाले पाराशरकल्पिक कहलाते थे (४।२।७)।

(३) शिलालिन्—पाणिनि ने शिलाली आचार्य को नट सूत्रो का प्रवचन-कर्ता कहा है—शैलालिनः नटाः (४।३।११०)। इनका एक वैदिक चरण था, जिसमे मुख्यतः नाट्यशास्त्र का अध्ययन किया जाता था। मूलतः शैलालक ऋग्वेद का चरण था जिन्होने एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास किया था। आपस्तम्ब और श्रौत सूत्र में शैलालिक ब्राह्मण का उल्लेख है। (कीथ, आपस्तम्ब और बह्वृच ब्राह्मण, जे आर ए एस, १९१५, पृ० ४९८)। कात्यायन ने इस चरण के छात्रो को शैलालाः कहा है (६।४।११४, वा०)। इससे ज्ञात होता है कि नट सूत्रो को अध्ययन करने वाले अन्तेवासी शैलालिन. और वैदिक ग्रन्थो का अध्ययन करनेवाले शैलाला. कहे जाते थे। इस चरण मे नट सूत्र जैसे लौकिक विषय का विकास करके वैदिक अध्ययन के क्षेत्र मे एक नए मार्ग का प्रवर्तन किया गया।

(४) बह्वृच—पाणिनि ने बह्वृच चरण के आम्नाय और धर्म अर्थात् शाखा और धर्म सूत्र को बाह्वृच कहा है। बह्वृच ऋग्वेद का अत्यन्त प्रसिद्ध चरण था (अनृचो माणवे, बह्वृच्श्चरणाख्यायाम्, ५।४।१५४)। ऋग्वेद के संबन्ध में इसी चरण को सर्वोपरि प्रधानता प्राप्त हुई थी, जैसा कि पतंजलि के एकविंशतिधा बाह्वृच्यम् इस उल्लेख से विदित होता है। बह्वृचो के २१ भेद या शाखाएँ थी। शतपथ ब्राह्मण (१०।५।१।१०) में बह्वृचो का उल्लेख है और आपस्तम्ब श्रौत सूत्रो मे भी बारह बार उनके मत का उपन्यास किया गया है। प्रस्तुत ऐतरेय और कौषीतकी ब्राह्मणों

में उनमें से एक भी अवतरण नहीं मिलता। अवश्य ही आपस्तम्ब के सामने बह्वृचों का कोई ऐसा ब्राह्मण ग्रन्थ था, जो अब अप्राप्त है (कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मण, पृ० ४९६)। इस चरण की संहिता और ब्राह्मण दोनों सुरक्षित नही रहे। कुमारिल के अनुसार बह्वृचों का वशिष्ठ गृह्यसूत्र था (तन्त्रवार्तिक १।३।११)। कीथ का विचार था कि बह्वृच चरण का ही नाम पैङ्ग्य था, किन्तु कौषीतकी ब्राह्मण में उन्हें पृथक् चरण माना था। पैङ्ग्य प्राचीन चरण था, ऐसा संकेत पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मण कल्पेषु (४।३।१०५) सूत्र के पैङ्गी कल्पः उदाहरण से प्राप्त होता है।

(५) शौनक—शौनक चरण के छन्द ग्रन्थ का अध्ययन करनेवाले शौनकिन. कहलाते थे (४।३।१०६)। इस चरण का शाकलों के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध था। ऋग्वेद के सम्बन्ध मे शौनकों ने बहुत कुछ साहित्यिक कार्य किया। ऋग्वेद प्रातिशाख्य भी मुख्यतः इसी चरण का है।

पाणिनि ने पैल (२।४।५९) का भी उल्लेख किया है। पैल को ऋग्वेदी और पाराशर्य व्यास की परम्परा में माना जाता है। पैल चरण की दो अवान्तर शाखाएँ थीं। एक बाष्कलि की और दूसरी माण्डूकेय की। कार्तकौजपादिगण में सावर्णिमाण्डूकेयाः का साथ उल्लेख है।

यजुर्वेद—कृष्णयजुर्वेद के चरणों का कई सूत्रों में उल्लेख है। तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिक, उख (४।३।१०२), एवं कठ और कलापी (४।३।१०७–१०८) कृष्ण-यजुर्वेद के ही चरण संस्थापक आचार्य थे। इन सब के गुरु वैशम्पायन थे। ये विद्वान् वैशम्पायन के अन्तेवासी प्रसिद्ध थे। (४।३।१०४)। ये स्वयं प्रत्यक्षकारी हुए, अर्थात् प्रत्येक ने स्वयं एक-एक शाखा का प्रवचन किया और चरण की संस्थापना की। कृष्ण यजुर्वेद के जो अनेक चरण कहे जाते हैं वे सब छन्द या ब्राह्मण चरण न थे, संभवतः केवल कुछ सूत्र चरण थे। इस वेद के निम्नलिखित चरणों का उल्लेख है—

(१) तैत्तिरीय (४।३।१०२)—तैत्तिरीय चरण के संस्थापक आचार्य तित्तिरि थे। तैत्तिरीय ब्राह्मण के अन्तिम भाग की संज्ञा काठक भी है, जिससे ज्ञात होता है कि तैत्तिरीयों और कठों का निकट का संबन्ध था (पं० भगवद्दत्त—वैदिक वाङ्मय का इतिहास)।

(२) औखीय (४।३।१०२)—चरणव्यूह (२।१) के अनुसार तैत्तिरीय चरण के दो उपविभाग हुए, औखीय और खाण्डिकीय। आत्रेय भी औखीय चरण का ही एक छोटा विभाग था। आत्रेयों का उल्लेख २।४।६५ में प्रत्युदाहरण के रूप मे और ४।१।११७ में गोत्र नाम के रूप में आया है।

(३) खाण्डिकीय (४।३।१०२)—यह तैत्तिरीयों के अन्तर्गत एक चरण था। इसी से आपस्तम्ब हिरण्यकेशीय और भारद्वाज चरणों का विकास हुआ (चरणव्यूह)।

(४) वारतन्तवीय (४।३।१०२)। पाणिनि के समय में इस चरण का पृथक् अस्तित्व था, पर अभी तक उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही हुआ। पाणिनि के शिष्य कौत्स थे (उपसेदिवान् कौत्स. पाणिनिम् , ३।२।१०८) जो वरतन्तु के शिष्य होने से वारतन्तवीय चरण के साथ सम्बन्धित थे।

(५) वैशम्पायन और चरक—पाणिनि के अनुसार चरक चरण के विद्वान् चरक नाम से प्रसिद्ध थे। काशिका के अनुसार वैशम्पायन की संज्ञा चरक थी। जैसा ऊपर कहा जा चुका है कि चरक का मूल अर्थ ज्ञानोपार्जन के लिये विचरण करनेवाले विद्वान् था। वैशम्पायन वैदिक आचार्यों मे प्रमुख थे। शबरस्वामी ने लिखा है कि कृष्णयजुर्वेद की समस्त शाखाओं के अध्यापन का श्रेय वैशम्पायन को था (स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी, मीमासाभाष्य, १।१।३०)। वैशम्पायन के अन्तेवासी शिष्यो द्वारा स्थापित चरण दूर-दूर तक कई दिशाओं मे फैले हुए थे। पतञ्जलि के अनुसार तीन मध्यदेश मे, तीन उत्तर मे और तीन प्राच्य देश मे निवास करते थे।[1] आलम्बि, पलङ्ग और कमल द्वारा स्थापित आलम्बिन., पालङ्गिनः और कामलिनः चरको के ये तीन चरण प्राच्य देश में थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य, इन तीन आचार्यों द्वारा स्थापित आर्चाभिनः, आरुणिन., ताण्डिन —ये तीन चरण मध्यदेश मे थे। श्यामायन, कठ और कलापिन् आचार्यों के चरण श्यामायनिनः, कठाः, कलापा. उदीच्यदेश में थे (काशिका ४।३।१०४)[2]। शतपथ ब्राह्मण मे कृष्णयजुर्वेद की चरक शाखा के अनुयायी चरकाध्वर्यु कहे गए हैं।

(६-७) आलम्बिनः, पालङ्गिनः, चरको के दो प्राच्य चरण।

(८) कामलिनः। चरको का तीसरा प्राच्य चरण। ब्रह्माण्ड पुराण में इसके संस्थापक का नाम आचार्य कामलायनि दिया है (१३३।६)।

(९) कठ (४।३।१०७)—पाणिनि ने कठो का स्वतन्त्र उल्लेख किया है। यह चरको का अति प्रसिद्ध उदीच्य चरण था, जिसके अनुयायी गाव-गाव मे फैल गए थे। (ग्रामे ग्रामे च काठक कालापकं च प्रोच्यते, भाष्य ४।३।१०१)। कठो की शाखा के विषय में कहा जाता था कि वह अत्यन्त विशाल और सुविरचित ग्रंथ था (कठं महत् सुविहितम् , भाष्य ४।२।६६ वा० २)।

कार्त्तकौजपादिगण मे कठकालापा., कठकौथुमाः नामो के जोड़े आते हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन चरणो का आपस में घनिष्ठ सम्बन्ध था। कठचरण की सहिता इस समय उपलब्ध है। पाणिनि ने उससे कुछ सामग्री अपने व्याकरण मे ली थी

---

१. वार्त्तिक—चरण सम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण् (४।२।१३८ वा० २)। भाष्य—चरण सम्बन्धेन निवासलक्षणोऽण् वक्तव्यः। त्रयः प्राच्याः। त्रय उदीच्याः। त्रयो मध्यमाः। सर्वे निवासलक्षणाः।

२. आलम्बिश्चरकः प्राचां पलङ्गकमलावुभौ। ऋचाभारुणिताण्ड्याश्च मध्यमीयास्त्रयोऽपरे॥ श्यामायन उदीच्येषु उक्तः कठकलापिनोः। (काशिका में उद्धृत श्लोक)

(देवसुम्नयोर्यजुषि काठके, ७।४।३८)। चरणव्यूह में कठचरण के दो छोटे चरण प्राच्यकठ और कपिष्ठल कठ का उल्लेख है। सौभाग्य से कपिष्ठलों की संहिता भी अभी तक सुरक्षित है। पाणिनि ने कपिष्ठल नामक गोत्र का उल्लेख किया है (कपिष्ठलोगोत्रे ८।३।९१)। यह सम्भवतः कठचरण के अन्तर्गत एक उपविभाग की संज्ञा थी। कितने ही ऐसे चरण थे, जिनके संस्थापक ऋषियों के नाम से गोत्र भी प्रसिद्ध हुए। गोत्रं च चरणानि च, परिभाषा से ज्ञात होता है कि गोत्र और चरण दोनों जातियों के रूप मे संगठित हो रहे थे। मेगस्थने ने पंजाब में कम्बिस्थोलोइ लोगों का उल्लेख किया है, जिनके देश में से इरावती नदी बहती थी। ज्ञात होता है कि कपिष्ठलों का प्रदेश इरावती के आसपास के भूभाग में कठों के समीप ही था। वही कठों ने अपने प्रदेश में जाते हुए सिकन्दर का मार्ग रोका था। पंजाब में कपिस्थल (अर्वाचीन कैथल) नामक नगर से कपिष्ठलों का कोई सम्बन्ध न था।

(१०) कालाप (४।३।१०८)—यह चरकों का उदीच्य चरण था। वैशम्पायन के अन्तेवासियों मे कलापी नामक आचार्य स्वयं बहुत उच्च श्रेणी के थे। न केवल उन्होंने नए चरण की स्थापना की, किन्तु उनके चार शिष्य भी ऐसे उत्कृष्ट विद्वान् हुए जो एक-एक चरण के संस्थापक कहलाए। उनके नाम हरिद्रु, छगली, तुम्बुरु और उलप थे।

(११) श्यामायनि—यह उदीच्य देश के आचार्य थे। जिनका चरण श्यामायनिनः कहलाया। मैत्रायणीयों के छह विभागों में इनकी भी गणना थी। श्यामायन गोत्र का उल्लेख अश्वादिगण मे है (४।१।११०)।

(१२, १३, १४) काशिका के अनुसार चरकों के तीन चरण मध्यदेश मे थे, जो मध्यम या मध्यमीय कहलाते थे। ऋचाभ, आरुणि और ताण्ड्य आचार्यों द्वारा स्थापित आर्चाभिनः, आरुणिनः, ताण्डिनः ये उनके नाम थे। आरुणि का चरण वही ज्ञात होता है जिसके आचार्य उद्दालक आरुणि थे। पतंजलि के अनुसार यह भरत जनपद में था (२।४६६)।

(१५, १६, १७, १८) हरिद्रु, तुम्बुरु, उलप और छगलिन्, ये चार कलापी के शिष्य थे, जिन्होने इन चरणों की स्थापना की—हारिद्रविणः तौम्बुरविणः, औलपिन , छागलेयिनः। छगलिन् के चरण का विशेष नामोल्लेख सूत्र मे है (छगलिनो ढिनुक, ४।३।१०९; छगलिना प्रोक्तमधीयते छागलेयिनः), किन्तु इनके विषय में बहुत कम जानकारी है। केवल यास्क ने एक बार हारिद्रविक नामक ग्रन्थ में से कुछ उद्धरण दिया है, जो इस चरण का ब्राह्मण ज्ञात होता है। मानवगृह्यपरिशिष्ट में इन चारों का नाम आया है।

(१९) खाडायन—शौनकादिगण में खाडायन चरण का उल्लेख है। कात्यायन और पतंजलि दोनों उस गण में उसका पाठ प्रामाणिक मानते हैं। पतं-

जलि के अनुसार वैशम्पायन का अन्तेवासी कठ और कठ का अन्तेवासी चारायन था। प्रश्न होता है कि पाणिनि ने वैशम्पायन के अतिरिक्त उन्हीं के शिष्य कलापी के अन्तेवासियो का पृथक् उल्लेख क्यों किया। अन्तेवासी के अन्तेवासी इस नियम से उनकी गणना भी वैशम्पायन के ही अन्तेवासियों मे की जा सकती थी। कात्यायन ने उत्तर दिया है कि शिष्य प्रशिष्य का कोई महत्व न होकर मुख्य बात यह थी कि जो स्वय वैदिक छन्द या ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रवचन करने वाले थे या प्रत्यक्षकारी ऋषि थे, उनका यहाँ ग्रहण अभीष्ट है (कलापि खाडायन ग्रहणं ज्ञापकं वैशम्पायनान्तेवासिषु प्रत्यक्षकारिग्रहणस्य ४।३।१०४, वा०)। कात्यायन ने यह भी लिखा है कि केवल छन्द ग्रन्थो का ही चरण के नाम से ग्रहण होता था, साधारण श्लोक या काव्यादिक का नहीं, जैसे तित्तिरि आचार्य या उनके चरण में विरचित श्लोको की तैत्तिरीय संज्ञा नहीं होती थी (छन्दोग्रहणं च, इतरथा ह्यतिप्रसङ्गः, वा० ३, ४।३।१०४, तित्तिरिणा प्रोक्ता: श्लोकाः इत्यत्र न भवति)।

शुक्लयजुर्वेद—शौनकादिगण (४।३।१०६) में वाजसनेय का भी पाठ है जिनके चरण का नाम वाजसनेयिन. था। उसकी शाखा वाजसनेयी कहलाती थी।

सामवेद—सामवेद की संहिता के दो भाग थे—आर्चिक और गेय। आर्चिक का उल्लेख सू० ४।३।७२ और गेय का ३।४।३८ में है (गेयो माणवकः साम्नाम्, गेयानि माणवकेन सामानि, ३।४।६८ काशिका)। सामवेद के छान्दोग्य चरण का उल्लेख पाणिनि ने किया है। (४।३।१२९)। यही कालान्तर में सामवेद का मुख्य चरण हो गया। कार्तकौजपादिगण (६।२।३७) में जिस कार्तचरण का उल्लेख है, उसके आचार्य कृत पौरव राजकुमार थे और कोसल देश के राजा हिरण्यनाभ के शिष्य थे, जो सामवेद के प्रसिद्ध विद्वान् माने जाते थे (विष्णुपुराण ४।१९। ५०-५२)। कहा जाता है कि कृत आचार्य ने अपने अन्तेवासियो द्वारा प्राच्य देश मे सामवेद की २४ संहिताओ का प्रचार किया (यश्चतुर्विंशति प्राच्य सामगाना सहिताश्चकार)। यजुर्वेद के लिये जो महान् कार्य वैशम्पायन ने किया था, वैसा ही पुरुषार्थ सामवेद के लिये आचार्य कृत का था। कार्तकौजपादि गण मे कितने ही वैदिक चरणो के नामो का उल्लेख है और दो-दो नामो के एक साथ गठन से यह सूचित किया गया है कि उन-उन चरणो का एक दूसरे के साथ परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध था। कठकालापम्, कठकौथुमम्[1] ये चरणो मे एकदूसरे के अनुवाद अर्थात् एक साथ उदय और प्रतिष्ठा के उदाहरण कहे गए हैं (२।४।३)। और भी मौदपैप्पलादा: (दोनो अथर्वचरण

१—अनध्याय सम्बन्धी एक नियम का उल्लेख करते हुए खादिरगृह्य सूत्र में कहा गया है—कार्ष्वे तु कठकौथुमाः, ३।२।३१ अर्थात कठ कौथुम चरण में उस दिन अनध्याय मनाया जाता है, जब इतना अधिक मेह बरसे कि गड्ढे भर जायँ।

१।३।४९) कौथुम—लौमाक्षाः (दोनो सामवेद के चरण); बाभ्रवशालंकायनाः । शालंकायन वाहीक देश में सामवेद का चरण था (वेबर, भारतीय साहित्य का इतिहास पृ० ७७, २१९)।[1] बाभ्रव पंचाल देश का ऋग्वेदीय चरण था। भाष्य मे एक उदाहरण आता है—किं ते वाभ्रव शालंकायनानाम् अन्तरेण गतेन (२।३।४)। इसकी व्यंजना यह ज्ञात होती है कि वाभ्रव प्राच्य चरण था और शालकायन उदीच्य। इन दोनो के बीच में भरत जनपद मे आरुणि का कृष्णयजुर्वेदीय चरण था। उसके किसी अनुयायी को सम्बोधन करके यह कहा गया था कि बाभ्रव और शालकायन अर्थात् प्राच्य और उदीच्य के बीच मे आने वाले तुम कौन होते हो ? शालकायन चरण की एक संज्ञा त्रिका. भी थी। संभवतः उनके तीन उपभेद थे (भाष्य ५।१।५७–५८, त्रिकाः शालकायनाः)।

सामवेद के अन्य चरणो मे पाणिनि ने शौचिवृक्षि और सात्यमुग्रि चरणो का नाम लिया है (४।१।८१)। उनकी अन्तेवासिनी शौचिवृक्षि—शौचिवृक्ष्या, सात्यमुग्री—सात्यमुग्र्या कहलाती थी। मशक के श्रौतसूत्र मे शौचिवृक्षि का प्रमाण दिया गया है। सात्यमुग्रि चरण सामवेद के राणायनीय चरण का उपविभाग था। अर्ध एकार और अर्ध ओकार के उच्चारण को सात्यमुग्रि और राणायनीय चरणो की परिषत् ने अपने प्रातिशाख्यो में स्वीकार किया था[2] ।

काण्ठेविद्धि आचार्य का नाम शौचिवृक्षि और सात्यमुग्रि के बाद सूत्र मे पढा गया है। सामवेद के वंश ब्राह्मण मे यह नाम आया है जिससे सूचित होता है कि वे सामवेद के आचार्य थे।

अथर्ववेद—अथर्वा ऋषि द्वारा प्रोक्त अथर्वन् ग्रन्थ के अध्येतृ-वेदितृ विद्वान् आथर्वणिक कहलाते थे (६।१।१७४, अथर्वन्निति वसन्तादिषु पठ्यते, अथर्वणा प्रोक्तो ग्रन्थोऽपि उपचारात् अथर्वन्नित्युच्यते, तमधीते य' स आथर्वणिकः)। वसन्तादिगण मे अथर्वन् और आथर्वण का पाठ भाष्य मे प्रामाणिक माना है (४।२।६३)। पाणिनि के अनुसार ये दोनो तदधीते तद्वेद के अन्तर्गत थे। पतंजलि ने आथर्वणिको के आम्नाय और धर्म अर्थात् छन्द और धर्मसूत्र का उल्लेख किया है। मौद और पैप्पलाद अथर्ववेद के ही दो चरण थे। सूत्र ३।१।५१ में पाणिनि ने जिस 'ऐलयीत्' पद का उल्लेख किया है वह अभीतक केवल अथर्ववेद के ही एक मन्त्र मे उपलब्ध हुआ है

---

१. नडादिगण (४।१।९९) में भी 'शलकु शलंकं च' एक अन्तर्गण सूत्र है। शालंकि के छात्र शालंकाः कहलाते थे (शालंके यूँनश्छात्राः शालकाः, ४।२।९०, भाष्य)। पाणिनि को भी शालंकि कहा गया है जिससे सामवेद के साथ उनका सम्बन्ध सूचित होता है।

२. ननु च भोः, छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीयाः अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते · पार्षदकृतिरेषा तत्र भवताम्, नैव हि लोके नान्यस्मिन् वेदे अर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वास्ति प्रत्याहार सूत्र ३–४, वा० ४ पर भाष्य; आपिशलि शिक्षा में भी इसे उद्धृत किया गया है।

(६।१६।३)। अथर्व के एक उप-चरण जाजल का उल्लेख कात्यायन ने किया है (६।४।१४४, वा०), जिसकी स्थापना जाजलि नाम के आचार्य ने की थी। जाजलि ब्राह्मण का उल्लेख शान्तिपर्व मे है।

अन्य चरण—पाणिनि ने कुछ अन्य चरणो का भी नामोल्लेख किया है, जो बहुत ही छोटे और छिटपुट चरण रहे होगे। उदाहरण के लिये ६।२।४२ सूत्र में तैतिल का उल्लेख है। तैतिल आचार्य के ग्रन्थो का अध्ययन करने वाले तैतिल लोगो का नामोल्लेख कात्यायन ने भी ६।४।१४४ सूत्र ;पर किया है (काशिका—तैतिलि जाजलिनौ आचार्यौ, तत् कृतो ग्रन्थ उपचारात् तौतिलि-जाजिल शब्दाभ्याम-भिधीयते, त ग्रन्थमधीयते तैतिलाः जाजला')। पतजलि ने क्रौडा., काङ्कताः चरणों का नाम दिया है (४।२।६६ भाष्य)। इनमे से क्रौडाः क्रौड्यादिगण में पठित क्रौडि आचार्य के शिष्य ज्ञात होते हैं (४।१।८०)। काङ्कत चरण के काङ्कत ब्राह्मण का उल्लेख आपस्तम्ब धर्मसूत्र मे आया है (१४।२०।४)। कर्मन्द और कृशाश्व (४।३।१११) एवं काश्यप और कौशिक (४।३।१०३) चरणो का उल्लेख पाणिनि ने स्वय किया है। कौशिक सूत्र का सबन्ध अथर्ववेद से था। शेप तीन सूत्र ग्रन्थ किस वेद से संबन्धित थे, ज्ञात नही।

ब्राह्मण साहित्य—एक दृष्टि से ब्राह्मणो का पद छन्द या शाखा ग्रन्थो के समकक्ष था, अर्थात् दोनो मे ही तद्विषयता का नियम लागू होता था और लोक मे दोनो का अस्तित्व अध्येतृ-वेदितृ-समुदाय या चरण के रूप मे पाया जाता था। सभवत. कई वैदिक चरण ऐसे थे, जिन्होंने स्वतन्त्र शाखा ग्रन्थो का विकास न करके अपने अध्ययन के लिये विशिष्ट ब्राह्मण ग्रन्थो का ही विकास किया था। ऊपर जिन नामो का उल्लेख किया गया है, उनमे से कई का प्रमाण केवल ब्राह्मण ग्रन्थो मे पाया जाता है।

त्रैश, चात्वारिंश—पाणिनि ने तीस अध्यायो के ब्राह्मण ग्रन्थो को त्रैश और चालीस अध्यायवाले ब्राह्मण ग्रंथ को चात्वारिंश कहा है (त्रिंशत् चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञाया डण्—५।१।६२)। कौषीतकी ब्राह्मण मे ३० और ऐतरेय में ४० अध्याय हैं, पाणिनि का तात्पर्य इन्ही दोनो से था। इन दोनो की भाषा पाणिनि की भाषा से प्राचीन है। अतएव हम इसी परिणाम पर पहुँचते हैं कि वे पाणिनि से पूर्वकालीन थे (कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मण पृ० ४२)।

पुराणप्रोक्त ब्राह्मण—पाणिनि ने पुराणप्रोक्त ब्राह्मण और पुराणप्रोक्त कल्पो का उल्लेख किया है (पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु, ४।३।१०५)। पुराणप्रोक्त ब्राह्मणो के उदाहरण में पतजलि ने भाल्लविनः और शाट्यायनिनः ब्राह्मणो का उल्लेख किया है (४।२।१०४)। काशिका ने ऐतरेयिणः यह नाम और जोडा है। भाल्लविन् सामवेद का प्रसिद्ध चरण था। शाट्यायन का नाम जैमिनि ब्राह्मण की वंश सूची में

आता है, जिनका जैमिनीय ब्राह्मण अभी तक प्रसिद्ध है। लुप्त ब्राह्मण ग्रंथों मे शाटचायन ब्राह्मण के उद्धरण सबसे अधिक मिलते हैं (बटकृष्ण घोष, लुप्त ब्राह्मणो के उद्धरण, पृ० २०२)।

तलवकार जैमिनि के अन्तेवासी थे। उन्होने अपने आचार्य के चरण में जिस ब्राह्मण की रचना की थी, वह तलवकार ब्राह्मण प्रसिद्ध हुआ, किन्तु तद्विषयता नियम के अनुसार उसे ही जैमिनीय ब्राह्मण कहा गया। पाणिनि ने शौनकादिगण मे (४।३।१०६) तलवकार का भी उल्लेख किया है, जिससे ज्ञात होता है कि तलवकार-प्रोक्त छन्दो ग्रथ भी था।

हारिद्रविक और शैलाल—ब्राह्मण भी पाणिनि से प्राचीनकाल के ब्राह्मण थे, क्योकि वैशम्पायन के शिष्य हरिद्रु का नाम सूत्र ४।३।१०४ में अन्तर्निहित है, और शिलालिन् का नामोल्लेख तो सू० ४।३।११० मे स्पष्ट आया है। हारिद्रविक ब्राह्मण का प्रमाण यास्क ने निरुक्त मे दिया है (नि० १०।५)।

पाणिनि ने माषशराविन् आचार्य के चरण का बाह्वादिगण में उल्लेख किया है। उनके गोत्रापत्य माषशरावयः कहलाते थे। द्राह्यायण और लाटचायन श्रौतसूत्रो मे प्राचीन प्रमाण के आधार पर कहा गया है कि माषशराविणो का स्वतन्त्र वैदिक चरण था, जिसमें वे लोग ब्राह्मण ग्रथ का अध्ययन करते थे (बटकृष्ण घोष, वही, पृ० ११२)। काशिका मे माष और शराविन् का पदच्छेद अशुद्ध है, वस्तुतः यह एक ही नाम था, जैसा चान्द्र वृत्ति, हेमचन्द्र और वर्धमान से ज्ञात होता है (गणरत्न महोदधि, श्लोक २०६, माष शराविण ऋषेः)।

याज्ञवल्क ब्राह्मण —सूत्र ४।३।१०५ पर कात्यायन ने कहा है कि पुराण प्रोक्त ब्राह्मणों का विचार करते हुए याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण का ग्रहण किया जायगा, क्योकि वह तुल्यकाल था (पुराण प्रोक्तेषु याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः तुल्यकालत्वात्)। अतएव याज्ञवल्क्य द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण याज्ञवल्किनः नही कहे जाते, बल्कि याज्ञवल्कानि कहलाते हैं। इस अवतरण के निश्चित अर्थ के विषय मे मतभेद है। काशिका का कहना है कि याज्ञवल्क्य नए लेखक थे (अचिरकाल)। कैयट का मत ठीक इसका उल्टा है, जो याज्ञवल्क्य को भी शाटचायन आदि प्राचीन आचार्यों के समकालीन मानते थे। उनकी दृष्टि में कात्यायन ने अपना वार्तिक इसलिये बनाया कि शाटचायनिन. की तरह याज्ञवल्किनः प्रयोग न बनने लगे, जैसा कि याज्ञवल्क्य की प्राचीनता के कारण बनना चाहिए था। इसका तात्पर्य यह हुआ कि याज्ञवल्क्य का प्रतिषेध न करके पाणिनि ने सूत्र मे जो भूल की थी, उसे कात्यायन ने वार्तिक द्वारा ठीक कर दिया। पतंजलि ने अपना मत बिलकुल स्पष्टता से प्रकट नही किया, उन्होने लिखा है—एतान्यपि तुल्यकालानि, अर्थात् ये भी तुल्यकाल हैं। यहाँ अपि शब्द तभी घटित होता है, जब याज्ञवल्क्य को शाटचायन आदिक का तुल्यकाल

अर्थात् प्राचीन ब्राह्मणकालीन माना जाय। गोल्डस्टूकर और एग्लिंग ने भी इसी मत को स्वीकार किया है, (पाणिनि, पृ० १३२, शतपथ ब्रा०, अनुवाद, भाग १, भूमिका)। यदि यह बात सत्य है कि याज्ञवल्क्य भी शाट्यायन आदि के समान ही प्राचीन आचार्य थे, तो प्रश्न होता है कि उनके ग्रन्थो में भी तद्विषयता नियम लागू क्यो नही हुआ और याज्ञवल्क्य के नाम से भी चरण का नाम क्यो नही प्रवृत्त हुआ, जैसा कि समस्त प्राचीन छन्द और ब्राह्मण एवं कही-कही कल्पसूत्रो के रचयिता ऋषियो के नाम से भी हुआ। सूत्र ४।२।६६ पर/कात्यायन ने स्पष्ट लिखा है कि याज्ञवल्क्य आदि के नाम से अध्येतृ-वेदितृ प्रत्यय लगाकर चरण का नाम नही बनाया जाता था (याज्ञवल्क्यादिभ्यः प्रतिषेधः)। यह प्रश्न सगत है कि यदि याज्ञवल्क्य का ब्राह्मण भी प्राचीन था तो लोक मे उससे संबन्धित चरण की स्थापना क्यो नही हुई। इस निश्चित और स्पष्ट प्रश्न का उत्तर यही ज्ञात होता है कि याज्ञवल्क्य तुल्यकाल (अचिरकाल), अर्थात् लगभग पाणिनीय युग के आस-पास में होनेवाले आचार्य थे, जिनके ब्राह्मण भाग को पुराण-प्रोक्त नही माना जाता था, अतएव सूत्र मे उसके प्रतिषेध की कोई आवश्यकता न थी। याज्ञवल्क्य द्वारा विरचित ब्राह्मण कौन से हैं? इसका उत्तर भी स्पष्ट समझ लेना चाहिए। प्रश्न यह है कि याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि से जिन ब्राह्मणो का बोध होता था, क्या वे इस समय शतपथ के ही अङ्ग हैं? यदि हाँ तो इस नाम से शतपथ के किस अंश का बोध होता है? शतपथ के अन्तिम काण्डो में याज्ञवल्क्य का बहुत उल्लेख आया है और वही याज्ञवल्कीय काण्ड या याज्ञवल्क्य-विरचित ब्राह्मण हैं (एग्लिंग)। वेबर ने भी पीछे से इस मत को मान लिया था कि शतपथ का १४ वा काण्ड ही कात्यायन के वार्तिक के याज्ञवल्कानि ब्राह्मणानि हैं और वे शाट्यायन आदि पुराने ब्रह्मणो की तरह पुराण प्रोक्त नही माने जाते थे, बल्कि पाणिनि के तुल्यकाल समझे जाते थे (भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० १२९)। किन्तु वेबर ने इसमे यह पख लगा दी थी कि याज्ञवल्क्य को पाणिनि का समकालीन मानना उचित नही। शतपथ का १४ वा काण्ड याज्ञवल्क्य की रचना होने के कारण याज्ञवल्क ब्राह्मण नही कहलाता, बल्कि इसलिये क्योंकि उससे याज्ञवल्क्य का विशेष उल्लेख आया है, अर्थात् शतपथ का १४ वा काण्ड याज्ञवल्क्य की स्वय रचना नही, वह किसी और का किया हुआ संग्रह है जो बाद का हो सकता है।

शतपथ का विकास—इस प्रसग मे शतपथ ब्राह्मण के सम्बन्ध मे भी विचार करना आवश्यक है, क्योकि व्याकरण साहित्य के कई उदाहरणो का उससे विशेष सम्बन्ध है। इस समय १०० अध्यायो वाला सपूर्ण शतपथ याज्ञवल्क्य की ही रचना माना जाता है, किन्तु शतपथ ब्राह्मण के कई काण्ड अलग-अलग ब्राह्मण ग्रन्थो के रूप में विद्यमान थे और बहुत पीछे चलकर एक महाग्रन्थ के रूप मे वे सगृहीत हो गए। उदाहरण के लिये उसके पहले दो काण्ड दर्शपौर्णमासेष्टियो से संबन्ध रखते हैं।

काण्ड ३-४-५ का संबन्ध पशुबन्ध और सोम यज्ञो से है। किसी समय वे इष्टि और पशुबन्ध नामो से अलग पढे-पढाए जाते थे, जैसा कि सेष्टि पशुबन्धमधीते (काशिका २।१।६) इस उदाहरण से सूचित होता है। इन काण्डो मे याज्ञवल्क्य का नाम प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया गया है। काण्ड ६-७-८-९ का संबन्ध अग्निचयन से है। उनमे शाण्डिल्य आचार्य का प्रमाण विशेष रूप से आता है। ये चार काण्ड 'अग्नि' कहलाते थे, और उनका अध्ययन अलग किया जाता था, जैसा कि साग्नि अधीते (काशिका २।१।६) और कष्टोऽग्निः (काशिका ७।२।२२), इन उदाहरणो से सूचित होता है। इन नौ काण्डो से सब मिलाकर ६० अध्याय है। किसी समय वे षष्टिपथ नाम से प्रसिद्ध थे, जैसा कि पतंजलि ने एक प्राचीनकारिका का उद्धरण देते हुए लिखा है—शतषष्टे षिकन् पथः। उनके विद्यार्थी षष्टिपथिक कहे जाते थे।

इसके बाद का दशम काण्ड अग्नि रहस्य कहलाता है। अग्नि चयन वाले पहले के चार अध्यायो का जो विषय है, उसी के रहस्य तत्वो का इसमे निरूपण है। यहा भी शाण्डिल्य को ही प्रधान रूप से प्रमाण माना गया है। ११वा काण्ड संग्रह कहलाता है, क्योकि उसमे पहले आए हुए कर्मकाण्ड का संग्रह मात्र है। काण्ड १२-१३-१४ परिशिष्ट कहलाते हैं और इनका विषय भी कुछ विशेष प्रतिपाद्य न होकर फुटकर जैसा है। इन्ही मे से अन्तिम १४ वें काण्ड में वे दार्शनिक और अध्यात्म विषय हैं, जिनके केन्द्र मे याज्ञवल्क्य का महान् व्यक्तित्व है।[1] उक्थादिगण मे सग्रह नामक एक ग्रंथ का उल्लेख है, जो सम्भवत शतपथ का यही ११वा काण्ड रहा होगा। सग्रह का अध्ययन करने वाले छात्र साग्रहिक कहे जाते थे। बहुत सम्भव है कि अग्नि रहस्य, संग्रह और परिशिष्ट नाम के भाग भी याज्ञवल्क्य ब्राह्मण माने जाते थे। १२वें काण्ड को मध्यम भी कहा गया है, जिससे सूचित होता है कि उससे पहले के दो और बाद के दो काण्ड मिलाकर पाच काण्डो की ग्रन्थ रूप में अलग इकाई थी। सौ अध्यायो वाले शतपथ का नाम प्रसिद्ध हो जाने के समय भी षष्टिपथ नाम चालू रहा। इन दोनो का अध्ययन करनेवाले विद्यार्थी षष्टिपथिक और शतपथिक इन अलग-अलग नामो से विख्यात थे।

अन्तिम ४० अध्यायो (काण्ड १०—१४) का जो विषय है, वह इस प्रकार का है कि केवल उसी का अध्ययन करने के लिए किसी स्वतन्त्र चरण की स्थापना सभाव्य न थी, इसीलिये उनमे तद्विषयता का नियम लागू नही हुआ। फलतः शाटचायन और भाल्लविन् के पुराण प्रोक्त ब्राह्मणो की तरह या याज्ञवल्क्य ब्राह्मण

---

१. महाभारत में याज्ञवल्क्य को शतपथ के रहस्य (काण्ड १०), संग्रह (काण्ड ११) और परिशेष (काण्ड १२—१४) कर्ता कहा गया है (शान्ति० ३१८।१५ स्वाध्याय मण्डल संस्क०; पूना संस्करण में यह अंश प्रक्षिप्त सिद्ध हुआ है)।

नामक इन नए अशो को चरण जैसी प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी। कात्यायन शुक्ल यजुर्वेद के माध्यन्दिन चरण और शतपथ ब्राह्मण के अनुयायी थे। उनकी दृष्टि में शतपथ के अन्तिम पाच काण्ड या चालीस अध्याय पहले साठ अध्यायो की अपेक्षा किसी तरह कम प्रामाणिक या प्राचीन न थे। अतएव उन्होने पाणिनि के सूत्र पर वह वार्तिक लगा दिया।

अनुब्राह्मण—अनुब्राह्मण नाम से भी कुछ ग्रन्थ प्रसिद्ध थे। उनके अध्ययन करनेवाले अनुब्राह्मणी कहलाते थे (अनुब्राह्मणादिनि.—४।२।६२)। काशिका ने ब्राह्मण के सदृश ग्रथ को अनुब्राह्मण कहा है (ब्राह्मण सदृशोऽयं ग्रंथ.)। तैत्तिरीय सहिता के भाष्य मे (१।८।१) भट्ट भास्कर ने तैत्तिरीय ब्राह्मण के विशेष अश को (१।६।११।१) अनुब्राह्मण कहा है (वेवर, इतिहास, पृ० ८२, पाद टिप्पणी)। शाखायन श्रौतसूत्र के अध्याय १४-१५ को कौषीतकी ब्राह्मण का ही अंश माना जाता था और सुयज्ञ ने कौषीतकी श्रौत सूत्र मे उसका ग्रहण किया है। आनर्तीय ब्रह्मदत्त नामक टीकाकार ने उन्हे अनुब्राह्मण कहा है (शाखायन श्रौत १४।२।३; भगवद्दत्त वैदिक वाङ्मय १।११३)। आर्षेय ब्राह्मण मे तो उस ग्रन्थ को स्वयं ही अनुब्राह्मण कहा है। आश्वलायन श्रौत, वैतान श्रौत सूत्रो मे अनुब्राह्मण ग्रन्थो का उल्लेख है। वैदिक पारायण के अन्त मे कहा जाता था—सब्राह्मणनि सानु ब्राह्मणनि प्राजापत्यानि बौधायन गृह्य० ३।१२७)। वाधूल सूत्र से सबन्धित एक गौण ब्राह्मण ग्रन्थ का पता लगा है, जिसे अनुव्याख्यान कहा गया है, वह भी अनुब्राह्मण ही रहा होगा (भगवद्दत्त, वही २।३४; और भी, बौधायन गृह्यसूत्र ३।१।२१-२४)।

उपनिषद्—कुछ लोगो का ऐसा मत था कि पाणिनि को उपनिषदो का परिचय न था। किन्तु यह ठीक नही है। जहाँ तक आचार्य का संबन्ध है, उन्होने ऋगयनादिगण में (४।३।२३) उपनिषद् शब्द का पाठ किया है, और स्वयं सूत्रकार की दृष्टि से गणपाठ मे आए हुए शब्द उतने ही प्रामाणिक थे, जितने सूत्रो के। भाषाशैली के आधार पर बृहदारण्यक उपनिषद् निश्चयेन पाणिनि से प्राचीन था। तथ्य यह है कि साहित्यिक विकास की दृष्टि से पाणिनि उस युग में थे जब छन्द ब्राह्मण अनुब्राह्मण, श्रौतसूत्र और धर्मसूत्रो का भी विकास हो चुका था। स्वभावत उपनिषदो का युग तो उससे पहले ही बीत चुका था। सूत्र १।४।७९ में पाणिनि ने जीविकोपनिषदावौपम्ये सूत्र मे उपनिषद् का उल्लेख किया है। वहाँ यह शब्द ग्रथविशेष के लिए नही, बल्कि रहस्य या गुप्त बात के लिये आया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में 'औपनिषदिकम्' नामक अध्याय मे इस शब्द का जो अर्थ है, वही अर्थ पाणिनि के सूत्र में भी लिया गया है। मूल मे उपनिषत् शब्द का अर्थ रहस्य विद्या का प्रतिपादन करनेवाला ग्रन्थ विशेष था। कालान्तर में वही कुछ कुत्सित अर्थ में प्रयुक्त

होने लगा, जैसा कि कौटिल्य में है, जहाँ गुप्तचर विभाग द्वारा प्रयुक्त छलकपट के लिये वह शब्द चल गया था। पाणिनि ने उपनिषदमिव कृत्वा = उपनिषत् कृत्य इस अर्थ में इस शब्द का उल्लेख किया है, जो कि उपनिषदो के युग से बहुत दूर और कौटिल्य युग के निकट का अर्थ है। कीथ का भी यही मत है (तैत्तिरीय-संहिता, हर्वर्ड ग्रन्थ-माला, पृ० १६७)।

कल्पसूत्र—प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रोक्त कल्पग्रन्थो का उल्लेख सूत्रकार ने किया है (४।३।१०५)। पैङ्गीकल्प और आरुणपराजी कल्प उसके उदाहरण हैं। ये दोनो इस समय नही मिलते। स्वय सूत्रकार ने काश्यप और कौशिक ऋषियो के दो चरणो का उल्लेख किया है—काश्यपिनः कौशिकिन., जिनमे कात्यायन के मत से कल्पसूत्रो का अध्ययन किया जाता था। इन चरणो के पास अपने छन्द या ब्राह्मण ग्रन्थ न थे (काश्यपकौशिक ग्रहणं च कल्पे नियमार्थम्)।

पतजलि ने पराशर कल्प का भी उल्लेख किया है, जो ऋग्वेद के पाराशर चरण से संवन्धित था। पाणिनि मे तो इस चरण के भिक्षु सूत्र का ही उल्लेख है।

कल्पग्रन्थो का मुख्य विषय यज्ञीय कर्णकाण्ड था। यज्ञो के विविध अगो पर आश्रित एवं यज्ञ विधियो की व्याख्या करने वाले बहुत से विशेष ग्रन्थो या पद्धतियो का निर्माण उस युग की आवश्यकता थी। पाणिनि ने इस प्रकार के विस्तृत साहित्य का सूत्रो मे ही उल्लेख किया है, जिसे उन्होंने व्याख्यान-साहित्य के अन्तर्गत रखा है। वाजपेय और अग्निष्टोम जैसे ऋतु या सोम यज्ञो पर, अथवा पाकयज्ञ नवयज्ञ जैसे हविर्यज्ञो पर व्याख्यान ग्रन्थो की रचना उस समय की जा रही थी (४।३।६८)। आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक, पाकयज्ञिक, नावयज्ञिक इत्यादि उदाहरणो से उनके नामो की सूचना मिलती है। अलग-अलग देवताओ के लिये पुरोडाश बनाना उस समय के कर्मकाण्ड का अग था, उसके लिये भी छोटी पद्धतियो की आवश्यकता थी, जो पुरोडाशिक कहलाती थी। पुरोडाश बनाने मे जिन मत्रो का ग्रहण होता था, उनकी सरल व्याख्या करने वाली छोटी पुस्तकें पौरोडाशिक कही जाती थी। साधारण ज्ञान रखने वाले ऋत्विजो के लिये इस प्रकार के सहायक ग्रथ आवश्यक थे। अध्वर या सोम यज्ञों पर व्याख्यान ग्रन्थ आध्वरिक और उनके लिये तैयारी करने की विधि वतानेवाले छोटे ग्रथ पौरश्चरणिक कहलाते थे (४।३।७२)। पाणिनि ने प्रथम नामक ग्रथ का उल्लेख किया है (४।३।७२)। उसका व्याख्यान ग्रन्थ प्राथमिक कहलाता था। वसन्तादिगण में भी इस ग्रथ का नाम है (४।२।६३)। उसके पढने-पढ़ाने वाले प्राथमिक कहलाते थे। वही उसके साथ गुण नामक ग्रन्थ का भी नाम है, जिसके अध्येतृ-वेदितृ गौणिक कहे जाते थे। वस्तुत. प्रथम और गुण इन दो ग्रंथो का विषय प्रधान और उपसर्जन के विषय मे विचार करना था। गुरु और

शिष्य, पिता और पुत्र इनमे कौन प्रधान, कौन गौण है, इस प्रकार का निर्णय देनेवाले ग्रथ उस समय अवश्य थे। उन्ही के लिये प्रथम और गौण ये नाम आए हैं। (४।३।८८) सूत्र के उदाहरण मे गौण मुख्य नामक जिस ग्रथ का उल्लेख है, वह भी प्रधान और उपसर्जन विषय पर आश्रित था। इसी पृष्ठभूमि में पाणिनि का कालोपसर्जने च तुल्यम् (१।२।५७) यह प्रतिषेध सूत्र रचा गया जिसमें कहा है कि प्रधान और उपसर्जन का निर्णय करना वैयाकरणो का काम नही, उसे लोक से ही जान लेना चाहिए।

व्याख्यान ग्रन्थो मे ऐष्टिक पाशुक का काशिका ने उल्लेख किया है, जो प्राचीन व्याख्यान ग्रन्थ थे। जैसा ऊपर कहा गया है दर्श-पौर्णमासेष्टि की व्याख्या करनेवाले शतपथ ब्राह्मण के पहले दो काण्डो का नाम ऐष्टिक था और उसी के तृतीय से पञ्चम काण्डो का पाशुक।

पारायण सम्बन्धी साहित्य—यज्ञो के समान ही वैदिक पारायण का व्याख्यान करनेवाले ग्रथो की भी आवश्यकता थी। वेद के क्रमपाठ और पदपाठ का अध्ययन करनेवाले छात्र क्रमक और पदक कहे जाते थे। ऋगयन का तात्पर्य ऋग्वेद के पारायण से था, जिसकी विधि का व्याख्यान ग्रन्थ आर्गयन कहलाता था (४।३।७३)। उक्थादिगण मे क्रमेतर शब्द का उल्लेख है, जिसमे क्रमपाठ के अतिरिक्त संहिता और पद जैसे पाठो का ग्रहण होता था। सूत्र ७।३।६६ मे प्रवाच्य नामक विशेष पाठवाले ग्रथ का उल्लेख है (प्रवाच्यो नाम पाठविशेषोपलक्षितो ग्रंथोऽस्ति, काशिका)। किन्तु उसका निश्चित अर्थ ज्ञात नही है। पारायण कराते समय गुरु-शिष्य जिस विधि से मन्त्रो का उच्चारण और अनुकरण करते हैं, उसे चर्चा कहा जाता था (३।३।१०५)। चर्चा मे मन्त्र के एक-एक पद का विगृहीत पाठ किया जाता था, जैसा भाष्य मे लिखा है (न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यान वृद्धि. आत् ऐजिति, पस्पशाह्निक)। चरणव्यूह के अनुसार छन्द या वेद कण्ठस्थ करने मे चर्चा मुख्य साधन है। पहले मन्त्र बोलनेवाला गुरु श्रावक कहलाता था। मन्त्र सुनकर उसे दोहरानेवाला शिष्य चर्चक कहलाता था। जो मन्त्र पढकर सुनाया जाता है, उसे श्रवणीय कहा जाता था। पारायण की समाप्ति को श्रवणीयपाद कहा गया है। पारायण के अन्त मे जो ऋचा पढी जाती थी उसे उत्थापनी ऋच् कहते थे। (कौशिक सूत्र)। उत्थापन करने के लिये जो होम आदि कर्म किया जाता था वह उत्थापनीय कहलाता (अनुप्रवचनादि गण, ५।१।१११)। चर्चा मे पारगत हुआ विद्वान् चर्चिक कहलाता था (उक्थादिगण, ४।२।६०)।

पदपाठ के सम्बन्ध का ग्रथ पदव्याख्यान और पुन उस पद व्याख्यान ग्रथ को व्याख्यातव्य मानकर उसका भी व्याख्यान पादव्याख्यान कहलाता था (ऋगयनादिगण, ४।३।६३)। पदपाठ के एक-एक पद के अर्थों की व्याख्या इस प्रकार के विशिष्ट

ग्रन्थो का विषय रहा होगा। ऐसे ही प्रतिपद का व्याख्यान करनेवाले ग्रन्थ अनुपद कहलाते थे, जिनका अध्ययन करनेवाले अनुपदिक कहे जाते थे (वेबर, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ८४)। शौनक ने यजुर्वेद के अनुपद ग्रन्थ का उल्लेख किया है, जिस पर महीदास का कहना है कि इस प्रकार के ग्रन्थ मे प्रत्येक पद के लिये उसका पर्याय दिया जाता था (अनुपदे अनुपदं कर्तव्यम्)। सामवेद के सूत्र ग्रन्थो मे दस प्रपाठको वाला अनुपद ग्रन्थ भी है जिसमे पञ्चविंश और षड्विंश ब्राह्मणो की प्रतिपद व्याख्या है (वेबर, वही, पृ० ८०)।

उक्थ—उक्थ नामक ग्रंथ का अध्ययन करनेवाले छात्र को औक्थिक कहा गया है। सम्भवतः उक्थ सामवेद का पार्षद ग्रंथ था। पतञ्जलि का कहना है—उक्थ किसे कहते हैं ? साम उक्थ हैं। यदि ऐसा है तो सभी सामगान करनेवाले औक्थिक कहे जाएगे। नही, यदि उक्थों का निरूपण करनेवाले ग्रंथ को उक्थ मान लिया जाय तो यह दोष नही पड़ेगा (भाष्य, ४।२।६०)। भाष्य के आधार पर कैयट का कथन है कि सामवेद के एक लक्षणग्रन्थ का नाम उक्थ था। ऋग्वेद की उन ऋचाओ का चुनाव जिनका पाठ होता द्वारा किसी विशेष अवसर पर होता था, शस्त्र कहलाता है। ऐसे पी उद्गाता द्वारा गेय सामो के संग्रह को उक्थ कहते थे। उक्थो का निश्चय सामवेदीय चरणो की परिषदो का कर्तव्य था। उसके लिये जिस ग्रन्थ का निर्माण हुआ वह उक्थ हुआ और उसे पढने-पढाने वाले लोग औक्थिक कहे गए।

ज्योतिष—राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः (१।४।३९) सूत्र मे ज्योतिष सम्बन्धी फलादेश की पूछताछ का उल्लेख है। पाणिनि ने समय मे ऐसा साहित्य अस्तित्व मे आ चुका था। ऋगयनादिगण मे उससे सम्बन्धित कुछ विशेष शब्द हैं, जैसे उत्पात, सवत्सर, मुहूर्त, निमित्त। इनमें से प्रत्येक अध्ययन का विषय था और उनके अध्येता औत्पातिक, सांवत्सरिक, मौहूर्तिक और नैमित्तिक कहे जाते थे। शरीर के लक्षणो से किसी व्यक्ति का भाग्यकथन और निमित्त या शकुनो से भविष्यकथन, ये उस समय के सामान्य विश्वास थे, जिनका बौद्ध साहित्य में प्राय. उल्लेख आता है। पाणिनि ने इसी अर्थ में लक्षण शब्द का प्रयोग किया है (लक्षणे जाया पत्योष्टक् , ३।२।५२; अमनुष्यकर्तृकेच, ३।२।५३, पतिघ्नी पाणिरेखा; जायाघ्नस्तिलकालक., काशिका)। ब्रह्मजाल सुत्त में निमित्त उप्पाद और अङ्गविज्जा के अध्ययन को भिक्षुओ के लिये वर्जित माना है (दीघनिकाय, ब्रह्मजाल सुत्त)। ऋगयनादि गण मे उत्पात और उत्पाद दोनो का पाठ मिलता है, किन्तु ब्रह्मजाल सुत्त मे उप्पाद (संस्कृत उत्पाद) ही पाठ है। बुद्धघोष ने बिजली, धूमकेतु आदि शकुनो को उप्पाद कहा है (जातकट्ठकथा, १।३७४)। किन्तु ५।१।१८ सुत्र मे पाणिनि ने उत्पात शब्द का ही प्रयोग किया है जिसे काशिका में शुभ और अशुभ का सुचक महाभूत परिणाम

कहा है। कौटिल्य ने मौहूर्त्तिक और नैमित्तिक लोगो का उल्लेख किया है। यवन राजदूत मेगस्थने ने लिखा है—विशेषज्ञ लोग नर्ष के आरम्भ में एकत्र होकर दुर्भिक्ष और सुभिक्ष, वृष्टि और सूखा एवं हवाओ के विषय में भविष्यकथन करते हैं (दिओदोर, २।४०)। यही पाणिनि के सांवत्सरिक होने चाहिएँ (ऋगयनादिगण)।

दार्शनिक साहित्य—पाणिनि के समय से पूर्व ही दार्शनिक चिन्तन पराकाष्ठा को पहुँच गया था। किसी सिद्धान्त या मत को मति या दृष्टि (पाली, दिट्ठि) कहा जाता था। आस्तिक, नास्तिक और दैष्टिक (नियतिवादी) दर्शनो का सूत्र में उल्लेख है। दिष्टिवाद या नियतिवाद के मुख्य आचार्य मस्करी गोशाल थे। लोकायत दर्शन नास्तिक दर्शन था। उक्थादिगण मे उसका पाठ प्रामाणिक माना जा सकता है। सूत्रो में न्याय शब्द तीन वार आया है (३।३।१२२; ३।३।३७; ४।४।९२)। किन्तु न्यायदर्शन से उसका तात्पर्य नही है। वह तो समयाचार या पूर्वकाल से प्राप्त नियम, धर्म या दस्तूर के अर्थ मे आया है। पर न्यायशास्त्र का जो विषय है उसकी शब्दावली का कुछ आभास कई सूत्रो मे है, जैसे निगृह्यानुयोगे सूत्र मे (८।२।९४)। निग्रह और अनुयोग न्याय के पारिभाषिक शब्द थे[1] (न्यायदर्शन, ५।२।१; ५।२।२३)। किसी प्रतिपक्षी के मत का खण्डन करके पहले उसका मुँह वन्द कर दिया जाय और फिर उसे चिढाया जाय इस प्रकार का वाक्य इस सूत्र की पृष्ठभूमि है, जैसे 'अनित्यः शब्द इत्यात्थ', शब्द अनित्य है, यही तुम कहने चले हो? वादविवाद मे निगृह्य शब्द का प्रयोग महाभारत में भी आया है (आरण्यकपर्व १३२।१३, १७)। मीमांसा शब्द का भी गणपाठ में उल्लेख आया है। इस विषय का अध्ययन होने लगा था। उसके छात्र मीमांसक कहलाते थे (क्रमादिभ्यो वुन्, ४।२।६१, मीमांसामधीते वेद वा मीमासक', ३।१।६, मीमासते)।

वास्तुविद्या—ऋगयनादिगण में वास्तुविद्या, क्षत्रविद्या और अंगविद्या का भी पाठ है। ब्रह्मजालसुत्त में भी ये वत्थुविज्जा, खत्तविज्जा अगविज्जा एक साथ पढी हैं।

भिक्षुसूत्र—पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षुसूत्रो का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है (४।३।११०; १११)। वेवर का मत है कि यहाँ पाणिनि बुद्ध काल से पूर्व के ब्राह्मणभिक्षुओ का उल्लेख कर रहे हैं।

कर्मन्द के ग्रन्थ के विषय मे अधिक ज्ञात नही है, किन्तु पाराशर्यकृत भिक्षुसूत्र

---

१. चरक में निग्रह स्थान और अनुयोग की व्याख्या की है—यत् तद्विद्यानां तद्विद्यैरेव सार्धं तन्त्रे तन्त्रैकदेशे वा प्रश्नः प्रश्नैकदेशो वा ज्ञान विज्ञान वचन प्रतिवचन परीक्षार्थं मादिश्यते। यथा नित्यः पुरुष इति प्रतिज्ञाते यत्परः को हेतुरित्याह सोऽनुयोगः (विमानस्थान, ८।५२; और भी निगृह्यानुयोग की व्याख्या, विमान० ८।६५)।

वर्तमान वेदान्त सूत्र ज्ञात होते हैं, जो कि उपनिषदो पर आश्रित हैं। कुछ विद्वानो का मत है कि भिक्षुसूत्रो मे साख्य सूत्रो का पूर्व रूप था। उसकी रचना भिक्षु पञ्चशिख ने की थी। महाभारत के अनुसार वह पाराशर्य गोत्रीय था[1] पञ्चशिख के इस सूत्रग्रंथ का झुकाव वेदान्त की ओर अधिक था। कुछ भी हो मूल भिक्षुसूत्रो की रचना वैदिक चरण के अन्तर्गत हुई, व्यक्ति विशेष का उनके साथ सम्बन्ध आनुषङ्गिक था। मुलत. ऋग्वेद की वाष्कल शाखा के अन्तर्गत पाराशर्यचरण की स्थिति थी। इसी चरण के कल्पसूत्र का अध्ययन करनेवाले पाराशर कल्पिक या पराशरा' और भिक्षुसूत्रो के अनुयायी पाराशरिण. कहलाते थे।

नटसूत्र—सूत्र ४।३।१२९ मे जिस नाटच का उल्लेख है, वह भी नटो से सम्बन्धित कोई ग्रथ था। काशिका में लिखा है उस नाटच ग्रन्थ की आम्नाय या छन्दः जैसी प्रतिष्ठा थी (चरणाद् धर्माम्नाययोः, तत् साहचर्यात् नट् शब्दादपि धर्माम्ना ययोरेव भवति)। शिलाली और कृशाश्व आचार्यों के चरणो में नटसूत्रो का जो विकास हुआ था वह प्रतिष्ठा मे किसी आम्नाय ग्रथ से कम न था (४।३।११०–१११) भरत के नाटचशास्त्र मे नटो को शैलालक कहा गया है। पाणिनि ने उन्हे शैलालिनः कहा है। भारतवर्ष की यह प्रथा है कि कोई भी महत्वपूर्ण शास्त्रीय ग्रन्थ सर्वथा लुप्त न होकर पीछे के ग्रंथ मे विलीन हो जाता था। इस साहित्यिक प्रथा को प्रतिसंस्कार कहते थे। सम्भावना यही है कि शिलालिन् के नटसूत्रो की सामग्री वर्तमान नाटचशास्त्र मे परिगृहीत कर ली गई। उस विषय का अध्ययन ऋग्वेद के चरण के अन्तर्गत आरम्भ हुआ था। शिलालि-चरण के अन्तर्गत एक ब्राह्मण ग्रन्थ का भी विकास हुआ था, आपस्तम्ब श्रौतसूत्र मे उसे शैलालि ब्राह्मण कहा गया है (६।४।७)। किसी समय जिस नाटच विद्या का इतना समानित पद था, कालान्तर में उसका सामाजिक ह्रास होने लगा। कहाँ पाणिनि के समय मे या उनसे पूर्व नटसूत्रो को वैदिक चरण में स्थान मिला था और कहाँ पतजलि उसे नियमपूर्वक अध्ययन के क्षेत्र से वहिर्भूत मानते है ! न तो अध्यापन करानेवाले नटो को 'आख्याता' गुरु माना जाता था, और न उनके अध्यापन को उपयोग ही (आख्यातोपयोगे १।४।२९)।[2]

---

१. पारासर्यसगोत्रस्य वृद्धस्य सुमहात्मनः। भिक्षोः पञ्चशिखस्याहं शिष्यः, परमसंमतः॥
शान्तिपर्व, पूना (३०८।२४)।

२. भाष्य—उपयोग इति किमर्थम्? नटस्य शृणोति, ग्रन्थिकस्य शृणोति। उपयोग इत्युच्यमानेऽप्यत्र प्राप्नोति, एषोऽप्युपयोगः। आतश्च उपयोगे। यदारम्भकाः रङ्ग गच्छन्ति नटस्य श्रोष्यामो ग्रन्थिकस्य श्रोष्यामः। एव तर्हि उपयोग इत्युच्यते। सर्वश्चोपयोगः तत्र प्रकर्षगति विज्ञास्यते, साधीयो य उपयोग इति? कश्च साधीयः यो ग्रन्थार्थयोः। अथोपयोगः को भवितुमर्हति यो नियमपूर्वकः तद्यथा उपयुक्ता माणवका इत्युचन्ते य एते नियमपूर्वक मधीतवन्तो भवन्ति। इसका भाव यह है कि नट लोग रंगभूमि में आकर साक्षात अभिनय द्वारा नाटच का ज्ञान कराते थे। ग्रन्थ या अर्थ विज्ञान

सूत्र ३।२।२१ मे पाणिनि ने नान्दीकर का उल्लेख किया है। नाटक के आरंभ में नान्दी पाठ करनेवाले के लिये यह सज्ञा प्रयुक्त होती थी।

आख्यान और काव्य—पाणिनिकालीन सूत्र युग मे श्लोक और गाथाओ का भली प्रकार प्रचार हो गया था। उनके रचयिता श्लोककार और गाथाकार कहलाते थे (३।२।२३)। आख्यानो का भी विशाल साहित्य अस्तित्व मे आ चुका था (६।२।१०३)। आख्यानो के उदाहरण मे पतंजलि और काशिका ने भार्गव राम और ययाति के प्राचीन आख्यानो वाले ग्रन्थो का उल्लेख किया है। इनमे से प्रत्येक दो भागो मे बटा हुआ था। उनकी सज्ञा पूर्वाधिराम और अपराधिराम, एवं पूर्वयायात और अपरयायात थी। महाभारत के ययाति उपाख्यान की पुष्पिका में दोनों नाम आए हैं (आदिपर्व, पूना सस्क० अध्याय ७०-८० पूर्वयायात, अध्याय ८१-८८ उत्तरयायात)।

काव्य साहित्य के अन्तर्गत पाणिनि ने शिशुक्रन्दीय, यमसभीय और इन्द्रजननीय का उल्लेख किया है (४।३।८८)। शिशुक्रन्दीय संभवतः कृष्णजन्म की कथा पर आश्रित था, जिसमें जन्म के समय शिशु कृष्ण के रोने मे कथा का पट परिवर्तन होता है। दूसरे यमसभीय काव्य मे यम की सभा से सबन्धित किसी कथा का आधार था। संभव है नचिकेता के यम के पास जाने की कथा पर आश्रित हो। इन्द्रजननीय ग्रन्थ मे इन्द्र के जन्म और वृत्रासुर के वध की वस्तुकथा होनी चाहिए, जो कि अत्यन्त प्राचीन उपाख्यान था।

महाभारत—पाणिनि ने भारत और महाभारत इन दोनो का उल्लेख किया है (६।२।३८)। आश्वलायन गृह्य सूत्र मे भी भारत और महाभारत का इसी प्रकार एक साथ उल्लेख है।[1] भारत चतुर्विशति साहस्री सहिता का नाम था। उसमें धर्मनीति दर्शन आदि के अनेक उपाख्यान जोडकर जो उपबृंहण किया गया उससे शतसाहस्री संहिता महाभारत का स्वरूप बना। यह बृहत् सस्कार भार्गवो ने किया। इस नए सस्करण को इतनी सफलता प्राप्त हुई कि मूल ग्रन्थ जिसका नाम भारत था भूल में पड गया और आगे चलकर बिलकुल लुप्त हो गया। आश्वलायन गृह्य-सूत्र के समय तक मूल भारत काव्य महाभारत से अलग भी विद्यमान था। (सुकथनकर, भृगुवश और भारत, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, श्रावण (१९९७)।

वृत्ति—पाणिनि ने दो अर्थों में वृत्ति शब्द का प्रयोग किया है। एक तो

की परिपाटी से उनका पाठ नहीं चलता था और न वे नियमपूर्वक उपनयनादि कराकर अपने शास्त्र का अध्यापन कराते थे।

१. अथ ऋषयः शतर्चिनो माध्यमाः गृत्समदो विश्वामित्रो वामदेवोऽत्रिर्भारद्वाजो वशिष्ठः प्रगाथाः पावमान्यः क्षुद्रसूक्ता महासूक्ता इति। प्राचीनावीती-सुमन्तु-जैमिनि वैशम्पायन-पैल सूत्र भाष्य भारत-महाभारत धर्माचार्याः (आश्वलायन गृह्य, ३।४; प्रथम प्राच्य समेलन लेखसंग्रह, २।६०)।

शिल्प या रोजगार के लिये ५।१।१०१; ४।१।४२ जिसमे लगा हुआ व्यक्ति वार्त्त या वृत्तिमान् इस प्रतिष्ठित संज्ञा का अधिकारी होता था। दूसरे ग्रथ की टीका को भी वृत्ति कहा जाता था, जैसे सूत्र १।३।३८ मे (वृत्तिसर्गतायनेपुक्रमः)। ऋक्षु अस्य क्रमते बुद्धिः, ऋग्वेद की व्याख्या मे इनकी बुद्धि बहुत चलती है (काशिका), इस उदाहरण मे वेद मत्रो के व्याख्यान को वृत्ति माना है। मंत्रो के प्रत्येक पद का विग्रह और उनका अर्थ यही इन आरम्भिक वृत्तियो का स्वरूप था, जैसा शतपथ की मत्रार्थ शैली से ज्ञात होता है। पतंजलि ने व्याकरण के सूत्रो के व्याख्यान के लिये भी उसी शैली का उल्लेख किया है (चर्चा, उदाहरण, प्रत्युदाहरण, पस्पशाह्निक)। पाणिनि के समय से ही सूत्रो पर इस प्रकार की वृत्ति की आवश्यकता थी और वह अवश्य बनी होगी।

अध्याय ५, परिच्छेद ४—व्याकरण विषयक सामग्री

व्याकरण—अष्टाध्यायी से व्याकरण के इतिहास के सबन्ध मे भी कुछ प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध होती है। प्राचीनकाल में व्याकरण शास्त्र का बहुत विस्तार था; अब केवल अष्टाध्यायी उसका एकमात्र प्रामाणिक ग्रन्थ बच गया है।

व्याकरण को शब्द विद्या और वैयाकरण को शब्दकार (३।२।२३) या शाब्दिक (४।४।३४) भी कहते थे (शब्द करोति शाब्दिकः)।

पूर्ववैयाकरण—शाकटायन और पतञ्जलि के बीच में शब्द विद्या या व्याकरण-शास्त्र का बहुत अधिक उत्कर्ष हुआ था। अनेक प्रमाणभूत आचार्यों ने अपने प्रातिभ ज्ञान से शब्द के विषय मे गहन और विस्तृत ऊहापोह करते हुए ग्रन्थो की रचना की। प्रातिशाख्य निरुक्त और अष्टाध्यायी मे लगभग ६५ आचार्यों के नाम आये हैं। (सूची के लिये पूर्व पृष्ठ देखिए) यास्क के समय मे निरुक्त के अध्ययन से भी अधिक व्याकरण का महत्त्व हो गया था, उन्होने निरुक्त को व्याकरण का पूरक कहा है (व्याकरणस्य कात्स्न्र्यम्)। कालान्तर मे व्याकरण की यह पदवी और अधिक उच्च हुई। एक प्रकार से वैयाकरण लोक पर छा गए और लोकजीवन के विविध अङ्गो का प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करके उन्होंने अपने शास्त्र मे शब्दो का सग्रह किया और व्याकरण की रचना की—

शब्दास्सुबहवः संकलिताः, तानादाय पाणिनिना स्मृतिरुपनिबद्धा (४।१।११४, काशिका)। पतजलि ने व्याकरण को सब वेदागो मे मुख्य कहा है। उसकी इस स्थिति में आजतक कोई अन्तर नही आया है। विद्याओ के आपेक्षिक मुल्याकन में व्याकरण को वेद का चक्षु कहा गया। यह सत्य ही है, क्योकि प्रकृति और प्रत्यय के विश्लेषण द्वारा शब्द के मूल अर्थ तक पहुँचने की जैसी युक्ति व्याकरण से प्राप्त होती है, अन्य वेदागो से नही।

पाणिनि से पूर्व जो अनेक आचार्य थे उनमें से निम्नलिखित पूर्वाचार्यों का अष्टाध्यायी में नामतः उल्लेख हुआ है। (१) शाकटायन (३।४।१११, ८।३।१८, ८।४।५०)—यास्क के अनुसार शाकटायन का मत था कि सब नाम या संज्ञाएं धातुओं से बनती हैं। सूत्र १।४।८६-८७ पर काशिका मे एक उदाहरण सुरक्षित रह गया है—अनुशाकटायन वैयाकरणा, अर्थात् सब वैयाकरण शाकटायन से घट कर हैं। यह उस पूर्व युग का उदाहरण है जब शाकटायन का यश सूर्य के समान तप रहा था और पाणिनि की उदयोन्मुखी ख्याति क्षितिज पर थी।

(२) शाकल्य (१।१।१६, ६।१।१२७, ८।३।१९, ८।४।५१)—शाकल्य ने ऋग्वेद का पदपाठ स्थिर किया। पदपाठ में जो इति का प्रयोग है, उसे पाणिनि ने शाकल्य कृत अनार्ष इति कहा है (१।१।१६)। उसे ही ६।१।१२९ सूत्र में उपस्थित कहा गया है। सूत्र ३।२।२३ में पदकार का उल्लेख है, जो सम्भवतः शाकल्य ही हैं।

(३) आपिशलि (६।१।९२)—यह पाणिनि से पूर्व विशिष्ट वैयाकरण थे। पतजलि ने आपिशल पाणिनीय-व्याडीय-गौतमीया. इस प्रकार पौर्वापर्य क्रम से इन चारो के शिष्यो का उल्लेख किया है (६।२।३६)। काशिका मे उल्लेख है कि आपिशलि के व्याकरण में गुरु और लघु सम्बन्धी नियमो का विशेष रूप से प्रतिपादन किया गया था (आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् ६।२।१४) सम्भव है पाणिनि के ह्रस्व दीर्घ प्रकरण में आपिशलि की सामग्री का उपयोग किया गया हो।

(४) गार्ग्य (७।३।९९, ८।३।२०, ८।४।६७)—यास्क ने धातुओं से नाम की उत्पत्ति के विषय मे गार्ग्य के मत का उल्लेख किया है। ऋक् और यजुः प्रातिशाख्य मे भी गार्ग्य का नाम आया है।

(५) गालव (६।३।६१, ७।१।७४)—निरुक्त और ऐतरेय आरण्यक में (५।३) गालव का मत उद्धृत किया गया है। शैशिरिशाखा में गालव को शौनक का और शाकटायन को शौशिरि का शिष्य कहा है। गालव का चरण देवमित्र शाकल्य के चरण का अवान्तर विभाग था (भगवद्दत्त, वैदिक वाङ्मय १।८३)। शान्तिपर्व में उल्लेख है कि बाभ्रव्य पाञ्चाल नाम के आचार्य ने पहले क्रम-पाठ निश्चित किया था। फिर गालव ने एक शिक्षा की रचना की और उसी क्रम पाठ को सुव्यवस्थित किया।[1]

---

१. पाञ्चालेन क्रमः प्राप्त स्तस्माद् भूताद सनातनात्।
बाभ्रव्य गोत्रः स बभौ प्रथमः क्रमपारगः॥
नारायणाद् वरं लब्ध्वा प्राप्य योग मनुत्तमम्।
क्रमं प्रणीय शिक्षां च प्रणयित्वा स गालवः॥
(शान्तिपर्व ३३०।३७-३८)

(६) भारद्वाज (७।२।६३)—जैसा ऊपर कहा गया है भारद्वाज ऐन्द्र व्याकरण की परम्परा मे थे। भारद्वाजीय आचार्यों ने अपने पृथक् वार्तिक बनाए थे जिनका पतंजलि ने कई बार उद्धरण दिया है (भाष्य ३।१।३८; ३।१।८९)। ऋक् और तैत्तिरीय प्रातिशाख्यो मे भारद्वाज का प्रमाण आया है।

(७) काश्यप (१।२।२५, ८।४।६६)—यजु. और तैत्तिरीय प्रतिशाख्य मे काश्यप का उल्लेख है। शान्तिपर्व ३३०।२४ से ध्वनित होता है कि काश्यप का कोई निरुक्त ग्रंथ था।

(८, ९, १०) सेनक (५।४।११२); स्फोटायन (६।१।१२३); चाक्रवर्मण (६।१।१३०)—इन आचार्यों के नाम अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्यत्र नही मिलते।

पाणिनि ने अन्य आचार्यों के मत का आचार्याणाम् इस पद से सामान्यत. उपन्यास किया है (७।३।४८, ७।४।५२) एवं कई सूत्रो में पूर्व भारत के (प्राचा) और उत्तर-पश्चिमी (उदीचां) आचार्यों का मत उद्धृत किया है।

पूर्वाचार्य सूत्र—पूर्ववर्ती जिन व्याकरणो की सामग्री पाणिनि ने अपने शास्त्र में परिगृहीत कर ली, उनमे एक भी अब नही बचा; सब विस्मृति के गर्भ मे विलीन हो गए। केवल दो-चार सूत्र ही छिटपुट मिले हैं। सूत्र ४।१।१४ पर अपने वार्तिक मे कात्यायन ने पूर्व सूत्र का उल्लेख किया है। पतजलि ने स्वीकार किया है कि अनुपसर्जनात् यह पाणिनि सूत्र किसी पूर्व व्याकरण से लिया गया था। अन्यत्र पतजलि ने एक कारिका उद्धृत की है, जिसमें कहा है कि पूर्व सूत्र में वर्ण को अक्षर कहते थे (पूर्व सूत्रे वर्णस्य अक्षरमिति सज्ञा क्रियते)।

कैयट ने २।३।१७ सूत्र पर एक पाठान्तर दिया है, जो आपिशलि के व्याकरण मे था (मन्य कर्मण्यनादर उपमाने विभाषा प्राणिष्विति आपशलिरधीते स्म)। कैयट ने यह प्रमाण किसी प्राचीन टीका से लिया होगा, क्योंकि उनके समय तक (११०० ई० से लगभग) आपिशलि के व्याकरण का अस्तित्व सम्भव नही जान पड़ता। फिर भी आपिशलि और पाणिनि दोनो मे इस सूत्र (मन्यकर्मण्य नादरे विभाषा पाणिपु) का जो पाठ है उसकी तुलना करने से यह महत्वपूर्ण तथ्य प्रकट होता है कि पाणिनि ने किस प्रकार सर्वांश में स्वल्प परिवर्तन से साथ पूर्वाचार्यों की सामग्री को अपने व्याकरण में स्थान दिया था।

पतंजलि ने १।३।२२ सूत्र के वार्तिक पर लिखा है 'अस्ति सकारमातिष्ठते'। न्यास मे इसे आचार्य आपिशलि के सूत्र की विशेषता कहा है। उनके व्याकरण में अस् धातु का रूप केवल स् (सकार मात्र) था। पतंजलि ने ४।२।४५ सूत्र के श्लोक वार्तिक मे आपिशलि विधि की व्याख्या करते हुए आपिशलि व्याकरण का एक सूत्र उद्धृत किया है—धेनुरनञि कमुत्पादयति। न्यासकार ने लिखा है कि धेनोरनञ., यह आपिशलि का सूत्र था। कात्यायन ने आपिशलि के व्याकरण का अध्ययन करने-

वाले विद्यार्थियो का नाम लिया है (पूर्व सूत्र निर्देशो वा आपिशलमधीत इति ४।१।१४ वा० ३)। पतंजलि ने आपिशलि के ग्रंथो का अध्ययन करने वाले ब्राह्मणी छात्रा को आपिशला ब्राह्मणी कहा है। पाणिनीय सूत्र ७।३।९५ का आपिशलि व्याकरण मे जो पाठ था, वह काशिका में उद्धृत है।

पाणिनीय पाठ—तुरुस्तुशम्यम' सार्वधातुके।
आपिशलिपाठ—तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुकासु छन्दसि।

काशिका का यह उल्लेख अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पतजलि ने भी इस पर ध्यान नही दिया था।

कैयट के अनुसार काशकृत्स्न के व्याकरण का एक सूत्र कात्यायन को विदित था (काशकृत्स्नस्य प्रत्ययोत्तरपदयोरिति सूत्रम्, २।१।५१ वा०)। भाष्य के अनुसार काशकृत्स्न के ग्रथ में तीन अध्याय थे (त्रिक काशकृत्स्नम् ५।१।५८ काशिका)। कैयट ने लिखा है कि पाणिनि के कौडयादि गण (४।१।८०) को कात्यायन ने किसी पहले व्याकरण के सूत्रानुसार रौढयादि लिखा है।

ये उदाहरण सख्या में बहुत ही कम हैं, फिर भी ऊपर लिखे हुए सूत्र २।३।१७ और ७।३।९५ के पाणिनि और आपिशलि के पाठो पर ध्यान देने से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व की सामग्री को किस प्रकार ध्यानपूर्वक और सर्वांश में पाणिनि ने अपने शब्दशास्त्र मे संगृहीत किया था।

पच व्याकरण—सूत्र ४।२।६० पर वार्तिक के उदाहरण में काशिका ने पंच व्याकरण. प्रयोग दिया है, जो पांच व्याकरणो का अध्ययन करनेवाले छात्रो की संज्ञा थी। ये पाँच व्याकरण कौन थे? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है कि अष्ट शाब्दिकों की जो श्लोकबद्ध सूची[1] मिलती है, उसमें से चन्द्र, अमर और जैनेन्द्र के नाम निकाल दिए जायं, तो जो शेष बचते हैं वे ही प्राचीनो के पञ्च व्याकरण थे, अर्थात् शाकटायन, आपिशलि, भारद्वाज, पाणिनि और काशकृत्स्न के व्याकरण।

पूर्वाचार्य संज्ञाएँ—अष्टाध्यायी में पाणिनि ने टि, घु, भ आदि कितनी ही नई संज्ञाएँ बनाई हैं, किन्तु अनेक महासंज्ञाएं उनके पहले से चली आती थी, जिन्हें सूत्रकार ने अपने ग्रन्थ में स्वीकृत किया, जैसे समास, अव्यय, कर्मप्रवचनीय आदि। किन्तु यहाँ इस प्रकार की संज्ञाओ की चर्चा न करके हम उन संज्ञाओ का नामोल्लेख करना चाहते हैं, जो पाणिनि मे पूर्वकाल के ऐन्द्र आदि व्याकरणो में प्रचलित थी। जिस समय पाणिनीय शास्त्र का निर्माण हो गया, उस समय भी उन संज्ञाओ का प्रचलन बन्द नही हुआ। आश्चर्य तो यह है कि पाणिनीय शास्त्र की परम्परा में ही पूर्वाचार्य संज्ञाओं का उपयोग होता रहा। वहीं से उनका अच्छा संग्रह प्राप्त होता है—

---

१. इन्द्रश्चन्द्रः काशकृत्स्नापिशली शाकटायनः। पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टादिशाब्दिकाः॥

(१) अद्यतनी + सुड् (२।४।३ सूत्र पर वार्तिक; ३।१।१०२ वा० ६)।

(२) अभिनिष्ठान (८।३।३६) = निसर्जनीय (श्री सूर्यकान्त, पंजाब ओरियण्टल रिसर्च जर्नल १।१३-१८)।

(३) आत्मनेभाषा = आत्मनेपद (भाष्य ६।३।७-८)।

(४) आर्धधातुका = आर्धधातुक (२।४।३५ भाष्य)।

(५) आङ् = टा (७।३।१२०)।

(६) (अ) उपग्रह = आत्मनेपद (३।२।१२७ वा० ५ पर कैयट)। न्यास ने परस्मैपद और आत्मनेपद दोनों का उपग्रह कहा है (लादेश व्यंग्य क्रिया विशेषो मुख्य उपग्रहः, इह तद्व्यक्तिनिमित्तत्वात् परस्मैदात्मनेपदयो उपग्रह शब्दो वर्तते—३।१।८५ सूत्र पर न्यास)।[1]

(६) (आ) उपग्रह = षष्ठ्यन्त (काशिका = ६।२।१३४, तत्र उपग्रह इति षष्ठ्यन्तमेव पूर्वाचार्योपचारेण गृह्यते)। वाक्यपदीय के तृतीय काण्ड का १४ वां समुद्देश उपग्रह समुद्देश कहलाता है, जिसपर हेलाराज ने लिखा है—पूर्वाचार्यप्रसिद्धयोपग्रह शब्द वाच्योऽयमर्थो व्यवह्रियतेऽत्रशास्त्रे।

(७) उपचार = अयस् कुम्भ आदि शब्दों में विसर्ग के स्थान में सुट् या सकार (४।१।१ सूत्र पर वार्तिक—नागेश की व्याख्या के अनुसार, और भी काशिका ८।३।४८। ऋक् प्रातिशाख्य और अथर्वप्रातिशाख्य) ३।१।७ विश्वबन्धु सस्क०) में भी इस परिभाषा का प्रयोग हुआ है)।

(८) उपस्थित = अनार्ष इति अर्थात् पदपाठ की इति। पाणिनि ने ६।१।१२९ सूत्र में इस शब्द का प्रयोग किया है। जहाँ पतंजलि ने उसका अर्थ 'आनर्ष इति' किया है (किमिद मुपस्थितं नाम, अनार्ष इति करणः)। ऋक् प्रातिशाख्य में यह शब्द आता है—उपस्थित सेति करणम् (१०।१२)। ६।१।१३० सूत्र पर वार्तिक (ई३ चाक्रवर्मणस्येत्यनुपस्थितार्थम्)।

(९) घु = उत्तरपद (भाष्य ७।३।३ श्लोकवार्तिक ३, किमिदं घोरिति, उत्तरपदस्येति, और भी भाष्य ६।४।१९; सूत्र ७।१।२१ के भाष्य में अघु को अनुत्तरपद कहा गया है। कीलहार्न का सुझाव था कि घु का शुद्ध पाठ द्यु होना चाहिए (इण्डियन एण्टिक्वेरी १६।१०६)।

(१०) कल्म = अपरिसमाप्त कर्म (भाष्य १।४।५१, किमिदं कल्मेति, अपरिसमाप्त कर्म कल्म)।

(११) चर्करीत = यङ्लुङन्त (६।१।६ और ६।४।९२ पर भाष्य) निरुक्त २।२८

---

१. और भी देखिए के० ए० सुब्रह्मण्य ऐय्यर, वैयाकरणों में उपग्रह का अर्थ, जर्नल आफ ओरियन्टल रिसर्च, मद्रास, भाग २३, १९५४, पृ० ७९-८८।

में चर्करीत संज्ञा का उल्लेख है। अदादिगण के अन्त मे धातुपाठ में भी वह है। कलापव्याकरण मे यङ्लुडन्त के स्थान में चर्करीत ही है। कलाप की परम्परा में कितनी ही पूर्वपाणिनीय सज्ञाएँ सुरक्षित पाई जाती हैं।

(१२) चेक्रीयित = यङ् (भाष्य ४।१।७८ श्लोकवार्त्तिक, कैयट)।

(१३) डु = षट् सज्ञा (१।४।१ सूत्र पर वा० ४३; भाष्य—का पुनर्डु सज्ञा। षट्सज्ञा)।

(१४) तणि = सज्ञा छन्दस् (भाष्य ३।२।८ वा० २, किमिदं तणीति ? संज्ञा-छन्दसोर्ग्रहणम्)। सूत्र ६।३।६३ (ङ्यापोः सज्ञा छन्दसोर्बहुलम्) में पाणिनि ने तणि न कहकर सज्ञाछन्दसोः कहा है।

(१५) ध्रौव्यार्थ = अकर्मक (३।४।१७६ में इसका प्रयोग है, किन्तु अर्थ की व्याख्या नही की गई। देखिए १।४।५० के श्लोकवार्त्तिक में ध्रुवयुक्ति जिसका अर्थ प्रदोप ने अकर्मक किया है)।

(१६) नाम = प्रातिपदिक (निरुक्त १।१। मे इसका उल्लेख है। पाणिनि ने भी सूत्र ४।३।७२ में नाम और नामिक का उल्लेख किया है। जहाँ प्रातिपदिक से ही तात्पर्य है)।

(१७) न्याय्य = उत्सर्ग (भाष्य २।३।१, न्याय्योत्पत्तिर्न भवति, कैयट। ऋक्-प्रातिशाख्य में उवट ने न्याय्य का उत्सर्ग अर्थ किया है)।

(१८) परोक्षा = लिट् या परोक्षभूत (१।२।१८ सूत्र पर श्लोकवार्त्तिक पर कैयट)।

(१९) प्रक्रम = उर: कण्ठ शिर: (१।२।३० सूत्र के वार्त्तिक २ पर भाष्य—कः पुन प्रक्रमः उरः कण्ठः शिर इति)।

(२०) प्रतिकण्ठ = निपातन (ऋक् प्राति० १।५४)। पाणिनि ने ४।४।४० सूत्र में प्रतिकण्ठ गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः का उल्लेख किया है, जिसका अर्थ निपातनसिद्ध प्रयोगों से ही है। संभवतः प्रातिकण्ठिक उस वैयाकरण को कहा गया है, जिसने पृषोदरादि के सदृश निपातन सिद्ध प्रयोगो का सग्रह या व्याख्यान किया था। पाणिनि ऐसे प्रयोगो के विषय मे व्याकरण के प्रकृति-प्रत्यय की आवश्यकता नही समझते, बल्कि लोक मे जैसा उच्चारण या व्याकरण में जैसा उपदेश किया जाता है, उसी रूप मे उन्हे स्वीकार करते हैं—पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम्, ६।३।१०९)।

(२१) प्रत्यङ्ग = अन्तरंग (भाष्य ६।३।१३८; कीलहार्न, इण्डियन एण्टिक्वेरी, १६।१०२)।

(२२) प्रसव = पुमान् (भाष्य १।२।६४ वा० ५३ पर श्लोकवार्तिक, संस्त्यानः प्रसवो लिङ्गम्)।

(२३) प्रसारण = सम्प्रसारण (१।१।२ वा० १४)।

(२४) ल = लुक् (५।२।३७ भाष्य; २।२।३७ पर हरदत्त ने लिखा है—लुक् एष पूर्वाचार्यसञ्ज्ञा)।

(२५) लः = लकारा. । सूत्र ३।४।६९ में पाणिनि ने इस संज्ञा का प्रयोग किया है। १।४।५१ श्लोकवार्तिक मे भी यह है। लट् लिट आदि लकारो के नाम पाणिनि ने प्राचीन संज्ञाओ के स्थान में स्वयं प्रचलित किए, जैसे—

भवन्ती = लट्

श्वस्तनी = लुट् (३।३।१५ पर वार्तिक)

भविष्यन्ती = लृट् (३।३।१५ पर वार्तिक)

नैगमी = लेट् (अथर्व प्राति० २।१।२)

प्रेषणी = लोट् (अथर्व प्राति० २।१।११ = २।३।२१)

ह्यस्तनी = लङ् (अथर्व प्राति० ३।२।५)

अद्यतनी = लुङ् (२।४।३ वा० २; ३।२।१०२ वा० ६; ६।४।११४ वा० ३; अथर्व० प्रा० २।२।६)

(२६) व्यक्ति = लिङ्ग । पाणिनि ने अपने सूत्र काण्ड के सूत्र १।२।५१ (लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने) मे इस सज्ञा का प्रयोग किया है, किन्तु उसकी व्याख्या नही की। काशिका मे लिखा है—व्यक्तिवचने इति च लिङ्ग सख्ययोः पूर्वाचार्य निर्देशः, तदीय मेवेद सूत्रम्।

(२७) विनाम = णत्व (शिव सूत्र ३–४ पर वार्तिक ११)।

(२८) वृद्ध = गोत्र (पतजलि ने १।२।६८ सूत्र के भाष्य में लिखा है—यावद् ब्रूयात् गोत्र यूनेति तावद् वृद्धो यूनेति। पूर्व सूत्रे गोत्रस्य वृद्धमिति संज्ञा क्रियते। काशिका ने १।२।६५ पर पूर्व व्याकरण के एक सूत्र का उल्लेख किया है—अपत्यमन्तर्हित वृद्धम् और लिखा है—वृद्धशब्द पूर्वाचार्य संज्ञा गोत्रस्य)।

(२९) संक्रम = कित् और ङित् प्रत्यय जिनका विषय गुण और वृद्धि का प्रतिषेध है (१।१।३ वा १० पर भाष्य नागेश व्याख्या)। काशिका १।१।६, संक्रमो नाम गुण वृद्धि प्रतिषेध विषय', कीलहार्न इण्डियन् एण्टिक्वेरी १६।१०२। यह शब्द अन्यत्र उपलब्ध नही है।

(३०) सन्ध्याक्षर—ए ऐ ओ औ (शिव सूत्र ३-४ पर वार्तिक)। सूत्र १।२।४ में समानाक्षर शब्द का भी प्रयोग है।

(३१) संस्थान = जिह्वामूलीय (२।४।५४ वा० ७ पर कैयट)।

(३२) ह्राद = अनुरणनघोष (सूत्र १।४।१०९, वा० ७ ह्रादो विरामः संहिता)।

व्याकरण शास्त्र का पाठ्यक्रम—पाणिनीय व्याकरण से इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि आरम्भ में व्याकरण शास्त्र के मुख्य प्रकरण क्या थे और पठन-पाठन की

क्या प्रणाली थी। कात्यायन ने प्रश्न किया है व्याकरण किसे कहा जाय और उत्तर दिया है—'लक्ष्य लक्षणे व्याकरणम्' (पस्पशाह्निक), अर्थात् लक्ष्य और लक्षण इन दोनो को मिलाने से व्याकरण बनता है। लक्षण क्या और लक्ष्य क्या ?—शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है (भाष्य)। व्याकरण पढने के पुराने ढग के बारे मे पतजलि ने लिखा है कि प्रत्येक शब्द को अलग-अलग घोटते थे (प्रतिपदोक्तानां शब्दाना शब्द पारायण प्रोवाच)। पीछे जब यह सूझ हुई कि अनेक शब्दो के रूपो में सादृश्य है, और उनके निर्माण में कुछ नियमो का अनुशासन है तो उत्सर्ग और अपवादरूपी नियम बनाए गए और नियमो को लक्षण कहा गया। सूत्र शैली में होने के कारण लक्षणो को सूत्र कहा गया। तब से सूत्र ही व्याकरण कहलाने लगे। सूत्रो का सबसे मँजा हुआ रूप पाणिनीय अष्टक में प्राप्त होता है। ऐसे लोग जो एक-एक साधु शब्द या प्रातिपदिक को अलग-अलग कण्ठ करते थे, उन्हे स्वयं पाणिनि ने प्रातिकण्ठिक कहा है। जिस समय व्याकरण के सूत्र बन गए, उस समय भी कुछ अवधि तक लक्ष्य (लोक प्रयोग) द्वारा और लक्षण (सूत्र) द्वारा व्याकरण के ज्ञान कराने की प्रक्रिया अलग-अलग चलती रही होगी। कम से कम पतजलि के समय तक इसकी परम्परा मानी जा सकती है। ४।२।६० सूत्र के श्लोक वार्तिक में लक्ष्य या प्राति-पदिक शब्दो का अध्ययन करनेवाले छात्रो को लाक्षिक और उनके सूत्रगत नियमो का अध्ययन करनेवाले छात्रो को लाक्षणिक कहा गया है (अनुसूर्लक्ष्यलक्षणे सर्वसादे द्विगोश्चल)। पहली परम्परा लक्ष्य या प्रतिपादिको द्वारा ही व्याकरण पढने की थी। पीछे नियम या सूत्रो का निर्माण हुआ और उनका नाम व्याकरण हो गया (सूत्रे व्याकरणे—किमिह तत् अन्यत् सूत्राद् व्याकरण यस्याद: सूत्रं स्यात्)। कालान्तर मे प्रतिपदोक्त शब्दो द्वारा व्याकरण के अध्ययन की पद्धति लुप्त हो गई। सूत्रो का अध्ययन ही व्याकरण ज्ञान का एक मात्र साधन माना जाने लगा।

व्याकरण के कितने विषय या प्रकरण उस समय आचार्यों के सम्मुख थे, इसका कुछ परिचय सूत्रों मे और उदाहरणो मे आए हुए विशिष्ट प्रयोगो से प्राप्त होता है जो इस प्रकार हैं—

पाणिनि ने शब्दो को दो भागो में बाँटा है—नाम (सज्ञाएं) और आख्यात (क्रियाएँ)। नामो का निरूपण करनेवाला प्रकरण नामिक और आख्यात का आख्यातिक कहलाता था (४।३।७२)। काशिका ने इन्ही के व्याख्यान परक ग्रथो को सौप और तैङ कहा है, साथ ही कार्त नामक ग्रंथ का भी उल्लेख किया है (४।३।६६)। इस समय जिन्हे सुबन्त, तिङन्त और कृदन्त कहते हैं, उन्ही के प्रतिपादक ये प्राचीन प्रकरण थे (सुपा व्याख्यान सौपो ग्रथ, तैङ., कार्त.)। प्रक्रियाकौमुदी और सिद्धान्तकौमुदी मे सुबन्त और तिङन्त का जो विभाग है, उसकी परम्परा इन शब्दो से सूचित होती है। पाणिनि ने और भी कुछ शब्दो का उल्लेख

किया है, जैसे पौर्वपदिक, औत्तरपदिक, (४।४।३९), अर्थात् पूर्वपद और उत्तरपद, विषयो पर लिखे हुए ग्रन्थ या उनके लेखको के लिये ये शब्द थे। अष्टाध्यायी मे उत्तर-पद (७।३।१०–१८) और पूर्वपद (७।३।१९।३१) के कार्यों का प्रकरण अलग है। प्रातिकण्ठिक अर्थात् प्रतिकण्ठ या प्रातिपदिक शब्दो का प्रतिपद पाठ पाणिनीय गणो मे है। सभव है इस प्रकार के संग्रह की पहले भी कोई परम्परा रही हो। शब्दो के अर्थविचार के प्रतिपादक ग्रन्थ को आर्थिक कहा जाता था। (४।४।४०)। उक्था-दिगण मे (४।२।६०) गुणागुण शब्द का पाठ है। ज्ञात होता है कि गुण और अगुण का तात्पर्य गुण वृद्धि से है (अगुण = वृद्धि)। गुणवृद्धि का अध्ययन करनेवाले गौणा-गुणिक कहलाते थे। गुण और वृद्धि इन दोनो प्रकरणो को एक साथ अथवा अलग-अलग भी पढते थे। यह काशिका के एक उदाहरण से ज्ञात होता है। सूत्र ७।२।२६ णेरध्ययने वृत्तम् पर लिखा है वृत्तो गुणो देवदत्तेन, अर्थात् देवदत्त ने 'गुण' का अध्ययन कर लिया है। पाणिनीय व्याकरणो मे भी गुणवृद्धि का सुनिश्चित प्रकरण है (६।१।८७-८८ इत्यादि उसके विधायक और १।२।१-२६ निषेध सूत्र हैं)। पत-ञ्जलि ने समास को समस्त और उसके व्याख्यान ग्रन्थ को सामास्तिक (४।२।१०४ वा० १२) एव उदात्त (अनत) और अनुदात्त (नत) स्वरो का व्याख्यान करने वाले ग्रन्थ को नातानतिक कहा है। काशिका मे इसी प्रकरण का नाम सौवर है (स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रथ· ७।३।४)।

संहिता या सन्धि के प्रकरण को साहित कहते थे (काशिका ४।३।६७)। पाणिनि ने सहितायाम् (६।१।७२) सूत्र के अधिकार मे स्वयं इस प्रकरण को अलग रखा है। षत्व और णत्व का प्रकरण भी व्याकरण मे और उससे पहले प्रातिशाख्यो मे महत्त्वपूर्ण था। मूर्धन्य विधान से संबन्धित इस प्रकरण का प्रतिपादक ग्रन्थ षात्वण-त्विक कहा जाता था (काशिका ४।३।६७)। पाणिनि ने स्वयं षत्व (८।३।५५–११९) और णत्व (८।४।१–३९) के प्रकरण को अत्यन्त सुग्रथित रूप मे अलग रखा है। सामवेद के ऋक्तन्त्र प्रातिशाख्य में भी मूर्धन्यादेश पर अलग प्रकरण है, किन्तु वह पाणिनि के जैसा प्रतिष्णात नही है।

कुछ उदाहरण ऐसे हैं जो उन प्रकरणो के अस्तित्व पर प्रकाश डालते हैं, जिनका साक्षाद्रूप से अष्टाध्यायी मे विधान नही पाया जाता, जैसे शब्दार्थसंब-न्धीयम्, (४।३।८८), शब्द और अर्थ का परस्पर क्या संबध है इसका विचार करने-वाला प्रकरण। ज्ञात होता है व्याडि के सग्रह मे शब्दार्थ सबन्ध का विस्तृत विचार था और उसी पृष्ठभूमि मे कात्यायन का सिद्धे शब्दार्थ सबन्धे वार्तिक लिखा गया। इसी प्रकार गौणमुख्यम् था, (४।३।८८), अर्थात् प्रधान और उपसर्जन (मुख्य) का विचार करनेवाला प्रकरण। इस प्रकार के ग्रन्थ भी उस समय रहे होंगे, अथवा कुछ वैयाकरण इस विषय की ऊहापोह में रुचि लेते रहे होंगे। पर पाणिनि का दृष्टि-

कोण स्पष्ट था। वे इस पचड़े मे नही पड़ते कि पिता और पुत्र, आचार्य और अन्तेवासी, राजा और मन्त्री मे कौन मुख्य और कौन गौण है। वैयाकरण को इस विषय में लोक का प्रमाण मानना चाहिए (कालोपसर्जने च तुल्यम्, १।२।५७)। जैसा पहले कहा जा चुका है सूत्र ४।३।७२ मे पाणिनि ने प्रथम के व्याख्यान ग्रन्थ को प्राथमिक कहा है एव ४।२।६३ वसन्तादि गण में प्रथम के साथ गुण का भी पाठ है। सम्भवतः ये दोनो शब्द प्रधान और उपसर्जन के लिये थे एव इस विषय का प्रतिपादन करनेवाले ग्रन्थ प्राथमिक और गौणिक कहलाते थे। आपिशलि के व्याकरण में गुरुलाघव यह स्वतन्त्र विषय था जिसका प्रथम बार विस्तृत विवेचन आपिशलि ने ही किया था (आपिशल्युपज्ञ गुरुलाघवम्, ४।३।११५, ६।२।१८, काशिका)। आपिशलि का ग्रन्थ तो लुप्त हो गया है, पर अनुमान होता है कि उसकी सामग्री पाणिनि के ह्रस्व दीर्घ प्रकरण मे सुरक्षित है (कीथ संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ५)। काशिका ने ४।३।८८ सूत्र पर वाक्यपदीयं का उल्लेख किया है, अर्थात् वाक्य और पद का प्रकरण या ग्रन्थ। यह कहना कठिन है कि यहाँ भर्तृहरिकृत विशिष्ट ग्रन्थ इष्ट था, अथवा उससे पहले भी इस विषय का प्रतिपादक कोई ग्रथ था।

पाणिनि और लोक—लोक में प्रचलित भाषा का प्रमाण मानने के विषय में पाणिनि ने अपना दृष्टिकोण सूत्र काण्ड में व्यक्त किया है (१।२।५१-५८) पाणिनि से पहले के वैयाकरण विवादास्पद विषयो पर अपनी समति देते थे, जैसा कि कात्यायन और पतंजलि द्वारा उद्धृत कई प्रसगो से विदित होता है (जैसे ३।२।१२३ सूत्र पर)। पाणिनि की यह शैली न थी। फिर भी इस विशेष प्रकरण मे उन्होंने पूर्वपक्ष रखकर फिर सिद्धान्त पक्ष में अपना मत देने का क्रम अपनाया है। वे सज्ञा या लोक मे प्रचलित सामाजिक व्यवहार और भाषा के रूपों का समर्थन करते हैं और व्याकरण के लिये उसे ही प्रमाण मानते हैं। उनकी दृष्टि में योग प्रमाण अर्थात् व्युत्पत्ति पर आश्रित शब्द के अर्थ से लोक प्रमाण या संज्ञा प्रमाण हमेशा श्रेष्ठ है (१।२।५३–५५)। क्या व्याकरण ऐसे प्रश्नो पर अपना निर्णय दे, जैसे अद्यतन, ह्यस्तन, श्वस्तन—अर्थात् आज का दिन, बीता हुआ दिन और आनेवाला दिन कब से कब तक माने जायें? कितना पहले बीता हुआ काल परोक्ष भूत लिया जाय? द्रोण की कितनी तोल है? योजन का कितना आयाम है? कौन प्रधान, कौन गौण है? ऐसे भी लोग थे जिन्हे इस बात का आग्रह था कि जब तक 'अद्य' का निर्णय न हो जाय, तब तक सूत्र चरितार्थ न होगा। ऐसे अतिवादियो के लिये पाणिनि ने डके की चोट अपना मत प्रकट किया है—

तदशिष्य सज्ञाप्रमाणत्वात् (१।२।५३)।

व्याकरण मे इन सब सामाजिक व्यवहारो के निर्णय की आवश्यकता नहीं,

क्योकि वैयाकरण की दृष्टि मे लोक की परिभाषाएँ या संज्ञाएँ अन्तिम रूप से प्रमाण मानी जाती हैं। उदाहरण के लिये आरम्भ मे यह बात ठीक थी कि जिस भूप्रदेश मे पचाल क्षत्रिय आकर बसे वह पंचाल जन के नाम से पचाल जनपद कहलाया। किन्तु इस घटना को घटित हुए बहुत समय बीत चुका था। कालान्तर में तो पचाल जनपद मे और भी बहुत से लोग आ बसे थे। लोगो को पंचाला: शब्द से पंचाल जनपद का बोध स्वत. ही हो जाता था, उस बोध का हेतु यह नही था कि वहाँ पचाल क्षत्रियो का निवास था। वैयाकरण को वस्तुस्थिति का सामना करना चाहिए। उसके लिये यह आवश्यक नही कि पंचाला शब्द का निर्वचन 'पंचाल क्षत्रियो की निवास भूमि' इस व्युत्पत्ति के आधार पर करे। ऐसे ही भाषा मे और भी सैकड़ो स्थान नाम थे, जिनके मूल भूत ऐतिहासिक कारणो का अब कुछ महत्व न रह गया था। इस दृष्टिकोण से प्रवृत्त हुआ वैयाकरण लोक मे प्रचलित शब्द रूपो के आधार पर अपनी सामग्री का सकलन और शास्त्र की रचना करता है।

संज्ञा प्रमाण—सज्ञा प्रमाण या लोक के प्रति पाणिनि की जो प्रवृद्ध आस्था थी, उसका सुन्दर सुफल हुआ। उनका दृष्टिकोण ठीक वैसा ही बन गया जैसा महाभारत मे लिखा है—

> सर्वार्थाना व्याकरणाद् वैयाकरण उच्यते।
> प्रत्यक्षदर्शी लोकाना सर्वदर्शी भवेन्नर.॥ (उद्योग ४३।३६)

जीवन के सर्वक्षेत्रो मे जिन शब्दो का व्यवहार होता है, उनके अर्थो का विचार वैयाकरण को करना चाहिए। जो इस प्रकार लोक का प्रत्यक्ष दर्शन करता है, वही समग्र शब्दो का संकलन कर सकता है। पूर्व के वैयाकरण स्वर, मूर्धन्य, संप्रसारण, सन्धि समास, नाम, आख्यात आदि के विषय मे नियमो का विधान करते थे। पाणिनि ने वह सब तो किया ही, किन्तु उससे बहुत आगे बढकर कृदन्त और तद्धित के दो महाप्रकरण तैयार किए। शब्दो मे नए-नए प्रत्यय जोड़कर किस प्रकार भिन्न-भिन्न अर्थो का बोध कराया जाता है, इस विषय की बारीक छान-बीन (महती सूक्ष्मेक्षिका) सूत्रकार ने की। प्रत्यय की शक्ति से शब्द जिस नए अर्थ का बोध कराता है, उस शक्ति को वृत्ति कहते हैं (परार्थाभिधान वृत्ति)। इस प्रकार के अर्थो का क्षेत्र उतना ही विस्तृत है, जितना जीवन के विभिन्न व्यवहार। एक ही शब्द भिन्न-भिन्न अर्थ मे प्रयुक्त होता है। यास्क ने लिखा है कि वृत्तियो का ठीक-ठीक निश्चय करना कठिन है। उनके विषय मे सन्देह बना रहता है कि ठीक अर्थ क्या है (विशय-वत्यो हि वृत्तयो भवन्ति, निरुक्त २।१), जैसा दण्डय शब्द के विषय मे यह कहना कठिन है कि दण्डेन सपद्यते अथवा दण्डमर्हति किस अर्थ मे दण्ड शब्द से यत् प्रत्यय हुआ है। यास्क ने इस कठिनाई को ध्यान मे रखते हुए कहा कि तद्धित और समास के शब्दो को खूब ध्यानपूर्वक तोड़कर अर्थो की कोटियो पर विचार करते

हुए तब उनका निर्वचन करना चाहिए (अथ तद्धित समानेष्वेकपर्वसु चानेकपर्वसु च पूर्वं पूर्वमपरमपर प्रविभज्य निर्ब्रूयात्)। पाणिनि ने इस विषय मे बहुत ही सूक्ष्म विश्लेषण किया। लोक मे जितने प्रकार की वृत्तियाँ थी, उन सब की सूची बनाकर उनके भिन्न-भिन्न अर्थों का और शब्दो मे जुडने वाले प्रत्ययो का निश्चय किया। उदाहरण के लिये, दाधिकम् यह शब्दरूप एक है, किन्तु उसके अर्थ अलग-अलग हैं। अतएव अर्थ और प्रत्ययो की दृष्टि से दध्ना संसृष्टम् (४।४।२२), दध्ना उपसिक्तम् (४।४।२६), दध्ना सस्कृतम् (४।४।३), दधनि सस्कृतम् (४।२।१७); इन चार शब्दो को पृथक् मानकर अनेक पर्वों या प्रकरणो मे उनका निर्वचन किया। ऐसे ही द्रव्य हरति, द्रव्यं वहति, द्रव्यम् आवहति, इन पृथक् अर्थों में प्रयुक्त होनेवाले द्रव्यक शब्द का निर्वचन तब तक यथार्थ नही हो सकता था जब तक कि तीनो अर्थो पर ध्यान न दिया जाता, क्योकि लोक मे तीनो ही अर्थो मे शब्द का प्रयोग हो रहा था। इस प्रकार जितने अर्थो में शब्दो का प्रयोग चालू था, उन सब का सग्रह, विश्लेषण, वर्गीकरण सूत्रकार ने किया। इसी को महाभारत के शब्दो मे 'सर्वार्थाना व्याकरणम्' और निरुक्त मे 'अनेक पर्वसु प्रविभज्य निर्वचन' कहा है। हेतु, सपादिन्, अर्ह, अलमर्थ (६।२।१५५), कृत, रक्त, विकार (६।३।३९), अंक सघ, लक्षण, धर्म, आदि कई सौ अर्थों का वर्गीकरण तद्धित के महाप्रकरण मे प्राप्त होता है। गुरु, शिष्य, राजा, मन्त्री, वाणिज, गोपाल कृषक, भिक्षु, लेखक, नाविक, सूद, लुब्धक आदि-आदि के जीवन के अनेक क्षेत्रो से आचार्य ने शब्दो का सकलन किया और व्याकरण की दृष्टि से उन्हे अपने सूक्ष्म ईक्षण का विषय बनाया। लोक से शब्द सामग्री का सग्रह पाणिनि शास्त्र की निजी विशेषता थी। इसी कारण पाणिनीय महत् सुविहितम् यह श्रेयसी उक्ति इसके लिये चरितार्थ हुई। पाणिनि ने अष्टाध्यायी को जीवित भाषा का यथार्थ प्रतिबिम्ब या यथामुखी दर्पण बनाया और व्याकरण शास्त्र को चरण परिषदो के सीमित क्षेत्र से मुक्त करके लोक की विस्तृत परम्परा के साथ मिला दिया। कात्यायन और पतंजलि ने भी अपने महान आचार्य की परम्परा को अक्षुण्ण रखते हुए बराबर लोक प्रमाण को महत्त्व दिया है (लोक विज्ञानात् सिद्धम्, १।१।२१, १।१।६५)।

सस्कृत भाषा—कई बार यह प्रश्न किया जाता है कि पाणिनि के समय मे संस्कृत लोक की भाषा थी, या केवल साहित्य की भाषा। ग्रियर्सन ने अशोक के धर्मलेखो की बोलचाल की भाषा पर ध्यान धरते हुए तर्क किया था कि यदि पाणिनि ने अपना व्याकरण लोक भाषा के लिए लिखा होता तो उनके दो सौ वर्ष बाद ही अशोक के समय में भाषा का इतना अधिक परिवर्तन कैसे हो गया (इन्डियन एन्टिक्वरी २२।२२२)। इसके विपक्ष में गोल्डस्टूकर, कीथ और लीबिश का निश्चित मत है कि पाणिनीय सस्कृत अपने समय की शिष्ट समाज मे प्रयुक्त बोलचाल की

भाषा थी। कीथ ने लिखा है—'एक तो पाणिनि ने स्वयं ही कई वार उसे 'भाषा' कहा है (३।२।१०८; ८।२९८) जिसका सीधा-सादा अर्थ नित्य व्यवहार मे आनेवाली वोलचाल की भाषा ही होता है। दूसरे यदि पाणिनि की भाषा को वोलचाल की भाषा न माना जाय तो उनके कितने ही सूत्र व्यर्थ हो जाते है, क्योकि वे वोलचाल की भाषा को ध्यान मे रखकर ही वनाए गए थे।' इस प्रकार के कुछ सूत्र और उनके विषय ये हैं—

३।२।११७ (प्रश्न), ३।२।१२० (पृष्ट प्रति वचन) प्रशंसा, कुत्सा, दूर से पुकारना, अभिवादन, प्रत्यभिवादन (८।२।८३–८४), है देवदत्त हे देवदत्त जैसे प्रयोग (८।२।८५) भर्त्सन, (८।२।९५), मानसिक तर्क-वितर्क (विचार्यमाणानाम् ८।२। ८७), आशी , प्रैष (८।२।१०४), आचार के उल्लघन या आचारभेद पर किसी को लज्जित करना (क्षिया ८।२।१०४), आख्यान (८।२।१०५), आमन्त्रण (८।१।३३), त्वरा (परीप्सा, ८।१।४२), अनुज्ञैपणा या आज्ञा लेना (८।१।४३) जैसे, ननु गच्छामि भो क्या मैं जाऊँ, डाट-डपट या फटकार के साथ कहना (अयथाभिप्रेता ख्यान ३।४।५९), हँसी-मजाक मे अपनी राय देना (प्रहासे च मन्योपपदे १।४।१०६, जैसे एहि मन्ये रथेन यास्यसि, आइए, मालूम होता है रथ पर चढकर चलियेगा) इत्यादि। ऐसे ही खादत-मोदता, अश्नीत-पिवता, पचत-भृज्जता, भिन्धि-लवणा जैसे प्रयोग वोलचाल से ही लिए गए। विपास नदी के दाहिने किनारे पर जो कुएँ थे उनके नामो के उच्चारण मे वाएँ किनारे के कुओ की अपेक्षा जो विशेषता थी, उसका भी सूत्रकार ने उल्लेख किया (४।२।७४) क्योकि वाएँ किनारे पर खादर के कुएँ कच्चे होते थे, और दाहिने किनारे के वांगर के कुएँ पक्के होते थे इसलिए उन शब्दो के उच्चारण मे स्वर का भेद होता था। पक्के कुओ के नाम आदि उदात्त स्वर से (अञ् प्रत्यय के कारण, सूत्र ६।१।१९७) और कच्चे कुओ के नाम अनुदात्त स्वर मे (अण् प्रत्यय के कारण ३।१।३) उच्चरित होते थे। यह सामग्री वोलचाल की भाषा की ओर निश्चित सकेत करती है। भिन्न-भिन्न जनपदों मे नगर और गाँवो के नामो की विशेषता पर भी सूत्रकार ने ध्यान दिया था।

पाणिनि की भाषा का क्षेत्र छन्द और ब्राह्मणो की भाषा से कही अधिक विस्तृत था। पतजलि ने उसके विषय मे सच्ची स्थिति का उल्लेख किया है—'सस्कृत उन शिष्ट लोगो के प्रयोग मे आनेवाली भाषा है, जो व्याकरण पढे बिना भी उसे शुद्ध रूप मे वोलते हैं। पतजलि ने इस वात मे इनकार नही किया कि उनके समय में साधारण लोगो की वोलचाल मे कई तरह के अपभ्रश रूप थे, जैसे एक गौ शब्द को कई जनपदो मे गावी, गोणी, गोपोतलिका कहा जाता था (एकैकस्य शब्दस्य वहवोऽ-पभ्रशाः)। पतजलि जिस भाषा मे लिखते थे, उसे ही वोलते भी थे। पर उनकी गाएँ घेरनेवाला ग्वाला अपनी बोली वोलता था, यद्यपि पतजलि की भाषा भी वह

समझता था। कात्यायन ने लोक की भाषा को व्याकरण सम्मत भाषा कहा है, किन्तु इसके साथ ही एक वार्त्तिक मे आणवयति आदि प्राकृत धातुओ के अस्तित्व का उल्लेख किया है। (भूवादि पाठः प्रातिपदिकाणवयत्यादिनिवृत्त्यर्थ. १।३।१ वा० १२)। 'प्रयोगे सर्वलोकस्य' वार्त्तिक की ध्वनि यह है कि पाणिनीय भाषा के शब्दों का शुद्ध प्रयोग लोक के विभिन्न स्तरो मे व्याप्त था।

पाणिनि का मध्यम पथ—पाणिनि ने व्याकरण सबन्धी विभिन्न मतों के सबन्ध मे सन्तुलित दृष्टिकोण अपनाया है। उदाहरण के लिये, उनके समय मे धातुओ से सज्ञा शब्दो की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे गहरा मतभेद था। नैरुक्त सम्प्रदाय और वैयाकरणो में शाकटायन का मत था कि संज्ञा शब्द धातुओ से बने हैं—तत्र नामानि आख्यातजानीति शाकटायनो नैरुक्तसमयश्च (१।४) इसके विपरीत गार्ग्य जो कि सम्भवतः नैरुक्त सम्प्रदाय के थे और दूसरे वैयाकरणो का मत था कि खींचतान करके प्रत्येक शब्द को धातु से सिद्ध करना ठीक नही। यास्क स्वय नैरुक्त मत के थे। नाम धातुज हैं, यह उनका मत था; किन्तु शाकटायन के अनुयायी जिस प्रकार जबरदस्ती तोड-मरोडकर प्रत्येक सज्ञा शब्द को धातु प्रत्यय से व्युत्पन्न कर देते थे वह यास्क को पसन्द न था। उन्होंने लिखा है कि यद्यपि धातुओं से संज्ञा शब्दो के निर्वचन का सिद्धान्त ठीक है, पर जो विना विचारे उसका प्रयोग करते हैं, वह उनका दोष है, शास्त्र का दोष नही। (योऽनन्वितेऽर्थे सञ्चस्कार स तेन गर्ह्यः; सैषा पुरुषगर्हा न शास्त्रगर्हा, १।१।४)।

इस विषय मे पाणिनि का मत दोनो के बीच मे समन्वय का मत है। कात्यायन और पतजलि ने लिखा है कि पाणिनि उणादि शब्दो को अव्युत्पन्न प्रातिपदिक मानते हैं (प्रातिपदिक विज्ञानाच्च पाणिने सिद्धम्, ७।१।२ वा० ५, भाष्य, उणादयोऽव्युत्पन्नानि प्रातिपदिकानि)। पाणिनि ने उणादि प्रत्ययो को उणादयो बहुलम् (३।३।१) सूत्र लिखकर चलती हुई मान्यता तो दे दी, पर ब्यौरेवार उनका विवेचन नही किया। धातु से प्रत्यय लगाकर जिन शब्दो को वे सिद्ध हुआ मानते थे, उन्हें कृदन्त प्रकरण मे स्थान दिया और जिनमे इस प्रकार प्रकृति-प्रत्यय का विभाग नही किया जा सकता था उसके निर्वचन की पहेली उन्होने उणादि वालो के लिये छोड़ दी। इस पृष्ठभूमि में यह मानना स्वाभाविक है कि वर्तमान मे जो उणादि प्रकरण है, वह पाणिनि व्याकरण का अग न था, उसका मेल शाकटायन व्याकरण से अधिक बैठता है। सम्भव है वह उन्ही की कृति हो। केवल एक सूत्र मे अपनी शैली के विपरीत आचार्य ने कुछ उणादि प्रत्ययो का परिगणन करते हुए इट् का विधान किया है। (तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च, ७।२।९)।

अर्थ प्रतीति—शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति पर निर्भर है अथवा लोक के प्रयोग पर, इस विषय मे भिन्न-भिन्न मत थे। उदाहरण के लिये, गौ को इसलिये गौ कहते हैं

क्योंकि वह गमन करती है (कारणाद् द्रव्ये शब्द-निवेश., १।२।६८।१) ॥ किन्तु जितनी वस्तुएँ गति करती हैं, सबको गो नही कहा जाता, अतएव व्युत्पत्ति ही अर्थ का कारण है—यह कहना कठिन है। लोक रूढि भी इसमे प्रमाण है, जैसा कि कात्यायन ने 'दर्शनं हेतुः' वार्तिक में कहा है। यास्क ने भी इन दोनो पक्षो का उपन्यास किया है। जो कोई मार्ग तै करे उसे ही अश्व कहना चाहिए, पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है (य. कश्चनाध्वानमश्नुवीत, अश्वः स वचनीय.)। लोक मे जो शब्द जिस प्रसिद्ध अर्थ मे लिया जाता है उसी में उसकी व्युत्पत्ति करनी चाहिए। (यथापि प्रतीतार्थानि स्युः तथैनान्यचक्षीरन् १।१२)। पाणिनि ने दोनो ही पक्षो मे सत्य का अंश माना है, क्योंकि लोक मे जो रूढ संज्ञाएँ हैं, उनको भी वे प्रमाण मानते हैं, और जिन शब्दो मे धातु प्रत्यय के ज्ञान से अर्थ की प्रतीति होती है, उन्हे भी प्रमाण मानते हैं। योग प्रमाण और संज्ञा प्रमाण दोनो ही पक्ष आचार्य को अपने-अपने स्थान पर इष्ट थे (२।१।५३–५५)।

जाति और व्यक्ति—गो शब्द का अर्थ गो व्यक्ति या एक गाय है अथवा गोत्वजाति—यह प्राचीन आचार्यों मे विवाद का विषय था। जैसा कात्यायन ने लिखा है आचार्य वाजप्यायन का मत था कि शब्द जाति का बोध कराता है। उसके प्रतिकूल आचार्य व्याडि का मत था कि शब्द द्रव्य या एक वस्तु का ग्रहण कराता है (आकृत्यभिधानाद् विभक्तौ वाजप्यायनः, द्रव्याभिधानं व्याडि. १।२।६४, वा० ३५,४५)। पतंजलि ने दोनो का समन्वय करते हुए लिखा है कि पाणिनि को दोनों मत ग्राह्य थे। सूत्र १।२।५८ (जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्) में उन्होंने जाति पक्ष माना है और सूत्र १।२।६४ (सरूपणामेकशेष एकविभक्तौ) में द्रव्य पक्ष[१]।

अनुकरण—यास्क ने इस विषय मे दो मत दिए हैं। आचार्य औपमन्यव का मत था कि अनुकरण नही होता, अर्थात् अव्यक्त ध्वनि के अनुकरण से भाषा मे शब्द नही बनते। यास्क का अपना मत था कि काक आदि पक्षियो के नाम उनकी बोली के अनुकरण से ही भाषा में बनते हैं। पाणिनि ने अव्यक्त ध्वनि में अनुकरण का नियम स्वीकार किया है (अव्यक्तानुकरणाद् द्व्यज वरार्धा दनितौ डाच्, ५।४।५७)।

उपसर्ग—यास्क ने लिखा है कि शाकटायन उपसर्गों को अर्थ का द्योतक मानते थे और गार्ग्य वाचक (निरुक्त १।१।३) पाणिनि ने दोनो मतो को आंशिक रूप से लिया है। अधि और परि उपसर्ग को उन्होने कुछ प्रयोगो मे अनर्थक कहा है (अधिपरी

(१) किंपुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्? उभयमित्याह। कथं ज्ञायते। उभयथाह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन् या बहुवचनमन्यतरस्यामित्युच्यते द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणामित्येकशेष आरभ्यते (पस्पशा०)।

अनर्थकौ १।४।९३)। जैसा पतंजलि ने लिखा है इसका यह तात्पर्य हुआ कि अन्य उपसर्ग अर्थ के वाचक होते हैं।

धातु का अर्थ, क्रिया या भाव—धातु का अर्थ क्रिया है या भाव, इस विषय पर भी वैयाकरणो मे मतभेद था, क्योंकि इसका प्रभाव शब्द—नित्यत्व के सिद्धान्त पर पडता है। पतंजलि का कहना है कि पाणिनि ने भूवादयो धातवः (१।३।१ वा० ११) सूत्र मे दोनो अर्थों को माना है। सूत्र २।३।१४ (क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि-स्थानिनः) मे क्रिया वचन और सूत्र २।३।१५ (तुमर्थाच्च भाववचनात्) मे भाव वचन पक्ष है।

शब्द नित्यत्व—शब्द नित्यत्व का सिद्धान्त व्याकरण दर्शन की मूल भित्ति है। सूत्र ४।४।१ के वार्त्तिक मे कात्यायन ने नैत्यशब्दिक और कार्यशब्दिक इन दो संप्रदायो का उल्लेख किया है। ऋक् प्रातिशाख्य मे भी यह विचार आया है (१३। १४) जिससे इस विवाद की प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने औदुम्बरायण के मत का उल्लेख किया है—इन्द्रियनित्यं वचन मौदुम्बरायण. (निरुक्त १।१।२); आचार्य औदुम्बरायण का मत है कि शब्द का उच्चारण जितने देर मुख मे रहता है, वही उसकी नित्यता है, उसके बाद वह विनष्ट हो जाता है। पतजलि ने लिखा है कि पाणिनि और कात्यायन दोनो शब्द-नित्यता पक्ष के मानने वाले थे। फिर भी लोप और आगम आदि व्याकरण की प्रक्रिया मे वे कोई बाधा नही देखते। पाणिनि ने अदर्शनं लोपः यह परिभाषा स्थिर की (१।१।६०)। तदनुसार पतजलि ने लोप का अर्थ अन्तर्धान या अदृश्य हो जाना लिखा है। इसके विरुद्ध तैत्तिरीय प्रातिशाख्य मे लोप को विनाश कहा गया है (१।५७, विनाशो लोप.), जो शब्द की अनित्यता पक्ष का सूचक है। पाणिनि ने जिसे आदेश कहा है, उसे ही पहले विकार कहा जाता था। (वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात्, शिवसूत्र ५, वा० १५; भाष्य; अपाय = लोप, उपजन = आगम, विकार = आदेश)।

ऊपर के उदाहरणो से यह विदित होता है कि दो विवादग्रस्त दृष्टि या मतो मे पाणिनि समन्वय और सन्तुलन का मध्य मार्ग पसन्द करते हैं। उनके इस दृष्टि-कोण की तुलना बुद्ध के मज्झिम पटिपदा वाले दृष्टिकोण से की जा सकती है। यही उस युग की विशेषता थी।

अध्याय ६

धर्म दर्शन

परिच्छेद १—देवता

अष्टाध्यायी मे जिस धार्मिक अवस्था का चित्र है, उसका मुख्य आधार यज्ञ विधि और देव पूजा थी। यज्ञ, ऋत्विज्, दक्षिणा एवं देवता और उनकी भक्ति से संबधित पर्याप्त सामग्री सूत्रो मे आ गई है। साथ ही विविध दार्शनिक सप्रदाय और भिक्षुओ का भी उल्लेख आया है। इन सब पर क्रमश यहाँ विचार किया जायगा।

देवता—निम्नलिखित वैदिक देवताओ का सूत्रो मे नामोल्लेख है—

(१) अग्नि (४।१।३७), (२) इन्द्र, (३) वरुण, (४) भव, (५) शर्व, (६) रुद्र, (७) मृड (४।१।३९), (८) वृषाकपि (४।१।३७), (९) पूषा, (१०) अर्यमा (६।४।१२), (११) त्वष्टा (६।४।११), (१२) सूर्य (३।१।११४), (१३) वायु (४।२।२७), (१४) महेन्द्र (१५) अपानप्तृ (४।२।२७) (१५) सोम (४।२।३०), (१६) नासत्य (६।३।७५)। पाणिनि ने नासत्य की व्युत्पत्ति न+असत्यो मानी है। इस विषय मे प्राचीनकाल मे दो मत थे। आचार्य और्णवाभ का मत था सत्यौ एव नासत्यावित्यौर्णवाभः। दूसरा मत यह था कि नासा से उत्पन्न होने के कारण वे नासत्य कहलाए (नासिका प्रभवौ बभूवतु रिति वा, निरुक्त)। महाभारत मे यही दूसरा मत है। नासत्य और दस्र नामक दो अश्विनी कुमार सूर्य की पत्नी सज्ञा की नासा से उत्पन्न हुए (अनुशासन पर्व, १५०।१७)। प्रजापति देवता को क कहा गया है (कस्येत् ४।२।२५) पतजलि ने लिखा है कि क सर्वनाम नही, किन्तु देवता की सज्ञा है (संज्ञा चैषा तत्र भवत)। अतएव चतुर्थी मे कस्मै न होकर, काय रूप बनता है। वास्तोष्पति और गृहमेध देवताओ का भी उल्लेख है। वास्तोष्पति तो ऋग्वेदकालीन देवता था किन्तु गृहमेध गृह्यसूत्रो के समय से नया देवता माना जाने लगा। गृहमेध है देवता जिसका ऐसे पुरोडाश, हवि या कर्म को गृहमेधीय-गृहमेध्य कहते थे। गृह्य सूत्रो के युग मे महेन्द्र और इन्द्र मे भेद माना जाने लगा। गोभिल गृह्य सूत्र के अनुसार पूर्व दिशा का देवता इन्द्र और उत्तर-पूर्व या ईशान कोण का महेन्द्र कहलाता था। (४।७।२६–३३)। अपाम्नप्तृ अग्नि का नाम था, जिसे देवता मान कर विशेष हवि अर्पित की जाती थी।

कुछ देवता द्वन्द्व (६।२।१४४; ६।३।२६) या जुड़वाँ देवताओ के भी नाम हैं, जैसे अग्नीषोम (४।२।७२), अग्नी वरुण (६।३।२७), द्यावा पृथिवी (४।२।३२;

६।३।२९-३०), शुनासीर (४।२।३१), सोमारुद्र इन्द्रापूषा (६।२।१४२), शुक्रामन्थी (६।२।१४२, ग्रहो के जोड़े को भी देवता द्वन्द्व प्रकरण में रखा गया है)। सूत्र ६।३।२६ (देवता द्वन्द्वे च) मे उन्ही देवताओ के नामो का जोडा लिया गया है, जिनका वेद मे साहचर्य प्रसिद्ध था और जिनकी लोक मे भी एक साथ मान्यता थी। विशुद्ध लौकिक देवताओ का ग्रहण वहाँ नही किया गया, किन्तु वैदिक देवताओ के ही नमूने पर लोक में भी नए-नए देवताओ के जोड़े अस्तित्व में आ रहे थे, जिनकी एक साथ पूजा की जाती थी, जैसे ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, सकर्षणवासुदेवौ। इस प्रकार जिनका साहचर्य लोक मे प्रसिद्ध था, उन्हें 'अभिव्यक्त' कहा गया है। द्वन्द्व शब्द से उनका भी ग्रहण होता था (८।१।१५)। दधिपय आदि गण (२।४।१४ मे पाणिनि ने ब्रह्मप्रजापती, शिववैश्रवणौ, स्कन्दविशाखौ इनके जुडवाँ नामो का उल्लेख किया है, जो कि गृह्य सूत्रो के युग मे नए लोक विज्ञात देवता माने जाने लगे थे। प्राचीन देवियों में इन्द्राणी, वरुणानी (४।१।४९) अग्नायी, वृषाकपायी (४।१। ३७), पृथिवी और उषस् (४।२।३१) का उल्लेख है। ज्ञात होता है कि उषा देवता के लिये भी सास्य देवता प्रकरण मे पृथक् हवि के द्वारा पूजा की प्रथा उस समय तक बच रही थी।

उत्तर कालीन देवता—पार्वती या अम्बिका के चार रूपो का उल्लेख है—भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी (४।१।४९)। विशेषतः सूत्र युग में इनकी मान्यता थी। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार रुद्र, शर्व और भव अग्नि के रूप हैं, जिनमें से शर्व प्राच्य देश में और भव वाहीक देश मे लोकप्रिय था (शर्व इति यथा प्राच्या आचक्षते; भव इति यथा वाहीका., शत० १।७।३।८)। सम्भव है कि शर्वाणी और भवानी नाम भी इसी प्रकार देश भेद से प्रचलित हो। ऐसे ही रुद्राणी और मृडानी भी स्थानीय नाम हो सकते हैं।

सूत्र ४।१।८५ में जिस आदित्य का उल्लेख है, वह वैदिक आदित्य देवता की अपेक्षा सूत्र युग के देवता ज्ञात होते हैं। वस्तुतः पाणिनि काल की एक धार्मिक विशेषता ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि कालवाची शब्दो से अभिहित नए देवताओ की मान्यता और पूजा का आरम्भ हो गया था। कालेभ्यो भववत् (४।२। ३४) सूत्र में सास्य देवता प्रकरण के अन्तर्गत अनेक कालवाची शब्दो को देवता माना गया है, जैसे वह स्थालीपाक हवि जिसका मास देवता हो मासिक कहलाती थी (मासो देवताऽस्य मासिकम् हविः)। ऐसे ही अर्धमास देवता की हवि आर्धमासिक, संवत्सर की सांवत्सरिक, वसन्त ऋतु की वासन्तिक और प्रावृष् ऋतु की प्रावृषेण्य कही जाती थी। इस प्रकार मास, ऋतु, संवत्सर, सभी को देवताओ का नया पद प्राप्त हुआ और लोक में उनकी पूजा वेग से चली। ४।२।३१ सूत्र में स्वयं पाणिनि ने ऋतु को देवता कहा है (ऋतुः देवतास्य ऋतव्य हविः, वाय्वृतु पित्रु-

पत्तोयंत् (४।२।३१)। देवत्व प्रदान की यह नूतन पद्धति यहाँ तक बढी कि जितने नक्षत्र थे वे भी देवता मान लिये गए। सूत्र ४।२।३५ मे प्रोष्ठपद नक्षत्र को स्पष्ट देवता कहा गया है। प्रोष्ठपद देवता के उद्देश्य से समर्पित हवि प्रोष्ठपदिक कहलाती थी। नक्षत्रो के देवता मान लिए जाने का महत्वपूर्ण परिणाम मनुष्य नामो पर पड़ा, जिनका विवरण सूत्रकार ने विस्तार से दिया है (४।३।३४, ३६, ३७)। इन नक्षत्रो के जो अधिष्ठातृ देवता थे, उनकी कृपा से पुत्रजन्म या उनका कल्याण चाहने वाले माता-पिता अपनी सन्तान का नाम उन नक्षत्रो के नाम से रखते थे और उनके लिये समय-समय पर स्थालीपाक या हवि अर्पित करते थे। पुष्यदत्त स्वातिदत्त, तिष्यरक्षित, आदि नाम इसी प्रकार के हैं। सूत्र ८।३।१०० (नक्षत्राद्वा) मे अन्त-र्निहित नाम भी इसी कोटि मे आते हैं, जैसे रोहिणिषेण, भरणिषेण, शत-भिषक्षेण।

भक्ति—देवताओ के विषय मे ऊपर लिखा हुआ दृष्टिकोण धर्म के क्षेत्र मे महत्त्वपूर्ण परिवर्तन का सूचक है। वह भक्ति प्रधान दृष्टिकोण था। वरुणदत्त, अर्यम-दत्त जैसे नाम जो ५।३।८४ सूत्र मे आए हैं, सूचित करते हैं कि वरुण और अर्यमा देवताओ को भक्ति मे प्रसन्न करके माता-पिता उनकी कृपा से पुत्र लाभ मे विश्वास करते थे। पाणिनि ने इस प्रकार की लोक भावना की व्याख्या करते हुए लिखा है कि नामो के अन्त मे दत्त उत्तरपद देवता के आशीर्वाद का सूचक समझा जाता था (कारका द्दत्त श्रुतयोरेवाशिषि ६।२।१४८)। मनुष्य का नाम उस आशीर्वाद का जीता-जागता प्रतीक होता था।

पाणिनि के युग मे भक्ति धर्म का उदय भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण घटना कही जा सकती है। इसका परिणाम समाज और व्यक्ति के जीवन पर व्यापक हुआ। वैदिक यज्ञो मे जो पुरातन काल की आस्था थी, उसके साथ-साथ एक प्रतिद्वन्द्वी दृष्टिकोण भी मान्य हो गया। यह विशेष देवताओ की भक्ति या विश्वास था जिससे देवता को प्रसन्न करके उसका वरदान या प्रसाद प्राप्त किया जा सकता था। भक्ति धर्म की स्वीकृति का आवश्यक फल कई प्रकार से देखने मे आया। एक तो लोक धर्म मे जो सैकडो प्रकार के छोटे-मोटे देवता थे उन सब की पद-प्रतिष्ठा बढी और उनके लिये त्रैवर्णिक समाज मे द्वार उन्मुक्त हो गया। फलतः यक्ष, नाग, भूत, पिशाच, ग्रह, रुद्र, देवी, वृक्ष, नदी, गिरि आदि को देवता मानकर उन्हे पूजने की जो परम्परा लोक मे चली आती थी, उसे सार्वजनिक रूप से मान्यता मिल गई। उच्च वर्णों के घरो मे भी इन देवताओ का निर्बाध प्रवेश हो गया। वैदिक धर्म के देवता और उन्हे प्रसन्न करने की जो यज्ञ-पद्धति थी, नया भक्ति धर्म उसके साथ कधे से कधा मिलाकर सामने आया और सचमुच उसने समाजमे सर्वत्र अपनी धाक जमा ली। होते होते वैदिक देवता और यज्ञ पिछड़ गए। पाणिनि से लगभग दो

सौ वर्ष बाद अशोक ने इस स्थिति का स्पष्ट उल्लेख किया है—अमिसा देवा मिसा कटा (= अमिश्राः देवाः मिश्रा कृताः), अर्थात् जो देवता पहले अलग थे वे अब वैदिक देवताओ के साथ, बौद्ध धर्म के साथ और उच्च धर्म की पूजा-पद्धति के साथ घुल-मिलकर एक हो गए हैं।

भक्ति धर्म के उदय का दूसरा प्रभाव पूजा के ढग पर हुआ। यज्ञ विधि का अपना अलग मार्ग था। उसमे फूल, फल, नैवेद्य, धूप, दीप, पत्र, पुष्प, वाद्य, नृत्य, गीत, बलि आदि की प्रथा न थी। किन्तु लोक मे यक्षादि देवो की जो पूजा थी उसका स्वरूप ठीक इन्ही वस्तुओ से निर्मित होता था। जिसे गीता मे पत्र पुष्प फल तोयं वाली पूजा कहा है नए भक्ति धर्म का वह आवश्यक अग बन गई। जो देवता की भक्ति करते वे इसी प्रकार की पूजा चढाते थे।

भक्तिधर्म का तीसरा प्रभाव यह हुआ कि पुरुष विशेष देवता के रूप मे पूजित हुए। एक ओर बौद्ध और जैनो ने बुद्ध और महावीर की भक्ति धर्म की पूजा विधि और मान्यता का लक्ष्य बनाया और उनके लिये स्तूप आदि चिह्नो की कल्पना करके धर्म का बाह्यरूप खड़ा किया। उसने जनसाधारण के मन को अपनी ओर खीच लिया। दूसरी ओर हिन्दू समाज पर इसका गहरा प्रभाव हुआ। फलतः वासुदेव कृष्ण को देवता मानकर उनकी भक्ति का आदर्श नए रूप मे समाज के सामने आया। बुद्ध और महावीर जैसे क्षत्रिय पुरुष विशेष थे, वैसे ही कृष्ण भी क्षत्रिय पुरुष विशेष थे। जो क्षत्रिय की सज्ञा थी, वह तत्रभवान् देवता की सज्ञा बन गई। ऐसे देवताओ को मनुष्य प्रकृतिक देव कहते थे, अर्थात् जिनकी मूल प्रकृति मनुष्य की थी, पर जो देवता मान लिए गए थे (वायुपुराण, ९७।१)।

पाणिनि ने इस प्रकार भक्ति करनेवाले लोगो का उल्लेख किया है। वासुदेव की भक्ति करनेवाले वासुदेवक कहलाते थे (वासुदेवार्जुनाभ्या वुन् , ४।३।९८)। इस नए धर्म के देवताओ की एक विशेषता यह भी थी कि मूल देवता या मान्य महापुरुष का स्वरूप अपने साथ परिवार की पंचायत लेकर विकसित हो रहा था। जैसे बौद्ध धर्म मे सप्तमानुषी बुद्धो की कल्पना थी, जैन धर्म मे पच मुख्य तीर्थंकरो की कल्पना थी, यक्षो मे वीर या मुख्य यक्षो की उपासना थी, वैसे ही वासुदेव कृष्ण के साथ भी परिवार की कल्पना हुई। भागवतो ने इसके दो विकल्प रखे। एक तो कृष्ण के साथ उनके राजसी जीवन के अभिन्न सखा अर्जुन की पूजा थी। वासुदेव के भक्त जैसे वासुदेवक कहलाते थे, वैसे ही अर्जुन के भक्त अर्जुनक कहलाते थे। वासुदेव और अर्जुन के इस धार्मिक साहचर्य का ही दूसरा रूप नर-नारायण की सहयुक्त पूजा थी, जिसमे नारायण प्रधान और नर उनके सखा थे। इसी को नारायणीय धर्म कहा गया। महाभारत शान्तिपर्व मे नारायणीय धर्म का विशेष रूप से वर्णन है। धार्मिक इतिहास की दृष्टि से उसका आरभ इसी युग में

हुआ होगा। वासुदेव और अर्जुन का ही नामान्तर नर-नारायण है। इस मान्यता से एक धार्मिक दृष्टिकोण पल्लवित हुआ और यह कहा गया कि वस्तुतः एक ही शक्ति नर और नारायण इन दो रूपो मे अभिव्यक्त होती है (नारायणः नरश्चैव सत्त्वमेकं द्विधाकृतम्, उद्योगपर्व, ४८।२०)। वासुदेव कृष्ण की परिवार-कल्पना का दूसरा स्वरूप और भी अधिक लोकव्यापी एव स्थायी हुआ। वह चतुर्व्यूह या पंचरात्र कल्पना था। उसके अनुसार पहले तो वासुदेव और संकर्षण इन दोनो का जुड़वाँ रूप लोक मे प्रसिद्ध हुआ। इसे ही व्याकरण के उदाहरणो मे वासुदेव-संकर्षणी कहा गया है (८।१।१५, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ, द्वावप्यभिव्यक्तौ साहचर्येणेत्यर्थ.)। इस प्रकार के जुड़वाँ देवताओ की कल्पना पहले से चली आती थी। वासुदेव और संकर्षण तो उसी प्रथा का नया दृष्टान्त था। देवता द्वन्द्वे च (६।३।२६) सूत्र से ज्ञात होता है कि ऐसे कुछ देवताओ के जोडे या साहचर्य का विश्वास वैदिक देवताओ के विषय मे भी था, जैसे इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृहस्पती आदि। साथ ही कुछ देवता ऐसे थे, जिनका साहचर्य लोक में प्रसिद्ध था, जैसे ब्रह्म-प्रजापती, शिव-वैश्रवणौ इत्यादि। दधि पय आदिगण (२।४।१४) मे इन दोनो जोडो का एव स्कन्द-विशाखौ का उल्लेख है। नर-नारायण की भाँति संकर्षण और वासुदेव नए भक्तिधर्म का मुख्य सूत्र बन गया, इसी मे आगे चलकर प्रद्युम्न और अनिरुद्ध के मिलने से चतुर्व्यूह का स्वरूप पूरा हुआ। साम्ब को साथ लेकर पचवृष्णि वीरो की कल्पना पूर्ण हुई, जो पंचरात्र धर्म की सुनिष्पन्न मान्यता बनी। भारत के धार्मिक इतिहास में यह परिवर्तन बहुत महत्त्वपूर्ण था। इसकी गूँज पाणिनि के वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् (४।३।९८) सूत्र में सुनाई देती है। भागवत धर्म के इतिहास मे पाणिनीय सूत्र की प्रमाण साक्षी अमूल्य है।

पाणिनि के युग में कृष्ण वासुदेव की भक्ति के विकास को प्राचीन और अर्वाचीन सभी विद्वानो ने स्वीकार किया है। पतंजलि ने संज्ञा चैषा तत्रभवतः लिखकर वासुदेव को विष्णु का स्वरूप माना। कैयट ने उसे परमात्म देवता-विशेष कहा है। पतजलि के समय से पूर्व कृष्ण की जीवनलीलाओ का विकास हो चुका था, जैसा उन्होने लिखा है—जघान कंसं किल वासुदेव (३।२।१११ वा० २)। या विष्णु के विषय मे लोक प्रचलित आख्यानो के सबन्ध मे पतंजलि का कथन है—कस वधमाचष्टे कस घातयति बलिबंधमाचष्टे बलि बन्धयति (३।१।२६ वा० ६ आख्यानात्कृत स्तदाचष्ट इति)। पतजलि ने यह भी लिखा है कि ये दोनो आख्यान उन घटनाओ के सबन्ध मे थे, जो बहुत पहले घटित हो चुकी थी। किन्तु अभिनेता प्रत्यक्षरूप में उन लीलाओ को प्रदर्शित कर दिखाते थे[1]। कोई कस के भक्त बनते

---

१. इह तु कथं वर्तमानकालता कस घातयति, बलिं बन्धयतीति, चिरहते कंसे चिरबद्धे च बलौ। अत्रापि युक्ता। कथं। ये तावदेते शोभनिका नामैते प्रत्यक्ष कंसं घातयन्ति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयं-

और कोई वासुदेव के। भाष्य से तो यह भी ज्ञात होता है कि कंस वध के चित्र भी उस समय बनाए जाते थे और लोग कृष्ण का आख्यान भी गा कर सुनाते थे। भाष्य मे कृष्ण के चतुर्व्यूह का भी स्पष्ट उल्लेख है—जनार्दनस्त्वात्मचतुर्थ एव (भा० ६।३।५)। संकर्षण और कृष्ण इन दोनो की संयुक्त सेना और उनके प्रासाद या मन्दिरो का भी उल्लेख आया है (संकर्षण द्वितीयस्य बल कृष्णस्य वर्द्धताम् २।२।२४ वा० २२; प्रासादे धनपति राम केशवानाम्, २।२।३४)। राम-केशव, कृष्ण-संकर्षण, वासुदेव-संकर्षण, ये सब वासुदेव मूलक भक्ति प्रधान धर्म के सुविदित सूत्र हैं। अवश्य ही पाणिनि के युग मे न केवल भागवत धर्म की नींव ही पड चुकी थी, बल्कि लोक मे उसका समृद्ध रूप भी प्रकट हो रहा था। यद्यपि गणपाठ के शब्द सर्वदा प्रमाणभूत नही कहे जा सकते, किन्तु २।४।१२ गण मे 'भागवती—भागवतम्' भाषा का एक रोचक प्रयोग आया है। यह एक गृहस्थ परिवार मे भागवत धर्म की अनुयायिनी गृहपत्नी और भागवत गृहपति का सकेत करता है। अर्थशास्त्र मे (ई० ४थी शती) पाणिनि से सौ वर्ष बाद कृष्ण और कंस के उपाख्यान का और अप्रतिरथ विष्णु के प्रासाद या देवमन्दिर के निर्माण का उल्लेख है। नगरी चित्तौड के पास प्राचीन मध्यमिका मे दूसरी शती ई० पू० की नारायणवाटिका के अवशेष पाए गए हैं, जिसके शिलालेख मे संकर्षण वासुदेव को सर्वेश्वर अर्थात् अन्य सब देवो से ऊपर कहा गया है। ये मौर्यशुङ्ग युग के प्रमाण हैं, किन्तु इस बात की पर्याप्त सूचना देते हैं कि मौर्य काल से सौ-दो सौ वर्ष पूर्व ही भागवत धर्म का व्यापक आन्दोलन अस्तित्व मे आ चुका था जिसने भारत के धार्मिक रंगमंच पर महत्त्वपूर्ण पटपरिवर्तन किया।

पश्चिमी विद्वान् भी पाणिनि के इस उल्लेख को भागवत धर्म की प्राचीनता में प्रमाण मानते हैं। कीथ ने पतञ्जलि के 'संज्ञा चैषा तत्रभवत' कथन को यथार्थ मानते हुए लिखा है कि निश्चय ही पाणिनि के समय मे वासुदेव कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा था (जे० आर० ए० एस० १९०८, पृ० ८४८) ग्रियर्सन ने पाणिनीय उल्लेख के आधार पर भागवत धर्म की प्राचीनता को निर्विवाद कहा है (वही, १९०९, पृ० ११२२)। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर भी इससे पूर्णत. सहमत हैं (वही; १९१०, पृ० १७०)। बलिबन्ध और कंसवध सम्बन्धी भाष्य के अवतरण के आधार पर वेबर ने भी कृष्ण वासुदेव की प्राचीनता और उनके विष्णु के अवतार होने की लोक मान्यता को स्वीकार किया था।

तीति। चित्रेषु कथम्। चित्रेष्वपि उद्गूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते कंसकर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथम् यत्र शब्दगडुमात्र लक्ष्यते। तेऽपि तेषामुत्पत्ति प्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धि विषयान् प्रकाशयन्ति। आतश्च सतो व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते। केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खल्वपि पुष्यन्ति। केचिद् रक्तमुखा भवन्ति, केचित् कालमुखाः (भाष्य ३।१।२६ वा० १५)।

महाराज—यह शब्द प्राचीन भारतीय लोकधर्म का एक महत्त्वपूर्ण अध्याय दृष्टिपथ मे ले आता है। पाणिनि ने महाराज को देवता कहा है (महाराज प्रोष्ठपदाट्ठञ् ४।२।३५, महाराजो देवता अस्य माहाराजिकं हवि.)। एक दूसरे सूत्र मे महाराज देवता की भक्ति का भी उल्लेख है। महाराजाट्ठञ् ४।३।९७, महाराजो भक्ति रस्य माहाराजिक.)। महाराज देवता के भक्त माहाराजिक कहलाते थे। पतजलि ने महाराज देवता को अर्पित की जाने वाली बलि को महाराज बलि कहा है (यो हि महाराजाय बलिर्महाराजार्थः स भवति, २।१।३६, वा० २)। महाराज-देवता वैश्रवण या कुबेर की संज्ञा थी। अतिप्राचीन काल मे राजा का एक अर्थ यक्ष था[१]। यक्षो के राजा होने के कारण कुबेर महाराज कहलाए। इन्हे ही कालिदास ने राजराज कहा है (मेघदूत १।३)। पाली साहित्य मे कुबेर आदि चार देवताओ को चत्तारो महाराजानो कहा जाता है, जो चातुम्महाराजिक लोक मे निवास करते हैं। यक्ष, गन्धर्व, कुंभाण्ड और नाग ये चार प्राचीन लोक देवता थे जिनकी व्यापक मान्यता थी। इन चारो के अधिपति क्रमश. कुबेर, धृतराष्ट्र, विरुढक और विरूपाक्ष ये चार देवता महाराज नाम से प्रसिद्ध हुए। जातक ६।२६५ मे वैश्रवण कुबेर (पाली वेस्सवण) को महाराज कहा गया है। शक्र एवं तीन अन्य लोकपाल महाराजानो कहलाते थे (महासुतसोम जातक ६।२५९)। दीघनिकाय के आटानाटीयसुत्त मे चारो महाराज देवताओ को एक-एक देवगण की सूची मे प्रमुख स्थान दिया गया है। उसी ग्रन्थ के केवट्टसुत्त मे चत्तारो महाराज और चातुम्महाराजिक देवो मे भेद किया है और पहले को दूसरे से श्रेष्ठ माना है। गृह्यसूत्रो मे भी महाराज या वैश्रवण की पूजा का उल्लेख आता है। प्राय. प्रत्येक गृह्य होम या हवि के अन्त मे वैश्रवण की स्तुति का मन्त्र निगद या उच्च घोष से पढा जाता था जिसमे उसे राजाधिराज अर्थात् यक्षो का आधिपति कहा गया है[२]।

---

१. महाभारत में राजा शब्द के यक्ष अर्थ का बहुत ही सटीक उदाहरण निम्नलिखित श्लोक में है—

आत्मना सप्तमं कामं हत्वा शत्रुमिवोत्तमम्।
प्राप्यावध्यं ब्रह्मपुरं राजेव स्यामहं सुखी॥

(शान्तिपर्व, मोक्षधर्म, पूना १७१।५२)

यह महाभारत के अतिक्लिष्ट श्लोकों में है। यहाँ ब्रह्म और राजा दोनों शब्दों का अर्थ यक्ष है। रामायण में भी ब्रह्म शब्द यक्ष अर्थ में आया है (ब्रह्मरत्नवरो छेप अवध्य कवचावृत., लंका, ७१।९७)। श्लोक का अर्थ इस प्रकार है—जैसे यक्ष अपनी मृत्युरहित यक्षपुरी में पहुँच कर प्रसन्न होता है वैसे ही मैं काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहकार और शरीर (= आत्मा) इन सातों को भारी शत्रु के समान वश में करके सुखी होऊँ।

२. राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वयं वैश्रवणाय कुर्महे।
स मे कामान् कामकामाय मह्य कामेश्वरो वै वैश्रवणो ददातु॥

प्रतिकृति—मूर्तियो को जिनमे देव मूर्त्तियाँ भी सम्मिलित हैं .प्रतिकृति कहा गया है (५।३।९६)। इसी अर्थ मे 'अर्चा' इस विशिष्ट शब्द का भी प्रयोग हुआ है (५।२।१०१)। मूर्ति रखनेवाला पुजारी 'अर्चावान्' या 'आर्च' कहलाता था। पतजलि ने भी देवमूर्तियो के लिए अर्चा शब्द का प्रयोग किया है (मौर्य. हिरण्यार्थिभिः अर्चा. प्रकल्पिता , ५।३।९९)।

"जीविकार्थे चापण्ये" (५।३।९९) सूत्र देवमूर्तियो के वाचक शब्दो के नामों की सिद्धि के लिये हैं—जो मूर्ति जीविका के लिये हो और विक्री के लिये न हो तो उसके वाचक शब्द से क प्रत्यय नही लगता। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित कई विचार सम्भव है जिनसे सूत्र और भाष्य की पृष्ठभूमि का संकेत मिलता है—

१—कुछ मूर्तियाँ ऐसी थी जो सार्वजनिक रूप से प्रासाद में अथवा खुले चत्वरो पर स्थापित होती थी। उन पर एक व्यक्ति का स्वत्व न था। अतएव वे किसी की जीविका का साधन न थीं और न विक्री के लिए पण्य रूप में थी। वे केवल पूजार्थ होती थी। इस प्रकार की मूर्तियाँ पाणिनीय सूत्र के अन्तर्गत नही आतीं। उन्हे शिव कहते थे या शिवक, यह अनुमान का विषय है। किन्तु सम्भावना यही है कि उनमें 'कन्' प्रत्यय नही लगता था। और उन्हे शिव, स्कन्द इत्यादि नामो से कहा जाता था।

२—दूसरे प्रकार की मूर्तियाँ देवलक या पुजारियो के अधिकार मे होती थी। या तो वे एक स्थान में पधराई रहती या देवलक उन्हें स्थान-स्थान पर ले जाकर जीविका के लिए पूजा चढवाते थे। ऐसी चल और अचल मूर्तियाँ पूजार्थ और देवलको के जीविकार्थ होती थी किन्तु विक्री के लिये न होने से अपण्य थी। ये पाणिनीय सूत्र के अन्तर्गत आती हैं। अतएव इनमे कन् प्रत्यय का लोप करके इन्हे शिव-स्कन्द आदि नामो से अभिहित किया जाता था।

३—तीसरे प्रकार की मूर्तियाँ वे थी जो दुकानो में विक्री के लिये रखी जाती थी। वे पूजार्थ नही थी, यद्यपि अपने स्वामी दुकानदारो के लिये जीविका का साधन अवश्य थी। ऐसी पण्य मूर्तियाँ पाणिनीय सूत्र का प्रत्युदाहरण है। उन्हे "शिवक" 'स्कन्दक' आदि कहा जाता था।

४—यहाँ पतंजलि ने एक नई समस्या खड़ी कर दी। उन मूर्तियों का नामकरण आप कैसे करेंगे जिन्हें मौर्य राजाओ ने रुपये के लोभ से बनवाया था, जो बिकती भी थी, जो पूजा के लिये भी थी और जीविका का साधन भी थी।' मौर्यों ने सचमुच

---

१. भाष्य में 'दीर्घनासिकी' अर्चा', 'तुङ्ग नासिकी अर्चा' उदाहरण भी हैं। (४।१।५४)। देवमूर्ति के लिए अर्चा शब्द का प्रयोग मथुरा से प्राप्त मोरा कूप अभिलेख में एव कालान्तर के शिल्पसाहित्य में भी मिलता है।

२. अपण्य इत्युच्यते तत्रेदं न सिध्यति 'शिवः' 'स्कंदः' 'विशाख' इति किं कारणम्। मौर्यैर्हिर-

कुछ ऐसी मूर्तियाँ गढ़वाई थी जिनसे वे पैसा बटोरना चाहते थे। कौटिल्य से इस बात का समर्थन होता है। वहाँ लिखा है—'देवताध्यक्ष को चाहिए कि देव मूर्तियो के जरिये सोना बटोरे और खजाना भरे (आजीवेत् हिरण्योपहारेण कोशं कुर्यात्)। देवताओ के चैत्यो मे उत्सव और मेले करावे, और नाग मूर्तियाँ अपने फनो की संख्या घटा-बढा लेती हैं इस प्रकार की चमत्कार की बात फैलाकर भोली-भाली जनता से पुजवा कर पैसा इकट्ठा करे।' इससे सूचित होता है कि इस प्रकार की मूर्तियाँ जीविका, पण्य और पूजा तीनो बातो के लिये थी। प्रश्न यह उठाया गया कि इनमे पाणिनि का सूत्र लगे या नही और उनका नाम शिव रक्खा जाय या शिवक। पतञ्जलि ने यह समाधान दिया कि ऐसी मूर्तियो के लिये पाणिनीय सूत्र नही है। और यद्यपि वे पूजा और जीविका के लिये थी, उन्हे शिव और स्कन्द कहना कठिन था।

५—अन्त मे पतञ्जलि का कहना है कि मौर्य राजाओ की उन मूर्तियो की बात जो पण्य और जीविका दोनो के लिए थी छोड़ दें, पर इस समय जो मूर्तियाँ पूजा मे पधराई हुई है और जिनसे देवलको की जीविका चलती है किन्तु जो पण्य नही हैं उनमे पाणिनि का सूत्र लगेगा और वे शिव, स्कन्द, कही जायँगी शिवक नही।[२]

र्ण्यार्थिभिरर्चा· प्रकल्पिताः। भवेत्तासु न स्यात, यास्त्वेताः सम्प्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति—भाष्य (५।३।९९)।

२

अर्चाएं	जीविकार्थ या नहीं	पण्य या अपण्य	पूजार्थ या नहीं	नाम
१. सार्वजनिक प्रासादों में अर्चाएं	जीविकार्थ नहीं	अपण्य	पूजार्थ	पाणिनीय सूत्र में अनपेक्षित; अनुमानतः शिवः, स्कन्द.।
२ देवलकों की अर्चाएं	जीविकार्थ	अपण्य	पूजार्थ	शिवः, स्कन्दः।
३. पण्य अर्चाएं	जीविकार्थ	पण्य	पूजार्थ नहीं	शिवकः स्कन्दकः।
४. मौर्यों की अर्चाएं	हिरण्यार्थ	पण्य	पूजार्थ	उनका शिवः, स्कन्दः नाम नहीं (भवेत्तासु न स्यात)।
५ पतञ्जलि के समय में पूजनार्थ अर्चाएं	जीविकार्थ	अपण्य	पूजार्थ	शिवः, स्कन्दः (यास्त्वेताः संप्रति पूजार्थास्तासु भविष्यति)।

अर्थशास्त्र मे भी मूर्तिपूजा के प्रमाण मिलते हैं। उस समय शिव और वैश्रवण आदि देव मूर्तियाँ मन्दिरो मे स्थापित थी। सूत्र २।४।१४ के गण पाठ से ज्ञात होता है कि शिव वैश्रवण, स्कन्द-विशाख, ब्रह्म-प्रजापति सदृश नए देवता लोकपूजा में प्रविष्ट हो गए थे। पतञ्जलि ने कहा है कि वेद में इनका साथ निर्देश न था, लोक मे ही इनके जुड़वाँ नामो की प्रथा पडी। (न चैते वेदे सहनिर्वाप निर्दिष्टाः, ६।३।२६ भाष्य)। लोक मे यक्ष, नाग और ऐसे ही छोटे देवताओ की जो पूजा थी उन्ही के दो प्रधान देवता शिव और वैश्रवण थे। कुबेर की सज्ञा वैश्रवण या महाराज भी थी जो उत्तर दिशा मे यक्ष या यक्खो के राजा माने जाते थे। सूत्र ६।४।१३५ में पाणिनि ने धृतराजन् नाम का उल्लेख किया है जिसकी पहिचान पूर्व दिशा में गन्धब्बो (गन्धर्वों) के अधिपति लोकपाल धतरट्ठ से सम्भव है। (संस्कृत धृतराष्ट्र)।

असुर—सूत्रो मे देवो के वैरी असुरों के भी कुछ नाम हैं, जैसे—दैत्यो की माता दिति (४।१।८५), सर्पों की माता कद्रू (४।१।७२), असुर (४।४।१२३), राक्षस और यातु (४।४।१२१)। आसुरी माया (४।४।१२३) शब्द प्राचीन था जिसका प्रयोग असुर विद्या के लिये होता था (आश्वलायन श्रौत, १०।७; शतपथ, १३।४, ३।११)। कुसित की स्त्री कुसितायी एक राक्षसी थी जिसका उल्लेख मैत्रायणी संहिता मे आया है (मैं० स० ३।२।६)। राहु और चन्द्रमा की कथा का सकेत विधुन्तुद शब्द में है (३।२।३५)।

यक्ष—शेवल, सुपरि, विशाल, वरुण और अर्यमा इन पाँचो का उल्लेख एक सूत्र में है। ये पाँचो यक्षो के नाम थे। लोक में यक्ष पूजा का बहुत अधिक प्रचार हुआ था। चरण परिषद् मे विराजमान आचार्य की तुलना यक्ष के प्रिय दर्शन रूप से की गई है। (उपेत्याचार्यं परिषद प्रेक्षेद् यक्षमिव, द्राह्यायण गृह्य ३।१।२५; गोभिल गृह्य ३।४।२८)। इन्द्र, वरुण, आदि वैदिक देवताओ को भी यक्ष रूप मे मानकर उनकी पूजा होने लगी थी। दीघ निकाय मे वरुण, इन्द्र, सोम, प्रजापति को यक्खो मे प्रधान कहा गया है। (आटा नाटीय सुत्त)। महामायूरी सूची मे तो विष्णु, कार्तिकेय, शकर, मकरध्वज, कामदेव, वज्रपाणि इन्द्र या शक्र इन सबको यक्ष माना गया है, पर वह पाणिनि के बहुत बाद की रचना है। महाभारत मे यक्ष-युधिष्ठिर प्रश्नोत्तरी मे यक्ष को महाकाय, ताल समुच्छ्रित, ज्वलनार्क प्रतीकाश, अदृश्य और पर्वतोपम कहा गया है। विशाल भी एक बड़े यक्ष का नाम था (सभापर्व १०।१६)। धार्मिक जगत् में फैले हुए यक्ष पूजा के ताने-बाने में से कुछ नामों का पाणिनीय सामग्री मे आ जाना आश्चर्यप्रद नहीं है।

अध्याय ६, परिच्छेद २—यज्ञ

याज्ञिक—यज्ञो का अध्ययन करने वाले याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय का उल्लेख यास्क ने किया है; पाणिनि मे भी याज्ञिको के आम्नाय और धर्म को याज्ञिक्य कहा गया है। पतञ्जलि ने भी याज्ञिक शास्त्र और याज्ञिको के वाङ्मय का उल्लेख किया है। पाणिनि मे जो धार्मिक चित्र है उसमे यज्ञ सम्बन्धी साहित्य और यज्ञ कर्म (१।२।३४, ८।२।८८) की पर्याप्त सामग्री पाई जाती है। सुब्रह्मण्या (१।२।३७), न्यूङ्ख (१।२।३४) और याज्या मन्त्रो के (८।२।९०) उच्चारण के सम्बन्ध मे आचार्य ने सूक्ष्म नियमो का उल्लेख किया है।

याज्ञिक साहित्य एक ओर यज्ञ के कर्मकाण्ड से सम्बन्धित विशाल ब्राह्मण और अनुब्राह्मण साहित्य था। दूसरी ओर क्रतु या सोम यज्ञ एव दूसरे यज्ञ या इष्टियो के व्याख्यान ग्रन्थ भी बनाए गए थे (४।३।६८) जिनके ये उदाहरण मिलते हैं, अग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक, नावयज्ञिक, पाक यज्ञिक आदि। पुरोडाश सम्बन्धी कुछ पद्धतियो का सूत्र मे उल्लेख है। पुरोडाश किस प्रकार बनाया जाय इसकी विधि बताने वाला व्याख्यान ग्रन्थ पुरोडाशिक था[1]। पुरोडाश बनाने में जिन मत्रो की आवश्यकता होती थी उनका व्याख्यान ग्रन्थ पौरोडाशिक कहा जाता था (४।३।७०)। ये मत्र यजुर्वेद प्रथम अध्याय मे हैं और शतपथ प्रथम काण्ड मे उनकी व्याख्या है। यज्ञो मे सम्मिलित होने वाले ऋत्विजो की तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ऐसी सारोद्धारिणी पद्धतियो की माँग रहती थी।

यजमान—जब तक यज्ञ की अवधि रहती तब तक के लिये मुख्य कर्त्ता की संज्ञा यजमान होती थी (३।२।१२९)। यज्ञ की समाप्ति पर वह अपने उस यजन के अधिकार से यज्वा (३।२।१०३) कहलाता था। विशिष्ट यज्ञो के आधार पर उसके लिये अग्निष्टोमयाजी आदि विशेषण प्रयुक्त होते थे (३।२।८५)। जो व्यक्ति बार-बार यज्ञ करता, और जिसका स्वभाव ही यजनशील बन जाता था उसके लिये भाषा मे यायजूक शब्द था (३।२।१६६; इज्याशीलो यायजूक.)। यज्ञकाल मे यजमान वाक् सयम का व्रत रखने के कारण वाचंयम (वाचि यमो व्रते, ३।२।४०) एव स्थडिल पर शयन करने के कारण स्थाण्डिल (४।२।१५, स्थडिलाच्छयितरि व्रते) या स्थडिलशायी (३।२।८०) कहलाता था। यजमान का अन्तेवासी या पुत्र जब यज्ञ कर्म करने के योग्य वय प्राप्त करता तो वह अलङ्कर्मीण कहा जाता था

१. पुरोडाश तयार करने की विधि के अंग इस प्रकार हैं—व्रीहीन् निर्वपति (यजुर्वेद अध्याय १, मत्र ९), प्रोक्षति (मत्र १२), अवहन्ति (मत्र १४), परापुनाति (मंत्र १६), तण्डुलान् पिनष्टि (मत्र २०), प्रणीताभिः सयौति (मंत्र २१), और कपालेषु श्रपयति (मत्र २२)। इन्हीं प्रक्रियाओं की व्याख्या पुरोडाशिक ग्रन्थ में की जाती थी, जैसी शतपथ के आरम्भ में है।

(५।४।१, अलंकर्मणो अलकर्मीणः) । उस समय वह अपने पिता या गुरु के समीप बैठकर आहुति डालने मे उसकी सहायता करता था (यदस्य पुत्रो वान्तेवासी वाल-कर्मीणः स्यात्सदक्षिणत आसीनो जुहुयादिति, बौधायन श्रौतसूत्र, २२।१०) । अलं-कर्म मे कर्म शब्द का सामयिक अर्थ यज्ञ था (यजुर्वेद १।१; शतपथ १।१।२।१, यज्ञो वै कर्म) ।

आस्पद—ब्राह्मणो मे सामाजिक प्रतिष्ठा आस्पद कहलाती थी (आस्पदं प्रतिष्ठायाम्, ६।१।१४६) । यज्ञो के आधार पर आस्पदो की प्रसिद्धि होती थी, जैसे वाजपेयी, अग्निहोत्री आदि । जो श्रौताग्नियो का आधान करके उनकी परिचर्या करता था उसे आहिताग्नि कहते थे (२।२।३७, वाऽऽहिताग्न्यादिषु) । आवसथ अग्नि के लिये निर्मित स्थान मे निवास करने वाला व्यक्ति आवसथिक कहलाता था (आवसथात् ष्ठल् ४।४।७४, आवसथे वसति आवसथिक, आवसथिकी) । ब्राह्मणो का अवस्थी आस्पद इसी से बना है । यज्ञ भूमि मे यजमान के लिये जो स्थान बनाया जाता था वह आवसथ कहलाता था क्योकि आवसथ अग्नि की स्थापना वही की जाती थी । यज्ञ के दिनो मे यजमान को वही रहना आवश्यक था । इसे ही अग्निशरण भी कहते थे ।

याज्ञ-नाम (यज्ञाख्या ५।१।९५)—यज्ञ शब्द की व्युत्पत्ति यज् धातु से की जाती थी (३।३।९०, यज् + नङ्) । पाणिनि ने इज्या शब्द का भी प्रयोग किया है (३।३।९८) । यजुर्वेद मे यज्ञो का प्रतिपादन है । यज्ञ तीन प्रकार के थे—इष्टि, पशुवध और सोम । इष्टि जैसे दर्श पौर्णमास मे स्वाहा कह कर और बैठकर आहुति दी जाती है । पशुबन्ध और सोमयज्ञो मे आहुति खडे होकर और वौषट् बोलकर डाली जाती थी[१] । एक सूत्र मे अध्वर्युवेद अर्थात् यजुर्वेद के क्रतुओ का उल्लेख है (अध्वर्युक्रतुरनपुसकम्, २।४।४), जैसे अर्काश्वमेध, सायाह्नातिरात्र (काशिका) । क्रतुयज्ञेभ्यश्च (४।३।६८) सूत्र मे क्रतु और यज्ञो में अन्तर बताया गया है । यज्ञ व्यापक शब्द था । उसके अन्तर्गत दर्श, पौर्णमास जैसी इष्टियाँ, पाक यज्ञ और नवयज्ञ जैसे साधारण होम, पचौदन और सप्तौदन जैसे विशिष्ट स्थालीपाक एव अग्निष्टोम, राजसूय और वाजपेय जैसे क्रतु भी थे । किन्तु क्रतु शब्द केवल सोम यज्ञो के लिये ही प्रयुक्त होता था (क्रतु शब्द सोमयज्ञेषु रूढ., काशिका, २।४।४) । क्रतुओ मे सोम की आहुति दी जाती है । क्रतु दो प्रकार के होते हैं, एक अहीन कहलाते हैं जो एक दिन से ग्यारह दिन तक चलने वाले सोमयाग है, और दूसरे सत्र, जो बारह दिन से वर्ष, दो वर्ष, सौ वर्ष या सहस्र वर्ष तक चलते हैं । सूत्र ४।२।४२ पर एक वार्तिक द्वारा क्रतु के अर्थ मे अहीन शब्द

---

१. उपविष्टहोमाः स्वाहाकारप्रदानाः जुहोतयः । तिष्ठ द्धोमाः वषट्कारप्रदानाः याज्यापुरोनु-वाक्यावन्तो यजतयः ।

सिद्ध किया गया है (अह्न खः क्रतौ: और भी सूत्र ६।४।१४५, अह्ना समूहः क्रतुः अहीनः)। दिनो की अवधि के अनुसार अहीन यज्ञ एकाह, दशाह, आदि कहलाते थे (५।१।९५, काशिका) अग्निष्टोम, वाजपेय और राजसूय क्रतु हैं, पर सत्र नही। अग्निष्टोम और वाजपेय एक-एक दिन के यज्ञ हैं जिनके पहिले चार दिन की पूर्वाङ्ग विधि की जाती थी। राजसूय चार दिन का यज्ञ है। कभी-कभी सोमयाग का नाम दिनो की सख्या और यजमान के नाम से पड जाता था, जैसे गर्ग त्रिरात्र (गर्ग कुल मे तीन दिन का सोमयाग); इसी प्रकार चरक त्रिरात्र, कुसुर विन्दु सप्त रात्र (द्विगौ क्रतौ, ६।२।९७)।

विशेष यज्ञो मे पाणिनि ने अग्निष्टोम (८।३।८२), ज्योतिष्टोम और आयुष्टोम (८।३।८३) का उल्लेख किया है। आयुष्टोम और ज्योतिष्टोम मिलकर अभिप्लव विधि होती है। अग्निष्टोम मे तीन सवन और द्वादशस्तोत्र होते हैं। यह सब क्रतुओ की प्रकृति है। राजसूय (३।१।११४) उसी की विकृति है। तुरायण इष्टि करने वाला यजमान तौरायणिक कहलाता था (तुरायणं वर्तयति, ५।१।७२) पौर्णमास इष्टि के आधार पर ही फेर-फार करके तुरायण किया जाता था। शाखायन ब्राह्मण मे इसे स्वर्ग काम व्यक्ति का यज्ञ कहा है (स एव स्वर्गकामस्य यज्ञः, ४।११; आरण्यकपर्व १३।२१)। कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुसार (२४।७।१–८) तुरायण सत्र वैशाख शुक्ल या चैत्र शुक्ल पचमी को आरम्भ करके एक वर्ष तक चलता था (संवत्सरं यजते)। इसे द्वादशाह की विकृति मानते थे। कुण्डपाय्य और संचाय्य विशिष्ट सोमक्रतुओ की सज्ञा थी (क्रतौ कुण्डपाय्यसचाय्यौ, ३।१।१३०)। कुण्डपाय्य भी द्वादशाह यज्ञ की विकृति थी। वह एक वर्ष का सत्र था जिसे कुण्डपायी ऋषियो ने किया था (ऋग्वेद ८।१७।१३ मे कुण्डपायी का नामोल्लेख है)।

पाणिनि ने दीर्घ सत्र यज्ञो का भी उल्लेख किया है, जो सौ या सहस्र वर्ष के दीर्घ-काल तक चलते थे (७।३।१)। ब्राह्मण ग्रन्थो मे ऐसे यज्ञो का वर्णन है, जैसे विश्व-सृज् जो कि सहस्र सम्वत्सर सत्र था। (पंचविश ब्राह्मण)। पतजलि ने लिखा है कि ऐसे दीर्घकालीन सत्र लोक मे वस्तुतः कोई करता न था (लोके अप्रयुक्ताः), केवल याज्ञिक लोगो के सम्प्रदाय मे वे विदित थे (दीर्घ सत्राणि वार्षशतिकाणि वार्षसहस्रि-काणि च न चाद्यत्वे कश्चिदपि व्यवहरति केवलमृषि सम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते, भाष्य पस्पशाह्निक, वा० अप्रयुक्ते दीर्घ सत्रवत्)।

सोम—सोम अभिषव सुत्या कहलाता था (३।३।९९)। अभिषव करने वाले को सोमसुत् कहते थे (३।२।९०)। जिस यजमान ने सोम का अभिषव किया होता वह यज्ञ हो जाने पर सुत्वा इस विरुद से प्रसिद्ध होता था (३।२।१०३), जैसे यज्ञ कर्ता के लिये यज्वा था। सोमपान करना कुछ आर्थिक सुविधा और आध्या-त्मिक तैयारी पर निर्भर था। जिसमें सोमपान करने की इस प्रकार की योग्यता

या अर्हता हो वह सोम्य कहलाता था (सोममर्हति यः, ४।४।१३७)। याज्ञिक लोग कहते थे कि जिसके कुल मे दस पीढी पहले तक आचार पर कोई आँच न आई हो वह सोमपान का अधिकारी होता है (एवं हि याज्ञिका· पठन्ति दश पुरुषानूकं यस्य गृहे शूद्रा न विद्येरन् स सोम पिबेदिति, भाष्य ४।१।९३)। मनु का दृष्टिकोण आर्थिक योग्यता से है—जिसके घर मे तीन वर्ष या उससे अधिक के लिये पर्याप्त अन्न हो वह सोम पीने की योग्यता रखता है (यस्य त्रैवार्षिक धान्य निहितं भृत्यवृत्तये। अधिक वापि विद्येत स सोमं पातु मर्हति (मनु ११।७, काशिका ७।३।१६)। सोमपान की इच्छा रखने वाले व्यक्ति को पर्याप्त सामग्री सँभार एकत्र रखना चाहिए, अन्यथा उसका परिश्रम असफल रह जाता है (मनु ११।८) । सोम यज्ञ मे यद्यपि ऋत्विक् सोम कूटने-पीसने-छानने की क्रिया करता, पर यजमान को ही प्रधान कर्ता होने के नाते उसका फल प्राप्त होता था। वह यजमान सुन्वन् कहलाता था (सुञो यज्ञ सयोगे, ३।२।१३२)। बारह दिन या उससे अधिक के सोम सत्र मे ऋत्विजो की सख्या सत्रह से पच्चीस तक होती थी (सप्त दशावरा पंचविंशतिपरमा·)। उनमे सभी यजमान होते थे, सभी ऋत्विज् भी थे (सर्वे यजमाना सर्वे ऋत्विजः), सब का आहिताग्नि होना आवश्यक था, सब को यज्ञ के पुण्य फल मे समान भाग प्राप्त होता था, कोई न दक्षिणा देता था और न पाने की आशा करता था, एव सभी मिलकर सोम का सेवन करते थे। इसी स्थिति का सूचक यह वाक्य था—सर्वे सुन्वन्तः सर्वे यजमानाः सत्रिणः उच्यन्ते (काशिका, ३।२।१३२, सुञो यज्ञ सयोगे)।

अग्न्याख्या (३।२।९२)—जो अग्नि आहुति को देवों के समीप ले जाता है, उसकी सज्ञा हव्यवाहन (३।२।६६, हव्येऽनन्त. पादम्) और जो पितरो के पास ले जाता है उसकी सज्ञा कव्यवाहन थी (कव्यपुरीषपुरीष्येषु ञ्युट् , ३।२।६५)। हव्य वाहन अग्नि को स्वाहा और कव्य वाहन को स्वधा कह कर आहुति दी जाती है (२।३।१६)। श्रौत यज्ञो के लिये उपयुक्त अग्नि चित्याग्नि कहलाती थी (३।१।१३२)। तीन श्रौताग्नियों मे गार्हपत्य (गृहपतिना संयुक्ते ञ्य , ४।४।९०, गृहपतिना सयुक्त. गार्हपत्योऽग्नि.) और दक्षिणाग्नि का उल्लेख सूत्रो मे है। दक्षिणाग्नि का विशिष्ट नाम आनाय्य था क्योकि उसे गार्हपत्य अग्नि मे से लाते थे और कर्म हो जाने के बाद फिर उसकी रक्षा या आधान नही किया जाता था (आनाय्योऽनित्ये, ३।१।१२७; भाष्य, आनाय्यो दक्षिणाग्नविति वक्तव्यम्)। आनाय्य शब्द कुछ विशेष प्रकार का है। श्रौत यज्ञ की अग्नि अरणी मथन से उत्पन्न की जाती थी। उत्पन्न होने पर उसे आहिताग्नि यजमान गार्हपत्य नामक वेदी मे गार्हपत्य अग्नि के रूप मे सुरक्षित रखता था। दो वेदियाँ और थी, आहवनीय और दक्षिणाग्नि। यजमान अपनी गार्हपत्य वेदि में से अग्नि ले जाकर उन दोनो वेदियो मे डालता था; इसीलिये दोनो उस काल विशेष के लिये ही पृथक् प्रज्वलित होने के कारण अनित्य कहलाती थी। जैसे

ही आहुतियाँ समाप्त हो जाती, वे दोनो पवित्र अग्नियाँ न रह जाती थी, किन्तु गार्हपत्य सदा रक्षा के योग्य थी। ऐसी भी प्रथा थी कि गार्हपत्य अग्नि में से दक्षिणाग्नि के लिये अग्नि न लेकर भडभूजे के भाड से (भ्राष्ट्र), वैश्यकुल मे जो प्रज्वलित अग्नि हो उससे, या किसी ऐसी नई जगह से भी ले सकते थे जहाँ अभी श्रौताग्नि की विधिवत् स्थापना न हुई हो। ऐसी पृष्ठभूमि में आनाय्य संज्ञा केवल दक्षिणाग्नि के लिये प्रयुक्त होती थी (आनाय्यो दक्षिणाग्नेः रूढिरेषा, काशिका)।

वेदियाँ—वेदि मे अग्नि प्रज्वलित करने की तीन अवस्थाओ के लिये तीन शब्द भाषा में थे—परिचाय्य, उपचाय्य, समूह्य (३।१।१३२)। आरम्भ मे समिधाओ को विधिपूर्वक चुनकर और वेदि को सजाकर जो अग्नि जलाई जाती थी वह परिचाय्य अवस्था हुई (परिचाय्य चिन्वीत ग्राम कामः, शतपथ ५।४।११।१)। यह उसकी अलंकरण की दशा थी। बीच मे जब वह खूब दहक जाती तो उसे उपचाय्य कहते थे (=संवर्धन)। अन्त मे उसे इधर-उधर बिखरी अवस्था मे बटोर कर राख, कचरा आदि का ढेर लगा देना, यह उसकी समूह्य अवस्था थी। इसी के लिये समूह्य पुरीष, यह सार्थक शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था (शतपथ ६।७।२।८; कात्यायन श्रौ० १६।५।९–१०)।

दर्श-पौर्णमास की वेदि ३६ वितस्ति लम्बी और १८ वितस्ति चौडी कही गई है (२७ फुट × १३½ फुट) इससे दुगनी नाप की वेदि द्विस्तावा और तिगुनी नाप की त्रिस्तावा कहलाती थी (द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः, ५।४।८४; यावती प्रकृतौ वेदिस्ततो द्विगुणा वा त्रिगुणा वा कस्याश्चिद् विकृतौ—काशिका)।

वेदि की इस भूमि पर भिन्न-भिन्न वेदियाँ या हवनकुड बनाए जाते थे। प्रत्येक की अपनी आकृति होती थी। उनका उल्लेख कर्मण्यग्न्याख्यायाम् सूत्र मे (३।२।९२) किया गया है, जैसे श्येनचित् , कंकचित् (काशिका), द्रोणचित् (चतुरस्र), रथचक्रचित् (वृत्त), प्रउगचित् (त्रिकोणाकृति), उभयतः प्रउगचित् (दोहरे त्रिकोण की या डमरू की आकृति; कात्यायन श्रौत सूत्र १६।५।९)। यह सब विशिष्ट प्रकार का अग्नि चयन था जिसे अग्नि चित्या कहा जाता था (३।१।१३२)। वेदियो के निर्माण मे जिन-जिन मन्त्रो से इष्टकाचिति की जाती थी, उन मन्त्रो से उन इष्टिकाओ का नाम पड जाता था (तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः, ४।४।१२५)। मन्त्र मे जो महत्त्वपूर्ण शब्द होता उसे प्रतीक मानकर इष्टका का नाम रखा जाता था, जैसे वर्चस्या, तेजस्या, रेतस्या, पयस्या ये इष्टकाओ के प्राचीन नाम थे। पाणिनि ने आश्विनी नामक इष्टका का उल्लेख विशेष सूत्र मे किया है। (अश्विनामण् , ४।४।१२६)। जो इस प्रकार की अग्नियो का चयन करता था, उसे अग्निचित् कहते थे (३।२।९१, अग्नौ चे.)।

यज्ञार्थ उपकरण—इनमे से कुछ का प्रासंगिक उल्लेख सूत्रो में आ गया है। सोम

ऋतुओं में जिस स्थान पर बैठकर छन्दोग या सामगान करनेवाले ऋत्विज् साम गान करते थे वह स्थान संस्ताव कहा गया है। अमरकोश में इसे स्तुति भूमि लिखा है। कूड़ा-कचरा फेंकने का स्थान अवस्कर कहलाता था (४।३।२८, अवस्करे जात' अवस्करकः)। कुश या दर्भ की संज्ञा पवित्र थी (पुव. संज्ञायाम्, ३।२।१८५, यजु १।२।३, १२)। सोमयाग मे सोम नामक ओषधि की आवश्यकता पड़ती थी। पतंजलि ने पूतीक या कुशा को सोम का प्रतिनिधि लिखा है; साथ ही कहा है कि इससे यह न समझना चाहिए कि सोम गई-बीती वस्तु हो गई (नच तत्र सोमो भूत पूर्वो भवति, १।१।५६, भाष्य)।

यज्ञपात्र (१।३।६४)—सोम पीने के पात्र या सोम ग्रहों का जोड़ा रक्खा जाता था। द्वन्द्व शब्द का एक अर्थ 'यज्ञ पात्र प्रयोग' भी है (८।१।१५)। सूत्र में शुल्लक वैश्वदेव और महावैश्वदेव नामक ग्रहो का उल्लेख आया है। (क्षुल्लकश्च वैश्व-देवे, ६।२।३९; दे० क्षुल्लक के लिये कात्यायन श्रौ० ९।४।१, और महा० के लिये १०।६।२)। आहुति द्रव्य हवि था। उसी का एक विशेष रूप सानाय्य कहलाता था (३।१।१२९)। यह दर्श नामक इष्टि मे इन्द्र देवता के उद्देश्य से दी जानेवाली हवि थी। इष्टि से पहली सायंकाल का जो गाय का दूध दुहा जाता था (सायदोह) उसका दही जमा लिया जाता था। अगले दिन उस दही मे प्रातःकाल का दुहा हुआ दूध (प्रातर्दोह) मिलाकर सानाय्य हवि बनती थी। (सम्+नी = सानना, मिलाना)।[1]

ऋत्विक्—यज्ञ के सब पुरोहित ऋत्विज कहलाते थे (३।२।५९)। ऋत्विक् कर्मों के कराने में दक्ष कर्म कर्ता आर्त्विजीन कहलाते थे (५।१।१७१ सूत्र पर वा० ऋत्विक् कर्माहंति)। पतजलि ने आर्त्विजीनं ब्राह्मण कुलम् लिखा है। स्पष्ट है कि वैदिक युग से ही ब्राह्मण लोग बडे परिश्रम से ऋत्विक् कर्म मे निपुणता उपार्जित करते आए थे। षड्विंश ब्राह्मण के अनुसार यज्ञो मे प्रयुक्त वेदमन्त्रो का शुद्ध उच्चारण करने वाले ब्राह्मण आर्त्विजीन कहलाते थे (एष आर्त्विजीनो य एत वेद मनु ब्रूते, १।३।१६)। आर्त्विजीन वह माना जाता था जो यज्ञ मन्त्रो का पद, स्वर और अक्षर के अनुसार शुद्ध स्फुट उच्चारण कर सके (यो वा इमां पदशः स्वरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीन., पस्पशाह्निक भाष्य)। यजमान के लिये विविध प्रकार के यज्ञ कर्म करने के कारण ऋत्विज् को याजक कहा जाता था। जिस जाति का यजमान

---

१. दर्श इष्टि में तीन आहुतियाँ होती हैं पहली अग्नि के लिये आग्नेय पुरोडाश की, दूसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र दधि की और तीसरी इन्द्र के लिये ऐन्द्र पय या दूध की आहुति। दूसरी और तीसरी को साथ मिलाने से सांनाय्य हवि बनती थी। इसमें उद्दिष्ट देवता तो एक था, पर भिन्न आहुति द्रव्यों को एक में मिलाकर साथ ही हवि दी जाती थी। पहले जुहू में दही भर कर, उसके ऊपर दूध छोड़ने से सांनाय्य हवि बनती थी।

हो उसके साथ याजक शब्द जोडकर भाषा मे शब्द बनते थे, जैसे ब्राह्मण याजक, क्षत्रिय याजक (याजकादिभिश्च, २।२।९)।

विशेषज्ञ—जो जिस यज्ञ या विधि मे विशेष निपुणता प्राप्त करता था, उसे उसी के लिये आमन्त्रित करते थे। जो सोम क्रतुओ का विशेष अध्ययन करते वे आग्निष्टोमिक, वाजपेयिक, राजसूयिक आदि कहलाते थे। स्वाभाविक था कि इतने बड़े यज्ञो का दायित्व लेने के लिए इन विशेषज्ञो को ही आमन्त्रित किया जाता। वे अपने पुत्र और शिष्य वर्ग के साथ इन यज्ञो में सम्मिलित होते थे (क्रतुविशेषवाचिभ्यष्ठक् प्रत्ययो भवति तदधीते तद्वेदे त्यस्मिन् विषये, काशिका)। जैसे यजमान पुत्र अपने पिता की सहायता करता था वैसे ही ऋत्विक पुत्र भी करते थे और वे अलंकर्मीण कहलाते थे (यदस्य पुत्रो वान्तेवासी वालकर्मीणः स्यात् , बौ० श्रौ० २२।२०)। इसीलिये भाषा मे ऋत्विक् पुत्र एवं होतु. पुत्र जैसे शब्दो की अलग आकाक्षा हुई (६।२।१३३)।

ऋत्विक् सख्या—ब्राह्मणो के अनुसार ऋत्विजो की संख्या सोलह थी। उनके चार वर्ग थे[1]। ऋग्वेद के ऋत्विजो मे पाणिनि ने होता, प्रशास्ता (६।४।११) और ग्रावस्तुत् (३।२।१७७) का उल्लेख किया है। प्रशास्ता को मैत्रावरुण भी कहते थे। होता याज्या और अनुवाक्या मन्त्रो का पाठ करता था। ग्रावस्तुत् ऋत्विज् सोम का अभिषव करते समय सिल बट्टो की स्तुति के मन्त्र पढता था।

सामवेद के ऋत्विजो मे उद्गाता (५।१।१२९) और उसके सहायक प्रतिहर्ता का (गण पाठ मे) उल्लेख है।

यज्ञ मे अध्वर्यु का पद महत्वपूर्ण था। यजुर्वेद को अध्वर्युवेद कहा जाता था। जैसे-जैसे यज्ञो के कर्मकाड की अभिवृद्धि हुई अध्वर्यु ऋत्विजो के भेद बढ़ने लगे। इसमें दो हेतु थे। एक तो देश भेद से अध्वर्युओ की ख्याति हुई जैसे प्राच्याध्वर्यु, अर्थात् प्राच्य देश का अध्वर्यु। दूसरा महत्वपूर्ण कारण वैदिक शाखाओ के भेद से कर्मकाण्ड मे भेद पड़ जाना था। इसके प्रमाण ब्राह्मण और श्रौत सूत्रो मे भरे पड़े हैं। उदिते जुहोति, अनुदिते जुहोति, सूरज निकलने पर हवन करे या निकलने से पहले—इस प्रकार के सैकडो ही मतभेद थे और प्रत्येक आम्नाय या शाखा अपनी इन विशेषताओ का वडा आग्रह रखती थी। इसी आधार पर कठाध्वर्यु, कलापाध्वर्यु जैसे शब्द अस्तित्व में आए और भाषा मे प्रचलित हुए। (अध्वर्यु कषाययो र्जातौ, ६।२।१०)। विशेषत कृष्ण यजुर्वेद के आम्नायवाले कर्मकाण्ड की बारीकियो के भक्त थे।

---

१. १. ऋग्वेद—होता, मैत्रावरुण, अच्छावाक्, ग्रावस्तुत।
२. यजुर्वेद—अध्वर्यु, प्रति प्रस्थाता, नेष्टा, उन्नेता।
३ सामवेद—उद्गाता, प्रस्तोता, प्रतिहर्ता, सुब्रह्मण्य।
४. अथर्ववेद—ब्रह्मा, ब्राह्मणाच्छसी, आग्नीध्र, पोता।

अथर्ववेद के ऋत्विजो मे पाणिनि ने ब्रह्मा (५।१।१३६), अग्नीध् (८।२।९२) और पोता (६।४।११) का उल्लेख किया है। ऋग्वेद मे ही ब्रह्मा का महत्त्व और ऋत्विजो की अपेक्षा विशेष माना जाने लगा था, उसे सुविप्र कहा गया है। ब्रह्मा चारो वेदो का और यज्ञ के सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का अधिष्ठाता होता था, यही उसकी विशेषता थी। कालान्तर मे जो महाब्रह्मा पद सबसे विशिष्ट विद्वान् के लिये प्रयुक्त किया जाने लगा उसकी पृष्ठभूमि यही थी।

ऋत्विजो के पृथक् कर्म—यज्ञ मे सोलह ऋत्विजो का काम एक दूसरे के साथ सहयोग पर आश्रित था। उनमे से हर एक के कर्म और भाव को प्रकट करने के लिये भाषा मे अलग-अलग शब्द थे। ये शब्द ऋत्विजो के नामो मे प्रत्यय जोड़कर बनाए जाते थे। होत्राभ्यश्छ (५।१।१३५) सूत्र में इसका विधान किया गया है, (होत्रा शब्द ऋत्विग्विशेष वचनः, काशिका); जैसे आच्छावाकीय (आच्छावाकस्य भाव· कर्म वा), मित्रावरुणीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, आग्नीध्र प्रतिप्रस्थात्रीय, नेष्ट्रीय, पोत्रीय आदि। उद्गाता का कर्म औद्गात्र (५।१।१२९) और अध्वर्यु का आध्वर्यव (४।३,१२३) कहलाता था। ब्रह्मा का कर्म या भाव ब्रह्मत्व कहा जाता था (ब्रह्मणस्त्वः, ५।१।१३६)।

मत्र करण—यज्ञ में देवताओ के आवाहन के लिये निश्चित मंत्रो का पढना मत्रकरण कहलाता था उपान्मत्रकरणे, १।३।२५)। उसके लिये भाषा में विशेष प्रयोग ही चल गए थे, जैसे आग्नेय्याऽऽग्नीध्रमुपतिष्ठते (आग्नेयी ऋचा के पाठ से आग्नीय ऋत्विज का उपस्थान करता है), ऐन्द्रचा गार्हपत्यमुपतिष्ठते (ऐन्द्री ऋचा के पाठ से गार्हपत्य अग्नि का उपस्थान करता है। मत्रो का स्फुट स्वर वर्ण के साथ उच्चारण समुच्चारण कहा जाता था (१।३।४८)। देवताओ का आवाहन निहव या अभिहव कहलाता था (३।३।७२)।

याज्यामत्र—यज्ञ कर्म मे याज्या ऋचाओ का पाठ विशेष महत्व रखता है। पाणिनि ने सूत्रो में उसका विस्तृत उल्लेख किया है (८।२।८८-९२)। सब याज्या मत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं। आश्वलायन श्रौत सूत्र और अन्य श्रौत सूत्रो के हौत्र काड मे उनका निर्देश है। जब-जब अध्वर्यु आहुतियाँ आरम्भ करता है, तभी उस कर्म के साथ होता याज्या और पुरोऽनुवाक्या मंत्रो का पाठ करता है। अध्वर्यु स्वयं मत्र का पाठ नही करता; मत्र पढना होता का कर्म है। अध्वर्यु होता को प्रेरित करता है; उस प्रेरणा को प्रैष कहते हैं। उस प्रैष को सुनते ही होता मंत्र पढता है और अन्त मे वौषट् का उच्चारण करता है। मन्त्र सुनते ही अध्वर्यु 'स्वाहा' बोल कर अग्नि में आहुति छोड देता है।[1]

---

१ होताध्वर्युरावया अग्निमिन्धो ग्रावग्राभ उत शंस्ता सुविप्रः।
तेन यज्ञेन स्वरकृतेन स्विष्टेन वक्षणा आ पृणध्वम्॥ ऋ० १।१६२।५

यह कर्म इस प्रकार किया जाता है—

(१) पुरोनुवाक्या का प्रैष, अनुब्रूहि—अध्वर्यु की ओर से होता को मिलने वाला यह पहला प्रैष होता है। अध्वर्यु कहता है—अग्नयेऽनुब्रूहि अग्निदेवता का आवाहन करने वाले बोल बोलो। सुनकर होता पुरोनुवाक्या ऋचा का उच्चारण करता है। सूत्र ८।२।९१ के अनुसार अग्नयेऽनुब्रूहि में अध्वर्यु द्वारा ब्रूहि का आद्यस्वर प्लुत किया जाता है—अग्नयेऽनुब्रू३हि।

(२) पुरोनुवाक्या—प्रैष सुनते ही होता पुरोनुवाक्या ऋचा का पाठ करता है। उसके अंत मे प्रणव का उच्चारण प्लुतस्वर के साथ करना पड़ता है (प्रणवष्टे॰,८।२।८९), जैसे अपा रेतासि जिन्वतो३म् (ऋचा के पाद या अर्धऋचा के अन्तिम स्वर को अलग निकाल कर ओम् के ओ के साथ मिलाकर उसे प्लुत करना यही प्रणव है)। पुरोनुवाक्या और याज्या मे अन्तर था, पहली से देवता को बुलावा दिया जाता है जिसे आवाहन करना कहते हैं। जब देवता आ गए तब याज्या से उसे आहुति द्रव्य दिया जाता है (ह्वयति वा अनुवाक्यया, प्रयच्छति याज्यया, शतपथ १।७।२।१७)। जब होता पुरोनुवाक्या पढ चुकता है, तब याज्या का पाठ करता है (अथ यदनुवाक्यामनूच्य याज्यया यजति, शतपथ ११।४।१।१२)। पुरोनुवाक्या-याज्या मिलाकर पूरा कर्म होता है अर्थात् देवता का आवाहन और हवि प्रदान। शतपथ मे कहा है कि कई जगह पुरोनुवाक्या बिना पढ़े ही याज्या पढ़ दी जाती थी (अथ यदपुनर्वाक्यिका भवन्ति, शतपथ ११।४।१।१२)। शतपथ के अनुसार अनुवाक्या द्युलोक है याज्या पृथिवी है। दोनो का एक जोड़ा है, पर दोनो स्त्रियाँ हैं। उनका मिथुन या पुरुष भाव वषट्कार है (श० १।७।२।११; सोऽनुवाक्यामनूच्य याज्यामनु द्रुत्य पश्चाद् वषट् करोति, श० १।७।२।१२)।

(३) आश्रवण—अध्वर्यु, अग्नीध् और होता के आसन ग्रहण कर लेने पर अध्वर्यु अग्नीध् (ऋग्वेदीय अग्निसिन्ध, १।१६२।५) से जो ब्रह्मा का सहायक ऋत्विज् होता है और असुरो से यज्ञ की रक्षा करता है, कहता था। अग्नीध् कचरे के स्थान या उत्कर के समीप स्फ्य[1] नामक तलवार लेकर बैठता था। उसे अध्वर्यु द्वारा जो आज्ञा दी जाती उसे अग्नित्प्रेषण या आश्रवण कहते थे। उसका यह रूप था—आ ३ श्रा ३ वय; कुछ शाखाओ मे इसे ओ ३ श्रा ३ वय कहा गया है (अग्नीत्प्रेषणे परस्य च, ८।२।९२, अर्थात् अग्नीत् का प्रेषण करने वाले वाक्य मे आदि पद भी प्लुत होता है और दूसरा भी)। इस प्रैष का अभिप्राय यह था—कृपा करके देवता तक यज्ञ की सूचना पहुँचा दें कि सब ठीक-ठाक है।

(४) प्रत्याश्रवण—अध्वर्यु का प्रेषण सुनकर अग्नीध् उसका उत्तर प्रत्याश्रवण वाक्य के उच्चारण से देता था—अस्तु श्रौ ३ षट्, जिसमे श्रौषट् का स्वर प्लुत

---

१. तलवार वाची फारसी सैफ शब्द स्फय से ही निकला है।

किया जाता था (८।२।९१; दे० आश्वलायन श्रौत १।४, अस्तु श्रौषडित्योकारं प्लावयन्)। भाव यह हुआ—देवता सूचित हो; यहाँ सब ठीक-ठाक है।

(५) याज्या-प्रैष—इस प्रकार अग्नीध् से हरी झण्डी पाकर अध्वर्यु होता की ओर मुड़ कर आज्ञा देता है—यज (=यजन कर)। यही याज्या-प्रैष (याज्या पाठ की आज्ञा) कहलाता है। सुनते ही होता याज्या मंत्र पढने लग पड़ता है। 'यज' वाक्य में प्लुत स्वर नही है, उसका उच्चारण एकश्रुति से विना स्वरो के उतार-चढाव के किया जाता था।

(६) आगूर्त वाक्य—इसे अभिगूर्त भी कहते थे[1] (ऋ १।१६२।६; हॉग कृत ऐतरेय ब्राह्मण का अनुवाद, भूमिका पृ० १८)। यह वाक्य इस प्रकार था—ये ३ यजामहे। भाव यह है—हम जो यहाँ एकत्र हैं इस यज्ञ में अपनी सहमति प्रदान करते हैं (ये यज्ञ कर्मणि, ८।२।८८)। 'ये ३ यजामहे' रूपी आगूर्त वाक्य उपस्थित मण्डली की ओर से याज्या मन्त्र के पहले जोड़ कर होता याज्या का पाठ करता था। प्रत्येक याज्या से पहले 'ये यजामहे' पढा जाता है।

(७) इष्ट अथवा याज्या—जैसा ऊपर कहा है ऋग्वेद से चुने हुए मन्त्र जिनसे देवो का आवाहन किया जाता है याज्या कहलाते हैं। आहुति देने या हवि. प्रक्षेप से पहले याज्या का पढ़ना आवश्यक है। याज्या के पूर्व में ये ३ यजामहे और अन्त में श्री ३ षट् जोड कर उसका ऐसा रूप वनता था—ॐ ये ३ यजामहे समिध समिधोऽग्न आजस्य व्यन्तु ३ वौ ३ षट्। याज्यान्त सूत्र (८।२।९०) से याज्या का अपना अन्तिम स्वर भी प्लुत होता था (याज्या नाम ऋच. काश्चिद्वाक्य समुदायरूपास्तत्र यावन्ति वाक्यानि सर्वेषा टे प्लुत प्राप्नोति। सर्वान्त्यस्यैवेष्यते तदर्थमन्त ग्रहणम्, काशिका; आश्व० श्रौ० १।५, याज्यान्तं च)।

(८) वषट्कार—प्रत्येक याज्या मंत्र के अन्त में होता वषट् जोडकर प्लुत उच्चारण करता था। यही वषट्कार था (उच्चैस्तरां वा वषट्कार', १।२।३५; ऐतरेय ब्राह्मण, ३।१।७, शनैस्तरामस्य ऋचमुक्त्वोच्चैस्तरा वषट् कुर्यात्, अर्थात् याज्या की ऋचा धीरे से और वषट् जोर से बोलना चाहिए जिससे आहुति देते समय देवता के प्रति उत्साह प्रकट हो। होता ने जैसे ही वौषट् कहा कि अध्वर्यु हवि अग्नि में डाल देता है। वषट् (१।२।३५; २।३।१६) का ही रूपान्तर वौषट् या जैसे आश्रावय का ओश्रावय।[2]

---

१. अभिगूर्त या अभिगूर्ति = सहमति, सहकारिता जनित अनुमति। उतो तेषामभिगूर्तिनं इन्वतु, ऋ १।१६२.६, 'उनकी अनुमति हमारे काम में सहायक हो।' 'ये यजामहे' रूपी अभिगूर्त या आगूर्त को प्रायः आगुर् भी कहा जाता है। याज्या से पहले इसका जोडना आवश्यक था।

२. इस सूत्र में वषट् शब्द से वौषट् का ग्रहण होता है। ऐसा है, तो सूत्रकार ने वौषट् ही क्यों नहीं पढ़ दिया ? शैली की विभिन्नता के कारण। पाणिनि ने अपने सूत्रपाठ में भिन्न भिन्न

सप्तदश प्रजापति—इस प्रकार ऊपर के सात वाक्यो को यदि एक साथ जोड दें तो वह सत्रह अक्षर होते थे—

४—आश्रावयेति चतुरक्षरम् ।

४—अस्तु श्रौषडिति चतुरक्षरम् ।

२—यजेति द्वय क्षरम् ।

५—ये यजामह इति पचाक्षरम् ।

२—द्वयक्षरो वषट् कारः ।

——

१७ अक्षर

एष वै सप्तदश प्रजापतिः यज्ञमन्वायत्त (तैत्तिरीय ब्रा० कांड २)। इन सत्रह अक्षरो के जोड मे पुरोनुवाक्या के प्रैष के चार अक्षर नही गिने जाते क्योकि जैसा शतपथ में कहा है पुरोनुवाक्या का पढना अनिवार्य न था, वह छोड़ भी दी जाती थी। अतएव 'अनुब्रूहि' आरम्भिक प्रैष के इन चार अक्षरो की सत्रह मे गिनती नही होती थी।[1]

वीतम् और अनुवषट्कार—सोम याग में याज्या और वषट्कार हो जाने के बाद एव अध्वर्यु द्वारा हविर्द्रव्य अग्नि मे डाल देने के बाद वीत मन्त्र पढा जाता था—सोमस्याग्ने वीही ३ वौ ३ षट् (१।२।३५; ८।२।९१ सूत्रो पर वौषट् के उदाहरण मे), अर्थात् 'हे अग्ने, सोमको तुम पियो'। ऐतरेय का कहना है कि इस प्रकार सोमपान के लिये अतिरिक्त प्रेरणा पाकर देवता बहुत तृप्त हो जाते हैं (ऐ० ३।१।५)। 'वीहि' इस वाक्य को 'वीत' कहा जाता था और उसके बाद जो वषट् या वौषट् है उसे अनुवषट्कार कहते थे। देवता को एक बार याज्या के बाद वौषट् कहा जा चुका है। इसलिये दूसरी बार का वौषट् अनुवषट्कार हुआ। इष्टि मे केवल वषट्कार तक होता है, सोमयज्ञ मे वीत और अनुवषट्कार तक। तीन श्रौतयाग होते हैं—इष्टि, पशुबध और सोमयाग। दर्शपौर्णमास इष्टि में पुरोडाश, पशुबन्ध मे पशु

शैली अपनाई है (वषट् शब्देनात्र वौषट् शब्दो लक्ष्यते। वौषडित्यस्यै वेदं स्वर विधानार्थम्। यद्येवं वौषड् ग्रहणमेव कस्मान्नकृतम्। वैचित्र्यार्थम्। विचित्रा हि सूत्रस्य कृतिः पाणिनेः (काशिका)। वषट्कार सहित याज्या के उच्च स्वर में उच्चारण के लिये देखिये ऐतरेय ब्रा० ३।५७।

१. इन सत्रह अक्षरों में होम कर्म का निचोड आ जाता था, अतएव होमात्मा प्रजापति को मानों इन सत्रह के उच्चारण से प्रणाम किया जाता था, जैसा इस श्लोक में संग्रह किया गया है—

चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पंचभिरेव च।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः॥

शान्ति पर्व, भीष्म स्तवराज, ४७, २७ के बाद का श्लोक, जो पूना संस्करण में प्रक्षिप्त माना है।

और सोमयाग में सोम की आहुति दी जाती है। इष्टि मे स्वाहा, पशुवन्ध मे वौषट् और सोमयाग मे वीत मन्त्र से आहुति प्रक्षेप होता है।

आवाहन—दर्श-पौर्णमासेष्टि मे पाँच आहुति दी जाती हैं जिन्हे पंच प्रयाज[1] कहते थे। यह यज्ञ का पूर्वाङ्ग या पूर्व भाग था। इसके बाद की तीन गौण आहुति अनुयाज[2] कहलाती थी (प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे, ७।३।६२)। पशुयाग मे प्रयाज और अनुयाजो मे से प्रत्येक की सख्या ग्यारह होती है। पंच प्रयाजो में अन्त की स्वाहाकार आहुति है उसमे 'आवह' बोलकर देवता का आवाहन किया जाता है। उसके लिये पाणिनि ने प्लुत स्वर का विधान किया है (८।२।९१), जैसे अग्नि मा ३ वह।

एक श्रुति—ज्ञात होता है कि मन्त्रो को उदात्त, अनुदात्त, स्वरित इन तीन स्वरो के अनुसार ठीक-ठीक पढ़ने का या त्रैस्वर्य पाठ का नियम लोक मे कुछ शिथिल पड रहा था। वैदिक स्वरो के उच्चारण मे यह ढिलाई यज्ञो में विशेष रूप से आ रही थी। यज्ञो मे जो बिना स्वर के मन्त्र पढे जाने लगे थे उन्हें पाणिनि ने एक श्रुति कहा है (यज्ञ कर्मण्य जपन्यूङ्खसामसु, १।२।३४)। केवल जपमन्त्र मे[3], न्यूङ्ख नामक ओकारों के उच्चारण में[4] और साम गान मे स्वरो का यथावत्पालन आव-

---

१. शतपथ के अनुसार समिध् प्रयाज आदि पाँच प्रयाज ये हैं—(१) समिधो यजति, (२) तनूनपात यजति, (३) बर्हिर्यजति, (४) इडो यजति, (५) स्वाहाकार यजति (श० १।५।३।१–१३, जहाँ इनकी तुलना पंच ऋतुओं से की गई है) पच आज्याहुतियों से सम्पन्न होने के कारण शान्ति पर्व में यज्ञ को 'दशार्धहविराकृतिम्' कहा गया है (शान्ति० ४७।२७)।

२. अनुयाज तीन हैं—त्रयोऽनुयाजाश्चत्वारो पत्नी सयाजाः (शतपथ ११।४।१। ११)। काशिका में भ्रमवश अनुयाज पाँच और पत्नी सयाज आठ लिखे हैं। दर्शपौर्णमास इष्टि में तीन अनुयाजों के बाद यजमान पत्नी चार पत्नी सयाज आहुति देती हैं। बौधायन श्रौत में (२४।२९) आठ पत्नी संयाजों का भी उल्लेख है। पशु बन्ध यज्ञ में प्रयाज और अनुयाजों की प्रत्येक की सख्या ग्यारह है।

३. यजुर्वेद २।१० मयीदमिन्द्र इन्द्रिय मंत्र जप मन्त्र था। यजमान इसका उच्चारण त्रैस्वर्य के साथ करता था (कात्यायन श्रौत, ३।४।१८)।

४. सोमयाग के प्रातः सवन में होता द्वारा प्रातरनुवाक संज्ञक एक शस्त्र या पाठ पढा जाता है जो न्यूङ्ख कहलाता है। उसकी एक एक ऋचा के जो दो अर्धर्च भाग होते हैं, उनमें प्रत्येक अर्धर्च के पहले अच् को छोड़कर दूसरे अच् के स्थान में प्लुत ओकार उदात्त स्वर विशिष्ट पढना चाहिए। फिर पाँच बार अर्ध ओकार, फिर प्लुत ओकार और तब तीन अर्ध ओकार पढ़ना चाहिए। इन्हीं का नाम न्यूंख था जैसे—

ओपो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३
ओ ओ ओ रेवतीः क्षपथा हि वस्वः क्रतुं च भद्रं बिभृथामृतं च।
रायो ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३ ओ ओ ओ ओ ओ ओ ३
ओ ओ ओ स्थः स्वपत्यस्य पत्नी। सरस्वती तद् गृणाते वयो धो ३ मा ३ पो ३।
(ऋग्वेद १०।३०।१२)

श्यक समझा जाता था। कात्यायन श्रौत सूत्र मे एकश्रुति को तान कहा गया है (१।८।१८, तान = उदात्तादि स्वर रहित एक श्रुतिरेव मंत्राणां स्वरो भवति)। उस समय की यह प्रवृत्ति थी कि मंत्रो के सहित स्वर का उच्चारण शिथिल हो रहा था। उसकी जगह भाषिक स्वर या ब्राह्मणो का वैकल्पिक स्वर चलने लगा था (का० १।८।१७) और यज्ञो मे वह भी नही रहा था (तानो वा नित्यत्वात्, कात्या० (१।८।१८)। कात्यायन श्रौतसूत्र लेखक और पाणिनि दोनो अपने युग की इस प्रवृत्ति का तथ्यात्मक वर्णन कर रहे हैं।[1] अन्त मे तो स्वर का विचार बिल्कुल ही जाने को था। अवश्य ही उसकी मर्यादा कुछ समय पूर्व ही टूटनी शुरू हो गई होगी। जैमिनि ने इस प्रवृत्ति को रोकने की कोशिश की। उनका कहना है कि वैदिक मन्त्रो को यज्ञ और स्वाध्याय दोनो मे त्रैस्वर्य के साथ पढना चाहिए (मीमांसा, १२।३।२०-२४; गर्ग, जैमिनि, शबर और व्याकरण, भाडारकर प्राच्यसस्थान की पत्रिका, ३०।२५४-५)। पर जैमिनि का यह प्रयत्न लोक की नई प्रवृत्ति के सामने टिक न सका। तैत्तिरीय प्राति० मे भी एकश्रुति का उल्लेख है (सर्वमेक मयम्, तै० १५।९)।

सुब्रह्मण्या—सुब्रह्मण्या एक निगद था। जो यजुष् गद्य भाग जोर से बोले जाते थे उन्हें निगद कहते थे (यानि च यजूंषि उच्चै रुच्चार्यन्ते ते निगदा., शावर भाष्य २।१।४२)। राजाधिराजाय प्रसह्य साहिने नमो वय वैश्रवणाय कुर्महे जैसे यह मंत्र जोर से बोला जाता है वैसे ही यज्ञ मे सुब्रह्मण्या निगद का उच्चारण था पर उसके स्वरो के निश्चित नियम थे (१।२।३७—३८)। उसमे एक श्रुति अभी लागू न हो सकी थी (सुब्रह्मण्यायामेक श्रुति र्न भवतीति) क्योंकि वह विशिष्ट वाक्य की भाँति इन्द्र के लिये ज्योतिष्टोम आदि सोमयज्ञो मे जोर से बोला जाता था (मनु ९।१२६ पर कुल्लूक, कात्या० श्रौ० ९।१।१२; हॉग ऐतरेय ब्राह्मण अनुवाद पृ० २६०)[2]।

ऋग्वेद के इस मत्र का पूर्वार्ध 'आपो' से और उत्तरार्ध 'रायः' से शुरू होता है। प्रत्येक के बाद १६ ओकार आलाप के लिये जोडे गए हैं। इन सोलह में तीन प्लुत और शेष तेरह अर्ध ओकार हैं। हर एक पक्ति का पहला ओकार आपो ३ और रायो ३ में मिल गया है। ये ही सोलह न्यूख ओकार हैं। इनमें प्लुत स्वर का उच्चारण आवश्यक था। ऋग्वेद १०।९४।३ में 'न्यूंखयन्ते' प्रयोग है।

१. इस विषय में पाणिनि और कात्यायन का सान्निध्य देखने योग्य है। एक श्रुति दूरात्संबुद्धौ यज्ञकर्मणि सुब्रह्मण्या साम जपन्यूख याजमानवर्जम् (कात्यायन श्रौत १।८।१९)।

२. षड्विंश ब्राह्मण में सुब्रह्मण्या निगद का यह रूप दिया है—

सुब्रह्मण्यो ३ म् सुब्रह्मण्यो ३ म् सुब्रह्मण्यो ३ म्। इन्द्रागच्छ। अहल्यायै जार। कौशिक ब्राह्मण। गौतम ब्रुवाण इत्यहे सुत्यामागच्छ मघवन्। (इसके बाद निगद शेष या बचा हुआ भाग पढा जाता है) देवा ब्रह्माण आगच्छतागच्छतागच्छतेति।

पाणिनि १।२।३८ (देव ब्रह्मणो रनुदात्तः) में इस अंश को अनुदात्त स्वर से पढने का विधान है। 'ब्राह्मणः' का अर्थ ब्राह्मणाः, मनुष्यदेवाः किया गया है जो श्रुति पारायण और प्रवचन शक्ति से युक्त हों (शुश्रुवांसोऽनूचानाः, षड्विंश १।१।२८)।

उपयज्—यजुर्वेद ६।२१ मे ग्यारह छोटे मंत्र भाग हैं—समुद्रं गच्छ। स्वाहा इत्यादि—उन्हें उपयज् कहा जाता है (विजुपे छन्दसि ३।२।७३)।

सामिधेनी—ऋग्वेद ३।२७।१-११ मे ग्यारह ऋचाएँ है जिनका अग्नि प्रज्वलित करने मे उपयोग होता है। उनको संज्ञा सामिधेनी थी जिसका सूत्र मे उल्लेख है। (पाय्य सानाय्य निकाय्य धाय्या मान हवि निवास सामिधेनीषु, ३।१।१२९)। इन ग्यारह मे से पहली (ऋ० ३।२७।१) और ग्यारहवी (ऋ० ३।२७।११) को तीन-तीन बार पढने से कुल पन्द्रह सामिधेनी हो जाती हैं। इनमें से चौथी ऋचा समिध्यमानवती (समिध्यमानो अध्वरेऽग्नि पावक ईड्य.। शोचिष्केश स्तमीमहे, ३।२७।४) और ग्यारहवी समिद्धवती (अग्नि यन्तुरमप्तुरमृतस्य योगे वनुष। विप्रा वाजैः समिन्वते। ऋ० ३।२७।११) कहलाती है। समिध्यमानवती और समिद्धवती के बीच मे सब ऋचाएँ धाय्या कहलाती हैं जिनके नाम का सूत्र मे उल्लेख है। कभी-कभी बाहर से और ऋचा लाकर इसमें जोड़ते हैं, जैसे कहा है कि दृढ स्थिति की कामना करने वाले यजमान के लिये इक्कीस सामिधेनी का पाठ करे (एकविंशतिमनुब्रूयात् प्रतिष्ठाकामस्य)। इक्कीस संख्या पूरी करने के लिये छह ऋचाएँ बाहर से लाकर जोडनी होती हैं। समिध्यमानवती और समिद्धवती ऋचाओ के बीच मे ही उन्हे कही रखकर उनसे समिदाधान किया जाता है, इसी लिये इनका नाम धाय्या है।

पाणिनि के युग मे यज्ञो की जीती-जागती परम्परा थी। इसी कारण भाषा मे प्रयुक्त इन अनेक शब्दो की ओर आचार्य ने ध्यान दिया। पूतक्रतु उस व्यक्ति के लिये प्रयुक्त होता था जिसने सोम क्रतुओ के अनुष्ठान अर्थात् सोमपान से अपने शरीर और अन्त करण को पवित्र बनाया हो। सोमयज्ञ मे सोमपान करना सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण था। ऐसे पूतात्मा व्यक्ति की धर्मपत्नी जो उसके साथ यज्ञो मे सम्मिलित होती पूतक्रतायी कहलाती थी (पूतक्रतोरैच, ४।१।३६)।

दक्षिणा—यज्ञ मे कर्म करने वाले ऋत्विजो को दक्षिणा दी जाती थी। उसके विभाग के विषय में कुछ नियम धर्मशास्त्र ग्रन्थो मे दिए हैं। जिस यज्ञ की दक्षिणा होती थी उसी के नाम से दक्षिणा का नाम पडता था (तस्य च दक्षिणा यज्ञाख्येभ्यः, ५।१।९५), जैसे राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम यज्ञो की दक्षिणा राजसूयिकी, वाजपेयिकी, आग्निष्टोमिकी कहलाती थी। ज्ञात होता है प्रत्येक की न्यूनतम मात्रा लोक व्यवहार मे निर्धारित थी। जो ब्राह्मण योग्यता के कारण दक्षिणा का पात्र होता था वह दक्षिण्य कहलाता था (दक्षिणामर्हति दक्षिण्यो ब्राह्मण, ५।१।६९)।

स्रौव सम्बन्ध—ऋत्विज् और यजमान के बीच का सम्बन्ध गुरु-शिष्य या पिता-पुत्र जैसा ही घनिष्ठ माना जाता था। पतजलि ने उसे स्रौव सम्बन्ध कहा है—लोके वहवोऽभि संबन्धा आर्था यौना मौखा. स्रौवाश्च (१।१।४९, वा० ४ भाष्य)। पतं-

जलि ने लाल पग्गड बाँधनेवाले ऋत्विजो का उल्लेख किया है (लोहितोष्णीषा ऋत्विज प्रचरन्ति, १।१।२७)। लाटयायन श्रौत सूत्र एवं कात्यायन श्रौत सूत्र (२२।३।१५) से ज्ञात होता है कि वे व्रात्यो के ऋत्विज् थे। ये व्रात्य जैसा हम आगे देखेंगे, वे ही थे जिन्हे सुर्खपोश काफिर कहा जाता है।

अध्याय ६, परिच्छेद ३—भिक्षु

भिक्षु—सूत्रो मे भिक्षु (३।२।१६८), भिक्षाचर (३।२।१७) और भिक्षाक (३।२।११५, सामान्य मँगता) का उल्लेख है। ब्राह्मण धर्म के भिक्षु और नास्तिक-धर्मों के भिक्षु दोनो का सूत्रकार को परिचय था। उदाहरण के लिये, एक ओर पाराशर्य और कर्मन्द के भिक्षु सूत्रो का उल्लेख है जिनके अध्ययन की परम्परा भिक्षुओ के प्राचीन आश्रमो मे या सम्प्रदाय मे थी, और दूसरी ओर मस्करी परिव्राजक का भी (६।१।१५४) उल्लेख है जो सम्भवत: मक्खलि गोसाल की ओर संकेत है। तापस (५।२।१०३); तपस्वी (५।२।१०२) तप करने वाले भिक्षुओ के लिये प्रयुक्त होता था (तपस्यति, ३।१।१५)। शमी, दमी, योगी, विवेकी, त्यागी (३।२।१४२) ये सब धार्मिक साधना के सूचक शब्द थे। शरीर और मन के सयम करने वाले दान्त और शान्त कहलाते थे (७।२।२७)।

भिक्षुओ की वृत्तिया—अपनी भिक्षावृत्ति मे जो सब का अन्न स्वीकार करले वह सर्वान्नीन भिक्षु कहलाता था (सर्वान्नानि भक्षयति, ५।२।९)। इससे सूचित होता है कि कुछ लोग भिक्षुक होकर भी जाति-पाँति का विचार बनाए रखते थे। कुछ भिक्षु उञ्छ वृत्ति से निर्वाह करते थे (उञ्छति, ४।४।३२)। उञ्छ वृत्ति भिक्षु कुछ काल के लिये अन्न का सग्रह रख लेते थे। मनु ने लिखा है कि वसन्त और शरद् मे जो दो फसलें होती हैं उनमे मुनि अपना अन्न सग्रह करके रख लेता है (६।११) पाणिनि ने शारद का अर्थ 'नया' किया है (शारदेऽनार्तवे ६।२।९; शारद शब्दोऽयं प्रत्यग्रवाची)। इस अर्थ की पृष्ठभूमि यही थी कि शरद् ऋतु मे पुराने अन्न की जगह नया अन्न संग्रह रक्खा जाता था। भिक्षु को चाहिए कि वह आश्वयुज मास मे अपने वस्त्र और अन्न दोनो को नया कर ले (मनु ६।१५)। ये ही शारद या नए कहलाते थे।

नैकटिक वह भिक्षु था जो वानप्रस्थ आश्रम को ग्रहण कर लेता था किन्तु गाँव बस्ती के निकट ही निवास करता रहता था (निकटे वसति, ४।४।७३)। इसकी ध्वनि यह है कि वह अरण्यवास नही करता था यो मुनि के लिये अरण्य वास करना आवश्यक था। उत्तराध्ययन सूत्र में अरण्यवास मुनि का बाहरी लक्षण कहा गया है।[1]

---

१. न वि मुण्डिएण समणो ओंकारेण न बमणो।
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण न तापसो॥ उत्तरा० २५।३१

महाभारत से भी उसका समर्थन होता है[1]।

कौक्कुटिक वह भिक्षु था जो सिर नीचा करके पृथिवी पर दृष्टि रखकर चलता था (संज्ञाया ललाट कुक्कुट्यौ पश्यति, ४।४।४६; देशस्याल्पतया हि भिक्षुर विक्षिप्त दृष्टिः पादविक्षेप देशे चक्षु· संयम्य गच्छति स उच्यते कौक्कुटिकः कुक्कुटी-कुक्कुट के उड़ान की स्वल्प दूरी, उतनी दूर में जिसकी दृष्टि परिमित रहे काशिका)।

कपटी भिक्षु—कपटी भिक्षु दाण्डाजिनिक कहलाता था (५।२।७६), जो दिखावे के लिये दण्ड और अजिन धारण करता हो।

एक प्रकार के कपटी भिक्षु आय शूलिक कहे जाते थे (अयः शूल दण्डाजिनाभ्यां ठक् ठञौ, ५।२।७६), अर्थात् जो 'अय शूल' उपाय से अपना काम चलावे। पतंजलि ने इस पर लिखा है—यदि अयः शूल का शाब्दिक अर्थ लोहे का शूल लिया जाय तो आय शूलिक शिव भागवत भिक्षुओ के लिये भी प्रयुक्त होने लगेगा जो लोहे का त्रिशूल रखते हैं। पर पाणिनि का यह अभिप्राय नही था। अतएव अयः शूल का संकेत उन उग्र उपायो से था जिनके द्वारा लोग जनता के मन पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते थे, जैसे शरीर के किसी भाग में अय शूल छेदकर रक्त वहाना और उससे अपना प्रभाव जमाना। यह मृदु उपाय से उलटा ढंग था।

मस्करी—पाणिनि ने मस्करी शब्द परिव्राजक के लिये सिद्ध किया है (मस्कर मस्करिणौ वेणु परिव्राजकयो, ६।१।१५४)। यहाँ मस्करी का अर्थ मक्खलि गोमाल से है जिन्होने आजीवक सम्प्रदायक की स्थापना की थी। पतंजलि ने स्पष्ट यही अर्थ लिया है—मस्करी वह साधु नही है जो हाथ में मस्कर या बाँस की लाठी लेकर चलता हो। फिर क्या है ? मस्करी वह है जो यह उपदेश देता है कि कर्म मत करो, शान्ति का मार्ग ही श्रेयस्कर है (न वै मस्करोऽस्यास्तीति मस्करी परिव्राजक। किं तर्हि। माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजक. भाष्य ६।१।१५४)। यह निश्चित रूप से मक्खलि गोमाल के कर्मापवाद सिद्धान्त का उल्लेख है। वे कर्म या पुरुषार्थ की निन्दा करके नियति या भाग्य को ही सब कुछ मानते थे। किसी प्रकार के फल की प्राप्ति अपने या पराए कर्म या पराक्रम पर निर्भर नही करती, यह तो सब भाग्य का खेल है। पुरुषार्थ कुछ नही है, दैव ही प्रबल है। मक्खलि के दर्शन में यदृच्छा को कोई·स्थान न था, वे तो मानते थे कि क्रूर दैव ने सब कुछ पहले से ही नियत कर दिया है। बौद्ध ग्रन्थो मे कहा है कि बुद्ध मखलि गोसाल को सब आचार्यों में सबसे अधिक खतरनाक समझते थे।

अन्य प्रमाण से भी इङ्गित होता है कि पाणिनि को मस्करी के आजीवक दर्शन

---

१. मौनाद्धि स मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः। उद्योगपर्व ४३।३५

का परिचय था। अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः सूत्र में (४।४।६०) आस्तिक, नास्तिक, दैष्टिक तीन प्रकार के दार्शनिको का उल्लेख है। आस्तिक वे थे जिन्हे बौद्ध ग्रन्थो में इस्सर करण वादी कहा गया है, जो यह मानते थे कि यह जगत् ईश्वर की रचना है (अयं लोको इस्सर निमित्तो)। पाली ग्रन्थो के नत्थिक दिट्ठि दार्शनिक पाणिनि के नास्तिक थे। इसमे केसकम्बली के नत्थिक दिट्ठि अनुयायी प्रधान थे (इतो परलोक गतं नाम नत्थि अय लोको उच्छिज्जति, जातक ५।२३९)। यही लोकायत दृष्टिकोण था जिसे कठ उपनिषद् में कहा है—अयं लोको न परः इति मानी। पाणिनि के तीसरे दार्शनिक दैष्टिक या मक्खलि के नियतिवादी लोग थे जो पुरुषार्थ या कर्म का खण्डन करके दैव की ही स्थापना करते थे।

जैन आगमो मे मक्खलि गोसाल को गोसाल मंखलि पुत्त कहा है (उवासगदसाओ)। संस्कृत मे उसे ही मस्करी गोशालिपुत्र कहा गया है (दिव्यावदान पृ० १४३)। मस्करी या मक्खाल या मखलि का दर्शन सुविदित था। महाभारत मे मंकि ऋषि की कहानी में नियतिवाद का ही प्रतिपादन है (शुद्ध हि दैवमेवेद हठे नैवास्ति पौरुषम्, शान्तिपर्व १७७।११–४)। मंकि ऋषि का मूल दृष्टिकोण निर्वेद, या जैसा पतंजलि ने कहा है शान्तिपरक था, अर्थात् अपने हाथ पैर से कुछ न करना। यह पाणिवाद का ठीक उल्टा था। मंखलि गोसाल के शुद्ध नाम के विषय में कई अनुश्रुतिया थी। जैन प्राकृत रूप मंखलि था। भगवती सूत्र के अनुसार गोशाल मंख सज्ञक भिक्षु का पुत्र था (भगवती सूत्र, १५।१)। शान्तिपर्व का मंकि निश्चयरूप से मखलि का ही दूसरा रूप है। कहा जाता है कि मक्खलि का जन्म गोशाला या गोष्ठ में हुआ था, जिससे उनका यह नाम पड़ा। पाणिनि ने भी गोशाला में जन्म लेनेवाले को गोशाल कहा है (गोशालाया जात. गोशालः, ४।३।३५, स्थानान्तगोशालखरशालाच्च)।

श्रमण—अष्टाध्यायी मे श्रमण और अविवाहित स्त्री श्रमणो का उल्लेख है जिन्हे कुमार श्रमणा (कुमारी श्रमणा) कहा जाता था (कुमार श्रमणादिभि., २।१।७०)। कुमारश्च सूत्र (६।२।२६) में कुमार श्रमणा शब्द को आद्युदात्त कहा है। श्रमणादि गण में कुमार प्रव्रजिता और कुमारतापसी का पाठ भी है। श्रौत सूत्रो मे श्रमण का प्रयोग भिक्षु मात्र के लिये है। बौधायन ने मुनि को श्रमण कहा है और लिखा है कि सरस्वती नदी मे घुटने भर पानी मे खड़ा होकर अग्नि के लिये पुरोडाश अर्पित करे (बौ० श्रौ० १६।३०, पृ० २७६)। पतंजलि ने श्रमण को ब्राह्मण का उल्टा माना है और दोनो में कभी न मिटनेवाला वैर बताया है (येषा च विरोधः शाश्वतिकः इत्यस्यावकाश श्रमणब्राह्मणम्, भाष्य २।४।९)।

बौद्ध साहित्य की साक्षी भी इसी अर्थ के पक्ष में है। जातक मे बोधिसत्त्व गौतम को समण कहा गया है (जातक ३।४०)। उदान मे कहा है—उस समय श्रमण

ब्राह्मणो के बहुत से सम्प्रदाय थे, सभी परिव्राजक जीवन व्यतीत करते थे और नाना भांति की दिट्ठि या दर्शनिक मत रखते थे, एवं मतभेद रखनेवाले सम्प्रदायो के अनुयायी थे (सवहुला नानातित्थिया समणब्राह्मणपरिब्बाजका नानादिट्ठिका नाना दिट्ठिनिस्सयनिस्सता, पाली संस्करण, पृ० ६६-६७)। अगुत्तर निकाय मे परिव्राजको के दो भेद कहे हैं—ब्राह्मण परिव्राजक और अन्यतित्थिय परिव्राजक, अर्थात् ब्राह्मण धर्म से पृथक् तीर्थिक या आचार्यों के अनुयायी। अशोक ने भी श्रमणो को ब्राह्मणो से अलग माना है।

चीवर—भिक्षु का वेश चीवर था। चीवर पहनने के लिये भाषा मे अलग धातु ही चल गई थी—संचीवरयते = वह चीवर धारण करता है, अर्थात् भिक्षु बन जाता है (३।१।२०)। बौद्ध साहित्य के अनुसार चीवर केवल भिक्षुओ के लिये आता था; जैसे तिचीवर (जा० ३।४७१), पंसुकूल चीवर (जा० ४।११४) भिक्षुवेष के लिये ही प्रयुक्त होते थे।

अर्हत्—प्रशंसा योग्य पुरुष के लिये अर्हत् शब्द सिद्ध किया गया है (अर्हः प्रशंसायाम्, ३।२।१३३, अर्हन्निह भवान्पूजाम्)। अर्हत् की अवस्था को आर्हन्त्य कहते थे (अर्हतो नुम् च, गणसूत्र ५।१।२४)।

यायावर—सूत्र ३।२।१७६ (यश्च यङः) मे यायावर शब्द सिद्ध किया गया है। बौधायन धर्म सूत्र से ज्ञात होता है कि यायावर वे भिक्षु थे जो उत्तम जीविका से निर्वाह करते हुए शाला (३।१।३) या घरो मे रहते थे (वृत्त्या वरया याति, ३।१।४)। जब यात्रा मे होते तब भी यायावर लोग रुककर अग्निहोत्र करते थे (तत्रोदाहरन्ति यायावरा ह वै नामर्षय आसस्तेऽध्वन्यश्राम्यस्ते समस्त मजुहवुः, बौ० श्रौत २४।३१)। वे अपने को तपस्वी और ऋषि मानते थे (यायावरा नाम वयमृषय. संशित व्रताः, आदिपर्व ४१।१६)। सम्भवत यही वैखानस भिक्षु थे जो पत्नी के साथ वानप्रस्थ आश्रम में रहते थे पर शकट पर सामान लाद कर विचरते रहते थे। सयुग्वा रैक्व इसका उदाहरण था।

अध्याय ६, परिच्छेद ४—धार्मिक विश्वास और आचार

धार्मिक जीवन में चान्द्रायण आदि व्रतो का समावेश हो चुका था। जिसने अपने जीवन मे चान्द्रायण व्रत किया हो वह चान्द्रायणिक नाम से प्रसिद्ध होता था (चान्द्रायणं वर्तयति, ५।१।७२)। ऐसे ही जो मन्त्र जप को अपना स्वभाव बना लेता (तच्छील) वह जंजपूक कहलाता था (३।२।१६६)। कभी-कभी दिखावे के लिये विप्रदुष्ट भाव से भी ऐसा किया जाता था (भावगर्हायाम्, जजप्यते, ३।१।२४)। जो व्यक्ति स्थंडिल पर शयन करने का व्रत ले वह स्थाण्डिल कहलाता था (४।२।१५ -स्थंडिलाच्छयितरि व्रते)। पारायण करते समय, अथवा यज्ञ के समय वेदि के स्थण्डिल

पर ऐसा व्रत किया जाता था। उस अवसर पर मौन व्रत का भी आश्रय लेते थे, अथवा मन्त्र या जप के समय अन्य शब्दो का उच्चारण न करते थे (वाचि यमो व्रते, ३।२।४०)। गृहस्थो के आचार मे देवताओ को प्रसन्न करने के लिये नाना प्रकार की वलि देने की प्रथा आरम्भ हो गई थी। कुबेर को दी हुई वलि कुबेरवलि और चार महाराज देवताओ की वलि महाराजवलि कही जाती थी (२।१।३६ पर उदाहरण)। वैदिक स्थालीपाक रूप हवि और लौकिक वलि इन दोनो के सम्मिलन से गृहस्थ धर्म मे देवताओ के उत्सव के लिये किसी दिन पूडी पकवान कडाही आदि करने का रिवाज चल पडा था। पीछे यह स्मार्त धर्म का प्रिय लोकाचार वन गया। बलि के लिये प्रयुक्त अन्न वालेय कहा जाता था (५।१।१३)।

श्राद्ध—कव्यवाहन अग्नि में (३।२।६५) पितरो के लिये अन्न की आहुति दी जाती थी। पितरो को देवता कहा गया है। सास्य 'देवता' मान कर उन्हे जो हवि दी जाती उसे पित्र्य हवि कहते थे (४।२।३१)। आश्विन कृष्ण पितृपक्ष या शरद् ऋतु में महालय श्राद्ध को शारदिक श्राद्ध कहते थे (श्राद्धे शरदः, ४।३।१२; श्राद्ध इति कर्म गृह्यते न श्रद्धावान् पुरुषः)। श्राद्ध में भोजन करने वाला ब्राह्मण श्राद्धी कहलाता था (श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ, ५।२।८५)। कात्यायन ने कहा है जिस दिन श्राद्धभोजन किया हो उसी दिन के लिये यह विशेषण था (समान काल ग्रहणम्)। आज खाया हो तो कल उसी व्यक्ति को श्राद्धी नही कहा जाता था (अद्य भुक्ते श्राद्धे श्वः श्राद्धिक इति मा भूत्, भाष्य)। इस शब्द की भाषा में आकाक्षा इस लिये हुई कि श्राद्धभोजी ब्राह्मण को उसी दिन अपराह्ण या रात्रि में कुछ जप आदि के द्वारा आत्म संस्कार विहित था। गुरुकुल का जो ब्रह्मचारी श्राद्धिक होता वह उस दिन अनध्याय रखकर जप करने के कारण उसी दिन के लिये इस विशेष शब्द से अभिहित होता था।

धार्मिक कृत्यो मे मुण्डन की प्रथा थी (मद्रात्परिवापणे, ५।४।६७)। मुण्डन कराने वाला मद्रकर या मद्रकार कहलाता था (३।२।४४)।

लोक विश्वास—ज्योतिष के फलाफल द्वारा भविष्य कथन मे लोगो का विश्वास था, जैसे देवदत्ताय ईक्षते, अर्थात् ज्योतिषी देवदत्त की कुण्डली का फल विचार रहा है (राधीक्ष्योर्यस्य विप्रश्नः, १।४।३९)। ऐसे ही शरीर के चिह्नो से फल विचार भी माना जाता था (लक्षणे जायापत्योष्टक्, ३।२।५२-५३)। यह अङ्ग विद्या का विषय था जिसका छान्दोग्य उप०, ऋगयनादि गण (४।३।७३), और ब्रह्मजाल सुत्त मे उल्लेख है। वशीकरण मन्त्र को पाणिनि ने 'बन्धन ऋषि' अर्थात् मन को वाँधने वाला वेद मन्त्र कहा है, वही हृद्य कहलाता था (बन्धने चर्षौ, ४।४।९६; पर हृदयं येन बद्धयते वशीक्रियते स वशीकरण मन्त्रो हृद्य इत्युच्यते)।

यह भी मान्यता थी कि कुछ विशिष्ट दिन पवित्र होते हैं। उन्हें पुण्याह (५।४।९०)

या पुण्यरात्र कहते थे (५।४।८७)। सुकर्म से पुण्य फल मिलता है इस प्रकार का विश्वास और तदनुसार क्रिया की भी प्रथा थी (सप्तम्याः पुण्यम्, ६।२।१५२), जैसे वेद-पुण्यम्, अध्ययन-पुण्यम्। अच्छे-बुरे कर्मों के करने वालो के लिये भाषा में विशेष शब्द चल गए थे, जैसे पुण्यकृत्, सुकर्मकृत्, पापकृत् (सुकर्म पाप मन्त्र पुण्येषु कृञः, ३।२।८९)। नीतिमय आचार का उल्लङ्घन क्षिया कहलाता था (८।१।६०, क्षिया = धर्मव्यतिक्रम, आचार भेद) उसे प्रकट करने के लिये भाषा मे इस प्रकार का प्रयोग होता था (८।२।७४) स्वय ह रथेन याति३ उपाध्याय पदाति गमयति (ह, आप रथ पर बैठता है, गुरु को पैदल दौडाता है), स्वय ह्योदन भुङ्क्ते ३ उपाध्याय सक्तून् पाययति (ह, आप भात खाता है, गुरु को सत्तू खिलाता है)।

भ्रौण हत्य (६।४।१७४) ब्रह्म हत्य (३।२।८७) जैसे महापातको का उल्लेख भी है (दे० मनु ११।५४)।

नैतिक गुण—उपनिषद् युग में तपः श्रद्धा जैसे महान् गुणो के अनुसार सयम-प्रधान जीवन व्यतीत करने का आदर्श सुपूजित हो चुका था, जैसे तपः श्रद्धे ये उपवसन्त्यरण्ये। वेद मन्त्र मे भी इस प्रकार के भाव हैं—व्रतेन दीक्षा माप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्। दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते (अथर्व); अथवा सत्यं बृहद्दृत मुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञ. पृथिवी धारयन्ति (अथर्व १२।१।१)। पाणिनि ने भी इस प्रकार के उदात्त शब्दो का उल्लेख किया है, जैसे दीक्षातपसी, श्रद्धातपसी, मेधातपसी, अध्ययनतपसी, श्रद्धामेधे (दधिपय आदि गण, २।४।१४)। प्रज्ञा, श्रद्धा, तप, त्याग विवेक, धर्म, शम, दम—ये जीवन के प्रकृष्ट गुण थे उन्हे धारण करने वाले व्यक्तियो के लिये विशिष्ट शब्द भाषा में चल गए थे, जैसे प्राज्ञ-प्रज्ञावान्, श्राद्ध-श्रद्धावान्, तपस्वी, त्यागी, विवेकी, योगी (३।२।१४२), शमी, दमी (शान्त दान्त ७।२।२७), धर्मी आदि (७।२।२७; ३।२।१४२; ४।२।१०१; ५।४।३८) इस जीवन और परलोक के लिये पुण्यकर्मों का विधान करने वालो के लिये दो विशिष्ट शब्द इष्टी पूर्ती प्रयुक्त होने लगे थे (इष्टादिभ्यश्च, ५।२।८८)। ऐसे कार्यों मे धन लगाना 'उपयोग' कहलाता था, जैसे सहस्र प्रकुरुते सहस्रं विनयते (१।३।३२ उपयोग. धर्मादि प्रयोजनो विनियोगः; १।३।३६ व्यय. = धर्मादिषु विनयोग)।

धर्म—धर्म शब्द के अष्टाध्यायी मे दो अर्थ हैं, (१) परम्पराप्राप्त आचार, समयाचार या रिवाज, जो धर्म सूत्रो में हैं, जैसे ४।४।४७ सूत्र मे (तस्य धर्म्यम्, धर्म्य = आचारयुक्त, काशिका)। जो धर्म या आचार के अनुकूल होता था उसे धर्म्य कहते थे (धर्मादनपेतम् ४।४।९२)। ६।२।६५ सूत्र में धर्म्य शब्द का यही अर्थ है (धर्म्ममित्याचार नियत देयमुच्यते, काशिका)। शुल्कशाला पर जो चुगी लगती थी उसे भी धर्म्य कहा गया है (शुल्कशालाया धर्म्यं शौल्कशालिकम्, ४।४।४७) क्योकि इस प्रकार के वंधान पीढी दर पीढी के रिवाज से लोक मे चले आते थे।

धर्म शब्द का दूसरा प्रयोग नीति धर्म के लिये है जो उसका प्रसिद्ध अर्थ है, जैसे धर्म चरति धार्मिक. (धर्म चरति, ४।४।४१)।

अध्याय ६, परिच्छेद ५—दर्शन

ज्ञान का नया आदर्श—लगभग दसवी शती ई० पूर्व से पाचवी शती ईस्वीपूर्व तक का महाजनपद युग भारतवर्ष मे अभूतपूर्व ज्ञानमन्थन का काल था। इसी समय कितने ही शास्त्रो की नई उद्भावना हुई जिसे पाणिनि ने उपज्ञात साहित्य कहा है। यही आद्य आचिख्यासा अर्थात् प्रतिभाशाली मस्तिस्को से ज्ञान का स्वतन्त्र उद्भव था। इसी समय व्याकरण, निरुक्त आदि शास्त्रो का जन्म हुआ। शाकटायन, यास्क, औदव्रजि, आपिशलि, औदुम्बरायण, वार्ष्यायणि, शाकल्य, वैशम्पायन जैसे आचार्यों ने विद्या के क्षेत्र में महत्वपूर्ण मौलिक कार्य किया। श्लोको के निर्माण का भी बहुत कार्य हुआ। महाभारत का विपुल अंश इसी युग का है। काव्य, विज्ञान, नाट्य आदि के अतिरिक्त जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य इस समय हुआ वह दर्शन के क्षेत्र में था। विभिन्न तत्त्वज्ञानियो ने जगत्, जीव, ईश्वर के विषय मे, मनुष्य के जीवन, उसके कर्तव्य, नीतिधर्म एवं सामाजिक समस्याओ, एवं दु:ख सुख की महती समस्या के विषय मे मौलिक चिन्तन किया। यह सब उथल-पुथल बहुत ही कल्याणप्रद हुई। भारतीय ज्ञानाकाश में मानो ज्ञान के एक नए अधिदेवता का जन्म हो गया।

ज्ञ देवता—पतंजलि ने ज्ञा देवता का उल्लेख किया है—ज्ञा देवतास्य स्थाली पाकस्य स: स्थालीपाक: (६।४।१६३)। ज्ञ देवता का उल्लेख उपनिषदो से आरम्भ होता है—ज्ञ कालकालो गुणी सर्वविद्य: (श्वेता० उप० ६।२)। पाणिनि ने जानातीति ज्ञ: इस अर्थ में ज्ञ. को स्वतंत्र शब्द माना है। यह ज्ञ उस काल की परिभाषा मे क्षेत्रज्ञ पुरुष की सज्ञा थी—'पिछले प्रकरण में जिसे क्षेत्रज्ञ या आत्मा कहा है, वही यह देखने वाला, ज्ञाता या उपभोग करने वाला है; और इसे ही साख्य शास्त्र मे 'पुरुष' या 'ज्ञ' (ज्ञाता) कहते हैं (लोकमान्य तिलक, गीता रहस्य, पृ० १६२) इस क्षेत्रज्ञ पुरुष या 'ज्ञ' पुरुष की खोज ही उपनिषद् युग का सर्वोपरि आदर्श था। पाणिनि के युग में भी उसकी प्रतिध्वनि विद्यमान थी और उस महान् आन्दोलन का जो सुफल था उसकी निधि जनता के पास थी। ज्ञ देवता को 'काल काल' क्यो कहा गया ? इसका कारण यह था कि ज्ञान साधन के क्षेत्र मे उस समय अनेक मत वाद थे जिनकी सूची श्वेत० उप० में है, जैसे कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, आत्मवाद। इनमें से नियतिवाद का पणिनि ने उल्लेख किया है। इन वादो का दार्शनिक सग्रह महाभारत के शान्तिपर्व मे पाया जाता है जो उसी युग के तत्त्व विचार का एक सारभूत संग्रह बच गया है। इन वादो मे पहला काल-

वाद है। कुछ लोग काल को सर्वशक्तिशाली देव मानकर उसे ही सृष्टि का पर्याप्त कारण मानते थे। किन्तु क्षेत्रज्ञवादी लोगो का कहना था कि क्षेत्रज्ञ पुरुष काल आदि अन्य कारणो का भी कारण है। जिन व्यक्तियो ने तत्त्व दर्शन के इस आन्दोलन में विशेष भाग लिया वे भी ज्ञ नाम से प्रसिद्ध हुए। यूनान देश मे लगभग समकालीन तत्त्व ज्ञान के क्षेत्र मे जो अग्रणी थे वे सोफिस्ट कहलाते थे। वैसे ही इस देश में 'ज्ञ' थे। पतंजलि ने 'ज्ञ' नामक ब्राह्मणो का उल्लेख किया है जो 'ज्ञ' देवता या तत्त्व ज्ञान के आन्दोलन के प्रतिनिधि थे। आगे चलकर उनके परिवार में उपनिषद् युग की ये परम्पराएँ प्रतिपालित हुई हो, ऐसा मानना स्वाभाविक है। पतंजलि ने उनका उल्लेख किया है—ज्ञाना ब्राह्मणानामपत्यमिति (४।१।१, वा० ३)। ये ही परिवार उस समय तक 'ज्ञ' देवता के लिए स्थाली पाक बनाकर उसकी पूजा करते थे। इस औपचारिक पूजा में ज्ञान के अधिदेवता का वह मौलिक स्वरूप जो उपनिषद् और शान्तिपर्व के युग में था कितना सुरक्षित था, नही कहा जा सकता।

मति या दिट्ठि—उस युग में दार्शनिक या तत्त्व चिन्तको के विचार के लिये बौद्ध और जैन साहित्य में दिट्ठि शब्द मिलता है। इसके मूल मे वही दृश् धातु है जिससे दर्शन शब्द बना है। पाणिनि ने दिट्ठि के लिये मति शब्द का प्रयोग किया है (४।४।६०)। मत या ज्ञान का साधन को मत्य कहते थे (मतस्य करण, ४।४।९७)।

पाणिनि ने अपने युग की दिट्ठियो का वर्गीकरण किया है जो जितना ही सक्षिप्त है उतना ही मूलभूत और तात्विक है। उस युग के बौद्धिक मन्थन ने अनेक संख्यक मत या दिट्ठियो को जन्म दिया था। दीघनिकाय के ब्रह्मजाल सुत्त मे, जैन आगमो में एवं महाभारत के शान्तिपर्व में इनका विस्तृत वर्णन आता है। पाणिनि ने इन्हे (१) आस्तिक, (२) नास्तिक और (३) दैष्टिक कहा है (अस्ति नास्ति दिष्टं मति., ४।४।६०)। दिट्ठि या मतियो की सूची श्वेताश्वतर उपनिषद् (१।२) में दी है—कालवाद, स्वभाववाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद, भूतवाद, योनिवाद, पुरुषवाद (और भी चरक, सूत्रस्थान, अ० २५, सुश्रुत, शारीर स्थान १।११)। इस सूची मे काल का पहला उल्लेख है। पाणिनि युग से पहले काल को सृष्टि का कारण मानकर व्याख्या करने वाले दार्शनिक सम्प्रदाय का पर्याप्त विस्तार हो चुका था। अथर्ववेद के काल सूक्त मे उसके सिद्धान्त हैं। महा परियाय जातक में कालवाद का निरूपण है (जा० २, पृ० २६०–६१)। शान्ति पर्व में उसका और विशद रूप है (२२०।२९–११०)। पाणिनि के अनुसार भी कालवाची शब्दो को नई प्रतिष्ठा प्राप्त हुई, वे देवता मान लिए गए जिनकी पूजा होने लगी (४।२।३४)। नक्षत्र और ऋतु भी देवता माने जाने लगे। कालवादी दार्शनिको को ही अहोरात्रविद् कहते थे।

इसके बाद स्वभाव को सृष्टि का कारण मानने वाले थे। इसके समकक्ष पूरण कस्सप का प्रकिरियावाद का सिद्धान्त था। इसे ही शाश्वतवाद भी कहते थे। सब कुछ अपने स्वभाव से सदा से ऐसे ही हो रहा है, कोई न करने वाला है, न कारण है, ईश्वर की कहीं आवश्यकता या अवसर नहीं है (दे० शान्ति पर्व २१५।१५-१६)। यदृच्छावाद के मानने वाले अहेतुवादी दार्शनिक थे (शान्ति पर्व १६८।२१-२२, जहाँ इसे पर्यायवाद भी कहा है)। बिना किसी हेतु के आकस्मिक सयोग से यह जगत् बन गया है। भूतवाद के प्रतिनिधि लोकायत दर्शन के अनुयायी थे जो पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार भूतों से सृष्टि की उत्पत्ति मानते थे। अजितकेस कम्बली का उच्छेदवाद भी चार भूतों के मत का अनुयायी था (चातु महाभूतिकोऽयं पुरुषः)। शान्ति पर्व १७२।१३-१८ मे भूतवाद के दृष्टिकोण का उल्लेख है। नियतिवाद के प्रवर्तक आचार्य मक्खलिगोसाल थे (शान्ति पर्व अ० १७१)। योनिवाद उस दिट्ठि की संज्ञा थी जिसमे जन्म को ही सब कुछ माना जाता था। ब्राह्मण कुल मे या क्षत्रिय कुल में जन्म लेने से ही मानव क जीवन की पर्याप्त व्याख्या हो जाती है यही इनका मत था। बल से ही व्यक्ति और समाज का नियमन और संचालन होता है, यही इनका दृष्टिकोण था (योनिवाद के लिये दे० शान्तिपर्व अ० १७३; खत्तविज्जावाद, जा० ५।२४०)। अन्त मे पुरुष या देव की शक्ति को सृष्टि का कारण मानने वाले थे जिन्हे जातको मे इस्सरकारणवादी कहा गया है (जा० ५।२३८)। श्वेताश्वतर उपनिषद् मे पुरुषवाद के अतिरिक्त अन्य दार्शनिको को परिमुह्यमान अर्थात् भ्रान्त दिट्ठि वाले कहा गया है। ये ही सब मिलकर पाणिनि के 'नास्ति मति' रखने वाले नास्तिक आचार्य थे। पुरुष या ईश्वर को कारण मानने वाले लोग जिनके दर्शन और सम्प्रदाय दोनो अत्यन्त पल्लवित और विस्तृत थे 'आस्तिक' मति वाले आचार्य हुए। पुरुषसूक्त मे इसी मत का विवेचन है। वेदाहमेतं पुरुषं महान्त मादित्य वर्णं तमस परस्तात्। तमेव विदित्वादि मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यते अयनाय॥ इस कथन की जो शक्ति है उससे इस दर्शन के आत्मविश्वास और उच्च स्थान का पता चलता है। ईश और अनीश संज्ञक दो सुपर्ण जो एक ही अश्वत्थ वृक्ष की शाखा पर बैठे हुए हैं, अथवा क्षर और अक्षर नामक दो पुरुष, अथवा क्षेत्रज्ञ संज्ञक पुरुष जो क्षेत्र का अधिष्ठाता है—ये सब ऊहापोह पुरुषवाद या आस्तिक मति के ही विविध पक्ष थे। एक मूल विचारधारा कई रूपों में फुटाव ले रही थी। मूलभूत सांख्य के अज और अजा की कल्पना से आरम्भ करके इस दर्शन का पर्यवसान वेदान्त दर्शन मे हुआ। पाणिनि ने जिन्हे पाराशर्य के भिक्षु सूत्र कहा है उनमे पुरुषवाद या आस्तिक मति का प्रतिपादन था। पुरुष या अध्यात्मवाद ने और छोटे-छोटे वाद या मतियों को अपने मे समेट लिया। प्राणवाद, ज्योतिवाद, व्योमवाद आदि कितनी ही मतियो का समावेश या समन्वय वेदान्त के पुरुष-

वाद मे हो गया। पुरुष ही इन सब विविध कारणो का एकमात्र अधिष्ठाता है। प्रकृति और सृष्टि के विषय में जो और बहुत से मत उत्पन्न हुए थे वे आस्तिक धारा में मिल गए और भारतीय दर्शन का प्रमुख सस्थान आस्तिकवाद के ही आदर्श में अन्तर्भूत हो गया।

नास्तिक मति के अन्तर्गत एक सम्प्रदाय बहुत तगड़ा था जिसे सब से अलग नाम से पुकारा जाता था। वह मक्खलिगोसाल का नियतिवाद था। पाणिनि ने उसका अलग उल्लेख किया है, वही दिष्ट मति वाले या दैष्टिक थे। वे कर्म और मानुषी पराक्रम (किरिया और विरिय) का खण्डन या उपहास करते थे। पतजलि ने निश्चित शब्दो मे उसके मत का उपन्यास किया है—

माकृत कर्माणि माकृत कर्माणि, शान्तिर्वः श्रेयसीत्याहातो मस्करी परिव्राजकः (६।१।१५४)।

अर्थात् मस्करी परिव्राजक का वह नाम इस लिये था क्योंकि वह कहता था—कर्म मत करो, बिलकुल कर्म मत करो, शान्ति से ही मोक्ष मिलेगा। बौद्ध और जैन साहित्य में मक्खलि के जीवन और मत का विस्तृत उल्लेख है। ये लोग आजीवक कहलाते थे। बुद्ध मक्खलि के मत को सबसे भयङ्कर मानते थे। महाभारत शान्तिपर्व में इन आचार्यों की पृथक्-पृथक् दिट्ठियो का बहुत ही विस्तार से वर्णन है। वहाँ कहा गया है कि नियतिवादी मत के पाँच सिद्धान्त थे—सर्वसाम्य, अनायास, सत्य वाक्य, निर्वेद (कर्म के प्रति नितान्त उपेक्षा), अविवित्सा (आत्मा आदि के विषय मे बौद्धिक प्रयत्न का भी परित्याग)। पतंजलि ने जो बारबार 'मा कर्म कार्षी.' कहा है उसका लक्ष्य शारीरिक और बौद्धिक दोनो प्रकार के कर्मों का निराकरण है (अनायास = हाथ पैर न हिलाना)। महाभारत में मक्खलि या मखलि को मंकि के रूप में चित्रित किया है। कहानी है कि मंकि ऋषि पहले पुरुषार्थवादी थे, किन्तु भाग्य उनका साथ न देता था। उन्होंने अन्तिम बार पुरुषार्थ करके सफल होने का दृढ़ सकल्प किया। सब कुछ बेचकर एक जोड़ी बैल खरीदे और उन्हे नाँध कर खेत को चले। मार्ग में एक ऊँट बैठा हुआ था। वह बछड़ो को देखकर भड़क गया और एकाएक उठ कर भागा। दोनो बछड़े उसकी गर्दन में लटक गए। मंकि ऋषि विलाप करते हुए उसके पीछे भागे। तब उन्होने अपना अनुभव वाक्य कहा—मणीवोष्ट्रस्य लम्बेते प्रियौ वत्सतरौ मम। शुद्ध हि दैवमेवेदं हठे नैवास्ति पौरुषम् (शान्ति० १७१।१२)। ये ही लोग दैष्टिक या भाग्यवादी थे। महाभारत मे धृतराष्ट्र और ययाति को नियतिवादी या दैष्टिक मतानुयायी कहा है।

लोकायत—ये लोग भूतवाद और उच्छेदवाद के मानने वाले थे। इनके दर्शन का लोक में सबसे अधिक प्रचार होने से संभवतः ये लोकायत कहे गए। सूत्र

में इनका नाम नहीं है, किन्तु उक्थादि गण (४।२।६०) में दूसरे स्थान पर है। इस मत के आचार्य और शिष्य लोकायतिक कहलाते थे (तदधीते तद्वेद)। पाणिनि के समय मे लोकायतिक थे पूरी संभावना है । कौटिल्य ने लोकायतो का उल्लेख किया है। दीघनिकाय मे भी उनका नाम है। लोकायत मत का एक पण्डित ब्राह्मण बुद्ध से प्रश्न करता है (सयुत्त निकाय)। अन्यत्र जातक मे कहा है—ने सेवे लोकायतिकम् (जा० ६।२८६)। कामसूत्र मे एक लोकोक्ति है—वरं साशयिकान्निष्कादसाशयिकः कार्षापण इति लोकायतिका. (काम० १।२।३०), खुटके के निष्क से (सोने का सिक्का) बेखुटके का कार्षापण (चाँदी का सिक्का) अच्छा है। इससे लोकायतिको की प्रत्यक्ष जीवन में आस्था का आभास मिलता है। पतजलि ने लिखा है—वर्णिका भागुरी लोकायतस्य (७।३।४५), अर्थात् भागुरि का मत लोकायतो की बानगी है। व्याकरण में कुछ प्राचीन उदाहरण हैं जिनसे सूचित होता है कि लोकायत शास्त्र के उद्भट पण्डितो की संज्ञा चार्वी थी।[1] पीछे उसी से चार्वाक शब्द बना जो आचार्य का नाम न होकर उनका विरुद था। दुर्योधन का मित्र एक लोकायतिक था। दशरथ का एक मंत्री जाबालि लोकायत मतानुयायी था। लोकायत सम्प्रदाय अति प्राचीन था और सम्भावना यही है कि पाणिनि के नास्तिक सम्प्रदायो में उसकी भी गणना थी।

अन्य शब्द—योग की शब्दावली में यम, नियम, संयम (३।३।६३) और योगी (३।२।१४२) एवं न्याय मे निग्रह, अनुयोग (५।२३) का उल्लेख किया गया है। सूत्र ६।२।१८२ मे परिमंडल शब्द उसी अर्थ में है जिसमें वैशेषिक सूत्र ७।१।२० में (=परमाणु)।

आत्मप्रीति, आत्ममान, आत्मनीन (आत्मने हितम् , ५।१।९) प्रयोगों मे आत्मा शब्द का प्रयोग अपने के अर्थ में हुआ है। यह उपनिषद् युग का नया शब्द था। स्वशब्द भी आत्मा-आत्मीय के अर्थ मे प्रयुक्त होता था। जीवनाशं नश्यति सूत्र में (३।४।४३) जीव जीवन या प्राण के लिये प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वैदिक शब्द अक्षेत्रविद् (ऋ० १०।३२।७, अक्षेत्रवित् क्षेत्रविद ह्यप्राट्) अक्षेत्रज्ञ के रूप में प्रयुक्त होता था जिससे नवीन शब्द अक्षेत्रज्ञ्यं पाणिनि ने दिया है (७।३।३०)।

प्राणभृत् या प्राणिन् पशु और मनुष्य जगत् के लिये आया है, ओषधिवनस्पति

---

१. सूत्र १।३।४७ में भासन (= दीप्ति) का उदाहरण—वदते चार्वी लोकायते (भासमानो दीप्यमान स्तत्र पदार्थान् व्यक्ती करोति, काशिका)।

सूत्र १।३।४७ में ज्ञान (= सम्यगवबोध) का उदाहरण—वदते चार्वी लोकायते (जानाति वदितुमित्यर्थः, काशिका)।

सूत्र १।३।३६ में संमानन (= पूजन) का उदाहरण—नयते चार्वी लोकायते (चार्वी बुद्धिः तत्सम्बन्धादाचार्योऽपि चार्वी स लोकायते शास्त्रे पदार्थान् नयते, उपपत्तिभिः स्थिरीकृत्य शिष्येभ्यः प्रापयति, ते युक्तिभिः स्थाप्यमानाः समानिताः पूजिता भवन्ति, काशिका)।

उससे बहिर्भूत हैं (४।३।१३५)। इनके लिये चित्रवत् (१।३।८८) और अचित्त (४।२।४७) शब्द भी थे।

शुद्ध दार्शनिक के धरातल पर विचार करते हुए कात्यायन ने लिखा है कि सर्वचेतनावत्व के सिद्धान्त से सबको चेतन मानकर चेतन और जड़ का भेद करना अनुचित है (३।१।७)। स्वभावत: व्याकरण के कुछ प्रयोगो पर भी इस मत का प्रभाव पडता था। पतजलि ने प्राचीन प्रयोगो की पृष्ठभूमि में लिखा कि आत्मा शब्द के दो अर्थ हैं, शरीरात्मा और अन्तरात्मा। शरीरात्मा या शरीर कर्म मे प्रवृत्त होता है, पर दु.ख सुख का अनुभव अन्तरात्मा या अन्त करण को होता है। ऐसे ही अन्तः-करण के कारण शरीर को दु ख ,सुख का अनुभव करना पडता है। पाणिनि का स्वान्त शब्द अन्तरात्मा के लिये ही था (७।२।१८) जो कि स्व या आत्मा का अन्त. ज्ञान साधन है और जिसे मन भी कहा जाता था। स्थूल शरीर द्वारा दु.ख-सुख का अनुभव (कर्तृ. शरीर सुखम् ३।३।११६), और मन द्वारा उसकी वेदना का अनुभव (सुख वेदना, ३।१।१८), ये दोनों पक्ष सूत्रकार ने माने हैं, ।जैसा उनका मध्यमार्ग था। इनके पीछे जो दार्शनिक दिट्टिया हैं उनका अनुसन्धान आवश्यक है। न्यायसूत्रो मे दुःख को प्रतिकूल वेदनीय और सुख को अनुकूल वेदनीय कहा गया है। पाणिनि ने इसे स्वीकार करते हुए दु'ख को प्रातिलोम्य (५।४।६४) और सुख को आनुलोम्य (५।४।६३) पूर्वक अनुभव कहा है। स्वतन्त्र. कर्ता (१।४।५४) परिभाषा व्याकरण शास्त्र के लिये मान्य तो थी ही, दार्शनिक पृष्ठभूमि की भी सूचक है।

महेन्द्र—इन्द्र के लिये मरुत्वत् (४।२।३२), मघवन् (४।४।१२८), वृत्रहन् (३।२।८७) इन प्राचीन वैदिक नामो के अतिरिक्त महेन्द्र नाम भी सूत्र मे (४।२।२९) आया है। यह शब्द ऋग्वेद में नही था, यजुर्वेद के तीन निगदो मे प्रयुक्त है। ७।३९–४०; २६।१०)। महेन्द्र या महान् इन्द्र की कल्पना का आधार कुछ इस प्रकार था। शतपथ ब्राह्मण में शरीरस्थ पंच प्राणो को समिद्ध और संचालित करने वाले इन्द्र नामक मध्य प्राण की कल्पना की गई है (शतपथ ६।१।१।२)। यह मध्य प्राण ही इन्द्रियो को प्रेरित करने वाली शक्ति है। ब्राह्मण और उपनिषदो मे इन्द्र और इन्द्रियो के सम्बन्ध की विविध कल्पनाएँ पाई जाती हैं। इसी से पञ्च इन्द्रियों को इन्द्र की पांच शक्तियां माना गया और उन पाच प्राणो को पंचेन्द्र के रूप मे कल्पित किया गया। महाभारत मे पाच इन्द्रो का उल्लेख आया है—पाण्डो· पुत्राः पञ्च पचेद्र कल्पा·, अर्थात् पाण्डु के पाच पुत्र पाच इन्द्रो के समान हैं (उद्योगपर्व ३३।१०३)। पञ्चप्राणो के अधिपति मुख्य प्राण को जैसे मध्य प्राण कहा गया, वैसे ही पाच इन्द्रो मे प्रधान शक्ति को महेन्द्र यह नाम दिया गया। ब्राह्मण ग्रन्थो की अध्यात्म ऊहापोह में इस प्रकार की विचार सरणि जन्म ले रही थी।

इन्द्र और इन्द्रिय—पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति इन्द्र से की है। इन्द्रियं इतना सूत्र लिखकर भी यह अभीष्ट पूरा हो सकता था, किन्तु आचार्य ने शब्दो की अत्यन्त उदारता से कारणवश यह विपुल सूत्र बनाया—

इन्द्रियम् इन्द्रलिंगम् इन्द्रदृष्टम् इन्द्रसृष्टम् इन्द्रजुष्टम् इन्द्रदत्तम् इति वा। (५।२।९३)

इसमे पाणिनि ने इन्द्रिय शब्द को इन्द्र से सम्बन्धित मानते हुए उसकी पाच व्युत्पत्तियाँ दी हैं और उसके बाद जो शेष रह गईं उनके लिये 'इतिवा' लिखकर गुञ्जायश कर दी है। इस सूत्र की वास्तविक पृष्ठभूमि यास्क के निरुक्त अथवा ब्राह्मणक-आरण्यक-उपनिषद् साहित्य मे प्राप्त होती है। यास्क ने इन्द्र की पन्द्रह व्युत्पत्तियाँ संगृहीत की हैं जिनका आधार इन्द्र और इन्द्रियो के पारस्परिक सम्बन्ध की विविध दार्शनिक कल्पना या मान्यताएँ थी (निरुक्त १०।८) पाणिनीय शब्दो के मूल मे वे ही मान्यताएं हैं—

(१) इन्द्र-लिंगम्—इन्द्रियां इन्द्र के बाह्य लिङ्ग या प्रतीक हैं। काशिका ने यथार्थ लिखा है कि इस सूत्र मे इन्द्र आत्मा है। मैत्रायणी उपनिषद् (६।८) में यह अर्थ आया है। जब तक इन्द्रिया स्वकार्य मे प्रवृत्त रहती हैं इन्द्र का शरीर में निवास सूचित होता है (इन्द्र आत्मा स चक्षुरादिकरणेनानुमीयते। नाकर्तृक करणमस्ति—काशिका)। 'आरम्भ मे असत् नामक ऋषि थे। वे प्राण (प्राणा.) थे। अमूर्त प्राण ने शरीर में प्रवेश किया वही इन्द्र है। वह स्वशक्ति से इन्द्रियो को सञ्चालित करता है जो उसकी अध्यात्म सत्ता के चिह्न हैं' (शतपथ ६।१।१।२)। यही इन्द्रलिंगम्' की पृष्ठभूमि है।

(२) इन्द्र-दृष्टम्—इन्द्रिया इन्द्र से दृष्ट हुईं, अर्थात् इन्द्र ने उनका अनुभव किया। यास्क के अनुसार यह आचार्य औपमन्यव का मत था—इद दर्शनाद् इति औपमन्यव.। ऐतरेय आरण्यक में भी यही मत है—इदम् अदर्शं तस्माद् इन्द्रो नाम (३।१४)। इस शरीर मे आते ही इन्द्र ने इन इन्द्रियो को देख लिया, अर्थात् उनकी सत्ता का अनुभव कर लिया, इसी से वह इन्द्र कहलाया। इदन्द्र को ही इन्द्र कहा गया। यही परोक्ष शैली है (तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्ष प्रिया वै देवाः प्रत्यक्षद्विषः)। आचार्य औपमन्यव प्रसिद्ध वैयाकरण थे जिनके मत का यास्क ने अन्यत्र भी उपन्यास किया है (३।१८)। पाणिनि ने यह व्युत्पत्ति वही से ग्रहण की, ऐसी सभावना है।

(३) इन्द्र-सृष्टम्—इन्द्रियो की सृष्टि इन्द्र ने की। यास्क ने इसे आचार्य आग्रायण का मत कहा है—इदं करणादिति आग्रायण (नि० १०।८)। ऐतरेय उप० मे इसी मत का उल्लेख है—ता एता देवता. सृष्टा (ऐ० २।१)। काशिका ने लिखा है—आत्मना सृष्ट तत्कृतेन शुभाशुभेन कर्मणोत्पन्नमिति कृत्वा।

(४) इन्द्रजुष्टम्—इन्द्र से जुष्ट अर्थात् प्रिय भाव से सह युक्त होने के कारण इन्द्रियों का यह नाम पड़ा। जब इन्द्र इन्द्रियों के साथ रहता है, वहिर्मुख होता है तब वह सबसे अधिक प्रसन्न रहता है (आत्मना जुष्ट सेवितं तद् द्वारेण विज्ञानोत्पादनात्, काशिका)। इन्द्र के प्रिय पान सोम का संचय इन्द्रिय रूपी पात्रों में होता है। वहीं से वह इन्द्र को प्राप्त होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में (२।२६) इन्द्रियों को सोम-ग्रह कहा गया है (ग्रह = पात्र)। यास्क भी लिखता है कि इन्द्र की सबसे अधिक प्रसन्नता सोमपान से होती है (इन्दौ रमते; इन्दु = सोम)। इन्द्र और इन्द्रियों का जो अत्यन्त रमणीय या सुखद सम्बन्ध है उसी का सूचक 'इन्द्रजुष्टं' पद है।

(५) इन्द्र-दत्तम्—इन्द्र ने इन्द्रियों को अपने विषय का भोग प्रदान किया है, इसी सम्बन्ध से वे इन्द्रियाँ कहलाती हैं (आत्मना विषयेभ्यो दत्त यथायथं ग्रहणाय, काशिका)। ऐतरेय उपनिषद् में यह कथा है—सब देव इस पुरुष मे प्रविष्ट हुए। तब उस इन्द्र या आत्मा ने उनसे कहा, 'अपने-अपने स्थान में प्रतिष्ठित होओ।' यथा नियत स्थानों में बैठे हुए ये देव आज भी अपना-अपना कार्य कर रहे हैं। यही प्राचीन आख्यान पाणिनीय 'इन्द्रदत्त' व्युत्पत्ति का मूल है।

(६) इति वा—सूत्र का यह टुकड़ा उन व्युत्पत्तियों के लिये भी जो यहाँ उद्धृत नहीं की गईं सूत्रकार की मान्यता प्रदान करता है। इन्द्र की कुल सत्रह व्युत्पत्तियाँ प्राचीन वैदिक साहित्य और निरुक्त में आई हैं।[१] काशिका मे कहा है कि 'इति' शब्द व्युत्पत्ति के प्रकारों का सूचक है, अतएव अन्य व्युत्पत्तियाँ भी सम्भव हैं (इति करणः प्रकारार्थ.। सति सम्भवे व्युत्पत्तिरन्यथापि कर्त्तव्या, रूढेरनियमादिति। वा शब्द. प्रत्येकमभिसम्बध्यमानो विकल्पानां स्वातन्त्र्य दर्शयति—काशिका)। इस सूत्र मे आचार्य ने उदारशैली अपना कर शब्द-लाघव की अपेक्षा शब्द बाहुल्य से काम लिया है।

परलोक—परलोक और पारलौकिक जीवन की सिद्धि इसी जीवन मे तप आदि के द्वारा प्राप्त की जा सकती है, इस प्रकार के विश्वास और प्रयत्न की भावना थी (सिध्यतेरपारलौकिके, ६।१।४९); जैसे तप. तापसं सेधयति, अर्थात् तप तपस्वी को सिद्ध बनाता है। तपस्वी ज्ञान विशेष की प्राप्ति से जन्मान्तर के विषय में सिद्धि प्राप्त करता है (तापसः सिध्यति। ज्ञानविशेषमासादयदि। तं तप. प्रयुक्ते। स च ज्ञानविशेष उत्पन्नः परलोके जन्मान्तरे फलमभ्युदयलक्षणमुपसहरन् परलोकप्रयोजनो भवति—काशिका)। लिप्स्यमान सिद्धौ च सूत्र (३।३।७) की पृष्ठभूमि मे भी इस प्रकार परलोक या स्वर्ग आदि की सिद्धि को सम्भव माना गया है। उसकी प्राप्ति के लिये इस लोक में जो दान-दक्षिणा आदि दी जाती थी वह 'लिप्स्यमान' कहलाती

१. दे० श्री फतेहसिंह कृत, वैदिक व्युत्पत्तियाँ (कोटा, १९५२), पृ० ९४।

थी। उससे स्वर्ग आदि की प्राप्ति का प्रलोभन यजमान को दिया जाता था, जैसे यो भक्त ददाति स स्वर्गं गच्छति, जो भोजन देगा वह स्वर्ग जायगा। वेद मे स्वर्ग के लिये नाक शब्द का भी प्रयोग है। शतपथ में नाक की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—न+अक, अर्थात् नही है दुःख जहाँ वह नाक है (श० ८।२।१।२४)। यास्क और पाणिनि (६।३।७५) दोनो मे नाक शब्द की इस व्युत्पत्ति को स्वीकार किया गया है।

पाणिनि ने निःश्रेयस शब्द का उल्लेख किया है (५।४।७७)। उपनिषद् युग का मोक्ष परम आनन्द के लिये नया शब्द था। अष्टाध्यायी में निर्वाण शब्द का भी उल्लेख है (निर्वाणोऽवाते, ८।२।५०)। काशिका मे इसके तीन उदाहरण हैं—निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणोदीप., निर्वाणो भिक्षु.। इन तीनो मे ध्वनि है कि निर्वाण नितान्त अभाव की दशा का नाम था। दीप या अग्नि के समान भिक्षु का अस्तित्व भी बिलकुल 'बुझ' जाता है, वही निर्वाण प्राप्ति की अवस्था है। इस शब्द के इस अर्थ में बौद्ध धर्म की मान्यता अन्तर्निहित है।

अध्याय ७

राजतंत्र और शासन

परिच्छेद १—एकराज प्रणाली

राजा—पाणिनि के युग में राज्य और संघ दो प्रकार के शासन तंत्र थे। राजा जिस तंत्र में अधिपति हो उसे राज्य कहा गया है (६।२।१३०)। ऐतरेय ब्राह्मण में जिन शासन पद्धतियों का उल्लेख है, जैसे भौज्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, वैराज्य आदि (८।१५), उनमे राज्य का भी परिगणन है। एक जनपद की भूमि पृथिवी और वहाँ का राजा पार्थिव कहलाता था इसके विपरीत उससे विस्तृत भूप्रदेश या समस्त देश के लिये सर्वभूमि शब्द था, जहाँ का अधिपति सार्वभौम कहलाता था (तस्येश्वरः सर्वभूमि पृथिवीभ्यामणञौ, ५।१।४१-४२)। दीघनिकाय के महागोविन्द सुत्त मे सर्वभूमि को ही महापृथिवी कहा गया है। उसमें महापृथिवी का सीमाविस्तार पूर्व मे कलिंग से पश्चिम में सौवीर तक माना है। इससे निश्चित ज्ञात होता है कि महापृथिवी या सर्वभूमि संज्ञा उस युग में समस्त देश के लिये प्रचलित थी। अपने जनपद के राज्य से आगे बढ़कर जो राजा अनेक जनपदो तक अपने राज्य का विस्तार करता वह साम्राज्य पदवी का अधिकारी होता था, और जो सर्वभूमि के अधिकतमक्षेत्र का आधिपत्य प्राप्त करता वह सार्वभौम कहलाता था। आदिपर्व मे भरत को सार्वभौम कहा गया है (आदि ६९।४५–४७)। आपस्तम्ब श्रौतसूत्र के अनुसार सार्वभौम राजा सर्व पृथिवी विजय के अनन्तर अश्वमेध करने का अधिकारी होता था (आपस्तम्ब २०।१।१)। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची मे भी सार्वभौम शब्द आता है।

राजा के लिये ईश्वर, भूपति, अधिपति शब्द आए हैं। सूत्र १।४।९७ और २।३।९ मे (यस्यचेश्वरवचनं तत्र सप्तमी) में उन प्रयोगो को नियमित किया गया है जिनसे जनपद के राजा का नाम सूचित किया जाता था।

भाष्य में एक उदाहरण है—अधिब्रह्मदत्ते पञ्चालाः, अर्थात् पंचाल जनपद ब्रह्मदत्त राजा के अधिकार में है; या इसे ही यों भी कह सकते थे—अधि पञ्चालेषु ब्रह्मदत्तः अर्थात् पंचाल जनपद में ब्रह्मदत्त राजा है। ईश्वर शब्द के संबन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन साहित्य मे प्रायः वह राजा या पृथिवीपति के लिये प्रयुक्त हुआ है, भगवन् के लिये नहीं। निघण्टु में राष्ट्री, अर्य, नियुत्वान्, इन, और ईश्वर पर्याय हैं। सूत्र २।४।२३ (सभा राजामनुष्यपूर्वा) मे भाष्य मे राजा को इन और ईश्वर का पर्याय कहा है। पाणिनि ने अर्य को स्वामी का पर्याय माना है (अर्यः

स्वामि वैश्ययो, ३।१।१०३)। जिस पुरुष मे ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था। (स्वामिन्नैश्वर्ये, ५।२।१२६) ईश्वर या राजा की अधिकार शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे। पतंजलि ने कहा है कि 'स्वामी' शब्द मे ऐश्वर्य का अर्थ प्रत्यय के कारण नही आता, वरन् उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है (नाय प्रत्ययार्थ.)। ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य सम्पन्न स्वामी आरम्भ मे राजा के लिये ही प्रयुक्त होता था।

राजा को भूपति भी कहा जाता था (६।२।१९)। इस शब्द मे भी 'ऐश्वर्य' उसके पतित्व या आधिपत्य की विशेषता थी (पत्यावैश्वर्ये, ६।२।१८)। अतएव भूपति का अर्थ साधारणतः भूमि का स्वामी ऐसा नही था, अन्यथा वह किसान आदि के लिये भी प्रयुक्त हो जाता। किन्तु पृथिवी के स्वामित्व की ईश्वरता या ऐश्वर्य जिसमें हो वही भूपति कहलाता था। यह स्थिति राजा की ही थी। स्वामी और ईश्वर के साथ पठित अधिपति शब्द (२।३।३९) का कुछ विशेष पारिभाषिक अर्थ भी था। ऐतरेय ब्राह्मण की सूची मे आधिपत्य एक प्रकार की शासन प्रणाली की सज्ञा है। पड़ोसी जनपदो पर उस प्रकार का अधिकार जिसमे वे अधिपति को कर देना स्वीकार करें आधिपत्य कहलाता था (जायसवाल, हिन्दू राजतत्र; और भी आदिपर्व, १०३।१, १०५।११-१५, २१)। साम्राज् शब्द (८।३।२५, मो राजि समः क्वौ) विशिष्ट राजपदवी का सूचक था। महाभारत मे सम्राज् को कृत्स्न भाक् कहा गया है, अर्थात् वह शासन प्रणाली जो औरो से स्वत्व या अधिकारो को छीन कर आत्मसात् कर लेती है एवं साम्राज्य में विलीन होने पर पुनः उसका स्वतत्र अस्तित्व नही रह जाता (सम्राज् शब्दो हि कृत्स्नभाक्, सभापर्व १४।२)।

महाराज शब्द का दो बार उल्लेख है। शब्द रूप एक होते हुए भी महाराज वहाँ देवता के लिये प्रयुक्त है। (महाराज प्रोष्ठपदाट्ठञ्, ४।२।३५, महाराजो देवतास्य महाराजिकम्; महाराजाट्ठञ्, ४।३।९७, महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिकः)। वैसे महाराज प्राचीन राजनीति का पारिभाषिक शब्द भी था और एक गणराज्य का नाम भी था।

मंत्रि-परिषद्—पाणिनि ने तीन प्रकार की परिषदो का उल्लेख किया है—(१) सामाजिक परिषद् (४।४।५५), (२) चरणो के अन्तर्गत विद्यासम्बन्धी परिषद् (४।३।१२३), और राजनैतिक मन्त्रिपरिषद् (५।२।११२)। परिषद् का सदस्य पारिषद या पारिषद्य कहलाता था (परिषदोण्यः ४।४।१०१)। पारिषद विशेषण उसी के लिये प्रयुक्त होता था जिसका परिषद् में बैठने का न्याय्य अधिकार था (तत्र साधु)। सामाजिक परिषद् गोष्ठी या समाज की भाति मनोरजन की सस्था थी जिसमें सम्मिलित होने वाले सदस्य पारिषद्य कहलाते थे। उसके लिये अलग सूत्र का विधान है (परिषदोण्यः, ४।४।४४, परिषदं समवैति)।

राजनीति से सम्बन्धित परिषद् वस्तुत' मन्त्रि परिषद् सस्था थी। जो राजा परिषद् के साथ सहयुक्त होकर शासन करते थे उनके लिये 'परिषद्वलो राजा' यह विशिष्ट और साभिप्राय शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था (रज. कृष्यासुति परिषदो वलच, ५।२।११२)। बौद्ध साहित्य, अर्थशास्त्र और अशोक के अभिलेखो मे इस परिषद् का उल्लेख आता है। महासीलव जातक मे राजा के अमात्यो की परिषद् को सुविनीत कहा गया है (एव सुविनीता किरस्स परिसा, जा० १।२६४)। सुविनीता शब्द भी राजनीतिक परिभाषा से सम्बन्ध रखता है। जिसे कौटिल्य ने विनयाधिकार और पाणिनि ने वैनयिक कहा है। उसी 'विनय' से युक्त मन्त्रि परिषद् 'विनीत' कहलाती थी। सब मन्त्री अपने कार्य सपादन मे राजनीतिक अनुशासन से युक्त होते थे। अशोक ने लिखा है कि अत्यावश्यक कार्यों पर विचार करने के लिये परिषद् का अधिवेशन तुरन्त बुलाना चाहिए (अचायिक = आत्ययिक)। अर्थशास्त्र मे मंत्रि परिषद् के सगठन के विषय मे पूरा विवरण दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि राजतन्त्र मे उस समय परिषत् का निश्चित स्थान और अधिकार माना जाता था (अर्थशास्त्र १।११)। मन्त्रि-परिषद् के साथ कार्य करने वाला राजा, इस अर्थ के द्योतन करानेवाला परिषद्वलो राजा यह सटीक शब्द भाषा में चल गया था।

राजकृत्वा—वैदिक युग में जिन रत्नी नामक अधिकारियो को राजकृतः (राजा के बनाने वाले) कहा जाता था (अथर्व ३।५।६।७), उनके लिये पाणिनी ने 'राजकृत्वा' शब्द का प्रयोग किया है (राजनि युधिकृञ ३।२।९५; राजानम् कृतवान् इति राजकृत्वा)। बौद्ध साहित्य मे भी यह शब्द मिलता है। दीघनिकाय मे मंत्रियो को राजकर्ता कहा गया है (राककत्तारो, महागोविन्द सुत्तन्त) रामायण में भी मंत्रियो को राजकर्तार कहा है (समेत्य राजकर्तारो भरतं वाक्यमब्रुवन् अयोध्या० ७९।१; राजकर्तार = मंत्रिणः, टीका; जायसवाल, हिन्दू राजतंत्र, २।११६)।

मुख्य मंत्री या आर्यब्राह्मण—सूत्र ६।२।५८ में (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) में आर्यकुमार शब्द युवराज के लिये और आर्यब्राह्मण मुख्य मंत्री के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अगले सूत्र मे (राजा च, ६।२।५९) पाणिनि ने राजब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया है। कर्मधारय समास में राज ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरुष समास मे राजब्राह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्य मंत्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका संकेत पाणिनि ने ब्राह्मणमिश्रो राजा सूत्र मे किया है।

ब्राह्मणमिश्रो राजा—राज संस्था के इतिहास की दृष्टि से पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र महत्त्वपूर्ण है—

मिश्रं चानुपसर्गमसघौ (६।२।१५४)।

'तृतीयान्त समास मे मिश्र शब्द अन्तोदात्त होता है, यदि उसके पहले उपसर्ग न हो और उसका अर्थ संधि न हो।'

यहाँ संधि शब्द सूत्र की कुंजी है। हर्ष है कि कौटिल्य मे इसका जो ठीक परिभाषात्मक अर्थ था उसकी परम्परा काशिका मे सुरक्षित मिलती है—

असंधाविति किम्। ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणैः सह संहित एकार्थ्यमापन्न.। संधिरिति हि पणबन्धेनैकार्थ्यमुच्यते (काशिका)। यहाँ संधि का तात्पर्य है परस्पर समझौता। शर्तनामे के द्वारा दोनो का आपस मे इस प्रतिज्ञा से बँध जाना कि यदि तुम यह करोगे, तो मैं यह करूँगा, इसका नाम पण बंध या संधि है। कौटिल्य में 'पणबन्धः संधिः' यही परिभाषा दी है (अर्थ० ७।१)। संधि राजतन्त्र का शब्द था। उस पृष्ठभूमि मे ब्राह्मणमिश्रो राजा प्रत्युदाहरण साभिप्राय हो जाता है। जो राजा ब्राह्मण के साथ संधि या पणबन्ध करता था उसके लिये भाषा मे इस सार्थक शब्द का नया प्रयोग चालू हुआ था। तीन प्रश्न हैं—किस ब्राह्मण के साथ और किस प्रकार की संधि राजा करता था और यह किस युग की प्रथा थी? इन तीनो का उत्तर भारतीय राजतन्त्र के इतिहास की दृष्टि से इस प्रकार है—

जिसे पाणिनि ने आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः सूत्र में (६।२।५८) आर्य ब्राह्मण कहा है वही यह ब्राह्मण था जिसके साथ राजा का पणबन्ध होता था। आर्य ब्राह्मण मन्त्रि परिषद् या पाली शब्दो में 'अमच्च परिसा' मे सर्व प्रधान मुख्यामात्य होता था। आर्य उसकी पदवी या संबोधन था। 'आर्य' चाणक्य उसी पद का सूचक है। प्रत्येक परिषद्वल राजा का 'परिषद्वल' विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद् के मुख्य मन्त्री या आर्य ब्राह्मण के साथ अपनी संधि का पालन करता था। यह राजतन्त्र मे मन्त्रि परिषद् की बडी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मन्त्रि परिषद् कहने सुनने के लिये या राजा की निरकुंश इच्छा का खिलवाड़ न थी। वह राजा पर सच्चा अकुश रखती थी और उसको भी अनुचित काम करने से हटक देती थी। अशोक और रुद्रदामा की परिषद् इसके ऐतिहासिक उदाहरण बचे हैं। प्रियदर्शी अशोक ने राजकोष में से बौद्ध संघ को मात्रा से अधिक धन देना चाहा, तो परिषद् ने रोक दिया। महाक्षत्रप रुद्रदामा ने सुदर्शन तटाक के खण्ड स्फुटित संस्कार (मरम्मत) के लिये अत्यधिक धन का व्यय करना चाहा। यह व्यय यद्यपि प्रजा हित मे था, किन्तु परिषद् ने इसे सीमित राजकीय द्रव्य पर बोझा समझा और रोक दिया। तब रुद्रदामा ने अपने निजी कोष मे से द्रव्य का विनियोग किया। परिषद् का इस प्रकार की वास्तविक शक्ति का कारण यही पणबन्ध या संधि थी। यदि राजा उसे न माने तो परिषद् उसे पदच्युत कर सकती थी जैसा शुक्र ने अपने युग की तथ्यात्मक विचारधारा के आधार पर लिखा है।

राजा और ब्राह्मण के बीच की संधि के वास्तविक स्वरूप का यही संकेत है।

राजा राज्याभिषेक के समय पहले कठोर शपथ लेता था और तब राज्यासन पर बैठता था। ऐतरेय ब्राह्मण के ऐन्द्र महाभिषेक मे वह शपथ दी हुई है—राजा कहता था, 'जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है, और जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, उन दोनो के बीच मे जो मेरी सन्तति, धन, आयुष्य और यश है वह सब नष्ट हो जाय यदि मैं प्रजाओ से द्रोह करूँ।' यह अभिषेक शपथ सविधान की कुञ्जी थी। इसी के कारण राजा की परिभाषा चरितार्थ होती थी—'राजा प्रकृतिरञ्जनात्', 'राजा प्रजा रजन लब्ध वर्ण.'। शान्तिपर्व मे ही राजा का यह लक्षण आया है (२९।१३९)। 'प्रजा से द्रोह न करूँ' का निर्देशात्मक पक्ष यह था कि प्रजा का रञ्जन करूँ। व्यवहार में प्रजा रञ्जन की कसौटी या मर्यादा क्या थी ? यह उसी प्रकार थी जैसी आज है, अर्थात् मन्त्रि परिषद् से साथ राजा का ऐकार्थ्य भाव या राजा के पण बन्ध की सचाई। इसका स्वरूप वही था जो मनु ने लिखा है, अर्थात् राजा षाड्गुण्य के विषय मे अपने मुख्य मन्त्री से अवश्य परामर्श करे (मनु ७।५८)। जब तक राजा मन्त्रिपरिषद् के परामर्श से शासन करता वह प्रजा रञ्जन की कसौटी पर खरा उतरता, अर्थात् वह प्रजाओ से द्रोह न करने की अपनी अभिषेक-शपथ का पालनेवाला समझा जाता था।

प्रश्न है कि मुख्य मन्त्री के लिये ब्राह्मण शब्द का प्रयोग क्यो किया गया। यह उस युग की परम्परा थी कि त्यागी विद्वान् राजशास्त्रवेत्ता ही मुख्य मन्त्री होते थे और उनकी पदवी ब्राह्मण थी। कौटिल्य ने स्पष्ट लिखा है कि जिस क्षत्र को 'ब्राह्मण' का समर्थन प्राप्त है, जिसे अपनी परिषद् के अन्य मन्त्रिओ के परामर्श का लाभ प्राप्त है, जो शास्त्र का पालन करता है, वह अजित प्रदेशो को भी अपने विजित मे ले आता है (अर्थ० १।१८)। जो पहले से ही उसके विजित मे है उनकी दृढ़ स्थिति का तो कहना ही क्या ? मुख्य मन्त्री जाति से ब्राह्मण हो, जैसा वह प्राय. होता था, या न हो, इसका राजनीति की दृष्टि से अधिक महत्व न था, क्योकि यहाँ जातिगत स्वत्व का प्रसङ्ग नही था, यह तो राजशक्ति को प्रजाहित मे मर्यादित और सञ्चालित करने वाले 'आर्य' व्यक्ति को ढूँढ़ निकालने और उसके महनीय पद की सुरक्षा का प्रश्न था। कौटिल्य या मनु के समय मे आर्य ब्राह्मण के पद का विकास वैदिक युग से चला आया था। वहाँ स्पष्ट ही यह आदर्श व्यवहार मे मान्य था—ब्रह्मणा क्षत्रेण च श्री परिगृहीता भवति; अथवा, यत्र ब्रह्म च क्षत्र सम्यञ्चौ चरत सह। मनु ने भी इस सिद्धान्त को अविकल ग्रहण किया था (९।३२२)।

अब तीसरे प्रश्न पर विचार करना चाहिए। भारतीय इतिहास के किस युग में 'परिषद्वलो राजा' और 'ब्राह्मणमिश्रो राजा' ये दो सूत्र व्यवहार में सत्य थे ? जो प्रमाण सामग्री उपलब्ध है उसके साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाजनपद युग से मौर्य युग तक राजा के साथ उसके प्रधान मन्त्री का भी उतना ही महत्व था। साहित्य मे

कई महामन्त्रियो के नाम वच गए हैं, जैसे मगधराज अजातशत्रु के महामन्त्री वर्षकार, कोसलराज विडूडभ के महामन्त्री दीर्घ चारायण, वत्सराज उदयन के महामन्त्री यौगन्धरायण, मगधाधिपति चन्द्रगुप्त मौर्य के महामन्त्री आर्य चाणक्य, अशोक के राधगुप्त, अवन्तिराज पालक के महामन्त्री आचार्य पिशुन (अर्थशास्त्र, टीका), चण्ड प्रद्योत के भरत रोहक, अवन्तिराज अंशुमान के आचार्य घोटमुख (भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास, पृ० २५८), कोशलराज परन्तप के कणिक भारद्वाज (अर्थशास्त्र, टीका), पञ्चालराज ब्रह्मदत्त के आचार्य वाभ्रव्य (मत्स्य पुराण २।३०) जो ऋग्वेदीय क्रमपाठ मे कर्ता बहुत बडे वैदिक विद्वान् भी थे। जैसा श्री जायसवाल ने लिखा है राजा के नाम के साथ उसके महामन्त्री के नाम का उल्लेख महाजनपद युग और बुद्ध के युग की विशिष्ट प्रथा थी जिसकी पृष्ठभूमि ऊपर लिखी है। ये सब महामन्त्री अपने शासको की नीति के सर्वांश मे निर्देश-कर्ता थे।

अषडक्षीण मन्त्र (५।४।७)—अष्टाध्यायी में अषडक्षीण विशिष्ट शब्द है। इसका अर्थ है वह वस्तु जिसे छह आँखो ने न देखा हो (अ + षड् + अक्ष + ईन)। काशिका ने इसके अर्थ की वास्तविक परम्परा का उल्लेख किया है—अषडक्षीणो मन्त्रः। यो द्वाभ्यामेव क्रियते न वहुभि'; अर्थात् अषडक्षीण उस मन्त्र या राजा के परामर्श को कहते हैं जो दो के साथ किया जाय, बहुतो के साथ नही। इसका तात्पर्य था वह अतिगुप्त मन्त्र जो केवल राजा और प्रधान मन्त्री या आर्य ब्राह्मण के बीच हुआ हो, जिसमे और मन्त्री सम्मिलित न किए गए हो (द्वाभ्यामेव क्रियते, न वहुभि.)। ऐसा मन्त्र साधारण न होता था। अति महत्वपूर्ण राजरहस्य का द्योतक होने के कारण मन्त्रिपरिषद् की शब्दावली में उसके लिये पृथक् शब्द की आकाक्षा स्वाभाविक थी। उसी को दूसरे शब्दो में कहा गया—षट्कर्णो भिद्यते मन्त्र। छह आँखो या छह कानो के बीच मे गया हुआ मन्त्र फूट जाता है, गुप्त नहीं रहता। सौभाग्य से कौटिल्य ने इस सस्था पर ऐतिहासिक प्रकाश डाला है। उनके अनुसार राजा कितने मन्त्रियो के साथ परामर्श करे, अर्थात् मन्त्रिपरिषद् मे मन्त्रियों की सख्या क्या हो, इस प्रश्न पर प्राचीन आचार्यों के कई मत थे। पिशुन, पाराशर, विशालाक्ष और भारद्वाज के मतो का उल्लेख करके कौटिल्य ने अपना मत दिया है कि मन्त्रियो की सख्या तीन या चार होनी चाहिए (अर्थ० १।१५)। इस विषय मे कणिक भारद्वाज का मत सबसे उग्र था—गुह्यमेको मन्त्रयेतेति भारद्वाजः (अर्थ० १।१५)। राजा को उचित है कि गुह्य मन्त्र के सम्बन्ध में अकेला ही विचार करे, अर्थात् एक स्वयं और एक मुख्य मन्त्री ये ही मन्त्र करें। इसी प्रकार का मन्त्र 'अषडक्षीण' कहलाता था जो केवल राजा और मुख्य मन्त्री की 'चार आँखों' तक सीमित रहता था। भारद्वाज कारण देते हैं कि अधिक मन्त्रियो के बीच में

गया हुआ गुह्य मन्त्र फिर गुह्य नही रह सकता, वह फूट जाता है—मन्त्रिपरम्परा मंत्रं भिनत्ति (अर्थ० १११५)।

अपरक्षीण मन्त्र राज्य के आत्ययिक अर्थात् अत्यावश्यक कार्यों से सम्बन्धित होते थे। कौटिल्य ने और अशोक ने शिलालेख ६ मे आत्ययिक कार्यों के विषय में मंत्रणा करने का उल्लेख किया है—आत्ययिके कार्ये मन्त्रिणो मन्त्रिपरिषदं चाहूय ब्रूयात् (अर्थ० ११५)। यहाँ परामर्श की दो कोटियाँ हैं—मन्त्रिणः, मन्त्रिपरिषद। आवश्यक कार्य के विषय मे पहले मन्त्रियो से परामर्श करे और सम्भव हो तो सारी मंत्री परिषद् के साथ भी। यहाँ जो 'मंत्रिण' पद है उससे तात्पर्य मुख्यमंत्री, दो मंत्री, तीन या चार चुने हुए मंत्रियो से है, जैसा कि कणिक भारद्वाज, विशालाक्ष, या कौटिल्य का मत था। पाणिनि ने विनयादि गण (५।४।३४) मे 'आत्ययिक' कार्य का भी उल्लेख किया है।

सूत्र ४।३।११८ (कुलालादि गण) के अनुसार परिषत् का कार्य या निश्चय पारिषत्क कहा जाता था।

राजसभा—मन्त्रिपरिषद् के अतिरिक्त बड़ी सभा राजसभा कहलाती थी (२।४।२३, सभा राजामनुष्यपूर्वा)। अनुश्रुति के अनुसार बिन्दुसार की राजसभा में पाँच सौ सदस्य थे। राजसभा के उदाहरणो मे भाष्य में चन्द्रगुप्तसभा, पुष्यमित्र-सभा के नाम हैं।

अशाला च सूत्र (४।२।२४) और सभा राजामनुष्यपूर्वा (४।२।२३) सूत्र साथ मिलाकर विचार करें तो ज्ञात होता है कि राजसभा के दो अर्थ थे, एक सभासदो का समूह और दूसरे वह भवन जहाँ सभा होती थी। वैदिक युग मे भी सभा शब्द के ये दोनो अर्थ थे (वैदिक इण्डेक्स, २।४२६)। वैदिककालीन सभा खम्भो के आधार पर टिकी होती थी, जैसा सभास्थाणु शब्द से सूचित होता है। चन्द्रगुप्त सभा का पुरातत्त्वगत प्रमाण मिल गया है। प्राचीन पाटलिपुत्र के उत्खनन मे लगभग अस्सी पाषाणस्तम्भो पर उत्तम्भित विशाल सभा के अवशेष मिले हैं। ये स्तम्भ वैदूर्य के समान मृष्ट या चमकीले हैं। यही मौर्य युग की शिल्पकला थी। चन्द्रगुप्त की जो विद्वत्सभा थी उसका विवरण यूनानी लेखको ने दिया है। मौर्ययुग से प्राचीन काल में काष्ठशिल्प का प्रचार था जैसा ४।२।२३ सूत्र पर सुरक्षित काष्ठसभा उदाहरण से सूचित होता है। भास में राजप्रसादो के निर्माण में काष्ठशिल्प की प्रथा का स्पष्ट उल्लेख है—कन्यापुरप्रासादः एष तु काष्ठकर्मबहुलतया समासन्नजालत्वाच्च (अविमारक, भासनाटकचक्र, पृ० १४२)।

सभ्य—जैसे परिषद् की सदस्यता की साधुता (योग्यता या अधिकार) रखनेवाले के लिये पारिषद्य (४।४।१०१, परिषदि साधुः) शब्द था, वैसे ही सभा की सदस्यता के लिये जिनकी साधुता थी वे सभ्य कहे जाते थे (सभाया यः ४।४।१०५,

सभायां साधुः) इसके लिये प्राचीन वैदिक शब्द सभेय था (ढश्छन्दसि, ४।४।१०६)। वैदिक सभा मे ब्राह्मण मघवन्त ही सदस्य हो सकते थे, ऐसा कुछ विद्वानो का कहना है (वैदिक इंडेक्स, २।४२६) ।

पुरोहित—कौटिल्य के अनुसार मुख्य मन्त्री के बाद पुरोहित के पद का महत्त्व होता था, और उसके बाद सेनापति का, और तब युवराज का (अर्थ० ५।३) । वेद और दण्डनीति दोनो का पाण्डित्य पुरोहित के लिए आवश्यक था । पाणिनि ने पुरोहितादिगण मे पुरोहित का उल्लेख करते हुए उसके कर्म और भाव और पद को पौरोहित्य कहा है (पत्यन्त पुरोहितादिभ्यो यक्, ५।१।१२८, पुरोहितस्य भावः कर्म च) । पत्यन्त शब्दो के अन्तर्गत सेनापति के कर्म और भाव को सैनापत्य कहा गया है । इसी प्रकार राजा का कर्म और पद राज्य कहा जाता था ।

महिषी (४।४।४८)—भारतीय राजतन्त्र मे पट्टमहादेवी या महिषी की वैधानिक स्थिति थी । राजा के साथ उसका भी सिंहासन पर महाभिषेक किया जाता था । पाणिनि ने महिषी का उल्लेख करते हुए उसे मिलने वाले धर्मतः प्राप्य या धर्म्य देय का उल्लेख किया है जो माहिष कहलाता था (अण् महिष्यादिभ्यः,४।४।४८,महिष्या धर्म्यं माहिषम्) । इसी गण मे महिषी के बाद प्रजावती (राजा की अन्य रानियो) का उल्लेख है । उन्हे मिलनेवाला आचार युक्त (धर्म्य) देय प्राजावत था । माहिष और प्राजावत धर्म्य देय वह पूजावेतन था जो समयाचार या क्रम प्राप्त बन्धेज के अनुसार पट्टमहादेवी और दूसरी रानियो को पाने का अधिकार था । कौटिल्य ने इसकी मात्रा दी है । तदनुसार राजमहिषी को ४८,००० पण और कुमार माता (दूसरी रानी) को १२,००० पण वार्षिक भत्ता मिलता था (अर्थ०, ५।६) । जातको मे प्रायः अज्जमहेसि का उल्लेख आता है (जा० ५।२२; ६।३१) और उसे पजापती (१।३९८; स० प्रजावती) से पृथक् माना है । महिषी के अतिरिक्त और सब रानियाँ प्रजावती कहलाती थीं । बुद्ध माता के अतिरिक्त शुद्धोदन की दूसरी रानी प्रजावती गौतमी थी । पाणिनि ने असूर्यम्पश्या स्त्रियो का उल्लेख किया है जिसे टीकाकार 'राजदाराः' मानते हैं (३।२।३६) । ये राजाओ के अन्तःपुर या अवरोध में रहने वाली स्त्रियां थी जिन्हें अशोक के लेखो मे 'ओरोधन' कहा है ।

युवराज—राजा के पुत्रो को राजपुत्र (४।२।३९) और राजकुमार (६।२।५९) कहा गया है । राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे, (१) बालक राजा (राजा चासौ कुमारश्च), (२) राजा का कुमार पुत्र (राज्ञः कुमार ; राजा च सूत्र का प्रत्युदाहरण) । सब राजपुत्रो मे महिषी का पुत्र युवराज होता था जिसे आर्यकुमार कहा जाता था (आर्यश्चासौ कुमारश्च, ६।२।५८, आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) । आर्यब्राह्मण और आर्यकुमार, दोनो मे आर्य शब्द राज शास्त्र का पारिभाषिक था जो विशिष्ट

पद या अधिकार का सूचक था।[1] जातकों में आर्य कुमार को उपराजा कहा गया है। एक जातक में राजा के दो पुत्रों में से ज्येष्ठ उपराजा और कनिष्ठ सेनापति नियुक्त किया गया है। पिता की मृत्यु के बाद उपराजा राजा और सेनापति उपराजा बन गया (जा० ६।३०)।

राजकुमार—सूत्र ६।२।५९ मे उपदिष्ट इस शब्द का अर्थ वह राजा था जिसे परिस्थितिवश कुमार अवस्था मे ही राज्य प्राप्त हो गया हो। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि कुमार अवस्था मे वह राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता था, किन्तु उसका अभिषेक वयः प्राप्त होने पर ही किया जाता था। अशोक के सम्बन्ध में ऐसा ही हुआ था।

राजकुल के प्रतीहारी परिचारक—राजकुल से सम्बन्धित बहुत से अधिकारी होते होते थे, जैसे राजा के निजी अङ्गरक्षक, दौवारिक या प्रतीहार, धार्मिक कार्यों के अध्यक्ष, एवं शरीर की परिचर्या करने वाले अनेक प्रकार के सेवक। अष्टाध्यायी में इन सबका नामतः उल्लेख है।

अङ्गरक्षक—राजा के शरीर की रक्षा करने वाले अङ्गरक्षक अधिकारी, जिन्हें कौटिल्य ने आत्मरक्षितक कहा है (अर्थ० २।३१), पाणिनि मे राजप्रत्येनस् कहे गए हैं (षष्ठी प्रत्येनसि, ६।२।६०)। बृहदारण्यक उप० में उग्र, सूतग्रामणी और प्रत्येनस् का उल्लेख है (४।३।४३–४४) जहाँ उसका अर्थ दण्डरक्षक किया गया है। राजा की शरीररक्षा का कार्य बहुत दायित्वपूर्ण था और कौटिल्य ने उसके लिये विशेष विधान का आदेश दिया है। पाणिनि से ज्ञात होता है कि राजकुमारो को यह दायित्व या सम्मानित पद सौंपा जाता था। आदिः प्रत्येनसि सूत्र मे (६।२।२७) कुमारप्रत्येनाः शब्द का अर्थ है वह राजकुमार जो राजा का प्रत्येनस् या अङ्गरक्षक नियुक्त किया गया हो।

दौवारिक—राजकुल में द्वार का सर्वोच्च अधिकारी दौवारिक कहलाता था (द्वारादीनां च, ७।३।४; द्वारे नियुक्तः)। राजकुल की ड्योढ़ी से सम्बन्धित सब प्रकार का दायित्व इस अधिकारी के ऊपर होता था। बाण ने हर्षचरित में अनेक प्रकार के राजकुल के सेवकों का उल्लेख किया है, जैसे बाह्य प्रतीहार, आभ्यन्तर प्रतीहार, महा प्रतीहार, उन सब के ऊपर दौवारिक संज्ञक महा प्रतीहार का पद हर्ष के समय तक था। सम्भवत. उसके बाद भी यह परम्परा रही। दौवारिक का पद वैदिक युग से ही आरम्भ हो गया था। कौटिल्य ने दौवारिक का वार्षिक वेतन २४,००० पण दिया है (अर्थात् महिषी का आधा और प्रजावती रानियों से दुगना)

---

१. समुद्रगुप्त को प्रयाग स्तम्भ प्रशस्ति में उसे 'आर्य' कह कर पिता ने युवराज चुना था (आर्यो हीत्युपगुह्य)। किन्तु अब श्री बहादुर चन्द्रजी छाबड़ा ने 'एह्येहीत्युरपगुह्य' शुद्ध पाठ माना है।

जिससे इस पद का महत्व सूचित होता है (दौवारिक...सन्निधातारः चतुर्विंशति साहस्राः, अर्थ० ५।३) ।

स्वागतिक अधिकारी—राजा की दिनचर्या नियत रहती थी । कौटिल्य ने उसका उल्लेख किया है । तदनुसार कुछ विशेष अधिकारी नियुक्त रहते थे जो उन विशेष मुहूर्तों मे राजा के स्वागत और कुशल प्रश्न आदि द्वारा उसकी दिनचर्या को नियमित बनाने में सहायक होते थे । राजसभा मे राजा के पधारने पर जो स्वागत करे वह स्वागतिक कहलाता था (स्वागतादीना च, ७।३।७) । राजा के प्रात.काल नित्य कर्म से निवृत्त होने पर जो उसके लिये स्वस्तिवाचन पाठ करता था वह सौवस्तिक कहलाता था (स्वस्तीत्याह, द्वारादिगण, ७।३।४) । कात्यायन ने इनका और उल्लेख किया है—(१) सौखशायनिक, जो प्रातःकाल राजा के निद्रा त्याग करने पर उसके रात मे सुखपूर्वक शयन करने के विषय मे प्रश्न करता था, अर्थात् उस विषय के कुछ श्लोक पाठ करता था (सुखशयन पृच्छति) । लोह कुम्भी जातक में कथा है कि कोसल के राजा के यहाँ प्रातःकाल सुखशयन पूछने के लिये ब्राह्मण आया करते थे (अरुणागमनवेलया ब्राह्मणा आगन्त्वा राजानं सुखसयितं पुच्छिसु, जा० ३।४३) । (२) सौखरात्रिक—वह व्यक्ति जो सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत होने के सम्बन्ध मे कुशल प्रश्न पूछता था । (३) सौस्नातिक—जो राजा के स्नानादि से निवृत्त होने पर कुशल प्रश्न से उसका स्वागत करता था (सुस्नात पृच्छति) । कालिदास ने राजा की दिनचर्या से सम्बन्धित सौस्नातिक का उल्लेख किया है (रघुवश ६।६१) ।

सौखशय्यिक—जो व्यक्ति राजा के लिये सुखशय्या तैयार करके अपनी जीविका चलाता था उसे सौखशय्यिक कहते थे (वेतनादि गण, ४।४।१२, सुखशय्यया जीवित) । अङ्गुत्तर निकाय में (३।३४) बुद्ध ने चार प्रकार की शय्याओ में चौथी तथागत शय्या उस शय्या को कहा है जो रागद्वेष रहित होने के कारण तथागत की सुख निद्रा थी । उसे ही बुद्ध ने सच्ची सुखशय्या माना था । इससे यह सूचित होता है कि राजा एवं आढ्य पुरुषो के लिये जो विशिष्ट शय्या पुष्पादि से तैयार की जाती थी वही मूल में सुख शय्या थी । उसके लिये विशेष कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे जो सौखशय्यिक कहलाते थे । स्थानाग सूत्र में भी चार सुखशय्या कही हैं ।

परिचारक—राजा की उपभोग-परिभोग विधि से सम्बन्ध रखने वाले परिचारको के कुछ नाम सूत्र और गण पाठ में आए हैं, जैसे परिषेचक, स्नापक, उत्सादक, उद्वर्तक, (याजकादि गण, २।२।९; ६।२।१५१); प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका (महिष्यादि गण, ४।४।४८) । प्रलेपिका आदि को जो आचार नियत वेतन मिलता था वह क्रमशः प्रालेपिक, वैलेपिक, आनुलेपिक कहलाता था । अगुरु कुंकुम चन्दन आदि से विलेपन लगाने वाली विलेपिका स्त्री को जो धर्म्य द्रव्य दिया जाता

था उसे भाष्य में वैलेपिक कहा है (६।२।१७)। उत्सादक और उद्वर्तक, परिषेचक और स्नापक, इन परिचारकों के कर्तव्यों में कुछ भेद रहा होगा। ऐसे ही अनुलेपिका के काम भी कुछ भिन्न रहे होंगे। प्राचीन साहित्य से इन पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। उपासक दशांग सूत्र में राजा की उपभोग-परिभोग विधि का यह क्रम कहा गया है—(१) अभ्यंग, तैल के साथ; (२) उद्वर्तन (उवट्टण), गन्ध मिले हुए आटे (गंधट्ट) के साथ; (३) मज्जन; (४) वस्त्र विधि, क्षोम युगल धारण करना; (५) विलेपन विधि, अगरु कुंकुम चन्दन आदि से; (६) पुष्प विधि. (७) आभरण विधि; (८) धूपन विधि; (९) भोजन विधि। कल्पसूत्र में भी राजा की प्रसाधन विधि का सविस्तर वर्णन है।

पाणिनि ने जिसे उत्सादक कहा है वह तैलाभ्यङ्ग मर्दन करने वाला परिचारक ज्ञात होता है। उद्वर्तक का अर्थ स्पष्ट है, जो उबटना मलता है। आटे में सुगन्धित द्रव्य और तेल मिलाकर या सरसों हल्दी को साथ पीसकर उबटन बनाया जाता है। उसके मलने वाले उद्वर्तक कहलाते थे। परिषेचक और स्नापक का अन्तर स्पष्ट नहीं है। ज्ञात होता है कि जो उबटन आदि धो डालने के लिये पहले पानी डालते थे वे परिषेचक और जो बाद में सुगन्धित जल के घड़ों से स्नान कराते थे वे स्नापक कहलाते थे। स्नातानुलिप्त (पूर्वं स्नातः पश्चादनुलिप्त.) पद से सूचित होता है कि अनुलेपन सदा स्नान के बाद किया जाता था। चन्दन आदि शरीर में लगानेवाली परिचारिका अनुलेपिका थी। उसी में और अधिक सूक्ष्मता से अगुरु कुङ्कुम कपूर चन्दन आदि द्वारा निर्मित यक्षकर्दम एवं अन्य सुगन्धियों को शरीर में लगानेवाली स्त्री-परिचारिका विलेपिका कहलाती थी जिसका उपासक दशांग की सूची में विशेष उल्लेख है। प्रलेपिका का कार्य स्पष्ट नहीं है। सम्भव है प्रलेप स्नान से पहले लगाए जाते हों।

राजयुध्वा—कल्पसूत्र में लिखा है कि राजा व्यायामशाला में जाकर मल्ल युद्ध का अभ्यास करता था। पाणिनि ने जिस राजयुध्वा का उल्लेख किया है। (राजनि युधि कृञः, ३।२।९५) वह उस मल्ल के लिये प्रयुक्त होने वाली पदवी थी जो राजा को लपट कराता था (राजानं योधितवान् इति राजयुध्वा)। कौटिल्य ने भी राजा के व्यायाम को उसकी दिनचर्या का अङ्ग माना है।

अध्याय ७, परिच्छेद २—शासन

राज्य—एकराज शासन में सर्वोपरि व्यक्ति राजा था। उसकी सहायता के लिये मन्त्रियों की परिषद् होती थी। सभा नाम की बड़ी समिति भी थी। परिषद् में मन्त्रियों की सख्या का निर्देश अष्टाध्यायी में नहीं है, किन्तु जैसा कौटिल्य ने लिखा है उनकी सख्या प्रशासन की आवश्यकता के अनुसार नियत की जाती थी। फिर भी

पाणिनि ने आर्यब्राह्मण या मुख्य मन्त्री, पुरोहित, आर्यकुमार या युवराज[1] और सेनापति का सूत्रों में उल्लेख किया है। वे महत्वपूर्ण अधिकारी थे अतएव भाषा मे इनसे सम्बन्धित विशेष शब्द प्रचलित थे।

शासन तन्त्र के अधिकारी—सूत्रो मे कई प्रकार के शासनिक अधिकारियो का उल्लेख आया है। शासन के सञ्चालन के लिये अधिकारी तन्त्र का संगठन हो चुका था। सरकारी सेवक साधारणतः युक्त (६।२।८१) या आयुक्त कहे जाते थे, जो कि राजकीय कार्य का निर्वाह करते थे (२।३।४०)। कौटिल्य ने राजा के आयुक्त पुरुषो का उल्लेख किया है (अर्थ० १।१५, जातक ५।१४ युत्तक पुरिसा रञ्ञो)। अशोक के कलिंग शिलालेख संख्या २ मे आयुघो का उल्लेख है (देसा आयुतिके)।

जब राजसेवक विशेष काम पर नियुक्त किए जाते, तो वे नियुक्त कहलाते थे और उस दायित्व के अनुसार उनका नाम पड़ता था '(तत्र नियुक्तः ४।४।७९)। काशिका मे इनके कुछ 'प्राचीन उदाहरण इस प्रकार हैं—शुल्कशाला मे नियुक्त अधिकारी शौल्कशालिक, खानो मे नियुक्त आकरिक, बाजार के प्रबन्ध मे नियुक्त आपणिक गुल्म या सेना की टुकडी का प्रबन्धक गौल्मिक और राजद्वार के प्रबन्ध में नियुक्त दौवारिक कहलाता था। नियुक्त अधिकारियो के कुछ नाम अगारान्ताट्ठन् (४।४।७०) सूत्र मे भी अन्तर्निहित हैं, जैसे कोष्ठागारिक, जिसका पद अध्यक्ष कोटि का था। देवागारिक देवताध्यक्ष का ही दूसरा नाम था।

राजा के निजी परिचारक या पारिपार्श्विक भी नियुक्त कोटि के अधिकारियो मे गिने जाते थे। अणि नियक्ते (६।२।७५) सूत्र पर उल्लिखित उदाहरणो से ये नाम ज्ञात होते हैं—छत्रधार, तूणीधार (तर्कश उठाने वाला), भृङ्गारधार (जल की झारी, आचमन, मुखमार्जन आदि का प्रबन्ध करने वाला)।

अध्यक्ष—शासन के सबसे महत्वपूर्ण और प्रभावशाली अधिकारी अध्यक्ष कहलाते थे। उनका उल्लेख विभाषाध्यक्षे (६।२।६७) सूत्र मे पाणिनि ने किया है। कौटिल्य के अनुसार अध्यक्ष एक-एक विभाग के उच्चतम प्रशासनिक अधिकारी होते थे। अर्थशास्त्र मे पच्चीस अध्यक्षो के नाम आए हैं। उनमे अश्वाध्यक्ष और गवाध्यक्ष भी हैं, जिनका उल्लेख काशिका ने ५।२।६७ के उदाहरणो में किया है।

युक्त—कौटिल्य के अनुसार युक्त उन सरकारी सेवको की सामान्य संज्ञा थी, जो प्रत्येक अध्यक्ष के नीचे उस-उस विभाग मे कार्य करते थे। प्रत्येक अधिकरण या विभाग में युक्त, उपयुक्त और तत्पुरुष—तीन प्रकार के अधिकारी होते थे (सर्वाधिकरणेषु युक्तोपयुक्ततत्पुरुषाणाम्—अर्थ० २।५)। पाणिनि ने भी युक्त संज्ञक अधिकारियो का उल्लेख किया है (६।२।८१)। प्रत्येक विभाग के अधिपति अध्यक्ष और उनके निर्देश से कार्य का निर्वाह करने वाले युक्त, ये ही दो प्रकार के अधिकारी

---

१. अशोक के ब्रह्मगिरि के लघुशिला लेख में इसे आर्यपुत्र कहा गया है।

शासन की सच्ची रीढ़ थे। अष्टाध्यायी मे दोनों के उल्लेख से सूचित होता है कि जिस सुविहित शासन संस्था का कौटिल्य ने उल्लेख किया है, वह उनसे एक-दो शती पूर्व ही अस्तित्व मे आ चुकी थी। सम्भवतः नन्दवंशीय सम्राटो में शासन की उस पद्धति का संगठन किया था।

पाणिनि ने अश्वशाला के युक्त अधिकारियो को युक्तारोही कहा है (६।२।८१)। उन्हे ही अर्थशास्त्र मे युक्तारोहक कहा गया है (अर्थ० ५।३)। उन्हे प्रतिवर्ष ५०० से १००० कार्षापण तक पूजा-वेतन दिया जाता था। युक्तारोहक अधिकारियो का कर्तव्य अविनीत हाथी और घोडो को शिक्षा देकर उन्हें आरोहरण के योग्य बनाना था (अविधेय हस्त्यश्वारोहण समर्थ., गणपति शास्त्री)। सामञ्ञफल सुत्त मे हत्थारोह और अस्सारोह को उस समय के कार्यदक्ष पुरुषो में माना है।

पाणिनि ने पाल संज्ञक छोटे अधिकारियो का भी उल्लेख किया है (पाले, ६।२।७८)। कौटिल्य मे नदीपाल, द्रव्यपाल, वनपाल, नागवनपाल, अन्तपाम, दुर्गपाल के नाम आए हैं। महाभारत में सभापाल (आदिपर्व २२२।१६), गोपाल, तन्तिपाल का उल्लेख है। अष्टाध्यायी में गोपाल, तन्तिपाल और यवपाल के नाम हैं (गोतन्तियवं पाले, ६।२।७८)। विराटपर्व (११।८) में तन्तिपाल को बड़ा अधिकारी माना गया है, जिसकी आज्ञा मे और भी पाल काम करते थे। पाणिनि के यवपाल से मिलते हुए खेत्तपाल या खेत्तगोपक अधिकारियो का जातको मे उल्लेख है (जातक ३।५४)। सीहचम्म जातक मे जो और धान के खेतो की रखवाली करने वालो को खेत्तरक्खक कहा गया है।

युक्तसंज्ञक अधिकारियो मे काशिका ने गोसंख्य और अश्वसंख्य का उल्लेख किया है, जो राजकीय घोष या पशुशाला एवं मन्दुरा में पशुओ की सख्या, आयु और उनके लक्षण-चिह्न आदि की सूची बनाने का कार्य करते थे। इस प्रकार की पशु गणना का उदाहरण महाभारत के घोषयात्रा पर्व मे आया है, जहाँ दुर्योधन के घोष में प्रोषित गाय, बछड़े, बछिया, और ग्याभिन ओसर, इन सब की आयु, रंग और लक्षणो को ठीक प्रकार से निश्चित करने का उल्लेख है। इस गणना को स्मारण कहा गया है, जो कि इस कार्य के लिये पारिभाषिक शब्द था (वनपर्व अ० २३९–२४०)।

कारकर और क्षेत्रकर—पाणिनि ने ३।२।२१ सूत्र में कारकर और क्षेत्रकर का उल्लेख किया है, जो विशेष अधिकारियो की संज्ञाएँ थी। खेतो की नाप जोख करके बन्दोवस्त करने वाले अधिकारी क्षेत्रकर कहे जाते थे, जिन्हें पाली साहित्य में रज्जुगाहक कहा गया है। कुरुधम्मजातक मे एक अमात्य का उल्लेख है जो जनपद में जाकर खेतो को नापता और उनकी गिनती करता था। उसकी रस्सी मे दो खूटियाँ बँधी रहती थीं। रज्जुग्राहक अपने सिरे की खूटी गाड़ देता था और खेत का स्वामी

दूसरा सिरा पकड़े हुए खेत मे जाता और खूंटी को यथास्थान गाड़ कर नाप कराता था (जातक ३।२७६)।

कारकर सज्ञक अधिकारी विशेष प्रकार के राजकीय करो के वसूल करनेवाले थे। सूत्र ६।३।१० मे कुछ विशेष करो का उल्लेख है जो देश के पूर्वी भाग मे प्रचलित थे और विशेष अवसरो पर प्रजा जिन्हें देने के लिये बाध्य की जाती थी। इनकी व्याख्या आगे की जायगी। पाली साहित्य में भी इस नाम के अधिकारियो का उल्लेख है। सामञ्ञफलसुत्त में एक गरीब किसान राजा के अधिकारी को गाँव में आया हुआ देख कर समझता है कि या तो वह कारकारक था, जो विशेष प्रकार की लाग (कार) वसूल करने के लिये आया था, या वह रासिवड्ढक था जो खलिहान मे रास नाप कर राजा का भाग ले जाने के लिये आया था (इध ते अस्स पुरिसो कस्सको गहपतिको कारकारको रासिवड्ढको, दीघनिकाय, सामञ्ञफलसुत्त, २।३८)। कुरुधम्मजातक मे रासिवड्ढक या रास नापने वाले सरकारी नौकर द्रोणमापक कहा गया है। राजा को उपज का छठा भाग राजग्राह्य अश के रूप मे दिया जाता था, उसे आज तक भाग ही कहते हैं। उस भाग सज्ञक अन्न को नापने वाला बर्तन भागद्रोण कहलाता था। पाणिनि ने किसी विशेष नाप के लिये षष्ठक शब्द का उल्लेख किया है (मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च, ५।३।५१, षष्ठको भागः मान चेत् तद् भवति)। यह शब्द राजग्राह्य षष्ठ भाग के लिये ही रूढ ज्ञात होता है। इसे केवल षाष्ठ और षष्ठ भी कहा जाता था। जैसे यदि यह कहा जाय कि हमे षष्ठ चाहिए, तो उसका अभिप्राय उपज के छठे भाग से था।

दूत—राजशासन मे दूत का महत्वपूर्ण स्थान था। जिस देश या जनपद में दूत नियुक्त होता था उसी के नाम से उनकी सज्ञा प्रसिद्ध होती थी। जैसे कोसल जनपद का जो दूत मथुरा मे नियुक्त किया जाता था वह माथुर कहलाता था (तद् गच्छति पथि दूतयो, ४।३।८५)। प्रतिष्कष भी दूत की संज्ञा थी (६।१।१५२; वार्तापुरुषः सहाय. पुरोयायी प्रतिष्कष इत्यभिधीयते, काशिका)। समाचार लेकर जाने वाले धावन जङ्घाकर कहलाते थे (३।२।२१) जिन्हे कौटिल्य ने जङ्घारिक कहा है (अर्थ०, २।१)। एक योजन, दो योजन, पाँच योजन, दस योजन इत्यादि भिन्न-भिन्न दूरियो तक समाचार ले जाने वाले धावन उन-उन नामो से प्रसिद्ध होते थे। पाणिनि ने एक योजन दौडने वाले धावन को यौजनिक कहा है (योजनं गच्छति, ५।१।७४)। कात्यायन ने सौ योजन तक जाने वाले धावन के लिये यौजनशतिक इस विशेष शब्द का उल्लेख किया है। धावन संस्था का मौर्य शासन में महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य ने एक योजन से सौ योजन की दूरी तक सन्देश ले जाने वाले धावनो का उल्लेख किया है। उन्हे दस योजन की दूरी तक प्रतियोजन पर एक पण वेतन दिया जाता था। उसके बाद प्रति दस योजन की दूरी के लिये वेतन

उत्तरोत्तर दुगुना हो जाता था[1] (अर्थ० ५।३)। शासन में धावन संस्था का सगटन और देशो मे भी था। पाणिनि के समकालीन प्राचीन ईरान के हखामनि साम्राज्य मे खशयार्श आदि साम्राटो ने इसी प्रकार की दीर्घाध्वग और कार्यक्षम धावन सस्था का सगठन किया था।

दूत लोग लिखित शासन ले जाते थे या मौखिक सन्देश कहते थे। कौटिल्य ने पहले को शासनहर और दूसरे को परिमितार्थ दूत कहा है (अर्थशास्त्र १।१२)। इनमे परिमितार्थ शासनहर से उच्चकोटि का था। परिमितार्थ दूत जो मौखिक सन्देश या मुख वचन ले जाता था उस सन्देश को वाचिक कहते थे (वाचो व्याहृतार्थायाम्, ५।४।३५; पूर्वं अन्येन उक्तार्थत्वात् सन्देशवाग् व्याहृतार्था इत्युच्यते—काशिका)। उस मौखिक सन्देश को सुनकर जो कर्म किया जाता उसके लिये कार्मण यह पारिभाषिक संज्ञा थी (तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ५।४।३६; वाचिकं श्रुत्वा तथैव यत्कर्म क्रियते तत्कार्मणमित्युच्यते—काशिका)।

पाणिनि ने कर्त्तृकर इस विशेष सज्ञा का उल्लेख किया है (३।२।२१)। यह शब्द अस्पष्टार्थ और साहित्य मे अप्रयुक्त है। पाली मे राजा के दूत या उसकी ओर से कार्य करने वाले के लिये कर्ता शब्द का प्रयोग हुआ है (स्टीड, पालीकोश; जातक, ६।२५९ आदि)। कौटिल्य ने सबसे ऊँची कोटि के दूत को निसृष्टार्थ कहा है (अमात्यसम्पदोपतो निसृष्टार्थः)। उसे ही अवसृष्टार्थ भी कहते थे, जिससे हिन्दी वसीठ शब्द बना है। उसे राजा की ओर से कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं सब प्रकार के अधिकार प्राप्त होते थे। कृष्ण पाण्डवो को ओर से दुर्योधन की सभा में अवसृष्टार्थ दूत बना कर भेजे गये थे। ज्ञात होता है कि कर्त्ता इसी प्रकार के राज प्रणिधि की सज्ञा थी, और उसे नियुक्त करनेवाला राजा या मुख्यामात्य कर्तृकर कहलाता था।

आक्रन्द—आक्रन्द के यहाँ जानेवाले धावन या दूत को पाणिनि ने आक्रन्दिक कहा है (आक्रन्दं धावति ४।४।३८)। काशिका ने इसका ठीक अर्थ नही समझा। रोने या विलाप की जगह को उसमें आक्रन्द कहा गया है। वस्तुतः आक्रन्द राजनीति का पारिभाषिक शब्द था। कौटिल्य के अनुसार अपने राज्य के पृष्ठभाग मे बसनेवाला मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था (अर्थशास्त्र ६।२, पश्चात् पार्ष्णिग्राह आक्रन्दः; शान्तिपर्व ६९।१९, ३२)। मनु० ७।२०७ पर कुल्लूक ने आक्रन्द का स्पष्ट अर्थ दिया है। उसके अनुसार पीठ पीछे का शत्रु राजा पार्ष्णिग्राह और मित्र राजा आक्रन्द कहलाता था। आक्रन्द की सहायता से पार्ष्णिग्राह के बल का उच्छेद या निराकरण किया जाता था। इस प्रकार अपने आक्रन्द राजा के पास जो दूत भेजा जाय वह आक्रन्दिक कहलाता था।

---

१. दशपणिको योजने दूतः मध्यमः। दशोत्तरे द्विगुण वेतन आयोजनशतादिति।

जो राजा अपने मण्डल में इतना शक्तिशाली होता था कि शत्रु के विरुद्ध चढाई कर सके वह अभ्यमित्रीय या अभ्यमित्रीण कहलाता था (अभ्यमित्रमलंगामी ५।२।१७)।

सौराज्य—शासन का आदर्श सौराज्य अर्थात् शान्तिपूर्ण सुव्यवस्थित राज्य था। सौराज्य अवस्था प्राप्त करने का साधन जनपद मे राजा की प्राप्ति थी। राजा के अभाव मे जनपद की स्थिति अराजक राष्ट्र की हो जाती थी। उस स्थिति मे प्रजाएँ मात्स्यन्याय से बरतती थी और बलवान् अबलो का भक्षण करते थे। अतएव राज-नीति विशारदो का विचार था कि मात्स्यन्याय से बचने के लिये राजा का होना आवश्यक है। जातको मे और अर्थशास्त्र मे कहा गया है कि मात्स्यन्याय की दुरवस्था से बचने के लिये प्रजाओ ने राजा का वरण किया। इस पृष्ठभूमि मे देखने से राजन्वान् शब्द के विशिष्ट अर्थ का परिचय होता है। इसे ही पाणिनि ने 'राजन्वान् सौराज्ये' इस परिभाषा द्वारा अभिव्यक्त किया है (८।२।१४)। राजन्वान् और अराजक जनपदो का भेद शान्तिपर्व अध्याय ६८ और अयोध्याकाण्ड अध्याय ६७ मे आया है।

वैनयिक—विनयादिभ्यष्ठक् (५।४।३४) सूत्र अति महत्त्वपूर्ण है। विनयादि गण में पठित कई शब्द शासन की जीवित परम्परा से लिए गए थे। 'विनयः एव वैनायिकः' अर्थात् विनय शब्द से स्वार्थ मे क प्रत्यय जोड कर वैनयिक सिद्ध होता है। इसका तात्पर्य यह है कि विनय और वैनयिक दोनो शब्दो के अर्थ में अन्तर न था। हाँ वैनयिक शब्द अधिक गौरवपूर्ण और व्यञ्जक था। इसी प्रकार सामयिक औपयिक, सामयाचारिक आदि शब्द थे। राजा, राजकुमार, राजपुरुष, प्रजा आदि के लिये अनुशासन की शिक्षा को कौटिल्य ने विनयाधिकार कहा है। वस्तुतः विनय ही राज्य का मूल है। विनय या वैनयिक के अभाव में धर्ममूलक राज्य की कल्पना असम्भव समझी जाती थी और राज्य को अराजक जनपद की स्थिति ग्रस लेती थी। शान्तिपर्व का ६८ वां अध्याय वैनयिक के आदर्श की व्याख्या करता है। यूनान के पुर राज्यो में तीन आदर्शों के समन्वय की कल्पना की गई थी—उन्नति की पूर्णतम अवस्था को प्राप्त हुआ राज्य, उच्चतम नीतिधर्म, उत्कृष्टतम नागरिक। ये तीनो एक दूसरे से अभिन्न और एक दूसरे के मूल समझे जाते थे। ठीक इसी प्रकार भारतीय जनपदो के युग मे धर्म, धार्मिक राजा या राष्ट्र और धार्मिक प्रजा या लोक, इन तीनो के सह अस्तित्व या पारस्परिक अविनाभाव की कल्पना थी। इसे ही वैनयिक आदर्श माना जाता था। कोसल देश के विनयज्ञ राजा वसुमना ने अपने राज्य में वैनयिक आदर्श की स्थापना की (सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञः, शान्तिपर्व ६८।४)।

यह सर्वभूतहितनिरत राज्य की विधि थी जिससे प्रजाएं अत्यन्त सुख प्राप्त कर

सकती थी। इसके लिये तीन बातें आवश्यक थी। एक धर्म, दूसरे धर्मपरायण प्रजाएँ और तीसरे धर्ममूलक राज्य।[1]

विनयादिगण में कुछ और भी महत्त्वपूर्ण शब्द हैं, जिसका संबन्ध राजशासन से था—

(१) सामयिक—समय को ही सामयिक कहते थे (समय एव सामयिक.)। जनपद या राष्ट्र मे दो प्रकार के नियम या कानून मान्य होते थे। एक राजा द्वारा प्रचारित कानून (राजकृत धर्म) और दूसरे जो लोकसंस्थाओ के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में रिवाज चले आते थे। श्रेणि (शिल्पियो की संस्था), निगम (वणिक् जनों की संस्था), पाषण्ड (धार्मिक संप्रदायो का सामूहिक संगठन) और गण (राजनीतिक संघ या सङ्गठन), ये चार प्रकार की सस्थाए याज्ञवल्क्यस्मृति (२।१९२) में कही गई हैं, जिनका सार्वजनिक अस्तित्व था और जिनके अपने नियय या आचार प्राप्त धर्म या रिवाज थे। उन नियमो को पारभाषिक शव्दावली मे सामयिक कहते थे (याज्ञवल्क्यस्मृति २।१८६)[2]। सामयिक प्राचीन शब्द था, उसे ही कालान्तर मे स्मृतियो मे संवित् कहा गया। याज्ञवल्क्य के सवित् व्यतिक्रम प्रकरण मे संवित् नियमो या सामयिक का वर्णन है। श्रेणि निगम पाषण्ड गण इन सस्थाओ को याज्ञवल्क्य ने समूह कहा है, (२।१८८–१९१; अ० कारपोरेट आर्गेनिजेशन)। इनसे संबन्धित सब प्रकार के मामलो को समूह कार्य कहा गया है। इस प्रकार राष्ट्र मे दो प्रकार के संवित् या समय होते थे, एक समूहकृत दूसरे राजकृत। प्राचीन धर्मशास्त्रो ने दोनो को ही कानून की प्रामाणिकता प्रदान की थी। वर्तमान न्यायालयो का निर्णय भी ऐसा ही है।

(२) सामयाचारिक—आपस्तम्ब धर्मसूत्र में सामयाचारिक धर्मों का उल्लेख आया है (अथात. सामयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः, जायसवाल हिन्दु-राजतन्त्र १।१०६)। सामयाचारिक धर्म से तात्पर्य सामाजिक रीति रिवाजो से था, जो कि धर्मशास्त्रों के क्षेत्र में भी मान्य समझे जाते थे। पाणिनि ने स्वयं जिन धर्म्य दियों का उल्लेख किया है, वे भी सामयाचारिक धर्म या रीति रिवाज के अनुसार ही

१. सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतेः। दक्षिणा नन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वभूत हिते रतः। प्रजानां हित मन्विच्छन् धर्ममूलं विशांपते ॥
केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन च। कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमत्यन्तमाप्नुयुः ॥
इति पृष्टो महाराजा कौसल्येनामितौजसा। राजसत्कार मव्यग्रः शशसास्मै बृहस्पतिः ॥
राजमूलो महाराज धर्मो लोकस्य लक्ष्यते। प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥
राजाह्येवाखिल लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्। प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥

२. निज धर्माविरोधेन यस्तु सामयिको भवेत्।
सोऽपि यत्नेन संरक्ष्यो धर्मो राजकृतश्चयः ॥
सामयिकः = समयात् निष्पन्नः युगधर्मः (मिताक्षरा)

मान्य समझे जाते थे। सप्तमी हरिणी धर्म्येऽहरणे (६।२।६५), तस्यधर्म्यम् (४।४।४७) सूत्रो मे इसी प्रकार के परम्परा प्राप्त या अनुवृत्त आचार को धर्म कहा गया है। इन्हे ही समयाचार या समयाचारिक धर्म कहते थे। अर्थशास्त्र मे समयाचारिक विशेष प्रकरण का नाम है (अर्थ ५।५)। इस प्रकरण मे समयाचारिक के अन्तर्गत समाहृत सन्निधाता आदि राज्य अधिकारियो द्वारा जो आय विविध करो से की जाती थी, उसका विशेष रूप से उल्लेख है। इस आय के स्रोत क्या थे, इसका कुछ संकेत पाणिनीय सूत्रो के उदाहरणो से मिलता है, जैसे तस्य धर्म्यम् सूत्र के उदाहरणो मे शुल्कशाला, आकर, आपण आदि से होने वाली आय को समयाचार धर्म के अन्तर्गत माना है। लोक मे जो बहुत तरह के लागभाग थे, उनका समर्थन किसी राजाज्ञा से नही, बल्कि रिवाज के कारण होता था किसी माल पर कितनी चुङ्गी लगे यह भी पुराने बन्वेज की बात थी। हाट बाजार लगाने के लिये दुकानो पर कितनी वसूली की जाय इत्यादि शौल्कशालिक और आपणिक के रूप मे उगाही की जाती थी। उन सब के मूल में आचार या रिवाज को ही प्रधानता दी जाती थी। इसी प्रकार समाज मे भिन्न भिन्न स्तरों पर कार्य करने वाले लोगो को कितना पारिश्रमिक दिया जाय, अथवा महिषी प्रजावती पुरोहित आदि राज्य के विशिष्ट अधिकारी या सम्मानित व्यक्तियो को कितना पूजा वेतन दिया जाय, अथवा प्रलेपिका, विलेपिका, अनुलेपिका, मणिपाली आदि परिचारिकाओ को उनकी सेवा के बदले मे कितना नेग दिया जाय, सबका निर्णय लोकाचार या समयाचार या रिवाज के अनुसार होता था। इन सबको पाणिनि ने धर्म्य अर्थात् आचारयुक्त देय कहा है (४।४।४७–४८), यहा तक कि गरमाई हुई घोडी पर नर घोडा डालने के एवज मे मालिक को क्या मुआवज़ा दिया जाय, इस जैसी छोटी बात को भी धर्म्य या समयाचारिक या आचारयुक्त देय माना गया है। इससे सूचित होता है कि लाग, भाग, ताग, पाग, पुच्छी, उगाही, महसूल, बराड आदि आदि अनेक प्रकार के छोटे बड़े घर दुआरी हाट चौतरा जमा माल आदि से सम्बन्धित करो का निश्चय सामयाचारिक के अन्तर्गत किया जाता था।

(३) औपयिक-साम, दान, भेद, दण्ड इन चार उपायों से सम्बन्ध रखने वाली राजनीति और उसकी प्राप्ति के अनेक साधनो को औपयिक कहा जाता था। उनका विस्तार अर्थशास्त्र के शासनाधिकार प्रकरण मे किया गया है (अर्थ० २।१०।)

(४) व्यावहारिक—इसके अन्तर्गत धर्म या कानून का वह समस्त अंश आता है, जिसे कौटिल्य ने व्यवहार स्थापना कहा है। इसके अङ्ग ये थे—विवाह, दायविभाग, वास्तुविक्रय, समय, ऋणादान, औपनिधिक (न्यास या निक्षेप) दास कर्मकर कल्प, संभूय समुत्थान (साझे का व्यापार), साहस (उग्र अपराध)

वाक्पारुष्य, दण्डपारुष्य आदि। ये ही कालान्तर मे धर्मशास्त्रों के व्यवहाराध्याय का विषय बन गए।

(५) आत्ययिक—शासन के संबन्ध मे अत्यावश्यक कार्य आत्ययिक कहलाते थे। कौटिल्य ने लिखा है कि आत्ययिक कार्य के विषय मे कुछ प्रधान मन्त्रियों के साथ या समग्र मंत्रिपरिषद् का अधिवेशन बुलाकर तत्काल परामर्श करना चाहिए (अर्थ० १।१५)। अशोक ने कहा है—महामात्रो को जो आत्ययिक कार्य सौंपा गया हो, उसके सबन्ध में यदि (मन्त्रियो की) परिषद् में कुछ मतभेद उपस्थित हो जाय या परिषद् उसे अस्वीकार कर दे, तो मुझे तुरन्त सर्वत्र सब काल मे सूचना देनी चाहिए। ऐसी मेरी आज्ञा है (य च किं चि मुखतो आनपयामि स्व दापक वा स्रावापकं वा य व पुन महामात्रेपु आचायिक आरोपितं भवति ताय अथाय विवादो निझती व सतो परिसाय आनतर पटिवेदेतव्य मे सर्वत्र सर्व काले एव मया आनपित, गिरनार शिलालेख)।

(६) सामुत्कर्षिक—राज्य के समुत्कर्ष या उदयसंबन्धी आयोजन जिनमे जनपद-संपत्, अमात्यसपत्, कोशसम्पत्, मित्रसम्पत् की प्राप्ति एव मन्त्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साह शक्ति की सिद्धि सम्मिलित थी। कौटिल्य के अनुसार इनसे युक्त होकर ही राजा श्रेष्ठता प्राप्त करता है (ताभिरभ्युच्छ्रितो ज्यायान् भवति, ६।२)

(७) साम्प्रदानिक—राजकीय दान से सम्बन्धित कार्यों के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था।

(८) सामाचारिक—जैन धर्म में साधुओ के आचार सम्बन्धी नियम सामाचारिक कहे जाते हैं। सम्भवत. राजसभा उत्सव आदि के कार्यों के सम्पादन की उचित विधि के लिये यह शब्द प्रयुक्त होता था।

(९) सामूहिक—श्रेणि, पूग, निगम, पाषण्ड, गण आदि को याज्ञवल्क्य स्मृति में 'समूह' कहा गया है। इनसे सम्बन्धित कार्य सामूहिक कहे जाते थे (समूहकार्यं आयातान्, याज्ञ० २।१८९, समूहकार्य प्रहितो यल्लभेत् तदर्पयेत्, २।१९०)।

विनयादिगण की यह शब्दावली इंगित करती है कि गणपाठ के शब्दो का संकलन तत्कालीन भाषा की जीवित परम्परा से किया गया था।

शासन सम्बन्धी फुटकर बातें—वेतनादिभ्यो जीवति सूत्र (४।४।१२) में वेतनभोगी सेवको को वैतनिक कहा गया हैं। कौटिल्य ने भृत्यभरणीय प्रकरण मे राजकर्मचारियो के वेतनो की लम्बी सूची दी है। (अर्थ० ५।३)। पतजलि ने भी भृत्यभरणीय का उल्लेख किया है। वेतन देने का आधार मासिक था। उसे भृतकमास कहते थे (भाष्य)। कर्मनिष्ठ अधिकारियो को अर्थशास्त्र में कर्मण्य कहा गया है (एरावता कर्मण्या भवन्ति, ५।३)। पाणिनि ने भी कर्मण्य शब्द का उल्लेख किया है (कर्मवेषाद्यत् ५।१।१००)। उपदा या उत्कोच लेने देने का भी उल्लेख है (५।१।४७)।

उदाहरण के लिये, जिस कार्य में पाँच रुपये की रिश्वत दी जाय तो वह पञ्चक कहलाता था। काशिका ने शत और सहस्र की उपदा के लिये प्रयुक्त शब्दो का भी उल्लेख किया है (शत्य-शतिक, सहस्र—काशिका)। अवस्तार (३।१।१२०) का तात्पर्य हिसाव किताव की गडवडी से था। अर्थशास्त्र में भी सरकारी दफ्तरो में होनेवाले गवन (कोशक्षय) के सिलसिले में इसका उल्लेख है (अर्थ० २।८)।

कौटिल्य ने औपनिषदिक शब्द का प्रयोग उन निन्द्य उपायो के लिये किया है जिनका प्रयोग गुप्तचर विभाग में अधर्मिष्ठ व्यक्तियो के लिये किया जाता था। पाणिनि के अनुसार ऐसा व्यक्ति जो इस प्रकार के जघन्य कृत्यो द्वारा जीविका चलाता था औपनिषदिक कहा जाता था (उपनिषदा जीवति, गणपाठ ४।४।१२)। इस प्रकार की हरकतो के लिये भाषा में 'उपनिपत्कृत्य' यह विशेष प्रयोग चल गया था (जीविकोपनिषदावौपम्ये, १।४।७९)। इस सम्वन्ध मे विष्य शब्द की ओर ध्यान जाता है (विषेण वध्यः, ४।४।९१)। गुप्तचर विभाग मे रसद लोग इस प्रकार के प्रयोग करते थे (अर्थ० १।१२, ५।३)।

आयस्थान—राष्ट्र या जनपद में आय के स्रोतो को पाणिनि ने आयस्थान कहा है। ठगायस्थानेभ्य. सूत्र (४।३।७५) का उद्देश्य आयवाची शब्दो को नियमित करना है। जो आय जिस स्रोत से प्राप्त होती वह उसी नाम से पुकारी जाती थी। आज भी राजकीय आय व्यय के लेखे में आयवाची शब्दो की योजना इसी नियम के अनुसार की जाती है। पतंजलि ने प्राचीन उदाहरणो का संकलन करते हुए शुल्क-शाला या चुगी से प्राप्त होनेवाली आय को शौल्कशालिक (शुल्कशालाया आगतः), आपण या तहवजारी से प्राप्त आय को आपणिक एवं गुल्म से प्राप्त आय को गौल्मिक कहा है (४।२।१०४ भाष्य)। खानो से प्राप्त आय आकरिक कही जाती थी (काशिका)। पाणिनि ने स्वयं भी शुल्क-शाला मे ली जानेवाली चुगी का उल्लेख किया है (५।१।४७, तदस्मिन् वृद्धयाय लाभ शुल्कोपदा दीयते)। चुगी की जितनी रकम हो उसी के अनुसार माल का नाम पडता था, जैसे पञ्चकः, दशकः शतिकः, साहस्र, वह माल जिसपर ५,१०, १०० या १००० कार्षापण चुगी दी गई हो (पंच अस्मिन् शुल्कः दीयते)।

शौण्डिक—पाणिनि ने शौण्डिक नामक आय का उल्लेख किया है (शुडिकादिभ्योऽण्, ४।३।७६)। मद्य विभाग से प्राप्त आय का यह नाम था। कौटिल्य के अनुसार-मद्य तैयार करने का अधिकार मौर्य शासन ने अपने लिये सुरक्षित कर रक्खा था जिसकी व्यवस्था सुराध्यक्ष करता था। (सुराध्यक्षः सुराकिण्व व्यवहारान् दुर्गे जनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्व व्यवहारिभि· कारयेत् अर्थ० २।२५) मद्य खीचने का भवका शुडिका कहलाता था क्योकि उसी में हाथी के सूँड जैसी लंबी नली लगी रहती थी। उसके कई नमूने तक्षशिला से प्राप्त हुए हैं।

फुटकर आय साधन—शुण्डिकादि गण में कुछ छोटे-मोटे फुटकर आय स्थानों का उल्लेख है, जैसे स्थण्डिल (हाट पैठ के लिये बनाए हुए चबूतरे जिनसे वसूल होने वाली तहवजारी की आमदनी राजकीय कोष में जाती थी), उदपान (कुओ की सिंचाई आदि की आय), उपल (पत्थर की खान), तीर्थ (नदी की उतराई जिसे अर्थशास्त्र में तरदेय कहा है), भूमि (भूमि से प्राप्त लगान), तृण (घास आदि के जगलो की आय), पर्ण (पलाश आदि वृक्षो के पत्तो से आय जो पत्तल बनाने कि काम में आते थे)। कौटिल्य ने भी जडी बूटी, सुगन्धित, फूल, फल, हरी साग-सब्जी, लकडी, बांस, पत्थर, मिट्टी के वर्तन आदि से होने वाली आय का उल्लेख किया है (अर्थशास्त्र, कोशाभिसंहरण प्रकरण, ५।२)। कुप्याध्यक्ष (२।१७) प्रकरण मे तो वनलता, बास, कन्दमूल फल, पशुओ के चमड़े, हड्डी, सींग आदि, ठेको से प्राप्त आय का भी उल्लेख है। आज कल भी शासन की ओर से मूंज, बबई भावर आदि घासो के जगल, एवं जगली पत्ते, फूल, फलो के ठेके नीलाम किए जाते हैं।

गौल्मिक—भाष्य में गुल्म से प्राप्त होने वाली गौल्मिक आय का विशेष उल्लेख है (४।२।१०४)। गुल्म वृक्षो के जगल और सैनिक टुकडी को कहते थे। शब्द रूप की दृष्टि से दोनो प्रकार की आय गौल्मिक कही जायगी। कौटिल्य ने शुल्क वर्तनी, आतिवाहिक, गुल्म, तर आदि करो का उल्लेख किया है (अर्थ० २।१६, २।३५)। श्री गणपति शास्त्री ने गुल्म देय की व्याख्या एक स्थान पर वनस्थानिक देय और दूसरे स्थान पर रक्षिसघ देय की है। जगली थाने और रक्षापुरुष इन दोनो का सकेत एक ही है, अर्थात् रक्षा के लिये चौकी[1] या थाने जो राज्य की ओर से विशेषत. निर्जन स्थान या जगलो मे स्थापित किए जाते थे जिससे सार्थवाह या शकटवाणिक् एवं यात्री निर्विघ्न यात्रा कर सकें। इस रक्षाप्रबन्ध के लिये जो कर लिया जाता था उसकी आय गौल्मिक कहलाती थी। मनु से इस व्यवस्था विषय के मे विशेष जानकारी प्राप्त होती है। जैसे छोटे वडे गाँव होते उन्ही के अनुसार दो, तीन या पाँच गाँवो के बीच मे एक गुल्म या थाना स्थापित किया जाता था। वे सब सौ गावो के बीच में स्थापित बड़े रक्षास्थान या थाने के साथ जुड़े रहते थे।[2] प्रत्येक गुल्म के

---

१. प्राचीनकाल में इस प्रकार की रक्षा चौकियों को स्थानक या गुल्म कहते थे, इसीसे निकला हुआ 'थाना' शब्द मध्यकालीन हिन्दी में भी प्रयुक्त हुआ है (पद्मावत ५१२।६)। १२२५ की लिखी हुई वस्तुपाल तेजःपाल प्रशस्ति में इन्हें 'रक्षाचतुष्किका' अर्थात् रक्षा के लिये स्थापित चौकियाँ कहा गया है।

२. द्वयो स्त्रयाणां पञ्चानां मध्ये गुल्ममधिष्ठितम् ।
तथा ग्रामशतानां च कुर्याद् राष्ट्रस्य सग्रहम् ॥ मनु० ७।११४ ।
गुल्मांश्च स्थापयेदाप्तान् कृत सज्ञान् समन्ततः ।
स्थाने युद्धे च कुशलान भीरुनविकारिणः ॥ मनु० ७।१९०

सैनिक अपने कार्य में सुशिक्षित (आप्त) और विशेष प्रकार का वेष आदि धारण किए हुए रहते थे जिससे उनकी पहचान हो सके (कृतसज्ञ)। इन रक्षा पुरुषो को सैनिक न कहकर वर्तमान पुलिस के अनुरूप मानना अधिक उचित होगा, यद्यपि दोनों के संगठन मे भेद की रेखा नाममात्र ही थी। गुल्म स्थावर और जगम भेद से दो प्रकार के होते थे, अर्थात् एक जो अपने थाने पर ही नियत रहते थे और दूसरे जो हल्के भर में गश्त लगा कर तस्करो का प्रतिषेध करते थे। मनु के अनुसार गुल्म की तैनाती इन इन स्थानो पर की जाती थी, जैसे चौराहा (चतुष्पथ), खेल तमाशो के स्थान और आयोजन (समाज प्रेक्षण), न्यायालय (सभा), हाट, बाजार, मंडी, चकला, भट्टी (अपूपशाला वेश मद्यान्न विक्रय), मन्दिर, वाटिका, उद्योग धन्धो के स्थान, निर्जन वस्ती, वन आदि (मनु० ९।२६४, २६६; शान्तिपर्व ६९।६।७)। गुल्म देय का उल्लेख दिव्यावदान मे कई स्थानो पर आया है जिससे ज्ञात होता है कि गुप्त काल तक गुल्म देय या गुल्म कर व्यापारियो मे वसूल किया जाता था। राजा कनकवर्ण ने एक बार अपनी उदारतावश सोचा कि मैं ऐसा प्रबन्ध करूँ जिससे सब व्यापारियो को अपने माल पर न चुगी देनी पड़े न गुल्म कर।[1] शूरपारक बन्दरगाह के सामुद्रिक व्यापारी पूर्ण ने समुद्र यात्रा पर चलने से पूर्व घोषणा करा दी कि जो व्यापारी मेरे संग व्यापार यात्रा के लिये उठेगा उसे चुगी, गुल्म कर, और जहाज का भाडा न देना पड़ेगा (अशुल्केन अगुल्मेन अतरपण्येन, दिव्यावदान पृ० ३४)।

कुछ विशेष कर—भारत के पूर्वी भाग मे कुछ विशेष कर लगाए जाते थे जिनके नामो का रूप सूत्र ६।३।१० मे नियमित किया गया है। इन्हें कर के स्थान मे कार कहा जाता था (कारनाम्निच प्राचा हलादौ; प्राचा देशे यत्कारनाम तत्र-काशिका)। कार वसूल करने वाले अधिकारी कारकर कहलाते थे, जिनका पाणिनि ने भी उल्लेख किया है (३।२।२१)। दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में कारकर अधिकारी का वर्णन आया है। किसी राजपुरुष को गाँव में आया हुआ देख कर गाँव का निर्धन किसान सोचता है कि या तो यह कार वसूल करने वाला कारकारक अधिकारी होगा या खलिहान की रास नापने वाला रासवड्ढक राज-पुरुष (सामञ्ञफलसुत्त २।३८)।

काशिका में इस प्रकार के करो के ४ प्राचीन उदाहरण हैं—

(१) सूपेशाण —एक शाण सिक्के की प्रत्येक चूल्हे या घर से वसूली।

(२) मुकुटेकार्षापणम्—एक चाँदी के कार्षापण सिक्के की प्रत्येक मुकुट या वयस्क पुरुष से वसूली। इसे मध्यकालीन उडीसा के शिलालेखो मे मुण्डमोल अर्थात् प्रत्येक मुण्ड या व्यक्ति पीछे लगनेवाला कर कहा गया है। इस समय इस तरह के कर को पाग कहते हैं, अर्थात् प्रत्येक पगड़बन्द पर लागू होने वाला

---

१. यन्वहं सर्वं वणिजोऽशुल्कान् अगुल्मान् मुन्चेयम् (दिव्यावदान पृष्ठ २९१)।

कर। इसी से मिलता-जुलता कर ताग कहलाता है जो कि न केवल वयस्क व्यक्तियो से वल्कि समस्त तगडवन्द व्यक्तियों से जिसमे वच्चे भी शामिल होते हैं, वसूल किया जाता है।

(३) चक्रदिमाषकः—वह कर, जिसमें चांदी का एक मापक सिक्का प्रत्येक चक्की के पीछे वसूल किया जाय। एक संयुक्त परिवार में जितनी चक्कियां हो, प्रत्येक, को यह कर देना पडता था।

(४) हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका—अर्थात् वह कर जिसमें २ या ३ पाद नामक सिक्के हल पीछे वसुल किए जायें। इस प्रकार के कर लाग थे जो समय समय पर प्रजा को देने पडते थे। उदाहरण के लिये जातको मे उल्लेख आता है कि राजकुमार के जन्म के समय प्रजाओ ने एक एक कार्पापण सिक्का राजमहल मे लाकर दिया, जिसे खीरमूल काहापण कहा गया है।

पाणिनि ने हिसाव के लिये गणन और हिसाव भरपाई करने को विगणन कहा है (१।३।३६)। कौटिल्य ने लेखा या हिसाव किताव के अध्यक्ष को गाणनिक और उसके मातहत काम करनेवालो को कार्मिक कहा है। अष्टाध्यायी में काश्यादिगण (४।२।११६) में कारणिक अधिकारी और व्रीह्यादिगण (५।२।११६) में कार्मिक का उल्लेख है, जो वेही दोनो अधिकारी ज्ञात होते हैं। हिसाव की काटकपट के लिये अवस्तार शव्द था (३।३।१२०)। काशिका में ३।२।१२६ सूत्र पर एक साभिप्राय प्राचीन उदाहरण है—'तिष्ठन्तोनुशासति गणकाः, अर्थात् गणक लोग अपने कार्यालय मे वैठे हुए और सव विभागो के लोगो पर हुकूमत चलाते हैं।

अध्याय ७, परिच्छेद ३—धर्म और न्याय

अष्टाध्यायी में धर्म शव्द के दो अर्थ हैं। एक पुण्य का काम, जैसे धर्मं चरति धार्मिक. (४।४।४१)। दूसरे समयाचार या रीति-रिवाज, जैसे धर्मादनपेतं धर्म्यम् (४।४।९२)। लोकाचार या रिवाज के अनुसार नियत देय भी धर्म्य कहलाते थे (४।४।४७; ६।२।६५) उदाहरण के लिये शुल्कशाला मे माल पर लगने वाली चुङ्गी धर्मदेय कहलाती थी। धर्म शव्द का यह दूसरा अर्थ धर्मसूत्रो की पृष्ठभूमि में विद्यमान था। आपस्तम्व का पहला सूत्र इस प्रकार है—अथात. समयाचारिकान् धर्मान् व्याख्यास्यामः (आप० धर्म० १।१।१)।

वैदिक चरणो के अन्तर्गत धर्म का अध्ययन एक विषय के रूप मे स्वीकृत हो गया था, जैसा चरणेभ्यो धर्मवत् (४।२।४६) सूत्र से ज्ञात होता है। कात्यायन ने स्पष्ट कहा है कि वैदिक चरणो से सम्वन्धित निजी आम्नाय ग्रन्थ और धर्मग्रन्थ थे (चरणाद धर्माम्नाययोः ४।३।१२० वा० ११)। धर्मसूत्रो के युग के ठीक वाद ही पाणिनि व्याकरण का निर्माण हुआ होगा। दोनों में कालकृत सान्निध्य था।

न्याय शब्द का अर्थ पाणिनि ने अभ्रेष (३।३।३७) लिखा है अर्थात् जो परम्परा प्राप्त आचार या विधि है, उसका अस्खलन या अनिराकरण यही न्याय था। न्याय के अनुकूल कर्म या आचार न्याय्य कहलाता था (४।४।९२ न्यायदनपेतं न्याय्यम् । भ्रेष और अभ्रेष शब्द का प्रयोग गोपथ ब्राह्मण मे इन्ही अर्थों में आया है (अभ्रेष नियन्ति, गोपथ पूर्व ३।३, भ्रेषं न्येति, वही ३।२; और भी याज्ञवल्क्य २।६६ अर्थशास्त्र) ।

न्यायालय—व्यवहार अर्थात् धर्मस्थ और कण्टकशोधन सम्बन्धी (दिवानी फौजदारी) कानून के लिये पाणिनि ने व्यावहारिक शब्द का उल्लेख किया है (विनयादिगण ५।४।३४, व्यवहार एव व्यावहारिक) । अश्वपत्यादिगण मे पठित धर्मपति शब्द सभवत. धर्माध्यक्ष के लिये प्रचलित था (४।१।८४) । वादी प्रतिवादी जिसे विवाद का मध्यस्थ बनाते, वह स्थेय कहलाता था (१।३।२३, विवादपदनिर्णेता लोके स्थेय इति प्रसिद्ध —काशिका) । वादी या अभियोक्ता के लिये परिवादी (३।२।१४२) या परिवादक (३।२।१४६) शब्द प्रचलित थे । गवाह साक्षी कहलाते थे, किन्तु उनके प्रमाण्य का आधार घटना का साक्षाद्दर्शन था (साक्षाद्द्रष्टरि संज्ञायाम्, ५।२।९१) । कालान्तर मे सुने हुए वृत्तान्त के आधार पर गवाही देने वाले भी साक्षी कहे जाने लगे (समक्षदर्शनात् साक्षी, श्रवणाद्वा, विष्णुधर्मसूत्र ८।१३) जो व्यक्ति जिस विषय में साक्ष्यज्ञान रखता था, वह उसी नाम से अभिहित होता था, जैसे गौ के सम्बन्ध में उत्पन्न विवाद के प्रसङ्ग में उस विषय की जानकारी रखनेवाला व्यक्ति गोसाक्षी कहलाता था और उसकी गवाही वही तक उपयोगी या मान्य समझी जाती थी (२।३।३९, स्वामीश्वराधिपतिदायादसाक्षिप्रतिभूप्रसूतैश्च) ।

शपथ—साक्षी होने वाले व्यक्तियो को नियमानुसार शपथ दिलाई जाती थी। प्राचीन प्रथा के अनुसार ब्राह्मणवर्ण के साक्षी को गवाही देने से पूर्व यह शपथ लेनी पड़ती थी कि मैं जो कुछ कहूँगा, सच कहूँगा । ऐसे ही इतर जाति के लोगो के लिये भी शपथ लेने के नियम थे । मनु ने उन प्राचीन नियमो का उल्लेख किया है (सत्येन शापयेद् विप्रम्—मनु ८।११३) । पाणिनि ने भी इस प्रथा का उल्लेख करते हुए उन प्रयोगो की सिद्धि की है, जो इस सम्बन्ध मे प्रचलित थे । सत्यादशपथे (५।४।६६) सूत्र से दो प्रकार के शब्द रूप सिद्ध होते हैं—(१) सत्याकरोति अर्थात् सौदा पक्का करने के लिये साई देता है; (२) सत्यं करोति अर्थात् गवाह को शपथ दिलाता है कि मैं सच कहूँगा ।

जमानत् देने वाला व्यक्ति प्रतिभू कहलाता था, जैसे गोप्रतिभू, अर्थात् गाय या बैल के सम्बन्ध मे जो जामिन बना हो (२।३।३९, भुवः सज्ञान्तरयो. ३।२।१७९, धनिकाधमर्णयोरन्तरे यस्तिष्ठति स प्रतिभूरुच्यते, काशिका) ।

व्यवहार—व्यवहार के अन्तर्गत कई प्रकरणो का समावेश किया जाता था।

उनमें दाय के सम्बन्ध में कुछ सूचना पाणिनि ने सूत्र में दी है। दाय ग्रहण करने वाला दायाद कहलाता था और जो वस्तु या भाग उसे मिलता था, उसे दायाद्य कहते थे (दायाद्यं दायादे ६।२।५)। साक्षी और प्रतिभू के समान ही जो जिस वस्तु का दायाद होता था, उसी के अनुसार उसकी संज्ञा होती थी, जैसे गोदायाद। दाय या उत्तराधिकार में कई व्यक्ति हिस्सा बाँटने वाले हों तो प्रत्येक का भाग अंश और पाने वाला अंशक कहलाता था (अंशं हारी ५।२।६९; मनु ९।१५०-१५३)। हारिन् शब्द में णिनिप्रत्यय (आवश्यके णिनि.) का संकेत यह है कि जो अंशक व्यक्ति होता था, उसे अपना अंश पाने का कानूनी अधिकार था। दायाद और अंश दोनो पारिभाषिक शब्द धर्मसूत्रों मे प्रचलित थे (वशिष्ठ धर्मसूत्र १७।२५; १७। ४८-४९,५१,५२)।

अपराध—उग्र फौजदारी अपराधों के लिये साहसिक्य शब्द था (१।३।३२)। कई प्रकार के अपराधों का उल्लेख आता है, जैसे स्तेय (५।१।१२५)। डकैती (लुण्टाक = डाकू ३।२।१५५), राहजनी (परिपन्थ च तिष्ठति ४।४।३६)। पाणिनि ने चोर के अर्थ में ऐकागारिक शब्द का उल्लेख किया है (ऐकागारिकट् चौरे ५।१।११३)। मज्झिम निकाय मे ५ प्रकार के चोर कहे गए हैं—सन्धिच्छेदक, गामघात चोर, पन्थघात चोर, पेसनक चोर, अटवीचरो (संयुत्त निकाय २।१८२) इनमें से पन्थघात चोर ही पाणिनीय पारिपन्थिक थे। पाली साहित्य में ऐकागारिक शब्द का प्रयोग भिन्न अर्थ में है। गोतम ने अपने को एकागारिक, द्वयागारिक, सप्ता-गारिक अर्थात् एक घर, दो घर या सात घर से भिक्षा मांगकर लानेवाला भिक्षु कहा है (महासीहनाद सुत्तन्त)।

सूत्रो में ऐसे कितने ही प्रयोगो का उल्लेख है, जो कुत्सा निन्दा गाली गलौज आदि के लिये प्रयुक्त होते थे।

दण्ड—किसी अपराध के लिये न्यायालय द्वारा जो रुपये पैसे का जुर्माना किया जाता था, उसे दण्ड कहा गया है (दण्डव्यवसर्गयोश्च, ५।४।२), जैसे 'द्विपदिकां दण्डितः' 'द्विशतिको दण्डितः' अर्थात् चादी के दो पाद सिक्के या दो सौ रुपए का जुर्माना। किन्तु दण्डशब्द का इससे भी विस्तृत अर्थ था, जिसके अन्तर्गत शरीरदण्ड की गणना भी होती थी, जैसे दण्डमर्हति दण्ड्यः ५।१।६६)। यास्क ने इस अर्थ में दंड्य शब्द का प्रयोग किया है[१] और मुसल की मार के योग्य अपराधी को मुसल्य कहा है।

---

१. दण्ड्यः पुरुषो दण्डमर्हतीतिवा, दण्डेन सम्पद्यत इतिवा (निरुक्त २।२)। यास्क ने यह उदाहरण यह दिखाने के लिये दिया है कि लोक में वृत्तियों या अर्थों का ठीक ठीक निर्धारण करना मुश्किल है। जैसे दण्ड्य शब्द में यही नहीं जान पड़ता कि जो दण्ड के योग्य है उसे दण्ड्य कहा जाय, अथवा जो दण्ड से सुशोभित है उसे दण्ड्य कहा जाय। इसी प्रकार के उलझे हुए अर्थों को विस्पष्ट करके पृथक् पृथक् वृत्तियों में प्रत्ययों का विधान पाणिनि का निजी प्रयत्न था।

कुमारघात, शीर्षघात (३।२।५१) भ्रौणहत्य (६।४।१७४) ब्रह्महत्या (ब्रह्महा ३।२८७) आदि महापातको का भी उल्लेख है।

अध्याय ७, परिच्छेद ४—सेना

सेनानी—सूत्र २।४।२ में सेना के विविध अगो का उल्लेख है (द्वन्दश्च प्राणितूर्य सेनाङ्गानाम्)। ये सेनाङ्ग कहलाते थे और प्राचीनकाल से चार ही चले आते थे, जैसे हस्त्यारोह, अश्वारोह, रथी और पदाति (हस्त्यारोहा रथिनः सादिनश्च पदातयश्च, उद्योगपर्व १०।२५)। दो सेनाङ्गो की पारस्परिक घनिष्ठता सूचित करने के लिये उनके नामो के जोड़े एकवचनान्त प्रयुक्त होते थे, जैसे रथिकाश्वारोहम् रथिकपादातम्। पैदल सेना पदाति कहलाती थी। साल्व जनपद के पैदल सैनिको का विशेषरूप से उल्लेख किया गया है (अपदातौ साल्वात् ४।२।१३५ सूत्र का प्रत्युदाहरण)। अश्वारोह सादि कहलाते थे (६।२।४१; सादिपदातियूनाम्—भीष्मपर्व ६०।२०)। साडनी सवारो का विशेष रूप से उल्लेख किया गया है, जिन्हे उष्ट्रसादि कहते थे। ऊँट और खच्चरों की मिली-जुली टुकडी उष्ट्रवामि कहलाती थी (उष्ट्रः सादिवाम्योः ६।२।४०)।

सेना के साथ अनेक प्रकार के अन्य अधिकारी भी रहते थे, जो उसकी वहिरंग व्यवस्था के लिये आवश्यक थे। उद्गात्रादिगण में पत्तिगणक और रथगणक नामक अधिकारियों का उल्लेख है, जो सेना के पैदल या रथ विभाग से सम्बन्धित हिसाब-किताब का काम करते थे (५।१।१२९)। पृतनाषाट् मे पृतना प्राचीन वैदिक शब्द था (८।३।१०९)।

सैनिक—सेना में भर्ती होनेवाले सिपाही सैनिक या सैन्य कहलाते थे। (सेनाया वा ४।४।४५; सेनां समवैति सैन्यः सैनिक.)। घुडसवार सेना का अध्यक्ष अश्वपति (४।१८४) और सेनाध्यक्ष सेनापति कहलाता था। प्रयाण करती हुई सेना के साथ जानेवाला व्यक्ति सेनाचर कहलाता था (३।२।१७)।

युद्ध करनेवालो का नामकरण उनके हथियारो के नाम से किया जाता था। आज भी यही पद्धति है। प्रहरणम् (४।४।५७) सूत्र मे इसी नियम का उल्लेख है, जैसे आसिक (तलवार से लडनेवाला)। प्रासक (प्रास या भाले से लड़नेवाला), धानुष्क (धनुषवाण से लडनेवाला)। परश्वध या फरसे से लडने वाले पारश्वधिक (४।४।५८) और शक्ति युद्ध के सैनिक शाक्तीक कहे जाते थे (४।४।५९)। लठैत या लाठी से युद्ध करनेवाले लोगो के लिये याष्टीक शब्द था (शक्ति यष्ट्योरीकक्)। महाभारत के अनुसार सरस्वती प्रदेश के आभीर लोग यष्टियुद्ध में दक्ष थे। पतञ्जलि ने लिखा है कि हथियार चलानेवालो का बोध प्रत्यय के बिना भी हथियार के नाम से ही हो सकता है, जैसे—कुन्तान् प्रवेशय, यष्टीः प्रवेशय (४।१।४८) भल्लैत और लठैत सैनिको को बुलाइये।

यह उल्लेखनीय है कि शाक्तीकी याष्टीकी नामक स्त्री सैनिकों का उल्लेख पतंजलि ने किया है। इन शब्दों का निर्माण कात्यायन के एक विशेष वार्तिक से सम्भव होता है। पाणिनि ने केवल पुलिंग प्रयोग शाक्तीक और याष्टीक का विधान किया है। इस संबंध में इस बात पर ध्यान जाता है कि स्त्री सैनिकों का विशेष उल्लेख अर्थशास्त्र में आया है, जिन्हें राजभवन मे रक्षार्थ नियुक्त किया जाता था (स्त्री गणैर्धन्विभि —अर्थ० १।२०)। यह संभव है कि स्त्री सैनिकों की प्रथा का आरम्भ मौर्ययुग से ही हुआ हो। कवचधारी सैनिकों की विशेष टुकडी कावचिक कहलाती थी (कवचिना समूहः, ४।२।४१)। समुचित आयु मे जो व्यक्ति सैनिक सेवा के योग्य हो जाता, उसे कवचहर इस विशेष शब्द से अभिहित किया जाता था। कवच के लिये वर्म शब्द भी था और कवच धारण करने के लिये सवर्मयति यह विशेष प्रयोग व्यवहार में आने लगा था।

परिस्कन्द—प्राच्य भरत या कुरुपञ्चाल देश मे परिस्कन्द और अन्यत्र परिष्कन्द उच्चारण था (परिष्कन्द प्राच्यभरतेषु, ८।३।७५)। अथर्ववेद के व्रात्यसूक्त में इस शब्द का कई बार प्रयोग है, जहाँ उसका अर्थ रथ के दोनो ओर रहने वाले दो पदाति सैनिकों से है। महाभारत मे इन्हें चक्र रक्षक कहा गया है (रथानां चक्र रक्षाश्च, भीष्मपर्व १८।१६)। चौथी शती ईस्वी पूर्व की भारतीय सेना में इस प्रकार के परिस्कन्द सैनिकों का उल्लेख यूनानी इतिहासकारों ने किया है। उनके अनुसार युद्ध में सम्प्रयुक्त रथ मे चार घोड़े जुतते थे और उसके साथ छह सैनिक रहते थे, २ सारथी, २ ढाल लिए हुए ढलैत और २ धनुर्धारी जो रथ के दोनो ओर बाण छोडते हुए युद्ध करते थे (मैक्रिण्डल, सिकन्दर का आक्रमण, पृ० २६०)। इन ६ में से २ ढलैतो को चक्ररक्ष या परिस्कन्द समझना चाहिए।

शस्त्रास्त्र—आयुधो के लिये प्रहरण शब्द का प्रयोग किया गया है (४।४।५७)। सूत्रो मे उनके नाम इस प्रकार हैं—धनुष् (३।२।२१); शक्ति (४।४।५९), परश्वध (४।४।५८), कासू (लम्बा बर्छा), कासूतरी (छोटा बर्छा ५।३।९०; ह्रस्वाकासू. कासूतरी, कासूरिति शक्तिरायुधविशेष उच्यते), हेति (एक विशेष प्रकार का फेंकने वाला अस्त्र) और असि या तलवार जिसे कौक्षेयक भी कहते थे (४।२।९६)।

हखामनि साम्राज्य के राजा क्षयार्श ने जब यूनान पर चढ़ाई की, तो उसकी सेना मे गान्धारि देश के सैनिक भी थे। यूनानी इतिहास लेखक हेरोदोत ने लिखा है कि वे छोटे बर्छों से युद्ध करने मे दक्ष थे। पाणिनि स्वयं गन्धार के थे और उन्होंने जिस कासूतरी नामक प्रहरण का उल्लेख किया है, वह यही ज्ञात होता है। पाणिनि ने धनुष्वाची कार्मुक शब्द की व्युत्पत्ति कर्मन् शब्द से की है (कर्मण उकञ् ५।१।१०३) सायण ने शतपथ ६।६।२।११ की टीका में उसका सम्बन्ध क्रमुक शब्द से माना है। कौटिल्य के अनुसार कार्मुक ताड के पेड की लकडी से बनाया जाता

था (अर्थ० २।१०)। पाणिनि ने भी ताल के धनुष का उल्लेख किया है (तालादिभ्योऽण् ४।३।१५२, अन्तर्गणसूत्र तालाद् धनुषि)। उसे तालधनु कहते थे। महाभारत में तालमय धनुष का उल्लेख आता है। पाणिनि ने बड़े धनुष को महेष्वास कहा है (६।२।३८) कौटिल्य ने धनुष का परिमाण ५ हाथ या ७॥ फुट माना है (अर्थ० १०।५)। ज्ञात होता है कि महेष्वास नामक लम्बे धनुष की यही ऊँचाई थी। राजा पुरु ने सिकन्दर के विरुद्ध जो युद्ध वितस्ता पर लडा था, उसमे उनके पदाति सैनिक इसी प्रकार के धनुष से लडे थे। धनुष का एक सिरा पैर से साधे रहते थे और एक हाथ से धनुष की मूठ पकड कर दूसरे हाथ से लम्बे और भारी बाण चलाए जाते थे। यूनानियो ने लिखा है कि कैसा भी वर्म या कवच उनकी मार को न सह पाता था।

बाणो मे लोहे के पत्र या आँकुड़े लगे रहते थे, जिनसे बहुत ही पीड़ा होती थी (सपत्र निष्पत्रादतिव्यथने)। मालवो के दुर्ग मे युद्ध करते हुए सिकन्दर की करिहाँव मे ऐसा ही एक सपत्र बाण उसके कवच को छेदता हुआ घुस गया था, जिसके कारण उसे मरणान्त पीड़ा हुई थी। बाण के पत्र की लम्बाई ५ अंगुल और चौड़ाई ४ अगुल थी (मैक्रिण्डल, वही पृ० २०७)।

युद्ध क्रिया—आयुध या शस्त्र द्वारा जीविका निर्वाह करने वाले व्यक्तियो के लिये आयुधीय यह विशेष शब्द भाषा मे प्रयुक्त होता था (आयुधेन जीवति ४।४।१४)। पाणिनि ने इस प्रकार के आयुधीय लोगो के सघो का विशेष रूप से उल्लेख किया है, जो आयुधजीवी कहलाते थे। कौटिल्य ने इन्हे ही शास्त्रोपजीवी कहा है। वाहीक प्रदेश एव उत्तर पश्चिमी प्रदेश में इस प्रकार के अनेक छोटे-बड़े आयुधजीवी संघ थे। मालव, क्षुद्रक इन दोनों का आयुधजीवी सघ अपनी सम्मिलित सेना रखता था। मशकावती के आश्वकायन वीरतापूर्वक सिकन्दर से लड़े थे। वरणा नामक उनका अजेय दुर्ग पहाडी पर बना था।

पाणिनि ने प्रहरण क्रीड़ाओ का विशेष रूप से उल्लेख किया है (४।२।५७)। इन क्रीडाओ मे धनुष या तलवार चलाने में दक्ष नवयुवक अपना कौशल दिखाते थे। पाणिनि ने लिखा है कि युद्धो का नामकरण दो प्रकार से किया जाता था, एक तो उन योद्धाओ के नाम से जो उसमे भाग लेते थे, जैसे स्यान्दनाश्व (वह युद्ध जिसमे रथी और घुडसवारों ने भाग लिया हो), आहिमाल (वह युद्ध जिसमे अहिमाल नामक योद्धा लड़े हो), भारत (वह युद्ध जिसमे भरतवंशीय क्षत्रियो ने भाग लिया हो, और दूसरे उस प्रयोजन के नाम से, जिसके लिये युद्ध किया गया हो, जैसे सौभद्र (सुभद्रा के कारण हुआ युद्ध), गौरिमित्र (जो युद्ध गौरिमित्रा के कारण हुआ हो; संग्रामे प्रयोजन योदृभ्य ४।२।५६)।

सेना के साथ चढ़ाई करने के लिये अभिषेणयति (३।१।५६; ८।३।६५); सेना-

द्वारा शत्रु को घेरने के लिये परिषेणयति एवं सेना के पीछे हटने के लिये प्रद्राव (३।३।२७) शब्द प्रचलित थे।

अनुशतिक—सूत्र २।३।२० मे पाणिनि ने अनुशतिक का उल्लेख किया है। शुक्र-नीति के अनुसार सेना में शतानीक नामक अधिकारी का सहायक अनुशतिक कहलाता था। पत्तिपाल की अध्यक्षता मे ५, गौल्मिक के नीचे ३, और शतानीक के नीचे १०० सिपाही रहते थे (शुक्र० २।१४०)। शतानीक का साथी होने के कारण अनुशतिक संज्ञा चरितार्थ होती थी, किन्तु शतानीक का कार्य युद्ध करना था और अनुशतिक का युद्ध की सामग्री जुटाना एवं सैनिको की भर्ती करना[1]।

अध्याय ७, परिच्छेद ५—जनपद

पाणिनि ने अपने युग की तीन महती संस्थाओ की ओर सविशेष ध्यान दिया था—शिक्षा के क्षेत्र मे चरण, सामाजिक जीवन के क्षेत्र मे गोत्र, और राजनैतिक जीवन के क्षेत्र मे जनपद। ये तीन बहुत ही महत्व-पूर्ण और जीती जागती संस्थाएँ थी। इन तीनो से सम्बन्धित सामग्री संस्कृत, बौद्ध एवं जैन साहित्य में इतनी विस्तृत हैं कि ये तीनो पृथक् अनुसंधान के विषय हो सकते हैं। जनपद के सम्बन्ध में पाणिनीय सामग्री निम्नलिखित सूत्रो में पाई जाती है—

(१) जनपदे लुप्, (४।२।८१)।
(२) जनपदिना जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने, (४।१।१००)।
(३) जनपदसमानशब्दात्क्षत्रियादञ् (४।१।१६८)।
(४) सुसर्वार्धाज्जनपदस्य (७।३।१२)।
(५) ग्रामजनपदैकदेशादञ् ठञौ (४।३।७)।
(६) दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यान चानराटेषु (६।२।१०३)।
(७) जनपदतदवध्योश्च (४।२।१२४)।
(८) ज्योतिर्जनपद रात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु (६।३।८५)।
(९) जानपदी वृत्तिः (४।१।४२)।
(१०) ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम्, (५।४।१०४)।

इसके अतिरिक्त कई गणो में जनपदो के नामो की सूची पाई जाती हैं, जैसे सिन्ध्वादि (४।३।९३) कच्छादि (४।२।१३३), भर्गादि (४।१।१६८)। इस सामग्री पर विचार करने से जनपद संस्था के विषय मे मूल्यवान् जानकारी प्राप्त होती है।

जनपदो का महत्व—वैदिक संहिताओ में जनपद शब्द का उल्लेख नही

---

१. तथाविधोऽनुशतिकः शतानीकस्य साधकः।
जानाति युद्ध संभारं कार्ययोग्य च सैनिकम्॥ (शुक्र० २।१४४)

है। ब्राह्मण ग्रन्थो मे भी बहुत कम इस शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ मे केवल एकबार बहुत सामान्य सा उल्लेख है (अथ यत् किंच जनपदे कृतान्नं, सर्वं वः तत् सुतम्, १३।४।२।१७)। ऐतरेय के अन्तिम अध्याय मे उत्तरकुरु और उत्तरमद्र को जनपद कहा गया (एतस्यामु दीच्या दिशि ये के च परेण हिमवन्त जनपदा उत्तरकुरव उत्तरमद्रा इति वैराज्याय एव तेऽभिषिच्यन्ते, ऐ० ८।१४)। जैमिनीय, तैत्तिरीय, गोपथ और सामविधान ब्राह्मणो मे केवल एक-एक बार जनपद शब्द आया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मण युग के अन्त में जनपद सस्था का आरम्भ हुआ और पाणिनि के समय तक यह संस्था अपने पूर्ण विकास पर पहुँच गई।

लगभग एक सहस्र ईस्वी पूर्व से पाँच सौ ईस्वी पूर्व तक के युग को भारतीय इतिहास में जनपद या महाजनपद युग कहा जा सकता है। समस्त देश मे एक सिरे से दूसरे सिरे तक जनपदो का ताँता फैल गया था। एक प्रकार से जनपद राजनैतिक, सास्कृतिक और आर्थिक जीवन की इकाई बन गए थे। जिस प्रदेश में जनपदीय जीवन सगठित रूप मे ऊपर उभर आया, वही शान्ति, सुव्यवस्था और नीति धर्म की स्थापना हो गई, और वह प्रदेश अराजक स्थिति के ऊपर उठ गया। जिस समय यह आन्दोलन अपने पूर्णवेग पर था, उस समय जनपदीय आदर्श स्थानीय जनता के जीवन मे प्रभावशाली प्रेरक शक्ति के रूप में प्रविष्ट हो गए। स्थानीय जीवन के विविध प्रकारो ने जनपदो के रूप मे सन्तुलित स्थिति प्राप्त कर ली। जैसा हम पहले कह चुके हैं जनपद के भौगोलिक विस्तार को पृथिवी कहा जाता था और उस पृथिवी के साथ स्थानीय जनता प्रगाढ़ मातृत्व के स्नेह से बँध गई थी। 'माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्या' यह उसी उदात्त भावना की अभिव्यक्ति थी।

प्रत्येक जनपद की भूमि वहाँ के निवासियो की सच्ची धात्री थी। जन, भाषा, धर्म, अर्थ व्यवस्था और सस्कृति, इन सब की दृष्टि से जनपद हर एक प्रदेश में स्थानीय जीवन की दृढ़ इकाइयाँ थी। समस्त देश मे जनपदो की लम्बी शृङ्खला फैली हुई थी। उनका कालकृत स्थायित्व भी कम न था। अनेको जनपदों के अवशेष अपने-अपने क्षेत्र मे आज भी पहचाने जा सकते हैं यद्यपि उनके राजनैतिक वैभव को समाप्त हुए सहस्रो वर्ष बीत गए हैं।

जनपदसूची—भारतवर्ष का जो भौगोलिक सीमाविस्तार था, उसके अन्तर्गत मध्य एशिया के कम्बोज जनपद से लेकर सुदूर दक्षिण तक, और पश्चिम में सिन्धु सौवीर कच्छ से लेकर पूर्व मे अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग और सूरमस तक फैले हुए जनपदो के लगभग १७५ नामो की सूचियाँ संकलित की गई थी जो कि पुराणो के भुवन-

कोशो मे सुरक्षित हैं ।[1] वस्तुतः देश का शायद ही कोई ऐसा प्रदेश या भाग होगा, जिसका नामकरण जनपद के रूप में न हुआ हो । पुराणकारो ने अपनी सूचियाँ देश के भौगोलिक विभागो को ध्यान मे रखते हुए एकत्र की थी । भुवनकोषो मे सात विभागो के जनपदो का उल्लेख है—(१) मध्य, (२) प्राच्य, (३) उदीच्य, (४) दक्षिणापथ, (५) अपरान्त, (६) विन्ध्यपृष्ठ और (७) पर्वत । पाणिनि ने प्राच्य और उदीच्य इन दो भागो का स्पष्ट उल्लेख किया है । मध्य देश के भी काशि, कोसल, प्रत्यग्रथ, अजाद आदि कई जनपदो के नाम सूत्रो मे आये हैं । विन्ध्यपृष्ठ निवासी जनपदो मे अवन्ति उल्लेखनीय है । दक्षिणापथ के जनपदों मे केवल अश्मक का उल्लेख है, जिसकी राजधानी प्रतिष्ठान गोदावरी के तट पर थी । पर्वताश्रयी जनपद अपना विशेष स्थान रखते थे । भारतीय मानचित्र पर दृष्टि डालने से उनके दो गुच्छे स्पष्ट दिखाई पडते हैं, एक कुल्लूकांगडा से लेकर देहरादून एवं गढवाल कुमायूँ तक फैला हुआ लम्बा पहाडी इलाका जिसमे त्रिगर्त, गब्दिका, युगन्धर, कालकूट भरद्वाज आदि जनपद थे, जिनकी पहचान पहले दी जा चुकी है (अ० २) । पहाडी जनपदो का दूसरा लम्बा-चौडा प्रदेश भारत के उत्तर-पश्चिमी भाग में सिन्धु नद से लेकर बाह्लीक कपिश कम्बोज तक फैला हुआ था । इसके अन्तर्गत अभिसार, उरशा, दार्व, दरद्, चित्रक, गन्धार, कपिश, बाह्लीक मुञ्जायन, कम्बोज, लम्पाक, हारहूर आदि कितने ही छोटे-बड़े जनपदो के नाम पुराणो की सूचियो मे सुरक्षित हैं, जिनमें से बहुतो का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है । राजनैतिक व्यवस्था की दृष्टि से अधिकाश पहाड़ी प्रदेश आयुजीवी सघो के रूप मे सङ्गठित थे (आयुधजीविभ्यश्छ. पर्वते, ४।३।९१) । इनका पृथक् विवेचन सघो के प्रकरण में किया जायगा ।

जनपद और यूनान के पुरराज्य—यूनान देश के इतिहास मे वहाँ के पुरराज्य जग-प्रसिद्ध हैं । यूनान छोटा सा देश है, जिसमें सैकड़ो पहाडी इलाके एक दूसरे से बँटे हुए हैं । प्रत्येक में एक एक जन या कबीले के जीवन का स्वतन्त्र विकास हुआ । उस कबीले का सास्कृतिक और राजनैतिक जीवन एक पुर या नगर में केन्द्रित होता था, जो वहाँ की राजधानी थी । इस प्रकार के राज्य यूनान देश मे पुरराज्य (सिटी स्टेट) कहलाए । उनके विकास और उन्नति का समय भी लगभग वही था, जो भारतवर्ष में जनपद राज्यो का था । पुरराज्यो में कुछ छोटे और कुछ अधिक शक्तिशाली होते थे, जैसे एथन्स और स्पार्टा, जो यदा कदा दूसरे पुरराज्यो पर अपना राजनैतिक प्रभुत्व जमा लेते थे । वैसे ही अपने देश मे भी मगध कोसल मद्र गन्धार आदि जनपद राज्य महाजनपदो के रूप मे विकसित हो गए । बहुत से जनपदो के

---

१. वायु अ० ४५; मत्स्य अ० ११४; ब्रह्माण्ड अ० ४९; वामन अ० १३; मार्कण्डेय अ० ५७, गरुड अ० ५५; और भी देखिए, श्री दिनेशचन्द्र सरकार, पुराणगत जनपद सूचियों का मूल पाठ; इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, वर्ष २१ (१९४५), पृ० २९७–३१४ ।

राजनैतिक प्रभुत्व पर चौका फेर कर ही मगध के साम्राज्य का उदय हुआ।

यूनान देश की संस्कृति का सर्वोत्तम विकास पुरराज्यो मे हुआ था। भारतीय जनपदराज्यो का प्रयोग यूनान देश से कही अधिक विस्तृत और महान् था। एक तो वह अपेक्षाकृत बहुत बड़े भूभाग में हुआ और दूसरे उसका स्थायित्व और राजनैतिक प्रभाव दूर तक व्याप्त रहा। सास्कृतिक दृष्टि से भी जनपद युग मे भारतीय सस्कृति की जो मूल प्रतिष्ठा हुई, उसका जो स्वरूप उस युग में सम्पन्न हुआ, उसी के आधार पर कालान्तर में जनपद संस्कृतियो के मिलने से राष्ट्रीय सस्कृति का स्वरूप विकसित हुआ। भारतीय जनपदो का अध्ययन करते हुये उनका यथार्थ स्वरूप और महत्व अभी तक पूरी तरह पहचान मे नही आया है। इस प्रकरण में जनपदो की विशेषता का अध्ययन करते हुए यथास्थान यूनानी पुरराज्यो से उनकी तुलना का प्रयत्न भी किया जायगा।

जनपदो की सीमाएँ—यूनान के पुरराज्य अधिकाश पहाडी प्रदेश और घाटियो में फैले थे। एक को दूसरे से पृथक् करने वाली निश्चित सीमाएँ थी। भारत मे भी प्रत्येक जनपद की नियत सीमाएँ थी, जिन्हे पाणिनि 'तदवधि' कहा है (जनपदतदव-ध्योश्च, ४।२।१२४)। जैसा काशिका ने लिखा है, एक जनपद अपने चारो ओर के दूसरे जनपदो से घिरा रहता था, जो उसकी सीमा बनाते थे (तदवधिरपि जनपद एवं गृह्यते न ग्राम., काशिका)। कुछ जनपद विस्तार मे इतने बड़े होते थे कि स्वभावत. वे कई हिस्सो मे बँटे हुए थे, जिनके नाम लोक मे अलग-अलग विख्यात हो जाते थे। इस प्रकार के भौगोलिक नामो में स्वरो का नियमन पाणिनि ने दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु (६।२।१०३) सूत्र में किया है जैसे पचाल जनपद का पूर्वी भाग पूर्वं पचाला. और पश्चिमी अपरपचालाः कहलाता था। दक्षिण पञ्चाला. दक्षिणी भाग का नाम था। इसी प्रकार पूर्वमद्र अपरमद्र, ये मद्र जनपद के दो बडे भाग थे (दिशोऽमद्राणाम् ७।३।१३)। उन दो भागो के निवासी क्रमश. पौर्वमद्र और आपरमद्र कहलाते थे, जैसे आजकल भाषा मे पछहियाँ, पुरबिया विशेषण प्रयुक्त होते हैं। पूर्वमद्र रावी से चनाब तक और पश्चिमी मद्र चनाव से झेलम तक का प्रदेश था। जनपद की राजधानी शाकल या स्यालकोट पूर्व मद्र मे ही थी। इसी प्रकार सिन्धु नदी गन्धार महाजनपद को दो भागो मे बाँटती थी, एक पूर्वगान्धार जिसकी राजधानी तक्षशिला थी और दूसरा अपरगान्धार जिसकी राजधानी पुष्कलावती थी।

जनपदो के इस बटवारे के आधार पर भाषा मे और भी कुछ शब्दो की आवश्यकता पडती थी, जैसे, समस्त पचाल जनपद से सम्बन्धित कोई वस्तु सर्व-पाचालक और केवल आधे जनपद से सम्बन्धित अर्धपांचालक कही जाती थी (सुसर्वार्धाज्जनपदस्य, ७।३।१२)। अर्थों की बारीक छानबीन करते हुए पाणिनि का ध्यान इनसे मिलते-जुलते कुछ दूसरे शब्दो पर भी गया। जिस प्रकार सर्वजनपद

और अर्धजनपद की भौगोलिक इकाई व्यवहार मे मान्य थी और जिस प्रकार एक ही जनपद के अन्तर्गत पूर्व पश्चिम के भेद वास्तविक थे, वैसे ही एक जनपद का पूरब का आधा भाग पूर्वार्ध, पश्चिम का अपरार्ध, दक्षिण का दक्षिणार्ध, उत्तर का उत्तरार्ध इन नामो से व्यवहृत होता था। जिस प्रकार सर्वजनपद के जीवन की एक इकाई थी उसी प्रकार उसके प्रत्येक भाग का भी सास्कृतिक व्यक्तित्व उभरा हुआ होता था। उसे पाणिनि ने जनपदैकदेश कहा है। उसमे होने वाले व्यवहारो आदि के लिये भाषा मे पौर्वार्ध, पौर्वार्धिक; दक्षिणार्ध दाक्षिणार्धिक, इस प्रकार के शब्द प्रचलित थे (ग्राम-जनपदैकदेशादञ्ठञौ, ४।३।७, जनपदैकदेश वाचिनः प्रातिपदिकात् दिक्पूर्वपदात् अर्थात् अञ्ठञौ प्रत्ययौ शैषिकौ; इमे खलु अस्माकं जनपदस्य पौर्वार्धाः पौर्वार्धिका, दाक्षिणार्धाः दाक्षिणार्धिका.—काशिका) जिस युग मे जनपदीय जीवन बहुत ही विकसित हुआ होगा उसी समय स्थानीय विभागो के द्योतक इस प्रकार के शब्दो की आकांक्षा भाषा में सम्भव हुई होगी।

जनपद नामों के जोड़े—जनपद की सीमाओ पर विचार करते समय एक तथ्य की ओर विशेष रूप से ध्यान जाता है। भाषा का यह नियम था कि जिन दो जनपदो की सीमाएँ एक दूसरे से सटी होती थी उनके नामो के जोड़े भाषा मे प्रसिद्ध हो जाते थे। भौगोलिक सान्निध्य इसका कारण था। ऐसे कुछ नाम प्राचीन साहित्य में पाए जाते हैं। इन नामो से कभी कभी यह भी सम्भव होता है कि ज्ञात जनपद के आधार पर अज्ञात जनपद की भौगोलिक स्थिति की पहचान की जा सके। ऐसे कुछ नामो का उल्लेख स्वयं पाणिनि ने भी किया है जैसे अवन्त्यश्मकाः, कुन्तिसुराष्ट्राः, चिन्ति-सुराष्ट्राः (कार्तकौजपादिगण ६।२।३७)। इन पाँचो जनपदो से भौगोलिक सान्निध्य और पहचान के विषय में पहले लिखा जा चुका है। बृहदारण्यक उप-निषद् मे कुरुपचाल नाम एक साथ आते हैं (कुरुपञ्चालाना ब्राह्मणा अभिसमेताः बृ० उ० ३।१)। इन दोनो जनपदो के इतिहास में एक युग ऐसा भी आया जब राजतन्त्र की दृष्टि से दोनो एक दूसरे के साथ मिल गए और हस्तिनापुर दोनो की सयुक्त राज-धानी बन गई। बौद्ध ग्रन्थो में सुधनकुमार की कहानी मे इस प्रकार का उल्लेख आता है। पाणिनि ने कुरुजनपद का उल्लेख किया है किन्तु पचाल जनपद का नाम सूत्रो में नही है। उत्सादिगण मे अवश्य कुरुपचाल का एक साथ पाठ है (उत्सादिगण ४।१।८६)। जैसा पहले कहा जा चुका है पाणिनि ने प्रत्यग्रथ जनपद का उल्लेख किया है जो पचाल का ही दूसरा नाम था (४।१।१७१)। जनपद नामो की दो सूचियां प्राचीन साहित्य मे उपलब्ध हैं। उनके अनुसार कुरुपचाल, अग-मगध, काशि-कोशल, शाल्व-मत्स्य, शवस-उशीनर, वज्जि-मल्ल, चेदि-वत्स, मत्स्य-शूरसेन ये नामो के जोडे प्रसिद्ध थे।[1]

---

१. कुरु पञ्चालेषु, अंगमगधेषु, काशिकौशल्येषु, साल्वमत्स्येषु, शवसोशीनरेषु, उदीच्येषु गोपथ ब्राह्मण पूर्वभाग २।१०।

महावस्तु[1] मे अंग-मगध एवं शिवि दशार्ण ये अतिरिक्त नाम है।[2] महाभारत मे इन जनपद नामो के जोडे पाए जाते हैं—सिन्धु-सौवीर; (गान्धाराः सिन्धुसौवीराः नखरप्रास योधिन., शान्ति १०१।३; अखिलान् सिन्धुसौवीरानवाप्नुहि मया सह, आरण्यक २५८।१८)।

मद्रगान्धार (४४।४७), वसातिसिन्धुसौवीर (कर्ण० ४४।४७), वसातिमौलेय (वसातय. समौलेयाः सभा० ५१।५२), दरद्-दार्व (सभा ५१।१३), शूरवैयमक (सभा ५१।५३; अफगानो के सूर और एमक नामक कबीले), नीप-अनूप (सभा० ५१।२४), माद्रेयजांगल (भीष्म० ९।३९, शाल्वा माद्रेयजागला:)। जातक मे मद्र और केकय को एक साथ कहा गया है (मद्दा सह केकयेहि, जातक ६।२८०)। इसी प्रकार दार्वअभिसार, कपिश-कम्बोज, गन्धार-केकय विदेह-मगध आदि नाम भी मिलते हैं। इन सबके विषय मे भौगोलिक दृष्टि से यह तथ्य सर्वांश मे लागू है कि जिन जनपदो के नामो के जोड़े भाषा मे प्रसिद्ध थे उनकी भौगोलिक सीमाएँ किसी न किसी अंश में एक दूसरे से मिली हुई थी।

सजनपद—एक जनपद की सीमाओ के भीतर अवान्तर भेद और स्थानीय भक्ति होते हुए भी समग्र जनपद की दृष्टि से वहाँ के सब निवासी परस्पर सजनपद कहलाते थे (=समान: जनपद, ६।३।८५)। जनपद के अतिरिक्त गोत्र और चरण-संज्ञक जिन संस्थाओ का उल्लेख किया गया है उनके लिये भी ठीक इसी प्रकार कि दो शब्द सगोत्र (६।३।८५) और सब्रह्मचारी (६।३।८६) भाषा मे प्रचलित थे। जनपद युग मे व्यक्ति के तीन नाम प्रसिद्ध होते थे—जनपद के आधार पर, गोत्र के आधार पर और चरण के आधार पर। अतएव इन तीनो प्रकार के शब्दो का पाणिनि ने विस्तृत विवेचन किया था।

ग्रामसमुदाय और नगर—जनपद की परिभाषा करते हुए काशिका मे कहा है—ग्रामसमुदायो जनपद· (४।२।८१)। बाद कि व्याकरणो में जनपद को राष्ट्र का पर्यायवाची माना है। वस्तुत· जनपद में ग्रामसमुदाय और नगर दोनो की स्थिति थी। नगर जनपद की राजधानी होती थी। उसके चारो ओर के गाँवों मे दूर दूर तक जनपदीय जीवन का ताना बाना फैला हुआ रहता था। यूनानी पुरराज्यो का ढांचा भी कुछ ऐसा ही था। किन्तु पुरराज्य का क्षेत्र-फल भारतीय जनपद की अपेक्षा बहुत छोटा होता था। अतएव उसमे नगर या राजधानी का सर्वापहारी महत्त्व था जिसके कारण वे पुरराज्य नाम से प्रसिद्ध हुए। स्वतन्त्र नागरिक प्रायः पुर मे ही निवास करते थे और शेष भू-भाग मे दास या कृषको की बस्ती होती

---

१. महावस्तु १।३४

२. कासिकोलेसु वज्जिमल्लेसु, चेतिवंसेसु, कुरुपंचालेसु, मच्छसूरसेनेसु, तेन खो पन समयेन भगवा परितो परितो जनपदेसु परिचारके (दीघनिकाय, १८ जनवसभसुत्त)

थी। भारतीय जनपदों में ग्रामसमुदाय का महत्व नगर के समान ही था और जनपद स्वामी क्षत्रिय ग्रामों में भी निवास करते थे। इस कारण भारतवर्ष में पुर-राज्य की अपेक्षा जनपद यह साभिप्राय शब्द स्थिति का यथार्थ सूचक था। किन्तु अपने यहाँ भी प्रत्येक जनपद में दुर्ग की स्थापना आवश्यक थी। दुर्ग का ठीक वही अर्थ था जो यूनानी पुरराज्यों में उनकी सुगुप्त राजधानी का समझा जाता था (एक्रोपोलिस = दुर्गाकार पुर या सन्निवेश)। जिस पारखेयी भूमि, नगर-द्वार; प्राकार, देवपथ, राजप्रासाद आदि का उल्लेख पहले हो चुका है (अध्या० ३ परि० ९) उनका सम्बन्ध जनपद की राजधानी के निर्माण से ही था। राजधानी के बिना जनपद की कल्पना सभव न थी। पुर या नगर जनपदीय जीवन के स्वाभाविक उत्कर्ष स्थान थे जहाँ से सांस्कृतिक और राजनैतिक जीवन के सूत्र चारों ओर फैलते थे। पाली साहित्य में षोडश महाजनपदों और उनकी राजधानियों का उल्लेख है। उनमें से नौ जनपदों का उल्लेख पाणिनि के सूत्रों में और बारह राजधानियों के नाम सूत्र और गणपाठ में हैं। मनु ने राष्ट्र और पुर दोनों का समान महत्व माना है।

जनपदों का विकास, जन, जनपद, जनपदिन्—वैदिक साहित्य में केवल जनों का उल्लेख है, जनपदों का नहीं। वह विकास की आरम्भिक अवस्था थी। उस समय जन अविभक्त इकाई के रूप में संचरणशील अवस्था में थे। जन के अन्तर्गत स्वतन्त्र कुलों की सख्या में अभिवृद्धि होती गई और जन का जीवन भूमि के साथ सबन्धित होने लगा। अपनी घुमन्तू वृत्ति छोड़कर जन किसी एक स्थान में टिकाऊ रूप से बसने लगे। वही से जनपद के विकास का आरभ हुआ। जिस प्रदेश में जन का सन्निवेश हुआ, वह प्रदेश जनपद कहलाया। यह स्वाभाविक था कि मूल जन के अतिरिक्त भी और लोग उस प्रदेश में आकर बसने लगे। पारस्परिक सम्मिलन के आधार पर जनपदीय जीवन का विकास एवं भाषा, धर्म, आर्थिक जीवन के क्षेत्रों में व्यापक सम्पर्क और आदान प्रदान हुआ। परन्तु राजनैतिक सत्ता मूल जन के प्रतिनिधि लोगों के हाथों में केन्द्रित रही। वे अपने अपने कुलों की संख्या का निर्धारण बड़ी सावधानी से रखते थे। उदाहरण के लिये लिच्छिविजन में ७७०७ कुल थे एवं चेत जनपद में ६०००० क्षत्रियकुल थे (जातक ६।५११)। पाणिनि ने राजनैतिक प्रभुत्व सम्पन्न मूल जन के इन प्रतिनिधियों के लिये 'जनपदिन्' इस नए शब्द का प्रयोग किया है। राजशक्ति एकराज और संघ दोनों प्रकार के जनपदों में मुख्यत. क्षत्रियों के ही हाथों में थी। काशिका ने जनपदिन् का अर्थ 'जनपदों के स्वामी क्षत्रिय' किया है (जनपद-स्वामिन. क्षत्रियाः) जनपद और उनके स्वामी जनपदिन् क्षत्रियों का अभिन्न सम्बन्ध था। मूल में जनपदों का नामकरण उसमें बसने वाले जनपदिन् क्षत्रियों के अनुसार ही हुआ था,

जैसे पंचाल क्षत्रियो के सन्निवेश का जो स्थान था वह भी पंचाल कहलाया। जिस प्रकार 'पंचाला:' क्षत्रियवाची यह नाम बहुवचन मे प्रयुक्त होता था, उसी प्रकार उनका निवास स्थान जनपद भी बहुवचनान्त पंचाला: रूप से लोक में प्रसिद्ध हुआ। पचालाना निवासः जनपद पंचाला, यह जनपदवाची पंचाल शब्द की संस्कृत व्याख्या हुई। पाणिनि के युग मे स्थिति यह थी कि पचाल जनपद का नाम लोक मे स्वत प्रसिद्ध था, पचाल क्षत्रियो का निवास स्थान होने के कारण पंचाल जनपद को पंचाल समझने की प्रथा न थी। 'पचाला' शब्द की अर्थावगति स्वतन्त्र रूप से होने लगी थी, जनपद के स्वामी क्षत्रियो के कारण नही। इसके दो हेतु थे। एक तो मूल पचाल जन के अतिरिक्त उस जनपद मे और भी अनेक जातियाँ और लोग निवास करने लगे थे जो उस जनपद को 'पचाला:' कह कर पुकारते थे। उनकी दृष्टि मे जनपद का स्वतन्त्र अस्तित्व और नाम था, जनपद स्वामी क्षत्रियो के आधार पर नही। दूसरे कुछ ऐसे भी जनपद हो सकते थे, जहाँ राजसत्ता जनपद के स्वामियो के हाथ से निकल कर दूसरो के हाथ मे चली गई हो। किन्तु इस परिवर्तन से जनपद के नाम मे कोई परिवर्तन नही होता था। ऐसी स्थिति मे 'पचाला: जनपद:' इस नाम को स्वतन्त्र रूप से भाषा मे प्रयुक्त मानना अधिक स्वाभाविक था। पाणिनि का यही दृष्टिकोण था, जिसे उन्होने लुब् योगाप्रख्यानात् (१।२।५४) एव योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शन स्यात् (१।२।५५) इन सूत्रो मे व्यक्त किया है। उनका कहना है कि 'पचाला: जनपद.' इस शब्द को जैसा लोक में प्रयुक्त होता है, वैसा ही लोक व्यवहार के प्रमाण से (जिसे उन्होने सज्ञाप्रमाण कहा है) स्वीकार कर लेना चाहिए। पंचाल क्षत्रियो के माध्यम से पंचाल जनपद नाम की व्युत्पत्ति न लोक मे होती है और न वैयाकरण को वैसा करने की आवश्यकता है। पर अपना यह अभिमत रखते हुए आचार्य के सामने पुरानी लीक भी चली आ रही थी। उसके अनुसार व्युत्पत्ति का क्रम इस प्रकार था—

(१) पञ्चालस्वामिन. क्षत्रिया = पञ्चाला: ।

(२) तेषा निवासः जनपद = पञ्चाला. ।

पहले अर्थ से दूसरे अर्थतक पहुँचने के लिये 'तस्य निवास' इस अर्थ मे एक प्रत्यय की आवश्यकता अनिवार्य थी, क्योकि प्रत्यय के बिना अर्थान्तर की प्रतीति शब्द शास्त्र मे किसी प्रकार संभव नही। इसका समाधान वैयाकरण लोग इस प्रकार करते थे कि क्षत्रियवाची पंचाला· शब्द से निवास अर्थ में जो प्रत्यय होता है, उसका लोप करने पर जनपदवाची पञ्चाला· शब्द सिद्ध हो जाता है। उसमें प्रत्यय न रहने पर भी प्रत्यय का अर्थ बना रहता है। इसके लिये पाणिनि ने जनपदे लुप् (४।२।८१) इस विशेष सूत्र का विधान किया है। वस्तुत: पाणिनि के सज्ञाप्रमाण वाले तर्क को ध्यान में रखते

हुए 'जनपदे लुप्' सूत्र की कोई आवश्यकता न थी, जैसा उन्होने स्वयं १।२।५४ सूत्र मे कहा है।

जनपद दो प्रकार के थे—एकराज और गणाधीन। अधिकांश जनपदो में राज्यसत्ता पाणिनि के समय तक क्षत्रियो के हाथ मे थी। इस सम्बन्ध मे जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) सूत्र महत्त्वपूर्ण है। इसका तात्पर्य यह है कि यदि जनपद का नाम और वहाँ के क्षत्रियो का नाम एक ही हो, तो उस क्षत्रियवाचक शब्द से अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है। जैसे पञ्चाल जनपद के निवासी क्षत्रिय का पुत्र पाञ्चाल कहलाता था। इस सूत्र पर कात्यायन ने लिखा है कि यह नियम केवल एकराज जनपदो में लागू था, संघो मे नही (क्षत्रियादेक-राजात् सघप्रतिषेधार्थम्)। दूसरे उस जनपद के राजा का नाम भी उसी प्रकार सिद्ध होता था, जिस प्रकार अपत्य का नाम, अर्थात् पञ्चाल जनपद का राजा भी पाञ्चाल कहलाता था (क्षत्रिय समान शब्दाज् जनपदात् तस्य राजन्यपत्यवत् ४।१।१६८ वा० ३)। इस प्रकार पञ्चाल और पाञ्चाल इन शब्दो के दो दो अर्थ हुए—

पंचालाः=(१) पंचाल क्षत्रिय, (२) पचाल जनपद।

पाचाल.=(१) पचाल क्षत्रियो का अपत्य, (२) पचाल जनपद का राजा।

जैसा कहा जा चुका है जनपदो मे और जातियो के लोग भी निवास करते थे, किन्तु राजसत्ता क्षत्रियो के हाथ में थी, जो उस जनपद के संस्थापक थे। यह तथ्य इतना सुविदित था कि कात्यायन ने जनपदसमानशब्दात् क्षत्रियादञ् (४।१।१६८) सूत्र में क्षत्रिय शब्द के पाठ की आवश्यकता में सन्देह किया है। उनकी युक्ति है कि जनपद के नाम से जो अपत्यवाची शब्द बनता है, उससे लोक मे केवल क्षत्रिय का बोध होता है, औरो का नही। पाञ्चालः से पञ्चाल क्षत्रिय के पुत्र का ही ग्रहण किया जाता है, पचाल देशवासी ब्राह्मण का पुत्र पाचालि और विदेह जनपद के ब्राह्मण का पुत्र वैदेहि कहलाता है। पतजलि ने स्पष्ट कहा है कि क्षौद्रक्य मालव्य ये शब्द भी केवल क्षुद्रक मालव क्षत्रियो के अपत्य अर्थ मे ही प्रयुक्त होते थे (अत्रापि क्षौद्रक्यः मालव्य इति, नैतत् तेषा दासे वा भवति कर्मकरे वा किन्तर्हि तेषामेव कस्मिश्चित्—भाष्य ४।१।१६८)।

पुरराज्य से साम्य—ऊपर जनपद के विकास की चार अवस्थाएँ कही गई हैं (१) जन, (२) कुल, (३) जनपदिनः, (४) जनपद। यूनान के पुर राज्यो के विकास की भी लगभग ये ही चार अवस्थाएँ थी। उनकी पहली अवस्था जन या कबीले की थी, और दूसरी कुलो की थी। तीसरी अवस्था वह थी जिसमें छोटे कबीलों ने अपना विस्तार करके एक शस्त्रधारी जाति के रूप में अपना सामूहिक सगठन कर लिया और किसी प्रदेश में राजधानी बनाकर अपना राज्य स्थापित कर लिया। चौथी

अन्तिम अवस्था पुरराज्य की अवस्था थी। भारतीय विकास परम्परा के साथ तुलना करने से यह स्थिति इस प्रकार समझी जा सकती है—

(१) जन	कबीले की प्रारम्भिक दशा	Genos
(२) कुल	कबीले के भीतर कुटुम्बो के विस्तार की अवस्था	Phrataries
(३) जनपदिनः	जाति	Phulae
(४) जनपद	राष्ट्र या पुरराज्य	Polis

अभिजन—

पाणिनि ने अभिजन इस विशेष शब्द का उल्लेख किया है (अभिजनश्च ४।३ ९०)। निवास और अभिजन इन दोनो मे भेद माना जाता था। पूर्वजो का स्थान अभिजन कहलाता था और कालान्तर मे जहाँ व्यक्ति या कबीला रहने लगा हो, वह निवास कहलाता था (निवासाभिजनयो: को विशेषः ? निवासो नाम यत्र संप्रत्युष्यते, अभिजनो नाम यत्र पूर्वैरुषितम् , भाष्य)। अभिजन शब्द पर विचार करने से उसकी पृष्ठभूमि ज्ञात होती है। वैदिक युग मे जन की ही प्रधानता थी, जनपद का विकास उस समय तक नही हुआ था, जैसे भरत जन किसी एक पूर्वज से अपनी उत्पत्ति माननेवाला एक छोटा समुदाय था। उसमें पृथक् कुलो के गोत्र या वश विकसित होने लगे। कुटुम्बो की अभिवृद्धि से जन की घुमन्तू स्थिति मे बाधा पडी और वह किसी एक स्थान में बद्धमूल हो गया। वह प्रदेश आरम्भ में अभिजन कहलाया होगा, जहाँ जन व्याप्त होकर स्थिति भाव को प्राप्त हुआ। यह जन सन्निवेश की आरम्भिक अवस्था थी। इसीसे और आगे बढकर कालान्तर में जनपद का विकास हुआ।

समान पूर्वज—जन अपने आपको किसी एक पूर्वज से उत्पन्न हुआ मानता था। यूनानी पुरराज्य और भारतीय जनपद दोनो के स्वामी इस कल्पना को समान रूप से मानते थे। सम्भव है आरम्भ में यह वास्तविक सचाई रही हो, जैसे पाणिनि ने जिन सावित्रीपुत्रको का उल्लेख किया है (दामन्यादिगण ५।३।११६), उनके विषय मे महाभारत से ज्ञात होता है कि वे सब सावित्री और सत्यवान् की सन्तान थे। उन्हे पुत्रशतम् कहा गया है (सावित्र्यास्तद्वै पुत्रशत्र जज्ञे—आरण्यक २८।३।१२) इसमे पुत्र शब्द अपत्यवाची है और शत अनिश्चित सख्या का सूचक है। किन्तु इतना स्पष्ट है कि जब यही शतसख्या बढ़कर सहस्रो मे पहुँचती थी और पुत्रशत में से प्रत्येक के कुल या कुटुम्बो का विस्तार होने लगता था, तो सौ दो सौ वर्षों में जन का विस्तार काफी बढ़ जाता था जैसा कि स्वयं सावित्री पुत्रको के विषय में महाभारत मे कहा गया—ते चापि सर्वे राजानः क्षत्रियाः पुत्रपौत्रिणः (कर्ण ४।४७) फिर भी समग्र जाति के इस विश्वास मे कोई अन्तर नही पड़ता था कि उनका

निकास एक ही पूर्वज से हुआ है। वस्तुत. प्रत्येक जाति आवश्यकतानुसार अपने लिये एक ऐसे पूर्वज की कल्पना भी कर लेती थी। उदाहरण के लिये, महाभारत में अंग, वंग, कलिंग, सुह्म और पुण्ड्र इन पाँच जनपदो के आदि संस्थापकोको बलि की रानी सुदेष्णा के पाँच पुत्र कहा गया है, जिनका जन्म दीर्घतमा ऋषि द्वारा हुआ था। प्रत्येक ने अपने नाम से एक-एक जनपद की स्थापना की (आदिपर्व ९८।३२)। इसी प्रकार पचाल जनपद के मुद्गल, सृञ्जय, बृहदिषु, प्रवीर और काम्पिल्य इन पाँच जनों के मूलपुरुष राजा हर्यश्व के पाँच पुत्र कहे गए हैं, जिनके नाम भी वे ही थे (विष्णु ४।१९।१५)। इसी प्रकार वाहीक देश के महत्वपूर्ण जनपद मद्र और शाल्व के आदि पुरुषो को व्युषिताश्व के पुत्र कहा गया है (आदि ११२।३३)।

भक्ति—अपने जनपद और जनपदिन् अर्थात् जनपद स्वामी क्षत्रियो के प्रति भक्ति यह जनपदीय जीवन की विशेषता थी। पाणिनि ने स्फुटरूप से इसका उल्लेख किया है—जनपदिना जनपदवत् सर्वं जनपदेन समानशब्दाना बहुवचने (४।३।१००) अर्थात् जहाँ जनपद और जनपदिन् इन दोनो नामो का बहुवचन मे एकसा रूप हो वहाँ भक्ति अर्थ मे जो प्रत्यय जनपद से होते हैं, वे ही जनपदिन् क्षत्रियो के नामो में भी जोड़े जाते हैं। यद्यपि आचार्य ने सूत्र की शब्द रचना मे उदारता से काम लिया है, पर इसका मूल अर्थ इतना ही है कि जनपद और जनपदिन् इन दोनो की भक्ति एक ही शब्द से प्रकट की जाती थी। जैसे आङ्गकः इस शब्द का अर्थ हुआ वह नागरिक या व्यक्ति जो अङ्ग जनपद का भक्त हो, अथवा जो अङ्ग क्षत्रियो का भक्त हो (अङ्ग· जनपदो भक्तिरस्य आगक; तद्वत् अङ्गा. क्षत्रिया. भक्तिरस्य आगक) इस सूत्र में भक्ति से तात्पर्य राजनैतिक निष्ठा से है। जनपद का प्रत्येक नागरिक उस जनपद एवं वहाँ के क्षत्रियो के प्रति जबतक भक्ति रखता था तभी तक वह वहाँ का नागरिक था। जनपद और जनपदिन् इन दोनो के प्रति भक्ति के मूल मे दो प्रकार की विचारधारा काम करती थी। राष्ट्र के प्रति निष्ठा जनपद की भक्ति हुई। इसका उल्लेख 'माता भूमि. पुत्रो अह पृथिव्या:' इस वाक्य मे आया है। जनपद स्वामी क्षत्रियो के प्रति भक्ति का तात्पर्य उस शासन के प्रति निष्ठा से था जो उस समय वहाँ सत्तारूढ होता था। जनपदिन् या जनपद स्वामी क्षत्रिय विशेषत. गणराज्यो मे मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय होते थे, जो स्वय राजा कहलाते थे और सब मिलकर जनपद के शासन में योग देते थे। उनके प्रति भक्ति का तात्पर्य उस राजनैतिक निष्ठा से था जो विभिन्न वर्ग या दलो की सदस्यता के रूप मे अभिव्यक्त होती थी। प्रत्येक सदस्य के लिये आवश्यक था कि वह अपने गण में किसी वर्ग से सम्बन्धित हो। उदाहरण के लिये अक्रूरवर्ग्यः, वासुदेववर्ग्यः, अर्थात् अक्रूर या वासुदेव के वर्ग (पक्ष या दल) का व्यक्ति जो उस वर्ग के प्रति भक्ति रखता था। इस राजनैतिक निष्ठा का शासन के लिये महत्त्व था।

यूनान के पुरराज्यो मे प्रत्येक नागरिक अपने पुर के प्रति उसके शासक एवं उसके राजनियमो के प्रति आत्यन्तिक निष्ठा को अपने जीवन का सर्वोत्तम गुण मानता था। इस भाव की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति महात्मा सुकरात के इस कथन में पाई जाती है—'जिस प्रकार अपने माता, पिता और स्वामी के प्रति, वैसे ही अपने देश और उसके विधान के प्रति भी, नागरिक को उचित है कि वह अपकार का उत्तर प्रत्यपकार से और घात का प्रतिघात से न दे। देश माता से भी अधिक है उसके लिए सब कुछ सह लेना चाहिए (ग्लोत्स, दि ग्रीक सिटी एण्ड इट्स इन्स्टीट्यूशन्स, पृ० १४०)। प्रत्येक जनपद की भूमि पृथिवी कहलाती थी और वह पृथिवी प्रत्येक नागरिक के लिए उसकी माता थी। नागरिक अपने आपको उसका पुत्र समझता था (माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः, अथर्व० १२।१।१२)। पृथिवी पुत्र की यह भावना जनपदीय जन के जीवन में सबसे बडी प्रेरणा थी।

धर्म—जनपदो के जीवन मे एक नई प्रेरक शक्ति धर्म के रूप मे प्रकट हुई। यह धर्म रीति रिवाजवाला प्राचीन सामयाचरिक धर्म न था, बल्कि धर्म का तात्पर्य उन धारणात्मक नियमो से था जो प्रजा और राष्ट्र को धारण करते हैं। महाभारत मे इस शब्द की नई व्याख्या हमें प्राप्त होती है—

नमो धर्माय महते धर्मो धारयति प्रजा' (उद्योग १३७।९)।

ऊपर कहा जा चुका है कि पाणिनि ने कुछ सूत्रो मे धर्म के पुराने अर्थ को ग्रहण किया था, किन्तु धर्म शब्द का यह नया अर्थ भी उनके दृष्टि पथ मे आ गया था। इसी के लिये धर्मं चरति धार्मिकः (४।४।४१) इस नये शब्द और अर्थ का विकास हुआ। यहाँ चरति का अर्थ है आसेवा अर्थात् जीवन मे धारणात्मक धर्म की सर्वात्मना स्वीकृति और तदनुसार आचरण। सामाजिक और सृष्टि व्यापी अखण्ड नियम की संज्ञा धर्म थी। उससे अनपेत या अविरहित भाव को धर्म्य कहा जाता था। जनपद का ध्येय इस प्रकार के धर्म की पूर्णतम अभिव्यक्ति और उन्नति करना था। इस आदर्श की सर्वोत्तम स्वीकृति केकय देश के राजा अश्वपति के उस उद्गार मे पाई जाती है जो उसने महाशाल महाश्रोत्रिय जानपद जन की उपस्थिति में प्रकट किया था—

जनपद में कोई चोर नही मेरे, मद्यप और कदर्य नही है हेरे।
आहिताग्नि विद्वान सभी सुविचारी, आचारहीन नर नही कहीं नारी ॥[1]

यूनान के पुरराज्य नीति धर्म के आदर्श को दिव्य गुण और ईश्वरीय सत्ता का सर्वोत्कृष्ट रूप मानते थे। पुरराज्यो मे और जनपदो मे जीवन के उच्चतम परिष्कार की भावना का स्रोत नीति अर्थात् धर्म था।

---

१. न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान् न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥ (छान्दोग्य ५।११।५)

जनपदो मे उत्कृष्ट बुद्धिवाद के नए आदर्श की उपासना की जा रही थी, जिसे इस काल के साहित्य में प्रज्ञा कहा गया है। जनपदो के नागरिक और शासक दोनो के लिये प्राज्ञ आदर्श का उल्लेख महाभारत में कितने ही स्थानो पर आता है (शान्ति ६७।२७)। जनपदो के लिये जिस विनय प्रधान जीवन या आचार की कल्पना की जा रही थी उसे अष्टाध्यायी में (५।४।३४) और शान्तिपर्व में (६४।४) वैनयिक कहा है। यह वैनयिक आदर्श व्यवहार में तभी चरितार्थ किया जा सकता था जब जनपद मे सु-शासन की व्यवस्था हो। इसे ही पाणिनि ने सौराज्य की स्थिति कहा जिसके लिए जनपदो का राजन्वान् होना आवश्यक था। इससे विपरीत जनपद अराजक राष्ट्र बन जाता था (शान्ति० ६८।१-६१)।

जनपद-संस्कृति—अथर्व वेद मे कहा है कि पृथिवी बहुत से जनो को धारण करती है जो पृथक् धर्मों के माननेवाले और भिन्न भिन्न भाषाएँ बोलनेवाले हैं (जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माण पृथिवी यथौकसम्, अथर्व १२।१।४५)। जन की यह पृथक् स्थिति धीरे धीरे समाप्त हुई और एक जनपद में भाषा, धर्म और आर्थिक जीवन की समानताएं विशेष रूप से प्रकट हुईं। जनपदीय जीवन भेद की अपेक्षा साम्य की ओर अधिक प्रवृत्त हुआ। प्रत्येक जनपद इस बात में स्वतन्त्र था कि वह अपने यहाँ किस प्रकार की शासन-प्रणाली को प्रश्रय दे, अर्थात् वह एकाधीन या राजाधीन हो, गणाधीन हो, अथवा श्रेणी या पूग के रूप में संगठित हो। श्रेण्यादयः कृतादिभि सूत्र (२।१।५९) मे एककृताः, श्रेणिकृताः, पूगकृताः इत्यादि शब्द जनपदो में प्रचलित बहुविध शासन पद्धति के वाचक थे। प्रत्येक जनपद अपने जीवन के क्षेत्र में सब प्रकार स्वतन्त्र होता था। प्रत्येक की अपनी प्रभुसत्ता रहती थी, जब तक कि उसके पड़ोसी राज्य उसके स्वातन्त्र्य मे बाधक न बन जाते थे। फिर भी जनपद की संस्कृति, भाषा और धर्म का प्रवाह निर्विघ्न अपने क्रम से प्रवृत्त होता रहता था। व्याकरण साहित्य मे कम्बोज, सुराष्ट्र, प्राच्य, उदीच्य आदि जनपदो और देश विभागों की भाषा सम्बन्धी विशेषताओं का कही कहीं उल्लेख है। बुद्ध ने यह अनुमति दी थी कि प्रत्येक जनपद उनका उपदेश अपनी भाषा या बोली मे प्रचारित करने के लिये स्वतन्त्र था। उनका यह भी कहना था कि जिन चैत्य या देवताओ की पूजा किसी जनपद में पहले से चली आती थी उसमें विघ्न न होना चाहिए। प्रत्येक जनपद में अपने अपने प्रमुख यक्ष या नाग देवता के चैत्य या स्थान थे। उनकी पूजा समस्त जनपद का सामान्य धर्म था। बौद्ध, जैन, भागवत आदि व्यक्तिगत धर्म नाग यक्षादि धर्मों और विश्वासो के स्थान मे पीछे से प्रचलित हुए। पाणिनि ने कुरु जनपद की सामाजिक और सांस्कृतिक विशेषताओ का कुरुगार्हपतम् इस शब्द मे उल्लेख किया है। कात्यायन ने वृजि जनपद के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार वृजिगार्हपतम् का उल्लेख किया है।

वैदिक युग के बाद जनपदो में ही भारतीय संस्कृति का नया विकास हुआ। जनपदीय जीवन में प्रज्ञा या बुद्धिप्रधान दृष्टिकोण का अभूतपूर्व उन्मेष हुआ। बुद्धि का यह स्फोट नाना भाँति के शिल्प और अनेक प्रकार की विद्याओ के रूप में प्रकट हुआ। प्रत्येक जनपद मे स्थानीय शिल्पो की नीव इसी युग में पड़ी। ये शिल्प आर्थिक जीवन के विकास के नये साधन थे।

पाणिनि ने जीविका के इन साधनो को जानपदी वृत्ति कहा है (४।१।४२)। जनपदीय जीवन के लिये न केवल नए शिल्पो की आवश्यकता का अनुभव किया जा रहा था, बल्कि शिल्पो मे निपुण होना सामाजिक प्रतिष्ठा का कारण समझा जाता था। पाणिनि से पूर्व यास्क ने इस स्थिति का निश्चित उल्लेख किया था—

यथा जानपदीषु विद्यातः पुरुषो वेदितृषु च भूयोविद्य प्रशस्यो भवति (निरुक्त १।५)।

अर्थात् एक तो जनपदीय शिल्पो मे निपुणता प्राप्त करने से पुरुष प्रशसनीय होता है, दूसरे वह व्यक्ति श्रेष्ठ समझा जाता है जो वेदितृ जनो के मध्य मे कई शास्त्रो का ज्ञाता हो।

प्राचीन शिक्षा-क्रम चरणो मे विकसित हुआ था। अब जनपदो के नये युग मे दो प्रकार की नई शिक्षा का विकास हुआ, जिनका उल्लेख यास्क के इस वाक्य मे है। एक तो जानपदी वृत्ति या शिल्पो मे कुशलता प्रतिष्ठा का कारण था। दूसरे ज्ञान के क्षेत्र मे जो किसी भी एक शास्त्र या विद्या के जानकार होते थे वे वेदिता कहलाते थे जिनका उल्लेख पाणिनि ने तदधीते तद्वेद सूत्र मे किया है। इस प्रकार के वेदितृ व्यक्तियो में जो कई विद्याओ, शास्त्रो या ग्रन्थो के विशेषज्ञ होते थे वे भूयोविद्य रूप में श्लाघनीय समझे जाते थे। शिक्षा के प्रकरण मे यह स्पष्ट किया जा चुका है कि वैदिक चरणो से बाहर भी विविध विद्याओ और साहित्य का अत्यधिक विस्तार पाणिनि-युग की विशेषता थी। इस प्रवृत्ति के पीछे एक विशेषता यह थी कि वैदिक साहित्य की परिधि के बाहर शिक्षा और ज्ञान का स्वतन्त्र विस्तार हो रहा था। जनपदो में अनेक दिग्गज आचार्य हुए जिन्होने कितने ही नये शास्त्रो की उद्भावना की। सच पूछा जाय तो भारतीय साहित्य मे विविध शास्त्र और दर्शनो की मूल प्रतिष्ठा का आरम्भ इसी युग मे हुआ। इस समय राष्ट्र मे ज्ञान का जो चौमुखी विस्फोट हुआ उसका प्रमाण उपनिषदो में, महाभारत में एवं प्राचीन बौद्ध और जैन-साहित्य मे पाया जाता है। बौद्धिक विकास के क्षेत्र मे यही स्थिति यूनान के पुर-राज्यो मे हुई थी। वहाँ भी पुर-राज्यो का युग ज्ञान के चरम उत्कर्ष का युग था। पुराने ढंग की होमरीय शिक्षा का स्थान नये दार्शनिक चिन्तन और नये शिल्पो ने ले लिया था।

जनपद-गुप्ति—यूनानी पुरराज्यो के विषय मे कहा गया है—'नागरिकों का

कर्तव्य है कि जैसे अपने कानूनो के लिये वैसे ही अपने पुर की प्राचीर-रक्षा के लिये भी युद्ध करें' (ग्लोत्स, वही, १९९) । भारतीय जनपदो मे एवं आयुधजीवी सघो मे नागरिको का यह कर्त्तव्य था कि वे जनपद की रक्षा के लिये युद्ध के लिये कटिबद्ध हो । सिकन्दर के आक्रमण के समय इसका सर्वोत्तम रूप देखने मे आया। जनपद पर जब कोई आकस्मिक विपत्ति आती तो सभापाल अधिकारी सान्नाहिकी भेरी बजाकर सब लोगो को युद्ध के लिये तैयार होने की सूचना देते थे और नागरिक लोग विमर्श के लिये सभा भवन में एकत्र हो जाते थे । महाभारत में 'कथं रक्ष्यो जनपद ' यह प्रश्न उठा कर जनपद-गुप्ति या उसकी रक्षा या सैनिक तैयारी का विशेष वर्णन किया गया है (शान्ति० ६९।१-७१) । वहा जनपद और पुर दोनो की रक्षा एक दूसरे से अभिन्न मानी गई है (तथा जनपदश्चैव पुर च कुरुनन्दन । एतत्सप्तात्मक राज्यं परिपाल्य प्रयत्नत: ॥ शान्ति ६९।६३) । इस सम्बन्ध में अनेक सैनिक सस्थाओ और साधनो का नामोल्लेख किया गया है, जैसे दुर्ग, गुल्म, पुर, शाखानगर, आराम, उद्यान, नगरोपवन, आपण, विहार, सभा, आवसथ चत्वर, राष्ट्र, बलमुख्य, सस्याभिहार, संक्रम, प्रकठी, आकाशजननी, कडंगद्वारक, द्वार, शतघ्नी, भाण्डागार, आयुधागार, धान्यागार, अश्वागार, गजागार, बलाधिकरण आदि । जनपद गुप्ति के विषय में यहाँ तक कहा गया है कि दुर्ग की रक्षा का प्रवन्ध ऐसा होना चाहिए कि न केवल पुरुष वल्कि स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकें।

शासन के विविध प्रकार—मुख्यत राजाधीन और गणाधीन दो प्रकार के जनपद थे, किन्तु उनमें भी विकास की कितनी ही कोटियाँ थी । उस युग मे जनपद मानो विविध प्रकार के शासन की प्रयोगशाला बने हुए थे । एकाधीन जनपद को राजाधीन भी कहते थे, अर्थात् वहाँ राजा और मन्त्रिपरिषद् की शासन सस्था का विकास हो चुका था । दूसरे प्रकार के जनपद गण या सघ कहलाते थे । संघो मे शासन के अनेक अवान्तर भेद थे । इनमे से पचासो का पाणिनि ने श्रेण्यादय: कृतादिभि: सूत्र में उल्लेख किया है । (२।१।५९) किन्तु अब उनके सूक्ष्म भेद-प्रभेदो को जानने का कोई साधन नही है । कुछ सघ विकास की आरम्भिक अवस्था में ही थे । वहाँ के निवासी प्राय. उत्सेधजीवी या लूट-मार करके जीविका निर्वाह करनेवाले होते थे । वे अपनी सीमा के भीतर किसी प्रकार की सघीय प्रणाली कायम करके काम चलाते थे । राजशास्त्र की दृष्टि से उनके ये प्रयत्न उच्च कोटि के न थे किन्तु फिर भी लोक में उनका अस्तित्व अवश्य था । इस प्रकार के संघों को व्रात और पूग कहते थे । विशेषत. भारत के उत्तर-पश्चिम मे ऐसे सैकडो संघो का जाल फैला हुआ था । इनका विशेष विवेचन अगले प्रकरण मे किया जायगा ।

कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रो में पाणिनि ने शासन सम्बन्धी विशेष प्रयोगो या विविध प्रकारो का इस प्रकार उल्लेख किया है—गण, सघ, अवयव (४।१।६१),

त्रिगर्तषष्ठ (५।३।११६), राजन्य (६।२।३४), द्वन्द्व या व्युत्क्रमण (८।१।१५), जनपद, जनपदिन् , अभिषिक्त वश्य क्षत्रिय, पूग, श्रेणि, ग्रामणी, व्रात, कुमारपूग (६।२।८८) आयुध-जीविन् (५।३।५१), पर्वतीय (४।२।१४३), परिषद्वल राजा (५।२।११२), संघिमिश्र राजा (६।२।१५४) इत्यादि। अनेक संघो मे आयुध-जीवी सैनिको का स्वतन्त्र अस्तित्व था जो युद्ध के लिये सैनिक टुकडी के रूप मे प्राप्त किए जा सकते थे। कृष्ण ने अपने वृष्णि संघ के विषय में कहा था कि इस प्रकार के अट्ठारह सहस्र व्रात उनके संघ मे थे (अष्टादश सहस्राणि व्रातानां सन्ति न' कुले, सभा पर्व १३।५५) । इसी प्रकार के अनेक व्रात या आयुधजीवी लड़ाके यूनानी पुरराज्यो मे और थ्रेस के पहाडी इलाको मे थे। वे युद्ध और लाभ के लोभ से सिकन्दर की सेना मे भर्ती होकर आ गए थे।

सभा और परिषद्—प्रत्येक जनपद मे चाहे वह राजाधीन था या गणाधीन उसकी एक सभा और एक परिषद् होती थी। सभा राजाधीन जनपदो मे राजा के नाम से प्रसिद्ध होती थी, जैसे चन्द्रगुप्त-सभा, पुष्यमित्र-सभा, जिनका उल्लेख पतंजलि ने किया है। जातक कथाओ मे प्राय राजसभा के ५०० सदस्यो का उल्लेख आता है। इस सभा मे पौरजानपद प्रतिनिधि एवं अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति और विद्वान् सदस्य होते थे। राजाधीन जनपद मे परिषद् से तात्पर्य मन्त्रिपरिषद् से था। उसीके कारण 'परिषद्वलो राजा' यह साभिप्राय शब्द लोक में प्रचलित हुआ था। गणराज्यो मे सभा कि संगठन का आधार कही अधिक व्यापक था। संघ या गण मे जो मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय या राजन्य होते थे वे सब सभा मे बैठने के अधिकारी थे। इसका अच्छा उदाहरण वृष्ण्यन्धक गण की सभा का वह अधिवेशन है जो सुभद्राहरण के अवसर पर सभापाल द्वारा साम्नाहिकी भेरी बजाकर बुलाया गया था। कहा है कि उस शब्द से क्षुब्ध होकर भोज, वृष्णि और अन्धक खाना-पीना छोडकर भागते हुए सभा मे आए (आदिपर्व २१२।१२)।

भारतीय सभा की तुलना यूनानी पुरराज्यो की सभा के साथ करने से उसके संगठन पर मूल्यवान् प्रकाश पडता है। यूनान में सभा की सदस्यता प्राप्त करने के लिये नागरिक को अट्ठारह वर्ष की आयु प्राप्त करना आवश्यक था। तब उसका नाम जन की सूची मे पञ्जीबद्ध कर लिया जाता था। किन्तु उसके बाद भी उसके लिए दो वर्ष की सैनिक शिक्षा अनिवार्य थी। अतएव बीस वर्ष की आयु प्राप्त होने के बाद ही नागरिक को अट्ठारह अधिवेशनो में व्यवहारत. सम्मिलित हो पाते थे। पाणिनि ने वय.प्राप्त क्षत्रियकुमार के लिये कवचहर शब्द का उल्लेख किया है (वयसि च, ३।२।१०, कवचहर' क्षत्रियकुमारः)। यह योग्यता अठारह वर्ष की आयु में प्राप्त होती थी। कवचहर की ध्वनि यही है कि वह युवा कुमार सैनिक शिक्षा प्राप्त करने लगता था। उसकी समाप्ति के बाद वह युवा सभेय अर्थात् सभा-

मे भाग लेने योग्य होता था। सभेय वैदिक शब्द था (सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्)। पाणिनि युग में उसके लिये सभ्य यह नया शब्द प्रयुक्त होने लगा था (सभाया साधुः सभ्यः, सभाया यः ४।४।१०५) सभ्य पदवी उसी के लिये प्रयुक्त होती थी जो सभा मे सम्मिलित होने की साधुता या योग्यता प्राप्त कर चुका हो।

गण या सघ मे प्रतिनिधित्व का आधार कुलो का संगठन था। प्रत्येक कुल एक इकाई माना जाता था। एक कुल का एक प्रतिनिधि शासन में भाग लेने का अधिकारी होता था जो राजा कहलाता था (गृहे गृहे हि राजानः, सभापर्व १४।२)। लिच्छवि गण में ७७०७ कुल और उनके उतने ही राजा (राजानो) थे। चेत जनपद मे साठ सहस्र क्षत्रियों की गणना की जाती थी और उन सबकी उपाधि राजा (राजानो) थी (जातक ६, ५११)। यहाँ यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इन सब को गण की सभा मे भाग लेने का अधिकार था; यदि था तो इतने वहु संख्यक व्यक्ति गण सभा के अधिवेशन मे किस प्रकार भाग लेते थे। किन्तु यूनानी पुरराज्यो के साथ तुलना करने से विदित होता है कि वहाँ भी ऐसी ही प्रथा थी। यूनानी पुरराज्यो मे समस्त नागरिको के लिये राजनीति मे भाग लेना आवश्यक था, क्योकि उनके यहाँ प्रतिनिधि चुनने की प्रथा न थी (ग्लोत्स, वही पृ० १७५)। उदाहरण के लिये ४३१ ईसवी पूर्व में गणना के अनुसार एथेन्स के पुरराज्य में ४२००० नागरिक थे। यद्यपि सिद्धान्ततः सबको सभा में भाग लेने का अधिकार था, पर उपस्थित जनो की संख्या दो सहस्र से लेकर तीन सहस्र तक से अधिक न होती थी। कुछ प्रस्ताव ऐसे होते थे जिनके लिये "समग्रजन" की सम्मति विधान में आवश्यक थी। ऐसे प्रस्तावो के लिये भी ६००० की गण पूरक संख्या मान ली गई थी अर्थात् उतने सदस्यो की नियत उपस्थिति हो जाने पर वह प्रस्ताव समग्र गण की ओर से सम्मत मान लिया जाता था (ग्लोत्स, वही, पृ० १५३)। भारतीय गणाधीन जनपदो मे भी कुछ इसी प्रकार की व्यवस्था थी। समग्र जन की सभा मे ६००० की उपस्थिति का उल्लेख आया है। अथर्ववेद में देवजन के लिये छः सहस्र संख्या का उल्लेख है (ब्रह्मचारिण पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे... "षट्सहस्रा, अथर्व ११।५।२)। यहाँ सर्व देवजन और पृथग् देवजन, जन की द्विविध स्थिति का उल्लेख है। वस्तुतः समस्त जन या गण की जो सभा थी उसीकी आदर्श कल्पना देवजन की सभा में चरितार्थ होती थी। मानवजन की सभा और देवजन की सभा ये दोनो नियम, संगठन और आदर्श की दृष्टि से अभिन्न थी। वृष्णि सघ के जिस अधिवेशन का उल्लेख ऊपर किया गया है उसमें स्पष्ट लिखा है कि उनकी वह सभा सुधर्मा कहलाती थी जो कि देवताओ की सभा की संज्ञा प्रसिद्ध है (ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्,

आदिपर्व २१२।१०)। इस प्रकार अथर्व वेद मे सर्वदेवजन के लिये जो षट्सहस्र संख्या कही गई है उसे गण सभा की संख्या निश्चय पूर्वक माना जा सकता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि षट्सहस्र की उपस्थिति हो जाने पर समग्रगण की गणपूरक उपस्थिति समक्ष ली जाती थी। अथर्ववेद मे जो पृथग्देवा का उल्लेख है उसकी व्याख्या बृहदारण्यक उपनिषत् के उस वर्णन से प्राप्त होती है जिसमे देवो की सख्या ३०००, या ३००, या ३३ कही गई है (बृहदारण्यक ३।९।१)। यह सख्या पृथक् देवजन की नियत उपस्थिति की ओर संकेत करती प्रतीत होती है। जैसे यूनानी पुरराज्यो मे ऐसे ही यहाँ के गणराज्यो मे जिस समय जन इच्छानुसार सभा मे उपस्थित होता तो प्रायः इतनी सख्या हो जाती थी। जन के उस स्वरूप को सर्व जन के मुकाबले मे पृथक् जन कहा जाता था। सगतिपरक अन्य व्याख्या के अभाव मे इन दोनो सख्याओ को जन सभा की गणपूरक मानना ही युक्तियुक्त जान पडता है। इस पृष्ठ भूमि मे छान्दोग्योपनिषत् की सर्वदेवजन विद्या का अर्थ भी स्पष्ट समझा जा सकता है अर्थात् जनपद और गणो के शासन से सम्बन्ध रखनेवाली राजनीति विद्या।

एकराज जनपदो के नाम—पाणिनि ने निम्नलिखित जनपद नामो का सूत्रो मे उल्लेख किया है, (१) कम्बोज, (२) गान्धारि, (३) मद्र, (४) साल्वेय, (५) साल्व, (६) कलकूट, (७) कुरु (८) प्रत्यग्रथ, (९) कोसल (१०) अजाद, (११) कुन्ति, (१२) अवन्ति, (१३) अश्मक, (१४) काशि, (१५) मगध, (१६) कलिंग, (१७) सूरमस (१८) सौवीर, (१९) अम्बष्ठ। पतजलि ने कुछ ऐसे नाम दिए हैं, जिनका सूत्रो मे अन्तर्भाव माना है, जैसे विदेह, पंचाल अङ्ग, दार्व, नीप। इनके अतिरिक्त गणाधीन संघो के भी अनेक नाम सूत्रो और गणो मे आते हैं। पाणिनीय तिथि क्रम के लिये इन नामो के महत्त्व पर अन्तिम अध्याय मे विचार किया गया है।

अध्याय ७, परिच्छेद ६–संघ या गण

गणाधीन सघ—पाणिनि के युग में दो प्रकार की शासनपद्धति मुख्यतः प्रचलित थी, एकराज और सघ। कात्यायन ने इन दोनो पद्धतियो का स्पष्ट नामोल्लेख करते हुए सूचित किया है कि दोनो मे मौलिक भेद था (क्षत्रियादेकराजात् संघ प्रतिषेधार्थम्, ४।१।१६८ वा० १)। एकराज जनपद राजनैतिक परिभाषा के अनुसार एकाधीन और सघ शासनवाले जनपद गणाधीन कहलाते थे। यह स्पष्ट है कि पहले मे ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता एक व्यक्ति मे केन्द्रित रहती थी और दूसरे में वह संपूर्ण गण मे निष्ठित होती थी। पाणिनि के युग में एकराज जनपदो का जितना प्रचार और महत्त्व था, उससे कही अधिक संघराज्यो का ज्ञात होता है। भारतीय राज्य

पद्धति में जनजीवन के मन्थन से समुद्भूत ऐसा महत्त्वपूर्ण और व्यापक प्रयोग उससे पहले, और बाद मे फिर कभी देखने में नही आया। संघ आन्दोलन ने देश के अतिविस्तृत भूभाग को छा लिया था। संघ आदर्श का आकर्षण इतना अधिक था कि न केवल राजनीति के क्षेत्र मे बल्कि परिवारो के गोत्र सज्ञक सगठन में, जाति या सामाजिक पचायतो के संगठन मे, पूग श्रेणी और निगम नामक आर्थिक संस्थाओं के सगठन मे, एवं चरण नामक शिक्षासंस्थाओ के संगठन में, सर्वत्र सघ आदर्श मे ही जनता की अभिरुचि थी। इसी पृष्ठभूमि मे शाकल संघ., शाकल अङ्क., शाकल लक्षणम् एवं दाक्षः सघ', दक्षः अक, दाक्ष लक्षणम् इस प्रकार के उदाहरण ठीक प्रकार समझे जा सकते हैं। जैसे वर्तमान समय मे किसी भी प्रकार की सभा या संगठन हो, उसका आदर्श संघ शासन से लिया जाता है, कुछ वैसी ही अवस्था उस युग में थी। ऐसी हवा चली थी कि जनता की शासन पद्धति, अधिकार निर्णय, स्वतन्त्र संगठन, एवं सैनिक संस्थान आदि के विषय मे संघीय आदर्श का सौरभ वाहीक-त्रिगर्त से लेकर सिन्धु नद के पश्चिमोत्तर कम्बोज-बाल्हीक तक सर्वत्र व्याप्त हो गया था। मोटे तौर पर यह विदित होता है कि देश के प्राच्य भूभाग मे राज्य प्रथा और उदीच्य भाग में सघो की प्रथा अधिक प्रचलित थी। अनुश्रुति है कि जरासंध के समय में मगध मे ही साम्राज्य की प्रवृत्ति आरम्भ हुई जो कि शिशुनाग और नन्द राजाओं के युग में और भी आगे बढी, यहाँ तक कि मौर्य शासन मे एकराज जनपद और गणाधीन संघ इन दोनो को समाप्त करके देशव्यापी साम्राज्य कायम हो गया। कौटिल्य ने सघो के प्रति अपनी नीति का उल्लेख किया है कि संघशासन से राष्ट्र की दृढता मे बाधा पडती है, अतएव साम्राज्य मे उनका अन्तर्भाव हो जाना चाहिए। मौर्य शासन का ढाँचा शिथिल पड़ने के बाद फिर एकबार सघो के फेफड़े नवीनश्वास-प्रश्वास से भर गए, जिनका प्रमाण भारतीय इतिहास में २०० ई० पू० से दूसरी शती ई० तक के अनेक जनपद राज्यो मे पाया जाता है। किन्तु संघो की यह करवट चौथी शती ईस्वी मे गुप्त साम्राज्य के उदय के साथ सदा के लिये समाप्त हो गई।

संघ—पाणिनि में संघ शब्द के कई अर्थ हैं। संघ का सामान्य अर्थ समूह था, जैसे 'ग्राम्य पशु संघ', इस प्रयोग मे (१।२।७३)। संघ शब्द का दूसरा पर्याय निकाय था। पाणिनि ने निकाय के विषय मे लिखा है कि यह उस प्रकार का संघ था जिसमे ऊँच और नीच (औत्तराधर्य) का भेद नही होता था (संघे चानोत्तराधर्ये ३।३।४२)। इस प्रकार का सघ धार्मिक सघ था, जिसके सब सदस्य परस्पर समानता के व्यवहार से बरतते थे। वस्तुतः धार्मिक सघों की प्रथा पाणिनि के पूर्वयुग में अति सुविदित और लोकव्यापी थी। अनेक धार्मिक आचार्य और प्रचारक अपने अपने संघ और गण की दृष्टि से संघिनः गणिन' कहलाते थे। जो जैसा

प्रचार करता या जिसका जैसा व्यक्तित्व होता, उसी के अनुरूप उसके अधीन छोटे बड़े संघ बन जाते थे। अष्टाध्यायी मे सघ शब्द का तीसरा अर्थ गणवाची है (संघोद्घौ गण प्रशंसयो;, ३।३।८६)। यह राजनैतिक सघ था, जो अधिकाश में गण नाम से प्रसिद्ध होता था। इस अर्थ मे संघ और गण दोनो पर्यायवाची थे। पाणिनि ने यौधेयो को संघ कहा है (५।३।११७), किन्तु उनके अपने सिक्को पर उन्हे गण कहा गया है। अवश्य ही ये सिक्के उन यौधेयो के हैं, जो पाणिनि से लगभग ४०० वर्ष बाद सक्रिय और सुसंगठित थे। उनकी गण पद्धति में कोई अन्तर न पडा था।

निकाय—पाणिनि ने जिस धार्मिक सघ को निकाय कहा है, उसका राजनैतिक सघ से पूरा मेल था, केवल एक बात मे भेद था। वह यह कि राजनैतिक सघो मे शासन-सत्ता कुछ ही परिगणित कुलो मे केन्द्रित होती थी, जिनका अभिषेक मंगल किया जाता था और जो इस कारण अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय या राजन्य कहलाते थे। गण मे दूसरी जाति के लोगो को शासन सत्ता का अधिकार न था। जाति परक यह भेद धार्मिक सघ मे बिलकुल न था। वह समानता के आधार पर सगठित होता था।

संघ शासन, राजन्य—एकराज जनपद का अधिपति भी राजा कहलाता था, एवं सघ शासन के अन्तर्गत प्रभुसत्ता या ऐश्वर्य सम्पन्न जितने कुल थे, उन कुलो के प्रतिनिधि भी राजा कहलाते थे। लिच्छवियो के ७७०७ कुलो मे हर एक का प्रतिनिधि 'राजा' पदवी धारण करता था—एकैक एव मन्यते अहं राजा अहं राजेति (ललित विस्तर)। इसी राजा पदवी के आधार पर कौटिल्य ने सघो को राज शब्दोपजीवी कहा है, अर्थात् जिनके सदस्य राजा का विरुद धारण करते थे (अर्थ० ११।१)। प्रत्येक 'राजा' या कुल के प्रतिनिधि क्षत्रिय को गण के ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता मे समान अधिकार प्राप्त था। पीढी दर पीढी सतर्कतापूर्वक उस अधिकार की रक्षा की जाती थी। लिच्छवियो के वैशाली नगर में गण के अन्तर्गत राजाओ के जितने कुल थे, उनके अभिषेक का जल एक विशेष पुष्करिणी या कुण्ड से लिया जाता था, जिसे मंगल पुष्करिणी कहते थे (वेशाली नगरे गणराज कुलानां अभिसेक मङ्गल पोक्खरणी, जातक ४।१४८)। उस पुष्करिणी का जल राज्य के ऐश्वर्य का प्रतीक था। अतएव जिन कुलो में प्रभु सत्ता परिनिष्ठित थी, उन्हे ही मगल पुष्करिणी से अभिषेक के लिये जल पाने का अधिकार प्राप्त होता था।

यह अभिषेक किस अवसर पर किया जाता था, इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार है। प्रत्येक कुल मे उस कुल का वृद्ध या बडा-बूढा ही मूर्धाभिषिक्त होता था। यह मूर्धाभिषेक महत्वपूर्ण प्रथा थी। कुल वृद्ध पिता के अनन्तर उसके पुत्र का मूर्धाभिषेक बड़े समारोहपूर्वक किया जाता था। आज कल की भाषा मे इस लोक प्रथा को

पगड़ी बाधना कहते हैं। इस प्रकार कुल मे जिसका अभिषेक हुआ हो, वह मूर्धाभिषिक्त व्यक्ति कुल वृद्ध या अभिषिक्त वंश्य कहलाता था।

गण के अन्तर्गत राजाओ के जितने कुल या परिवार होते थे, उनके क्षत्रिय अपत्यो के लिये राजन्य यह पारिभाषिक सज्ञा थी। पाणिनि ने राजश्वशुराद्यत् (४।१।१३७) सूत्र में राजा के अपत्य अर्थ में राजन्य शब्द सिद्ध किया है। उस पर कात्यायन का वचन है कि राजन्य शब्द मे केवल क्षत्रिय अपत्य का ही ग्रहण होता था। इस सूचना को पाणिनि के राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे अन्धकवृष्णिषु (६।२।३४) इस सूत्र के साथ मिलाकर देखें तो राजन्य शब्द के अर्थ की पूरी व्यंजना स्पष्ट हो जाती है। इस सूत्र की व्याख्या मे काशिका ने स्पष्ट लिखा है—राजन्य ग्रहणमिह अभिषिक्त वश्याना क्षत्रियाणा गहणार्थम्, अर्थात् अन्धक वृष्णि संघ के अन्तर्गत जो अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय थे, उन्ही का यहाँ राजन्य शब्द से ग्रहण किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जनपदो के जो मूल सस्थापक क्षत्रिय थे, जिनके नाम से जनपदो का नामकरण हुआ था (जनपद समानशब्द क्षत्रिय), जिनके वंशजो या परिवारो या कुलो में राजसत्ता का अधिकार पीढ़ी दरपीढी सुरक्षित रहता था, वे ही अभिषिक्त वंश्य क्षत्रिय होते थे और उन्ही के लिये राजन्य यह उपाधि प्रयुक्त होती थी। एकराज जनपद मे इस प्रकार का व्यक्ति केवल एक अर्थात् स्वय राजा ही हो सकता था, किन्तु गणाधीन संघो में इस प्रकार के मूर्धाभिषिक्त क्षत्रियो के बहुसख्यक परिगणित परिवार होते थे, जो गण-राज-कुल कहलाते थे। उन्ही के समूह के लिये कुलसख्या शब्द भी था।

कुल और पारमेष्ठ्य शासन—गण शासन की इकाई कुल या परिवार थी। ये कुल वे ही थे जो गणराजकुल इस प्रतिष्ठित संज्ञा के अधिकारी होते थे। महाभारत में उल्लेख है कि ये कुल एक दूसरे की तुलना मे समानाधिकार रखते थे—जात्या च सदृशा: सर्वे कुलेन सदृशास्तथा (शान्तिपर्व १०८।३०), अर्थात् सब मूर्धाभिषिक्त क्षत्रिय जन्म और कुल इन दोनो बातो में एक दूसरे के सर्वथा समान होते थे, कोई किसी प्रकार की विशिष्टता का दावा न कर सकता था। कौटिल्य ने भी सघ का आधार कुलो को ही माना है। महाभारत सभापर्व मे (१४।२-६) साम्राज्य शासन पद्धति और कुल के आधारपर संगठित गणशासन पद्धति के भेद और तारतम्य का मौलिक विवेचन किया गया है। वहाँ संघपद्धति के लिये पारमेष्ठ्य शब्द का प्रयोग हुआ है। पारमेष्ठ्य और श्रैष्ठ्य ये दोनों पारिभाषिक शब्द थे, जिनका प्रयोग ऐतरेय ब्राह्मण की उस सूची मे आता है, जहाँ ऐन्द्र महाभिषेक के अन्तर्गत स्वाराज्य, भौज्य, वैराज्य, साम्राज्य, पारमेष्ठ्य आदि पद्धतियो का नामोल्लेख किया गया है। महाभारत के इस प्रकरण में पारमेष्ठ्य राज्य की निम्नलिखित विशेषताएँ कही गई हैं—

(१) पारमेष्ठ्य शासन मे प्रत्येक गृह या कुल मे राजा होते हैं और वे अपने अपने कुल का प्रिय या स्वार्थ सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं (गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकरा.)।

(२) साम्राज्य पद्धति सबको हडपकर सारा अधिकार एक व्यक्ति मे केन्द्रित कर देती (सम्राट् शब्दो हि कृत्स्नभाक्)। गणो की भावना इसके ठीक विपरीत होती है, वे शक्ति के एकत्र केन्द्रित होने के अभ्यस्त नही होते (न च साम्राज्यमाप्तास्ते)।

(३) पारमेष्ठ्य शासन मे सब लोग दूसरे के अनुभाव या व्यक्तिगरिमा को स्वीकार करते हैं (परानुभावज्ञ) और मेलजोल से व्यवहार करते हैं (परेण समवेत.)। वे स्वयं अपनी प्रशसा नही करते, जैसे साम्राज्यवादी किया करते हैं।

(४) गणराज्य मे जनपद की विशाल भूमि दूर दूर तक अनेक प्रकार के रत्नो से और जीवन के कल्याणो से भरी पुरी रहती है। इसके विपरीत साम्राज्य में सब कुछ सम्राट् के राजकुल या राजधानी मे सचित होकर रह जाता है (विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्न समाचिता। दूरंगत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णि कुलोद्वह)।

(५) पारमेष्ठ्य शासन मे शम या शान्ति शासन का आधार होती है। जो लोग यह कहते हैं कि शम केवल मोक्षमार्ग से प्राप्त होता है, उनका कहना यथार्थ नही। राज्यशासन मे भी यदि पारमेष्ठ्य आदर्श स्वीकार किया जाय और साम्राज्य मनोवृत्ति को छोड दिया जाय तो शम की प्राप्ति संभव है (शममेव परं मन्ये न तु मोक्षाद् भवेत शम)। साम्राज्य का मूल बल है, पारमेष्ठ्य का शम। तस्मादेतद् बलादेव साम्राज्यं कुरुतेऽद्य सः)।

यह निश्चित है कि आरम्भ अर्थात् सैनिक पराक्रम से पारमेष्ठ्य आदर्श की प्राप्ति नही हो सकती (आरभे पारमेष्ठ्य तु न प्राप्य मिति मे मति)।

(६) पारमेष्ठ्य शासन मे कभी कोई श्रेष्ठ होता है, कभी कोई (कश्चित् कदाचिदेतेषा भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन), अर्थात् कुलो की शासन प्रणाली मे चुनाव के द्वारा श्रेष्ठता या परमता कभी किसी के पास चली जाती है, कभी किसी के पास (सभापर्व १४।६)

ऊपर का विवेचन मार्मिक है। मगध के जिस साम्राज्यवाद ने गणो को समाप्त किया, उसी को तोडने के लिए जरासध वध के विषय मे कृष्ण युधिष्ठिर के परामर्श की भूमिका रूप में पारमेष्ठ्य शासन के विषय में यह कहा गया है। कुलो के आधार पर सगठित पारमेष्ठ्य पद्धति ही गण या संघ पद्धति थी। कुलसंस्था पाणिनि के कितने ही उन सूत्रो को समझने की कुजी है, जिनमे गोत्रापत्य और युवापत्यवाची शब्दो के निर्माण के नियम बताए गए हैं। उस प्रकरण मे पाणिनि ने ऋषिगोत्रो के अतिरिक्त लोक मे प्रसिद्ध क्षत्रियवाची अथवा जातिवाची कुलों के

गोत्रापत्यो का भी उल्लेख किया है। उदाहरण के लिये पहले सूत्र में ही (गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ४।१।९८) कुञ्ज और ब्रध्न नाम ऋषि गोत्रो की सूची में न होने के कारण लौकिक थे। वस्तुत: समाज एव शासन दोनो का मूलाधार कुलसस्था थी। कुल का प्रतिनिधि कुलवृद्ध कहलाता था (शान्ति० १०८।२७)। पाणिनि ने भी उसे वृद्ध कहा है (वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चेदेव विशेष., १।२।६५; वृद्धशब्द पूर्वाचार्यसज्ञा गोत्रस्य, काशिका; और भी काशिका ४।१।१६६, अपत्यमन्तर्हित वृद्धमिति शास्त्रान्तरे परिभाषणात् गोत्र वृद्धमुत्युच्यते; कात्यायन ४।१।९० वा० ५; भाष्य १।२।६८)। कुलवृद्ध के लिये ही पाणिनि मे गोत्र शब्द था। इसके अनुसार गोत्रकृत् अर्थात् परिवार के मूल सस्थापक और उसके अनन्तरापत्य अर्थात पुत्र के अतिरिक्त पौत्र प्रभृति सब अपत्य गोत्र कहलाते थे। व्यवहार मे बात ऐसी थी कि एक परिवार मे उस समय जो कुलवृद्ध होता था, वही गोत्र था। गोत्रवाचक जिन प्रत्ययों का विधान किया गया है, उनके अनुसार उसका नाम पडता था। उसी को पाणिनि ने वंश्य भी कहा है (जीवति तु वश्ये युवा ४।१।१६३)। उसके अतिरिक्त अन्य व्यक्ति युवा कहलाते थे। उदाहरण के लिये गोत्रकृत् गर्ग; उसका पुत्र गार्गि उसका पौत्र (गोत्रापत्य) गार्ग्य, एव प्रपौत्र (युवापत्य) गार्ग्यायण कहलाता था। गार्ग्य के जीवन काल मे गार्ग्यायण उस कुल का प्रतिनिधि नही हो सकता था। इस प्रथा की सामाजिक पृष्ठभूमि और महत्त्व के विषय मे पहले लिखा जा चुका है। राजनैतिक क्षेत्र मे भी गोत्र और युव सज्ञक नामो का उतना ही महत्त्व था। गार्ग्य के बाद गार्ग्यायण गार्ग्य बन जाता था, इस क्रम से गण राजकुलो मे ऐश्वर्य या प्रभुसत्ता की परम्परा पीढी दर पीढी चलती थी।

संघ शासन के अनेक प्रकार—अष्टाध्यायी की सामग्री से संघों के संविधान की तरल अवस्था का जैसा परिचय प्राप्त होता है, वैसा अन्यत्र नही। उस समय वाहीक एवं उत्तर पश्चिमी प्रदेश मे नाना-प्रकार के सघराज्य थे, जिनमे शासन की अनेक कोटियाँ थीं। कुछ तो बहुत ही उन्नत श्रेणी के सघ थे जिनमे सभा, परिषत्, सघ-मुख्य, वर्ग, अङ्क, लक्षण आदि सघ शासन की प्रमुख विशेषताओ का विकास हो चुका था। कुछ संघ अभी विकास की आरम्भिक अवस्था मे थे। कुछ उत्सेध जीवी या लूट-मार करके आत्मनिर्वाह करनेवाले कबीलो ने अपना एक मुखिया चुनकर किसी प्रकार सघशासन का शिथिल सा सगठन खडा कर लिया था। इनमे भी व्रात और पूग जैसी कई कोटियाँ थी। इस प्रकार की आयुधजीवी जातियो का राजनैतिक सगठन श्रेणि भी कहलाता था। कितनी सरलता या स्वाभाविकता से नए सङ्घो का सङ्गठन हो जाता था, यह बात सावित्रीपुत्रो के उदाहरणो से ज्ञात होती है। सावित्री-सत्यवान् की जो सतति हुई, उसके सौ कुटुम्ब (पुत्रशत) जब हो गए, तो उन्होने अपने आपको सावित्री पुत्रक नामक संघ के रूप में सगठित कर लिया। उनमे से प्रत्येक अपने आपको

राजा की पदवी से विभूषित करता था, जैसी कि गणराज कुलो की प्रथा थी (वनपर्व २९७।५८; कर्णपर्व ५।४९; पाणिनि का दामन्यादिगण ५।३।११६) ।

श्रेणियो के एककृत सगठन—आयुधजीवी सघोके विषय मे विस्तार से अगले प्रकरण में विचार किया जायगा । यहां कुछ उन शब्दो की ओर ध्यान दिलाया जाता है, जो श्रेणियो के सविधान की विभिन्न कोटियो के वाचक थे । उनका उल्लेख एकमात्र अष्टाध्यायी मे सौभाग्य से बचा रह गया है । यह उल्लेखनीय है कि यूनान के पुर-राज्यो मे भी सविधान की ऐसी ही तरल अवस्था थी । राजनैतिक घटनाओ के दबाव से वे पुरराज्य जो पडोसी होते या जिनका परस्पर अन्य किसी प्रकार का संबन्ध होता था, आपस मे मिल जाते थे और बडी सस्था का निर्माण कर लेते थे । परिणाम स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार के संमिलित संघ अस्तित्व मे आ गए । सर्वत्र ही संमिलन का अनिवार्य आधार यह होता था कि दोनो राज्य मिलकर समान सविधान मान लेते थे । इस प्रकार के सम्मिलित सविधान को सिमपालिटी (Sympolity) कहा गया है जिसका अर्थ ठीक वही है जो पाणिनि के 'एककृता.' (श्रेण्यादि गण, २।१। ५९) का था ।

यूनानी पुरराज्यो मे 'एककृत' सविधानो के इतने प्रकार और कोटियाँ हैं कि उनकी ठीक परिभाषा या उनके लिये यथार्थ नाम का चुनाव कठिन समस्या बन जाती है । पाणिनि के युग में इस प्रकार के जो अनेक भेद उपभेद थे, उनका संग्रह आचार्य ने श्रेण्यादय. कृतादिभिः सूत्र मे कर दिया है ।

श्रेणि शब्द के दो अर्थ थे । एक तो शिल्पियो की औद्योगिक संस्थाएं या संगठन श्रेणि कहलाते थे । प्राचीन काल मे अट्ठारह श्रेणियो की गणना की जाती थी । दूसरे सघो के राजनैतिक सगठन को भी श्रेणी कहते थे, जैसा कि कौटिल्य ने छह प्रकार की सेना के अन्तर्गत श्रेणिबल अर्थात् आयुधीय श्रेणियो की सेना का—इस प्रयोग में उल्लेख किया है (९।२) । अर्थशास्त्र मे काम्भोज, सुराष्ट्र आदि को शस्त्रोपजीवी क्षत्रिय श्रेणि कहा है (११।१) । महाभारत मे भी श्रेणि शब्द का इस अर्थ मे कई बार प्रयोग हुआ है । सूत्र गत श्रेणि शब्द के तुरन्त बाद एक और पूग इन दो पारिभाषिक शब्दो का गण मे उल्लेख है । ये तीनो तीन प्रकार की शासन प्रणालियाँ थी । श्रेणि सघ का और 'एक' राजतन्त्र का वाचक था । पूग विकास की आरभिक दशा मे रहनेवाली जगली जातियो का वाचक था । इन तीनो के शासन के भेदोपभेद कृतादि गण के शब्दो द्वारा अभिव्यक्त किए गए हैं । श्रेणि से सबन्धित विधान कोटियाँ और प्रकार ये थे—

(१) श्रेणि-कृता:—परिस्थिति की अनिवार्यतावश जो बिखरी हुई अवस्था छोड कर श्रेणि रूप में सगठित हो गए हो ।

(२) श्रेणि-मिता'—वे जन या कबीले जिन्होने परिमित रूप मे श्रेणि का सैनिक सगठन स्वीकार कर लिया हो।

(३) श्रेणि-मता:—श्रेणियो का सगठन, जिसे स्वेच्छा से अपनी अपनी श्रेणि व्यवस्था को कायम रखते हुए स्वीकार किया हो।

(४) श्रेणि-भूता —ऐसे कबीले जो पूरी तरह से मिलकर एक श्रेणि के रूप मे संगठित हो गए हो।

(५) श्रेणि-उक्ता —ऐसे दो समुदाय जो कहने मात्र के लिये एक श्रेणि के रूप में सयुक्त हो गए हो अन्यथा जिनकी सत्ता सर्वथा पृथक् हो।

(६) श्रेणि-समाज्ञाता —सभवत' दो श्रेणियो के बीच मे इस प्रकार का समझौता जिसके द्वारा वे अपने कुछ विशिष्ट अधिकारी जैसे महत्तर आदि को दोनों के लिये समान रूप से स्वीकार कर लेते थे। यूनानी पुरराज्यो मे भी कई नगर मिलकर महत्तर या मजिस्ट्रेट स्वीकार समान रूप से कर लेते थे।

(७) श्रेणि-समाम्नाता'—कई जनपदो को एक मे मिलाकर ऐसी श्रेणि का निर्माण जिसमे किसी का एक भाग और किसी का अन्य भाग सयुक्त किया गया हो।

(८) श्रेणि-समाख्याता.—दो श्रेणियो का अभिन्न रूप से एक मे मिल जाना या परस्पर सबन्धित हो जाना।

(९) श्रेणि-सम्भाविता.—अपनी अपनी जन-सख्या को एक दूसरे के साथ सम्मिलन या परिवर्तन करके जो श्रेणियाँ एक मे ग्रथित हो गई हो। पुरराज्यो मे इसे समानौकस् स्थिति (Synoecism) कहते थे।

(१०) श्रेणि-अवधारिता —वे श्रेणियाँ जो कुछ निर्धारित बातो मे ही सयुक्त या सहग्रथित हुई हो।

(११) श्रेणि-निराकृता:—इस प्रकार की श्रेणियाँ जो पहले संयुक्त थी, पर अब सगठित संघ से पृथक् हो गई हो।

(१२) श्रेणि-अवकल्पिता —इस प्रकार की श्रेणियाँ जो अपनी आयुधीय शक्ति या सैनिक बल के आधार पर एक दूसरे के साथ सयुक्त होने की स्थिति मे हो।

(१३) श्रेणि-उपकृता —दो श्रेणियो का सम्मिलन, जिसमे एक छोटा जनपद बड़े जनपद के साथ सयुक्त हुआ हो और इस प्रबन्ध द्वारा वह किन्ही अंशो में लाभान्वित हुआ हो।

(१४) श्रेणि-उपाकृता —ऐसी दो श्रेणियाँ जो किसी पडोसी राजशक्ति के आतक से परस्पर सयुक्त होने या शासनगत सान्निध्य के लिये बाध्य हुई हो।

इन शब्दो के जो अर्थ दिए गए हैं, वे सभावित है। किन्तु भाषा मे शब्दो का अस्तित्व सूचित करता है कि उनके अर्थो के अनुरूप सस्थाओ का अस्तित्व लोक मे था। सभव है भविष्य मे प्राचीन साहित्यिक सामग्री के सूक्ष्म अध्ययन से इन पर

अधिक प्रकाश डाला जा सके। इसी प्रकार पूगसंज्ञक संघों के शासन से संबन्धित निम्नलिखित शब्दावली श्रेण्यादिगण से प्राप्त होती है—

(१) पूग-कृत, (२) पूग-मित, (३) पूग-मत, (४) पूग-भूत, (५) पूग-उक्त, (६) पूग-समाज्ञात, (७) पूग-समाम्नात, (८) पूग-समाख्यात, (९) पूग-सभावित, (१०) पूग-अवधारित, (११) पूग-निराकृत, (१२) पूग-अवकल्पित (१३) पूग-उपकृत, (१४) पूग-उपाकृत।

एक-शासन से सम्बन्धित निम्नलिखित शब्दावली भी प्राप्त होती है—(१) एक कृत, (२) एक-मित, (३) एक-मत, (४) एक-भूत, (५) एक उक्त, (६) एक-समाज्ञात, (७) एक-समाम्नात, (८) एक-समाख्यात, (९) एक-सभावित, (१०) एक-अवधारित, (११) एक-निराकृत, (१२) एक-अवकल्पित, (१३) एक-उपकृत, (१४) एक-उपाकृत।

इन उदाहरणों से यह कल्पना होती है कि संघ राजनैतिक शासन की महती प्रयोगशालाएँ थी। उनके स्वरूप, संविधान, शासन, सैनिक सङ्गठन, परस्पर संबन्ध एवं नागरिक जीवन के कितने विभिन्न प्रकार थे, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। सभी संघ आदर्श से प्रेरित और अनुप्राणित थे और उस आदर्श की मर्यादा के भीतर अनेक प्रकार के शासन रूपों का विकास कर रहे थे। एक अभिव्यंजक उदाहरण व्याकरण साहित्य से प्राप्त होता है। क्षुद्रक और मालव वाहीक देश के दो प्रसिद्ध गणराज्य थे। दोनों की स्वतन्त्र राजनैतिक सत्ता और पृथक् भौगोलिक स्थिति थी। दोनों ने स्वेच्छा से आत्महित के लिये समझौता किया था कि युद्ध के समय उनकी सेनाएँ समान नेतृत्व में लड़ेंगी। इस संयुक्त सेना की संज्ञा क्षौद्रकमालवी सेना थी (क्षुद्रकमालवात् सेना संज्ञायाम् गणसूत्र, खण्डिका दिभ्यश्च ४।२।४५) सिकन्दर के आक्रमण के समय वह अवसर आया कि जब समान शत्रु से प्रतिरोध लेने के लिये दोनों संघों की सेना युद्ध-भूमि में साथ उतरती। किन्तु कहा जाता है कि सेनापति के चुनाव के सम्बन्ध में मतभेद हो जाने से वैसा न हो सका और मालवों से पृथक् क्षुद्रकों ने आक्रमणकारी का सामना किया (तुलना कीजिए, एकाकिभि क्षुद्रकैं जितम्।)

अवयव—सूत्र ४।१।१७३ में पाणिनि ने एक प्रकार की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख किया है, जिसे अवयव कहते थे। शाल्व जनपद के छह अवयव थे—उदुम्बर तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भूलिंग और शरदण्ड। पतञ्जलि के अनुसार अजमीढ, अजक्रन्द और बुध भी साल्वावयव थे (भाष्य ४।१।१७०)। इन स्थानों की पहचान पहले ही की जा चुकी है। (पृ० ७२–७३)। उससे ज्ञात होता है कि साल्व जनपद के अवयव उत्तरी राजस्थान से लेकर कांगड़ा के पठानकोट तक फैले हुए थे। बीच बीच में और जनपदों के आ जाने के कारण भौगोलिक दृष्टि से वे लगातार बसे

(२) श्रेणि-मिता'—वे जन या कबीले जिन्होने परिमित रूप मे श्रेणि का सैनिक सगठन स्वीकार कर लिया हो।

(३) श्रेणि-मता:—श्रेणियो का सगठन, जिसे स्वेच्छा से अपनी अपनी श्रेणि व्यवस्था को कायम रखते हुए स्वीकार किया हो।

(४) श्रेणि-भूता'—ऐसे कबीले जो पूरी तरह से मिलकर एक श्रेणि के रूप में संगठित हो गए हो।

(५) श्रेणि-उक्ता —ऐसे दो समुदाय जो कहने मात्र के लिये एक श्रेणि के रूप में सयुक्त हो गए हो अन्यथा जिनकी सत्ता सवथा पृथक् हो।

(६) श्रेणि-समाज्ञाता.—सभवत. दो श्रेणियो के बीच मे इस प्रकार का समझौता जिसके द्वारा वे अपने कुछ विशिष्ट अधिकारी जैसे महत्तर आदि को दोनो के लिये समान रूप से स्वीकार कर लेते थे। यूनानी पुरराज्यो मे भी कई नगर मिलकर महत्तर या मजिस्ट्रेट स्वीकार समान रूप से कर लेते थे।

(७) श्रेणि-समाम्नाता.—कई जनपदो को एक मे मिलाकर ऐसी श्रेणि का निर्माण जिसमे किसी का एक भाग और किसी का अन्य भाग सयुक्त किया गया हो।

(८) श्रेणि-समाख्याता.—दो श्रेणियो का अभिन्न रूप से एक मे मिल जाना या परस्पर सबन्धित हो जाना।

(९) श्रेणि-सम्भाविता —अपनी अपनी जन-सख्या को एक दूसरे के साथ सम्मिलन या परिवर्तन करके जो श्रेणियाँ एक मे ग्रथित हो गई हो। पुरराज्यो मे इसे समानौकस् स्थिति (Synoecism) कहते थे।

(१०) श्रेणि-अवधारिता —वे श्रेणियाँ जो कुछ निर्धारित बातो मे ही सयुक्त या सहग्रथित हुई हो।

(११) श्रेणि-निराकृता:—इस प्रकार की श्रेणियाँ जो पहले संयुक्त थी, पर अब सगठित सघ से पृथक् हो गई हो।

(१२) श्रेणि-अवकल्पिता'—इस प्रकार की श्रेणियाँ जो अपनी आयुधीय शक्ति या सैनिक बल के आधार पर एक दूसरे के साथ सयुक्त होने की स्थिति मे हो।

(१३) श्रेणि-उपकृता.—दो श्रेणियो का सम्मिलन, जिसमे एक छोटा जनपद बड़े जनपद के साथ सयुक्त हुआ हो और इस प्रबन्ध द्वारा वह किन्ही अशो में लाभान्वित हुआ हो।

(१४) श्रेणि-उपाकृता'—ऐसी दो श्रेणियाँ जो किसी पडोसी राजशक्ति के आतक से परस्पर सयुक्त होने या शासनगत सान्निध्य के लिये बाध्य हुई हो।

इन शब्दो के जो अर्थ दिए गए हैं, वे सभावित हैं। किन्तु भाषा मे शब्दो का अस्तित्व सूचित करता है कि उनके अर्थों के अनुरूप सस्थाओ का अस्तित्व लोक मे था। सभव है भविष्य में प्राचीन साहित्यिक सामग्री के सूक्ष्म अध्ययन से इन पर

अधिक प्रकाश डाला जा सके। इसी प्रकार पूगसञ्ज्ञक सघो के शासन से सबन्धित निम्नलिखित शब्दावली श्रेण्यादिगण से प्राप्त होती है—

(१) पूग-कृत, (२) पूग-मित, (३) पूग-मत, (४) पूग-भूत, (५) पुग-उक्त, (६) पूग-समाज्ञात, (७) पूग-समाम्नात, (८) पूग-समाख्यात, (९) पूग-सभावित, (१०) पूग-अवधारित (११) पूग-निराकृत, (१२) पूग-अवकल्पित (१३) पूग-उपकृत, (१४) पूग-उपाकृत।

एक-शासन से सम्बन्धित निम्नलिखित शब्दावली भी प्राप्त होती है—(१) एक कृत, (२) एक-मित, (३) एक-मत, (४) एक-भूत, (५) एक उक्त, (६) एक-समाज्ञात, (७) एक-समाम्नात, (८) एक-समाख्यात, (९) एक-सभावित, (१०) एक-अवधारित, (११) एक-निराकृत, (१२) एक-अवकल्पित, (१३) एक-उपकृत, (१४) एक-उपाकृत।

इन उदाहरणो से यह कल्पना होती है कि संघ राजनैतिक शासन की महती प्रयोगशालाएँ थी। उनके स्वरूप, संविधान, शासन, सैनिक सङ्गठन, परस्पर संबन्ध एवं नागरिक जीवन के कितने विभिन्न प्रकार थे, इसका केवल अनुमान किया जा सकता है। सभी सघ आदर्श से प्रेरित और अनुप्राणित थे और उस आदर्श की मर्यादा के भीतर अनेक प्रकार के शासन रूपो का विकास कर रहे थे। एक अभि-व्यंजक उदाहरण व्याकरण साहित्य से प्राप्त होता है। क्षुद्रक और मालव वाहीक देश के दो प्रसिद्ध गणराज्य थे। दोनो की स्वतन्त्र राजनैतिक सत्ता और पृथक् भौगोलिक स्थिति थी। दोनो ने स्वेच्छा से आत्महित के लिये समझौता किया था कि युद्ध के समय उनकी सेनाएँ समान नेतृत्व मे लडेंगी। इस संयुक्त सेना की संज्ञा क्षौद्रकमालवी सेना थी (क्षुद्रकमालवात् सेना संज्ञायाम् गणसूत्र, खण्डिका दिभ्यश्च ४।२।४५) सिकन्दर के आक्रमण के समय वह अवसर आया कि जब समान शत्रु से प्रतिरोध लेने के लिये दोनो सघो की सेना युद्ध-भूमि मे साथ उतरती। किन्तु कहा जाता है कि सेनापति के चुनाव के सम्बन्ध मे मतभेद हो जाने से वैसा न हो सका और मालवो से पृथक् क्षुद्रको ने आक्रमणकारी का सामना किया (तुलना कीजिए, एकाकिभि क्षुद्रकै जितम्।)

अवयव—सूत्र ४।१।१७३ मे पाणिनि ने एक प्रकार की राजनैतिक स्थिति का उल्लेख किया है, जिसे अवयव कहते थे। शाल्व जनपद के छह अवयव थे—उदुम्बर तिलखल, मद्रकार, युगन्धर, भूलिंग और शरदण्ड। पतञ्जलि के अनुसार अजमीढ, अजक्रन्द और बुध भी साल्वावयव थे (भाष्य ४।१।१७०)। इन स्थानो की पहचान पहले ही की जा चुकी है। (पृ० ७२–७३)। उससे ज्ञात होता है कि साल्व जन-पद के अवयव उत्तरी राजस्थान से लेकर कागड़ा के पठानकोट तक फैले हुए थे। बीच बीच मे और जनपदो के आ जाने के कारण भौगोलिक दृष्टि से वे लगातार बसे

हुए नही थे। किन्तु राजनैतिक दृष्टि से सब अपने को साल्व जनपद के शासन के अन्तर्गत अथवा किसी प्रकार सबन्धित मानते थे। उदुम्बर के साल्व क्षत्रिय तिलखल के साल्व क्षत्रिय, युगन्धर के साल्व क्षत्रिय, इस प्रकार की व्यवस्था की पृष्ठभूमि से यह ज्ञात होता है कि साल्व क्षत्रियों की सैनिक टुकडियो ने अपने मूल सस्थान से इन-इन प्रदेशो मे फैलकर वहाँ-वहाँ उपनिवेश बसा लिए थे और स्थानीय जनता पर शासन करने लगे थे। प्राचीन यूनानी पुरराज्यो के एक प्रकार के संविधान से इस स्थिति की संभावना पर प्रकाश पडता है। वहाँ एथेन्स के पुरराज्य मे ऐसी प्रथा थी कि वहाँ के आक्रान्ता सैनिक अन्य पुरराज्यो की भूमि पर सहस्रो की सख्या मे जा बसते थे और उस-उस नाम से पुकारे जाते थे, जैसे इम्ब्रो या माइन्रो के अथीनीय लोग (ग्लॉत्स, वही पृ० २८२)।

भक्ति—ऊपर जनपदो की जिस भक्ति या नागरिकता सम्बन्ध का उल्लेख किया है (सूत्र ४।३।१००, जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जानपदेन समान शब्दानां बहुवचने) वह संघो के लिये भी चरितार्थ होती थी। उदाहरण के लिये वृजि संघ के प्रति भक्ति जिसमे थी वह वृजिक कहलाता था। यह उल्लेखनीय है कि पाणिनि ने भक्ति शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। देवता की भक्ति, जनपद की भक्ति, संघ की भक्ति, नगर की भक्ति, गोत्र की भक्ति, क्षत्रिय विशेष की भक्ति, यहाँ तक कि मालपुआ, खीर आदि खाद्य पदार्थों के प्रति अभिरुचि को भी भक्ति के अन्तर्गत लिया गया है। काशिका ने लिखा है—भज्यते सेव्यते इति भक्ति'। यहाँ कर्मवाच्य में प्रत्यय है। जनपद आदि की भक्ति राजनैतिक सम्बन्ध पर आधारित हो सकती थी और अनिवार्यत वही अर्थ यहाँ लेना आवश्यक है। नगर के प्रति नागरिकता का सम्बन्ध स्रौघ्न (स्रुघ्नः भक्तिरस्य), माथुर (मथुरा भक्ति रस्य) इन शब्दो से व्यक्त किया जाता था। सूत्र ६।२।१२ के उदाहरणो मे काशिका ने प्राच्यसप्तसम., गान्धारि सप्तसम. इन दो शब्दो का उल्लेख किया है, अर्थात् जो सात वर्ष के लिये प्राच्य अथवा सात वर्ष के लिये गान्धारि बन गया हो। भाव यह हुआ कि जिसने उक्त कालावधि के लिये उस जनपद मे निवास की अर्हता या अधिकार नियमत. प्राप्त कर लिया हो। अर्थ शास्त्र से ज्ञात होता है कि राजधानी या जनपद मे बाहर से आने वालो का लेखा-जोखा रखा जाता था और उन्हे मुद्राकित प्रमाण पत्र दिए जाते थे।

राजनैतिक दल या वर्ग—सघ के अन्तर्गत पृथक्-पृथक् दलो के सगठन की प्रथा थी। ऐसे दलो को पाणिनि ने द्वन्द्व कहा है। सत्ता प्राप्ति के लिये उनकी स्पर्धा और प्रतिद्वन्द्विता को व्युत्क्रमण कहा गया है (द्वन्द्व व्युत्क्रमणे, ८।१।१५)। 'द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ता.' का तात्पर्य हुआ कि सघ के सदस्य दल के रूप मे पृथक्-पृथक् अवस्थित हो गए हैं (व्युत्क्रमण भेद, पृथगवस्थानम्। द्विवर्गसम्बन्धेन पृथगवस्थिताः द्वन्द्व

व्युत्क्रान्ता इत्युच्यन्ते, काशिका)। पाणिनि ने तीन अन्य शब्दो का इसी अर्थ में और उल्लेख किया है। (१) वर्ग्य (४।३।५४), (२) गृह्य (३।१।११९), (३) पक्ष्य (३।१।११९), जैसे वासुदेववर्ग्याः, वासुदेवगृह्याः, वासुदेवपक्ष्याः; अर्थात् उस दल के सदस्य जिसके नेता वासुदेव थे। इसी प्रकार पतजलि ने सूत्र ४।२।१०४ वा० ११ की व्याख्या मे अक्रूर के दल का भी उल्लेख किया है, जिसके सदस्य अक्रूरवर्ग्याः कहलाते थे। आज कल की तरह उस समय भी सघो का यह स्वाभाविक नियम था कि दल का नाम नेता के नाम पर पड़ता था, जैसा कि वर्ग्यादयश्च (६।२।१३१) सूत्र से सूचित किया है। इसके अनुसार दल के सदस्य का वाचक उत्तरपद मे और नेता का नाम पूर्वपद मे प्रयुक्त होता था। वासुदेववर्ग्यः, वासुदेवपक्ष्यः उदाहरणो में वर्ग्य और पक्ष्य के वकार का स्वर उदात्त होता था। यह साभिप्राय है। सघ सभा के अधिवेशन मे किसी ज्ञप्ति या प्रस्ताव के समय जो मतदान या शलाका-ग्रहण किया जाता था, उस समय दल के नेता का महत्व उतना न था, जितना दल के सदस्य का। उस परिस्थिति मे ही वर्ग्य या पक्ष्य शब्द का आदि उदात्त उच्चारण सम्भव था। इसके विपरीत परम-वर्ग्य इस शब्द में परम पूर्वपद का आदि स्वर उदात्त होता था।

परमवर्ग्य—दल के सदस्यो मे जो परम वा दल का नेता होता था, वह परम वर्ग्य कहलाता था। इसमे परम शब्द पारिभाषिक है। सूत्र का यह प्रत्युदाहरण उसी प्रकार प्राचीन और मुर्धाभिषिक्त था, जिस प्रकार कि वासुदेववर्ग्य आदि उदाहरण। पारमेष्ठ्य नामक शासन प्रणाली में भी 'परम' पारिभाषिक रूप मे प्रयुक्त है। जैसा पहले कहा जा चुका है, पारमेष्ठ्य शासन कुलो के आधारपर चुनाव द्वारा सम्पन्न होनेवाली पद्धति थी, जिसमे कभी कोई श्रेष्ठ चुन लिया जाता था और कभी कोई (कश्चित् कदाचिदेतेषा भवेच् श्रेष्ठः, सभा १४।६)।

ऐतरेय ब्राह्मण मे श्रैष्ठ्य, अतिष्ठा और परमता इन तीन शब्दो का उल्लेख आया है।[१] तीनो ही उस समय की पारिभाषिक शब्दावली से लिए गए थे। उनके अर्थों में अवश्य ही भेद होना चाहिए। उपलब्ध सामग्री से इस पर प्रकाश की कुछ किरणें प्राप्त होती हैं। परमवर्ग्य (परमश्चासौ वर्ग्यश्च) शब्द से सूचित होता है कि दल के सब सदस्यो में जो सदस्य अगुआ चुना जाता था, वह उनमे परम कहलाता था। इस प्रकार एक ही दल के अन्तर्गत उसका नेतृत्व परमता पद की प्राप्ति हुई। किन्तु संघ के अन्तर्गत जितने भी कुल थे, उन सब कुलो मे जो सबका अधिपति चुन लिया जाता था, वह श्रेष्ठ कहलाता था, जैसा कि इस वाक्य से स्पष्ट है—एवमेवाभि जानन्ति कुले

---

१. स य इच्छेद् एववित् क्षत्रियोऽह सर्वा जितीर्जयेयम्, अहं सर्वाल्लोकान्, विन्देयम्, अहं सर्वेषा राज्ञा श्रैष्ठ्यम्, अतिष्ठा परमता गच्छेयम्, साम्राज्य भौज्य स्वाराज्य वैराज्य पारमेष्ठ्य, राज्य माहाराज्यमाधिपत्यम्, अह समन्तपर्यायी स्या सार्वभौम सार्वायुप आन्ताद् आपरार्धात् पृथिव्यै समुद्रपर्यन्ताया एकराडिति (ऐ० ८।१५)।

जाता मनस्विन । कश्चित् कदाचिदेतेषा भवेच् छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ यहाँ 'कुले जाता:' पद से गण के समस्त कुलों का ग्रहण है। सभी कुल मिलकर संघ के अधिपति का चुनाव करते थे। इस प्रकार एक वर्ग का नेता परम और गण का अतिपति श्रेष्ठ कहलाता था। अतिष्ठा का तात्पर्य दो पदों की समानता में एक की प्राथमिकता (प्रिसिडेन्स) से है। तुल्यबल की स्थिति में एक को अतिरिक्त या प्रथम मान देने की प्रथा थी, जैसे वासुदेव और अक्रूर दोनों अपने-अपने दल के परमवर्ग्य या नेता होने के कारण समानबल या पदवाले थे। ऐसे अवसर पर जहाँ दोनों उपस्थित हों वहाँ एक की प्राथमिकता का निश्चय 'अतिष्ठा' नियम के अनुसार हो सकता था। क्षुद्रक और मालव इन दोनों की सम्मिलित क्षौद्रक-माल्वी सेना के अपने-अपने सेनापति या नेताओं के पद समान थे। पर युद्ध के समय दो नेता या सेनापति नहीं हो सकते थे, अतएव दोनों का समझौता था कि एक बार क्षुद्रकों का सेनापति होगा तो दूसरी बार मालवों का। यही अतिष्ठा की स्थिति ज्ञात होती है।

वर्ग और समग्र—संघ के अन्तर्गत एक दल के लिये वर्ग और संपूर्ण सङ्घ के लिये समग्र ये पारिभाषिक शब्द थे। एक वर्ग के बहुमत से किया हुआ कार्य या निश्चय वर्ग संघकर्म एवं सर्वसम्मति से किया हुआ कार्य समग्र संघकर्म कहलाता था। बुद्ध ने कहा था कि जहाँ तक संभव हो संघ में वर्गकर्म को प्रोत्साहन न देना चाहिए। यथासम्भव सब निश्चय समग्र संघ की सम्मति से होने चाहिए (सुत्ता संघस्स सामग्गी' '''नेव भिक्खवे वग्गेन संघ कम्मं कातब्बम्, महावग्ग)।

व्याश्रय—सदस्यों का अपने अपने दल या पक्ष में विभक्त हो जाना व्याश्रय कहलाता था (नानापक्ष समाश्रयो व्याश्रयः काशिका)। इसके लिये भाषा में विशेष शब्द प्रयोग काम में आने लगा था, जिसका उल्लेख षष्ठ्या व्याश्रये (५।४।४८) सूत्र में है, जैसे देवा अर्जुनतोऽभवन्, आदित्या कर्णतोऽभवन्।

छन्द—मत के लिये छन्दस् प्राचीन पारिभाषिक शब्द था। तेलपत्तजातक में राजा के चुनाव का वर्णन करते हुए लिखा है—अथ सब्बे अमच्चा च नागरा च एकच्छन्दा हुत्वा (जातक १।३९९), अर्थात् तक्षशिला से सब नगरनिवासियों और अमात्यों ने सर्वसम्मति से बोधिसत्त्व को अपना राजा चुना। संघ के वे निश्चय जो मतदान से किए जाते थे, छन्दस्य कहलाते थे (छन्दसो निर्मिते ४।४।९३, इच्छा पर्याय श्छन्दःशब्द इह गृह्यते, काशिका)।

गणपूरण—गण, संघ, पूग इनके अधिवेशनों में नियत उपस्थिति का नियम था। न्यूनातिन्यून जितने सदस्यों की उपस्थिति होने पर संघ का अधिवेशन नियमित समझा जाता था, वह नियत उपस्थिति कहलाती थी। ऐसा व्यक्ति जिसके उपस्थित हो जाने से नियत संख्या की पूर्ति होती हो, उसके लिये भाषा में विशेष शब्द था, जैसे पूगस्य पूरण. पूगतिथः, गणस्य पूरण. गणतिथ., संघस्य पूरण. संघतिथः (बहु-

पूगगणसघस्य तिथुक् ५।२।५२ थे पूर्यतेऽनेनेति पूरणम् , येन संख्या संख्यानं पूर्यते सम्पद्यते, स तस्या पूरण:, काशिका ५।२।४८)। महावग्ग (३।३।६) मे जिसे गणपूरक कहा गया है, वही पाणिनि का गणपूरण या सघपूरण था। उदाहरण के लिये यदि किसी सघ या गण या पूग के अधिवेशन मे न्यूनतम उपस्थिति १०० मानी गई थी, तो गणपूरण या सघपूरण सदस्य का कर्तव्य था कि अपने अतिरिक्त ९९ सदस्यो को उपस्थित कराकर स्वय १०० की संख्या पूरी करनेवाला बने। इस प्रकार गणपूरण या गणतिथ उसी व्यक्ति की संज्ञा होती थी जिसे आजकल सचेतक (अ० ह्विप) कहते हैं।

अक और लक्षण—जैसा ४।३।१२७ सूत्र मे (सङ्घाङ्कलक्षणेष्वञ् यञिञामण्) कहा गया है प्रत्येक सघका अक और लक्षण होता था। लक्षण का तात्पर्य उस प्रतीक चिह्न से था जिसे सङ्घ अपनी मुद्रा, सिक्के या ध्वजा आदि के लिये चुन लेता था। इस प्रकार के अनेक लक्षण भारतीय सङ्घो एवं जनपदो के सिक्को पर पाए गए हैं। पाणिनि ने स्वयं उन लक्षणो का उल्लेख किया है, जो पशुओ की पहचान के लिये उनके कानो पर अंकित किए जाते थे। महाभारत मे योद्धाओ की ध्वजा पर अकित चिह्नो को लक्षण, लक्ष्म और रूप कहा है (द्रोणपर्व १०५।२, १०, २५।३०) दुर्योधन की गौओ के स्मारण मे लक्षण और अक पर्यायवाची हैं (वनपर्व २४०।५), पर पाणिनि ने लक्षण और अक मे भेद किया है। लक्षण शब्द आकृति या चिह्न के लिये था जिसे कालान्तर मे लाञ्छन भी कहने लगे। अंक वह नाम या वाक्य था, जो मुद्रा आदि पर लिखा जाता था जैसे यौधेय गण की मुद्राओ पर 'यौधेयगणस्य जय' अक था एव कुक्कुट के साथ शक्तिधर कुमार की मूर्ति या षण्मुखी षष्ठी की मूर्ति लक्षण था[1]। सूत्र ४।३।१२७ पर गार्ग सङ्घ:, गार्ग: अङ्क:, गार्गं लक्षणम् इन उदाहरणो से सूचित होता है कि प्रचलित सङ्घ आदर्श के अनुसार सङ्गठन एव उन्ही के जैसे बाह्य चिह्नो को स्वीकार कर लेने की प्रथा का समाज के प्रत्येक क्षेत्र मे व्यापक प्रचार हो गया था। गर्ग गोत्र एवं शाकल चरण जैसी सस्थाओ ने भी अपने आपको सङ्घरूप मे सङ्गठित कर लिया था एव उनके भी अक और लक्षण होते थे। कालान्तर मे यह प्रथा इतनी बढ़ी कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी मुद्रा के लिये अक और लक्षण का चुनाव करने लगा। ऐसी निजी नामाकित मुद्राए या मिट्टी की मुहरें कई सहस्र की सख्या मे मिली हैं, जो अधिकाश मे शुङ्गकाल से गुप्तकाल (ई० पू० २०० से ६०० ई० तक) की हैं।

जय—आद्युदात्त जयशब्द पारिभाषिक था (जय: करणम् , ६।१।२०२)। यह विजयार्थक दूसरे जय शब्द से भिन्न था, जिसमें अन्तोदात्त स्वर होता है। पहला जय शब्द 'मालवाना जय', 'यौधेयगणस्य जय.' आदि गणराज्यो के सिक्को पर

१. वर्तमान भारतीय मुद्रा पर सिंहाकित ध्वज लक्षण और 'सत्यमेव जयते' अंक है।

पाया जाता है। इसका संकेत था कि वह मुद्रा मालवगण की जय थी, अर्थात् उनके ऐश्वर्य की प्रतीक थी। जितने प्रदेश मे मालव गण की प्रभुसत्ता थी, वहा तक वह मुद्रा उनकी जय का चिह्न थी। मालवो के क्षेत्र मे केवल मालव ही सिक्को के रूप में जय के परम अधिकारी थे।

सघपरिषत्—परिषद्वलो राजा शब्द से सिद्ध होता है कि एकराज जनपदो में राजा के साथ उसकी परिषत् शासन का सञ्चालन करने के लिये होती थी। राजा और परिषद् के सम्मिलित अधिकार से शासन का सञ्चालन किया जाता था। प्रश्न है कि सघ शासन मे शासन की व्यवस्था किस प्रकार की थी। ऊपर संघसभा का उल्लेख हो चुका है, जिसमे समस्त कुलो के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर विचार करते थे। वास्तविक शासन के लिये सघमुख्य के अतिरिक्त एक छोटी संस्था की आवश्यकता थी। उसे परिषत् कहते थे। जिस प्रकार राजा शब्द का व्यवहार एकराज जनपद और गण दोनो मे होता था, उसी प्रकार परिषत् का भी। नच्च जातक मे सघ के अन्तर्गत परिषत् (परिसा) का उल्लेख आता है जो शासन सूत्र का सञ्चालन करने वाली छोटी समिति थी।

इस सम्बन्ध मे पाणिनि के दो सूत्रो पर विचार करना आवश्यक है—

(१) सख्यायाः सज्ञा सघसूत्राध्ययनेषु (५।१।५८)। पञ्चपरिमाणमस्य पञ्चक, सङ्घः, अष्टक सङ्घः।

(२) पञ्चद्दशतौ वर्गे वा (५।१।६०)। पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद्वर्गं, पञ्चको वर्गः; दशद्वर्ग दशको वर्गः।

इस प्रकार पञ्चक सङ्घ और पञ्चकवर्ग ये दो शब्द सामने आते हैं, जिनके अर्थों में अवश्य ही भेद रहा होगा। पतंजलि ने ५।१।५८ सूत्र के उदाहरण मे पञ्चक दशक विंशक सङ्घ अर्थात् ५, १० और २० सदस्यो वाले सङ्घो का उल्लेख किया है (भा० ५।१।५८)। ज्ञात होता है कि ५, १० या २० सदस्यो वाले सङ्घ का तात्पर्य सङ्घ के अन्तर्गत उसकी परिषत् के सदस्यो की संख्या से था। अन्तगडदसाओ में द्वारावती नगरी मे कृष्ण वासुदेव की अध्यक्षता मे दाशार्ह सङ्घ का वर्णन करते हुए समुद्र विजय प्रमुख दस सदस्यो का उल्लेख आता है (समुद्दविजय पामोक्खाणं दसण्ह दसाराण, अन्तगडदसाओ, वैद्य सस्करण, पृ० ४)। प्रसिद्ध है कि अन्धक वृष्णि सङ्घ के अन्तर्गत दाशार्ह क्षत्रियो की शाखा थी, जिसका नेता (प्रमुख) समुद्र विजय था और उसके दस मुख्य साथी थे। इसकी व्याख्या पाणिनि या पतजलि के दशक सङ्घ से होती है। उसी ग्रन्थ मे बलदेव प्रमुख पच महावीरो का उल्लेख है जो कि उसी सघ की वृष्णि शाखा के अन्तर्गत पांच प्रमुख सदस्यो की परिषत् थी। पाणिनि के शब्दो में वह पञ्चकसंघ हुआ। बलदेव, कृष्ण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और साम्ब इस पञ्चक सघ में थे।

पञ्चद्वर्ग, दशद्वर्ग—पञ्चद्दशतौ वर्गे वा (५।१।७) सूत्र मे जिस पञ्चद्वर्ग या पञ्चकवर्ग का उल्लेख है, वह ऊपर के पञ्चक सघ से भिन्न सस्था होनी चाहिए। पाली साहित्य से इस पर कुछ प्रकाश पड़ता है। महावग्ग (९।४।१ चाम्पेयस्कन्धक) में पाँच प्रकार के भिक्षु सघ का उल्लेख है—चतुर्वर्ग भिक्षुसघ, पञ्चवर्ग भिक्षुसङ्घ, दशवर्ग भिक्षुसङ्घ, विंशतिवर्ग भिक्षुसङ्घ। उसी ग्रन्थ मे (५।१३।२) यह भी कहा है कि किसी नए भिक्षु को उपसम्पदा देने के लिये समस्त सघ की उपस्थिति मे दीक्षा प्रथा का पालन किया जाता था। पर मध्यदेश से दूर अवन्ति दक्षिणापथ जैसे सीमान्त स्थित जनपदो मे भिक्षुओ की सख्या कम होने से वहाँ दीक्षा देने वाले भिक्षुओ की आवश्यक सख्या मिलने मे कठिनाई होती थी। कभी कभी ऐसा होता कि केवल दो या तीन भिक्षु ही उपसम्पदा दे देते थे। जब बुद्ध को यह बात विदित हुई तो उन्होंने नियम बनाया कि उपसम्पदा या दीक्षा के लिये दस भिक्षुओ से कम का वर्ग न होना चाहिए (न ऊन दशवग्गेन उपसम्पादतेब्बो १।३१।२)। दीक्षा के अतिरिक्त अन्य कार्यों में पाँच भिक्षुओ की न्यूनतम सख्या रक्खी गई (पचवग्गगण)। द्विवग्ग या तिवग्ग गण का निषेध करके बुद्ध ने वग्गकम्मता अर्थात् ५ या १० भिक्षुओ के वर्ग से कार्य सम्पादन की अनुमति प्रदान की। साधारण नियमो के अनुसार नए भिक्षु की उपसम्पदा या दीक्षा संघकम्म माना जाता था उसे प्रत्यन्त जनपदो के लिये वग्गकम्म कर दिया गया। और जो यह नियम था कि वर्ग द्वारा सघकर्म न होना चाहिए, उसे शिथिल कर दिया गया। इस पृष्ठभूमि मे पचक और दशकवर्ग या पञ्चद् वर्ग, दशद्वर्ग का अर्थ व्यवहार मे ५ या १० सदस्यो की समिति था जो गण या सघ की ओर से कार्यविशेष के सम्पादन के लिये नियुक्त की जाती थी। बुद्ध ने सघ के लिये जिस प्रथा की अनुमति दी, वह राजनैतिक सघ या गणो से ली गई होगी।

बहुतिथ—बहुपूगगण सघस्य तिथुक् (५।२।५२) सूत्र मे सघतिथ॰, पूगतिथ., गणतिथः का अर्थ स्पष्ट है। उसी प्रसग मे बहुतिथ (बहूना पूरण) भी पारिभाषिक शब्द होना चाहिए। सघ या गण की सभा में जहाँ सर्वसम्मति से सघ कर्म का निश्चय करना सम्भव न होता, वहाँ बहुमत से (येभुय्यसि॰) निश्चय किया जाता था। बहु-मत के लिये दो-तिहाई, एक-तिहाई या आधे-आधे सदस्यो की सख्या गिनने की जो भी प्रथा किसी निश्चय विशेष के लिये लागू होती थी, उसमे जो व्यक्ति उस बहुसख्या की पूर्ति करता था, उसे बहुतिथ कहा जाता था।

अध्याय ७, परिच्छेद ७—आयुधजीवी संघ

पाणिनि मे कुछ सघो को आयधजीवी कहा गया है[1] (५।३।११४–११७)। इस

---

१ आयुधजीवीसघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् (५।३।११४)।
वृकाट्टेण्यण् (५।३।११५)।

प्रकरण मे लगभग चालीस सङ्घों के नाम आए हैं। उनकी भौगोलिक पहचान आगे की जायगी। आयुध से जीविका निर्वाह करने वाला आयुधीय या आयुधिक कहलाता था (आयुधाच्छ च, ४।४।१४, आयुधेन जीवति) कौटिल्य ने दो प्रकार के जनपदो का उल्लेख किया है—आयुधीयप्राय और श्रेणीप्राय (यदि वा पश्येत् आयुधीयप्राय. श्रेणीप्रायो मे जनपद , अर्थ० ७।१)। किन्तु सङ्घवृत्तप्रकरण मे काम्भोज सुराष्ट्र नामक क्षत्रिय श्रेणियो को वार्ताशस्त्रोपजीवी एव लिच्छवि वृजि मल्ल मद्र कुकुर और कुरु-पञ्चाल को राज शब्दोपजीवी कहा है (११।१)। इससे सूचित होता है कि लिच्छवि आदि उन्नत सङ्घ कुलो के आधार पर सङ्गठित थे, जिनमे प्रत्येक कुल का प्रतिनिधि राजा कहलाता था। इसके विपरीत कम्बोज सुराष्ट्र आदि श्रेणियाँ शस्त्रोपजीवी या आयुधीय सङ्घ थे। उनका राजनैतिक विकास अपेक्षाकृत आरम्भिक अवस्था मे था। ये ही पाणिनीय परिभाषा मे आयुधजीवी एवं पाली साहित्य के योधाजीव सघ थे। कुरुपचाल का सङ्घ सङ्गठन काशिका ६।२।३४ में इङ्गित है।

चार प्रकार के आयुधजीवी—सूत्रकार ने आयुधजीवी सघो का सूक्ष्मता से पर्यवलोकन किया था। उन्होने अपनी सामग्री को चार भागो मे बाँटा है—(१) वाहीक देश के आयुधजीवी सङ्घ (५।३।११४); (२) पर्वत या पहाडी इलाको के आयुधजीवी (४।३।९१); (३) पूग नामक आयुधजीवी सङ्घ, जो ग्रामणी नामक नेताओ की अध्यक्षता में सङ्गठित थे (५।३।११२); (४) व्रात, जो सर्वथा उत्सेधजीवी दशा मे जीवन व्यतीत करते थे और जिनमें सघ प्रणाली नाम मात्र को ही थी (५।३।११३; ५।२।२१)। वाहीक अर्थात् व्यास से सिन्ध नदी तक के प्रदेश मे फैले हुए यौधेय, क्षुद्रक, मालव आदि गणराज्य अपेक्षाकृत उच्चकोटि की सङ्घ प्रणाली के अनुयायी थे।

पर्वतीय सङ्घ—उत्तर पश्चिमी भारत के मानचित्र पर दृष्टि डालने से दो बड़े पहाडी प्रदेश दिखाई पडते हैं। एक त्रिगर्त्त से दार्वाभिसार तक का प्रदेश और दूसरे सिन्ध से कापिशी-कम्बोज तक का विस्तृत भूभाग। ये पहाडी राज्य अधिकाश में आयुधजीवी सङ्घ शासन के माननेवाले थे (आयुधजीविभ्यश्छ. पर्वते ४।३।९१)। महाभारत मे गान्धारराज शकुनि को पर्वतीय कहा गया है। काशिका मे पर्वतीय आयुधजीवियो के निम्नलिखित उदाहरण हैं—हृद्गोलीया , जिनका मूलस्थान हृद्गोल या (सम्भवत: जलालाबाद के दक्षिण हड्डा, श्यूआन् च्वाङ् का हि लो); अन्धकवर्तीया; रोहितगिरीया: जो कि रोहितगिरि या रोह में फैले हुए थे। रोह अफगानिस्तान का मध्यकालीन नाम था। सभापर्व मे लोहितप्रदेश के दस मण्डल राज्यो का उल्लेख है (सभा० २४।१६) जो कि अफगानिस्तान का उत्तरपूर्वी और मध्यभाग था, जहाँ

दामन्यादित्रिगर्तषष्ठाच्छः (५।३।११६)।

पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ (५।३।११७)।

इस समय कोहिस्तान का इलाका है। मार्कण्डेय एव अन्य पुराणो मे जिन जनपदो को पर्वताश्रयी कहा है, वे ही पाणिनि के पर्वतीय आयुधजीवी सङ्घ थे। उनमे नीहार या नगरहार की भी गणना है, जो आधुनिक जलालाबाद का प्राचीन नाम था, जहाँ हुद्गोल या हड्डा का पहाडी प्रदेश है। हुसमार्ग (दरदिस्तान के उत्तर हुंजा) नामक जनपद की गिनती भी पर्वताश्रयी देशो मे थी। अतएव ये कश्मीर और अफगानिस्तान के पहाडी प्रदेशो के निवासी थे जिन्हें पर्वतीय आयुधजीवी कहा गया है। उद्योग पर्व में प्रतीच्या' पार्वतीयाः अर्थात् पश्चिमी भारत के पर्वतीयो का उल्लेख है (उद्योग ३०।२४)। द्रोणपर्व मे स्पष्टत उन्हे 'सङ्घा गिरिचारिणः' एवं 'गिरिगह्वरवासिनः' कहा गया है (द्रोण० ९३।४८)। भीष्मपर्व (९।६८) मे गिरिगह्वर नामक जन या कबीले का उल्लेख है, जिसका शब्दार्थ है पहाडो की गुफा या गारो मे रहनेवाले कबायली लोग। महाभारत मे इसका स्पष्ट उल्लेख है कि सिन्धु नदी के किनारे पर बसी हुई महाबली जातियाँ ग्रामणी सज्ञक नेताओ की अध्यक्षता मे सङ्गठित थी और ग्रामणीय कहलाती थी (सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः, सभापर्व ३२।९)।

इस प्रकार पाणिनि मे उल्लिखित सङ्घो के भौगोलिक विस्तार का त्रिविध परिचय प्राप्त होता है—(१) वाहीक के आयुधजीवी, जो सिन्धु के पूर्व मे व्यास सतलज तक फैले हुए थे। इन्ही के समीप पर्वतीय आयुधजीवियो का एक विशेष गुच्छा त्रिगर्त या कुल्लूकांगडा में था, जिन्हे पाणिनि ने त्रिगर्तषष्ठ यह विशेष नाम दिया है (५।३।११६)।

(२) पूग नामक आयुधजीवी जो सिन्धु के दोनो किनारो के प्रदेश मे ग्रामणी सविधान द्वारा सञ्चालित थे। ये वही थे जिन्हें आजकल कबायली कहा जाता है।

(३) पर्वतीय आयुधजीवी, जिनमे अफगानिस्तान, हिन्दुकुश और दरदिस्तान की अनेक पहाड़ी जातियाँ थी। इनमे से बहुत से व्रात स्थिति मे जीवन व्यतीत करते थे। ये प्राचीन व्रात्य थे, जिनके विषय मे आगे विचार किया गया है। इन तीनो मे जो सङ्घ मध्य देश के आर्य सन्निवेशो के पड़ोसी थे, वे सभ्यता और शासन की दृष्टि से अधिक उन्नत थे। जो प्रत्यन्त निवासी थे, वे उतनी ही पिछडी दशा मे थे।

श्रेणि, पूग और व्रात—वाहीक और पर्वतीय प्रदेशो में छोटे बडे आयुधजीवी सङ्घ इस प्रकार भरे हुए थे, जैसे कटहल मे कोए। उनके राजनैतिक सविधान और शासन अनेक प्रकार के थे। सबसे अधिक विकसित प्रथा सङ्घ या गण कहलाती थी। गणशासन मे भी कितने ही भेद थे, जिनमे कुछ इतने विकसित थे कि समस्त जनपद की ओर से अपनी मुद्राएँ ढालने की स्थिति मे थे। किन्तु सङ्घो के अतिरिक्त जो आयुधजीवी थे, उनमे श्रेणी, पूग और व्रात, ये तीन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

कौटिल्य का यह सकेत है कि लिच्छवि और वृजि जैसे उन्नत गणाधीन राज्यों की अपेक्षा शस्त्रोपजीवी श्रेणी राज्य अभी कुछ कम विकसित हो पाये थे। वे अपना निर्वाह वार्ता अर्थात् खेतीबाडी या गोपालन से करते थे। उनसे नीचे की कोटि में पूग और व्रात थे जो अपने निर्वाह के लिये लूट मार पर ही निर्भर थे (उत्सेध-जीविन:)। महाभारत मे दुर्योधन की ओर से युद्ध करने वालो में अनेक श्रेणियो का उल्लेख है, जिनके सदस्यो की सख्या बहु सहस्र तक होती थी (श्रेणयो बहुसाहस्रा सशप्तक गणश्चये कर्ण० ५।४०)।

श्रेण्यादय कृतादिभि: (२।१।५९) सूत्र मे पाणिनि ने उस प्रक्रिया की कुछ झाँकी दी है, जिसके अनुसार विभिन्न आयुधजीवी जातियाँ एक अवस्था को पीछे छोड कर उससे विकसित दूसरे रूप मे अपने को सङ्गठित कर लेती थीं, जैसे, अश्रे-णय श्रेणय: कृता श्रेणिकृता, इस प्रयोग की पृष्ठभूमि मे ऐसे जन थे, जो पहले श्रेणि रूप मे सङ्गठित नही थे, किन्तु सङ्घीय नवचेतना के प्रभाव मे आकर श्रेणि सविधान को अपना लेते थे। श्रेणियो के सङ्गठन पर कुछ प्रकाश वर्तमान अग्रवाल जाति की अनुश्रुतियो मे पडता है। कहा जाता है कि अगरोहे में राजा अग्रसेन की सन्तति इनकी पूर्वज थी और वे क्षत्रिय से वैश्य बन गए। अगरोहे की खुदाई मे प्राप्त सिक्को में अग्रोदक नगर के अग्र जनपद का उल्लेख है। अग्र जनपद की वार्ताशस्त्रोपजीवी श्रेणि या अग्र श्रेणि ही कालान्तर में अग्रसेन नामक मूल पुरुष मान ली गई। किंवदन्ती के अनुसार इनका सगठन कुलो पर आश्रित था जिनके हाथो मे राजसत्ता केन्द्रित थी। ये अष्टादश कुल थे। उनके शत सख्यक पुत्र पौत्र थे जिनकी गणना एक लाख कही जाती है। श्रेणि में सम्मिलित होने वाले नए कुल को एक-एक रुपया देकर लक्षाधिपति कर देने की प्रथा थी। यह अनुश्रुति श्रेणि के अन्तर्गत कुलो की समान सामाजिक स्थिति को सूचित करती है। वार्ता (कृषि वाणिज्य पशुपालय) द्वारा जीविका निर्वाह इस श्रेणि की विशेषता थी जो अर्थ शास्त्र के वार्ताशस्त्रोपजीवी लक्षण से मिल जाती है। जैसे अग्र जाति के अष्टादश कुलो ने मिल कर अपनी श्रेणि सगठित कर ली, वैसे ही पजाब की अन्य अनेक जातियो की स्थिति मूल रूप मे श्रेणि की ही थी। उनके लिये ही श्रेणिकृता: श्रेणिभूता: शब्द वैसे राजनैतिक प्रयोग के सूचक थे।

पूग—आयुधजीवी सघ की अपेक्षा कम एव व्रात की अपेक्षा अधिक विकसित सघ पूग थे। नाना जातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधाना सङ्घा पूगा (काशिका), अर्थात् कई जाति या कबीलो के लोगो का सघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे। अधिकाश मे वे लूट मार की अवस्था से ऊपर उठ कर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के सङ्घ व्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था मे थे। श्रेणी और पूग बाद में चलकर आर्थिक संगठन भी बन गए थे,

किन्तु पाणिनि के काल मे दोनो ही राजनैतिक सस्थाएँ थी। बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् (५।२।५२) सूत्र मे पूग, सङ्घ और गण तीनो राजनैतिक सस्थाएँ थी, जहाँ पूग का गण पूरक पूगतिथ कहलाता था।

ग्रामणी—पूग सस्था की वास्तविक स्थिति को समझने के लिये प्रमाण सामग्री की तीन कडियाँ ध्यान देने योग्य हैं—एक तो महाभारत का यह उल्लेख कि ग्रामणो सविधान के अनुयायी कबीले सिन्धु नदी के किनारे पर आबाद थे, दूसरे पाणिनि का यह उल्लेख कि कुछ ऐसे कबीले थे, जिनका नाम ग्रामणी के नाम से प्रसिद्ध होता था (स एषा ग्रामणो: ५।२।७८), और तीसरे अगुत्तर निकाय का उल्लेख कि ग्रामणी दो प्रकार के थे, एक ग्राम ग्रामणो और दूसरे पूग ग्रामणी। पाणिनि ने स्वयं कहा है कि पूगो का घनिष्ठ सम्बन्ध ग्रामणी से था। पूगाञ्ञ्योऽग्रामणी पूर्वात् (५।३।११२) सूत्र मे पूगो का नामकरण दो प्रकार मे सूचित किया है, एक ग्रामणी के नाम से और दूसरा अन्य आधार पर। जैसे लाल झडेवाला पूग लोहध्वज कहलाता था, पर देवदत्तका यज्ञदत्तका' उस पूग का नाम होता था जिसका ग्रामणी देवदत्त या यज्ञदत्त हो। इस शब्दरूप की सिद्धि 'स एषा ग्रामणी' सूत्र से होती है (देवदत्त: ग्रामणी एषा त इमे देवदत्तका। यज्ञदत्तका.)। यह प्रथा सीमाप्रान्त के कबायली इलाको मे आजतक जीवित है। अनेक पठान कबीलो या खेलो के नाम अपने मूल पुरखा या सस्थापको के नाम से होते हैं, जैसे इसाखेल, यूसुफजई। यद्यपि अब ये सब मुसलमान हो गए हैं, किन्तु नामकरण की प्राचीन प्रथा वही है। इनका जातीय जिरगा पूर्वकालीन सङ्घ शासन का बचा हुआ रूप है। देवदत्तका. यज्ञदत्तका: आदि ग्रामणी से बना हुआ नाम कुछ थोडे समय के लिये नही, बल्कि पीढी दर पीढ़ी चलता था।

प्रश्न हो सकता है कि स एषा ग्रामणो सूत्र मे ग्रामणी का अर्थ गाँव का मुखिया क्यो न लिया जाय। इसका एक उत्तर है कि गाँव के मुखिया के नाम से ग्रामवासियो के नामकरण की प्रथा लोक मे कही नही हैं। दूसरा प्रमाण पाली साहित्य से प्राप्त होता है, जिसके अनुसार ग्रामणी दो प्रकार के होते थे, एक ग्राम-ग्रामणी, दूसरे पूग-ग्रामणी[१]। पाणिनि के सूत्र मे ग्राम ग्रामणी नही, पूगग्रामणी से अभिप्राय है। स्वय सूत्रकार ने पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् सूत्र मे पूग के ग्रामणी का उल्लेख किया है।

नकुल की पश्चिम दिग्विजय के प्रसङ्ग मे सिन्धु नद के किनारे पर रहनेवाले

१. यस्य कस्सचि महानाम कुलपुत्तस्स पञ्च धम्मा सविज्जन्ति, यदि वा रञ्ञो खत्तियस्य मुद्धाभिसित्तस्स, यदि वा रट्ठिकस्य पेत्तनिकस्स, यदि वा सेनाय सेनापतिकस्स, यदि वा गामगामणिकस्स, यदि वा पूगगामणिकस्स, ये वा न कुलेसु पच्चेकाधिपच्च कारेन्ति (अगुत्तरनिकाय, पालि-टेक्स सोसायटी सस्क० भाग ३, पृ० ७६, जायसवास हिन्दूराजतन्त)।

कौटिल्य का यह सकेत है कि लिच्छवि और वृजि जैसे उन्नत गणाधीन राज्यों की अपेक्षा शस्त्रोपजीवी श्रेणी राज्य अभी कुछ कम विकसित हो पाये थे। वे अपना निर्वाह वार्ता अर्थात् खेतीबाडी या गोपालन से करते थे। उनसे नीचे की कोटि में पूग और व्रात थे जो अपने निर्वाह के लिये लूट मार पर ही निर्भर थे (उत्सेध-जीविनः)। महाभारत मे दुर्योधन की ओर से युद्ध करने वालों मे अनेक श्रेणियो का उल्लेख है, जिनके सदस्यों की सख्या बहु सहस्र तक होती थी (श्रेणयो बहुसाहस्राः सशप्तक गणश्चये कर्ण० ५।४०)।

श्रेण्यादयः कृतादिभिः (२।१।५९) सूत्र मे पाणिनि ने उस प्रक्रिया की कुछ झाँकी दी है, जिसके अनुसार विभिन्न आयुधजीवी जातियाँ एक अवस्था को पीछे छोड कर उससे विकसित दूसरे रूप में अपने को सङ्गठित कर लेती थी, जैसे, अश्रेणयः श्रेणयः कृताः श्रेणिकृताः, इस प्रयोग की पृष्ठभूमि मे ऐसे जन थे, जो पहले श्रेणि रूप मे सङ्गठित नही थे, किन्तु सङ्घीय नवचेतना के प्रभाव म आकर श्रेणि सविधान को अपना लेते थे। श्रेणियो के सङ्गठन पर कुछ प्रकाश वर्तमान अग्रवाल जाति की अनुश्रुतियो मे पडता है। कहा जाता है कि अगरोहे मे राजा अग्रसेन की सन्तति इनकी पूर्वज थी और ये क्षत्रिय से वैश्य बन गए। अगरोहे की खुदाई मे प्राप्त सिक्को में अग्रोदक नगर के अग्र जनपद का उल्लेख है। अग्र जनपद की वार्ताशस्त्रोपजीवी श्रेणि या अग्र श्रेणि ही कालान्तर मे अग्रसेन नामक मूल पुरुष मान ली गई। किवदन्ती के अनुसार इनका सगठन कुलो पर आश्रित था जिनके हाथो मे राजसत्ता केन्द्रित थी। ये अष्टादश कुल थे। उनके सात सहस्र पुत्र पौत्र थे जिनकी गणना एक लाख कही जाती है। श्रेणि मे सम्मिलित होने वाले नए कुल को एक-एक रुपया देकर लक्षाधिपति कर देने की प्रथा थी। यह अनुश्रुति श्रेणि के अन्तर्गत कुलो की समान सामाजिक स्थिति को सूचित करती है। वार्ता (कृषि वाणिज्य पशुपाल्य) द्वारा जीविका निर्वाह इस श्रेणि की विशेषता थी जो अर्थ शास्त्र के वार्ताशस्त्रोपजीवी लक्षण से मिल जाती है। जैसे अग्र जाति के अष्टादश कुलो ने मिल कर अपनी श्रेणि सगठित कर ली, वैसे ही पजाब की अन्य अनेक जातियो की स्थिति मूल रूप मे श्रेणि की ही थी। उनके लिये ही श्रेणिकृताः श्रेणिभूताः शब्द वैसे राजनैतिक प्रयोग के सूचक थे।

पूग—आयुधजीवी सघ की अपेक्षा कम एव व्रात की अपेक्षा अधिक विकसित सघ पूग थे। नाना जातीया अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्घाः पूगाः (काशिका), अर्थात् कई जाति या कबीलो के लोगो का सघ जिनकी जीविका या निर्वाह के साधन कई प्रकार के होते थे। अधिकाश मे वे लूट मार की अवस्था से ऊपर उठ कर कुछ अर्थोपार्जन का सिलसिला अपना लेते थे। इस प्रकार के सङ्घ व्रात और श्रेणि के बीच की अवस्था मे थे। श्रेणी और पूग बाद में चलकर आर्थिक सगठन भी बन गए थे,

किन्तु पाणिनि के काल मे दोनो ही राजनैनिक संस्थाएँ थी। बहुपूगगणसङ्घस्य तिथुक् (५।२।५२) सूत्र मे पूग, सङ्घ और गण तीनो राजनैतिक सस्थाएँ थी, जहाँ पूग का गण पूरक पूगतिथ कहलाता था।

ग्रामणी—पूग सस्था की वास्तविक स्थिति को समझने के लिये प्रमाण सामग्री की तीन कड़ियाँ ध्यान देने योग्य हैं—एक तो महाभारत का यह उल्लेख कि ग्रामणो सविधान के अनुयायी कबीले सिन्धु नदी के किनारे पर आबाद थे, दूसरे पाणिनि का यह उल्लेख कि कुछ ऐसे कबीले थे, जिनका नाम ग्रामणी के नाम से प्रसिद्ध होता था (स एषा ग्रामणीः ५।२।७८), और तीसरे अगुत्तर निकाय का उल्लेख कि ग्रामणी दो प्रकार के थे, एक ग्राम ग्रामणी और दूसरे पूग ग्रामणी। पाणिनि ने स्वयं कहा है कि पूगो का घनिष्ठ सम्बन्ध ग्रामणी से था। पूगाञ्ञ्योऽग्रामणी पूर्वात् (५।३।११२) सूत्र मे पूगो का नामकरण दो प्रकार मे सूचित किया है, एक ग्रामणी के नाम से और दूसरा अन्य आधार पर। जैसे लाल झंडेवाला पूग लोहध्वज कहलाता था, पर देवदत्तकाः यज्ञदत्तका' उस पूग का नाम होता था जिसका ग्रामणी देवदत्त या यज्ञदत्त हो। इस शब्दरूप की सिद्धि 'स एषा ग्रामणीः' सूत्र से होती है (देवदत्तः ग्रामणी एषा त इमे देवदत्तका। यज्ञदत्तका.)। यह प्रथा सीमाप्रान्त के कबायली इलाको मे आजतक जीवित है। अनेक पठान कबीलो या खेलो के नाम अपने मूल पुरखा या सस्थापको के नाम से होते हैं, जैसे इसाखेल, यूसुफजई। यद्यपि अब ये सब मुसलमान हो गए हैं, किन्तु नामकरण की प्राचीन प्रथा वही है। इनका जातीय जिरगा पूर्वकालीन सङ्घ शासन का बचा हुआ रूप है। देवदत्तकाः यज्ञदत्तकाः आदि ग्रामणी से बना हुआ नाम कुछ थोडे समय के लिये नही, बल्कि पीढी दर पीढ़ी चलता था।

प्रश्न हो सकता है कि स एषा ग्रामणीः सूत्र मे ग्रामणी का अर्थ गाँव का मुखिया क्यो न लिया जाय। इसका एक उत्तर है कि गाँव के मुखिया के नाम से ग्रामवासियो के नामकरण की प्रथा लोक मे कही नही है। दूसरा प्रमाण पाली साहित्य से प्राप्त होता है, जिसके अनुसार ग्रामणी दो प्रकार के होते थे, एक ग्राम-ग्रामणी, दूसरे पूग-ग्रामणी[1]। पाणिनि के सूत्र मे ग्राम ग्रामणी नही, पूगग्रामणी से अभिप्राय है। स्वय सूत्रकार ने पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् सूत्र मे पूग के ग्रामणी का उल्लेख किया है।

नकुल की पश्चिम दिग्विजय के प्रसङ्ग में सिन्धु नद के किनारे पर रहनेवाले

---

१ यस्य कस्सचि महानाम कुलपुत्तस्स पञ्च धम्मा सविज्जन्ति, यदि वा रञ्ञो खत्तियस्स मुद्धाभिसित्तस्स, यदि वा रट्ठिकस्स पेत्तनिकस्स, यदि वा सेनाय सेनापतिकस्स, यदि वा गामगामणिकस्स, यदि वा पूगगामणिकस्स, ये वा न कुलेसु पच्चेकाधिपच्चं कारेन्ति (अगुत्तरनिकाय, पालि-टेक्स्ट सोसायटी सस्क० भाग ३, पृ० ७६, जायसवाल हिन्दूराजतन्त्र)।

ग्रामणियो का वर्णन आया है। पाणिनि और सभापर्व की सामग्री की एक-सूत्रता करने से पूग नामक ग्रामणी सङ्घो की भौगोलिक स्थिति का परिचय हो जाता है। पाणिनि ने उनमें मे कुछ सङ्घो के नाम पर्श्वादिगण (५।३।११७) मे गिनाए है। उदाहरण के लिये असनि, जिनकी पहचान शिनवारी से की जा सकती है। उन्हीका दूसरा कबीला जो कार्पेवुन कहलाता है, इसी गण मे पठित कार्पापण नामक आयुध-जीवी सघ ज्ञात होता है। राजन्यादिगण (४।२।५३) में पठित आप्रीत वर्तमानकाल के अफ्रीदी हैं। एव अश्वादिगण मे पठित पविन्द वर्तमानकाल के पविन्दे हैं, जो गोमल नदी की द्रोणी में बसे हुए हैं। आज भी ये सब आयुधजीवी जातियाँ हैं जो अपने जिरगे मे शासित होती हैं।

कुमार पूग—पूगेष्वन्यतरस्याम् (६।२।२८) सूत्र मे कुमारपूगों का उल्लेख है, जैसे कुमारचातका, कुमारलोहध्वजा., कुमारबलाहका, कुमारजीमूता (काशिका)। कौटिल्य मे भी सघशासन के अन्तर्गत सङ्घमुख्य और कुमारक इन दो विभागो का उल्लेख है (अर्थ० १।१।१)। ये दोनो वे ही हैं जिन्हे पाणिनि ने ग्रामणी और कुमार कहा है; अथवा गोत्रशासन के अन्तर्गत जिन्हें वृद्ध और युवा कहा जाता था; अथवा व्रात्यो मे (कात्यायन श्रौत सूत्र के अनुमार) इसीसे मिलते जुलते ज्येष्ठ और कनिष्ठ नामक सगठन थे।

व्रात—व्रात उन लडाकू जातियो की मज्ञा थी, जिनका आर्यों के साथ मघर्ष हुआ था और जो लूट-मार करके निर्वाह करती थी। ऋग्वेद मे आर्य योद्धाओ को 'व्रात-साह' कहा गया है (ऋ० ६।७५।९)। पाणिनि ने व्रात नामक सङ्घों के नामकरण के विषय में नियम दिए हैं (व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ५।३।११३)। काशिका मे कपोत-पाका और व्रीहिमता उदाहरण हैं। महाभारत में दार्वाभिसार और दरद् जनपद के निवासियो को व्रात कहा गया है (द्रोण पर्व ९३।४४)। व्रातेन जीवति व्रातीन. यह विशेष शब्द सिद्ध किया गया है (५।२।२१)। वहाँ व्रात का अर्थ उत्सेध या लूटमार है। भाष्य मे लिखा है—

'नाना जातीया अनियत वृत्तय उत्सेधजीविन: संघा व्राता:।
तेषा कर्म व्रातम्। व्रातेन कर्मणा जीवति व्रातीन: (भाष्य ५।२।२१)।

इस अर्थ मे व्रातीना: वही थे, जिन्हे श्रौतसूत्रो मे व्रात्य कहा है। लाटचायन श्रौत सूत्र मे व्रात्यो के लिये व्रातीन शब्द प्रयुक्त भी हुआ है (८।५।१)। ये ब्राह्म-णेतर अर्थात् वर्णाश्रम धर्म वाह्य आयुधजीवी जातियाँ थी (वेबर)। पाणिनि के युग से लेकर आज तक ये उत्सेधजीवी रही हैं। 'व्रात्या' प्रसेधमाना: यन्ति' अर्थात् व्रात्य लोक का उत्पीडन या लूटमार करके रहते हैं (लाटचायन ८।६।७, टीका—लोक आसेधन्त. त्रासयन्त प्रणयन्त:)। ताण्डच ब्राह्मण मे सायण ने व्रात का अर्थ व्रात्यसमुदाय किया है (१७।१।५ की टीका)। वस्तुत. व्रात और व्रात्य एक ही थे।

व्रात्यचर्या, व्रातों का जीवन—कात्यायन (२२।४।१।२८), आश्वलायन, शांखायन, आपस्तम्ब, बौधायन, लाटघायनादि श्रौतसूत्रों में व्रात्यों की रहन-सहन और वेश-भूषा आदि के सम्बन्ध में रोचक सूचनाएँ मिलती हैं। कहा गया है कि वे तख्ते का फट्टा जड़ा हुआ छोटा खड़खड़िया रथ रखते थे और उस पर बैठ कर ऊबड़-खाबड़ मार्ग में भी चाहे जहाँ जा सकते थे (फलकास्तीर्णो विपथ', कात्या० २२।४।१६; टीका उत्क्रम्य पन्थानं याति)। आजकल जनपदीय बोली में इसे फिरक कहते हैं। बिना डोरी और बिना बाण का धनुष इस्तेमाल करते थे जिसका तात्पर्य गुल्ले चलाने वाली गुलेल से था (धनुष्केणानिपुणा व्रात्या. प्रसेधमाना यन्ति स ज्याह्रोड, लाटघा० ८।६।७)। वे टेढ़ी पगड़ी बाँधते (तिर्यङ् नद्ध उष्णीष) और भेड़ की खाल की पोस्तीन पहनते थे (अजिने आविके, कात्या० २१।१२३, १४९; लाटघा० ८।६।४; ३०)। कुछ प्रात काले कपड़े (वास कृष्णश कद्रु—कात्या० २२।४।१४) और कुछ लाल वेष पहनते थे (लोहित प्रवाणानि वसनानि. लाटघा० ८।६।२०)। पतंजलि ने लाल पगड़ी बाँध कर फिरने वाले कुछ ऋत्विजों का उल्लेख किया है (लोहितोष्णीषाः ऋत्विजः प्रचरन्ति, १।१।२७, २।१।६९, २।२।२४, ६।१।१)। वस्तुत' ये लोहित वस्त्र धारी ऋत्विज व्रात्यों के ही थे (लोहितवाससो लोहितोष्णीषाः प्रचरन्त्यृत्विजः, कात्या० २२।३।१५)।[1]

सम्भवत. पूगों के ग्रामणी की भाँति व्रात्य ग्रामों के मुखिया या व्रातपति भी ग्रामणी ही कहलाते थे। संयुत्त निकाय मे एक योधाजीव ग्रामणी का बुद्ध के साथ संवाद आया है (४।३०८, ९)। उस वर्णन से विदित होता है कि व्रात्यों में बहुत से वृद्ध आचार्य थे जो स्वयं भी आयुधजीवी थे और अपने अनुयायियों को यह शिक्षा देते थे कि युद्ध मे लड़कर मरने वाले योद्धा सरञ्जित देवों के लोक मे जाते हैं। श्रौत सूत्र मे भी ऐसे व्रात्याचार्यों का उल्लेख है जो नृत्य गीत' वाद्य और शस्त्र धारण में स्वयं प्रवीण होते हुए अपनी विद्या व्रात्य समूह को सिखाते थे। (कात्या० २२।४।३, टीका)।

व्रात्यस्तोम—इन व्रात्यों को आर्य बनाकर वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था के अन्तर्गत लाने के बराबर प्रयत्न किए जाते थे। उसकी युक्ति व्रात्यस्तोम यज्ञ का विधान था। व्रात्यस्तोम से यजन करने पर व्रात्यभाव छूट जाता था (व्रात्यस्तोमेनेष्ट्वा व्रात्यभावात् विरमेयुः, कात्यायन २२।४।२९) और वे लोग शुद्ध हो जाते थे (मृजानाः यन्ति वही, २२।४।२६)। मनु ने व्रात्यों को आर्यविगर्हित कहा है

१. अभी तक स्याहपोश और सुर्खपोश, दो प्रकार के काफिर उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रदेश में बसते हैं जो प्राचीन व्रात्यों के ही वंशज ज्ञात होते हैं। अभी बीसवीं शती के आरम्भ तक वे काफिर कहलाते थे और मुसलमान न हुए थे।

(२।३९) । किन्तु व्रात्यस्तोम के बाद फिर वर्णाश्रमधर्मी आर्यों के साथ उनका सामाजिक व्यवहार खुल जाता था (व्यवहार्या भवन्ति, कात्यायन श्रौत०, २४।४।३०)। पाणिनि ने श्रेण्यादिगण में ब्राह्मणकृता, क्षत्रियकृता. इन दो प्रयोगों का उल्लेख किया है (अब्राह्मणा. ब्राह्मणा.कृताः ब्राह्मणकृता. अक्षत्रिया. क्षत्रिया कृता: क्षत्रियकृता:) । स्पष्ट है कि जो लोग पहले ब्राह्मण या क्षत्रिय नहीं थे उन्हें ब्राह्मण या क्षत्रिय बनाकर वर्णाश्रम मर्यादा में सम्मिलित करने की प्रथा का इन शब्दों से अस्तित्व सूचित होता है। इनमें भी ब्राह्मणकृता:, 'ब्राह्मणभूता:, ब्राह्मण-मता:, ब्राह्मण:समाम्नाता, ब्राह्मणा: समाम्नाता', एवं क्षत्रियकृता, क्षत्रियभूता' आदि कितने ही तारतम्य और सूक्ष्म भेद हो सकते थे जो सब शब्द श्रेण्यादय. कृतादिभि: सूत्र मे पठित हैं। लाट्यायन श्रौत सूत्र में स्पष्ट कहा है कि व्रात्यस्तोम यज्ञ करने के बाद व्रात्यो को त्रैविद्यवृत्ति से रहना चाहिए (व्रात्यस्तोमैरिष्ट्वा त्रैविद्यवृत्ति समातिष्ठेयुः, लाट्यायन ८।६।२९), एव आर्यों को चाहिए कि फिर उनके साथ खान पान और धर्म कार्यों मे कोई भेद भाव न रक्खें (तेषां तत ऊर्ध्वं भुञ्जीत, अपि चैनान् कामं याजयेदिति, वही, ८।६।३०) पाणिनि से पूर्व श्रौतसूत्रों के समय में या जनपद युग में यह महान् प्रयोग सामाजिक और राजनैतिक क्षेत्रों मे हुआ था। श्रेणिकृता:, पूगकृता:, ब्राह्मणकृता:, क्षत्रियकृता. आदि शब्दसमूह में उसी के सङ्केत हैं। उत्तर-पश्चिमी भारत और पूर्वी भारत दोनो मे इस प्रकार के प्रयत्न हुए। प्राच्य देश में इस प्रकार के ब्राह्मणो को मागध देशीय ब्रह्मबन्धु और क्षत्रियो को वृषल क्षत्रिय कहा गया। कालान्तर में बाहर से आने वाले विदेशियो को भी वर्णाश्रम धर्मी समाज मे परिगृहीत करने की यही मान्य पद्धति बन गई। किसी प्रकार के यजन या धर्मकार्य द्वारा आगन्तुको को ब्राह्मण क्षत्रिय आदि के रूप में वर्णाश्रम संस्था का अङ्ग बना लिया जाता था। वसिष्ठ के यज्ञ से अग्निकुल क्षत्रिय और राजस्थान मे हूण ब्राह्मण, हूण क्षत्रिय इसके उदाहरण हैं।

ऐसा भी होता था कि व्रात्यस्थिति से ऊपर उठकर सङ्घ अवस्था मे आ जाने पर भी उस सङ्घ के अन्तर्गत व्रातो के छोटे-मोटे जत्थे बचे रह जाते थे। जो समय पाकर शनैः शनैः पिघलते हुए पूर्णतया आर्य मर्यादा में विलीन होते रहते थे। अन्धकवृष्णि सङ्घ के विषय में कृष्ण ने कहा है—हमारे कुल सङ्गठन में अभी तक अट्ठारह सहस्र व्रात हैं। (अष्टादश सहस्राणि व्रातानां सन्ति न. कुले, सभापर्व १३।५५)। जनसख्या के खड अशो को किस प्रकार शनैः-शनैः समाज के शरीर मे विलीन होने के लिये छोड दिया जाता था, इसका यह अच्छा उदाहरण है।

चार प्रकार के व्रात्य स्तोम—व्रात्यस्तोम यज्ञ की विधि अत्यन्त सरल

थी जिसमे कई तरह की छूट दी गई थी। व्रात्यों से जटिल कर्मकाण्ड के निर्वाह की आशा नहीं की जा सकती थी। कहा गया है कि व्रात्य-स्तोम के लिये श्रौत अग्नि नही चाहिए, उसे लौकिक अग्नि मे ही कर सकते हैं (कात्यायन, १।१।१४)। भाड या चूल्हे मे से अग्नि लाकर हवन किया जा सकता है। जिस जनपद मे जो सामान सुलभ हो उसी से काम चलाया जा सकता है (यथा द्रव्ये जनपदे यजेत्, वही, २२।२।२२)। व्रात्यो के समूह मे चार प्रकार की टोलियाँ होती थी। उनके लिये श्रौतसूत्रो मे चार प्रकार के व्रात्यस्तोमो का विधान किया गया है। व्याकरण शास्त्र की शब्दावली से भी उसका मेल बैठता है।
(१) पहला व्रात्यस्तोम उस प्रकार के लोगो के लिये था जो व्रात्यो मे आचार्य या पूजा-पाठ करानेवाले थे। कात्यायन ने उन्हे व्रात्यगण के धार्मिक कृत्यो का सम्पादन करानेवाला कहा है (व्रात्यगणस्य ये सम्पादयेयुः, वही २२।४।३)। संयुत्त निकाय के ऊपर कहे हुए उद्धरण में व्रात्यो के आचार्यों का उल्लेख है। लाट्यायन श्रौत० मे ज्ञात होता है कि ये ही लोग व्रात्यो के मागध या बन्दी सूत थे जो उनके यहाँ की लोक-गाथाओ को गाकर सुनाते और धार्मिक कृत्य भी कराते थे। एक प्रकार से ऐसे लोग जातीय अनुश्रुति के रक्षक थे और वे व्रात्यो में ब्राह्मण स्थानीय माने जाते थे। ज्ञात होता है कि पाणिनि के ब्राह्मणकृत या ब्राह्मणभूत व्रात्य ये ही लोग थे। हो सकता है कि ब्राह्मण बना लेने पर भी उनके साथ व्यवहार में कुछ उन्नीस-बीस का अन्तर बना रहता था, और उन्हे ब्रह्मबन्धु कहा जाता था (तुलना कीजिए, जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ५।४।९)। उद्योगपर्व में यज्ञ करानेवाले व्रात्य को हेठी निगाह से देखा गया है (स्रुव-प्रगहणो व्रात्य., ३५।४१)।

२—दूसरा व्रात्य स्तोम उन लोगो के लिये था जिन्हें कात्यायन ने निन्दित और नृशंस कहा है। द्वितीयेन निन्दिता नृशंसा, २२।४४)। उन्हे ही व्याकरण-साहित्य मे उत्सेधजीवी कहा गया है। अवश्य ही व्रात्यो के कबीलो मे यह अंश सबसे खूँखार और लडाकू था, लूटमार ही उनका पेशा था। उनका संस्कार, शुद्धि या मार्जन सबसे कठिन कार्य था।

३—तीसरा व्रात्यस्तोम कनिष्ठ युवको के लिये था (तृतीयेन कनिष्ठाः, २२।४।५)। युवको का यह अंश उत्सेधजीवी या लोकत्रास का कारण न होने से अपेक्षाकृत सरलता से संस्कार-सम्पन्न बनाया जा सकता था। कनिष्ठ व्रात्यो के समकक्ष पाणिनि के कुमारपूग थे (पूगेष्वन्यतरस्याम् ६।२।२८, पूगा गणास्तद्वाचिन्युत्तरपदे कुमारस्य वा आद्युदात्तः कर्मधारयेसमासे; कुमारचातकाः, कुमारलोहध्वजाः)। इससे यह भी अनुमान होता है कि पूग और व्रात दोनो प्रकार के सङ्घो मे साम्य

था। जैसे पूगो मे कुमारो का सङ्गठन था वैसे ही व्रातो मे भी। दोनो ही संघ या गण शासन की अविकसित दशा में थे।

४—चौथा व्रात्यस्तोम ज्येष्ठ (कात्यायन २२।४।६) या स्थविर (वही २२।४।७) लोगो के लिये था। व्रात्यसघो की कुल संख्या मे ये कुलवृद्ध, स्थविर या वृद्ध थे जो व्रात्यो की सभा मे गृहपति होकर भाग लेते थे। आजकल के शब्दों में जिरगो मे सम्मिलित होनेवाले ये ही लोग थे। जिन्हे व्रात्यो के आचार्य कहा गया है उनके प्रतिनिधि कबायली लोगो के वर्तमान पीर है।

व्रात और पूगो का विस्तृत प्रदेश उदीच्य भारत मे था जहाँ उनके नाना प्रकार के सघो की शृङ्खला फैली हुई थी। पाणिनि ने उनके नामो और गण-शासन का सूक्ष्म अध्ययन किया था। किन्तु देश के अन्य भागो मे भी अनेक जातियाँ वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा से बहिर्भूत थी। उन्हें भी ऊपर की युक्तियो से व्यवहार्य बनाया जा रहा था। सुराष्ट्र के अन्धक वृष्णियो मे व्रात थे। मागधदेशीय ब्रह्मबंधुओ का उल्लेख आता है। प्राच्य देश के लिच्छवि, मल्ल, शाक्य आदि सघ 'क्षत्रियकृत' राजन्यो के उदाहरण थे जो सघ शासन की कृपा से सुसस्कृत जीवन के अनुयायी बन गए।

अध्याय ७ परिच्छेद ८—संघों के नाम

इस प्रकरण में उन सघो की जिनके नाम सूत्रो और गणो में आए हैं, भौगोलिक पहचान का प्रयत्न किया गया है। संघ सम्बन्धी सूची निम्नलिखित प्रकार की है—

(१) वे आयुधजीवी सघ, जिनके नाम सूत्रो मे आए हैं (५।३।११,४।१।१७)।

(२) वे आयुधजीवी संघ, जिनके नाम दामन्यादि (५।३।११६) पर्श्वादि (५।३।११७) और यौधेयादि (५।३।११७) गणों मे हैं।

(३) वे सङ्घ, जिनके नाम सूत्रो मे हैं, किन्तु जिनके विषय मे अष्टाध्यायी के अतिरिक्त अन्य स्रोतो से उनका सङ्घ होना ज्ञात होता है।

(४) कुछ अन्य नाम जिनके विषय मे यह निश्चित उल्लेख नहीं कि वे आयुध-जीवी अथवा किस प्रकार के सङ्घ थे।

वाहीक के आयुधजीवी सङ्घ—पाणिनि ने प्रकरण के आरम्भ मे वाहीक देश के आयुधजीवी सङ्घो का उल्लेख किया है। वाहीक की भौगोलिक परिभाषा कर्ण पर्व के अनुसार सिन्धु और उसकी सहायक पाँच नदियो के बीच का प्रदेश थी (पंचाना सिन्धु षष्ठाना नदीना येऽन्तराश्रिता। वाहीका नाम ते देशा, कर्ण ४४।७)। यह प्रश्न होता है कि वाहीक मे पञ्च नद प्रदेश या पंजाब का केवल मैदानी भाग लिया जाता था अथवा कुल्लू-कांगड़े का पहाड़ी प्रदेश भी। पुराणो के भुवन कोश में

त्रिगर्त आदि जनपदो को पर्वताश्रयी विभाग मे रखा है और उसे उदीच्य से पृथक् माना है, जिसमें कि पजाब के मद्र आदि जनपद थे । इससे इङ्गित होता है कि वाहीक के भौगोलिक विस्तार मे त्रिगर्त की गणना न थी । इस तथ्य का समर्थन पाणिनि के दामन्यादि त्रिगर्त षष्ठाच्छः (५।३।११६) सूत्र से होता है, क्योकि टीकाकार उस सूत्र मे वाहीक की अनुवृत्ति नही मानते ।

वाहीक के आयुधजीवी सङ्घो में काशिका ने कौण्डीवृस, क्षुद्रक और मालव का नामोल्लेख किया है । क्षुद्रक, मालव प्रसिद्ध गणराज्य थे, जिनके विषय मे यूनानी लेखकों से पर्याप्त जानकारी प्राप्त होती है । इसके अतिरिक्त पाँचवी चौथी शती ई० पू० का पंचनद प्रदेश ठाँव-ठाँव पर गणराज्यो से भरा हुआ था ।

पाणिनि ने वाहीक देश मे ब्राह्मण सङ्घो का भी उल्लेख किया है । काशिका से ज्ञात होता है कि गोपालव नामक सङ्घराज्य ब्राह्मणो का था (गोपालवा ब्राह्मणा॰) ।

(१) राजन्य—सूत्र ५।३।११४ मे पठित राजन्य शब्द के विषय मे टीकाकारो का मत है कि वाहीक देश के राजन्य नामक सङ्घ विशेष से यहाँ तात्पर्य है । (राजन्ये स्वरूप ग्रहणम्) । तथ्य यह था कि पजाब मे दो राजन्य थे । एक राजन्य नामक सङ्घ जिनके सिक्के होश्यारपुर जिले मे पाए गए हैं । दूसरे राजन्यो का विषय या देश राजन्यक कहलाता था (राजन्यादिभ्यो वुञ् , ४।२।५३) । ये राजन्य कांगडा के पहाडी इलाको में बसे हुए राणा थे आज तक जिनकी यह उपाधि चली आई है । यद्यपि इनकी सामान्य उपाधि राजन्य थी, किन्तु हरेक सघ का अपना-अपना नाम था । शालंकायन नामक राजन्य जिसका उल्लेख भाष्य और काशिका मे आता है, राणाओ के प्रदेश का कोई सघ विशेष था । शालंकायन सघ में तीन अवयव राज्यो का समावेश था, जैसा 'त्रिकाः शालंकायनाः' से ज्ञात होता है (भाष्य ५।१।५८, संख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु) वस्तुतः शालंकायनों की प्रसिद्धि ही त्रिक नाम से हो गई थी । सम्भव है शालंकायन संघ का मूल उद्गम शालंकायन गोत्र से हुआ हो जिसका उल्लेख नडादिगण में (शलंकु शलंक च, ४।१।९९) । गोपालव ब्राह्मण और शालंकायन राजन्य इन दोनो संघो का आपस मे कुछ संघर्ष या द्वन्द्व था (गोपालिशालकायनाः कलहायन्ते, सूत्र २।४।९ का प्रत्युदाहरण) ।

(२) वृक—वृक नामक आयुधजीवी सघ का प्रत्येक सदस्य वार्केण्य कहलाता था । वृक सघ के भौगोलिक स्थान का ठीक निश्चय नही । काशिका के अनुसार सूत्र मे वाहीक की अनुवृत्ति नही आती, अतएव यह वाहीक से बाहर का कोई सघ होना चाहिए, यद्यपि पजाब मे शेखूपुरा तहसील मे विर्क नामक जाटो की एक जाति अभी तक पाई जाती है । यदि वाहीक से बाहर ही कोई वृकसङ्घ था तो दारा के

बहिस्तून लेख मे वर्का नामक शक जाति का उल्लेख आता है जिसका एक वचन में रूप वार्कण होता था। ये दोनो पाणिनि के वृका: और वार्केण्य से मिलते हैं। उत्तर पूर्वी ईरान मे पार्थिया के उत्तर का हिर्कानिया प्रदेश वृको का मूल स्थान था। इस समय वह गुर्गान कहलाता है (स० वृक० = फा० गुर्ग)। ईरान के अस्तराबाद जिले में इसी नाम की एक नदी घाटी है जहाँ वृक जाति के लोग रहते थे। सम्भवत: पजाब के विर्क जाटो के पूर्वज शको की वृक शाखा से सम्बन्धित थे।

(३) दामनि (५।३।११६)—दामनि नामक आयुधजीवी संघ का वाहीक के साथ सम्बन्ध न था। बलूचिस्तान के उत्तर-पश्चिम में चगाई प्रदेश मे दामनी नामक बलिष्ठ लडाकू जाति आजतक निवास करती है।

(४) त्रिगर्तषष्ठ (५।६।११६)—पाणिनि ने त्रिगर्त के छह सघ राज्यो का उल्लेख किया है जो सब आयुधजीवी थे। महाभारत मे त्रिगर्त के ससप्तकगणो का उल्लेख आता है। सम्भव है उसके अन्तर्गत सात छोटे सङ्घो का एक बडा गणराज्य रहा हो। इस प्रदेश का पुराना नाम जालधरायण भी था (राजन्यादिगण ४।२।५३) त्रिगर्तषष्ठ महासघ के छ राज्य ये थे—(१) कौण्डोपरथ, (२) दाण्डकि, (३) क्रौष्टुकि, (४) जालमानि, (५) ब्राह्मगुप्त, (६) जानकि। ब्राह्मगुप्त की पहचान आधुनिक भ्रमोर (ब्रह्मपुर) से की जा सकती है। जानकि सघ की सेना त्रिगर्त के राजा सुशर्मा की सहायक बनकर भारतयुद्ध मे दुर्योधन की ओर से लडी थी (आदिपर्व ६१।१७, उद्योग ४।१७)।

(५) यौधेय (५।३।११७)—यौधेय सङ्घ के सम्बन्ध मे पाणिनिकृत यह उल्लेख सबसे प्राचीन है। यौधेय भारतीय इतिहास मे प्रसिद्ध हैं। विभिन्न युगो के उनके लेख और सिक्के मिले हैं। पाणिनि से समुद्रगुप्त के काल, अर्थात् लगभग आठ सौ वर्षों तक उनका अस्तित्व रहा। ई० पू० २००—२०० ई० के बीच मे वे सतलज के पूर्व और यमुना के पश्चिम में फैले हुए थे। महाभारत के अनुसार बहुधान्यक प्रदेश मे रोहीतक उनकी राजधानी थी। सुनेत या सुनेत्र जिसका सकलादिगण (४।२।७५) में पाठ है यौधेयो का दूसरा केन्द्र था जहाँ उनकी मुद्राएँ मिली हैं। रोहीतक के पहले सम्भवत सुनेत ही उनकी राजधानी थी। पूर्व मे होने के कारण सिकन्दर से यौधेयो का सघष नही हो सका। प्राचीन यौधेयो के वशज पजाब मे आधुनिक जोहिए राजपूत हैं।

(६) पर्शु (५।३।११७)—इस आयुधजीवी सघ का बहुवचनान्त नाम पर्शव: और एक सदस्य पार्शव कहलाता था। पर्शुओ का उल्लेख ऋग्वेद (८।६।४६) में भी आता है (शतमहं तिरिन्दिरे सहस्र पर्शावाददे। तिरिन्दिर = तिरिदात: पर्शु = पारसीक, ऐसे सब विद्वानो ने माना है)। लुडविग और वेबर ने उनकी पहचान ईरानी पारसीको से की है जो अपने देश मे पार्स कहलाते थे। कीथ ने इस पहचान

को स्वीकार करते हुए लिखा है कि प्राचीनकाल से ईरानी और भारतवासियों का घनिष्ठ सम्पर्क था (वैदिक इण्डेक्स, १।५०५)।

दारा प्रथम (५२१–४८६ ईस्वी पूर्व) के बहिस्तून शिलालेख में गन्धार और पार्स दोनो का साथ उल्लेख है। गन्धार दारा के साम्राज्य का एक प्रान्त था किन्तु पाणिनि ने गान्धारि का उल्लेख स्वाधीन एकराज जनपद के रूप में किया है। (माल्वेय गान्धारिभ्या च ४।१।१६९, गान्धार. क्षत्रिय., गान्धारो राजा)। ज्ञात होता है कि दारा और क्षयार्ष के बाद गन्धार जनपद ने अपने आपको ईरानी प्रभुत्व से मुक्त कर लिया था। दारा ने अपने को पार्स कहा है (शूषालेख), जो पाणिनीय पार्शव (पर्शु से स्वार्थ में अण् प्रत्यय) से मिलता है। बौधायन ने गान्धारि और स्पर्शु का साथ उल्लेख किया है (बौधायन श्रौत० १८।४४; वैदिक इण्डेक्स २।२७९)।

गण-पाठ में आयुधजीवी संघ

दामन्यादि, पर्श्वादि, यौधेयादि गणो में निम्नलिखित तैंतीस आयुधजीवी संघो के नाम हैं—

(१) दामन्यादि—दामानि, औलपि, काकदन्ति, अच्युतन्ति, शत्रुन्तपि, सार्वसेनि, वैन्दवि, मौञ्जायन, तुलभ, सावित्रीपुत्र, बैजवापि, औदकि।

(२) पर्श्वादि—पर्शु, असुर, रक्षस्, वाह्लीक, वयस्, मरुत्, दाशार्ह, पिशाच, अशनि, कार्षापण, सत्वत्, वसु।

(३) यौधेयादि (५।३।११७; ४।१।१७८)—यौधेय, शौभ्रेय, शौक्रेय, ज्यावाणेय, वार्त्तेय, त्रिगर्त, भरत, उशीनर।

इस सूची मे मौञ्जायन, पर्शु, वाह्लीक, दशार्ह, सत्वत् इन परिचित नामों के आधार पर निश्चित होता है कि वाह्लीक से बाहर के गणो का भी पाणिनि ने यहाँ परिगणन किया है।

१ दामन्यादि गण—इस गण के निम्नलिखित नामो पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

मौञ्जायन—वंक्षु नदी के दक्षिण और हिन्दूकुश के उत्तर का एक प्रदेश इस समय मुजान कहलाता है। यही प्राचीन मौञ्जायन था। यहाँ की भाषा मुजानी है जो मौञ्जायनी से निकला हुआ शब्द है (शार्ङ्गरवादि गण ४।१।७३)। नडादि गण में पठित मुज से गोत्रापत्य अर्थ मे मौञ्जायन सिद्ध होता है (४।१।९९)। ऋग्वेद (१०।३४।१) मे मौजवत सोम और यजुर्वेद (३।६१) में मूजवन्त प्रदेशका उल्लेख है। अथर्ववेद मे तो स्पष्ट ही मूजवन्त को बह्लिक अर्थात् वाह्लीक का पडोसी देश कहा है (तक्मन् मूजवतो गच्छ बह्लिकान् परस्तरान्, अथर्व ५।२२।७ और भी वही ५।२२।५, ५।२२।१४, ५।२।८)।

सावित्री-पुत्र—इस नाम का छोटा सघ सावित्री-सत्यवान् के पुत्रशतो से अपना उद्गम मानता था। महाभारत में उसका परिचय आया है। (आरण्यक पर्व २९७। ५८; कर्ण पर्व ५।४९)। इसकी भौगोलिक स्थिति पंजाब मे उशीनरो के पड़ोस में झंगमघियाना प्रदेश मे रही होगी।

सार्वसेनि—इस आयुधजीवी सघ का उद्गम सर्वसेन नामक संघ से हुआ था जिसका उल्लेख शण्डिकादिगण (४।३।९२) मे आया है। सर्वसेन जनपद का उल्लेख भीष्मपर्व (१०।५९) एवं काशिका मे भी है—सूत्र ८।१।५ पर परि परित्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव., परि परि सौवीरेभ्य:, परि परि सर्वसेनेभ्य:। सूत्र ६।२।३३ में यह इस प्रकार है—परि त्रिगर्तं वृष्टो देवः, परि सौवीरं, परि सार्वसेनि। पहले दो उदाहरण भाष्य मे भी हैं (६।२।३३) जो प्राचीन मूर्धाभिषिक्त उदाहरण थे। त्रिगर्त सौवीर और सर्वसेन के परे-परे वृष्टि हुई, इन वाक्यो का तात्पर्य यह हुआ कि ये तीनो सूखे प्रदेश पर्जन्य वायु के क्षेत्र से बाहर थे। त्रिगर्त (कुल्लूकांगडा), सौवीर (सिन्ध बहावलपुर) के अतिरिक्त तीसरा सूखा प्रदेश बीकानेर का उत्तरी भूभाग है जिसकी पहचान सर्वसेन से की जा सकती है। सर्वसेन या सार्वसेनि नाम से प्रकट है कि यह ऐसे लोगों का सघ था जो सब सैनिक थे। पहले कहा जा चुका है कि साल्वो की एक शाखा का नाम मद्रकार था। प्रशिलुस्की के अनुसार कार शब्द सेना के अर्थ मे प्राचीन ईरानी भाषा मे प्रयुक्त था। भारतवर्ष में भी उस शब्द की परम्परा चली आई। प्राचीन साल्वो को मध्यकालीन कोशो में कारकुक्षीय कहा गया है (हेमचन्द्र, अभिधान चिन्तामणि ४।२३)। कारकुक्षीय का अर्थ है—जिसकी कुक्षि या गर्भ मे कार अर्थात् सैनिक भरे हो। साल्वो के लिये यह नाम यथार्थ था। उत्तरमद्र या बाल्हीक; ईरान और भारत के मद्र, उशीनर आदि कई देशों के सैनिको की टुकडिया माल्व जनपद में बसी हुई थी। यमुना तट का कारपचव प्रदेश भी साल्वो का टुकडा ज्ञात होता है (कात्यायन श्रौ० २४।६।१०)

वैजवापि—इस संघ का उल्लेख रैवतकादि ४।३।१३१) एव सुतगमादिगण (४।२।८०) गणो में भी आया है। भाष्य (२।४।८१), चरक (१।१।१०) एव शतपथ (१४।५।५।२०, वैजवापायन) में वैजवापियों का नाम है।

२ पर्शु-आदि (५।३।११७)—इस गण के सघो की पहचान यह है—

बाह्लीक—अथर्ववेद मे इसका रूप बह्लिक है। आधुनिक बल्ख के साथ इसकी पहचान असदिग्ध है। पाणिनि से कुछ पूर्व दारा प्रथम के राज्य में बाह्लीक उसका एक प्रान्त था। उसके बाद पाणिनि के समय मे वह आयुधजीवी संघ के रूप मे संगठित हो गया। ठीक यही बात गन्धार जनपद के साथ घटित हुई थी। बाह्लिक को भाष्य मे बाह्लि भी कहा है। महाभारत में वाहीक के लिये कई बार बाह्लीक नाम आता है। मद्र व्युषिताश्व की सतान थे। ज्ञात होता है कि ईरानी प्रदेश बाह्लीक ही

उत्तरमद्र था। जब मद्र लोग बाह्लीक देश से आकर शाकल मे प्रतिष्ठित हुए तो वाहीक के लिये भी वाह्लीक नाम विकल्प से प्रयुक्त होने लगा। मद्रराज शल्य वाह्लीक पुगव कहे गए हैं।

असुर—वैसे तो भारतीय साहित्य मे असुर सामान्य जातिवाचक नाम है, पर इस गण मे यह आयुधजीवी सघ का नाम है। जब पाणिनि को पर्शु सघ का परिचय था तो सम्भावना है कि असीरिया के निवासी असुरो का नाम भी उन्हे विदित था। बहिस्तून के शिला लेख मे इन्हे अथुरा (प्राचीन ईरानी) और अश्शुर (शूपा की भाषा) कहा गया है।

(३) पिशाच—यद्यपि कच्चा माम खाने वालो के लिये यह सामान्य शब्द था, पर ग्रियर्सन ने सिद्ध किया है कि उत्तर-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश मे दरदिस्तान, चितराल के लोगो का व्यापक जातीय नाम पिशाच था क्योकि उनमे कच्चा मास खाने का किसी समय बहुत रिवाज था। काफिरिस्तान के दक्षिण आधुनिक लमगान (प्राचीन लम्पाक) के पडोसी पशाई काफिरो की पहचान हर्नली ने पिशाचो से की थी जिसे ग्रियर्सन ने भी ध्वनि शास्त्र की दृष्टि से समीचीन माना था (पिशाच, जेआरएएम, १९५०, २८५–८८)। पार्जिटर ग्रियर्सन से सहमत थे। उनका कथन है कि पिशाच वास्तविक जाति की संज्ञा थी, उसीका विकृत रूप दैत्य-दानव वाची पिशाच शब्द में आ गया (जेआरएएस, १९१२, पृ० ७१२)। पैशाची प्राकृत की अनुश्रुति इतनी पुष्ट है कि उसके बोलने वालो के अस्तित्व मे सदेह का कारण नहीं।

(४) रक्षस्—रक्षस् से स्वार्थ में अण् प्रत्यय जोड कर राक्षस शब्द बनता है। यह भी जातिवाचक नाम था। किन्तु यहाँ संघ विशेष के लिये है। उत्तरी बलूचिस्तान के चगाई प्रदेश में रक्षानी एक बडा कबीला है (इम्पीरियल गजेटियर १०।११७)। सम्भव है वे ही रक्षस् नामक आयुधजीवी हो।

(५) मरुत्—इनकी पहचान सम्भवत· बन्नू जिले की मरवत तहसील मे इसी नाम के कबीले से है (इम्पीरियल गजेटियर ६।३९४)। मध्वादि गण (४।२।८६) मे मरुत से मरुत्वन्त स्थान नाम सिद्ध किया गया है।

(६) अशनि और (७) कार्षापण—इन दो नामो का एक साथ पाठ साभिप्राय है। इनके समकक्ष शिनवारी और कार्पबुन नामक दो पठान कबीले हैं जिनका परस्पर रक्त सम्बन्ध है (इम्पीरियल गजेटियर, उत्तर-पश्चिमी सीमाप्रान्त, पृष्ठ ७९)। शिनवारियो में अभी तक गौ को पवित्र मानते हैं। उनके हर गाँव खेडे मे पवित्र पाषाण पाए जाते हैं जो प्राचीन मूर्ति-पूजा के अवशेष हैं (अफगानिस्तान गजेटियर, पृ० ४९)। इस्लाम धर्म-परिवर्तन के बाद भी उनकी स्त्रियाँ परदा नही करती और पुरुषो के साथ बेरोक टोक बाहर निकलती हैं।

(८) सात्वत, (९) दाशार्ह—ये दोनों अन्धकवृष्णि संघ के अन्तर्गत छोटे आयुधजीवी संघ थे।

(१०) वयस् और (११) वसु—पहचान अज्ञात है।

३ यौधेयादि गण—अष्टाध्यायी में दो बार इस गण का पाठ है (५।३।११७, ४।१।१७८)। न्यासकार को यह विचित्र प्रतीत हुआ (विचित्रा हि गणाना कृति-र्गणकारस्येति पुन पठिता)। दोनों सूचियों में जो नाम एक से हैं वे ही मूल पाठ में थे—

(१) यौधेय—इनका विवरण पहले दे दिया गया है।

(२) शौभ्रेय—इनका पूर्व पुरुष कोई शुभ्र था जिसका उल्लेख शुभ्रादिभ्यश्च सूत्र में है (४।१।१२३)।

यूनानी इतिहास लेखकों ने रावी और चनाव के संगम के पास सबरकाइ (कर्तिअस) या सबग्राइ (ओरोसिअस) नामक अत्यन्त बलशाली संघ का उल्लेख किया है। शासन के सम्बन्ध में विशेष रूप से उसे गण-राज्य कहा है। उनकी सेना में साठ सहस्र-पदाति, छह सहस्र अश्वारोही, और पाँच सौ रथ थे जिसका संचालन बल और युद्ध विद्या में दक्ष क्रमश. तीन सेनापतियों द्वारा होता था (मैक्रिण्डिल, एलेक्जेण्डर, पृ० २५२)। इस संघ की पहचान पाणिनि के आयुधजीवी शौभ्रेयों से सम्भव है।

(३) शौक्रेय—इस सघ की ठीक पहचान अनिश्चित है। शकों में सकरौलोइ जाति का उल्लेख आता है एवं मथुरा के पुण्यशाला स्तम्भ में शकों की सरुक शाखा का नाम है। सम्भव है ये दोनों शौक्रेय से सम्बन्धित हों।

(४) वार्तेय—कराची के पश्चिम पुराली नदी के पश्चिम में ओराइतइ नामक एक भारतीय संघ का उल्लेख आता है। कर्तियस के अनुसार यह जाति सदा से स्वाधीन थी। उसने दूत भेजकर सिकन्दर से संधि कर ली। यूनानी उच्चारण के ठीक अनुरूप यही वार्तेय संघ ज्ञात होता है।

(५) धार्तेय—पहचान अज्ञात।

(६) ज्याबाणेय—इस नाम की ध्वनि उस जाति से है जो प्रत्यञ्चा से बाण का काम लेती थी। व्रात्यों में बिना बाण के ज्याह्रोड नामक धनुष का रिवाज था (अनिषु धनुष्, लाट्यायन श्रौत०, ८।७; ताण्ड्य १७।१।२४)।

यह पत्थर-मिट्टी के गुल्ले चलाने की गुलेल ज्ञात होती है। ज्याबाणेय व्रात्यों के अन्तर्गत कोई आयुधजीवी सघ था। महाभारत में पर्वतीयों को विशेष रूप से अश्म युद्ध में कुशल कहा है जो पत्थर के ढोके लुढ़का कर या ढेलवास (क्षेपणीय) से शिला बरसाकर युद्ध करते थे (द्रोणपर्व १२१।३४, ३५)। यह सघ भी पर्वताश्रयी आयुधजीवी सघों में से एक ज्ञात होता है।

(७) त्रिगर्त—त्रिगर्तषष्ठ मे जो छह नाम हैं उनके अतिरिक्त स्वयं त्रिगर्त भी पृथक् आयुधजीवी सघ था ।

(८) भरत—केवल इसी गण मे भरतो को आयुधजीवी सघ कहा गया है । या तो यह कोई पुरानी अनुश्रुति थी, अथवा पाणिनि के समय में प्राचीन भरतजन की कोई टुकडी सघ रूप मे सङ्गठित हो गई थी । पाणिनि ने भरत जनपद को प्राच्य और उदीच्य की मध्यवर्ती सीमापर माना है । सूत्रो मे भरत और कुरु दानो का नाम आता है । कुरु जनपद की राजधानी हास्तिनापुर थी और वह एकराज जनपद के रूप मे सङ्गठित था (४।१।१७२) । कौटिल्य ने कुरु पचाल दोनो को राजशब्दोपजीवी सघ कहा है । काशिका मे भी कुरु-पंचालो की अंधकवृष्णि के समान मूर्धाभिषिक्त राजन्यो से शासित माना है जिससे कुरु-पंचालो के संघ का अनुमान होता है (६।२।३४) । इस द्विविध साक्षी से ज्ञात होता है कि भरत नामक जनपद मे आयुधजीवी संघ राज्य था । एवं कुरुओ के दो विभाग थे एक संघ दूसरे एकराज । यमुना और कुरुक्षेत्र के बीच में ये सघ फैले हुए थे ।

(९) उशीनर—भौगोलिक दृष्टि से यह वाहीक का एक भाग था । पाणिनि के समय मे यहाँ आयुधजीवी संघ शासन था ।

ऊपर संघो के जो नाम दिए हैं उनके पीछे सूत्रकार का विशेष उद्देश्य था । प्रत्येक संघ के निवासी सदस्य के लिये भाषा मे किस प्रकार का शब्दरूप प्रयुक्त होता था इसकी छानबीन व्याकरण की दृष्टि से आवश्यक थी । उदाहरण के लिए कौण्डिवृस्य क्षौद्रक्य, मालव्य, वार्केण्य, दामनीय, औलपीय, कौण्डोपरथीय, मौञ्जायनीय, वैन्दवीय सावित्रीपुत्रीय, दाशार्ह, सात्वत, पार्शव, त्रैगर्त, भारत, औशीनर आदि शब्द रूप उस-उस नाम के सघ मे वहाँ के निवासियो के लिये लोक मे प्रयुक्त होते थे । उनकी तथ्यात्मक जानकारी इस प्रकरण का उद्देश्य थी ।

कुछ अन्य सङ्घों के नाम

सूत्रों मे कुछ और नाम भी हैं जिनके विषय मे अन्य स्रोतो से ज्ञात होता है कि वे सघ राज्य थे—

वृजि (मद्रवृज्यो. कन्, ४।२।१३१)—बौद्ध साहित्य में इन्हे वज्जि कहा है जो प्रसिद्ध सघ राज्य था । वह आठ अवान्तर जातियो का सयुक्त संगठन था जिनमे लिच्छवि और विदेह सबसे महिमाशाली थे । गगा के उत्तर मुजफ्फरपुर चम्पारन मे वृजियो के गणराज्य की राजधानी वैशाली-नगरी थी ।

अन्धकवृष्णि (६।२।३४)—महाभारत और कौटिल्य दोनो के अनुसार अंधक-वृष्णि सघराज्य था । पाणिनि के अनुसार अन्धकवृष्णि सघ में राजन्यो द्वारा शासन की व्यवस्था थी (राजन्य बहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु) । अन्धकवृष्णिसघ मे

दूसरे सघो की भाँति कुलो का शासन था। प्रत्येक कुल का अधिपति राजा कहलाता था। उन्ही के अपत्यो की सज्ञा राजन्य थी (राजश्वशुराद्यत्; ४।१।१३७; राजन्यो भवति क्षत्रियश्चेत्)। ये राजन्य अभिषिक्त वंश क्षत्रिय होते थे (राजन्यग्रहणं हि अभिषिक्तवंश्याना क्षत्रियाणा ग्रहणार्थम्-काशिका)। अन्धकवृष्णिसघ की विशेषताएँ ध्यान देने योग्य हैं। एक तो यह कई अवयवो को संयुक्त करके सगठित हुआ सघ था। इसका भौगोलिक विस्तार बहुत था। सुराष्ट्र के समुद्रतट के समीपवर्ती द्वीपो के निवासी भी जो द्वैप कहलाते थे इस सघ के अन्तर्गत थे, किन्तु सघ की प्रभुसत्ता उनके हाथ मे न थी। काशिका ने लिखा है कि द्वैप्य और हैमायन जैसी अवान्तर शाखाओं को अन्धकवृष्णि सघ की सदस्यता प्राप्त थी, पर वे राजन्य न थे। इस सघ की अन्य विशेषता सुविकसित राजनैतिक दलो का सङ्गठन था। पतञ्जलि ने अक्रूरवर्ग्य—अक्रूरवर्गीण, वासुदेववर्ग्य—वासुदेववर्गीण अर्थात् अक्रूर और वासुदेव के दलो के सदस्यों का उल्लेख किया है। अक्रूर, श्वाफल्क, शिनि अन्धको के एवं कृष्ण, बलराम, नकुल आदि वृष्णियो के नेता थे। वस्तुतः इस सूत्र में शिनि वासुदेवाः, श्वाफलक-चैत्रक रोधका, इत्यादि प्रयोग नेताओ के नाम के अनुसार कई वर्गों के संयुक्त सदस्यो के वाचक हैं।

भर्ग (४।१।१७८)—भर्गात्त्रैगर्ते (४।१।१११) सूत्र के अनुसार त्रिगर्त देश में भर्ग एक गोत्र का नाम था। सूत्र ४।१।१७८ में भर्ग जनपद है। वहाँ एकराज्य था या गण शासन यह अष्टाध्यायी मे स्पष्ट नही होता, किन्तु बौद्ध साहित्य में भग्ग एक संघ था जिसकी राजधानी शिशुमारगिरि थी।

कुछ अन्य नाम

गण पाठ में कुछ और भी महत्व पूर्ण नाम हैं। यूनानी लेखको से ज्ञात होता है कि वे सघ शासन के अनुयायी थे। सम्भवतः वे आयुधजीवी सङ्घ थे—

(१) क्षुद्रक—५।३।११४ सूत्र के उदाहरणों मे क्षुद्रको को वाहीक देश का आयुधजीवी सघ माना है। क्षुद्रकमालवात् सेनासज्ञायाम्, इस गण सूत्र के (४।२।४५) आधार पर ज्ञात होता है कि पाणिनि के समय में ये दोनो गण राज्य समृद्ध दशा में थे और दोनो की सम्मिलित सेना क्षौद्रकमालवी नाम से प्रसिद्ध थी। श्री रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर ने सर्व प्रथम क्षुद्रको की ठीक पहचान यूनानी लेखको के ओक्षिमद्रकाइ से की थी। कर्तियस के सुद्रकाइ भी क्षुद्रक ही हैं (मेक्रेण्डिल एलक्जेण्डर, पृ० २३८)।

(२) मालव—यूनानियो के मल्लोइ संस्कृत साहित्य के मालव थे, यह पहचान अब सर्वमान्य है। यूनानी इतिहासकारो के अनुसार मालव रावी और चनाब के सगम के समीप सन्निविष्ट थे। क्षुद्रक उन्हीं के पडोस में रावी के पूरब मे विस्तृत प्रदेश मे आबाद थे। दोनो ने सिकन्दर का प्रतिरोध किया था। भाष्य में एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जि-

तम् उदाहरण आया है जिससे अनुमान होता है कि मालवो से वियुक्त होने पर भी क्षुद्रको ने अकेले ही युद्ध किया था और उसमे वे विजयी हुए थे।

(३) वसाति (४।२।५३ राजन्यादि गण)—इसकी पहचान यूनानी ओस्सदिवोइ (Ossadioi) से की गई है। चनाव और सतलज की सयुक्त धारा जहाँ सिन्धु से मिलती है उसके समीप कही वसातियो का राज्य था। महाभारत मे वसातयः समौलेयाः (सभा ५१।१५) उल्लेख से मूला नदी के भौगोलिक क्षेत्र के पडोस मे वर्तमान सीवी के आसपास वसातियो का निवास सूचित होता है।

(४) आप्रीत (राजन्यादि गण)—आप्रीतो की पहचान आधुनिक अफ्रीदियो से की गई है। अफ्रीदी स्वयं अपने नाम का उच्चारण अप्रीदी करते हैं (ग्रियर्सन, भाषा सर्वेक्षण, (१०।५)। यह भी कहा गया है कि ऋग्वेदीय अपरीताः नाम ही सस्कृत मे सुधार कर आप्रीता' कर लिया गया। अप्रीदियो का देश अप्रीदी तीरा कहलाता है, जिसकी पहचान भाष्य के ग्रैरावतीक प्रदेश के साथ पहले की जा चुकी है। हीरोदोत ने इन्हें अपरिताइ लिखा है।

मधुमन्त—पाणिनि ने कच्छादि (४।२।१३३) और सिन्ध्वादि (४।३।९३) गणो में मधुमन्तो का उल्लेख किया है। मध्वादिभ्यश्च (४।२।८६) सूत्र में मधुमन्त देश का नाम है। महाभारत मे उदीच्य देशो मे मधुमन्तो की गणना है (भीष्म पर्व ९।५३)। मधुमन्त स्पष्ट ही मोहमन्द है। मोहमन्द कबीले के लोग इस समय काबुल नदी के उत्तर दीर-बाजौर इलाके मे लगभग १२०० वर्गमील के क्षेत्र मे आबाद हैं। जैसा पहले कहा जा चुका है दीर सस्कृत ह्रिरावतीक से सम्बन्धित है जो कि कुनड और पंजकोरा नदियो के बीच का प्रदेश था। इसी प्रकार तीरा या ग्रैरावतीक देश कुभा, बरा (पेशावर की बारा नदी) और सिन्धु इन तीनो नदियो के प्रदेश मे था।

(६) हास्तिनायन, (७) आश्वायन, (८) आश्वकायन—इनमे से पहले का उल्लेख सूत्र ६।४।१७४ मे, दूसरे का ४।१।११० मे और तीसरे का नडादि गण ४।१।९९ मे है। इन तीनो की पहिचान इस प्रकार है। कपिशा के आगे सिन्धु की ओर यात्रा करते हुए सिकन्दर ने इन तीनो जातियो से सम्पर्क किया था। यूनानी लेखको ने लिखा है कि पुष्कलावती मे अस्तकेनोआइ जाति का राज्य था। कुनड या चितराल नदी की घाटियो में अस्पेसिओआइ जाति का और स्वात एवं पञ्जकोरा नदियो के बीच मे अस्सकेनोआइ लोगो का राज्य था। उनकी राजधानी मस्सग मे थी और वे स्वात के पहाडी प्रदेश में आबाद थे इन नामों की पहचान पाणिनीय नामो के साथ यह है—

(अ) अस्पेसिओआइ = सं० आश्वायन, अलीशंग या कुनड़ नदी की दून।

(इ) अस्सकेनोआइ = सं० आश्वकायन, राजधानी मशकावती, स्वात नदी की दून ।

(उ) अस्तकेनोआइ = सं० हास्तिनायन, स्वात और काबुल नदी के सगम के समीप पुष्कलावती मे जो इनकी राजधानी थी ।

इनमें से आश्वायन और आश्वकायन सबसे वीर और लड़ाकू थे जो अपने अजेय पहाडी दुर्गों में सुरक्षा के साथ डटे रहते थे । आश्वकायनो की राजधानी मस्सग या मशकावती थी । भाष्य मे वह एक नदी का नाम है (४।२।७१)। सुवास्तु या स्वात के निचले भाग में बाजौर से २४ मील पर मजग या मस्ससगर नामक शहर है जो प्राचीन मशकावती थी । बाहरी हमले के समय आश्वकायन अपने पहाड़ी दुर्ग मे जो स्वात के उपरले भाग मे था, चले जाते थे । यह स्वात के पूरब में सिन्धु की ओर था । यूनानियो ने उसका नाम एओरनस लिखा है और उसकी दुर्जय स्थिति की बहुत प्रशसा की है । यही पाणिनि का वरणा नगर ज्ञात होता है (४।२।८२)। श्री आरेल स्टाइन ने एओरनस दुर्ग की पहचान ऊँणरा नामक स्थान से की है ।

आश्वायन और आश्वकायन इन दोनो का सम्बन्ध घोडो से विशेष था । यूनानी लेखको के अनुसार अस्पेसिओआइ या आश्वायन खोएस नदी की घाटी मे आबाद थे जिसकी पहचान अवस्ता की ह्वस्प नदी (स सु-अश्व) से की गई है (= आधुनिक चेरखेह, मोदी एसियाटिक पेपर्स, भाग० २, पृष्ठ २०७) । इनसे भिन्न हास्तिनायनो का हस्तिसेना से सम्बन्ध उनके नाम से सूचित है ।

अध्याय ८

पाणिनि के समय पर विचार

अष्टाध्यायी की जिस भौगोलिक और सांस्कृतिक सामग्री पर इस ग्रन्थ मे विचार किया गया है, उसके आधार पर पाणिनि के समय और आपेक्षिक तिथि क्रम पर भी प्रकाश पड़ता है। पाणिनि सस्कृत भाषा के ऐसे गाढे सक्रान्तिकाल मे हुए जब एक ओर वैदिक भाषा और साहित्य का चरम विकास हो चुका था, और दूसरी ओर संस्कृत भाषा, जिसे काव्य भाषा भी कह सकते हैं, अपनी उस महती शक्ति को प्राप्त कर रही थी जो वाल्मीकि और व्यास के श्लोक छन्दो मे निहित है। पाणिनि की भाषा लोक व्यवहार की साधु भाषा थी। वह जीवन के व्यापक क्षेत्र मे भाव प्रकाशन की सक्षम माध्यम थी। कौटिलीय अर्थ शास्त्र के कितने ही शब्द और संस्थाओ का उल्लेख अष्टाध्यायी मे आता है। महाभारत, गृह्यसूत्र, श्रौतसूत्र, पाली साहित्य, अर्धमागधी आगम साहित्य, इन सब में पाणिनीय सस्थाओ के उल्लेख मिलते हैं। इनकी सहायता से उन शब्दो के अर्थ और सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि को समझने मे सहायता मिली तथा पाणिनि के कालक्रम पर भी प्रकाश प्राप्त होता है।

पूर्वमत—पाणिनि के काल का निर्णय संस्कृत साहित्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। कितने ही विद्वानो ने इस प्रश्न पर विचार किया है। गोल्डस्टूकर के अनुसार पाणिनि सातवी शती ईस्वी पूर्व में हुए। श्री रामकृष्ण गोपाल भडारकर का भी यही मत था। उनका आधार था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। श्री पाठक ने पाणिनि को सातवी शती ई० पू० के अन्तिम चरण मे महावीर के जन्म से कुछ ही पूर्व रक्खा था (भडारकर इस्टीटयूट की पत्रिका, ११।८३)। श्री देवदत्त रामकृष्ण भंडारकर ने पहले सातवी शती (१९१८ कार्माइकेल० व्याख्यान, पृ० १४१), फिर पीछे छठी शती का मध्य भाग पाणिनि का काल माना (प्राचीन भारत मुद्रा शास्त्र, १९२१, पृ० ४६)। शार्पेंतिए के मत में यह तिथि ५५० ई०पू० होनी चाहिए (जे आर ए एस, १९१३, पृ० ६७२-७४)। उनका अपना ही प्रतिसंस्कृत मत यह था कि यह तिथि ५०० ई० पू० के लगभग थी (वही १९२८, पृ० ३४५) श्री रायचौधरी का विचार है कि ईरानियो द्वारा गंधार विजय का युग जब समाप्त हो गया तब पाणिनि का समय होना चाहिए जो छठी शती के बाद और चौथी शती से पूर्व का रहा था। 'उनका समय पाँचवी शती मे मानने से सब प्रमाणो की सगति बैठ जाती है' (वैष्णव धर्म का प्राचीन इतिहास, १९३६, पृ० ३०)। ग्रियर्सन का मत था कि अशोक के धर्म लेख और पाणिनि के बीच मे सौ-डेढ सौ वर्षों का अन्तर होना चाहिए।

इससे ४०० ई० पू० के लगभग पाणिनि का समय था। मैकडानल का प्रसिद्ध मत यह था कि पाणिनि का समय ५०० ई० पू० के बाद होना संभव नहीं। बोटलिंक ने इसे ३५० ई० पू० के लगभग माना है। वेबर ने पाणिनि का समय सिकन्दर के भारत में आने के बाद रखा। यह खेद की बात है कि वेबर जैसे व्याकरण-मर्मज्ञ विद्वान् ने खण्डिकादिभ्यश्च (४।२।४५) सूत्र की कारिकाओं को ठीक न समझकर क्षुद्रक मालवों की संयुक्त सेना को सिकन्दर के बाद मान लिया और पाणिनि द्वारा उसके उल्लेख के आधार पर पाणिनि को भी सिकन्दर के बाद माना (भारतीय साहित्य का इतिहास, पृ० २२२)। वस्तुतः यह भ्रान्ति थी और इन कारिकाओं से वेबर का अभिप्राय किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।[1] कीथ ने निश्चित सम्मति न देते हुए इतना ही लिखा कि इस विषय पर निर्णायक प्रमाण अभी तक हमें प्राप्त नहीं है, किन्तु सम्भावना ऐसी है कि पाणिनि बुद्ध के बाद और ईस्वी सन से पूर्व हुए और वे पहली मर्यादा के अधिक सन्निकट थे।

भारतीय अनुश्रुति—इस विषय में किसी भी मत पर पहुँचने के लिये पाणिनीय सामग्री की साक्षी ही हमारा एक मात्र आधार होनी चाहिए। इन मतों से यह तो विदित हो जाता है कि मोटे तौर पर सातवीं शती से चौथी शती ई० पू० तक के युग में पाणिनि के समय की सर्वसम्मत अवधि होती है। इसमें भी पाँचवीं शती ई० पू० के पक्ष में बहुमत है। इस सम्बन्ध में गोल्डस्टूकर जो व्याकरण शास्त्र और महाभाष्य के मार्मिक जानकार थे, प्रश्न की कुंजी के रूप में यह सम्मति देते हैं—'पाणिनि के काल के विषय में कल्पना करने की अपेक्षा इस बात की छानबीन से अधिक सफलता मिलेगी कि पाणिनि के ऐतिहासिक उल्लेखों का औरों के साथ आपेक्षिक सम्बन्ध क्या है।' इस युक्ति को स्वीकार करते हुए हम यह जानने का प्रयत्न करेंगे कि इस विषय में जो सामग्री उपलब्ध है, वह किस तिथि की ओर सम्मिलित संकेत करती है। जहाँ सब प्रमाणों की संगति और एकसूत्रता सम्भव हो, वही मत ग्राह्य होना चाहिए। हमारी सम्मति में इस विषय में जो भारतीय अनुश्रुति है, वह सत्य परम्परा पर आश्रित जान पड़ती है, अर्थात् पाणिनि किसी नन्दवंशी राजा के समकालीन थे। यह समय पाँचवीं शती ई० पू० के मध्य भाग में था। अब हम प्रमाणसामग्री पर क्रमशः विचार करेंगे।

साहित्यिक उल्लेखों की साक्षी—गोल्डस्टूकर द्वारा पाणिनि के सप्तम शती ई० पू० में रखे जाने का मुख्य आधार यह था कि पाणिनि केवल ऋग्वेद सामवेद और कृष्णयजुर्वेद से परिचित थे; आरण्यक उपनिषद् प्रातिशाख्य वाजसनेयी संहिता, शतपथब्राह्मण, अथर्ववेद एवं दर्शनग्रन्थों का उन्हें परिचय न था। केवल यास्क पाणिनि

---

१ वेबर के मत की समीक्षा में मेरा लेख, क्षुद्रक मालवों के विषय में पतजलि, पूना ओरियण्टलिस्ट, वर्ष १, सख्या ४, जनवरी १९३७, पृ० १–७।

से पूर्व मे हो चुके थे। स्पष्ट ही यह मत उस विवेचन के बाद जो पाणिनीय साहित्य के विषय मे हमने किया है, ग्राह्य नही माना जा सकता। पाणिनि को वैदिक साहित्य के कितने अंश का परिचय था, इस विषय में विस्तृत अध्ययन के आधार पर थीमे का निष्कर्ष है कि ऋग्वेद, मैत्रायणी संहिता, काठक संहिता, तैत्तिरीय संहिता, अथर्ववेद, सम्भवतः सामवेद, ऋग्वेद के पदपाठ और पैप्पलाद शाखा का भी पाणिनि को परिचय था, अर्थात ये सब साहित्य उनसे पूर्वयुग मे निर्मित हो चुका था (थीमे, पाणिनि और वेद, १९३५, पृ० ६३)। इस सम्बन्ध मे एक मार्मिक उदाहरण दिया जा सकता है। गोल्डस्टूकर ने यह माना था कि पाणिनि को उपनिषत् साहित्य का परिचय नही था, अतएव उनका समय उपनिषदो की रचना से पूर्व होना चाहिए। यह कथन सारहीन है, क्योकि सूत्र १।४।७९ मे पाणिनि ने उपनिषत्कृत्य इस वाक्यांश मे उपनिषत् शब्द का प्रयोग ऐसे अर्थ मे किया है, जिसके विकास के लिये उपनिषद् युग के बाद भी कई शती का समय अपेक्षित था। कीथ ने इसी सूत्र के आधार पर पाणिनि को उपनिषदो के परिचय की बात प्रमाणित मानी थी (तैत्तिरीय सं०, अंग्रेजी अनुवाद, भूमिका, पृष्ठ १६७)। तथ्य तो यह है कि पाणिनिकालीन साहित्य की परिधि वैदिक ग्रन्थो से कही आगे बढ़ चुकी थी। जैसा पूर्व मे दिखाया गया है, वैदिक चरणो के अन्तर्गत कल्पसूत्र एव धर्मसूत्रो का भी विकास हो चुका था और चरणो से बाहर वेदांगसाहित्य की पर्याप्त उन्नति हो रही थी। व्याकरण ग्रन्थो मे नामिक और आख्यातिक नामक विशिष्ट ग्रन्थ एवं याज्ञिक साहित्य तथा उनके व्याख्यान, अनुव्याख्यान आदि का अत्यधिक विकास पाणिनि के समय तक हो गया था, जो कि वैदिक साहित्य के उत्तरकालीन विकास का सबसे अन्तिम चरण कहा जा सकता है। महाभारत के मूल और उपबृंहित स्वरूप दोनो का परिचय उन्हे था (उत्गीकर, भाण्डारकरस्मृति ग्रन्थ, पृ० ३४०)। इसके अतिरिक्त पाणिनि ने नटसूत्र एव शिशुक्रन्दीय, यमसभीय, इन्द्रजनीय जैसे नितान्त लौकिक काव्य ग्रन्थो का भी अपने सूत्रो मे उल्लेख किया है। जिसे हम शिष्ट प्रयुक्त संस्कृत भाषा का नूतन युग समझते हैं, उसका एक खिला हुआ रूप पाणिनि के युग में विद्यमान था, जिसमें एक ओर अनुष्टुप श्लोक काव्यरचना का स्पृहणीय माध्यम बन चुका था, दूसरी ओर सूत्रशैली का भी पूर्णतम विकास हो चुका था। उपलब्ध धर्मसूत्र एवं गृह्यसूत्रो से कही अधिक प्रतिष्णात सूत्र रचना पाणिनि की शैली थी। पाणिनि द्वारा साहित्यिक उल्लेखो की प्रमाणसामग्री के सामने गोल्डस्टूकर का मत नही टिक सकता।

पाणिनि और दक्षिण भारत—भाण्डारकर तथा कुछ अन्य विद्वानो ने भी यह मत व्यक्त किया था कि पाणिनि को दक्षिण भारत का परिचय न था। हमारा कथन है कि पाणिनि के काल विषयक विचार में इस तर्क पर विशेष आग्रह नही

किया जा सकता। पहले तो यास्क ने ही जिन्हें गोल्डस्टूकर ने भी पाणिनि से पूर्वकालीन माना था, दक्षिणी भारत की सामाजिक प्रथाओं का सूक्ष्म परिचय दिया है। जैसा कीथ ने लिखा है यास्क ने वैदिक विजामातृ शब्द का दक्षिण भारत में प्रचलित ऐसे जामाता के अर्थ में प्रयोग किया है, जिसने अपने श्वसुर को पत्नी का निष्क्रयमूल्य चुकाया हो (विजामातेति शाश्वद् दाक्षिणाजाः क्रीतापतिमाचक्षते, निरुक्त ६।९; कीथ, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १५)। दूसरे कात्यायन के युग में संस्कृत भाषा दक्षिण भारत में ओतप्रोत हो चुकी थी। कात्यायन जैसे व्याकरण शास्त्र के पारगत विद्वान् को पतंजलि ने दाक्षिणात्य कहा है (प्रियतद्धिताः दाक्षिणात्याः)। पाणिनि और कात्यायन मे लगभग एक शती का अन्तर था। एगलिंग ने लिखा है, "मैं श्री बूह्लर के इस मत से सहमत हूँ कि कात्यायन का अधिकतम संभव समय चौथी शती और पतंजलि का दूसरी शती ई० पू० में था (शतपथ ब्राह्मण का अनुवाद, भूमिका)। तीसरे पाणिनि ने समुद्रतट-वर्ती एवं मध्यसमुद्रवर्ती द्वीपों का उल्लेख करने के अतिरिक्त अयनांशों के मध्य के भूभाग को अन्तरयन देश लिखा है (८।४।२५)। यह दक्षिण की ओर ही संकेत है, जो कि कर्करेखा के दक्षिण का प्रदेश था। अवन्ति जनपद के दक्षिण अश्मक जनपद का उल्लेख तो साक्षात् सूत्र मे किया गया है, जिसकी पहचान सर्वसम्मति से गोदावरी के तटपर स्थित प्रतिष्ठान या पोदन्यपुर राजधानी वाले भूभाग से की जाती है। पूर्व के जनपदों में कलिंग का भी उन्होंने सूत्र में उल्लेख किया है, जहाँ से दक्षिण भारत के यातायात का मार्ग खुलता था। अतएव दक्षिण के विषय मे पाणिनि का भौगोलिक मौन इस प्रकार का नहीं है कि उससे कोई परिणाम निकाला जा सके।

पाणिनि और मस्करी—ऊपर बताया गया है कि पाणिनि ने मंखलि गोसाल नामक आचार्य को मस्करी परिव्राजक कहा है, जैसा कि पतंजलि के भाष्य से निश्चित है (पृ० ३७६, ३८३)। हर्नली के मतानुसार गोसाल का समय ५०० ई० पू० के लगभग था। (हेस्टिंग, धर्म और नीति का विश्वकोष, आजीवक १।२६९)। भगवती सूत्र के अनुसार गोसाल ने सावत्थी में मृत्यु से सोलह वर्ष पूर्व अपने मत की स्थापना की थी। शार्पेंतिए हर्नली से प्रायः सहमत हैं और समझते हैं कि मंखलि की मृत्यु ५०० ई० पू० के कुछ बाद हुई थी (जे. आर. ए. एस., १९१३, पृ०, ६७४)। इससे यह निश्चितप्राय है कि ५०० ई० पू० पाणिनि के काल की पूर्व मर्यादा थी।

पाणिनि और बुद्ध—मंखलि गोसाल बुद्ध का समकालीन था। अतएव पाणिनि से पूर्व बुद्ध का जन्म हो चुका था, इस तथ्य को मान लेने से पाणिनि के कई शब्द अपनी सच्ची पृष्ठभूमि में समझे जा सकते हैं। निर्वाण, कुमारीश्रमणा, संचीवरयते (३।१।२०) और निकाय नामक धार्मिक संघ जिसमें औत्तराधर्य का

अभाव था, इस प्रकार के हैं। ऐसा संघ विशेषरूप से बौद्ध धर्म के साथ सम्बन्धित था। पहले धार्मिक आचार अपना संघ या गण बनाते थे, जिसके वे स्वयं सत्था होते थे। किन्तु बौद्धसंघ बुद्ध के बाद जिस रूप में विकसित हुआ, वह उस समय के लोगों को कुछ विचित्र-सा जान पड़ा। उसमे सत्था का परमाधिकार नही के बराबर था। सङ्घ के सब सदस्य विनय के नियमो को सर्वोपरि प्रमाण मानते थे। सत्था के एकमात्र अनुशासन के स्थान मे स्थविरों के प्रति सम्मान का भाव विकसित हुआ और समता के आधार पर समग्र भिक्षु समुदाय का ऐसा सघ बना जिसमें औत्तराधर्य अर्थात् किसी के ऊँचे और किसी के नीचे होने का भाव बिलकुल न रह गया था। राजनैतिक सङ्घ या गण मे यह बात न थी। वहाँ कुछ लोग मूर्धाभिषिक्त 'राजा' होते थे और कुछ सामान्यजन। इन सस्थाओ से सकेत प्राप्त होता है कि पाणिनि का काल बुद्ध के अनन्तर होना चाहिए।

श्रविष्ठा नक्षत्र—सूत्र ४।३।३४ में दस नक्षत्रो की सुची दी हुई है। उसमें पाणिनि ने श्रविष्ठा नक्षत्र को सबसे पूर्व मे रखा है। यद्यपि शेष नामो मे क्रम का अभाव है, फिर भी श्रविष्ठा से ही सूची का आरम्भ सकारण ज्ञात होता है। बात यह है कि वेदाग ज्योतिष में नक्षत्रो की गणना श्रविष्ठा से होती थी। उससे भी पूर्व नक्षत्रगणना कृत्तिका से की जाती थी। उसके बाद महाभारत में यह गणना श्रवण से है। गर्ग के मतानुसार कर्मकाण्ड मे कृत्तिका से और ज्योतिष में श्रविष्ठा से नक्षत्र गणना होती थी। श्रविष्ठा का ही अन्य नाम धनिष्ठा था। वेदाग ज्योतिष के समय धनिष्ठा प्रथम नक्षत्र माना जाता था। धनिष्ठा को छोड़कर श्रवण नक्षत्र की गणना कब से आरंभ हुई, यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। महाभारत में लिखा है—श्रवणादीनि ऋक्षाणि। फ्लीट ने इस वाक्याश पर सूक्ष्म विचार करते हुए लिखा था कि अवश्य ही जिस समय यह लिखा गया वेदाग ज्योतिष की श्रविष्ठादि गणना के स्थान में श्रवणादि सूची मान्य हो चुकी थी (जे. आर. ए एस., १९१६, पृ० ५७०)। कीथ ने फ्लीट का मत स्वीकार करते हुए लिखा कि हॉप्किन्स ने भी १९०३ में अमरीका की प्राच्य परिषत् पत्रिका के अंक में यही मत व्यक्त किया था (जे आर. ए. एस., १९१७, पृ० १३३)। महाभारत मे भी एक जगह अपने युग से पूर्व की धनिष्ठादि गणना एवं उससे भी पूर्व की रोहिण्यादि गणना का उल्लेख बचा रह गया है[1]।

इस सम्बन्ध में मुख्य प्रश्न यह है कि धनिष्ठादि गणना किस समय तक चालू रही और कब उसका स्थान श्रवणादि सूची ने लिया। यदि यह ज्ञात हो जाय तो वही पाणिनि के समय की अन्तिम अवधि माननी होगी। महाभारत में उल्लेख है कि

१. धनिष्ठादिस्तदा कालो ब्रह्मणा परिनिर्मितः।
रोहिण्याद्योऽभवत् पूर्वमेव संख्या समाभवत् ॥ (आरण्यक, २१९।१०)

धनिष्ठा के स्थान में श्रवण की गणना का श्रेय विश्वामित्र को था। कीथ ने लिखा है कि विश्वामित्र कोई ज्योतिष के संस्कर्ता आचार्य थे, जिन्होंने विगत धनिष्ठा के स्थान मे जहाँ से क्रान्तिवृत्त आगे बढ़ चुका था, श्रवण को वास्तविक स्थिति के अनुसार प्रथम नक्षत्र स्वीकृत किया (जे. आर. ए. एस., १९१७, पृ० ३९)।

श्री योगेशचन्द्र रे ने इस प्रश्न की विवेचना करते हुए लिखा है कि १३७२ ई० पू० में श्रविष्ठा, सूर्य और चन्द्र संक्रान्ति के समय एक स्थान पर थे। ७० वर्ष मे एक नक्षत्र एक अंश हट जाता है, अतएव लगभग १००० वर्ष (९३३ वर्ष) पूरे नक्षत्र के परिवर्तन मे लगते हैं। इसलिए पाँचवी शती ईस्वी पूर्व मे श्रवण नक्षत्र उसी स्थान पर आ गया था, जहाँ पहले श्रविष्ठा था। १३७२ ई० पू० से गणना करते हुए ४०५ ई० पू० तक श्रविष्ठादि गणना का काल था। ४०१ ई० पू० के लगभग 'श्रवणादीनि ऋक्षाणि' यह उल्लेख किया गया होगा। अतएव श्रविष्ठादि सूची को मान्यता देनेवाले लेख या विद्वानो का समय ४०० ई० पू० के बाद नही होना चाहिए। श्रविष्ठादि नक्षत्र सूची और मस्करी परिव्राजक इन दो प्रमाणो के आधार पर अष्टाध्यायी के काल की अवधि ५०० ई० पू० से ४०० ई० पू० के बीच मे सम्भाव्य हो जाती है।

नन्दराज की अनुश्रुति—बौद्ध एव ब्राह्मण साहित्य में प्राचीन अनुश्रुति है कि पाणिनि किसी नन्दवंशीय राजा के समकालीन थे। तिब्बती लेखक तारानाथ ने पाणिनि और नन्दराज की समसमायिकता को स्वीकार किया है (तारानाथ, बौद्ध धर्म का इतिहास, १६०८। यह ग्रन्थ अति प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति के आधार पर रचा गया था)। सोमदेव ने कथासरित्सागर (१०६३-१०८१) में और क्षेमेन्द्र ने बृहत्कथामंजरी (११ वी शती) मे लिखा है कि पाणिनि नन्द राजा की सभा मे पाटलिपुत्र गये थे। बौद्ध ग्रन्थ मञ्जुश्रीमूलकल्प (लगभग ८वी शती) से इस परम्परा का समर्थन होता है। उसके अनुसार, 'पुष्पपुर मे नन्दराजा होगा और पाणिनि नामक ब्राह्मण उसका अन्तरङ्ग मित्र होगा। मगध की राजधानी में अनेक तार्किक ब्राह्मण राजा की सभा मे होंगे और राजा उन्हे दानमान से सम्मानित करेगा'।[1] य्यूआन् चुआङ् ने भी शलातुर मे जो पाणिनि की जीवन सामग्री संकलित की थी, उसके अनुसार ग्रन्थ की रचना के बाद पाणिनि उसे लेकर देश के तत्कालीन सम्राट् की सभा में गए जिसने उनके ग्रन्थ को बहुसम्मानित किया और

१. तस्याप्यनन्तरो राजा नन्दनामा भविष्यति।
पुष्पाख्ये नगरे श्रीमा महासैन्यौ महाबलः॥
भविष्यति तदा काले ब्राह्मणास्तार्किका भुवि॥
तेभि परिवारितो राजा वै।
तस्याप्यन्यतम सख्य' पाणिनिर्नाम माणव' (मञ्जुश्रीमूलकल्प, पटल ५३, पृ० ६११–१२; जायसवाल कृत उसका अध्ययन, पृ० १४)।

उसके प्रचार एव शिक्षण का आदेश दिया (सियुकि, पृ० ११५)। यद्यपि सम्राट् और उनकी राजधानी के नाम का उल्लेख नही है, तो भी उससे राजसभा में जाने की अनुश्रुति का आशिक समर्थन होता है। राजशेखर (९०० ई०) ने भी पाणिनि का सम्बन्ध पाटलिपुत्र की शास्त्रकार परीक्षा से माना है। पाटलिपुत्र मे इस प्रकार की विद्वत् सभा चौथी शती ई० पू० मे यूनानी राजदूत मेगस्थने के समय मे थी। उसने और भी अधिक प्राचीन सस्था के रूप मे उसका उल्लेख किया है। इस प्रकार पाणिनि विषयक अनुश्रुति का व्यापक समर्थन भारतीय, चीनी, यूनानी, कई स्रोतो से होता है। यद्यपि पाणिनि गन्धार देश के थे, पर उनके समय उदीच्य और प्राच्य के अति-घनिष्ठ सम्बन्ध थे। इसकी परम्परा उपनिषत् युग से ही चली आ रही थी। विशेषतः ज्ञान के क्षेत्र मे विद्वानो का सम्पर्क सामान्य बात थी, जैसा पञ्चाल के उद्दालक आरुणि की मद्रदेश यात्रा के वर्णन से जाना जाता है। पाणिनि ने भी इसी प्रकार के ज्ञान-सम्पर्क मे भाग लिया था। उनके एक शती बाद चाणक्य भी वैसे ही तक्षशिला से पुष्पपुर आए थे (वाद पर्येसन्तो पुप्फपुर गन्त्वा, सिंहली महावंश की अत्थपकासिनी टीका)।

इस सम्बन्ध में इस बात की छानबीन आवश्यक है कि पाणिनि के समकालीन उनके मित्र नन्दराज कौन थे। भारतीय इतिहास के इस युग की सामग्री पर्याप्त न होने से इस प्रश्न का समाधान तुरन्त स्पष्ट नही है। फिर भी दो तिथियाँ प्रायः मान्य है। एक तो ३२६ ई० पू० नन्द वंश के अन्तिम राजा का अन्तिम वर्ष था, जैसी कि सिकन्दर को पजाब मे सूचना मिली थी। इसके बाद चन्द्रगुप्त मौर्य ने नन्दवंश का मूलोच्छेद किया। इस तिथि से पूर्व गणना करते हुए नन्दवश का राज्यकाल मानना होगा। पुराणो में इसे १०० वर्ष और जैन अनुश्रुतियो में १५० वर्ष माना है। तदनुसार नन्दो का राज्यकाल ३२५ ई० पू० से ४७५ ई० पू० के बीच में रखा जाना चाहिए। पुराणो के अनुसार शिशुनागवंशी उदय के बाद नन्दिवर्द्धन, उसके बाद महानन्दिन्, तब महापद्म और उसके पुत्र राजा हुए। इनकी तिथियाँ लगभग इस प्रकार हैं—

(१) नन्दिवर्द्धन—	लगभग ४७५—४४५ ई० पू०
(२) महानन्दिन्	,, ४४५—४०३ ,,
(३) महापद्म	,, ४०३—३७५ ,,
(४) महापद्म के पुत्र	,, ३७५—३२५ ,,

तारानाथ के अनुसार नन्दवंशी सम्राट् महापद्मनन्द के पिता नन्द पाणिनि के मित्र थे। महानन्दिन् का नाम महानन्द या केवल नन्द था। ये ही पाणिनि के समकालीन और उनके सरक्षक मगधवंश के सम्राट् थे, जिनका समय पाँचवीं शती

ई० पू० के मध्य भाग में था। पाणिनि के सम्बन्ध की जो अन्य साक्षी है, वह भी इस तिथिक्रम से संगत बैठ जाती है।

यह ज्ञातव्य है कि व्याकरण साहित्य मे नन्दो के सम्बन्ध के कुछ उल्लेख बच गए हैं। नन्दोपक्रमाणि मानानि (काशिका २।४।२१) से विदित होता है कि किसी नन्दराजा ने नाप तोल के साधनो को निश्चित या प्रतिमानित किया था। महानन्द को अपने साम्राज्य की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ऐसा करना पड़ा हो, यह सम्भव है। उपज्ञोपक्रम तदाद्याचिख्यासायाम् सूत्र के लिये यह उदाहरण ठेठ पाणिनि के समय मे ही चालू हुआ होगा और वह विद्वानो की दृष्टि में सटीक उदाहरण प्रतीत हुआ होगा।

सूत्र ६।२।१३३ के उदाहरण मे नन्दपुत्र भी अति प्राचीन और महत्त्वपूर्ण उदाहरण होना चाहिए। यह नन्द और उसका पुत्र कौन थे ? इसके उत्तर मे कहा जा सकता है कि नन्दिवर्द्धन प्रथम नन्दराज थे और उनके पुत्र महानन्दिन् या महानन्द नन्दपुत्र थे। कुछ विद्वान मानते हैं कि कलिगराज खारवेल के लेख मे ३०० वर्ष पूर्व किसी नन्द राजा द्वारा कलिग में एक नहर खुदवाने का उल्लेख है। खारवेल का समय १६५ ई० पू० माना जाय तो नन्दराज का समय ४६५ ई० पू० हुआ। इस समय पाटलिपुत्र में मगध के सिंहासन पर नन्दिवर्द्धन का राज्य था। उन्ही नन्दराज के पुत्र को व्याकरण के उदाहरण मे नन्दपुत्र कहा गया।

राजनैतिक सामग्री—इस विषय मे पाणिनि की राजनैतिक प्रमाण सामग्री पर भी विचार करना उचित है। उनके समय मे मगध एकराज जनपद था, किन्तु मगध साम्राज्य की स्थापना न हुई थी। पाणिनि के अनुसार मगध, कोसल, अवन्ति, कलिग, सूरमस, अश्मक, कुरु, प्रत्यग्रथ या पचाल, ये एकराज जनपद स्वाधीन रूप में पनप रहे थे। अजातशत्रु ने मगध के सिंहासन पर बैठते ही काशि और कोसल को अपने राज्य में मिला लिया था, किन्तु वह अल्पकालिक स्थिति थी। नन्दिवर्द्धन या महानन्दिन् ने राज्य का विशेष विस्तार नही किया। अतएव पाणिनि ने स्वाधीन एकराज जनपदो की जिस स्थिति का उल्लेख किया है, वह महानन्द के समय मे ही सम्भव थी। उसका उत्तराधिकारी महापद्म हुआ। पुराणो के अनुसार उसने क्षत्रिय राजाओ के मुख्य-मुख्य जनपदो को अपने साम्राज्य में मिला लिया। कोसल, पंचाल, काशि, हैहय, कलिङ्ग, अश्मक, कुरु मिथिला, शूरसेन और अवन्ति इन जनपदो की स्वतन्त्रता का अपहरण करके और उन्हें अपने साम्राज्य में मिलाकर वह एकराट् बन गया। पुराणो ने इस परिवर्तन का जो मध्यदेश के इतिहास में सम्भवत पहली ही बार हुआ था, विशेषरूप से उल्लेख किया है। इसके कारण महापद्म को परशुराम के समान सर्वक्षत्रान्तक कहा गया है। इस प्रकार अष्टाध्यायी मे जिस राजनैतिक स्थिति

का उल्लेख है, वह महापद्म के धक्के से पूर्व ४५०-४०० ई० पू० के बीच की होनी चाहिए।

यवनानी—यवन और उनकी लिपि यवनानी का उल्लेख पाणिनि के समय की छानबीन के लिये महत्त्वपूर्ण है। ईरानी सम्राट् दारा (५२१-४८६ ई० पू०) के लेखो मे सर्वप्रथम यौन शब्द का उल्लेख हुआ है, जिसका तात्पर्य आयोनिया और वहाँ के निवासियो से था। दारा के साम्राज्य मे गन्धार भी सम्मिलित था, जहाँ पाणिनि का निवास था। दारा के समय मे ही यौन या उसके संस्कृतरूप यवन शब्द का प्रयोग भारतीय प्रदेश मे हुआ होगा। यह कथन ठीक नही कि सिकन्दर के साथ आए हुए मेसिडोनिया के यूनानी पहली बार यवन नाम से प्रसिद्ध हुए। वस्तुत. सिकन्दर से बहुत पहले ही यूनान देश के लोग गन्धार में आकर बस गए थे। सिकन्दर ने स्वय काबुल नदी की द्रोणी में नाइसा नामक स्थान में यूनानियो का एक सन्निवेश देखा था, जो वहाँ पहले से बसा हुआ था। पतजलि ने नैशजनपद का नामोल्लेख किया है (४।१।१७० भा०)। प्राचीन ईरानी यौन और यौना शब्द ही संस्कृत के उच्चारण मे यवन और यवना. रूप मे प्रसिद्ध हुए (सुकुमारसेन, ओल्ड पर्शियन इन्स्क्रिप्शन्स्, पृ० २२३)। यौना से मिलता हुआ उच्चारण योना प्राकृत में इस देश मे भी चालू रहा, जैसा कि अशोक के अभिलेखो में पाया जाता है। अतएव यह असन्दिग्ध है कि पाणिनि के यवन शब्द की परम्परा सिकन्दरकालीन यवनो से नही, वल्कि आइयोनिया के उन यवनो से ली गई थी, जिनका परिचय ईरान के लोगो को छठी शती ई० पूर्व के अन्त में हो गया था। दारा प्रथम के समय से ईरान और गन्धार का जो संवन्ध जुडा, वह उसके उत्तराधिकारी स्पयार्ष के राज्य-काल में भी बना रहा। गन्धार के भारतीयो की एक सैनिक टुकडी ने ईरानी सम्राट् की ओर से ४७९ ई० पू० के यूनान युद्ध मे भाग लिया था। यो कितने ही अवसर ऐसे थे जिनके कारण गन्धार मे यवन या यूनान देश का परिचय लोगो को मिला हो। जैसा कीथ ने लिखा है, 'यदि यह ध्यान रक्खें कि श्यूआन् चुआङ् के कथनानुसार पाणिनि गन्धार देश के निवासी थे, जैसा उनके व्याकरण से भी ज्ञात होता है, तो यह मानना अप्रासगिक न होगा कि पाणिनि को यवनानी लिपि के नाम का परिचय यूनानियो की प्राचीन परम्परा से प्राप्त हुआ था, सिकन्दर के साथी यूनानियों से नही। (ऐतरेय आरण्यक की भूमिका, पृ० २३)। लिपि शब्द भी जिसका पाणिनि ने सूत्र मे उल्लेख किया है, बौद्ध साहित्य में नही मिलता। उसका मूल हखामनि लेखों का 'दिपि' शब्द होना चाहिए।

पाणिनि और पर्शु—पाणिनि ने पर्शु नामक आयुधजीवी संघ का उल्लेख किया है (५।३।११७)। प्राचीन-इरानी 'पार्स' और बावेरु भाषा का पर-सु (बहिस्तून शिलालेख में) पाणिनीय पर्शु के अतिनिकट हैं। पर्शु संघ का प्रत्येक

सदस्य पार्शव कहलाता था जो बावेरु पर्-स-अ-अ के अति निकट है। पांचवी और छठी शती ईस्वी पूर्व मे ईरान और गन्धार का घनिष्ठ सम्बन्ध था। अतएव पाणिनि पर्शुसंघ से परिचित हो, तो आश्चर्य नही। गन्धार के अतिरिक्त भारत का सिन्धु जनपद भी ईरानी हखामनि साम्राज्य में सम्मिलित था जिसे वहाँ के लेखो मे हिन्दु कहा गया है। पाणिनीय वृक नामक आयुधजीवी सघ की पहचान ईरानी वर्क या हिर्कानिया (= सं० वार्केण्य) से पहले की जा चुकी है। वर्क शकों का आयुधजीवी संघ था। पाणिनि ने कन्थान्त नामो का विस्तार से उल्लेख किया है। (पृष्ठ ८१–८३)। कन्था की शक भाषा का शब्द था। दारा प्रथम (५२१–४८६) और उसके उत्तराधिकारी क्षयार्ष (४८५-४६५ ई० पू०) के शासन काल में गन्धार ईरानी साम्राज्य का शासित प्रदेश था। किन्तु पाणिनि ने स्वतन्त्र जनपद के रूप में उसका उल्लेख किया है (मालवेय गान्धारिभ्यां च, ४।१। १६९; गान्धार: क्षत्रिय , गान्धारो राजा)। यह स्थिति ४६५ ई० पू० के बाद सम्भव हुई होगी। महानन्दिन् (४४५-४०३) के साथ पाणिनि की समसामयिकता पर विचार करते हुए यह तिथि सगत हो जाती है। ४६० ई० पू० के लगभग गन्धार जनपद स्वाधीन हो गया होगा। पाणिनि ने लगभग ४४०-४३० ई० पू० के बीच अपने ग्रन्थ की रचना करने के बाद पाटलिपुत्र की यात्रा की होगी। उस समय उनकी आयु लगभग ५० वर्ष की मानी जाय तो उनका जन्म ४८० ई० पू० के लगभग ठहरता है। अष्टाध्यायी जैसे शास्त्र की रचना ४० वर्ष की आयु से ५० वर्ष की आयु में सिद्ध होनी सम्भव है। उसके लिये आवश्यक बुद्धि का परिपाक, गभीर चिन्तन, दीर्घकालीन सामग्री सकलन एवं स्वानुभव के आधार पर साधिकार विश्लेषण ये सब बातें आयुष्य के इसी भाग में प्राय. सम्भव होती हैं। उनके जीवनकाल की अवधि लगभग ७० वर्ष मानने से पाणिनि का समय ४८० ई० पू० से ४१० ई० पू० अनुमानित होता है।

क्षुद्रक-मालव—सूत्र ४।२।४५ के गणसूत्र में क्षौद्रक-मालवी सेना का उल्लेख है। यह सेना सिकन्दर से लडी थी। अतएव वेबर ने अनुमान किया कि पाणिनि का समय (और उनके पूर्ववर्ती आपिशलि का भी जिन्होंने क्षौद्रकमालवी रूप का विधान किया) सिकन्दर के बाद होना चाहिए। वेबर ने इस तर्क में इतना और जोडा कि प्रायः क्षुद्रक मालवो का आपस मे मेल न था, पर विदेशी आक्रान्ता ने दोनो को मिलाकर क्षौद्रक-मालवी सेना का सयुक्त सगठन तैयार करा दिया।

वेबर के कथन में कई भ्रांतियाँ है। पतंजलि ने जिस आपिशलि विधि का उल्लेख किया है उसका क्षुद्रक मालवो से कुछ भी सम्बन्ध नही है, उसका सम्बन्ध 'आघेनवं' उदाहरण से है, जिसका उद्देश्य सामूहिक प्रकरण मे तदन्त विधि का ज्ञापन कराना है।

दूसरे यह कथन भी ठीक नही है कि केवल सिकन्दर के प्रतिरोध के अवसर पर क्षुद्रक मालवों की सेना संयुक्त हो गई थी। यदि यह मिलन अल्पकालिक या आकालिक होता तो भाषा मे क्षौद्रक मालवी सेना जैसे विशेष शब्द की आकांक्षा कदापि न होती। वस्तुतः क्षुद्रक मालव गणों का यह प्रबन्ध सिकन्दर वाली घटना से बहुत पहले से चला आता था[1] और पाणिनि के समय में भी लोक विदित था। तभी उसके लिये 'क्षुद्रकमालवात्सेनासज्ञायाम्' इस अन्तर्गण सूत्र की आचार्य ने रचना की। न जाने वेबर ने क्यो यह कल्पना कर ली कि केवल सिकन्दर के युद्ध के लिये ही क्षुद्रक मालव एक हो गए थे। कर्तियस ने तो स्पष्ट कहा है कि क्षुद्रकों और मालवो की सेना का संगठन उनकी पहले से चली आई प्रथा थी और उसी के अनुसार क्षुद्रको के एकवीर को समस्त सेना के सेनापति रूप में चुना गया (मेक्क्रिण्डिल, सिकन्दर का आक्रमण, पृ० २३६) । सयुक्त सेना के विषय में समझौता हो जाने पर भी दुर्भाग्य से ठीक युद्ध के समय दोनो मे मतभेद हो गया, और स्थिति जैसा वेबर ने लिखा है ठीक उसके विपरीत हो गई। इस विषय में दिओदोर की यह सूचना महत्त्वपूर्ण है कि क्षुद्रक और मालव सेनापति के चुनाव के विषय में एकमत न हो सके और फलतः एक साथ युद्ध करने से विरत हो गए (वही० पृ० २३६, पाद टिप्पणी) । कर्तियस से भी इसका समर्थन होता है— 'युद्ध से पूर्व की रात को दोनो मे मतभेद हो गया और उनकी सेनाएँ अपने-अपने गुप्ति प्रदेश में हट गईं। उसने यह भी लिखा है कि सेना का अधिकाश भाग क्षुद्रकों के दुर्ग मे चला गया और वही से सिकन्दर के विरुद्ध उन्होने अतिघोर संग्राम किया। अन्त मे क्षुद्रको की यूनानियो से सन्धि हुई जिन्होने सो क्षुद्रको का बड़ी आव भगत से स्वागत किया। इस पृष्ठभूमि मे भाष्य का यह उल्लेख कि क्षुद्रको ने किसी की सहायता के विना अकेले युद्ध किया सगत हो जाता है (एकाकिभिः क्षुद्रकैर्जितम् , असहायैरित्यर्थः) ।

इससे यह निश्चित है कि पाणिनि और यूनानी लेखक दोनो के अनुसार संयुक्त क्षौद्रक-मालवी सेना का अस्तित्व सिकन्दर के पूर्व से चला आता था। वेबर के उसके विपरीत तर्क मे, जिससे वहुतों को भ्राति हुई, कोई तथ्य नही है।

पाणिनि और सघराज्य—पाणिनि ने अष्टाध्यायी मे जिन संघ राज्यो की लम्बी सूची दी है वे चन्द्रगुप्त मौर्य के मगध-साम्राज्य के पूर्व की राजनैतिक स्थिति से संगत होते हैं। यह स्थिति पाँचवी शताब्दी में थी।

पाणिनि और कौटिल्य—पूर्व लिखित अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि कौटिल्य की भाषा का पाणिनि की शब्दावली से घनिष्ठ सम्बन्ध था। दोनो लेखक

---

१. सयुक्त क्षौद्रक मालवी सेना में ९०,००० पदाति, १०,००० अश्वारोही और ९०० रथ थे (कर्तियस)।

अनेक सदृश संस्थाओ से परिचित थे। थीमे ने ठीक लिखा है कि अर्थशास्त्र की भाषा यद्यपि बहुत अशो मे प्राचीन है, पर अष्टाध्यायी की भाषा के बाद की है। कभी-कभी तो पाणिनि की शब्दावली की सर्वोत्तम व्याख्या कौटिलीय अर्थशास्त्र से ही प्राप्त होती है। उदाहरण के लिये, मैरेय, कापिशायन, देवपथ, आक्रन्द, युक्तारोही, उपनिषद्, विनय, वैनयिक, परिषद् , अषडक्षीण, व्युष्ट, माहिष, अध्यक्ष, युक्त, योजनशतिक दूत, विष्य, आर्यकृत, देवपथ, वारिखेयी भूमि, पुरुष प्रमाण, हस्तीप्रमाण इन शब्दों और सस्थाओ का अर्थशास्त्र और अष्टाध्यायी में विलक्षण सादृश्य है। इस कारण कौटिल्य और पाणिनि के युग मे सौ डेढ़ सौ वर्षों से अधिक का अन्तर नही माना जा सकता। पाणिनीय सामग्री के प्रस्तुत अनुशीलन से अर्थशास्त्र के काल निर्णय सम्बन्धी प्रश्न पर भी आनुषंगिक प्रकाश पडता है और इस मत को समर्थन प्राप्त होता है कि मौर्य साम्राज्य के महामन्त्री कौटिल्य ही अर्थशास्त्र के रचयिता थे।[1]

पाणिनीय मुद्राओ की साक्षी—प्राचीन मुद्राओ के विषय मे अष्टाध्यायी की सामग्री अर्थशास्त्र की सामग्री से प्राचीनतर युग की है। उदाहरण के लिये पाणिनि मे निष्क, सुवर्ण, शाण और शतमान नामक पुराने सिक्कों का उल्लेख है जो कौटिल्य को अविदित थे। इसके अतिरिक्त विंशतिक और त्रिंशत्क नामक दो अति महत्त्वपूर्ण सिक्को का भी पाणिनि ने उल्लेख किया है जो उनके समय मे चालू थे, पर कौटिल्य को जिनका पता न था। शतमान सिक्के का आरम्भ पाणिनि से भी कई सौ वर्ष पूर्व हो चुका था (लगभग अष्टम शती ई० पू० से पञ्चम शती ईस्वी पूर्व तक)।

विंशतिक नामक बीस माशे या चालीस रत्ती तोल के भारी सिक्के का उल्लेख अष्टाध्यायी की उल्लेखनीय विशेषता है। यह सिक्का बिम्बिसार के समय अर्थात् छठी शती ई० पू० में राजगृह में चालू था। मगध जनपद के अतिरिक्त और जनपदो में भी इस मुद्रा का चलन था। इसके अतिरिक्त पाणिनि मे जिस कार्षापण का उल्लेख है वह भारी तोल के विंशतिक से भिन्न सिक्का होना चाहिए। कौटिल्य और मनु के अनुसार कार्षापण सोलह माशे या बत्तीस रत्ती तोल का सिक्का था। इस प्रकार अष्टाध्यायी मे विंशतिक और कार्षापण दोनो का उल्लेख है, जब कि अर्थशास्त्र मे केवल पण का (कार्षापण का ही दूसरा नाम)। भारतीय मुद्राओ के

---

१ प्रस्तुत निबन्ध के एक परीक्षक स्वर्गीय श्री बटकृष्ण घोष ने, जो कौटिल्य का समय ईसा के बाद तीसरी शती में मानते थे, अपनी सस्तुति में यह विचार प्रकट किया—"मेरा यह व्यक्तिगत अभिमत रहा है कि कौटिल्य में प्रदर्शित शासन सस्था मौर्य साम्राज्य की नहीं है, यद्यपि कौटिल्य की भाषा स्पष्टत पुरानी है, किन्तु मुझे विवश होकर कहना पडता है कि इस निबन्ध में पाणिनि-कौटिल्य सादृश्य मूलक जिन तथ्यों की ओर सकेत किया गया है और आग्रह के साथ जिनकी व्याख्या की गई है वे इस योग्य हैं कि उन्हें कौटिलीय अर्थशास्त्र की मौर्यकालीन रचना होने के पक्ष में मान्य तर्क के रूप में स्वीकार किया जाय।"

इतिहास की दृष्टि से केवल पाँचवी शती ई० पू० में ही यह सम्भव था कि विंशतिक और कार्षापण दोनो एक साथ चालू रहे हो। जैसा कहा जा चुका है कि नन्दो ने नाप तोल का सुधार किया था। ज्ञात होता है कि सिक्कों के क्षेत्र में भी उन्होंने महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए। नन्दो के सिक्को की निम्नलिखित विशेषताएँ ध्यान में आती हैं—

१—बीस माशे के विंशतिक की जगह सोलह माशे के कार्षापण का प्रचलन।

२—पुराने सिक्को पर बडी आकृति के रूप या चिह्न और छोटी आकृति के रूप मुद्रा के एक ओर ही आहत किए जाते थे जैसा कि प्राप्त नमूनो से ज्ञात होता है। नन्दो की नई मुद्राओ पर यह सुधार किया गया कि बड़े रूप चितदाव या सामने और छोटे पटदाव या पीछे आहत किए जाने लगे।

३—विंशतिक मुद्राओ पर चार रूप या बडे चिह्न होते थे। कार्षापण पर पाँच रूप आहत किये जाने लगे।

४—रूप पंचक में सूर्य और षडर नामक चिह्न सब मुद्राओ पर आवश्यक कर दिए गए जैसा कि पहले की विंशतिक मुद्राओ पर न था।

५—प्रत्येक रूप की आकृति पहले से अधिक स्पष्ट और सरल कर दी गई किन्तु उनकी संख्या में बहुत वृद्धि हो गई। विंशतिक मुद्राओ पर चिह्नो की ऐसी बहुविधता न थी जैसी कार्षापण मुद्राओ पर।

मुद्राओ की साक्षी के आधार पर पाणिनि को बिम्बिसार और कौटिल्य के मध्य में अर्थात् छठी और चौथी शती के बीच मे रखना होगा। अतएव पाँचवी शती का मध्य भाग अष्टाध्यायी की मुद्रा सम्बन्धी प्रमाण सामग्री की व्याख्या के लिये सबसे अधिक समीचीन है।

मनुष्य नाम—मनुष्य नामो के संबन्ध मे पाणिनीय सामग्री काल विषयक ऊपर की सभावना का समर्थन करती है। ब्राह्मण और उपनिषदो के युग में केवल गोत्रनामो का प्रचार था। मौर्ययुग मे नक्षत्र नामो की खूब प्रथा थी और नामो को सक्षिप्त भी किया जाने लगा था। अष्टाध्यायी में बीच की वह स्थिति है जब गोत्रनामो और नक्षत्र नामो का एक साथ प्रचार था। गोत्रनाम प्राचीन वैदिक प्रथा के अनुकूल थे। नक्षत्र-नामो का आरम्भ गृह्यसूत्रो के युग से हुआ। गोत्रनाम को सक्षिप्त करना सम्भव न था। अतएव मनुष्य नामो को सक्षिप्त करने के लिये जो विशेष नियम पाणिनि ने दिए हैं वे नक्षत्र नामो अथवा इतर नामो मे ही सभव थे। प्राचीन पाली साहित्य मे गोत्रनाम और नक्षत्र-नाम दोनो का एक-सा प्रचार है। अतएव उसे पाणिनीय युग के अधिक निकट मानना होगा।

पाणिनि और जातक—कितने ही शब्दो की दृष्टि से पाणिनि की भाषा जातको की शब्दावली से अपेक्षाकृत पूर्वकालिक थी। किन्तु कुछ शब्दो मे दोनो मे आश्चर्य-

जनक सादृश्य है। उदाहरण के लिये द्वैप, वैयाघ्र और पाण्डुकम्बल शब्द पाणिनि और जातक दोनो में आए हैं। ये शब्द पाली गाथाओं में हैं जो कि जातकों का प्राचीनतम अंश था। दोनो की भाषा का सान्निध्य पाणिनि को पाँचवीं शती में रखने से संगत हो जाता है।

पाणिनि और मध्यम पथ—जैसा पूर्व में कहा जा चुका है दो विवादग्रस्त मतो के बीच मे पाणिनि समन्वय और सन्तुलन का मध्यमार्ग स्वीकार करते हैं। व्याकरण मे महासंज्ञा उचित हैं या कृत्रिम सज्ञा, शब्द का अर्थ जाति है या व्यक्ति, अनुकरणात्मक शब्दो का अस्तित्व है या नही, उपसर्ग वाचक हैं या द्योतक, धातु का अर्थ क्रिया है या भाव, शब्द व्युत्पन्न होते हैं या अव्युत्पन्न—इस प्रकार के तुल्यबल विरोधी दो पक्षो मे पाणिनि किसी का निराकरण नहीं करते, बल्कि दोनो का समन्वय स्वीकार करते हैं। मध्यमार्ग या मज्झिम पटिपदा उस युग की सर्वोपरि विशेषता थी। शाकटायन ने शब्दो की व्युत्पन्नता के सम्बन्ध में अतिशय आग्रह करके जिस विचारधारा को अपनाया था पाणिनि के लिये वह प्रवृत्ति सम्भव न थी। समस्त अष्टाध्यायी में समन्वयात्मक और सन्तुलित दृष्टिकोण की ही प्रधानता है। इस कारण यह शास्त्र इतनी अधिक शब्द सामग्री को समेटने और सूत्रबद्ध करने में सफल हुआ, एवं लोक की दृष्टि में बहुत संमानित हुआ—

भगवतः पाणिनेराचार्यस्य सिद्धम्

पाणिनिकालीन भूगोल : मानचित्र १

पाणिनिकालीन भूगोल : मानचित्र २
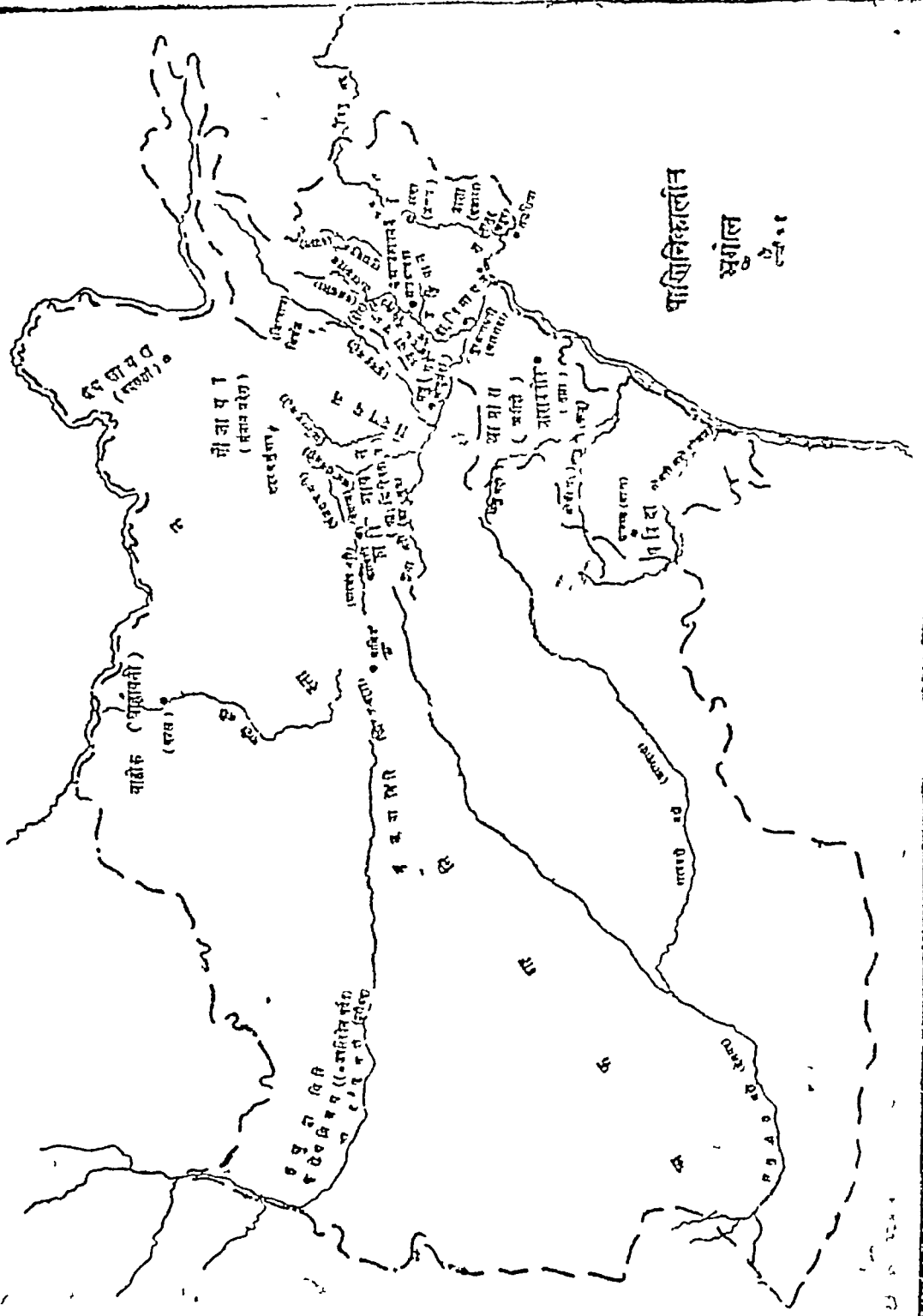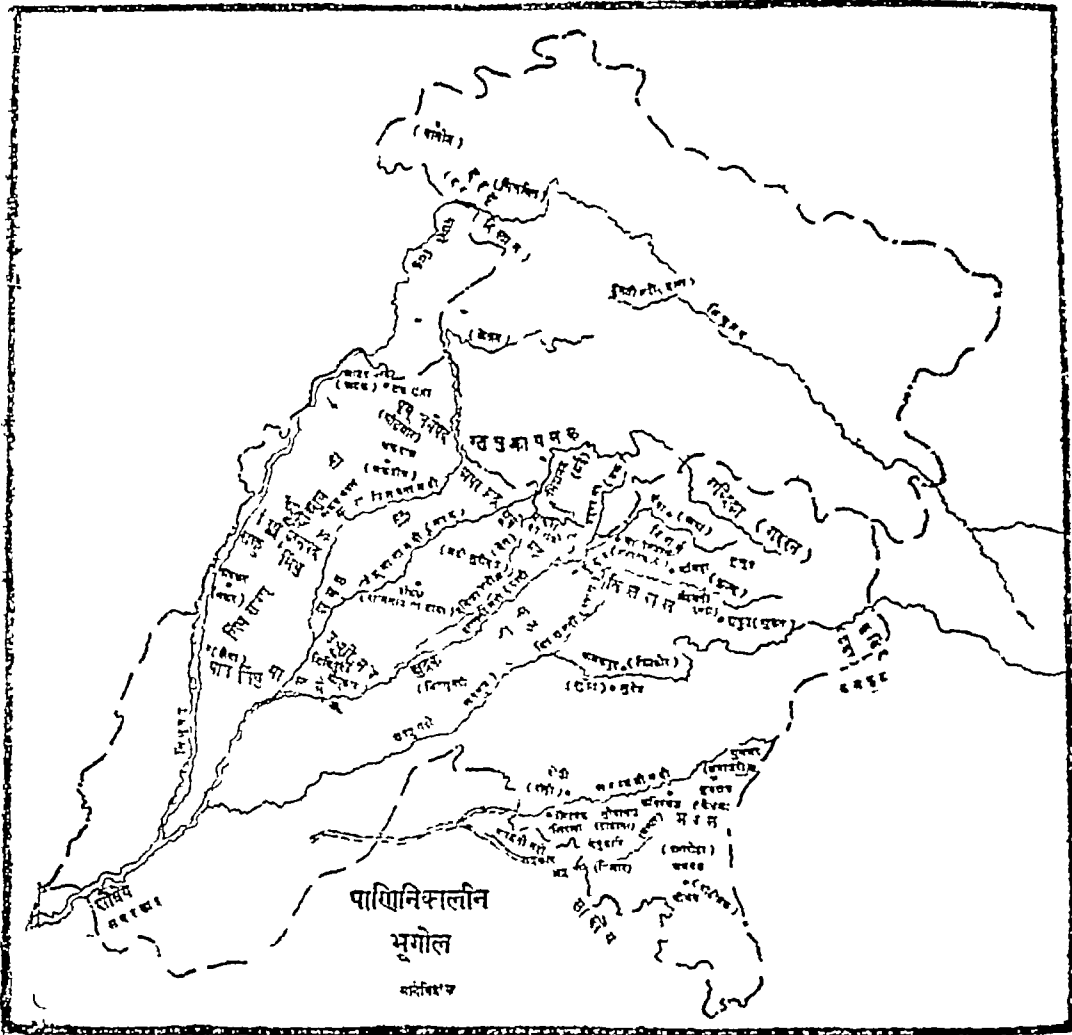
पाणिनिकालीन भूगोल : मानचित्र २

पाणिनिकालीन भूगोल : मानचित्र ४
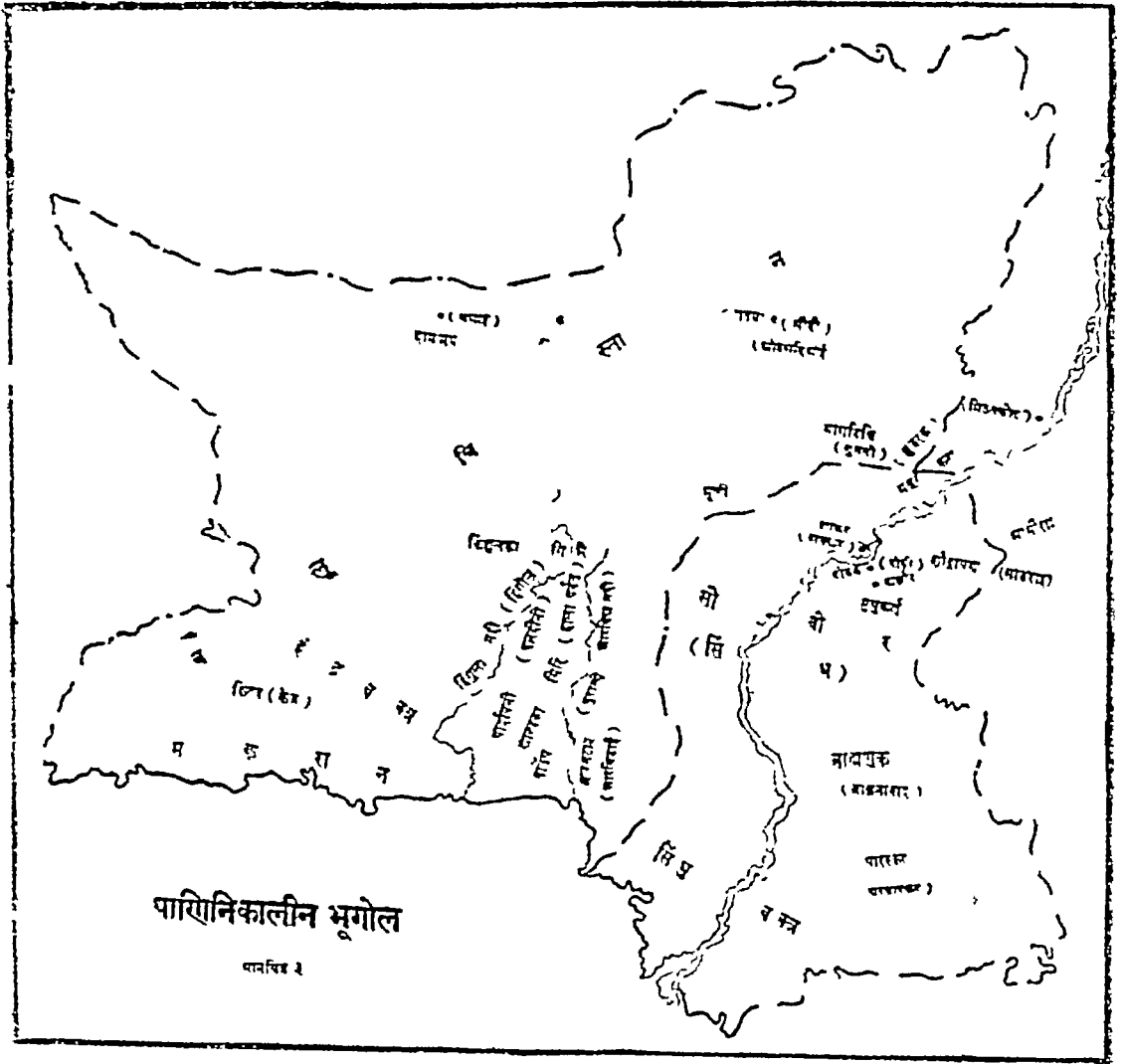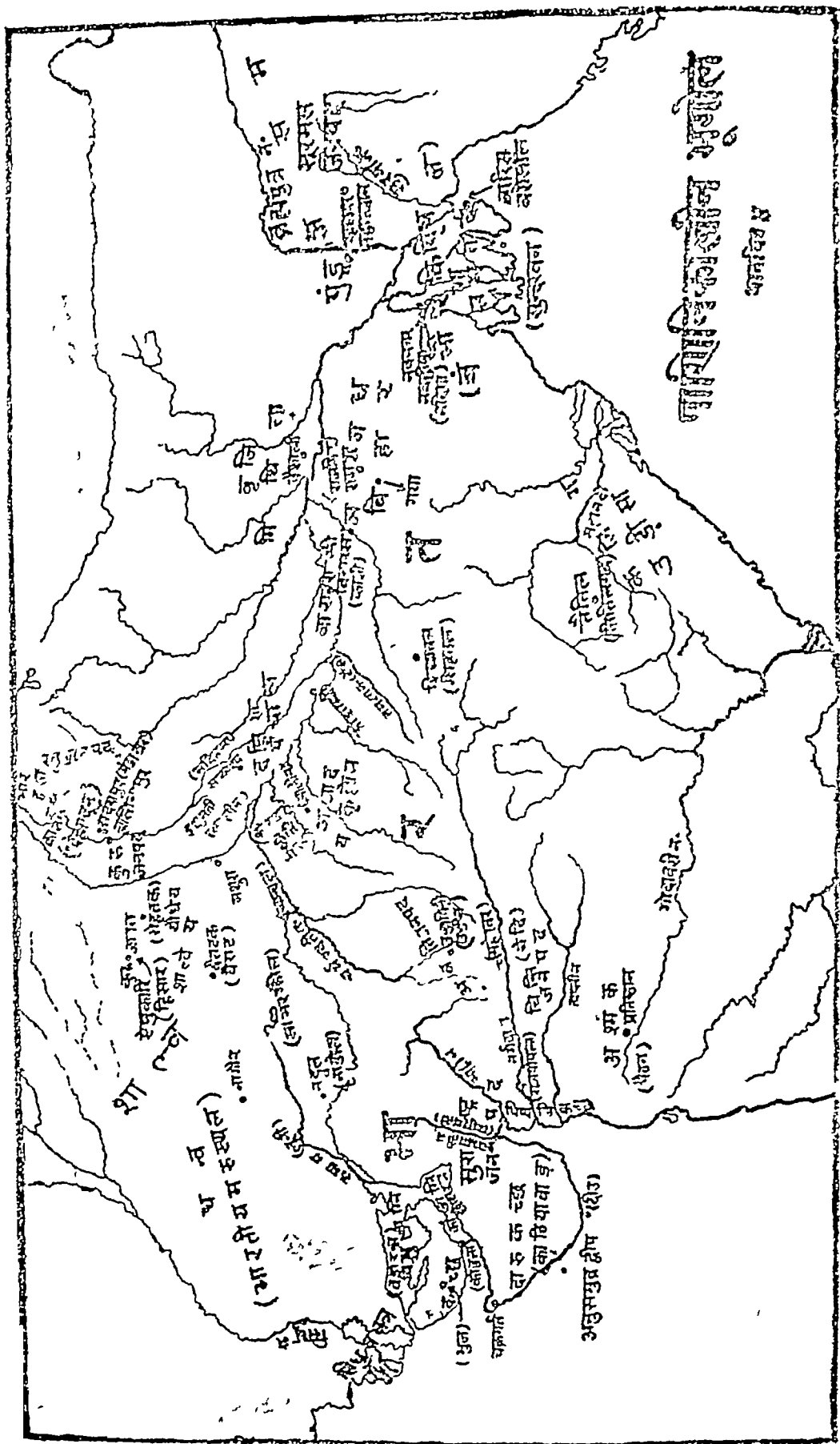
परिशिष्ट

भौगोलिक गण

अष्टाध्यायी मे जो स्थान नाम सम्वन्धी सामग्री है उसका विवेचन ऊपर हुआ है। तत्संवन्धी गणो का संशोधित पाठ नीचे दिया जाता है जो निम्नलिखित सामग्री के तुलनात्मक अध्ययन से प्राप्त हुआ है—

(१) काशिका। वालशास्त्री संपादित काशीसंस्करण १९२८।

(२) चन्द्र व्याकरण, स्वविरचित वृत्ति सहित (लगभग ४५० ई०)। इसकी वृत्ति के गणपाठ का मूल आधार पाणिनीय गणपाठ ही था। श्री लीबिख द्वारा संपादित संस्करण।

(३) पूज्यपाद देवनन्दि कृत जैनेन्द्र व्याकरण (५५०–६०० ई०)। इस पर अभयनन्दिकृत महावृत्ति है, जिसमे गणपाठ है। कई मूल प्रतियो के आधार पर इस वृत्ति की एक पाण्डुलिपि भारतीय ज्ञानपीठ काशी द्वारा संपादित की गई थी जो ज्ञानपीठ के सौजन्य से मुझे प्राप्त हुई।

(४) आचार्य पाल्यकीर्तिकृत जैन शाकटायन व्याकरण। ये सम्राट् अमोघवर्ष (८१७–८७७) के समकालीन थे। लेखक की स्वविरचित अमोघ वृत्ति नामक वृहद् वृत्ति अभी अप्रकाशित है। उसी में गणपाठ है। इसकी एक देवनागरी प्रतिलिपि मूल कन्नड लिपि की ताडपत्रीय प्रति से श्री स्यादवाद विद्यालय काशी ने तैयार कराई थी, जो वहा के आचार्य के सौजन्य से मुझे सुलभ हो सकी।

(५) भोजकृत सरस्वती कण्ठाभरण (१०१८-१०५३)। श्री टी० आर० चिन्तामणि द्वारा संपादित एवं मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित।

(६) हेमचन्द्रकृत सिद्धहेम शब्दानुशासन (१०८८-११७२)। इस पर उन्ही की स्वविरचित वृहद्वृत्ति है (लगभग ११३० ई०) जो प्रकाशित हो चुकी है।

(७) वर्द्धमानकृत गणरत्न महोदधि (११४० ई०)।

गणपाठ के विषय में स्थिति यह है कि मूल गणपाठ पाणिनि ने संकलित किया था। उसी को बाद के वैयाकरणो ने अपना आधार वनाया। कही कही कुछ नए शब्द जोड़े हैं, अथवा मूल शब्द में जहाँ सन्देह था, वहाँ पाठान्तर दिए गए हैं। यह प्रवृत्ति

हेमचन्द्र और वर्धमान के गणपाठ में अधिक है। आवश्यकता है कि प्रत्येक व्याकरण के अन्तर्गत गणपाठ के सशोधित सस्करण का संपादन किया जाय। इन सातो व्याकरणों के स्थाननाम सम्बन्धी प्रत्येक गण को बराबर कोष्ठकों मे लिखकर शब्द रूपों पर विचार किया गया तो स्वत. ही मूल शब्द और जोडे गए प्रक्षिप्त शब्दो का भेद स्पष्ट हो गया। उदाहरण के लिये काशिका में काकदन्ति, चन्द में काकदकि, शाकटायन में काकदि, काकदंतकि, हेमचन्द्र मे काकदि, भोज मे काकंदकि, वर्धमान में काकदि पाठ है जो मूल काकदन्ति के ही पाठान्तर हैं और जिनमे पीछे काकदि का सकर हो गया। काशिका मे काकदति कोकतती और आकिरन्ति शब्द रूप भी हैं जो अन्य किसी व्याकरण में न होने से काशिका में मूल काकदति के ही निकृष्ट पाठान्तर हैं। हेमचन्द्र में काकंदि को मूल रूप मानकर काकदिक ककुंदि ककुंदिक भी दिए हैं। ये चारो ही मूल काकदन्ति की विकृति हैं। काशिका का एक संशोधित संस्करण तैयार करके पाणिनीय गणपाठ के संशोधन की बहुत आवश्यकता है।

विभिन्नगणो में स्थाननामो की संख्या—

१—जनपद नाम	३५
२—विषयनाम	४३
३—संघनाम	३३
	१११

४—नगर ग्राम नाम

	काशिका के पाठ मे	संशोधित पाठ में
(अ) (१) चातुरर्थिक प्रत्यय संबन्धी ६ गण	१८९	१०९
(२) चातुरर्थिक प्रत्यय संबन्धी १७ गण (सूत्र ४।२।८०)	४३०	२२८
(आ) शैषिक ६ गण	१९४	१२३
(इ) अभिजन २ गण	२३	२१
(ई) प्रस्थान्त नाम २ गण	१६	१६
(उ) कन्थान्त नाम १ गण	७	७
	८५९	५०४

अकेले सूत्र ४।२।८० के १७ गणो में वॉटलिंक कृत अष्टाध्यायी संस्करण

(पूर्जिग १८८७[1]) एवं काशिका के अन्य मुद्रित संस्करणों मे नामो की संख्या ४३० है जो इस संशोधित पाठ मे २२८ ही रह गई है।

चातुरर्थिक, शैषिक, अभिजन, प्रस्थान्त एवं कंथान्त नामो की संख्या प्रस्तुत संस्करण मे ५०४ है। काशिका मे वह ८५९ तक पहुँचती है। यह भारी अन्तर है। किन्तु पाणिनिकृत मूलपाठ मे ग्राम और नगर सम्बन्धी स्थान नामो की यही सख्या थी, ऐसा अन्य प्रमाण से विदित होता है।

यूनानी भूगोल लेखको ने लिखा है कि वाहीक मे झेलम से विपाशा तक लगभग ५०० नगर थे, जिनकी जनसंख्या ५ हजार से १० हजार तक थी। पाणिनि ने वाहीक और उदीच्य प्रदेश मे नगरो को भी ग्राम कहा है। वहाँ पाँच से दस सहस्र की जन-संख्यावाले स्थान भी ग्राम कहलाते थे। जनपदयुग अत्यधिक समृद्धि का युग था। उस समय अकेले वाहीक मे ग्राम और नगरो की इतनी अधिक संख्या का होना आश्चर्यजनक नहीं है। पाणिनि के लगभग एक शती बाद मेगस्थने ने मौर्यकालीन नगरों की संख्या से प्रभावित होकर लिखा था—'उनकी संख्या इतनी अधिक है कि उसकी सही गिनती बनाना सम्भव नही।'

वाहीक प्रदेश के ५०० ग्राम नगरो की संख्या का महत्व कुछ इस प्रकार समझा जा सकता है। नगर उसे कहते हैं जिसमे दस सहस्र या अधिक जनसख्या हो। इस परिभाषा के अनुसार १९४१ के अविभक्त भारत मे केवल ५७ नगर थे। सन् १९५१ में यह संख्या बढकर ७५ हो गई थी। फ्रांस में आजकल ४५० नगर है जिनकी जन-सख्या ९००० से अधिक है।

यह बात महत्त्वपूर्ण है कि यूनानी लेखकों ने सामान्य रूप से ५०० की जिस संख्या का उल्लेख किया है, पाणिनि से न केवल उसका समर्थन होता है, बल्कि अष्टा-ध्यायी मे उन नामो की पूरी सूची मिल जाती है। सूत्रकार ने परिभ्रमण द्वारा लोक का साक्षात् परिचय प्राप्त करके सामग्री का संकलन किया था—उनकी कार्य पद्धति के सम्बन्ध मे शलातुर मे बारह सौ वर्षों तक प्रचलित यह अनुश्रुति नितान्त सत्य पर आश्रित थी। ग्राम-नगरो की भाँति जनपद और संघो की सूची भी तथ्यात्मक होनी चाहिए। वही बात गोत्र नामो के सम्बन्ध मे कही जा सकती है। इस प्रकार की बहु-विध सामग्री को अपूर्व सरल युक्ति से पाणिनि ने अपने व्याकरण का अग बना लिया। जहाँ तक सम्भव हो इन नामो की पहचान का प्रयत्न करना चाहिए। जैसे भाषा के अन्य शब्दो की प्रतिशत कुछ सख्या कालान्तर मे भी बनी रहती है, वैसे ही स्थान नामो की परम्परा भी बिलकुल नही मिट जाती। सघ और गोत्र रूप मे संगठित

---

१ श्रीधर शास्त्री पाठक और सिद्धेश्वर शास्त्री चित्तराव सगृहीत पाणिनीय सूत्र पाठ एवं तत् परिशिष्ट ग्रन्थों के शब्दकोष (पूना १९३५) में गणपाठ का वही पाठ ले लिया गया है जो बॉटलिंक में था।

जातियो के नाम भी बचे रह जाते हैं। सम्भावना है कि निवास और अभिजन सम्बन्धी अनेक शब्द उत्तर पश्चिमी प्रदेश एव वाहीक या पजाब मे अब भी जाति और उपजातियो कि नामो की छानबीन करने से पहचाने जा सकेंगे। उदाहरण के लिये, अग्रवाल जाति के अन्तर्गत सहरालिए वैश्य प्रसिद्ध हैं, जो लुधियाना जिले के सहराला स्थान से अपना निकास मानते हैं। इस समय वे कही भी हो उनका मूल अभिजन या पुरखो का केन्द्र सहराले मे था। तक्षशिलादि गण मे सारालक उन्ही के लिये है जो सरालक को अपना अभिजन मानते थे और आज जिन्हें सहरालिए कहते हैं। सौभाग्य से अधिकाश जातियो मे अपने मूल निकास स्थान की अनुश्रुति की याद अभी तक बनी है। इसी प्रकार खत्रियो की बतरा नामक उपजाति वात्रक से (राजन्यादिगण, ४।२।५३), अरोडो की चोपे नामक उपजाति चौपयत से (भौरिक्यादिगण ४।२।५४), एव अरोड़ो की वलूजे नामक उपजाति आलिज्यक से (वही, ४।२।५४) सम्बन्धित हैं।

देशवाची विषय—विषयो देशे सूत्र (४।२।५४) मे विषय का ठीक अर्थ क्या था, इस प्रश्न के सम्बन्ध मे कुछ विवेचन आवश्यक है। पाणिनि ने निवास (४।२।६९) और विषय, इन दो अर्थों मे प्रत्ययो का अलग विधान किया है। अतएव दोनो में भेद होना चाहिए। निवास का अर्थ तो स्पष्ट ही निवास स्थान था। किन्तु विषय मे स्व-स्वामिभाव सम्बन्ध या मिल्कियत का होना आवश्यक था। कैयट ने इसे स्पष्ट लिखा—अंगाना विषय इत्यत्र तु स्वस्वामिभावः प्रतीयते।

निवास और विषय दोनों दो प्रकार के हो सकते थे, एक जनपद, दूसरे जनपद मे छोटी कोई भौगोलिक इकाई। इस इकाई को हम थोडी देर के लिये एक गाँव मान लेते हैं। यह स्थिति इस प्रकार हुई—

(१) शिवि क्षत्रियो का 'निवास' जनपद —शिवीनां निवासः जनपद, शिवयः[1]

(२) शिवि क्षत्रियो का 'निवास' उस जनपद से बाहर एक गाँव —शिवीना निवासः शैवः।

(३) शिवि क्षत्रियो का 'विषय' जनपद जिस पर उनका स्वस्वामि भाव से अधिकार हो। शिवीना विषय. जनपद., शिवय.।

(४) शिवि क्षत्रियो का 'विषय' एक गाँव, जिसमे वे चाहे रहते न हों, पर जो उनकी जागीर या मिल्कियत या जमीदारी (स्व-स्वामिभाव) हो। —शिवीना विषय' शैवः।

---

१. 'शिवीनां निवास' जनपद.' इस अर्थ में तस्य निवास (४।२।६९) से प्राप्त प्रत्यय का जनपदे लुप् (४।२।८१) से लुप करके लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने (१।२।५१) से बहुवचन प्रयोग बनता था।

अंगानां निवासः जनपदः अंगा', अगाना विषयः आगः भी उसी प्रकार समझना चाहिए।

वस्तुतः संख्या (१) की स्थिति यह थी कि शिवि क्षत्रिय जिस जनपद में निवास करते थे वे उसके स्वामी भी होते थे, अर्थात् उन्ही के मूर्धाभिषिक्त कुल वहाँ का शासन चलाते थे।

जहाँ निवास मे ही स्वस्वामि भाव सम्बन्ध का अन्तर्भाव था वहा सं० (३) वाले अर्थ और शब्द प्रयोग की सं० (१) से पृथक् आवश्यकता भाषा मे न पडती थी।

सं० (२) का तात्पर्य उस गाँव से हुआ जो शिविजनपद से अलग हो, जहां शिवि क्षत्रियो की बस्ती हो, पर वे उस गाँव के मालिक न हो। ऐसा गाँव (या ग्रामसमुदाय) शैव कहलाता था, जैसा काशिका ने 'तस्यनिवासः' सूत्र के उदाहरण में लिखा है।

सं० (४) का अभिप्राय उस गाँव (या ग्रामसमुदाय) से था जो शिवि जनपद से बाहर हो, जहा उनकी बस्ती हो या न भी हो, पर जहां उनकी मिल्कियत हो। ऐसा इलाका उनकी जागीर ठिकाना या जमीदारी हो सकता था। वह 'शिवीनां विषय.' इस अर्थ में शैव. कहलाता था, जैसा विषयो देशे सूत्र पर काशिका ने लिखा है।

राजन्यादि गण मे जिन राजन्यादि क्षत्रियो के नाम हैं वे अपने-अपने जनपदो के निवासी और स्वामी थे, उनके नाम से उन जनपदो का नाम 'राजन्या.' आदि पड़ता था। किन्तु उनकी जो जमीदारिया या ठिकाने अपने जनपद से बाहर दूसरे गावो में फैले हुए थे, और जिनकी आय उन्हें प्राप्त होती थी, वे 'राजन्यक' कहलाते थे। राजन्य, वसाति आदि फिर भी बड़े क्षत्रिय थे जिनके निजी जनपदो का स्वतंत्र अस्तित्व था और जिनके विषय या ठिकाने भी थे। किन्तु वैल्ववन आदि कम शक्तिशाली क्षत्रियो की स्थिति ह्रास पर थी। पाणिनि के समय उनके स्वतत्र जनपद रहे होगे, पर पाणिनि के उत्तर काल मे वे केवल ठिकाने या जमीदारियो के रूप में ही बच रहे थे। अतएव उनसे वैल्ववना. आदि जनपदवाची बहुवचनान्त प्रयोगो की भाषा में आवश्यकता न रह गई थी, केवल 'विषय' वाची 'वैल्ववनक, आम्बरीषपुत्रक, आत्मकामेयक, ये नाम भाषा में प्रचलित थे।

स्वय पाणिनि ने भौरिकि गण, और ऐपुकारि गण (४।२।५४) मे जो नाम पढ़े हैं उनके प्रत्ययो से भी यह सूचित होता है कि वे उनकी जमीदारिया मात्र थी। विधल् और भक्तल् प्रत्ययो मे विध या विधा और भक्त का अर्थ भोजन था। भौरिकिविध और ऐपुकारिभक्त का अर्थ हुआ वह भूमि जो इन लोगो के गुजारे का साधन

थी। उस पर राज्यशासन इनका न होकर किसी अन्य संघ या एकराज जनपद के क्षत्रियों का होता था।

सामग्री की सूची

१—जनपद—कच्छादि (शैषिक)। भर्गादि। सिन्ध्वादि (अभिजन)

२—विषय—ऐषुकार्यादि। भौरिक्यादि। राजन्यादि।

३—संघ—दामन्यादि। पर्श्वादि। यौधेयादि।

४—देशवाची (ग्राम, नगर)—

(क) चातुरर्थिक—अरीहणादि। अश्मादि। उत्करादि।
ऋश्यादि। कर्णादि। काशादि। कुमुदादि।
कुमुदादि। कृशाश्वादि। तृणादि। नडादि।
पक्षादि। प्रगदिन्नादि। प्रेक्षादि। बलादि।
मध्वादि। वरणादि। वराहादि। सख्यादि।
सकलादि। संकाशादि। सुतंगमादि। सुवास्त्वादि।

(ख) शैषिक—कन्त्र्यादि। काश्यादि। गहादि। धूमादि। नद्यादि।
पलद्यादि।

(ग) अभिजन—शंडिकादि। तक्षशिलादि।

(घ) प्रस्थान्त—कर्क्यादि। मालादि।

(ङ) कन्थान्त—चिहणादि।

(च) गिरि, वन, नदी—किंशुलकादि। कोटरादि। अजिरादि। शरादि।

१—जनपद—नाम

(१) कच्छादि (४।२।१३३)

(शैषिक अण् प्रत्यय, काच्छ)

१ कच्छ, २ सिन्धु, ३ वर्णु, ४ गन्धार, ५ मधुमत्, ६ कम्बोज, ७ कश्मीर, ८ साल्व, ९ कुरु, १० रंकु, ११ अनुषण्ड, १२ द्वीप, १३ अनूप, १४ अजवाह, १५ विजापक, १६ कुलूत।

(२) भर्गादि (४।१।१७८)

१ भर्ग, २ करूष, ३ केकय, ४ कश्मीर, ५ साल्व, ६ सुस्थाल, ७ उरस, ८ कौरव्य।

(३) सिन्ध्वादि (४।३।९३)

[सोऽस्याभिजनः, अण्प्रत्यय। सैन्धवः]

१ सिन्धु, २ वर्णु, ३ मधुमत्, ४ कम्बोज, ५ साल्व, ६ कश्मीर, ७ गन्धार, ८ किष्किन्धा, ९ उरस, १० दरद्, ११ गन्दिका।

२—विषय

(४) ऐषुकारिगण (४।२।५४)

[विषयो देशे, ऐषुकारिभक्तः]

१ ऐषुकारि, २ सारस्यायन, ३ चान्द्रायण, ४ द्व्याक्षायण, ५ त्र्याक्षायण, ६ जौलायन, ७ खाडायन, ८ सौवीर, ९ दासमित्रायण, १० शौद्रायण, ११ दाक्षायण, १२ शयण्ड, १३ तार्क्ष्यायण, १४ शौभ्रायण, १५ वैश्वमाणव, १६ वैश्वधेनव, १७ वैश्वदेव, १८ तण्डदेव।

(५) भौरिकि गण (४।२।५४)

[विषयो देशे, भौरिकिविधः]

१ भौरिकि, २ भौलिकि, ३ चैटयत, ४ काणेय, ५ वाणिजक, ६ वालिज्यक, ७ सैकयत, ८ चैकयत, ९ चौपयत।

(६) राजन्यादि (४।२।५३)

[विषयो देशे वुञ्, राजन्यकम्]

१ राजन्य, २ देवयातव, ३ शालकङ्कायन, ४ जालन्धरायण, ५ आत्मकामेय, ६ अम्बरीषपुत्र, ७ वसाति, ८ बैल्ववन, ९ शैलूष, १० उदुम्बर, ११ आर्जुनायन, १२ सप्रिय, १३ दाक्षि, १४ ऊर्णनाभ, १५ आप्रीत, १६ तैतिल।

३—संघ

(७) दामन्यादि (५।३।११६)

[आयुधजीविसंघात् स्वार्थे छ, दामनीयः]

१ दामनि, २ औलपि, ३ काकदन्ति, ४ अच्युतन्ति, ५ शत्रुन्तपि, ६ सार्वसेनि, ७ बैन्दवि, ८ मौञ्जायन, ९ तुलभ, १० सावित्रीपुत्र, ११ बैजवापि, १२ औदकि।

(८) पर्श्वादि (५।३।११७)

[आयुधजीविसंघात् स्वार्थे अण्, पार्शवः]

१ पर्शु, २ असुर, ३ रक्षस्, ४ बाल्हीक, ५ वयस्, ६ मरुत्, ७ दशार्ह, ८ पिशाच, ९ अशनि, १० कार्षापण, ११ सत्वत्, १२ वसु।

(९) यौधेयादि (४।१।१७८)

१ यौधेय, २ शौभ्रेय, ३ शौक्रेय, ४ ज्यावाणेय, ५ वार्तेय, ६ धार्तेय, ७ त्रिगर्त, ८ भरत, ९ उशीनर।

४—स्थान-नाम

(क) चातुरर्थिक

(१०) अरीहणादि (४।२।८०।१)

[चातुरर्थिक वुञ्। आरीहणकम्]

१ अरीहण, २ द्रुघण, ३ खदिर, ४ भगल, ५ उलन्द, ६ साम्परायण, ७ क्रौष्ट्रायण, ८ भास्त्रायण, ९ मैत्रायण, १० त्रैगर्तायन, ११ रायस्पोष, १२ विपथ, १३ उद्दण्ड, १४ उदञ्चन, १५ खाडायन, १६ खण्डवीरण, १७ काशकृत्स्न, १८ जाम्बवत् , १९ शिशपा, २० किरण, २१ रैवत, २२ विल्व, २३ वैमतायन, २४ सौसायन, २५ शाण्डिल्यायन, २६ शिरीष, २७ बधिर, २८ विपाश, २९ सुयज्ञ, ३० जम्बू , ३१ सुशर्म।

(११) अश्मादि (४।२।८०।८)

[चातुरर्थिक र. । अश्मर.]

१ अश्मन् , २ यूथ, ३ ऊष, ४ मीन, ५ दर्भ, ६ वृन्द, ७ गुड, ८ खण्ड, ९ नग, १० शिखा।

(१२) उत्करादि (४।२।९०)

[चातुरर्थिक छः । उत्करीयम्]

१ उत्कर, २ शफर, ३ पिप्पल, ४ अश्मन् , ५ अर्क, ६ पर्ण, ७ खलाजिन, ८ अग्नि, ९ तिक, १० कितव, ११ आतप।

(१३) ऋश्यादि (४।२।८०।३)

[चातुरर्थिक कः । ऋश्यकः]

१ ऋश्य, २ न्यग्रोध, ३ शर, ४ निलीन, ५ निवास, ६ विनद्ध (?), ७ परिगूढ, ८ उपगूढ, ९ उत्तराश्मन् , १० स्थूलबाहु, ११ खदिर, १२ शर्करा, १३ अनडुह, १४ परिवेश, १५ वेणु, १६ वीरण।

(१४) कर्णादि (४।२।८०।१३)

[चातुरर्थिक फिञ् । कार्णायनिः]

१ कर्ण, २ वसिष्ठ, ३ अर्कलूष, ४ द्रुपद, ५ आनडुह्य, ६ पाञ्चजन्य, ७ कुलिश, ८ कुम्भ, ९ जीवन्त, १० जित्वन् , ११ आण्डीवत् , १२ स्फिक्।

(१५) काशादि (४।२।८०।५)

[चातुरर्थिक इलः । काशिल.]

१ काश, २ वश, ३ अश्वत्थ, ४ पलाश, ५ पीयूष, ६ विस, ७ तृण, ८ कर्दम, ९ कर्पूर, १० कण्टक, ११ गुहा, १२ नड, १३ वन, १४ वर्बूल।

(१६) कुमुदादि (४।२।८०।४)

[चातुरर्थिक ठच् । कुमुदिकम्]

१ कुमुद, २ शर्करा, ३ न्यग्रोध, ४ इक्कट, ५ गर्त, ६ बीज, ७ अश्वत्थ, ८ वल्वज, ९ परिवाप, १० शिरीष, ११ यवास, १२ कूप, १३ विकङ्कत।

(१७) कुमुदादि (४।२।८०।१७)

[चातुरर्थिक ठक् । कौमुदिकम्]

१. कुमुद, २ गोमठ, ३ रथकार, ४ दशग्राम, ५ अश्वत्थ, ६ शाल्मली, ७ मुनि-स्थल, ८ कूट, ९ मुचुकर्ण ।

(१८) कृशाश्वादि (४।२।८०।२)

[चातुरर्थिक छण् । कार्शाश्वीयः]

१ कृशाश्व, २ अरिष्ट, ३ वेश्मन, ४ विशाल, ५ रोमक, ६ शबल, ७ कूट, ८ बर्बर, ९ सूकर, १० प्रतर, ११ सदृश, १२ पुरग, १३ सुख, १४ धूम, १५ अजिन, १६ विनत, १७ विकुधास, १८ अरुस्, १९ अयस्, २० मौद्गल्य ।

(१९) तृणादि (४।२।८०।६)

[चातुरर्थिक शः । तृणश.]

१ तृण, २ नड, ३ बुस, ४ पर्ण, ५ वर्ण, ६ वरण, ७ अर्जुन, ८ बिल ।

(२०) नडादि (४।२।९१)

[चातुरर्थिक. छः कुक् च । नडकीयम्]

१ नड, २ प्लक्ष, ३ बिल्व, ४ वेणु, ५ वेत्र, ६ वेतस, ७ तृण, ८ इक्षु, ९ काष्ठ, १० कपोत, ११ क्रुञ्चा, १२ तक्षन् ।

(२१) पक्षादि (४।२।८०।१२)

[चातुरर्थिक फक् । पाक्षायणः]

१ पक्ष, २ तुष, ३ अण्डक, ४ काम्बलिक, ५ चित्र, ६ अतिश्वन्, ७ पन्थ, ८ कुम्भ, ९ सीरक, १० सरक, ११ सरस, १२ समल, १३ रोमन्, १४ लोमन्, १५ हसक, १६ लोमक, १७ सकर्णक, १८ हस्तिन्, १९ बल, २० यमल ।

(२२) प्रगदिन् आदि (४।२।८०।१५)

[चातुरर्थिकञ्य । प्रागद्यम्]

१ प्रगदिन्, २ मगदिन्, ३ कलिव, ४ खडिव, ५ गडिव, ६ चूडार, ७ मार्जार, ८ कोविदार ।

(२३) प्रेक्षादि (४।२।८०।७)

[चातुरर्थिक इनिः । प्रेक्षिन्]

१ प्रेक्षा, २ फलका, ३ बन्धुका, ४ ध्रुवका, ५ क्षिपका, ६ न्यग्रोध, ७ इक्कट, ८ कङ्कट, ९ कूप ।

(२४) बलादि (४।२।८०।११)

[चातुरर्थिक य. । बल्यः]

१ बल, २ बुल, ३ मुल, ४ डल, ५ डुल, ६ नल, ७, वन, ८ कुल ।

(२५) मध्वादि (४।२।८६)

[चातुरर्थिक मतुप् । मधुमत्, मधुमान्]

१ मधु, २ बिल, ३ स्थाणु, ४ ऋषि (अरिष्ट), ५ इक्षु, ६ वेणु, ७ रम्य, ८ ऋक्ष, ९ कर्कन्धू, १० शमी, ११ करीर, १२ हिम, १३ किशरा, १४ शर्पणा, १५ मरुत्, १६ दार्वाघाट, १७ शर, १८ इष्टका, १९ तक्षशिला, २० शुक्ति, २१ आसन्दी, २२ आसुति, २३ शलाका, २४ आमिषी, २५ खडा (पीडा), २६ वेटा ।

(२६) वरणादि (४।२।८२)

[चातुरर्थिकप्रत्ययस्य लुप्, वरणा]

१ वरणा, २ गोदी, ३ आलिङ्ग्यायन, ४ पर्णी, ५ शृङ्गी, ६ शाल्मलि, ७ जालपदी, ८ मथुरा, ९ उज्जयिनी, १० गया, ११ तक्षशिला, १२ उरशा, १३ कटुकबदरी, १४ शिरीष ।

(२७) वराहादि (४।२।८०।१६)

[चातुरर्थिक कक् । वाराहकम्]

१ वराह, २ पलाश, ३ शिरीष, ४ पिनद्ध, ५ स्थूल, ६ विदग्ध, ७ विभग्न ८ बाहु, ९ खदिर, १० शर्करा ।

(२८) सख्यादि (४।२।८०।९)

[चातुरर्थिक ढञ् । साखेय.]

१ सखि, २ सखिदत्त, ३ वायुदत्त, ४ गोहिल, ५ भल्ल, ६ चक्रवाल, ७ छगल, ८ अशोक, ९ करवीर, १० सीकर, ११ सरक, १२ सरस, १३ समल ।

(२९) सकलादि (४।२।७५)

[चातुरर्थिक अञ् । साकलः]

१ संकल, २ पुष्कल, ३ उडुप, ४ उद्वप, ५ उत्पुट, ६ कुम्भ, ७ निधान, ८ सुदक्ष, ९ सुदत्त, १० सुभूत, ११ सुनेत्र, १२ सुपिङ्गल, १३ सिकता, १४ पूतीक, १५ पूलास, १६ कूलास, १७ पलाश, १८ निवेश, १९ गम्भीर, २० इतर, २१ शर्मन्, २२ अहन्, २३ लोमन्, २४ वेमन्, २५ वरुण, २६ बहुल, २७ सद्योज, २८ अभिषिक्त, २९ गोभृत्, ३० राजभृत्, ३१ भल्ल, ३२ माल ।

(३०) संकाशादि (४।२।८०।१०)

[चातुरर्थिकः ण्य. । साकाश्यः]

१ संकाश, २ कम्पिल, ३ कश्मर, ४ शूरसेन, ५ सुपथिन्, ६ सुपरि, ७ यूप, ८ अश्मन्, ९ कूट, १० पुलिन, ११ तीर्थ, १२ अगस्ति, १३ विरन्त, १४ विकर, १५ नासिका ।

(३१) सुतङ्गमादि (४।२।८०।१४)

[चातुरर्थिक इञ् । सौतङ्गमि.]

१ सुतङ्गम, २ मुनिचित्त, ३ विप्रचित्त, ४ महापुत्र, ५ श्वेत, ६ गडिक, ७ शुक्र, ८ विग्र, ९ बीजवापिन् , १० श्वन् , ११ अर्जुन, १२ अजिर ।

(३२) सुवास्त्वादि (४।२।७७)

[चातुरर्थिक अण् । सुवास्तु + अण्—सौवास्तवः]

१ सुवास्तु, २ वर्णु, ३ भण्डु, ४ खण्डु ५ सेचालिन् , ६ कर्पूरिन, ७ शिखण्डिन् , ८ गर्त, ९ कर्कश, १० शटीकर्ण, ११ कृष्णकर्ण, ११ कर्कन्धुमती, १३ गोह्य, १४ अहिसक्थ ।

४—स्थान-नाम

(ग) शैषिक

(३३) कत्र्यादि (४।२।९५)

[शैषिक ढकञ् । कत्रि + ढकञ्—कात्रेयकः]

१ कत्रि, २ उम्भि, ३ पुष्कर, ४ पुष्कल, ५ मोदन, ६ कुम्भि, ७ कुण्डिन, ८ नगर, ९ माहिष्मती, १० वर्मती, ११ कुड्या ।

(३४) काश्यादि (४।२।११६)

[शैषिक ञिठ् ठञ् । काशिकी, काशिका]

१ काशि, २ वैदि, ३ सायाति, ४ सवाह, ५ अच्युत, ६ मोदमान, ७ शकुलाद, ८ हस्तिकर्षू, ९ कुनामन्, १० हिरण्य, ११ करण, १२ गोवासन्, १३ भौरिकि, १४ भौलिङ्गि, १५ अरिन्दम, १६ सर्वमित्र, १७ देवदत्त, १८ साधुमित्र, १९ दासमित्र, २० दासग्राम, २१ शौवावतान, २२ युवराज, २३ नपराज, २४ सिन्धुमित्र, २५ देवराज ।

(३५) गहादि (४।२।१३८)

[यथासम्भवं देशवाचिभ्यः शैषिक छः । गहीयः]

१ गह, २ मध्य, ३ अङ्ग, ४ वङ्ग, ५ मगध, ६ कामप्रस्थ, ७ खाडायन, ८ काठेरणि, ९ शैशिरि, १० शौङ्गि, ११ आसुरि, १२ आहिंसि, १३ आमित्रि, १४ अवस्यन्द, १५ क्षेमवृद्धिन् , १६ व्याडि, १७ वैजि, १८ आग्निशार्म ।

(३६) धूमादि (४।२।१२७)

[देशवाचिभ्यः शैषिकवुञ् । धौमक.]

१ धूम, २ खण्ड, ३ शशादन, ४ आर्जुनाव, ५ दाण्डायनस्थली, ६ माहकस्थली, घोषस्थली ८ माषस्थली, ९ राजस्थली, १० राजगृह, ११ सत्रासाह, १२ भक्षाली, १३ मद्रकूल, १४ गर्तकूल, १५ आञ्जीकूल, १६ द्व्याहाव, १७ त्र्याहाव. १८ संस्फीय, १९ वर्वर, २० वर्चगर्त, २१ विदेह, २२ आनर्त, २३ माठर, २४ पाथेय, २५ घोष, २६ शष्प, २७ मित्र, २८ पल्ली, २९ आराज्ञी, ३० धार्तराज्ञी, ३१ अवया, ३२ कूल, ३३ समुद्र, ३४ कुक्षि, ३५ अन्तरीप, ३६ द्वीप, ३७ अरुण, ३८ उज्जयिनी, ३९ दक्षिणापथ, ४० साकेत ।

(३७) नद्यादि (४।२।९७)

[शैषिक ढक् । नादेय:]

१ नदी, २ मही, ३ वाराणसी, ४ श्रावस्ती, ५ कौशाम्बी, ६ वनकौशाम्बी, ७ काशफरी, ८ खादिरी, ९ पूर्वनगरी, १० पावा, ११ मावा, १२ साल्वा, १३ दार्वा, १४ सेतकी ।

(३८) पलद्यादि (४।२।११०)

[शैषिक अण् । पालद.]

१ पलदी, २ परिषत् , ३ यकृल्लोमन् , ४ रोमक, ५ कालकूट, ६ पटच्चर, ७ वाहीक, ८ कमलभिदा, ९ बहुकीट, १० नैकती, ११ परिखा, १२ शूरसेन, १३ गोमती, १४ उदपान, १५ गोष्ठी ।

(ग) अभिजन

(३९) तक्षशिलादि (४।३।९३)

[सोऽस्याभिजन इति अञ् । ताक्षशिल:]

१ तक्षशिला, २ वत्सोद्धरण, ३ कौमेदुर, ४ काण्डवारण, ५ ग्रामणी, ६ सरालक, ७ कंस, ८ किन्नर, ९ सकुचित, १० सिंहकर्ण, ११ क्रोष्टुकर्ण, १२ बर्बर, १३ अवसान ।

(४०) शण्डिकादि (४।३।९२)

[सोऽस्याभिजन: ञ्य: । शाण्डिक्य:]

१ शण्डिक, २ सर्वकेश, ३ सर्वसेन, ४ शक, ५ शट, ६ वह, ७ शङ्ख, ८ बोध ।

(घ) प्रस्थान्त नाम

(४१) कर्क्यादि (६।२।८७)

[कर्की प्रस्थ:, मघीप्रस्थ:]

१ कर्की, २ मघी, ३ मकरी, ४ कर्कन्धू, ५ शमी, ६ करीर, ७ कटुक, ८ कुवल, ९ बदर ।

(४२) मालादि (६।२।८८)

[मालाप्रस्थ:, शालाप्रस्थ:]

१ माला, २ शाला, ३ शोणा, ४ द्राक्षा, ५ क्षौम, ६ काञ्ची, ७ एक, ८ काम ।

(ङ) कन्थान्त नाम

(४३) चिहणादि (६।२।१२५)

१ चिहण, २ मडर, ३ वैतुल, ४ पटत्क, ५ वैडालिकर्णि, ६ कुक्कुट, ७ चिक्कण ।

(च) गिरि ।

(४४) किशुलकादि (६।३।११७)

१ किशुलक, २ शाल्वक, ३ अञ्जन, ४ भञ्जन, ५ लोहित, ६ कुक्कुट ।

वन

(४५) कोटरादि (६।३।११७)

१ कोटर, २ मिश्रक, ३ पुरग, ४ सिध्रक, ५ सारिक ।

नदी इत्यादि

(४६) अजिरादि (६।३।११९)

१ अजिर, २ खदिर, ३ पुलिन, ४ हंसकारण्डव, ५ चक्रवाक ।

(४७) शरादि (६।३।१२०)

[मतौ सज्ञाया दीर्घः । शरावती]

१ शर, २ वंश, ३ धूम, ४ अहि, ५ कपि, ६ मणि, ७ मुनि, ८ शुचि ।

शब्दानुक्रमणी

विषयानुक्रमणी